ॐ

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व साहूणं

॥ वात्सल्य रत्नाकर ॥

सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री विमलसागर अभिवन्दन ग्रन्थ

॥ वात्सल्य रत्नाकर ॥

प्रेरणास्त्रोत

उपाध्याय श्री भरतसागरजी

प्रधान सम्पादिका

आर्यिका स्याद्वादमती

प्रकाशक

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद

आशीर्वाद
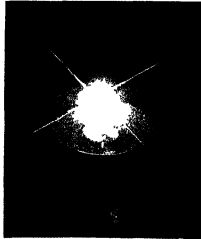
स्व आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी महाराज

उपाध्याय १०८ श्री मुनि भरतसागरजी

प्रकाशक

भारतवर्षीय अनेकात विद्वत् परिषद (I S B N 81-8583-04-3)

भारतवर्षीय अनेकात विद्वत् परिषद
श्री दिगम्बर जैन बीसपथी कोठी, मधुवन
पोस्ट शिखरजी-८२५३२९
जिला गिरडीह (बिहार)

प्रथम प्रति १०००

आश्विन वदी ७, वि स २०५०
वीर नि स २५१९
दिनाक ८ अक्टूबर १९९३

स्वाध्याय

एम् अंडर्कटार्यझाग, बम्बई

॥ वात्सल्य रत्नाकर ॥

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

युगप्रधान चारित्र चक्रवर्ती
सन्मार्ग दिवाकर
तपोवृद्ध ज्ञानवृद्ध शीलवृद्ध
करुणामूर्ति वत्सलरत्न
अतिशय योगी बालब्रह्मचारी
शान्ति सुधामृत के दानी
प्रशम संवेग अनुकंपा आस्तिक्य के खजाने
तेज पुञ्ज दुःखहर्ता सुखकर्ता समदृष्टा
कल्याणकर्ता पतितोद्धारक मिथ्यात्वहारक
विचारपुंज धुरन्धर समता कुलदेवी के उपासक
तपःपूत, मुक्तिदूत सत्पथ पुजारी
क्षमा के निर्झरने
मधुर मुस्कान से सुशोभित
बीसवीं सदी के अमर सन्त
जिनभक्ति के अमर स्रोत
जिनबिंब निर्माण में रुचि लेने वाले
अद्वितीय सन्त
आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज के
चरण कमलों में
सादर अभिवादन

प्रबंध सम्पादक

ब्र चित्राबाईजी दिगे, संघ संचालिका

ब्र कु प्रभा पाटनी, संघस्थ

ब्र धर्मचन्द शास्त्री, प्रतिष्ठाचार्य

सम्पादक-मण्डल

ब्र सूरजमलजी, निवाई

डॉ पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

पं श्यामसुन्दरलाल शास्त्री, फिरोजाबाद

डॉ लालबहादुर शास्त्री, दिल्ली

पं मल्लिनाथ शास्त्री, मद्रास

डॉ कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

पं बाबूलाल फाल्गुल, बनारस

पं नरेन्द्रप्रकाश जैन, फिरोजाबाद

श्री मिश्रीलाल जैन (एडवोकेट), गुना

प्रो टीकमचन्द जैन, दिल्ली

डॉ सुरेशचन्द्र जैन, वाराणसी

डॉ सत्यप्रकाश जैन, दिल्ली

श्री भरतकुमार काला, बम्बई

श्रीमती सुशीला सालगिया, इन्दौर

श्रीमती शैलबाला काला, बम्बई

[illegible]
अविनाश मेहता, बम्बई

[illegible]
प्रशान्त शाह, बम्बई

श्री अमरचद पदमचद पाटनी, डीमापुर
श्री अशर्फीलाल अशोककुमार सर्राफ, इन्दौर
श्री उमेशचद जैन, एत्मादपुर
श्री कन्हैयालाल पन्नालाल सेठी, डीमापुर
श्रीमती ब्र कमलाबाई पाड्या, सनावद
डॉ कमलाबाई जैन, कोटा
डा कल्याण गगवाल, पुणे
श्री कस्तूरचद शाह, सोलापुर
श्री कान्तिलाल बडजात्या, हाथरस
श्री कुलदीप कोठारी कोटा
श्री कोमलचद जैन भोपाल
श्री गोगराज जैन राणा, जयपुर
डॉ गोपीचद जैन बोहरा,
श्री चम्पालाल जैन, पाण्डचेरी
श्री चिरजीलाल कमलचद चितामणि बज, जयपुर
श्री तारचद जैन सेलम
श्री देवेंद्रकुमार मनोजकुमार जैन, हाऊन्सोलो (लन्दन)
श्री धन्नालाल प्रद्युम्नकुमार पाटनी, इन्दौर
श्री धरमचद गगवाल, बम्बई
श्री नरेशकुमार जैन, बड़ौत
श्री पदमचद प्रेमचद सेठी, कलकत्ता
श्री पवनकुमार जैन कानपुर
श्री परमात्माराम मित्तल बरेली
श्री प्रकाशचद छाबडा बम्बई
श्री प्रवीणचद जैन, फिरोजाबाद
स्व श्री प्रेमचद (पी यू) जैन ठोलिया, बम्बई
श्री पूनमचद राजराज गगवाल, झरिया
श्री पुष्पेद जैन, कोटा
श्री फतेचद मूलचद पाटनी, इन्दौर
श्री मिलापचद जैन, अजमेर
श्री मिश्रीलाल देवेंद्र गुणवत टोग्या, बडनगर
श्री रमेशचद जैन, शिकोहाबाद
श्री राजबहादुर मदनलाल जैन, इस्पौली
श्री राजेश जैन, बागबर्का
श्री रिखबचद अजितकुमार जैन, सेलम
श्री लक्ष्मीनारायण निर्मलकुमार गगवाल, विजयनगर
श्री विनोदकुमार सर्राफ, दिल्ली
श्रीमती विमलाबाई प्रकाशचद जैन, फिरोजाबाद
श्री वीरेंद्रकुमार बडजात्या, कलकत्ता
श्रीमती शांताबाई सोनी, इन्दौर
श्री. सरदारीलाल गोपीचद पाटनी, जयपुर
श्री सुनहरीलाल चूडीवाले, रॉची
श्री सुभाष सोनी, इन्दौर
श्री सुमेरचद जैन, दिल्ली
डॉ सुरेशचद जैन, सिकदराबाद
श्री सुरेशकुमार जैन, अलीगढ
श्री सुरेशकुमार जैन, मेरठ
श्री सोहनलाल पहाडिया, कलकत्ता
ब्र स्मिता जैन, नागर
श्री स्वरूपचद अनिलकुमार जैन, बम्बई
श्री हेमचद कासलीवाल, भीकनगाव
श्री हेमचद जैन, दिल्ली
श्री हरीशचद जैन, थाना
श्री ज्ञानचद लुहाडिया, इन्दौर

प्रेरणा स्रोत

उपाध्याय श्री भरतसागर

सम्मेद शिखर

आशीर्वाद

श्रमण संस्कृति के इतिहास में सुनहरा पृष्ठ जोड़ने वाले "वात्सल्य रत्नाकर" अभिनन्दन ग्रन्थ का सम्पादन व प्रकाशन करने वाले सभी भव्यात्माओं को समाधिरस्तु धर्मवृद्धिरस्तु आशीर्वाद।

उपाध्याय मुनि भरतसागर
५-७-१९९३

श्रावण कृष्णा २
वी.नि. सं. २५१९
वि. सं. २०५०

पहाडी धीरज, देहली
९४, आर्केडिया, नरीमन पॉइन्ट, बम्बई

कुचामनसिटी, बम्बई

देहली
की ओरसे

प्रणामाञ्जलि

परम पूज्य, प्रात स्मरणीय, तपोनिधि, सन्मार्ग दिवाकर, चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्यश्री विमल सागरजी महाराज वर्तमान युग के प्रमुख आचार्य है।

आचार्य परमेष्ठी पद पर विराजमान, छत्तीस मुलगुणो के धारक, रत्नत्रय के साधक, बाल-ब्रम्हचारी, परम तपस्वी, परम विद्वान, पूज्य आचार्यश्री दशक वर्षो से प्रतिष्ठित आचार्य है। चतुर्विध सघ से सुशोभित पूज्य आचार्यश्री के अनेको शिष्य पूरे भारत मे आचार्य, उपाध्याय, मुनि एव आर्यिका जैसे पावन पदो पर प्रतिष्ठित है तथा धर्म के प्रचार प्रसार मे अविस्मरणीय योगदान कर रहे है। दीक्षा और सयम की दृष्टि से आप वरिष्ठतम है।

सत्य, अहिसा, दया, शान्ति, सयम, अपरिग्रह एव ब्रम्हचर्य के आप प्रतीक है। सूर्य सा तेज, चन्द्रमा सी शीतलता, सागर जैसी गम्भीरता, पर्वत जैसी अडिगता, सिंह जैसी निर्भीकता आचार्यश्री का व्यक्तित्व है। वे त्याग और वैराग्य की, धर्म और अध्यात्म की, आत्मीयता और उदारता की साक्षात् मूर्ति है। सतत साधना एव तपश्चर्या ही आपका जीवन है।

पूज्य आचार्यश्री जैन धर्म और श्रमण संस्कृति की रक्षा करने मे सर्वोपरि है। पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण पूरे भारत मे आचार्यश्री ने अनेको बार धर्म प्रभावना की है। आपकी प्रेरणा से कोने-कोने मे अनगिनत जिन मन्दिरो, पाठशालाओ, पुस्तकालयो, औषधालयों एव धर्मशालाओ का निर्माण एव जीर्णोद्धार हुआ है। जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा कराने मे आचार्यश्री का परम योगदान है। आचार्यश्री के सूर्य मन्त्र देने से जिनप्रतिमाये जीवित हो उठती है। घर घर मे मन्दिर हो, सदाचार हो, शान्ति हो, सदा यही आपकी भावना रहती है।

वात्सल्यमूर्ति, करूणा सागर, लोक कल्याणकारी, जगत् हितैषी, लोक प्रसिद्ध, अत्यन्त उदार आचार्यश्री अत्यन्त लोकप्रिय है। आपकी आत्मा जन-जन के कल्याण मे सलग्न है। आपका वात्सल्यभाव मानव कल्याण मे हर समय अग्रसर रहता है। आप आत्म दर्शन के द्वारा आध्यात्मिक दिव्य करुणा कर लोक यात्रा मे ससार के अनन्त प्राणियो की अपार सहायता करते है। आत्मा की आराधना के साथ प्राणीमात्र का कल्याण आपके जीवन का प्रमुख लक्ष्य है। आप सर्व हितकारी है।

निमित्त ज्ञानी आचार्यश्री अन्तर्दृष्टा है। आपकी अहर्निश तपस्या के प्रताप से अनगिनत लोग कृतज्ञ हो चुके है। आपकी आत्मसाधना तथा तपश्चर्या मानव कल्याण के लिए अप्रतिम वरदान है। आप मानव को सासारिक दुखो से मुक्ति दिलाकर अणुव्रत धारण करने के लिए प्रेरित करते है।

आचार्यश्री के दर्शन से सिद्ध तीर्थो के दर्शन का अनुभव एव पुण्य होता है। आचार्यश्री चलते फिरते जैन तीर्थो मे सम्मेद शिखर है।

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

मंगलाचरण

विशुद्धवंश परमाभिरूपो,
जितेन्द्रियो धर्मकथाप्रसक्त ।
सुखर्द्धि लाभेष्वविक्तचित्तो,
बुधैः सदाचार्य इति प्रशस्तः ।।

विजितमदनकेतुं निर्मलं निर्विकारं ।
रहितसकलसंगं संयमासक्तचित्तं ।
सुनयनिपुणभावं ज्ञाततत्त्वप्रपञ्चम् ।
जननमरणभीतं सद्गुरूं नौमि नित्यम् ।।

सम्यग्दर्शनमूलं ज्ञानस्कंधं चरित्रशाखाढ्यम् ।
मुनिगणविहगाकीर्णमाचार्यमहाद्रुमं वंदे ।।

आचार्य उत्तम क्षमा से पृथ्वी के समान है, निर्मल भावों से स्वच्छ जल के सदृश है, कर्मरूपी ईंधन के जलाने में अग्नि स्वरूप है तथा परिग्रह से रहित होने के कारण वायुरूप है। वे मुनिश्रेष्ठ आचार्य आकाश की तरह निर्लेप और सागर की तरह क्षोभरहित होते है। ऐसे गुणों के घर आचार्य परमेष्ठी के चरणों को मै शुद्ध मन से नमस्कार करता हूँ।

महापुरुषों का जीवन परोपकार के लिये होता है। प्राणी मात्र के कल्याण की भावना जिनके रग रग में स्फुरायमान रहती है, जो भव्यजनोंके रोम-रोम में अपनी अनुपम छवि अंकित कर चुके है, अद्वितीय अलौकिक चुम्बक, हृदयस्पर्शी तथा श्रद्धालुओं के भक्तिसुमन जिन चरणारविन्दों मे सतत अर्पण हो रहे है, ऐसे परोपकारी महासन्त गुरुदेव के पावन चरण-कमलों में त्रिकाल सिद्ध-श्रुत-आचार्यभक्ति पुरस्सर नमोस्तु! नमोस्तु! नमोस्तु!

कलिकाल मे भी अनुपम तप, बल व साधन के धनी आचार्य श्री के सहज सरल व्यक्तित्त्व को अमर कीर्ति का मूर्त रूप कैसे दिया जाय? सभी के भीतर जिज्ञासा थी। त्यागी, विद्वान्, धनिक वर्ग और जैन समाज की एक ही पुकार उठी आचार्य श्री को अभिवन्दन ग्रन्थ का समर्पण किया जावे।

सर्वप्रथम अशोकजी दिल्लीवाला ने इस भार को पूर्णरूपेण सम्हालने की सहर्ष आज्ञा मांगी थी, परन्तु प्रारम्भ मे ग्रन्थकी रूपरेखा गहन रूप लेकर सामने आई अत अशोकजी ने असमर्थता व्यक्त की। कार्य दुरूह तो था

ही साथ ही "श्रेयासि बहु विघ्नानि" वाली उक्ति भी चरितार्थ हो रही थी। समस्या जटिल बनती गई, विषम परिस्थितियो से घिरा मै स्वय निर्णय लेने मे असमर्थ हुआ।

पुण्य योग से श्री पद्मपुरा अतिशय क्षेत्र पर पूज्य स्व आचार्यकल्प श्री १०८ श्रुतसागरजी के पुनीत दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ। महाराजश्री गभीर, दूरदर्शी व तत्त्वज्ञ, सिद्धान्त मर्मज्ञ महापुरुष थे। मैने महाराजश्री के चरण सान्निध्य मे विचार विमर्श करते हुए ग्रन्थ सम्बन्धी अपनी समस्या को रखा। आपका विशाल स्नेह और उचित निर्देश मुझे प्राप्त हुआ। मैने शीघ्रही साधुवर्ग, विद्वद्वर्ग व श्रावको से विचार विमर्श किया। सभी ने आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज के निर्देशानुसार ग्रन्थ की सयोजना मे सहमति देकर अपना सहयोग देने की सम्मति प्रदान की।

सम्पादक मडल का चयन किया गया। सभी के सामने एक समस्या थी वह यह कि विशालग्रन्थ के सम्पादन का महत् भार किसे सौपा जाय? प श्याममुन्दरजी, नरेन्द्रप्रकाशजी का नाम सामने आया। पर व्यस्तता होने से किसी ने स्वीकृति प्रदान नही की। अत मैने व दोनों मडल के सदस्यो ने आर्यिका स्याद्वादमती का नाम इस कार्य के लिये निर्णीत किया। माताजी ने भी इस भार को उठाने मे अपनी असमर्थता व्यक्त की। माताजी ने कहा- मै जिनवाणी की सेवा व गुरु भक्ति के लिये सतत योग्यतानुसार तत्पर हूँ परन्तु यह महाभार मुझ अल्पज्ञ पर डालना उचित नही है। हम सभी मौन रह गये। कार्य प्रारभ हुआ। कार्य जब अन्तिम हद तक पहुच गया तब तक भी माताजी ने प्रधान सम्पादिका का भार लेने की स्वीकृति प्रदान नही की। अन्त मे परामर्शमडल व सम्पादक मडल तथा बुधजनो के विशेष आग्रह पर शरीर की रुग्णता के बावजूद भी आपने गुरु आशीर्वाद मान शिरोधार्य किया। माताजी को हमारा समाधिरस्तु आशीर्वाद है।

ग्रन्थ सामग्री को सचय करने के लिये विशेष त्यागीवर्ग से सम्पर्क करना, पत्र व्यवहार करना आदि मुख्य कार्यो के लिये प धर्मचन्दजी, ब्र कु प्रभाजी ने विशेष परिश्रम कर हमे विशेष सहयोग प्रदान किया है, दोनो के लिये हमारा यही आशीर्वाद है कि आप लोग जिन दीक्षा लेकर स्व-पर कल्याण करे।

साथ ही इस कार्य के लिये विशेष अर्थ सहयोगी सघपति श्री श्रीपालजी, आर के जैन, बम्बई, सघपति श्री शिखरचन्दजी पाचूलालजी पहाडिया, बम्बई, श्री सुरेन्द्रजी, दिल्ली तथा अन्य भी सहयोगियो को हमारा यही आशीर्वाद है कि अपनी चचला लक्ष्मी का सप्तक्षेत्रों मे दान देकर जीवन को कृतार्थ करे।

सम्पादकीय

उत्थानफल्गुवाचाला सुलभा. स्युर्घना इव ।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रा ये जगदभ्युज्जिहीर्षव. ॥६॥ अ. ॥

जिनका उत्थान (उत्पत्ति और प्रयत्न) व्यर्थ है ऐसे वाचाल मनुष्य और मेघ दोनों ही सरलता से प्राप्त होते है किन्तु जो भीतर मे आर्द्र होकर (दयालु और जलसे पूर्ण होकर) जगत् का उद्धार करना चाहते है ऐसे मनुष्य और मेघ दोनों ही दुर्लभ है।

स्तुति किसे कहते है? गुणो का अतिक्रम करके कथन करना स्तुति कहलाती है पर आचार्य देव श्री गुरुवर्य अनन्तगुणो के आगार है फिर उनका स्तवन, उनकी अभिवन्दना हम तुच्छ बुद्धियो के लिये कैसे शक्य हो सकती है? फिर भी जहाँ सूर्य का प्रकाश नही वहाँ दीप के टिमटिमाते प्रकाश से भी कार्य चलता ही है। आचार्य श्री का पावन व्यक्तित्त्व स्व-परोपकार की निर्झरणी मे गोता लगाते हुए पवित्रता की चरम सीमा की ओर बढता चला जा रहा है।

पूज्य गुरुदेव के अभिवन्दनार्थ अभिवन्दन ग्रन्थ का समर्पण तो एक नियोग पूर्त मात्र है, सच तो यह है कि तवकृत उपकार इस भारत वसुन्धरा पर अगण्य है। समुद्र मे पानी की बूदो को गिनने का प्रयास वाचाल व्यक्ति ही करेगा, सभ्य व्यक्ति इस अज्ञता को क्यो करेगा, हम लोगो का यह अभिवन्दन ग्रन्थ समर्पण का प्रयास भी उसी प्रकार की वाचालता समझना चाहिये।

हे गुरुदेव! चन्द्रसम शीतल सूर्यसम तेजपुञ्ज! पृथ्वी सम क्षमाशील! सरोवर सम गभीर! अनुकपाशील हृदय के धारक! आपके अप्रतिम गुणो का गान करने के लिये बृहस्पति भी समर्थ नही है, फिर हम अल्पज्ञो का इसमे

प्रवेश कैसे हो सकता है। फिर भी.. आपकी एकमात्र भक्ति ही हम भक्तगण शिष्यजनो को बलात् ऐसा करने के लिये प्रेरित कर रही है। आप जैसे निस्पृही सत को इससे क्या लाभ? लाभ तो हमारा है। स्तवन या अभिवन्दन से आपका क्या उपकार होगा? उपकार या अनुपकार से आपको प्रयोजन भी क्या? उपकार तो हमारा होगा—''अभिवन्दना आपकी उपकार हमारा''।

हे गुरुदेव! राग से रहित होने के कारण आपको पूजा से कोई प्रयोजन नही है और वैर से रहित होने से आपको निन्दा से कोई मतलब नही है। फिर भी आपके प्रशस्त गुणो का स्मरण हमारे मनको पापरूपी कालिमा से दूर करने वाला है।

अनादिकाल से भारतभूमि ऋषि मुनियो की भूमि रही। इस धरा पर जब तक दिगम्बर सन्तो का विचरण रहेगा तभी तक यहाँ धर्म भी रहेगा। जिस क्षण दिगम्बर सन्तो का अभाव होगा उसी क्षण धर्म का भी अभाव इस धरातल से हो जायेगा। दिगम्बर सन्त इस वसुन्धरा की अमूल्य निधि है। सन्त कौन है— ''जिसने सम्यक् प्रकारेण तृष्णा का अन्त किया है वही सन्त कहलाता है''।

सन्तो ने अपने अध्यात्म मार्ग मे विहार करते हुए भी करुणापूर्वक सन्मार्गोपदेश देकर पथ प्रदर्शन किया है। पथ विस्मृत भव्यो को सत्पथप्रदर्शन द्वारा मोक्षमार्गारूढ करना सन्तो का अपाय-विचय धर्म्यध्यान कहलाता है। सत्पथ प्रदर्शक श्रमणसस्कृति के उन्नायक अनुकपापूर्ण आचार्यो ने धर्म का प्रद्योतन कर जिनधर्म की प्रभावना कर धर्मतीर्थ को गतिमान रखा।

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् गौतमगणधर स्वामी को केवलज्ञान हुआ। गौतमस्वामी के निर्वाण के पश्चात् सुधर्माचार्य को केवलज्ञान हुआ। अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी हुए। क्रमश: ज्ञान का ह्रास होता गया। तीर्थ के सरक्षक आचार्यो ने अपना कर्तव्य निभाया। आचार्य गुणधर, धरषेण, पुष्पदन्त, भूतबली, यतिवृषभ तथा कुन्दकुन्द उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलकदेव, विद्यानन्दस्वामी आदि महायशस्वी आचार्य हुए। इन्होने अपने ज्ञान और वैराग्य तथा साधना के बल पर स्व-पर कल्याण किया। इन श्रमणराजो ने वीर शासन की प्रभावना मे अद्वितीय योगदान दिया। इसी श्रमणपरम्परा मे बीसवीं सदी मे महातपस्वी अनुकपापूर्ण आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी अठारह भाषा के ज्ञाता, तत्त्वज्ञ, जिनधर्म मर्मज्ञ हुए। आचार्य महावीर कीर्तिजी के प्रथम व परम शिष्य आचार्य विमलसागरजी है। आचार्य श्री अध्यात्म की जीती जागती मूरत, दया-करुणा-क्षमा की साक्षात् मूर्ति इस युग मे सम्प्रति प्रधान जैनाचार्य है।

सम्प्रति मानव जीवन मिथ्यात्व की चकाचौध मे फसा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को भी नही पहचानता, सत्य से गुमराह हो भटक रहा है। ऐसे विषम कलिकाल मे धर्मनेता आचार्य श्री जी ने अपनी अनुकम्पा से लाखो जीवो को मिथ्यात्व से छुडाकर सन्मार्ग पर लगाया है। आपने इस भारत वसुन्धरा पर यत्र-तत्र विहार कर जिन शासन की महती प्रभावना करते हुए समाज का जितना उपकार किया है उसे जैन या भारतीय इतिहास कभी भी विस्मृत नही कर पायेगा। अनेकानेक वर्षो मे इस धरा पर ऐसे महापुरुषो का जन्म होता है। आप जैसा साधक, जन-मन प्रभावक, करुणामूर्ति सन्त, आज इस पृथ्वीतल पर दुर्लभ है।

धर्म के दो तट है— मुनि-आर्यिका व श्रावक-श्राविका। इनकी व्युच्छित्ति होगी तो धर्म का नाश हो जायेगा।

बिन्दुओं के योग से सिन्धु है। यदि एक बिन्दु भी सिन्धु से पृथक हो जाता है तो सूर्य रश्मि उसे सुखा देती है उसी प्रकार जो साधु या श्रावक समाज से हटकर रहेगा वह सूख जायेगा।

प्रथम तीर्थकर वृषभदेव से लेकर आज तक साधु व समाज की "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" रूप परिपाटी अनवरत चली आ रही है। कभी इसका उत्थान व पतन भी देखा गया। "तिलोयपण्णत्ति" ग्रन्थ मे उल्लेख मिलता है कि चौबीस तीर्थकरो के बीच सात बार मुनि दीक्षा का ह्रास हुआ, सात बार यह परिपाटी छूटी, फलत उस समय धर्म की व्युच्छित्ति हुई, आचार-विचार की हीनता हुई। जब तक धर्मात्मा है तब तक ही धर्म रहेगा "**न धर्मो धार्मिकैर्बिना" धर्मात्मा के बिना धर्म नही।**

जैसे गाडी बनानेवाला कोई होता है और उसे चलानेवाला कोई और होता है ठीक इसी प्रकार तीर्थकरो ने जिन सिद्धान्तो का प्रवर्तन किया आचार्यो ने उसका उपबृहण किया। तीर्थकर तीर्थ के प्रवर्तक है और आचार्य उसके दिग्दर्शक है। जैसे ड्राइवर के हाथो गाडी की सुरक्षा है, यात्रियो की सुरक्षा है वैसे ही आचार्यो के हाथो मे धर्मतीर्थ व धर्मात्माओ की सुरक्षा है।

"**न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति**" स्व-पर उपकारी सन्तराज के उपकारो को लिपिबद्ध करना समुद्र मे मोतियो को गिनने के समान अशक्य है। आचार्य श्री के अभिवन्दनार्थ अभिवन्दन ग्रन्थ समर्पण की प्रथम चर्चा सन् १९८० में श्री अशोकजी दिल्लीवालो ने उपाध्याय श्री भरतसागरजी महाराज के समक्ष रखी थी। उपाध्यायजी ने स्वीकृति दी थी। इस योजना का क्रियान्वयन भी नही हो पाया कि इस सबध मे दूसरी-दूसरी रूपरेखाए उपाध्याय श्री के समक्ष आती रही। "श्रेयासि बहुविघ्नानि"। अशोकजी भी अपने कार्य को मूर्त रूप नही दे पाए। कारण अनेकानेक विघ्नरूप दीवारे सामने आकर खडी हो गई। इसी ऊहापोह मे अभिवदन ग्रन्थ की चर्चा समाज के विद्वद्वर्ग, श्रेष्ठीवर्ग तक पहुँच गई। परन्तु ग्रन्थ की सही रूपरेखा नही बन पाई। इसी परेशानी मे लगभग ८ वर्ष की लबी अवधि बीत गई।

सन् १९८९ मे सोनागिरि सिद्धक्षेत्र पर आचार्य श्री के ७४ वे जन्म-जयन्ती के शुभावसर पर जैन समाज की एक आवाज गूज उठी "अब अभिवन्दन ग्रन्थ कब?" यह गूज उपाध्याय श्री के कर्ण को बार-बार स्पर्श करने लगी। जैन समाज के कतिपय विद्वानो व श्रेष्ठीवर्ग ने उपाध्याय श्री के चरण सान्निध्य मे ग्रन्थ की नवीन सयोजना करने का विचार प्रस्तुत किया। तत्काल ही सारी रूप रेखा तैयार कर ग्रन्थ के शीघ्र प्रकाशन का निर्णय लिया गया।

आचार्य श्री जी धर्मरत्न के धारक महातीर्थ है। यही कारण है कि उनके सान्निध्य मे परमशान्ति का अनुभव होता है। नीतिकार की निम्न पक्तिया चिंतनीय है—

चन्दन शीतल लोके चन्दनादपि चन्द्रमा।
चन्द्र चन्दनयोर्मध्ये, शीतला साधुसगति ॥

पचमकालीन इन आचार्य श्री ने गुरु परम्परा मे प्राप्त मन्त्र-तन्त्र विद्याओ मे पारगत हो सहस्रों दुखी जीवो के दुख दारिद्र को दूर करते हुए उन्हे मोक्षमार्ग पर आरूढ किया है। आज भी शताधिक लोग प्रतिदिन गुरुदेव के चरणो मे अपनी दुख भरी कथा कहने आते है और प्रसन्न वदन लौटते है।

ऐसे मुनि पुगव, आचार्यरत्न की पुण्यकीर्ति को अक्षुण्ण व चिरस्थायी बनाये रखनेवाला यह अभिवन्दन ग्रन्थ सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री के जीवन का कीर्ति स्तभ है। इस ग्रन्थ का सार्थक नाम "वात्सल्य रत्नाकर" है जिसका चयन प नरेन्द्रप्रकाशजी फिरोजाबाद ने किया।

इस विशालकाय ग्रन्थ को तीन खण्डो मे विभाजित किया गया

प्रथम खण्ड— वात्सल्य रत्नाकर का प्रथम खण्ड पूर्णतया वात्सल्यमूर्ति सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री विमलसागरजी के कर-कमलो मे समर्पित है। इस खण्ड का विभाजन सात उपखण्डो मे हुआ है— १ श्रद्धा सुमन, २ भावोद्‌गार, ३ मनोज्ञं व्यक्तित्त्व, ४ बोधामृत, ५ तीर्थाटन व धर्मप्रभावना, ६ योग साधना व ७ प्रश्न हमारे उत्तर आपके। इस प्रकार यह खण्ड आचार्य श्री के प्रेरणास्पद व्यक्तित्त्व की स्पष्ट झलक से पाठको को आकर्षित करता है।

द्वितीय खण्ड— यह खण्ड चार उपखण्डो मे विभाजित है— १ पञ्च परमेष्ठी २ जैन दर्शन आगम और सिद्धान्त ३ आचार्य कुन्दकुन्द ४ जैन शासन के प्रभावक आचार्य। इस खण्ड मे विशिष्ट त्यागीवर्ग, आचार्य, उपाध्याय, मुनि व विदुषी आर्यिका माताओ तथा विद्वानो के सारगर्भित लेख है।

तृतीय खण्ड— यह खण्ड श्रमण सस्कृति के उपासको को समर्पित है। जो श्रमण सघाधिपति आचार्यो, उपाध्यायो, मुनियो व श्रावकों के आचार के प्रति सागोपाग विवेचन प्रस्तुत करता है। यह खण्ड "नौ" उपखण्डो मे विभाजित किया गया है— १ श्रमणाचार २ श्रावकाचार ३ ससार मार्ग ४ जैन तीर्थ ५ जैन पर्व ६ जैन सस्कृति व साहित्य ७ प्रकीर्णक व ८ जैन रामायण। यह खण्ड विविध सामग्रियो से भरपूर मूर्तिकला, मन्त्र विद्या आदि सामग्री से पाठक को आकर्षित कर रहा है।

विशालकाय ग्रन्थ के सम्पादन का महत् भार मुझ जैसी अल्पज्ञा के कधों पर डाला गया। यह कार्य मेरे लिये अतिभारारोपण ही था। फिर भी शक्त्यनुसार, अपनी बुद्धि अनुसार इसे सुन्दर सरस तथा उपयोगी बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। उपाध्याय श्री की यही भावना रही कि ग्रन्थ के विषय ऐसे हो जो व्युत्पन्न-अव्युत्पन्न सभी के उपयोगी हो, यह मात्र अल्मारी की शोभा बढाकर न रह जावे। तदनुसार ही लेखो का चयन भी हुआ है। मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ जन-जन का उपयोगी होकर अज्ञान अन्धकार को दूर कर ज्ञान किरण को प्रसारित करने मे सक्षम होगा।

एक कार्य को पूर्ण करने के लिये अनेक समर्थ कारणो की महती आवश्यकता है। सर्वप्रथम मै उन दिवगत आत्मा परम श्रद्धेय आचार्यकल्प श्री १०८ श्रुतसागरजी महाराज के प्रति नतमस्तक हूँ जिन्होंने "पद्मपुरा तीर्थ" पर ग्रन्थ प्रकाशन के लिये दिशा बोध दिया तथा विशेष महत्त्वपूर्ण विचारो से हमे अवगत कराया।

मै नतमस्तक हूँ हमारे प्रेरणा स्रोत गमक गुरु उपाध्याय श्री १०८ भरतसागरजी महाराज के चरण-कमलो मे जिनका सान्निध्य, जिनके विचार, जिनका परामर्श तथा जिनका आशीर्वाद हमे प्रतिपल सम्बल देता रहा। आपश्री की उदारता, विशाल सहृदयता ने सतत मार्ग दर्शन देकर मुझे अनुगृहीत किया है। अन्यथा मुझ अल्पज्ञा के लिये यह कार्य असम्भव ही था।

ग्रन्थ की रूप रेखा व विषयो के चयन मे सहयोगी पूज्य मुनि श्री अमितसागरजी महाराज के उपकार को विस्मृत नही किया जा सकता। उन सभी त्यागी वृन्द (आचार्य, मुनि, आर्यिका) के प्रति मै कृतज्ञता व्यक्त करती

हूँ जिन्होने हमे समयावधि मे ही अपनी विनयाञ्जलि और लेख तथा भावोद्‌गार आदि प्रेषित कर उपकृत किया है क्योंकि ये ही हमारे मूल स्तभ है। परन्तु मै क्षमाप्रार्थी हूँ कि हम कारणवशात् समयावधि मे ग्रन्थ प्रकाशन नही कर पाये, अतिक्रम हो गया है।

मै उन बुधजनो के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने अपनी लेखनी को आचार्य श्री के गुणानुवाद से पावन कर लिया है तथा जिन्होंने आगमानुकूल सैद्धान्तिक लेखो का लेखन कर हमे अपनी सेवा का समर्पण किया है, वे भी धन्यवाद के पात्र है।

पूज्या १०५ आर्यिका नन्दामतीजी माताजी जिन्होंने हमे विशेष सहयोग दिया, मै उनकी उदारता के लिए कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ। लेखो के वाचन के समय विभिन्न ग्रन्थो की आवश्यकता पडने पर जब भी माताजी के पास पहुँचते उन्होने तुरन्त ग्रन्थ प्रदान किये, कभी इन्कार नही किया। मै आप श्री के चरणो मे नतमस्तक हूँ।

विभिन्न लेखको के लेख विभिन्न प्रकार के रहे। किन्ही मे वर्ण-मात्रा की अपेक्षा अशुद्धता अथवा लिपि की अस्पष्टता रही अत कुछ लेखो की प्रेस कापी पुन की गई इस कार्य मे आर्यिका मुक्तिमतीजी, क्षुल्लक स्याद्वादसागरजी, क्षु उद्धारमतीजी, सघस्थ ब्र प्रभाजी, कुसुमजी व उर्मिलाजी व श्रीमान् देवेन्द्रकुमारजी गोधा ग्वालियर का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ ये सभी आशीर्वाद के पात्र है। सबके सहयोग के लिये मै कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ।

धर्मनेता, श्रेष्ठी वर्ग, राजनेता, देश नेता, सभी आर्य पुरुष धन्यवाद के पात्र है जिन्होंने विनयाञ्जलि, भावोद्‌गार आदि प्रस्तुत कर अपने जीवन को सफल बनाया है।

कर्मठ कार्यकर्ता धर्मचन्दजी शास्त्री के श्रम को विस्मृत नही किया जा सकता जिन्होंने ग्रन्थ की विशाल सामग्री जुटाने मे, विशेष अनुभव प्रदान करने मे हमारा पूर्ण सहयोग किया है।

ग्रन्थ के प्रथम व प्रमुख परामर्शदाता भाई अशोकजी दिल्लीवालो के लिये पूर्ण आशीर्वाद है जिनके सुन्दर विचारो से आज यह महान् कार्य हुआ है।

गुरुभक्ति मे निरत श्रद्धालु दान-शिरोमणि सघपति सेठश्री श्रीपालजी व उनका परिवार धन्यवाद के पात्र है। आपके पुत्र चिरंजीव राजेन्द्रजी का प्रबल पुरुषार्थ इस ग्रन्थ मे अकथनीय है। आपने तन-मन-धन से एकजूट होकर इस कार्य को अनेकों कठिनाईयो का सामना करते हुए धैर्य व साहस के साथ पूर्ण किया है, आप के लिये कोटिश आशीर्वाद है। गुरुभक्त सघपति श्री श्रीपालजी राजेन्द्रकुमारजी, बम्बई व सघपति श्री शिखरचन्दजी पाचूलालजी पहाडिया, बम्बई-कुचामनसिटी, श्री सुरेन्द्रजी जैन, दिल्ली तथा सम्माननीय सभी सदस्यगण दातारो को पुन पुन आशीर्वाद है जिन्होंने अपनी चचला लक्ष्मी को गुरु भक्ति मे समर्पितकर यश प्राप्त किया है।

ग्रन्थ के इस महत् कार्य मे फोटोग्राफर श्री अविनाश मेहता, बम्बई, साज-सज्जा मे निपुण श्री प्रशान्त शाह, बम्बई, तथा श्री भरतकुमार काला, सौ शैलबाला काला, बम्बई आदि तथा इसके अलावा प्रत्यक्ष-परोक्षरूप से सहयोगी सभी कार्यकर्ताओ के लिये हमारा आशीर्वाद है। अन्त मे सभी सहयोगियो के लिये मै कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ।

''को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे'' वात्सल्य रत्नाकर अभिवन्दन ग्रन्थ का महत् भार मुझ अल्पज्ञ ने भक्तिवशात्

तो दर्शक मुग्ध हो कर देखते रहते है, उस सुरम्य दृश्य को देखते-देखते आँखे अघाती नही, मन भरता नही और हृदय की उत्सुकता कम नही होती, वैसे जैनाचार्य वात्सल्य रत्नाकर, त्यागमूर्ति, तीर्थभक्त आचार्य श्री विमल सागर जी का व्यक्तित्व का दर्शन करते समय भी मन कभी अघाता नही, बार बार उन्हे देखने को तृषित होता है। जब जब ज्ञान की आँखो मे श्रद्धा की ज्योति जगती है और आचार्य श्री के स्वच्छ, सौम्य, दिव्य व्यक्तित्व की प्रतिमा का दर्शन करते है तो सचमुच ऐसा ही लगता है कि अहो! उनका व्यक्तित्व कितने रमणीय रगो मे रगा है, यह कह पाना व समझ पाना अति कठिन है, सिर्फ अनुभूति होती है। आचार्य श्री सरलता की साकार मूर्ति है, विनम्रता के पुञ्ज है। ऐसे महान साधक के कर कमलो मे अभिवन्दन ग्रन्थ समर्पित करना महान सौभाग्य की बात है। सत पुरुष राष्ट्र पुरुष होते है। इन राष्ट्र पुरुषो का अभिवन्दन राष्ट्र का अभिवन्दन है। प्रकाशन समिति आचार्य श्री के कर कमलो मे बृहद्‌काय ग्रन्थ समर्पित कर स्वय गौरव का अनुभव करती है।

ग्रन्थ के प्रकाशन मे आशीर्वाद प्रदाता, प्रेरणा स्रोत सन्त श्री, सम्पादक मण्डल, प्रकाशन समिति, दानवीर आदि का बहुत ही आभारी हूँ जिनके अमूल्य मार्गदर्शन से यह सब सम्भव हुआ। ग्रन्थ की साज सज्जा एव उत्कृष्ट मुद्रण के लिए भाई श्री आर के जैन, प्रशान्त शाह, श्री भरतकुमार काला, सौ शैलबाला काला बम्बई सर्वाधिक धन्यवाद के पात्र है जिन्होंने अपना पूरा समय इस कार्य मे लगाकर सत्यता को सुन्दरता के साँचे मे ढाला है।

अन्त मे प पू उपाध्यायश्री के चरणो मे वदन करता हूँ कि पू श्री के निर्देशन मे श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद सस्था का निर्माण हुवा तथा अल्प अवधि मे अनेकानेक आचार्य प्रणीत ग्रन्थो का प्रकाशन हो सका। आज सस्था युवा रुप मे है तथा पू श्री को विश्वास दिलाता हूँ कि सस्था आपके मगलमय आशीर्वाद से आगे धार्मिक एव पुण्यवर्धक कार्य करती रहेगी।

पू आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज शतायु होकर आत्म साधना मे लीन हो परोपकार मे सहायी बने। पू श्री के चरणो मे नमोस्तु करता हूँ, तथा आशीर्वाद चाहता हूँ कि यह परिषद जैन धर्म, साहित्य एव समाज की निरन्तर सेवा करती रहे। इसी भावना के साथ पुन सभी चारित्र आराधको के चरणो मे वदन।

णमो लोए सव्वसाहूण।

ब्र [illegible]
प्रतिष्ठाचार्य
अध्यक्ष
श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद
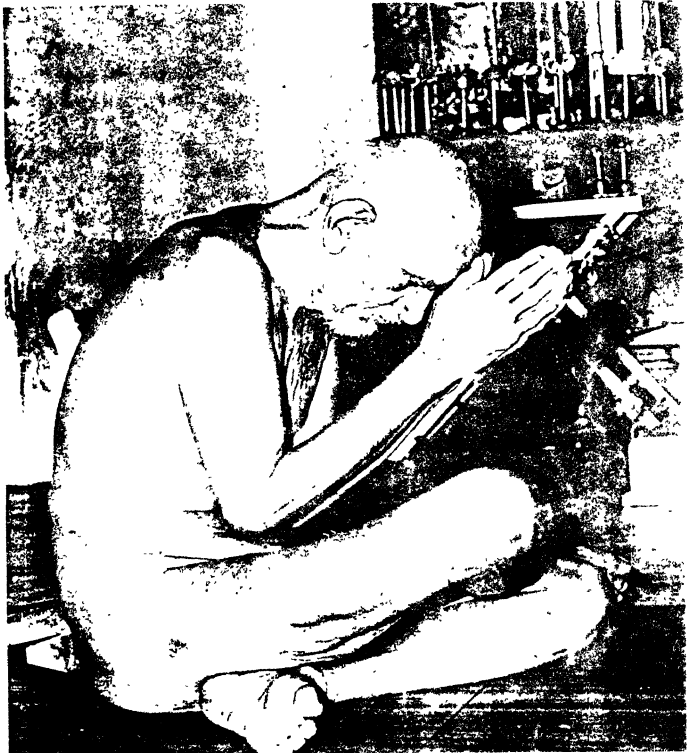
।वात्सल्यरत्नाकर।

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

आचार्य श्री विमलसागरजी महाराजके दीक्षा गुरु

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

अनुक्रमणिका

द्वितीय खण्ड

पञ्चपरमेष्ठी

अर्हत्स्तुति	आ अजितसागरजी	१
जिनेन्द्र भक्ति आत्मोन्नति का सोपान	ब्र डालचन्द शास्त्री	३२
श्रमण परम्परा के परम आराध्यदेव अर्हन्त	आर्यिका स्याद्वादमती	४१
तीर्थकर और उनके पञ्चकल्याणक		
गर्भकल्याणक	ब्र सूरजमलजी	५२
जन्मकल्याणक	ब्र धर्मचन्द	५४
तपकल्याणक	क्षुल्लिका राजमती	५७
ज्ञानकल्याणक	आर्यिका श्रुतमती	५९
मोक्षकल्याणक	आ कुन्थुसागरजी	६९
सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप और उनकी महिमा	प. रतनलाल	८०
आचार्य परमेष्ठी	उपाध्याय भरतसागरजी	८६
उपाध्याय परमेष्ठी	प धर्मचन्द शास्त्री, ग्वालियर	१००
पडिवज्जदु सामण्ण	ब्र भावना	१०७
णमोकार मत्र और उसका माहात्म्य	ब्र रानू जैन	११६

जैन दर्शन आगम और सिद्धान्त

जैन दर्शन और धर्म का बीज	डा रतनचन्द जैन, भोपाल	१२७
जैन दर्शन और प्रमाण नय व्यवस्था	डा राजकुमारी जैन, जयपुर	१३१
जैन दर्शन की वर्तमान मे प्रासंगिकता	डा पारसमल अग्रवाल	१४०
ईश्वरत्व कर्तृत्व निरसन	आर्यिका जिनमतीजी	१४४
दैव की अवधारणा	आ वर्धमानसागरजी	१५५
वस्तु स्वभाव की निरपेक्षता और जीव जगत् सबध	प ज्ञानचन्द बिल्टीवाला, जयपुर	१८२

आस्तिक-नास्तिक	प हीरालालजी जैन, "कौशल"	१९९
अनेकान्त और स्याद्वाद	डॉ प्रकाशचन्द जैन, इन्दौर	२०३
अनेकान्तवाद और उसकी व्याप्ति	डॉ देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच	२१८
अनेकान्त दृष्टि अपनावे	प जवाहरलाल मोतीलाल, भिण्डर	२२३
जैन दर्शन की समन्वयात्मक दृष्टि	प्रो रामकरण शर्मा, दिल्ली	२३२
सम्यक् श्रुत	स्व सिद्धाताचार्य प फूलचन्द शास्त्री	२३४
जैनागम और जिनमुद्रा	आर्यिका विशुद्धमतीजी	२५९
चार अनुयोग	ब्र कु प्रभा	२७०
द्वादशाग और उनका चारो अनुयोगो मे अन्तर्भाव	ग आर्यिका सुपार्श्वमतीजी	२७४
सघर्षो का नवनीत-प्रथमानुयोग	मुनि अमितसागरजी	२८६
तत्त्व निरुपण	स्व प्रो महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य,	२९८
रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है	उपा भरतसागरजी	३२७
निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग	ब्र बशीधर व्याकरणाचार्य	३३३
मोक्षमार्ग मे व्यवहारनय और निश्चयनय की उपयोगिता	मुनि देवनन्दीजी	३५७
आत्मसाधना का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन	आ वर्धमानसागरजी	३७२
सम्यग्दृष्टि कौन	आर्यिका सर्वज्ञश्री	३८६
सम्यग्दर्शन-एक विश्लेषात्मक विवेचन	डा लालचन्द जैन, वैशाली	४०१
सम्यग्ज्ञान-एक विवेचन	प पवनकुमार दीवान शास्त्री, मुरेना	४२३
ज्ञानदर्शन ही आत्मा है	प खुशालचन्द गोरावाला, वाराणसी	४४०
सम्यक् चारित्र	डा प्रमिला शास्त्री	४४७
शुद्धोपयोग	उपाध्याय भरतसागरजी	४६०
जिनशासन मे शुद्धोपयोग	ग आर्यिका विजयमतीजी	४६७
कर्मसिद्धान्त	आर्यिका आदिमतीजी	४७७
निमित्त-उपादान	प नाथूराम डोगरीय, इन्दौर	४९३
निमित्त उपादान मीमासा	उपाध्याय कनकनन्दीजी	४९८
मोक्षमार्ग मे पुण्य की उपयोगिता	प सागरमल जैन, विदिशा	५३१
परमात्मा कहाँ और कौन?	प नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर	५४०

लेश्या | आ पुष्पदन्तसागरजी | ५४३

आचार्य कुन्दकुन्द

आचार्य कुन्दकुन्द	डॉ पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर	५५५
आ कुन्दकुन्द और उनका माहात्म्य	डॉ लालबहादुर शास्त्री, दिल्ली	५६६
आचार्य कुन्दकुन्द की स्याद्वादवाणी	डा दयाचन्द सिद्धान्ताचार्य, सागर	५७९
समयसार महिमा	स्व सहजानन्द वर्णी	५९०
समयसार एक अध्ययन	ग आर्यिका ज्ञानमतीजी	६१८
प्रवचनसार एक उपयोगी शिक्षाग्रथ	डा प्रेमचन्द रावका,	६३४
प्रवचनसार की आ अमृतचन्द्र व जयसेनकृत टीकाए	डा रमेशचन्द जैन, बिजनौर	६४०
नियमसार-एक अध्ययन	डा पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर	६५०
आ कुन्दकुन्द व तिरुक्कुरल	डॉ सिहचन्द्र शास्त्री, मद्रास	६६३
आ कुन्दकुन्द के दर्शन मे निश्चय व व्यवहार नय	डॉ सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी	६७१
आ कुन्दकुन्द और ध्यान	ब्र कु कौशल, दिल्ली	६८३
कुन्दकुन्द की दृष्टि मे मोक्ष व मोक्षमार्ग	डा गजेन्द्रकुमार बसल, भिलाई	६९७
कुन्दकुन्द और पुद्गल द्रव्य आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे	डॉ कपूरचन्द जैन, खतौली	७०५
कुन्दकुन्द साहित्य मे लोक व्यवहार	डा जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर	७१२
आचार्य कुन्दकुन्द की मुख्य गाथाए	मिश्रीलाल जैन एडवोकेट, गुना	७१८

जैन शासन के प्रभावक आचार्य

जैन शासन के प्रभावक आचार्य	डा जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर	७३७
गृद्धपिच्छाचार्य	डा नेमिचन्द	७४८
समन्तभद्र और अर्हद् भक्ति	डा कस्तूरचन्द सुमन, महावीरजी	७५०
सस्कृत जैन स्तोत्र साहित्य के प्रथम प्रवर्तक आ समन्तभद्र	डॉ कुसुम जैन, नागपुर	७६०
आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद और उनका समय	रमाकान्त जैन, लखनऊ	७६९

आचार्य विद्यानन्द व्यक्तित्त्व और कर्तृत्त्व	आर्यिका शुभमतीजी	७७३
वादिराज एव उनकी भक्ति	आर्यिका प्रशान्तमतीजी	७८१
आ अमृतचन्द्र की अहिंसा अवधारणा	प विजयकुमार शास्त्री	७८८
आचार्य प्रभाचन्द्र	डा सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी	७९४
आचार्य शुभचन्द्र और उनका ज्ञानार्णव	बसन्तकुमार जैन, मेरठ	७९९
आचार्य मानतुग और उनकी भक्ति	ब्र विद्युल्लता शाह, सोलापुर	८०३
आचार्य कुन्दकुन्द और उनका भक्तिकाव्य	प कोमलचन्द जैन, लोहारिया	८१२
जैनाचार्यो की विभिन्न क्षेत्रीय देन	डा इन्दु बोहरा, भोपाल	८१८

अनुक्रमणिका

तृतीय खण्ड

श्रमणाचार

दिगम्बरत्व का महत्त्व	डा ज्योतिप्रसाद जैन	१
जिनमुद्रा का अधिकारी कौन?	मुनि अमितसागरजी	४
द्रव्यलिंग एक विहगम दृष्टि	स्व प छोटेलाल बरैया, उज्जैन	१४
वर्तमानमें जैनाचार्यो का योगदान	प हेमचन्द शास्त्री कौन्देय, अजमेर	१९
दिगम्बर साधु का प्रत्याख्यान	ग आर्यिका सुपार्श्वमतीजी	३१
श्रमण के दस समाचार	क्षु स्याद्वादसागरजी	४०
ऋद्धि और सिद्धि	उपाध्याय अभिनन्दनसागरजी	४३
सल्लेखना आत्महत्या नही	निर्मलचन्द जैन, सिवनी	५२
आओ परीषह जयी बन	डॉ मूलचन्द जैन	५७
परीषह जय	ग आर्यिका विजयमतीजी	६२
क्षुधा परीषह	स्व सिद्धाताचार्य फूलचन्द शास्त्री	६७
क्षुधा परीषह जय	प कमलकुमार शास्त्री	७०
तृषा परीषह जय	आर्यिका कनकमतीजी	७३
शीत परीषह	प मल्लिनाथ शास्त्री	७५
उष्ण परीषह जय	ब्र उर्मिला नायक	७७
दशमशक परीषह जय	उपाध्याय भरतसागरजी	८०
नाग्न्य परीषह जय	डा इन्दु पाटनी	८२
अरति परीषह जय	डॉ सोहनलाल देवोत	८५
स्त्री परीषह जय	प रतनलाल कटारिया	८७
चर्या परीषह जय	मुनि कुमुदनन्दीजी	९१
निषद्या परीषह जय	प्रो विजयकुमार	९३
शय्या परीषह जय	आ पार्श्वसागरजी	९६
आक्रोश परीषह जय	आर्यिका जयप्रभाजी	९८
वध परीषह जय	ब्र कुसुम नायक	१००
याचना परीषह जय	मुनि श्रवणसागरजी	१०२

अलाभ परीषह जय	पं मिश्रीलाल शाह	१०४
रोग परीषह जय	ब्र कु प्रभा पाटनी	१०६
तृण स्पर्श परीषह जय	मुनि देवसागरजी	१०९
मल परीषह जय	आर्यिका मुक्तिमतीजी	१११
सत्कार-पुरस्कार परीषह जय	ब्र धर्मचन्द शास्त्री	११३
प्रज्ञा पुरस्कार परीषह जय	आर्यिका स्याद्वादमतीजी	११६
अज्ञान परीषह जय	आर्यिका जिनमतीजी	११९
अदर्शन परीषह जय	डॉ रमेशचन्द्र	१२१
सल्लेखना में विवेक शुद्धि	स्व आचार्य श्रेयाससागर	१२६
विरोध अकालमरण का, पोषण नियतिवाद का	पं श्यामसुन्दरलाल शास्त्री	१३३
श्रावकाचार		
दसलक्षण धर्म	आर्यिका सुदृष्टिमतीजी	१३९
अहिंसा हिंसा का रहस्य	पं नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर	१५८
जैनधर्म में सत्य की विशालता	आर्यिका आदिमतीजी	१६१
अचौर्य व्रत	डा शेखरचन्द्र जैन	१७२
ब्रम्हचर्य और अपरिग्रह	ग आर्यिका विजयमतीजी	१७७
सोलहकारण भावना	ब्र रजनी जैन	१८४
आगम के आलोक में पूजा पद्धति	ग आर्यिका विजयमतीजी	२०६
श्रावक की त्रेपन क्रियाएँ	भरतकुमार काला, बम्बई	२१९
मानवजीवन और अष्टमूलगुण	पं राजकुमार शास्त्री, निवाई	२२९
आहार दान	आर्यिका सुप्रभामतीजी	२३८
औषधदान	आर्यिका चन्द्रमतीजी	२५२
ज्ञानदान	ग आर्यिका विजयमतीजी	२५५
अभयदान-करुणादान	डा सुशील जैन	२६४
रात्रिभोजन त्याग एक वैज्ञानिक अध्ययन	डॉ ज्ञानचन्द जैन	२६९
रात्रिभोजन त्याग	वैद्य मोतीलाल	२७१
शाकाहार क्यों?	डा डी सी जैन, दिल्ली	२७४
संसार मार्ग		
अष्ट कर्म		
ज्ञानरवि का आच्छादक ज्ञानावरण कर्म	ब्र कु प्रभा पाटनी	२७७
दर्शनावरण कर्म एक चिंतन	कस्तूरचन्द्र सुमन, महावीरजी	२८६

वेदनीय कर्म सद्वेद्य और असद्वेद्य	लक्ष्मीचन्द 'सरोज'	२९५
ससार भ्रमण का मूल कारण मोहनीय कर्म	ब्र कु प्रभा पाटनी	३०८
भवस्थिति का सम्पादक आयुकर्म	मुनि रयणसागरजी	३१५
नामकर्म और उसकी प्रकृतिया	गभीरमल सोनी	३२०
गोत्र कर्म जीव के आचरण का परिणाम	बद्रीप्रसाद सरावगी	३२७
अन्तराय कर्म	श्रेयासकुमार दिवाकर, सिवनी	३३०
पर्याप्ति आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे	डा सज्जन कुमार	३३३
मानव जीवन के अभिशाप-सप्तव्यसन	मुनि विरागसागरजी	३४२
जैनतीर्थ...		
सम्मेद शिखर माहात्म्य	श्रीमती बालादेवी देवोत, लोहारिया	३६३
पावन भूमि गिरनार	धन्नालाल जैन	३६९
महान् सिद्धक्षेत्र चपापुरी	जयकुमार विनायक्या, भागलपुर	३७३
सिद्धक्षेत्र सिद्धवरकूट, ऊन, बडवानी	ब्र कमलाबाई पाण्ड्या	३७७
सिद्धक्षेत्र सोनागिर	मिश्रीलाल पाटनी	३८२
दान तीर्थ हस्तिनापुर	क्षुल्लक मोतीसागर	३८५
उत्तर भारत के जैन तीर्थ	श्रीमती पुष्पा जैन	३९२
मध्यप्रदेश के जैन तीर्थों का सक्षिप्त परिचय	सत्यन्धरकुमार सेठी, उज्जैन	३९४
बुन्देलखड जैन सस्कृति का जीवत गढ	विमलकुमार जैन सोरया, टिकमगढ	४०५
जैन मूर्तिकला का अद्भुत कोषागार खजुराहो	नीरज जैन, सतना	४०९
राजस्थान के जैन तीर्थ एक झलक	प मोतीलाल	४२७
पोदनपुर बाहुबली की राजधानी	डा गुलाबचन्द जैन	४३१
जैन पर्व और व्रत विधान		
भगवान महावीर की प्रथम दिव्य देशना	उपाध्याय भरतसागरजी	४४१
दीपावली महावीर निर्वाणोत्सव	आर्यिका स्याद्वादमती	४५०
अक्षय तृतीया	आर्यिका मुक्तिमतीजी	४५४
क्षमावणी पर्व	ब्र कु प्रभा पाटनी	४५८
शास्त्र पूजा का सबसे बडा दिवस श्रुतपञ्चमी	डॉ कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर	४६४
अष्टान्हिका पर्व	प्रतिष्ठाचार्य प प्रदीपकुमार जैन	४७०
सिद्धचक्र विधान प्रयोजन एव फल	प कपूरचन्द बरैया	४८३
जैन संस्कृति व साहित्य		
आदि तीर्थंकर वृषभदेव की ऐतिहासिकता	डॉ सुपार्श्वकुमार जैन	४८९

वैदिक एव श्रमण सस्कृति एक पर्यवेक्षण	डॉ दामोदर शास्त्री	४९४
जैन धर्म की प्राचीन ऐतिहासिकता	डॉ प्रकाशचन्द शास्त्री, इन्दौर	५०३
जैन दृष्टि मे राम	मुनि अमितसागर	५११
हनुमान एक लोकोत्तर व्यक्तित्त्व	आ भरतसागर	५१६
जैन साहित्य मे लकेश्वर	आर्यिका स्याद्वादमती	५२०
हिन्दुओ के आराध्य भगवान महावीर	परिपूर्णानन्द वर्मा	५२७
भगवान महावीर और उनका अवदान	नेमिचन्द जैन	५३१
दक्षिण (तमिलप्रान्त) मे जैन धर्म	प मल्लिनाथ शास्त्री, मद्रास	५३९
अपभ्रश काव्यो मे वर्णित सामाजिक जीवन	डॉ गजाराम जैन	५४८
प्रद्युम्न चरित मे उपलब्ध महत्वपूर्ण राजनैतिक सदर्भ	डॉ विद्यावती जैन	५६४
अग्रेजी मे अनूदित कुछ जैन आर्षग्रन्थ	कुन्दनलाल जैन	५७०
जैन साहित्यकार और राजनीति	जगरूपसहाय जैन	५७५
नन्दीश्वर द्वीप	मुनि विष्णुसागर	५८५
पञ्चमेरु साधना के आश्रय	प हँसमुख जैन	५९३
स्वप्नविद्या स्वप्नदर्शन का शुभाशुभ फल	आर्यिका नन्दामतीजी	५९७
जैन मन्त्र विद्या की विधाए	डॉ मोहनलाल जैन देवोत, लोहारिया	६०५
जैन मूर्ति निर्माण विधि	प धर्मचन्द शास्त्री	६१२
जैन मन्त्र-तन्त्र विद्या	ग आर्यिका सुपार्श्वमतीजी	६२३
राजनियमो मे जैन सिद्धान्तो का समावेश	प्रो टीकमचन्द जैन	६३०
जैन धर्म और आधुनिक मनोविज्ञान	श्रीमती सुशीला सालगिया	६३५
जैन धर्म और आयुर्वेद	आचार्य राजकुमार जैन	६४४
प्रकीर्णक		
सज्जातियना की अनादिनिधनता	आ स्व श्रेयाससागरजी महाराज	६६३
आर्यिका आर्यिका है—श्राविका नही	आर्यिका विशुद्धमतीजी	६७१
प्रवचन पद्धति	ग आर्यिका ज्ञानमतीजी	६८९
वर्तमान मे शिक्षण शिविर की आवश्यकता	प बच्चूलाल शास्त्री, कानपुर	७१३
निर्माल्यभक्षण	सुमेरचन्द दिवाकर, सिवनी	७१७
जैन रामायण	डा मूलचन्द जैन, मुजफ्फरनगर	७२१

पञ्च परमेष्ठी

पञ्च परमेष्ठी

अर्हस्तुति	आ अजितसागरजी	१
जिनेन्द्र भक्ति आत्मोन्नति का सोपान	ब्र डालचन्द शास्त्री	३२
श्रमण परम्परा के परम आराध्यदेव · अर्हन्त	आर्यिका स्याद्वादमती	४१
तीर्थकर और उनके पञ्चकल्याणक		
गर्भकल्याणक	ब्र सूरजमलजी	५२
जन्मकल्याणक	ब्र धर्मचन्द	५४
तपकल्याणक	क्षुल्लिका राजमती	५७
ज्ञानकल्याणक	आर्यिका श्रुतमती	५९
मोक्षकल्याणक	आ कुन्थुसागरजी	६९
सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप और उनकी महिमा	प रतनलाल	८०
आचार्य परमेष्ठी	उपाध्याय भरतसागरजी	८६
उपाध्याय परमेष्ठी	प धर्मचन्द शास्त्री, ग्वालियर	१००
पडिवज्जदु सामण्ण	ब्र भावना	१०७
णमोकार मत्र और उसका माहात्म्य	ब्र रानू जैन	११६

अर्हत्स्तुतिः

स्व. आचार्य श्री अजितसागरजी

मङ्गलाचरणम्

वर अइसय चउतीसा, अट्ठमहापाडिहेर संजुत्ता।
णतचउट्ठयसहिया, छियाला अरहा गुण भणिया॥१॥

खवियघणघाइकम्मा, चउतीसा अदिसय पंचकल्लाणा।
अट्ठवरपाडिहेरा, अरहंता मंगलं मज्झ॥२॥

मोहादिसर्वदोषारिघातकेभ्य. सदा हतरजोभ्य ।
विरहित रहस्कृतेभ्य, पूजार्हेभ्यो नमोऽर्हद्भ्य ॥३॥

श्रेयोमार्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्वलद्दुखदाव-
स्कन्धे चंक्रम्यमाणा-नतिचकितमिमा-मुद्धरेयं वराकान्।
इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्भावनोपात्तपुण्य-
प्रक्रान्तैरेववाक्ये, शिवपथमुचितान् शास्ति योऽर्हन् स नोऽव्यात॥४॥

ओं सत्तक्खरसज्झाणं, अरहंताणं णमोत्ति भावेण।
जो कुणइ अणण्णमणो, सो पावइ उत्तमं ठाणं॥५॥

अर्हत्स्तुति

स्तोष्ये त्वा परमज्योतिर्गुणरत्नमहाकरम्।
मतिप्रकर्षहीनोऽपि, केवलं भक्तिचोदित ॥६॥

त्वामभिष्टुवतां भक्त्या, विशिष्टाफलसम्पद ।
स्वयमाविर्भवन्तीति, निश्चित्य त्वा जिन। स्तुवे॥७॥

तुभ्य नमो दशगुणोर्जितदिव्यगात्र।
कोटिप्रभाकर निशाकरजैत्रतेज ।
तुभ्य नमोऽतिचिरदुर्जयघातिजात।
घातोपजातदशसार-गुणाभिराम॥८॥

तुभ्य नम सुरनिकायकृतैर्विहारे।

दिव्यैश्चतुर्दशविधातिशयैरुपेत ।
तुभ्यं नम त्रिभुवनाधिपतित्वचिह्न-
श्रीप्रातिहार्याष्टकलक्षताऽर्हन्॥९॥

तुभ्यं नम परमकेवलबोधवार्द्धे।
तुभ्यं नम समसमस्तपदावलोक।
तुभ्य नमो निरुपमान-निरन्तवीर्य,
तुभ्यं नमो निजनिरन्तर-नित्यसौख्य॥१०॥

तुभ्यं नम सकलमङ्गलवस्तुमुख्य ।
तुभ्य नम शिवसुखप्रद । पापहारिन्।
तुभ्य नम त्रिजगदुत्तम-लोकपूज्य ।
तुभ्यं नम शरणभूत्रयरक्षदक्ष॥११॥

तुभ्य नमोऽस्तु नवकेवलपूर्णलब्धे ।
तुभ्य नमोऽस्तु परमैश्वर्योपलब्धे।
तुभ्य नमोऽस्तु मुनिकुञ्जर यूथनाथ,
तुभ्य नमोऽस्तु भुवनत्रितयैकनाथ ॥१२॥

तुभ्य नमोऽधिगुरवे, नमस्तुभ्य महाधिये।
तुभ्यं नमोऽस्तु भव्याब्जबन्धवे गुणसिन्धवे॥१३॥

जिनप्रभावम्

आतकरोगमरणुप्पत्तीओ वेर कामबाहाओ।
तण्हाछुहपीडाओ, जिणमाहप्पेण ण हवति॥१४॥

ततोऽहिनकुले भद्रहर्यश्वमहिषादय ।
जिनानुभावसम्भूत-विश्वासा शमिनो बभु ॥१५॥

मारङ्गी मिहशाव, स्पृशति सुतधिया, नन्दिनी व्याघ्रपोत,
मार्जारी हसबाल, प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम्।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमन्दा, जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति,
श्रित्वा साम्यैकभाव, प्रशमितकलुष, योगिन क्षीणमोहम्॥१६॥

भजन्ति जन्तवो मैत्री-मन्योऽन्यत्यक्तमत्सरा ।
समत्वालम्बिना प्राप्य, पादपद्मार्चितां क्षितिम्॥१७॥

पुत्रप्रीत्याऽहिबाल, कलयति नकुली, सिंहशाव करेणु,

बाहापत्य लुलायी, प्रमुदिहृदया, व्याघ्रपोतं कुरङ्गी।
दूरारूढिप्रगाढाद्, विगलदविकलध्वान्तजालात् त्वदीयाद्,
इत्थं ध्यानावधनादजनिषतमिथो, जन्तवोऽमी वनेऽपि॥१८॥

यं य देशं से सर्वज्ञ, प्रयाति गतियोगत।
योजनानां शत तत्र, जायते स्वर्गविभ्रमम्॥१९॥

आधयो नैव जायन्ते, व्याधयो व्यापयन्ति न।
ईतयश्चाज्ञया भक्तुर्नेति तद्देशमण्डले॥२०॥

अन्धा पश्यन्ति रूपाणि, श्रृण्वन्ति वधिरा श्रुतिम्।
मूका स्पष्ट प्रभापन्ते, विक्रमन्ते च पङ्गव॥२१॥

नात्युष्णा नातिशीता स्यु, रहोरात्रादिवृत्तय।
अन्यच्चाशुभमत्येति, शुभ सर्वं प्रवर्धते॥२२॥

तिष्ठन्ति मुनयो यस्मिन्, देशे परमलब्धय।
तथा केवलिनस्तत्र, योजनाना शतद्वयम्॥२३॥

पृथिवी स्वर्गसकाशा, जायते निरुपद्रवा।
वैरानुबन्धमुक्ताश्च, भवन्ति निकटे नृपा॥२४॥

अमूर्तत्व यथा व्योम्नश्चलत्वमनिलस्य च।
महामुने र्निसर्गेण, लोकस्याह्लादन तथा॥२५॥

स्वर्गमोक्षसुखसाधनेऽर्हद्देव मुख्यमस्तीत्याह—

सर्व प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात्, सा सर्वकर्मक्षयात्,
सद्वृत्तात् स च तच्च बोधनियतं, सोऽप्यागमात् स श्रुते।
सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो, रागादयस्तेऽप्यत,
त युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखद, सन्त श्रयन्तु श्रियै॥२६॥

अर्हद्देवस्य मुख्या त्रयो गुणान् प्राह—

(१. वीतरागः २. सर्वज्ञः ३. हितोपदेशी)

अनट्टहासहूङ्कार-मदष्टोष्ठपुटं मुखम्।
जिन। आख्याति, सुमेधोभ्यस्तावकीं वीतरागताम्॥२७॥

यै दोषै. वीतरागता बाधिता भवति तान् राग-द्वेषादि अष्टादश-दोषान् ब्रूते—

क्षुधा तृष्णा भयो द्वेषो, रागो मोहो मदो गद।
चिन्ता जन्म जरा मृत्यु, विषादो विस्मयो रति॥२८॥

खेद स्वेदस्तथा निद्रा, दोषा साधारणा इमे।
अष्टादशाऽपि विद्यन्ते, सर्वेषां दु खहेतव॥२९॥

क्षुधा— क्षुधाग्निज्वालया तप्तं, क्षिप्रं शुष्यति विग्रहम्।
इन्द्रियाणि न पञ्चाऽपि, प्रवर्तन्ते स्वगोचरे॥३०॥

तृषा— विलासो विभ्रमो हास, सम्भ्रमो विनयो नय।
तृष्णया पीड्यमानस्य, नश्यन्ति तरसाऽखिला॥३१॥

भय— वाते नैव हतं पत्रं, शरीरं कम्पतेऽखिलम्।
वाणी पलायते भीत्या, विपरीत विलोक्यते॥३२॥

द्वेष— दोष गृहणाति सर्वस्य, विना कार्येण रुष्यति।
द्वेषाकुलो न कस्यापि, मन्यते गुणमस्तधी॥३३॥

राग— पञ्चाक्षविषयासक्तं, कुर्वाणं परपीडनम्।
रागातुरमनश्चाय, युक्तायुक्त न पश्यति॥३४॥

मोह— कान्ता मे मे सुता मे मे, स्वगृह मम बांधवा।
इत्थ मोहपिशाचेन, सकलो मुह्यते जन॥३५॥

मद— ज्ञान जाति कुलश्वर्ये, तपो रूप बलादिभि।
पराभवति दुर्वन्त, स मद सकल जनम्॥३६॥

गद— श्लेष्मामारूतपितोत्थै-स्तापितो रोगपावकै।
कदाचिल्लभते सौख्य, न परायत्त-विग्रह॥३७॥

चिन्ता— कथ मित्रं कथं द्रव्यं, कथ पुत्रा कथं प्रिया।
कथ ख्याति कथं प्राति-रित्थं ध्यायति चिन्तया॥३८॥

जन्म— श्वभ्रवासाधिकाऽसाते, गर्भे कृमिकुलाकुले।
जन्मिनो जायते जन्म, भूयोभूयोऽसुखावहम्॥३९॥

जरा— आदेश कुरुते यस्य, शरीरमपि नात्मन।
कस्तस्य जायते वश्यो, जरिणो हतचेतस॥४०॥

मृत्यु— नामाऽप्याकर्णित यस्य, चित्तं कम्पते तराम्।
साक्षादुपागते मृत्यु, स न किं कुरुते भयम्॥४१॥

विषाद — उपसर्गे महारोगे, पुत्र-मित्र-धनक्षये।
विषाद स्वल्पसत्वस्य, जायते प्राणहारक ॥४२॥

विस्मय — आत्मसम्भाविनीं भूतिं, विलोक्य भूरिभाविनीम्।
ज्ञानशून्यस्य जीवस्य, विस्मयो जायते पर ॥४३॥

रति — सर्वामिध्यमये देहे, शरीरी कुरुते रतिम्।
बीभत्से कुथितै नीच, सारमेयो यथा स वै॥४४॥

खेद — व्यापार कुर्वते खेदो, देहिनो देहमर्दक।
जायते वीर्यहीनस्य, विकलीकरणक्षम ॥४५॥

स्वेद— श्रमेण दुर्निवारेण, देहो व्यापारभाविन।
तापित खिद्यते क्षिप्र, घृतकुम्भ इवाग्निना॥४६॥

निद्रा— निद्रया मोहितो जीवो, न जानाति हिताहितम्।
सर्वव्यापारनिर्मुक्त सुरयैव विचेतन ॥४७॥

सर्वज्ञस्वरूपमाह—

य सर्वाणि चराचराणि विधिवद्, द्रव्याणि तेषां गुणान्,
पर्यायानपि भूतभाविभवत, सर्वान् सदा सर्वदा।
जानीते युगपत् प्रतिक्षणमत, सर्वज्ञ इत्युच्यते,
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नम ॥४८॥

हितोपदेशिलक्षणमाह—

अनात्मार्थं विना रागै, शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्, मुरज किमपेक्षते॥४९॥

येषां अर्हद्देवाना यानि पंचकल्याणानि भवन्ति तान्याह—

नितान्त शुद्ध बुद्ध स्वभाव निजात्माऽखिल प्रदेशानादिघटितनिराधाटघातिघोराटवी साटोप शिखा पटलदावानलायमानद्वितीय शुक्लध्याननिष्पादितऽरिहनन-रजोहनन-रहस्यहनन-सजातजगत्त्रयमहार्णानिवासाऽद्भुताऽचिन्त्यार्हन्त्य-पदमधिष्ठितानां, सर्वतो विजृभमाणसाकारनिराकारकेवलज्ञानदर्शनयुगपत्प्रवृत्ति-व्यवस्थितप्रमाणप्रतिपन्नसर्वज्ञत्वानां, शक्तिव्यक्ति-विभागावस्थितसमस्त-वस्तुविविधाकारकिर्मीरितसकलससारिमुक्तात्मस्व—

रूपसकरव्यतिकरव्यपेत-साक्षात्करणशक्तिरूपपरमाश्चर्यवार्याणां, व्याबाधव्यपेताऽचिन्त्य—सारमानो-पमानाऽतीतनित्यनिजात्मजाताऽनन्दमन्दिराणा, त्रिभुवनैकाऽधिपतित्वव्यञ्जकविशिष्टा—ष्टमहाप्रातिहार्यादि- बहिरङ्ग महालक्ष्मीसमालक्षितानां, सकललौकिक-लोकोत्तम—मङ्गल-लोकोत्तमशरणभूताना, भगवदर्हत्पर-मेष्ठिना यानि पञ्चकल्याणानि पूर्वाचार्येण प्रोक्तानि तेषामह सकलन करोमि यथामति।

१. गर्भकल्याणकवर्णनम्

गर्भाधानस्य षण्मासपूर्वतः रत्नवृष्टिवर्णनम्—

षड्भिर्मासैरथैतस्मिन्, स्वर्गादवतरिष्यति।
रत्नवृष्टि दिवो देवा, पातयामासुरादरात्॥५०॥

सक्रन्दननियुक्तेन, धनदेन निपातिता।
साऽभात् स्वसम्पादौत्सुक्यात् प्रस्थितेवाग्रत प्रभो ॥५१॥

नीरन्ध्र रोदसी रुद्ध्वा, राया धारा पतन्त्यभात्।
सुरद्रुमैरिवोन्मुक्ता, सा प्रारोहपरम्परा॥५२॥

रेजे हिरण्यमयी वृष्टि, खाङ्गणान् निपतन्त्यसौ।
ज्योतिर्गणप्रभवोच्चै-रायन्ती सुरसद्मन ॥५३॥

खाङ्गणे गणनातीता, रत्नधारा रराज सा।
विप्रकीर्णेव कालेन, तरला तारकावली॥५४॥

खाङ्गणे विप्रकीर्णानि, रत्नानि क्षणमाबभु ।
द्युशाखिना फलानीव, शातितानि सुरद्विपै ॥५५॥

सैषा हिरण्यमयी वृष्टि, धनेशेन निपातिता।
विभो हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितु जगत्॥५६॥

किमेषा वैद्युती दीप्ति, किमुत द्युसदा द्युति ।
इति व्योमचरैरैक्षि क्षणमाशङ्क्य साऽम्बरे॥५७॥

रत्नगर्भा धरा जाता, हर्षगर्भा सुरोत्तमा ।
क्षोभमायाज्जगद्गर्भो, गर्भाधानोत्सवे विभो ॥५८॥

मातुः स्वप्नदर्शनम्

देवाद्य यामिनीभागे, पश्चिमे सुखनिद्रिता।

अद्राक्षं षोडशस्वप्ना-निमानत्यद्भुतोदयान्॥५९॥

गजेन्द्रमवदाताङ्गं, वृषभ दुन्दुभिस्वनम्।
सिंहमुल्लंघिताद्र्यग्र, लक्ष्मीं स्नाप्यां सुरद्विपै॥६०॥

दामनी लम्बमाने खे, शीतांशुं द्योतिताम्बरम्।
प्रोद्यन्तमब्जिनीबन्धु, बन्धुरं झषयुग्मकम्॥६१॥

कलशावभृतापूर्णौ, सर स्वच्छाम्बु साम्बुजम्।
वाराशि क्षुभितावर्त, सैहं भासुरमासनम्॥६२॥

विमानमापतत् स्वर्गाद्, भुवो भवनमुद्भवत्।
रत्नराशि स्फुरद्रश्मिं, ज्वलन प्रज्वलद्द्युतिं॥६३॥

दृष्ट्वैतान् षोडशस्वप्ना-नथादर्शमहीपते।
वदन मे विशन्तं तं गवेन्द्र कनकच्छविम्॥६४॥

वदैतेषा फल देव। शुश्रुषा मे विवर्द्धते।
अपूर्वदर्शनात् कस्य, न स्यात्, कौतुकवन्मन॥६५॥

स्वप्नफलमाह—

शृणु देवि। महान् पुत्रो, भविता ते गजेक्षणात्।
समस्तभुवनज्येष्ठो, महावृषभदर्शनात्॥६६॥

सिहेनानन्तवीर्योऽसौ, दाम्ना सद्धर्मतीर्थकृत्।
लक्ष्म्याभिषेकमाप्तासौ, मेरोर्मूर्ध्नि सुरोत्तमै॥६७॥

पूर्णेन्दुना जनाह्लादी भास्वता भास्वरद्युति।
कुम्भाभ्यां निधिभागी, स्यात् सुखी मत्स्ययुगेक्षणात्॥६८॥

सरसो लक्षणोद्भासी, सोऽब्धिना केवली भवेत्।
सिहासनेन साम्राज्य-मवाप्स्यति जगद्गुरु॥६९॥

स्वर्विमानावलोकेन, स्वर्गादवतरिष्यति।
फणीन्द्रभवनालोकात्, सोऽवधिज्ञानलोचन॥७०॥

गुणानामाकारप्रोद्यद्रत्नराशिनिशामनात्।
कर्मेन्धनधगप्येष, निर्धूमज्वलनेक्षणात्॥७१॥

इन्द्राज्ञया देवैः पुरीशोभासृजनम्—

सुरा ससभ्रमा सद्य, पाकशासनशासनात्।
ता पुरीं परमानन्दाद्, व्यधु सुरपुरीनिभाम्॥७२॥

शक्रादेशेन देवीभिः मातुःसेवा—

तदा प्रभृति सूत्राम-शासनात्ता सिषेविरे।
दिक्कुमार्योऽनुचारिण्य, तत्कालोचितकर्मभि ॥७३॥

श्री ह्री धृतिश्च कीर्तिश्च, बुद्धिलक्ष्म्यौ च देवता।
श्रिय लज्जा च धैर्य च, स्तुति बोधं च वैभवम्॥७४॥

तस्यामादधुरभ्यर्णवर्तिन्य स्वानिमान् गुणान्।
तत्संस्काराच्च सा रेजे, सस्कृतेवाऽग्निना मणि ॥७५॥

नन्दाज्ञापय जीवेति, कृतशब्दा ससभ्रमम्।
प्रतीयु शासन तस्या लक्ष्मी-श्री-धृति-कीर्तय ॥७६॥

स्तुवन्ति काश्चित्तत्काले, ता गुणैर्हृदयङ्गमै।
काश्चित् परमविज्ञाना, उपगायन्ति वीणया॥७७॥

अत्यन्तमद्भुत काश्चिद्, गायन्ति श्रवणामृतम्।
पादयोर्लोटन काश्चित्, कुर्वते मृदुपाणिका ॥७८॥

ताम्बूलदायिनी काचित्, काचिदासनदायिनी।
मण्डलाग्रकरा काचित्, सतत पालनोद्यता॥७९॥

काश्चिदभ्यन्तरद्वारे, बाह्यद्वारे तथा परा।
गृहीतकुन्तसौवर्ण, वेत्रदण्डाऽसिहेतय ॥८०॥

चामरग्राहिणी काचित्, काचित् छत्रस्य धारिका।
आनेत्री वाससा काचिद्, भूषणाना तत परा॥८१॥

शयनीयविधौ काचित्, सक्ता संमार्जने परा।
पुष्पप्रकरणे काचित्, काचिद् गन्धानुलेपने॥८२॥

कुर्वन्ति स्मापरा सान्द्रचन्दनच्छटयोक्षिताम्।
क्षितिमार्द्रांशुकैरन्या, निर्ममार्जुरतन्द्रिता ॥८३॥

कुर्वते वलिविन्यास, रत्नचूर्णै पुरोऽपरा।
पुष्पैरुपहरन्त्यन्यास्ततामोदैर्द्युशाखिनाम्॥८४॥

काश्चिदुच्चिक्षिषु ज्योतिस्तरला मणिदीपिका ।
निशामुखेषु हर्म्याग्राद् विधुन्वनास्तमोऽभित ॥८५॥

काश्चिन्नीराजयामासुरुचितैर्बलिकर्मभि ।
न्यास्थन्मन्त्राक्षरै काश्चिदस्यै रक्षामुपाक्षिपन्॥८६॥

कदाचिज्जलकेलीभिर्वनक्रीडाभिरन्यदा।
कथागोष्ठीभिरन्येद्युर्देव्यस्तस्यै धृतिं दधु ॥८७॥

कदाचिद् गीत-गोष्ठीभिर्वाद्यगोष्ठीभिरन्यदा।
कहिंचिन्नृत्यगोष्ठीभिर्देव्यस्तां पर्युपासत॥८८॥

पानाशनाविधौ काचित्, काचिदाह्वनकर्मणि।
एवं कर्तव्यता तस्या, सर्वा कुर्वन्ति देवता॥८९॥

इति तत्कृतया देवी सा बभौ परिचर्यया।
त्रिजगच्छ्रीरिवैकध्यमुपनीता कथञ्चन॥९०॥

दिक्कुमारीभिरित्यात्त, सभ्रम समुपासिता।
तत्प्रभावैरिवाविष्टै सा बभार परा श्रियम्॥९१॥

२. जन्मकल्याणकवर्णनम्

स्वर्भूगोचरभूरिभोग्यभवसद्, भोगोरु सौख्याकरो,
य स्वाज्ञार्थिसुरासुराधिपनृपै, ससेव्य पादाम्बुज ।
नित्यश्रीनिहितादरोऽप्युचित तत्कालागमं पालयन्,
साम्राज्य नृसुरासुरार्थितसुख, भेजे स साक्षादयम्॥९२॥

प्राचीव बन्धुमब्जाना, सा लेभे भास्वर सुतम्।
भासमान त्रिभिर्बोधै, शिशुमप्यशिशु गुणै ॥९३॥

दिश प्रसत्तमासेदु-रासीन्निर्मलमम्बरम्।
गुणानामस्य वैमल्यमनुकर्त्तुमिव प्रभो ॥९४॥

प्रजाना ववृधे हर्ष सुरा विस्मयमाश्रयान्।
अम्लानि कुसुमान्युच्चैर्मुमुचु सुरभूरुहा ॥९५

घण्टाकण्ठीरवध्वान-भेरीशङ्खा प्रदध्वनु ।
कल्पेशज्योतिषां वन्यभावनानां च वेश्मसु ॥९६॥

तेषामुद्भिन्नवेलानामब्धीनामिव नि स्वनम्।

श्रुत्वा बुबुधिरे जन्म, विबुधा भुवनेशिन ॥९७॥

यस्मिन् उत्पद्यमाने सकलमघवतामुत्तमाङ्गानि नेमु ।
चेलुश्चित्तानि पीठान्यपि चलदचलाभूतधात्री चकम्पे॥९८॥

गायत्प्रनृत्यदभितोरभसेनवल्गद्,
उन्मत्तामिव जगाम पुरं समस्तम्।
तत्राभवन्न खलु कोऽपि स यस्य नान्त-
र्जज्ञे विकासि हृदय सहसा द्विषोऽपि॥९९॥

पुत्रजन्मकाले दानवर्णनम्—

तुष्ट्या ददत्स्वसुतजन्म निवेदयद्भ्यो,
देय न देयमिदमित्यथवा क्षितीश ।
नाजीगणत् प्रमदविह्वलचित्तवृत्ति,
विक्षिप्तवृत्ति र्हि मनो न विचारदक्ष ॥१००॥

न दीनोऽभूत्तदा कश्चित् नदीनोदक भूयसीम्।
दानधारा नृपेन्द्रेभे मुक्तधार प्रवर्षति॥१०१॥

एवंविधशुभोत्पातैर्ज्ञाततीर्थकरोद्भवा इन्द्रा महोत्सहा वारणेन्द्रसमारूढाः कृतमण्डनविग्रहा, प्रतिष्ठन्त जिनपितुरालयम्। कथम्भूतं जिनपितुरालयमित्याह—

नानारत्नकरोद्योत-पटप्रावृतसद्मकम्।
इन्द्रा क्षणेन सप्रापुर्महाभूतिसमन्विता ॥१०२॥

पुर प्रदक्षिणीकृत्य, त्रि शक्र सहितोऽमरै ।
प्रविष्टा प्रसवगारात् पौलोम्या नापयजिनम्॥१०३॥

तदनन्तर जिनमातृस्तवनं करोति शचिः प्रसूतिगृहे—

मातस्त्वमेव धन्याऽसि, सद्योजात दधासि यत्।
सद्य स्वतीर्थकृत्, पाकसक्षोभित-जगत्त्रयम्॥१०४॥

स्वगर्भकमलासीन-जिनहसोद्घजीवना।
सरसीव विभासित्व-मपूर्वापङ्कहारिणी॥१०५॥

समस्त सुखसम्पादि-जिनपुण्यफलोद्भवा।

अपूर्वा कल्पलतिका, स्वामिनी त्वमसि स्फुटम्॥१०६॥

जगन्मात्रे नमस्तुभ्यं, जगद्दृष्ट्यै नमोऽस्तु ते।
जगद्गत्यै नमस्तुभ्यं, जगल्लक्ष्म्यै नमोऽस्तु ते॥१०७॥

विश्वेश्वरे। जनन्मात। महादेवि। महासति।
पूज्ये। सुमङ्गले। तुभ्य भूयो भूयो नमो नम॥१०८॥

जिनमातुस्तत कृत्वा, मायाबालं प्रणामिनी।
बालमानीय शक्रस्य, शची चक्रे करद्वये॥१०९॥

ततस्तमङ्कमारोप्य, समारुह्य गजाधिपम्।
गृहीतचामरच्छत्रो, भक्त्या परमया स्वयम्॥११०॥

अवाप मेरुशिखरं, सर्वदेवै समन्वित।
वैडूर्यादिमहारत्न-मरीचिनिचयोज्जवलम्॥१११॥

पाण्डुककम्बलसञ्ज्ञायां, शिलायां सिहविष्टरे।
ततो जिन सुरेशेन, स्थापित पृष्ठवर्तिना॥११२॥

तत क्षीरार्णवाम्भोभि, पूर्णे, कुम्भैर्महोदरै।
चामीकरमयै पद्म-छन्नवक्त्रै सपल्लवै॥११३॥

कुम्भैरष्टसहस्रमानकलितैरम्भोभरैरुम्भितै,
क्षीराब्धे सुरगानतूर्यनिनदे दिक्षु प्रसर्पत्यलम्।
पीठे पार्श्वगतेन्द्रपीठयुगले श्रीपाण्डुकाग्रस्थिते,
पूर्वास्य विनिवेश्य यं सुरवरा जन्मन्यसिञ्चज्जिनम्॥११४॥

अभिषेकं जिनेन्द्रस्य चकार त्रिदशाधिप।
शेषशक्रादया सर्वे चक्रुर्भक्त्याऽभिषेचनम्॥११५॥

अभिषेकानन्तरं शचीदेव्या प्रसाधनविधिः—

अथाभिषेकनिवृत्तौ, शची देवी जगद्गुरो।
प्रसाधनविधौ यत्नमकरोत् कृतकौतुका॥११६॥

गन्धै सुगन्धिभि सान्द्रैरिन्द्राणी गात्रमीशितु।
अवलिम्पत लिम्पद्भिरिवामोदैस्त्रिविष्टपम्॥११७॥

तिलकं च ललाटेऽस्य, शची चक्रे किलादरात्।
जगता तिलकस्तेन,किमलक्रियते विभु॥११८॥

मन्दारमालयोत्तंसमिन्द्राणी विदधे विभो।
तयालंकृतमूर्द्धासौ, कीर्त्येव व्यरुचद् भृशम्॥११९॥
जगच्चूडामणेरस्य, मूर्ध्नि चूडामणिं न्यधात्।
सतां मूर्धाभिषिक्तस्य, पौलोमी भक्तिनिर्भरा॥१२०॥
अनञ्जितासिते भर्तुर्लोचने सान्द्रपक्ष्मणी।
पुनरञ्जनसंस्कारमाचार इति लम्भिते॥१२१॥
कर्णावविद्धसच्छिद्रौ, कुण्डलाभ्यां विरेजतु।
कान्तिदीप्ती मुखे द्रष्टुमिन्दूर्काभ्यामिवाश्रितौ॥१२२॥
हारिणा मणिहारेण, कण्ठशोभा महत्यभूत्।
मुक्तिश्रीकण्ठिकादाम, चारुणा त्रिजगत्पते॥१२३॥
बाह्वोर्युगं च केयूरकटकाङ्गदभूषितम्।
तस्य कल्पाङ्घ्रिपस्येव, विटपद्वयमाबभौ॥१२४॥
सर्वांगुलीषु विन्यस्त, मुद्रिकाभूषणं वरम्।
नानारत्नपरिष्वक्तं, चामीकरविनिर्मितम्॥१२५॥
रेजे मणिमयं दाम, किङ्किणीभिर्विराजितम्।
कटीतटेऽस्य कल्पागप्रारोहश्रियमुद्वहत्॥१२६॥
पादौ गोमुखनिर्भासैर्मणिभिस्तस्य रेजतु।
वाचालितौ सरस्वत्या, कृतसेवाविवादरात्॥१२७॥
लक्ष्म्या पुञ्जइवोद्भूतो, धाम्नां राशिरिवोच्छिख।
भाग्यानामिव सम्पातस्तदाभाद् भूषितो विभु॥१२८॥
निसर्गरुचिरं भर्त्तुर्वपुर्भ्रेजे सम्भूषणम्।
सालकारं कवे काव्यमिव सुश्लिष्टबन्धनम्॥१२९॥
प्रत्यङ्गमिति विन्यस्तै, पौलोम्या मणिभूषणै।
स रेजे कल्पशाखीव, शाखोल्लासि विभूषण॥१३०॥
इति प्रसाध्य तं देवमिन्द्रोत्संगगतं शची।
स्वयं विस्मयासीत् पश्यन्ती रूपसम्पदम्॥१३१॥

प्रसाधनानन्तरमिन्द्रोऽर्हद्देवस्य स्तुतिमाह—

ततस्तं स्तुतोमिन्द्राद्या प्राक्रमन्त सुरोत्तमा।

वर्त्स्यत् तीर्थकरत्वस्य प्राभव तद्धि पुष्कलम्॥१३२॥

त्व देव। परमानन्दस्माकं कर्तुमुद्गत।
किमु प्रबोधमायान्ति, विनार्कात् कमलाकरा॥१३३॥

मिथ्याज्ञानान्धकूपेऽस्मिन्, निपतन्तमिम जनम्।
त्वुमुद्धर्त्तुमता धर्महस्तालम्ब प्रदास्यति॥१३४॥

त्व देव। जगता ज्योतिस्त्वं देव। जगता गुरु।
त्व देव। जगता धाता, त्व देव। जगता पति॥१३५॥

त्वमेव जगता भर्त्ता, त्वमेव जगता पिता।
त्वमेव जगता त्राता, त्वमेव जगता गति॥१३६॥

त्व पूतात्मा जगद्विश्व, पुनासि परमैर्गुणै।
स्वय धौतो यथा लोकं, धवलीकुरुते शशी॥१३७॥

त्वामामनन्ति सुधिय, केवलज्ञानभास्वत।
उदयाद्रि मुनीन्द्राणामभिवन्द्य महोन्नतिम्॥१३८॥

त्वया जगदिद मिथ्या-ज्ञानान्धतमसावृतम्।
प्रबोध नेष्यते भव्य-कमलाकार-बन्धुना॥१३९॥

त्वत्त प्रबोधमिच्छन्त प्रबुद्ध भुवनत्रयात्।
तव पदाम्बुज देव। मूर्ध्ना दध्मो धृतादरम्॥१४०॥

त्वत्त कल्याणमाप्स्यन्ति, ससारामयलङ्घिता।
उल्लाघिता भवद् वाक्यभेषजैरमृतोपमै॥१४१॥

तव वाक्किरणै र्नूनमस्मच्चेतो गत तम।
पूरा प्रलीयते देव। तमो भास्वत्करैरिव॥१४२॥

अस्नानपूतगात्रोऽपि, स्नपितोऽस्यद्य मन्दिरे।
पवित्रयितुमेवैतज्जगदेनो मलीमसम्॥१४३॥

युष्मज्जन्माभिषेकेण, वयमेव न केवलम्।
नीता पवित्रता मेरु, क्षीराब्धिस्तज्जलान्यपि॥१४४॥

स्तुत्वेति स तमारोप्य, स्वमङ्क सुरनायक।
हस्तमुच्चालयामास, मेरुप्रस्थानसभ्रमी॥१४५॥

मातुरङ्के तत कृत्वा, शक्र शच्या जिनार्भकम्।
विधाय परमानन्द, स्वस्थान ससुरोऽगमत्॥१४६॥

तुष्टा सवीक्ष्य तनय-मङ्कस्थं जननी तदा।
निजच्छायापरिष्वङ्ग-पिञ्जरीकृतदिङ्मुखम्॥१४७॥

अङ्कप्राप्तेन सा तेन, रराज प्रमदोत्तमा।
नवोदितेन पूर्वाशा, बिम्बेन सवितुर्यथा॥१४८॥

कराङ्गुष्ठे ततो न्यस्तममृतं वज्रपाणिना।
पिवन् क्रमेण सप्राप, देहस्योपचय जिन ॥१४९॥

तत कुमारकैर्युक्तो, वयस्यैरिन्द्रनोदितै ।
अनवद्यां चकारासौ, क्रीडा पित्रो सुखावहाम्॥१५०॥

आसन शयन यानं, भोजन वसनानि च।
चारणादिकमन्यच्च, सकल तस्य शक्रजम्॥१५१॥

अर्हज्जन्ममहिमानं प्राह—

देव। त्वय्यद्य जाते त्रिभुवनमखिल चाद्य जात सनाथ,
जातो मूर्तोऽद्य धर्म कुमतबहुतमो ध्वस्तमद्यैव जातम्।
स्वर्मोक्षद्वाकपाट स्फुटमिह निवृत चाद्य पुण्याहमासी,
जात लोकाग्रचक्षु र्जय जय भगवज्जीव वर्धस्व नन्द॥१५२॥

जन्मतो दशातिशयान् प्राह—

निस्वेदाऽमलदुग्धगौररुधिर स्वाद्याकृतित्वानि,
स्वाद्य सहनन स्फुरत् सुरभिता सौरूप्यसल्लक्ष्मता।
वीर्यं चाप्रतिम जगत्त्रयहिता-भाषित्वमत्यूर्जितम्,
प्राप्त यद्दश सद्गुण जिनवपुर्दिव्यं तदेतद् ध्रुवम्॥१५३॥

प्रमोदाय नृलोकस्य, न पर स महोत्सव ।
स्वर्गलोकस्यापि सप्रीतिमनोदतनीयसीम्॥१५४॥

३. अभिनिष्क्रमण-कल्याणक-वर्णनम्

अहो जगदिद भङ्गि, श्रीस्तडिद्वल्लरी चला।
यौवन वपुरारोग्यमैश्वर्यं च चलाचलम्॥१५५॥

रूपयौवनसौभाग्य-मदोन्मत्तपृथग्जन ।

बध्नाति स्थायिनीं बुद्धिं, किन्त्वत्र न विनश्वरम्॥१५६॥

सन्ध्यारागनिभा रूपशोभा तारुण्यमुज्ज्वलम्।
पल्लवच्छविवत् सद्य, परिम्लानिमुपाश्नुते॥१५७॥

यौवन फुल्ल वल्लीनामिव पुष्पं परिक्षयि।
विषवल्लीनिभा भोगसम्पदो भङ्गि जीवितम्॥१५८॥

घटिकाजलधारेव, गलत्यायु स्थितिर्द्रुतम्।
शरीरमिदमत्यन्त-पूतिगन्धि जुगुप्सितम्॥१५९॥

शरीरशकटं दु खदुर्भाण्डै परिपूरितम्।
दिनैस्त्रिचतुरैरेव, पर्यस्यति न संशय ॥१६०॥

विविधासु योनिषु वपुषि, विविधरचनानि धारयन्,
इन्द्रियसुखलवलुब्धमति, नटवत् प्रयाति तनूमान विडम्बनाम्।
विषयेषु शत्रुसदृशेषु, विविधपरितापहेतुषु,
सक्तिमविरतमति कुरुते हतबुद्धिरेव न तु बोधभासुर ॥१६१॥

निःसारे खलु ससारे, सुखलेशोऽपि दुर्लभ ।
दु खमेव महत्तस्मिन्, सुख काम्यति मन्दधी ॥१६२॥

तस्माद् धिग् धिगिद रूप, धिक् संसारमसारकम्।
राज्यभोग धिगस्त्वेनं, धिग् धिगाकालिकी श्रिय ॥१६३॥

इति निर्विद्य भोगेभ्यो, विरक्तात्मा सनातन ।
मुक्तावुत्तिष्ठतेऽस्माशु, काललब्धिमुपाश्रित ॥१६४॥

प्रभो प्रबोधमाधातु, ततो लौकान्तिकाऽमरा ।
परिनिष्क्रमणेज्यायै, ब्रह्मलोकादवतरन्॥१६५॥

सुमनोऽञ्जलयो मुक्ता, वभुर्लौकान्तिकामरै ।
विभोरुपासितु पादौ, स्वचित्ताशा इवार्पिता ॥१६६॥

लौकान्तिका प्रवचनाम्बुधिपूर्णचन्द्रा,
चन्द्रातपप्रसरभासुरदिव्यकाया ।
कायादिगोचरविरक्तिमथैधयन्त,
यतो यमीशमिति तुष्टुवरानमन्त ॥१६७॥

तेऽभ्यर्च्य भगवत्पादौ, प्रसूनै सुरभूरुहाम्।
तत स्तुतिभिरर्थ्याभि, स्तोतुं प्रारेभिरे विभुम्॥१६८॥

मोहारि-विजयोद्योग-मधुना संविधित्सुना।
भगवन्। भव्यलोकस्य, बन्धुकृत्य त्वयेहितम्॥१६९॥

त्वयाऽद्य दर्शित धर्म-तीर्थमासाद्य दुस्तरम्।
भव्या ससारभीमाब्धिमुत्तरिष्यन्ति हेलया॥१७०॥

धातारमामनन्ति त्वा, जेतारं कर्मविद्विषाम्।
नेतारं धर्मतीर्थस्य, त्रातार च जगद्गुरुम्॥१७१॥

मोहपङ्के महत्यस्मिन्, जगन्मग्नमशेषत ।
धर्महस्तावलम्बेन, त्वया मङ्क्षूद्धरिष्यते॥१७२॥

भुवनस्योपकाराय, कुरूद्योग त्वमीशित ।
त्वा नवाब्दमिवासेव्य, प्रीयन्ता भव्यचातका ॥१७३॥

जय त्वमीश कर्मारीन्, जय मोहमहासुरम्।
परीषहभटान् दृप्तान्, विजयस्व तपोबलात्॥१७४॥

उत्तिष्ठता भवान् मुक्तौ, भुक्तैर्भोगैरल तपाम्।
न स्वादान्तरमेपु स्याद्, भूयोऽप्यनुभवेऽङ्गिनाम्॥१७५॥

वर्धस्व जीव विजयस्व जिनेन्द्र नन्द,
  लोकत्रयोद्धरण-धर्मधुरीण धीर।
अद्यैव नस्त्वमसि देव। मत स्वयभू,
  निर्वाणमार्गकृतनिष्प्रतिघ प्रयाण॥१७६॥

अद्यातिदुर्लभविरक्त्यरूणोदयोऽभूत्,
  तेन त्वयि ध्रुवमुदेष्यति केवलार्क ।
मिथ्यान्धकारमिह नक्ष्यति मङ्क्षु सर्व,
  भव्याम्बुजाकरमुपैष्यति पुण्यलक्ष्मी ॥१७७॥

त्रैलोक्य-दुर्जयतर जय कर्मशत्रुं,
  त्व दुश्चर कुरु तपोमयमात्मयज्ञम्।
वाक्यामृतेन परितर्पय सर्वलोक,
  उत्साह एष सदृशो हि भवादृशानाम्॥१७८॥

नित्यामृते मरसि निर्मलमुक्तिहंसी-
  सङ्गोत्सवै परमहस सुखी भव त्वम् ।
पङ्काविले सविलये भवपल्लवेऽत्र,
  दुर्जीवन क्व च भवान् क्व च शुभ्ररूप ॥१७९॥

समुदयजिनचन्द्रार्हन्त्यपूर्वाचलाग्रे,
त्रिभुवनजनतारास्त्वां समावृत्य भान्तु।
धवलय निजवाक्य-ज्योत्स्नया सर्वलोकं,
परिहर निजपादात् पापतापं जनानाम्॥१८०॥

स्वप्नसभोगनिर्भासा, भोगा सम्पत्प्रणश्वरीम्।
जीवितं चलमित्याद्यास्त्व मन शाश्वते पथि॥१८१॥

अवधूय चला लक्ष्मीं, निर्धूय स्नेहबन्धनम्।
धन रज इवोद्धूय, मुक्त्या सगस्यते भवान्॥१८२॥

राजलक्ष्मीमसभोग्यामाकलय्य चलामिमाम्।
क्लेशहानाय निर्वाणदीक्षा त्व प्रत्यपद्यथा ॥१८३॥

कुवलयमिह शीतीभूतमस्तु प्रमादात्,
तव नय बहुना किं धर्मवार्द्धिं समृद्धिम्।
अथ तव स निसर्ग-प्रार्थनेनात्र न किं,
वयमिति हि नियोगादेव विज्ञापयाम ॥१८४॥

नावतेव नियोगेन, कृतार्थास्ते दिव ययु ।
हंसा इव नभोवीथीं, द्योतयन्तोऽङ्गदीप्तिभि ॥१८५॥

इति लौकान्तिकैर्देवै, स्तुवानैरूपनाथित ।
परिनिष्क्रमणे बुद्धिमधाद् धाता द्रढीयसीम्॥१८६॥

ततोऽस्य परिनिष्क्रान्ति-महाकल्याणसविधौ।
महाभिषेकमिन्द्राद्याश्चक्रु क्षीरार्णवाम्बुभि ॥१८७॥

दीक्षोद्यमं मोक्षं सुखैकसक्त,
य स्नापयाञ्चक्रुरशेषशक्रा ।
समेत्य सद्य परया विभूत्या,
तं स्नापयाम्यष्टशतेन कुम्भै ॥१८८॥

इन्द्रो जिनेन्द्रस्नपनावसाने,
दिव्याङ्गरागेण यमाऽलिलेप।
कर्पूरकालागरुकुकुमाद्य-
श्रीचन्दनेनास्य समालभेऽङ्गम्॥१८९॥

अभिषिच्य विभु देवा भूषयाञ्चक्रुरादृता ।
दिव्यैविभूषणैर्वस्त्रैर्माल्यैश्च मलयोद्भवै ॥१९०॥

सुदुर्गम मुक्तिपुर त्रिलोकी-
सारं सुखाम्भोधि-मनन्यसाध्यम्।
सद्य प्रभो। साधयितु प्रवृत्त,
तीर्थङ्कर। त्व विजयस्व देव॥१९१॥

आत्यन्तिकी दु खनिवृत्तिरुच्चै,
अनन्तमात्मोत्थसुखं च यत्र।
ता दुर्लभा मुक्तिपुरीं प्रयातो,
पन्था शिवस्ते जिननाथ। भूयात्॥१९२॥

यस्यामुपाधे परिहारसिद्धि,
चैतन्यमात्रानुभवप्रवृद्धे।
प्रतिक्षणं सा मनसो विशुद्धि,
आमुक्तिलाभादभिवर्धता ते॥१९३॥

यै र्भूपितस्यैव हि मुक्तिलक्ष्मी,
वश प्रयाति प्रणयेन देवम्।
सम्यक्त्वमुख्याष्टगुणाश्च तेऽमी
भवन्तु तेऽद्याऽभिमुखा प्रसन्ना॥१९४॥

जिनप्रभोर्द्वाशभिस्तपोभि,
स्वमोघशस्त्रैरथ य क्षतानाम्।
कपायनाम्ना द्विपतां जयस्ते,
भूयाच्च भूयो जितकर्मशत्रो॥१९५॥

मुमुक्षवो ये सहर्दीक्षितास्ते,
क्षमामया रक्षितजीवलोका।
अपेक्ष्यमाणा भवदीय लक्ष्मीम्,
उपासतां त्वामुचितोपचारै॥१९६॥

गुप्ति गुप्तित्रय तज्, जिन।तव तनुता शर्म तन्वन्तु धर्मा,
कर्मारातिप्रघात, दधतु समितय तुभ्यमभ्यर्हिता ता।
देवानुप्रेक्षणान्यक्षयपदपथिकाऽभीक्ष्णरक्षा विदद्यु,
मा भूत् परीपहाति, सपदि भवतु ते मोक्षलक्ष्मीविवाह॥१९७॥

सुरेन्द्रनिर्मिता दिव्या शिविका स सुदर्शनाम्।
प्रतिज्ञामिव दीक्षायामारूढ शिविका विभु॥१९८॥

स्रग्वी मलयजालिप्तदीप्तमूर्तिरलकृत।

स रेजे शिविकारूढस्तपोलक्ष्म्या वरोत्तम ॥१९९॥

पदानि सप्त तामुहु शिविका प्रथम नृपा ।
ततो विद्याधरा निन्यु र्व्योम्नि सप्तपदान्तरम्॥२००॥

पर्याप्तमिदमेवास्य, प्रभोर्माहात्म्यशंसनम्।
यत्तदा त्रिदिवाधीशा, जाता युग्यकवाहिन ॥२०१॥

आपृच्छनं तत कृत्वा, पित्रो र्बन्धुजनस्य च।
नम सिद्धेभ्य इत्युक्त्वा, श्रामण्य प्रत्यपद्यते॥२०२॥

अलङ्कारै सम त्यक्त्वा, वसनानि महामुनि ।
चकाराऽसौ परित्याग, केशाना पञ्चमुष्टिभि ॥२०३॥

त्यक्तवस्त्रादि-पूजादि-सत्सामायिक-निष्ठता।
मन पर्ययसभूत्या, चतुर्ज्ञानविभाषिता॥२०४॥

स्वर्भूगोचरयोग्यभोग्यसुलभ, संत्यज्य राज्यं वशी,
ये लौकान्तिकसंस्तुत सुरकृतस्नातोत्सवालक्रिय ।
आरूढ शिविका नराम्बरचरामर्त्येश्वरोढा वन,
गत्वाऽऽदाय तपस्तदास्य लभते तुर्या धिय सोऽस्त्वयम्॥२०५॥

४ केवलज्ञानकल्याणकवर्णनम्

तिष्ठन् गुणस्थानचतुष्टये संदृष्ट्यादिकेऽतोपि च धर्म्ययोगात्।
अयत्नवीता मनुजत्रयायुर्यो मोहसप्तप्रकृती र्निहन्ति॥२०६॥

तत क्षायिकसद्दृष्टि क्षपकश्रेणिमाश्रयन्।
गुणस्थाने सप्तमोऽध प्रवृत्तकरण भजन्॥२०७॥

अष्टमेऽपूर्वकरण, अनिवृत्त्यादिकं पुन ।
नवमे लभते स्थाने, स्थानेऽत्रैवाद्यभागके॥२०८॥

साधारणस्थावरसूक्ष्मतिर्यगायुर्द्वयो द्योतननारकायु ।
द्वयातपानादिमशुक्लकेन,निद्रात्रय जातिचतुष्टय च॥२०९॥

अष्टौ कषायानथ तद्द्वितीये, तृतीयके क्लैव्यमथो तुरीये।
स्त्रीवेदमग्रे तु हासादिषट्कं, प्रक्षिप्य पुवेद उदीचि तद्वत्॥२१०॥

क्रोध च मान निकृति च लोभं, षट्कादिके संज्वलनस्वरूपम्।
लोभ च त बादरकिट्टिक्लप्त्या, स्थाने तु सूक्ष्मादिकसाम्पराये॥२११॥

लोभ तत क्षीणकषायसञ्ज्ञे, पदे सनिद्रां प्रचलामुपान्ते।
अन्ते तु घातित्रितयं परेण, शुक्लेन योऽर्हन् क्षपयेत् स एष ॥२१२॥

द्रव्याणां निजमर्थपर्ययमयं भावाणुकं वा नयै,
ध्यायन्नेव चिराद् वितर्कबलतो स्थित्या पृथक्त्वेन य।
अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रमवता चित्तेन मोह क्षिपेद्,
वाल कुण्ठकुठारकेन कुटमुच्छिन्दन् इवैषोऽस्तु स ॥२१३॥

निर्जित्याऽजेयमोहं समधिगत-यथाख्यातचारित्र-राज्य,
स्वात्मैकालबि-पूर्वश्रुतमयगतवीचारसद्ध्याननिष्ठ।
शुद्धस्वात्मानुभूतिप्रभवबहुतरानन्दसान्द्र स साक्षात्,
ज्ञानावृत्त्यादिघातित्रितय बलहरेऽत्रास्तु निर्ग्रन्थराज ॥२१४॥

प्रक्षीणे घातिजाते निरवधिकमहाबोधदृग्वीर्यसौख्यम्,
जीवन्मुक्ति प्रपन्नो नृसुरमुनिमहास्थानसिंहासनस्थ।
यश्चाष्टप्रातिहार्यो निरतिशयचतुस्त्रिंशदुद्धातिशेष,
कुर्वाणो धर्मतीर्थं विहरति स भगवान् योगवत् केवलीन्द्रा ॥२१५॥

तीर्थङ्करव्यक्तिविशेषसवित्, प्रवृत्तिमुख्यव्यवहारसिद्ध्यै।
यल्लक्षण ते मतमिन्द्रमुख्यैस्त्वद्गौरवात् सादरमर्च्यते तत्॥२१६॥

नि श्रेयसार्थैकनिदानभूत, त्वत्पादसेवासु सदा नियुक्ते।
यक्षेषयक्षीपु कृतेन येन, शक्रादयस्तदबहुमानयन्ति॥२१७॥

अथ घातिजये जिष्णोरनुष्णीकृतविष्टये।
त्रिलोक्यामभवत् क्षोभ, कैवल्योत्पत्तिवात्यया॥२१८॥

तदा प्रक्षुभिताम्भोधि-वेलाध्वानानुकारिणी।
घण्टा मुखरयामास, जयत कल्पामरेशिनाम्॥२१९॥

ज्योतिर्लोके महान्, सिंहप्रणादोऽभूत् समुत्थित।
येनाशु विमदीभावमवापन् सुरवारणा ॥२२०॥

दध्वान ध्वनदम्भोदध्वनितानि तिरोदधन्।
वैयन्तरेपु गेहेपु, महानानकनिस्वन ॥२२१॥

शख श खचरै सार्द्धं, यूयमेत जिघृक्षय।
इतीव घोपयन्नुच्चै, फणीन्द्रभवनेऽध्वनत्॥२२२॥

विष्टराण्यमरेशानामशनै प्रचकम्पिरे।
अक्षमाणीव तद्गर्वं, सोढु जिनजयोत्सवे॥२२३॥

पुष्पाञ्जलिमिवा तेनु, समन्तात् सुरभूरुहा ।
चलच्छाशाकरैर्दीर्घै, र्विगलत् कुसुमोत्करै ॥२२४॥

दिश प्रसिक्तिमासेदु, वभ्राजे व्यभ्रमम्बरम्।
विरजीकृतभूलोक, शिशिरो मरुदाववौ॥२२५॥

इति प्रमोदमातन्वन्, अकस्माद् भुवनोदरे।
केवलज्ञान-पूर्णेन्दु-र्जगदब्धिमवीवृधत्॥२२६॥

चिह्नैरमीभिरह्नाय, सुरेन्द्रोऽबोधि सावधि ।
वैभवं भुवनव्यापि, वै भवध्वसि वैभवम्॥२२७॥

अथोत्थायासनादाशु, प्रमोद परमुद्वहन्।
तद्भरादिव नम्रोऽभूत, नतमूर्धा शचीपति ॥२२८॥

प्रयाण पटहेपूच्चै, प्रध्वनत्सु शताध्वर ।
भर्तु कैवल्यपूजायै, निश्चकाम सुरैर्वृत ॥२२९॥

ततस्तद्विक्रियारब्धमारूढो दिव्यवाहनम्।
हरिवाह सहेशान प्रतस्थे स पुलोमज ॥२३०॥

अप्सरस्सु नटन्तीषु, गन्धर्वातोद्यवादनै ।
किन्नरेषु च गायत्सु, चचाल सुरवाहिनी॥२३१॥

इत्यापतत्सु देवेषु, सम यानविमानकै ।
सजानिषु तदा स्वर्गश्चिरादुद्वासितो वत ॥२३२॥

समारुद्धय नभोऽशेषमित्यायाते सुरासुरै ।
जगत्प्रादुर्भवद् दिव्यस्वर्गान्तरमिवारुचत्॥२३३॥

सुरैर्दूरादथालोकि, विभोरास्थानमण्डलम्।
सुरशिल्पिभिरारब्ध, परार्ध्यरचनाशतम्॥२३४॥

सुरेन्द्रनीलनिर्माण, समवृत्त तदा बभौ।
त्रिजगच्छ्रीमुखालोकमङ्गलादर्शविभ्रमम्॥२३५॥

अधिष्ठाता विरेजुस्ते, मानस्तम्भा नभोलिह ।
ये दूराद् वीक्षिता मानं, स्तम्भयन्त्याशु दुर्दृशाम्॥२३६॥

दिक्चतुष्टयमाश्रित्य, रेजे स्तम्भचतुष्टयम्।
तद् व्याजादिबोद्भूतं, जिनानन्तचतुष्टयम्॥२३७॥

हिरण्यमयी जिनेन्द्रार्च्यास्तेषां बुध्नप्रतिष्ठिता ।

देवेन्द्रा पूजयन्ति स्म, क्षीरोदाम्भोऽभिषेचनै ॥२३८॥
मानस्तम्भान् महामानयोगात् त्रैलोक्यमाननात्।
अन्वर्थसञ्ज्ञया तज्ज्ञैर्मानस्तम्भा प्रकीर्तिता ॥२३९॥

समवसरणस्य संक्षिप्तवर्णनम्—

शक्रादेशेन भक्त्या धनदविरचिता या सभा योजनानां,
द्वीषट्कायामवृत्ता सितरुचिरशिला दिक्षु सोपानपङ्क्ते ।
खे सार्धक्रोशयुग्मे भुव उपरि चरन्त्या तु तस्या सधूली-
सालप्रासादचैत्यक्षितिपथिषु चतुर्दिक्षु सन्नाट्यशाला ॥२४०॥

मानस्तम्भा सरस्यो द्वितटगतलसद्वेदिका खातिकाऽतो,
वल्य सालो वनाली नटनगृहयुता वेदिका बद्धजालि ।
साल कल्पद्रुमौघो नटनसदनवान् स्तूपिका वेदिसौधा,
साल सन्नाट्यशालास्त्रिभुवनजनताकीर्णससत्त्रिपीठी ॥२४१॥

श्रीमद्गन्धकुटीमध्ये, चतुर्भिस्त्रिगुणैर्गणै ।
तारागणै शरच्चन्द्र, इव सेव्यो व्यराजत॥२४२॥

तदग्रभागे स्थितगन्धकुट्या, मध्यस्थसिंहासनसंनिविष्ट ।
योऽनन्तबोधादिचतुष्टयोऽर्हन्, कोट्यर्कचन्द्रद्युतिरस्तु सोऽयम्॥२४३॥

योगीन्द्रारुन्द्रबोधा विबुधयुवतय सार्यिका राजपत्न्यो,
ज्योतिर्वन्येशकन्या भवनजवनिता भावना व्यन्तराश्च।
ज्योतिष्का कल्पनाथा नरवरवृपभास्तिर्यगौघे सहामी,
क्रोष्ठेपूक्तेष्वतिष्ठन् जिनपतिमभितो भक्तिभारावनम्रा ॥२४४॥

अर्हद्देवस्य तत्त्वोपदेशमाह—

दिव्येन ध्वनिना देव, तदा सन्मार्गप्रवृत्तये।
धर्मतत्त्वादिविश्वार्थान्, उवाचेति गणान् प्रति॥२४५॥

तव वागमृत पीत्वा, वयमद्यामरा स्फुटम्।
पीयूषमिदमिष्टं नो, देव। सर्वरुजाहरम्॥२४६॥

अमृतस्येव धारा ता, भाषा सर्वार्धमागधीम्।
पिबन् कर्णपुटै जैनी, ततर्प त्रिजगज्जन ॥२४७॥

तव वागमृतं श्रीमत्, सर्वभाषास्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्, प्राणिना व्यापि संसदि॥२४८॥

सर्वाद्भुतमयी सृष्टि, सुधावृष्टिश्च कर्णयो।
प्रावर्तत ततो वाणी, सर्वविद्येश्वराद् विभो॥२४९॥

भगवन्! बोद्धुमिच्छामि, कीदृशस्तत्त्वविस्तर।
मार्गो मार्गफल चापि, कीदृक्, तत्त्वविदावर॥२५०॥

आप्तागम पदार्थाना, श्रद्धान परया मुदा।
सम्यग्दर्शनमाम्नात, प्रथम मुक्तिसाधनम्॥२५१॥

ज्ञान जवादिभावाना, याथात्म्यस्य प्रकाशकम्।
अज्ञानध्वान्तसन्तान-प्रक्षयानन्तरोद्भवम्॥२५२॥

माध्यस्थ लक्षण प्राहुश्चारित्र वितृषो मुने।
मोक्षकामस्य निर्मुक्तचेलस्याहिसकस्य तत्॥२५३॥

त्रय समुदित मुक्ते, साधन दर्शनादिकम्।
नैकाङ्गविकलत्वेऽपि तत् स्वकार्यकृदिष्यते॥२५४॥

सत्येव दर्शने ज्ञान, चारित्र च फलप्रदम्।
ज्ञान च दृष्टिसच्चर्या-सान्निध्ये मुक्तिकारणम्॥२५५॥

चारित्र दर्शनज्ञानविकल नार्थकृन्मतम्।
प्रापातायैव तद्धि स्यादन्धस्येव विविल्गतम्॥२५६॥

आप्तो गुणैर्युतो धूत-कलङ्को निर्मलाशय।
निष्ठितार्थो भवेत् सार्वस्तदाभासास्ततापरे॥२५७॥

आगमस्तद्वचोऽशेषपुरुषार्थानुशासनम्।
नयप्रमाणगम्भीर, तदाभासोऽसता वच॥२५८॥

पदार्थस्तु द्विधा ज्ञेयो, जीवाऽजीवविभागत।
यथोक्तलक्षणो जीवस्त्रिकोटिपरिणामभाक्॥२५९॥

भव्याभव्यो तथा मुक्त, इति जीवस्त्रिधोदित।
भविष्यत् सिद्धिको भव्य, सुवर्णोपलसन्निभ॥२६०॥

अभव्यस्तद्विपक्ष स्यादन्धपाषाणसन्निभ।
मुक्तिकारणसामग्री न तस्यास्ति कदाचन॥२६१॥

कर्मबन्धननिर्मुक्तस्त्रिलोकशिखरालय।

सिद्धो निरञ्जन प्रोक्त, प्राप्तानन्तसुखोदय ॥२६२॥

इति जीवपदार्थस्ते, सक्षेपेण निरूपित ।
अजीवतत्त्वमप्येव-मवधारय धीधन॥२६३॥

अजीवलक्षण तत्त्व, पञ्चधैव प्रपञ्च्यते।
धर्माधर्मविथाकाश, काल पुद्गल इत्यपि॥२६४॥

जीवपुद्गलयो र्यत्स्यात्, गत्युपग्रहकारणम्।
धर्मद्रव्य तदुद्दिष्टमधर्म स्थित्युपग्रह ॥२६५॥

गतिस्थितिमतामेतौ, गतिस्थित्योरुपग्रहे ।
धर्माधर्मौ प्रवर्तेते, न स्वयं प्रेरकौ मतौ॥२६६॥

यथा मत्स्यस्य गमन विना नैवाम्भसा भवेत्।
न चाम्भ प्रेरयत्येन, तथा धर्मास्त्यनुग्रह ॥२६७॥

तरुच्छाया यथा मर्त्यं, स्थापयत्यर्थिन स्वत ।
न त्वेषा प्रेरयत्येनमथ च स्थिति कारणम्॥२६८॥

जीवादीना पदार्थनामवगाहनलक्षणम्।
यत्तदाकाशमस्पर्शममूर्तं व्यापि निष्क्रियम्॥२६९॥

वर्तनालक्षण कालो वर्तना स्वपराश्रया।
यथास्व गुणपर्यायै परिणन्तृत्वयोजना॥२७०॥

यथा कुलालचक्रस्य, भ्रमणेऽध शिला स्वयम्।
धत्ते निमित्ततामेव, कालोऽपि कलितो बुधै ॥२७१॥

व्यवहारात्मकात् कालात्, मुख्यकालविनिर्णय ।
मुख्ये सत्येव गौणस्य बाहूलीकादे प्रतीतित ॥२७२॥

स कालो लोकमात्रै स्वैरणुभिर्निचित स्थितै ।
ज्ञेयोऽन्योऽन्यमसकीर्णै, रत्नानामिव राशिभि ॥२७३॥

प्रदेशप्रचयायोगादकायोऽय प्रकीर्तित ।
शेषा पञ्चास्तिकाया स्यु, प्रदेशोपचितात्मका ॥२७४॥

धर्माधर्मवियत्काल-पदार्था मूर्तिवर्जिता ।
मूर्तिमत् पुद्गलद्रव्य, तस्य भेदानित शृणु॥२७५॥

वर्णगन्धरसस्पर्श-योगिन पुद्गला मता ।
पूरणाद्गलनाच्चैव, सप्राप्तान्वर्थनामका ॥२७६॥

स्कन्धाणु भेदतो द्वेधा, पुद्‌गलस्य व्यवस्थिति ।
स्निग्धरूक्षात्मकाणूना सघात स्कन्ध इष्यते॥२७७॥

द्व्यणुकादि महास्कन्धपर्यन्तस्तस्य विस्तर ।
छायाऽऽतपतमो ज्योत्स्ना पयोदादि प्रभेद भाक्॥२७८॥

अणव कार्यलिङ्गा स्यु द्विस्पर्शा परिमण्डला ।
एकवर्णरसानित्या स्युरनित्याश्च पर्यया ॥२७९॥

सूक्ष्मसूक्ष्मास्तथा सूक्ष्मा, सूक्ष्मस्थूलात्मका परे।
स्थूलसूक्ष्मात्मका स्थूला स्थूलस्थूलाश्च पुद्‌गला ॥२८०॥

सूक्ष्मसूक्ष्मोऽणुरेक स्याददृश्योऽस्पृश्य एव च।
सूक्ष्मास्ते कर्मणा स्कन्धा प्रदेशानन्त्ययोगत ॥२८१॥

शब्द स्पर्शो रसो गन्ध, सूक्ष्मस्थूलो निगद्यते।
अचाक्षुपत्वे सत्येपामिन्द्रियग्राह्यते क्षणात्॥२८२॥

स्थूलसूक्ष्मा पुनर्ज्ञेयाश्छायाज्योत्स्नाऽऽतपादय ।
चाक्षुपत्वेऽप्यसहार्य, रूपत्वादविघातका ॥२८३॥

द्रव द्रव्य जलादि स्यात्, स्थूल भेदनिदर्शनम्।
स्थूलस्थूल पृथिव्यादि भेद्य स्कन्ध प्रकीर्तित ॥२८४॥

इत्यमीषा पदार्थाना, याथात्म्यमविपर्ययात्।
य श्रद्धत्ते स भव्यात्मा, पर ब्रह्माधिगच्छति॥२८५॥

भगवद्‌विहारवर्णनम्—

विहरत्युपकाराय, जिने परम बान्धवे।
बभूव परामानन्द, सर्वस्य जगतस्तदा॥२८६॥

प्रमोदमयमातन्वन्निति विश्व जगत्पति ।
विजहार मही कृत्स्ना प्रीणयन् स्ववचोऽमृतै ॥२८७॥

मिथ्यान्धकारघटना, विघटय्य वचोऽशुभि ।
जगदुद्योतयामास, जिनाऽर्को जनतार्तिहृत्॥२८८॥

धर्मवारि जिनाम्भोदात्, पाय पाय कृतस्पृहा ।
चिर धृततृषो दध्रुस्तदानीं भव्यचातका ॥२८९॥

क्रूरैरपि मृगैर्हिंस्रै र्हन्यन्ते चातु नाङ्गिन ।

सद्धर्मदेशनोद्युक्ते, त्वयि संजीवनौषधे॥२९०॥

जिनोद्योगमहावात्या, क्षुभिता देवनायका।
चतुर्निकायाश्चत्वारो, महाब्धय इवाभवन्॥२९१॥

प्रतस्थे भगवानित्थ-मनुयात सुरासुरै।
अनिच्छापूर्विकां वृत्तिमास्कन्दन् भानुमानिव॥२९२॥

अकस्मात् प्राणिनो भेजु प्रमदस्य परम्पराम्।
तेनु परस्परां मैत्रीं, बन्धुभूयमिवाश्रिता॥२९३॥

भगवच्चरणन्यास-प्रदेशेऽधिनभ स्थलम्।
मृदुस्पर्शमुदारश्रि-पङ्कज हैममुद्बभौ॥२९४॥

यत्र यत्र पदन्यासमकरोत् स जिनेश्वर।
तस्मिन् विकचपद्मानि भवन्तीव महीतले॥२९५॥

धर्मचक्रम्—

सहस्रार हसद् दीप्त्या, सहस्रकिरणद्युति।
धर्मचक्रं जिनस्याग्रे, प्रस्थानाऽऽस्थानयोरभात्॥२९६॥

जिनप्रभावमाह—

अन्योन्यगन्धमासोढुमक्षमाणामपि द्विपाम्।
मैत्री बभूव सर्वत्र, प्राणिना धरणीतले॥२९७॥

स्त्रीबालवृद्ध-निवहोऽपि सुख सभा ता-
मन्तर्मुहूर्तसमयान्तरत प्रयाति।
निर्याति च प्रभु-माहात्म्याऽश्रिताना,
निद्रामृतिप्रसवशोकरुजादयो न॥२९८॥

केवलज्ञानप्रभावमाह—

विष्टराण्यमरेशानां, अशनै प्रचकम्पिरे।
अक्षमाणीव तद्गर्व, सोढु जिनजयोत्सवे॥२९९॥

दिश प्रसत्तिमासेदु, बभ्राजे व्यभ्रमम्बरम्।
विरजीकृतभूलोक, शिशिरो मरुदा ववौ॥३००॥

अपापाङ्गावलोकं ते, जिनेन्द्र। नयनद्वयम्।
मदनारिजय वक्ति, व्यक्त न सौम्यवीक्षितम्॥३०१॥

एकतोऽभिमुखोऽपि त्वं, लक्ष्यसे विश्वतो मुख।
तेजो गुणस्य माहात्म्यमिद नूनं तवाद्भुतम्॥३०२॥

त्वदाऽऽस्थानस्थितोद्देश, परित शतयोजनम्।
सुलभाशनपानादि त्वन्महिम्नोपजायते॥३०३॥

गगनानुगत यान, तवासीद् भुवमस्पृशत्।
दैवासुरं भरं सोढुमक्षमा धरणीति नु॥३०४॥

विवस्वन्तमिवोद्धूत-मोहान्धतमसोदयम्।
नवकेवललब्धीद्धकरोत्करविराजितम्॥३०५॥

तवारिजयमाचष्टे, वपुरस्पृष्टकैतवम्।
दोपा वेशविकारा हि, रागिणा भूषणादय॥३०६॥

निर्भूपमपि कान्त ते, वपुर्भुवनभूषणम्।
दीप्र हि भूषण नैव, भूषणान्तरमीक्षते॥३०७॥

न मूर्ध्नि कबरीबन्धो, न शेखरपरिग्रह।
न किरीटादिभारस्ते, तथापि रुचिर शिर॥३०८॥

न मुखे भ्रकुटी न्यासो, न दष्टो दशनच्छद।
नास्त्रे व्यापारितो हस्तस्तथापि त्वमरीनहन्॥३०९॥

त्वया नाताम्रिते नेत्रे, नीलोत्पलदलायते।
मोहारिविजये देव। प्रभुशक्तिस्तवाद्भुता॥३१०॥

न भुक्ति क्षीणमोहस्य, तवानन्तसुखोदयात्।
क्षुत्क्लेशबाधितो जन्तु, कवलाहारभुग्भवेत्॥३११॥

नेतयो नोपसर्गाश्च, प्रभवन्ति त्वयीशिनि।
जगता पालके हेला-क्षालिताह कलङ्के॥३१२॥

त्वय्यनन्तमुखोत्सर्पत्, केवलामललोचने।
चतुरास्यमिद युक्त, नष्टघातिचतुष्टये॥३१३॥

केवलज्ञानस्य दशाऽतिशयानाह—

सुभिक्षता भवेन्नित्यं, गव्यूतिशततूर्यकम्।

आकाशगमनं हिसा-वर्जित सर्वसत्त्वकम्॥३१४॥

निराहारश्चोपसर्गरहित श्रीजिनेश्वर ।
चतुर्मुखो भवेत् सर्वविद्येश छायाविवर्जित ॥३१५॥

अस्पन्दनयन केशनखवृद्धिविवर्जित ।
दशातिशय सम्पन्नो, जिन स्याद् घातिनाशनात्॥३१६॥

देवकृत-चतुर्दशातिशयान् प्राह—

जिनाधिस्वामिना भाषा, भव्यधान्याब्दवृष्टिका।
भिन्नदेशादिजाताना, भवेत् सर्वार्थदायिका॥३१७॥

मार्जारमूपकादीना, मित्रत्व परम भवेत्।
सर्वर्तुफलसयुक्तास्तरव श्रीजिनाधिपे॥३१८॥

दर्पणेन समा ज्ञेया, मही रत्नमयी बभौ।
सुगन्धानिल एव स्यात्, प्रानन्द सर्वदेहिनाम्॥३१९॥

मरुत्कृता भवेद्भूमि, कण्टकादिविवर्जिता।
गन्धोदकमहावृष्टि, कुर्वन्ति सुरवाग्दिा ॥३२०॥

पादन्यासे जिनेन्द्राणा, हेमपद्मानि सन्ति वै।
शाल्यादिधान्यसन्दोह, फलनम्रो विराजते॥३२१॥

आकाश निर्मल विद्धि, प्रान्धकारविवर्जिता।
दिशश्चाहूवानन कुर्यु, देवा इन्द्राज्ञया सदा॥३२२॥

धर्मचक्र स्फुरद्रत्न, हेमनिर्मापित भवेत्।
सहस्रार महादीप्त, श्रीतीर्थस्वामिसन्निधौ॥३२३॥

एतान् देवा हि कुर्वन्ति, जिनेन्द्राणा महागुणान्।
चतुर्दश भवन्त्येव, सर्वेऽत्रातिशया वरा ॥३२४॥

अष्टप्रातिहार्यवर्णनम्—

अशोकवृक्ष सुरपुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्र, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥३२५॥

अथ मन्दानिलोद्धूत, चलच्छाखाकरोतकरै ।
श्रीमानशोकवृक्षस्ते, नृत्यतीवाऽऽत्तसमद ॥३२६॥

सुरैरिय नभोरङ्गात्, पौष्पी वृष्टिर्वितन्यते।
तुष्ट्या स्वर्गलक्ष्म्यैव, चोदिते कल्पशाखिभि ॥३२७॥

तव दिव्यध्वनि धीरमनुकर्तुमिवोद्यता ।
ध्वनन्ति सुरतूर्याणां, कोट्योऽर्धत्रयोदश॥३२८॥

चलत्क्षीरोदवीचीभि, स्पर्धां कर्तुमिवाऽभित ।
चामरौघा पतन्ति त्वा, मरुद्भिर्लीलयाधुता ॥३२९॥

सिंहैरूढ विभातीद, तव विष्टरमुच्चकै ।
रत्नांशुभिर्भवत्स्पर्शान्, मुक्तहर्षाङ्कुरैरिव॥३३०॥

तव देहप्रभोत्सर्प समाक्रामन् नभोऽभित ।
शश्वत्प्रभातमास्थानी, जनाना जनयत्यलम्॥३३१॥

स्वनन्ति मधुरध्वाना, सुरदुन्दुभिकोटय ।
घोषयन्त्य्- इवापूर्ण, रोदसी त्वज्जयोत्सवम्॥३३२॥

मुक्तलम्बनविभ्राजि, भ्राजते विधुनिर्मलम्।
छत्रत्रय तवोन्मुक्त, प्ररोहमिव खाङ्गणे॥३३३॥

अनन्तचतुष्टयवर्णनम्—

प्रध्वसतो घातिचतुष्टयस्य, प्रजायतेऽनन्तचतुष्टय यत्।
प्रमाणसिद्ध त्रिजगत्सु सार, प्रादुर्भवत्वत्र जिने स्फुट तत्॥३३४॥

जानाति नित्य युगपत् स्वतोऽन्य-सर्वार्थसामान्य-विशेषसर्वम्।
निर्बाधक स्पष्टतर यदेतदनन्तविज्ञानमिहास्तु नाथे॥३३५॥

स्वात्मान्यसामान्यविशेषसर्व साक्षात्करोत्येव सम सदा यत्।
सुनिश्चितासम्भवबाधकं तदनन्तसद्दर्शनमत्र भातु॥३३६॥

आत्मैकजात गतबाधजात, व्यपेतमान विगतोपमानम्।
अचिन्त्यसार जगदेकसार, नाथेऽत्र भूयात्तमनन्तसौख्यम्॥३३७॥

अनन्तविज्ञानमनन्तदृष्टि, द्रव्येषु सर्वेषु च पर्ययेषु।
व्यापारवन्नित्यमसकरादिस्तादत्रनाथे तदनन्तवीर्यम्॥३३८॥

५. मोक्षकल्याणवर्णनम्

विहारमुपसहृत्य, प्रभु सिद्धशिलातले।

तृतीयशुक्लध्यानेन, कृतयोगनिरोधक ॥३३९॥

अयोगपदमासाद्य, तुर्यशुक्लेन निर्हरन्।
शेषकर्माणि निर्लुप्त-शरीरो परमोऽभवत्॥३४०॥

अन्तर्मुर्हुतायुषि चावशिष्टे, सूक्ष्मक्रियाद्यप्रतिपातियोगात्।
सूक्ष्मी करोतु स्वशरीरयोग, य केवली योगयुत स एष ॥३४१॥

सघातबन्धनरसास्तनवश्च वर्णा,
पञ्चाथ सुस्वरशुभस्थिरगन्धवद्वै।
द्वेधाभ्रयानममरायुरिहानुपूर्व्यं,
सस्थानसहननकानि तु षट् पडेव॥३४२॥

स्पर्शाष्टकाऽगुरुलघुच्छ्वसितोपघाता-
नादेय निर्मितिविनिन्द्ययशोऽन्यघाता,
प्रत्येकनीचकुलयुग्ममपूर्णमङ्गो—
पाङ्गत्रयन्यतरवेद्यक दुर्भगानि॥३४३॥

एतद् द्विसप्ततिविधा प्रकृतीरयोग-
केवल्युपान्तसमये चरमेण शुक्ल-
ध्यानेन मंक्षपयति क्षपकाधिपो य,
साक्षात् स एव भगवानयमस्तु बिम्ब ॥३४४॥

मर्त्यायु सुभगं मनुष्यगतिमानुष्यानुपूर्वायश -
कीर्ती पञ्चरवजातिरन्यतरवेद्य च त्रस वादरम्।
पर्याप्तोच्चकुले च तीर्थकरतादेय च तिस्रो दश,
क्षिप्त्वैता प्रकृतीस्तदन्तसमये य सिद्ध्यतीहास्तु स ॥३४५॥

चित्काय निरपायमाप्य सहजानन्द च येनाञ्जितम्,
विद्युद्दामवदस्तसहति वपुस्तल्लज्जयैव स्वयम्।
कृत्वा विक्रिययोद्धचन्दनमुखैरग्नीन्दमौल्यग्निना,
सस्कृत्याऽनुधरन्ति भस्म भवनामर्त्या स जीयाज्जिन ॥३४६॥

विजित सकलकर्मा निर्मलध्यान योगात्,
अधिगतजगदग्र सोर्ध्वयान स्वभावात्।
गुणनिधिरथलब्ध्वा लोकचूडामणित्व,
सहजसुखसुतृप्तो भाति योऽय स नोऽव्यात्॥३४७॥

निर्वाणानन्तरं शरीरस्थितिमाह—

स्वभावोऽय जिनादीनां शरीरपरमाणव ।
मुञ्चन्ति स्कन्धतामन्ते क्षणात् क्षणरुचामिव॥३४८॥

शरीर भर्तुरस्येति परार्घ्य शिविकार्पिताम्।
अग्नीन्द्ररत्नभा भासि-प्रोत्तुङ्ग मुकुटोद्भवा॥३४९॥

चन्दनाऽगुरुकर्पूरपारी-काश्मीरजादिभि ।
घृतक्षीरादिभिश्चाप्तवृद्धिना हुतभोजिता॥३५०॥

जगद्गृहस्य सौगन्ध्य, सपाद्या भूतपूर्वकम्।
तदाकारोपमर्देन पर्यायान्तरमानयन्॥३५१॥

अग्नीन्द्रमौलिवररत्नविनिर्गतेऽग्नौ,
कर्पूरलोहहरिचन्दनसारकाष्ठै ।
सधुक्षिते सपदि वातकुमारनाथे,
इन्द्रो मुदा जिनपते र्जुहवु शरीरम्॥३५२॥

चतुर्विधामरा सेन्द्रा, निस्तन्द्राऽऽन्द्र भक्तय ।
कृत्वाऽन्त्येष्टि तदाऽऽगत्य स्व स्वमावासमाश्रयन्॥३५३॥

ततो भस्म समादाय, पञ्चकल्याणभागिन ।
वय चैव भावमेति, स्वललाटे भुजद्वये॥३५४॥

कण्ठे हृदयदेशे च तेन सस्पृश्य भक्तित ।
तत्पवित्रतम मत्वा, धर्मरागरसाहिता ॥३५५॥

सुरा निर्वाणकल्याण, पूजाविधिविधायिन ।
पुण्यपण्य समादाय, तदेयु स्वस्वमास्पदम्॥३५६॥

अन्तिममङ्गलम्—

यो गर्भावतरोत्सवे भगवता जन्माभिषेकोत्सवे,
यो जात परिनिष्क्रमेण विभवो य केवलज्ञानभाक्।
य कैवल्यपुरप्रवेशमहिमा सभावित स्वर्गिभि,
कल्याणानि च तानि पञ्चसतत कुर्वन्तु ते मङ्गलम्॥३५७॥

॥ इति भद्र भूयात् ॥

जिनेन्द्रभक्ति : आत्मोन्नति का मणिसोपान

❑ ब्र डालचन्द शास्त्री

पूज्यपाद स्वामी ने भक्ति का लक्षण लिखा है—

"पूज्याना गुणेष्वनुरागो भक्ति" पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग होना भक्ति है। भक्ति का अर्थ है तन्मयता। इसी भक्ति को वादिराज मुनि ने रूपकालकार से गङ्गा कहा है—

प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्धे —
या देव त्वत्पदकमलयो सगता भक्ति-गङ्गा।
चेतस्तस्या मम रुचिवशादाप्लुत क्षालिताह
कल्माष यद् भवति किमिय देव सन्देहभूमि ॥१६॥ (एकीभाव स्तोत्र)

हे देव। नयरूपी हिमालय से उत्पन्न और अमृतमोक्षरूपी समुद्र तक लम्बी जो भक्तिरूपी गङ्गा आपके चरण-कमलो में आ मिली है उसमें रुचिपूर्वक अवगाहन करनेवाला मेरा मन यदि पाप-पक से रहित हो जाता है तो इसमें सन्देह क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं।

यह भव समुद्र अपार तारण के निमित्त सु विधि ठई।
अतिदृढ परमपावन यथारथ भक्तिवर नौका सही॥

इन पक्तियों में कविवर द्यानतरायजी ने भक्ति को नौका की उपमा दी है। यथार्थ में सम्यग्दृष्टि की भक्ति भगवान् के यथार्थ रूप का परिज्ञान कराकर भक्त को कर्मक्षय का मार्ग प्रदर्शित कराती है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार में इसी अभिप्राय से लिखा है—

जो जाणदि अरहत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तहि।
सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्सलय॥८०॥

जो द्रव्य गुण और पर्याय के द्वारा अरहंत को जानता है, वह आत्मा को जानता है और उसका मोह नियम से विलय को प्राप्त होता है। षष्ठम गुणस्थान की भूमिका में विद्यमान मुनिराज को प्रसङ्गानुसार भक्तियों के करने का आदेश है। यदि कोई साधु प्रमादवश निश्चित भक्तियों को नहीं करता तो उसे मुनिचर्या में अपराधी माना जाता है।

भक्तियाँ दश होती हैं परन्तु उमास्वामी महाराज ने अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति को तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्ध में कारणभूत सोलहकारण भावनाओं में गर्भित किया है।

एकीभाव स्तोत्र में उसके रचयिता वादिराज मुनि ने लिखा है—

> शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
> भक्तिर्नो चेदनवधि-सुखावञ्चिका कुञ्चिकेयम्।
> शक्योद्‌घाटं भवति हि कथं मुक्ति-कामस्य पुसो,
> मुक्ति-द्वारं परिदृढ-महामोह-मुद्रा-कवाटम्॥१३॥

निर्दोष ज्ञान और चारित्र के रहते हुए भी यदि अनन्त सुख को प्राप्त करानेवाली यह भक्ति रूपी कुञ्जी नहीं है तो मुक्ति के अभिलाषी मनुष्य का वह मुक्तिद्वार, जिस पर कि महामोह के सुदृढ मुद्राशील से युक्त किवाड लगे हुए हैं, कैसे खोले जा सकते हैं? अपितु नहीं खोले जा सकते है।

अपने उपास्य के स्वरूप में एकाकार होना भक्ति की उपलब्धि है। उपास्य के स्वरूप और गुणसाम्य प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील न होने पर भक्ति अपूर्ण है। अपने इष्टदेव को जो-जो रुचिकर है, उसे ग्रहण करना और जिनका निषेध या वर्जन है, उन्हें मन-वचन-काय से अस्वीकार करना भक्ति के लक्षण हैं। 'तद्द्वेष्ये विरागस्तत्स्पृहणीये चानुराग' अपने प्रभु को अच्छे न लगने वाले विषयों से विराग और उसके स्पृहणीय पदार्थों पर अनुराग दर्शाते-दर्शाते वे ही राग-विरागमयी प्रवृत्तियाँ एकत्रित होकर उस साधक भक्त का स्वभाव बन जाती हैं। आराध्य के प्रति तन्मयता भक्ति रस को सार्थक कर देती है। भक्ति की फलश्रुति का निर्वचन करने वाले आचार्यों ने 'वन्दे तद्‌गुणलब्धये' का उद्‌घोष कर विशाल प्रबन्ध की महावाक्यता को एक सूत्र में गुम्फित कर दिया है। जिनचतुर्विंशतिका की उक्ति है—

> प्रज्ञापारमित स एव भगवान्। पार स एव श्रुत-
> स्कन्धाब्धेर्गुणरत्नभूषण इति श्लाघ्य स एव ध्रुवम्।
> नीयन्ते जिन । येन कर्ण-हृदयालकारता त्वद्‌गुणा
> समाराहिविषापहारमणयस्त्रैलोक्यचूडामणे॥

हे जिनेन्द्र। इस अपार ससार में वही बुद्धि का पारगामी विद्वान है, वही श्रुतस्कन्ध समुद्र का हेलया सन्तरण करने वाला है और वही गुणरत्नों से विभूपित तथा श्लाघनीय है जो ससार सर्पविष का अपहार करने में मणिसमान आपके गुणों को अपने श्रोतृ और हृदय के अलकार बनाता है अर्थात् सुनता है तथा श्रद्धान करता है।

तद्‌गुणलब्धि का यह प्रयत्न असामान्य कार्य है। सिद्धालय की ऊँचाइयों को तरङ्गें नहीं छू सकतीं। मन, वचन और काय के बहुमुखी व्यापार को ध्येय की एक बिन्दु पर ले जाना उतना सरल नहीं जितना 'जहँ ध्यान, ध्याता, ध्येय को' लय की पदावली को गा लेना। गुणलब्धि के लिए आचरण करना होता है, विचारों में अनेकान्त-सप्तभंगी का और चरित्र में अहिंसा का अदमनीय आत्मवृत्ति से अनुध्यान, चिन्तन, मनपूर्वक सहज गति से चारित्र प्रवर्तन करना होता

है और तब कहीं साधना के पथ पर सिद्धि के दूरगामी चरणचिह्न दिखाई देते हैं। जैसे बाँस के आश्रय से नट ऊँचा चढ़ने में सफल हो जाता है उसी प्रकार भक्ति के मणिसोपान के सहारे मनुष्यभव उन्नतावस्था प्राप्त करने में कृतकार्य हो जाता है क्योंकि स्तुति करते-करते उसे जो तन्मयता प्राप्त होती है, उससे उसे दैहिक विषय-विकारों पर विजय मिलती है तथा वितृष्णा की आनुषंगिक उपलब्धि होती है जिससे शुभोपयोग में वृद्धि आती है। वह इस तन्मयता में गाने लगता है—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते,
हस्तावञ्जलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि सम्प्रेक्षते।
सुस्तुत्या व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन मे,
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते।।   --आचार्य समन्तभद्र

"हे जिनेन्द्र। हे तेजपुंज के अधिपति। आपकी श्रद्धा में डूबा रहूँ, तेरी अर्चना मात्र याद रहे शेष सभी बातें मैं भूल जाऊँ, मेरे हाथ अंजलिबद्ध होकर तुम्हारे समक्ष मेरी अकिंचन भक्ति का नैवेद्य लिये रहें, कानों में तुम्हारी पवित्र कथा सुनाई देती रहे और आँखें अनिमेषवृत्ति से तुम्हारे ही दर्शन का लाभ लेती हुईं, इन्द्र के सहस्रलोचन निरीक्षण को मन्द कर दें। हे देव। मुझे कोई व्यसन न हो और यदि व्यसन शब्द का अर्थ 'अतिप्रसङ्ग-अतिसेवन' है तो मुझे आपकी स्तुति करने का व्यसन रहे एवं यह मस्तक आपकी गुरुभार श्रद्धा से निरन्तर भक्तिपरायण रहे। पूजा के नारिकेल-सा तुम्हारे चरणमूल में धरा रहे। मैं तुम्हारी ही कृपाओं के प्रसाद से प्राप्त इस अमृतजीवन को जीकर, तेजस्वी, सुजन और पुण्यवान् रहूँ।" इस प्रकार के उद्गार जब छन्दोमयी वाणी पर स्वतः प्रस्फुटित होने लगें तब स्थाणु समान शरीरवृक्ष पर दैवी वरदान का अमृत-वसन्त कुसुमित हुआ जानना चाहिए। इस भक्तिकुसुम से विहँसते वसन्त को पाने में मन के जाड्य को दूर करना मात्र पर्याप्त है फिर तो 'शक्तिस्तस्य हि तादृशी' उस परमदयाक्षमामूर्ति परमात्मा की करुणा के स्रोत नवीन आकाशगंगा को प्रवाहित करने लगते हैं जहाँ अवगाहन कर भक्त मुक्ति के अनिर्वाच्य रस को पा लेता है। भक्ति में ही मुक्ति है और मुक्ति भी भक्ति में ही है। मुक्ति तथा भुक्ति के लिए जिनचरणारविन्द का मधुलिह (भ्रमर) होना अपरिहार्य है। भगवान जिनेन्द्र ने अपने समस्त दोषों को शान्त कर दिया है इसलिए उन्हें आत्मशान्ति प्राप्त है और सिद्ध है कि जिसे जो वस्तु प्राप्त है उसमें से वह दूसरों को भी बाँट सकता है और प्रभुशरण में आये हुओं को शान्ति प्रदान कर सकता है।

जो श्रद्धा तथा विश्वास के युगलनेत्रों से भगवान की भक्ति ग्रहण करता है उसे निश्चय से परम कृतार्थता मिलती है। अन्यथा इन बाह्य नेत्रेन्द्रियमात्र से उस श्रद्धामूर्ति का दर्शन होना कठिन है। भगवान की स्तुति करते हुए एकीभाव प्राप्त करना भक्त का ध्येय होना चाहिए। 'मम परमविशुद्धि' जैसे उद्गार उसके समक्ष निकलने चाहिए। यदि भगवान से पुत्र-पौत्र, धन-सम्पदा और क्षुद्र लौकिक पदार्थों की याचना की गई, तो केसर के खेत में जाकर कुश ग्रहण

करने के समान होगा। ये लौकिक वैभव तो मुक्ति के लिए कृत-करिष्यमाण प्रयत्नों की तुलना में कुछ नहीं है, अतः याचना के भाव उठें तो उस मुक्तिलक्ष्मी की याचना करना उचित है किंवा मुक्तियाचना से भी क्या, वह तो भक्ति का शुल्क है अर्थात् जहाँ शुल्क रूप में भक्ति भेंट की और मुक्ति प्राप्त हुई। ऐसा करना भक्ति को निरर्थक बनाना है।

अतः परिणाम विशुद्धि के लिए सर्वप्रथम भक्ति की याचना मुख्य है। भला, जिनेन्द्र चरणकमलों का मधुप क्या जन्म-जरा मृत्युबाधाग्रस्त अधमता को पाता है? अथवा हिमालय के दुरारोह शिखर पर खड़ा होकर, क्या कोई मैदानों के मुट्ठीभर कंकर पत्थर चाहता है? नहीं। जिनेन्द्रबिम्ब के देखने मात्र से अशाश्वत विषयादि परिग्रहगृह्यमान सुखों से उसे विरक्ति हो जाती है और वह केवल ज्ञानरूप अग्नि में अपने पुण्यों की आहुति देने के लिए आकुल हो उठता है। देव के समक्ष अपने पाप दग्ध करने के लिए तो अनेक आते हैं परन्तु पुण्य भी बन्धपरिणामी है, ऐसा मानकर उनका भी पुण्याजलिवत् विसर्जन करनेवाले कितने वीतरागी हैं, यह अनुभूति से ही जाना जा सकता है। 'विषापहार' स्तोत्रकार ने सुन्दर ढंग से भक्ति और तदुद्भूत फलश्रुति का अंकन करते हुए कहा है कि--हे भगवन्। मैंने आपकी स्तुति की है एतावता मुझे स्तुतिदक्षिणा दीजिए, यह मैं नहीं कहूँगा क्योंकि स्तुति की है तो अपने मन से की है, अपनी इच्छा से और अपनी परिणाम-विशुद्धि के लिए की है। आपने तो मुझे स्तुति-पाठक नियुक्त नहीं किया। करते भी कैसे? वीतराग जो है। और स्तुति करने के लिए यदि स्वर्गपति भी सेवानियुक्त हो, उतने से आपकी अनन्तगुणसवलित अतिशयता में कौन सी अभिवृद्धि हो जाती है? यह तो इन्द्रादि के सौभाग्यों की सूचना है कि वे आपकी सेवा में हैं।

जहाँ तक स्तुति का प्रश्न है, उसके लिए कहा जा सकता है कि अतिशयोक्ति नामक अलंकार स्तुति-अर्थ में प्रयुक्त किया जा सकता है अर्थात् किसी के तिल प्रमाण गुण हों और कोई वाणीपति मेरुप्रमाण वर्णन कर पाये, तब तो वह स्तुति हुई और यदि मेरु का वर्णन करते हुए उसके तिलभाग का वर्णन करने में ही कुण्ठित हो चले उस हीनोक्ति को अतिशयोक्तिमूलक 'स्तुति' में लेंगे? किन्तु बालक अपनी तुतलाहट को इसलिए तो नहीं छोड़ सकता कि पिताजी के पांडित्य के समक्ष यह तुच्छ है। भले तुच्छ है, अच्छी और स्वच्छ तो है क्योंकि हृदय की शुद्धता मिली हुई है। स्तुतिकर्ता भी अपने को अशेषवक्ता नहीं मानता। वह भी यत्किंचित् वाणीगम्य सप्तस्वरों को गा-बजा लेता है। विश्वभर में कितने स्वर हैं, उसका अखिलगुम्फन उसके लिए अशक्य है। वह तो अपने दुरिताञ्जन-नाश के लिए, पवित्र होने के लिए स्तुति को ही माध्यम समझता है। वीतराग जिनेन्द्र तो स्तुति-निन्दाओं से परे हैं।

नदी पर, न जाने, कितने लोग आते हैं और कितने प्रयोजनों से आते हैं। एक पानी पीने आता है, दूसरा पत्थर से पानी उछालता है, तीसरा नहाता है और चौथा कहीं बंशी डालकर मछली की घात लगाता है। और भी कोई पाँचवां आ सकता है जो तैरकर या नाव डालकर धार के पार पहुँचना चाहता है। इन विविध प्रयोजनापेक्षी जनों से नदी को क्या लाभ, क्या

काम? उसकी कोई लहर, गतिक्रम का कोई छन्द किसी के आने-जाने से इधर-उधर नहीं होता। प्यासे को नीर पीना हो तो परिसर के उपकूलों पर उतरे, झुके, अञ्जलि भरे और पिये—यथेच्छ अघाकर, तृप्त होकर। कौन हाथ थामता है कि बस करो। नहीं पीना चाहे तो भले यावज्जीवन खडे रहो। कौन नदी ऊपर उठकर उसके मुख में उतरती है? यही वीतरागता है। भगवान् परमवीतराग हैं, अत कोई स्तुति करे या निन्दा उसके समभाव में अन्तर नहीं आता। उन्हें न तो पारिजातमालाओं से मुग्ध किया जा सकता है और न कण्ठ में सर्प पहनाकर विचलित अथवा क्रुद्ध किया जा सकता है। उनके स्वाभाविक समत्व को चुनौती नहीं दी जा सकती। ये हर्ष-विषाद, क्रोध-मोह और वासना कषाय की स्थितियाँ तो ससार-परायण को प्राप्त होती हैं। समत्व से आप्यायित मुनीन्द्र पर इनका प्रभाव उसी प्रकार व्यर्थ जाता है जिस प्रकार तेल से चिकने हुए कलश पर पानी। फिर भी जैसे सर-सरिता में डुबकी लगानेवाले को जल की शीतलता, पीनेवाले को तृषाशामकता स्वत प्राप्त होती है वैसे ही प्रभुपद-शरणगतों को आत्मिक शान्ति अवश्य मिलती है। इसी को 'शक्तिस्तस्य हि तादृशी' कहा गया है। कोई डुबकी लगाये और इच्छा करे कि शीतलता का स्पर्श न हो, यह वस्तुस्वभाव से विरुद्ध बात है। इसीलिए तो 'कश्छायया याचितयाऽत्मलाभ'—वृक्षतले अवस्थित होकर छाया मांगना तो प्रवहमान निर्झर को बहने के लिए कहने जैसा है और याचना करने पर फल, पुष्प मिल सकते हैं किन्तु छाया नहीं। यदि छाया भी मिला करती तो लोग उसे भी पत्थर मारकर फलों के समान उतार लेते। एतावता, यह विशिष्ट आधार तो चरणमूल में उपासीन भक्तिदीन (भक्ति के लिए याचक) को ही मिल सकता है।

यहाँ (उक्त पद में) जो 'आत्मलाभ' पद है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आत्मलाभ तो आत्मप्रकृति में स्थित होना है। जो अदीन, अयाचक तथा परिपूर्ण आत्मा है वह क्या याचना करता है? वह तो 'तुझ को देखूँ और तुझसा हो जाऊँ—महावाक्य है। उसमें न याचना है, न कोई इच्छा। अत वीतराग से वीतरागत्व प्राप्त करना ही उक्त 'जिनेन्द्र-तरु' के नीचे (चरणमूल) अवस्थान का अभिप्राय है। यदि भगवान जिनेन्द्र की शरण में आकर भी, किसी प्रकार का दु खादि शेष रह जाता है तो भक्तिसपर्या में ही कहीं त्रुटि है, ऐसा मानकर अधिक तन्मयता और निरलसता से भक्ति में अनुरक्त होना चाहिए, क्योंकि कोई एक वस्तु दस हाथ ऊँची रक्खी हुई है और नौ हाथ की ऊँचाई जितना प्रयत्न करने तक वह प्राप्त नहीं होती है तो इसमें खिन्नता, अनुत्साह, अकृतकार्य का विचार क्यों न मानें? उसके लिए अपेक्षित एक हाथ भर का जो शेष उद्योग है, उसी में प्रवृत्त होना पुरुषार्थपरायण होना है। स्टेशन की दूरी, बीच पथ में हमारे थकने श्रान्त-क्लान्त होने से समीपता में नहीं बदल जायेगी। उसको समीप लाने के लिए तो हमें चलते रहना पडेगा और यह निश्चित है कि जितने कदम की वह दूरी है, उससे अधिक चलना नहीं होगा। हाँ, जो मार्ग भूले हुए हैं उन्हें कितना चक्रमण करना पडे, अवक्तव्य है। इसीलिए तो 'यावदेतेऽपवर्ग' और 'जिने भक्तिर्भवे भवे' कहा गया है। ये सूत्र आस्था की शक्ति को एकाग्र

करने के लिए हैं, उसे हतोत्साह करने के लिए नहीं। कर्म की जितनी ग्रन्थियाँ उलझी हुई हैं, उनके सुलझाने में अन्तर्मुहूर्त समय भी लग सकता है और अनेक जन्म भी। क्या सभी तद्भवमोक्षगामी होते हैं? अनन्तानुबन्धी कर्म की रज्जु इतनी सुदृढ भी हो सकती है कि तोडते-तोडते सवर-निर्जरा करते-करते उन्हें खपाते हुए कई जन्मों का पुरुषार्थ अपेक्षित हो। अत भक्त को भाते रहना चाहिए कि श्रुत-स्वाध्याय से, वन्दना से, दर्शन से यदि दु खों का प्रशमन नहीं हो रहा है तो अपने अनन्तानुबन्धी कर्म की अधिकता अथवा भावप्रवणता की कमी है।

निश्चय ही भावशून्य क्रियाएँ फलीभूत नहीं होतीं। भावात्मक एकता सम्पादन के लिए ही मूर्तिविद्या का आश्रय लिया जाता है और प्रतिमावन्दन, अर्चन (पूजा-प्रक्षाल) करने का आगम सम्मत विधान है। नहीं तो 'न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये' कहकर उसकी भावशून्य पीठ पर अनुपस्थिति, असिद्धता घोषित नहीं की जाती। स्थूल से सूक्ष्म की ओर अथवा द्रव्य से भाव की ओर लौटना जीव के उद्धार का पथ है। उपास्य देव की भक्ति करते-करते उसे इसी का प्रयत्न करना चाहिए।

श्रमणसस्कृति में वीतरागता को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मोह को मूर्च्छा और परिग्रहों को बन्ध कहा है, इसीलिए श्रमणमुनि दिगम्बर, निर्ग्रन्थ होते हैं। वे उपास्य जिनेन्द्र भगवान के सम्यगाचरित मार्ग पर अग्रसर होने के लिए, यह दीक्षा लेते हैं। भवान्त के लिए रागादिक्लेशवासित चित्त का निरोध करते हैं। ज्ञान का इस मार्ग में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना ज्ञान के सम्यक्त्व घण्टा कौन बजावे? इसीलिए सम्यक्त्व सवलित ज्ञान को ही मोक्षपथ-प्रद सम्यक् चारित्र का साधक सोपान बताया गया है। इस ज्ञान और मोक्ष के बीच में जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है वह स्तुतिकार के रूप में व्यक्त होता है। आचार्य समन्तभद्र श्रमणसस्कृति के युगदृष्टा आचार्य हुए हैं। महान दार्शनिक होने से, उन्हें शुष्क एव नितान्तमस्तिष्कपोषी होना ही चाहिए था परन्तु वे उच्चकोटि के भक्त भी थे। स्तुतिपद लिखने में अप्रतिम थे। उनकी ज्ञानधारा भक्तिमय थी इसीलिए उन्हे 'आद्यस्तुतिकार' विरुदालकृत किया गया है, किन्तु क्यों परमदार्शनिक वादिराट् आचार्य होते हुए वे भक्तिरस से ओत-प्रोत स्तुतिपदों के निर्माता थे, यह रहस्य अत्यन्त रोचक है। भक्ति का अथवा भावों का अतिशय उद्रेक काव्यपदावली का कारण हो सकता है परन्तु आचार्य के लिए यह परिणाम-विशुद्धि का उत्पादक था। वास्तव में स्तुति पुण्यप्रसाधक परिणामों की कामधेनु है, अचिन्त्य महाफलों की चिन्तामणि है। यह स्तोत्रमार्ग भक्तिधारा से प्रक्षालित होता हुआ मोक्षलक्ष्मी के आवास तक चला जाता है। जैसे असख्यात प्रदेश दूर रहने वाला सूर्य अपनी किरणों के स्पर्श से कमलवन को विकसित कर देता है, उसी प्रकार सिद्धालय में विराजमान परमात्मा के गुणस्मरण से हृदयपद्म खिल उठता है और कर्म नष्ट हो जाते हैं।

इस दुर्लभ मनुष्यभव में, जिसे जिनेन्द्रभक्ति मिली उसे अन्य कुछ प्राप्तव्य शेष नहीं रहा। उसने दान का फल पा लिया, उग्र तपश्चर्या कर ली, पूजाप्रक्षाल के शतसवत्सर पूर्ण कर लिये,

सभी पवित्र गुणों के साथ शील का सर्वग्राही रूप प्राप्त कर लिया। तन्मयता के एक क्षण में भव-भव के वरदान उसे प्राप्त हो गये। ससार ने उसे गुणाभूषण कहा, श्रुतस्कन्ध का पारगामी एव प्रज्ञापारमित बताया। समस्त सद्गुण और अच्छाईयाँ उसे कनक-कमलवत् प्राप्त हो गयीं, क्योंकि उसने भक्ति-सरोवर में स्नान कर भगवन् से तन्मयवृत्ति स्थिर की। भगवच्चरणारविन्द की सेवा सुलभ नहीं है। इन्द्र और अन्य देवगण, गन्धर्व, किन्नर तथा अप्सराएँ उस सौभाग्य को क्षणकाल के लिए छोडना नहीं चाहते। 'जिनचतुर्विंशतिका' में लिखा है कि—जिनेन्द्रदेव को देवेन्द्रों ने तो स्नान करवा दिया है, देवांगनाओं ने मङ्गल गा दिये हैं, गन्धर्वदेवों ने शरच्चन्द्र के समान शीतल, निर्मल और आह्लादक यशस्तोत्र का पाठ किया है और शेष देवों ने अपने-अपने भाग में आई हुई सेवाएँ निबटा दी हैं इस प्रकार हे भगवन्। स्नान, मंगल, यशोगीत और अन्य पूजा-प्रक्षालोचित सभी काम इन सुकृतविलसितो ने पहले ही निबटा दिये है। हम जो सेवा के लिए उपस्थित हुए हैं, वे क्या सेवा करें। किसी प्रकार की सेवा का अवसर न मिलने से हमारा चित्त दोलायमान हो रहा है। अहो। देवों ने कोई सेवा हमारे लिए छोडी ही नहीं है। यह भक्त के उद्गार हैं, सेवा के लिए उपास्य के चरणों में जब तक आत्मसवेदन, उत्कण्ठा, एकीभाव और अनन्यचिन्तन न हो, तब तक भक्ति के अर्थ पल्लवित, पुष्पित और फलित नहीं होते। क्षत्रचूडामणि की एक सूक्ति है—

> जन्मजीर्णाटवीमध्ये जनुपान्धस्य मे सती।
> सन्मार्गे भगवन्भक्तिर्भवतान् मुक्तिदायिनी॥६।३३॥

—जन्म-मरण की जीर्ण अटवी (पुराना जगल) ससार है। इस विषयान्ध का मार्गदर्शन करानेवाला दिव्यनेत्र तो जिनेन्द्र पादारविन्द की भक्ति है। वही मुक्तिदायिनी और मुक्तिमार्ग की प्रेरणा देनेवाली है और उचित ही है कि मनुष्य स्वेष्टसिद्धि के लिए किसी एक निश्चित मार्ग का अवलम्बन करे। पल-पल पर मार्ग बदलनेवाला अभीप्सित स्थान को कैसे पहुँच सकता है? वह तो प्रत्येक दूसरा पथ बदलते समय, अपने पूर्वपथ को तय करने में हुए श्रम तथा समय को नष्ट करता है। अत जिनेन्द्रपदकमलों मे एकमात्र चित्तवृत्तियों को समर्पित करना भक्त को श्रेयोमार्ग प्रदान करता है तथा उसमें आनेवाले अपायों (अन्तरायों) का नाश करता है। अशेष कामनाओं का दोहन करने में जिनभक्ति से बढ़कर अन्य साधन नहीं है। जो भव्यजन यह निर्धारण कर भगवान का अपने भक्तिरस से अभिषेक करता है उसके भव दुखाकुरों का निर्वपन अवश्य होता है। मनुष्य अपने दुखशमन के लिए ही भगवान की शरण में जाता है, इस विषय में 'शान्तिभक्ति' का एक श्लोक है—

> न स्नेहाच्छरण प्रयान्ति भगवन्। पादद्वय ते प्रजा,
> हेतुस्तत्रविचित्रदुखनिचय ससारघोरार्णव।
> अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकर-व्याकीर्ण-भूमण्डलो,
> ग्रैष्म कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुराग रवि॥१॥

—हे भगवन्। आपके चरणयुगल में निरन्तर श्रद्धालुओं का ताँता लगा रहता है जिससे प्रतीत होता है कि प्रजा की भक्ति आप में अत्यधिक है, किन्तु प्रभो। स्वार्थ चाहे लेशमात्र हो प्रत्येक किया में विद्यमान रहता है। अत आपके प्रति भक्ति रखनेवालों के स्वार्थ का पता लगाया तो विदित हुआ कि इनमें अधिकाश ससार के अभावों और वेदनाओं से त्रस्त हैं। यह संसाररूप महासमुद्र तैर जाना उनके वश का नहीं है और इसी से रक्षा प्राप्त करने के लिए वे आपके चरणमूल में आ-आकर विनम्र स्तुतिकुसुमाजलि अर्पित कर रहे हैं, क्योंकि आप तरण-तारण हैं, भवाब्धिपोत हैं। जैसे ग्रीष्मऋतु में लोग दिन में छायातरुओं का आश्रय लेते हैं, शीतल जलवाले सरोवरों में डूबे रहकर तापनिवारण करते हैं, शीतल पेय पीते हैं और रात्रि में खुले आकाश के नीचे इन्दु की शीतल किरणों से शान्ति प्राप्त करते हैं तो इसका यह अर्थ लगायें कि उन्हें वृक्षों से, छाया से, शीतल जल और शीतल पेयपदार्थों से अथवा चन्द्रमा से प्रेम है, स्नेह है, तो यह वास्तविक नहीं है। वह तो ग्रीष्मकाल के प्रचण्ड सूर्य का प्रभाव है जो जल-स्थल को उत्तप्त कर देता है, जिससे त्राण पाने के लिए प्रजा उन-उन शीतल पदार्थों का सेवन करती है। इसी प्रकार शरण में आकर जो स्तुति-स्तोत्र का बखान करते हैं वे भी अपने सन्तापों का निवारण चाहते हैं और हे भगवन्। जो समर्थ है उसी से भिक्षायाचना की जाती है और इस प्रकार हे आशापूरक। आपकी भक्तिरूपी वायु से उत्फुल्ल भव्यजनरूप दृतिपात्र सरलता से भवार्णव पार पहुँच जाते हैं। अत जो आनन्दाश्रुपूर में स्नान करते हैं, भक्तिस्तुति बोलते हुए जिनके कण्ठ गद्गद् हो जाते हैं, उन शरणागतों की देह से आधि-व्याधियाँ उसी प्रकार निकल जाती हैं जैसे बल्मीक (वावी) में से सर्प। अतएव पद्मनदी 'श्रावकाचार' में कहते हैं—

ये जिनेन्द्र न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फल जीवित तेषा, धिक् च तेषा गृहाश्रमम्॥अ ६ श्लोक १५।

भगवान जिनेन्द्र का आह्निक पूजन-वन्दन-स्तवन करना अपने पापों से छुटकारा पाना है किन्तु जो गृहस्थ होकर षडावश्यकों में परमावश्यक जिनेन्द्रदर्शन नहीं करते हैं, उनका जीवन निष्फल है और गृहाश्रम व्यर्थ।

यह भक्ति परमात्मभाव को आत्मप्रतिष्ठित करने की सूचना है, कर्मनिर्जरा का सकेत है, मोक्षपथ की ओर बढते हुए चरण हैं, हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म तथा परिग्रह रूप पाँच पापों का प्रायश्चित है, अपने आत्मज्ञान को प्रक्षालित करने का पवित्र नीर है, विवेकसमुद्र से उत्पन्न दिव्यमापी है, भगवान के चरणों में पहुँचने के लिए अनुमति-पत्र है। जिसके हृदय में भक्ति की उत्ताल उर्मियो आन्दोलित हैं, उसे पाप-पक स्पर्श नहीं करते। भक्त के लिए भगवान के चरण मोहान्धकार का नाश करनेवाले हैं, विश्व के यावत्पदार्थों को तत्त्वार्थरूप में प्रकट करनेवाले हैं, श्री से दीप्तिमान् और तेज-पुञ्ज से श्रीमान् हैं, सन्मार्ग का प्रतिभास करानेवाले हैं, देवसमूह को पीयूष पिलाने वाले हैं, भव्यजनों के भक्तिकेन्द्र हैं और शान्ति तथा शरण प्रदान करनेवाले हैं। भगवान के इस स्वरूप का अभीक्ष्ण तापहारी अनुचिन्तन पुन पुन होता रहे, यही जीवन

की सार्थकता है।

अमितगति 'द्वात्रिंशतिका' में कहते हैं—

मुनीश। लीनाविव कीलिताविव, स्थिरौ निषाताविव बिंबिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठता सदा, तमोधुनानौ हृदि दीपिकाविव॥४॥

हे भगवन्। मुनीश। आपके चरण भक्त के हृदय मे अन्धकार का नाश करनेवाले दीपकों के समान लीन हुए-से, कीले गये-से, स्थिर, निखात-से (कील समान ठोककर गाडे हुए से), बिम्बित से सदैव विराजमान रहें। आप विश्ववन्द्य हैं, सबसे विविक्त हैं, सर्वथा अनवद्य हैं, मुक्तिविभव के प्रदाता हैं; अत आपके पुण्यपादारविन्द में सहस्त्र-सहस्त्र नमस्कार।

और अन्त में आचार्य जिनसेन के शब्दों में—

वाग्गुप्तेस्त्वत्स्तुतौ हानिर्मनोगुप्तेस्तव स्मृतौ।
कायगुप्ते प्रणामे ते काममस्तु सदापि न ॥ (आदिपुराण)

हे परमात्मन्। आपकी स्तुति करने से हमारी वचनगुप्ति की हानि होती है, आपका स्मरण करने से मनोगुप्ति को बाधा पहुंचती है, तथा आपको नमस्कार करने से कायगुप्ति नष्ट होती है, सो भले ही हों, हमें इसकी चिन्ता नहीं, हम सदा ही आपकी स्तुति करेंगे, आपका स्मरण करेंगे और नमस्कार करेंगे।
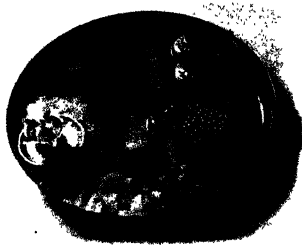
श्रमण परम्परा के परम आराध्यदेव : अर्हन्त

❑ आर्यिका स्याद्वादमतीजी

जैन दर्शनानुसार जीव अपने कर्मों का क्षय स्व-परिणामों की विशुद्धि के बल से करके परमात्मपद को प्राप्त करता है। उस परमात्मपद की दो अवस्थाएँ हैं।—(१) शरीर सहित अर्हन्त अवस्था और (२) शरीर रहित सिद्धावस्था। प्रथमावस्था भी दो प्रकार की है—तीर्थङ्कर व सामान्य। विशेष पुण्य सहित अर्हन्त जिनके पञ्च-महाकल्याणक महोत्सव भव्यात्माओं के द्वारा मनाये जाते हैं तीर्थङ्कर कहलाते हैं और शेष सर्वमान्य अर्हन्त कहलाते हैं।

अर्हन्त श्रमण परम्परा के परम आराध्य देव हैं। अर्हन्त का प्राकृत रूप "अरहत" है। इसका सस्कृत रूप है अर्हत्। "अर्ह पूजायाम्" अर्थात् पूजार्थक अर्ह धातु से शतृङ् प्रत्यय होकर अर्हत् शब्द निष्पन्न होता है। प्रथमा एक वचन "उगिदचा सर्वनामस्थाने धातो" पाणिनी सूत्र से नुम् का आगम होकर "अर्हन्" पद बनता है। प्राकृत भाषा में "न्त" प्रत्यय होकर अर्हन्त रूप बनता है। साथ ही प्राकृत व्याकरण के सूत्रानुसार र् ह् के मध्य इकार का आगम होकर "अरिहन्त" तथा प्राकृत की परम्परा के अनुसार अकार का आगम होकर अरहंत रूप बनता है। आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने प्राकृत भाषा में इसका एक "अरुह" प्रयोग भी किया है—"अरुहा सिद्धायरिया"। सभवत इस अरुहा शब्द पर तमिल भाषा का प्रभाव है।

अरहंत शब्द के विभिन्न भाषाओं में अनेक रूप इस प्रकार हैं—

संस्कृत	—	अर्हत्
प्राकृत	—	अर्हंत, अरहत, अरिहत
पाली	—	अरहत
जैनशौरसेनी	—	अरुह
मागधी	—	अलहत, अलिहत
अपभ्रश	—	अलहतु, अलिहतु
तमिल	—	अरुह
कन्नड	—	अरुह, अरुहत

अर्हन्त

अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्त ध १/१, १, /४४/६ज्ञ

अर्थात् अतिशय पूजा के योग्य होने से अर्हन्त सज्ञा प्राप्त होती है।

अरिहति णमोक्कार अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए ॥ ५०५, मू.आ.ज्ञ

अरिहंति वदणणमसाणि अरिहति पूयमक्कार।
अरिहति सिद्धिगमण अरहता तेण उच्चति ॥ ५६२, मू.आ.ज्ञ

अर्थात् जो नमस्कार करने के योग्य हैं, पूजा के योग्य हैं और देवों में उत्तम हैं, वे अर्हन्त हैं।

वन्दना और नमस्कार के योग्य हैं, पूजा और सत्कार के योग्य हैं, मोक्ष जाने के योग्य हैं, इस कारण से अर्हन्त कहे जाते हैं।

"पञ्चमहाकल्याणरूपा पूजामर्हति योग्यो भवति नेन कारणेन अर्हन् भण्यते"—पञ्च महाकल्याणक रूप पूजा के योग्य होता है, इस कारण से अर्हन् कहलाता है। (द्रव्यसग्रह टीका-५०/२११/१)

अरिहत

अरिहननादरिहन्ता। रजोहननाद्वा अरिहंता। रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता (धवला ११ १/४२)

"अरि" अर्थात् शत्रुओं का नाश करने से अरिहत यह सज्ञा प्राप्त होती है। समस्त दुखों की प्राप्ति का निमित्त कारण होने से मोह को अरि कहते हैं। अथवा रज अर्थात् आवरण कर्मों का नाश करने से अरिहन्त यह सज्ञा प्राप्त होती है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण रज की भाँति वस्तु विषयक बोध और अनुभव के प्रतिबन्धक होने से रज कहलाते हैं। अथवा रहस्य के अभाव से भी अरिहत सज्ञा प्राप्त होती है। रहस्य अन्तराय कर्म को कहते हैं। अन्तराय कर्म का नाश ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय कर्मों के नाश का अविनाभावी है। अन्तराय कर्म का नाश होने पर शेष चार अघातिया कर्म भी भ्रष्ट बीज के समान निशक्त हो जाते हैं।

अरहत

जरवाहिजम्मरण चउगइगमणं च पुण्णपाव च।
हनूण दोसकम्मे हुउ णाणमय च अरहंतो ॥ (बोधपाहुड ३०)

जरा और व्याधि, जन्म-मरण, चार गतियों में गमन, पुण्य और पाप इन दोषों के उपजाने वाले कर्म हैं। इनका नाश कर जो केवलज्ञान मय हो गये है वे अरहत हैं।

> रजहता अरिहति य अरहंता तेण उच्चदे। (मू आ/५०५)
> जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति।
> हता अरि च जम्म अरहत तेण वुच्चति ॥५६१॥

अरि अर्थात् मोह कर्म, रज अर्थात् ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म और अन्तराय कर्म इन चार के हनन करनेवाले हैं अत अरि का प्रथमाक्षर "अ", "रज" का प्रथमाक्षर "र" लेकर, उसके आगे हनन का वाचक "हन्त" शब्द जोड देने पर अरहन्त बनता है। वे अरहन्त क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों को जीत लेने के कारण "जिन" हैं और कर्म-शत्रुओं व ससार के नाशक होने के कारण 'अरहन्त' कहलाते हैं।

अरुह—(जैन शौरसेनी)

"न रोहन्ति इति अरुह" अर्थात् कर्मरूप बीज के दग्ध हो जाने से जो पुन ससार में उत्पन्न नहीं होते हैं वे "अरुह" हैं।

षट्खण्डागम की टीका से ज्ञात होता है कि आचार्य वीरसेन स्वामी के समय में इस महामत्र के अरहत, अर्हन्त, अरिहन्त, अरुहन्त आदि पाठान्तर थे। जैसा कि धवला टीका ८/३, ४१/ ८९/२ से भी ज्ञात होता है—

"खविदघादिकम्मा केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठा अरहता णाम। अथवा, णिट्ठविदट्ठकम्माणं घाइदघादिकम्माण च अरहतेत्ति सण्णा, अरिहणण पादिदोण्ह भेदाभावादो" अर्थात् जिन्होंने घातिया कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को देख लिया है वे अरहन्त हैं। अथवा आठों कर्मों को दूर करने वाले और घातिया कर्मों को नष्ट कर देने वालों का नाम अरहत है। क्योंकि कर्मशत्रु के विनाश के प्रति दोनो में कोई भेद नहीं है।

जिस प्रकार मोतीचूर का लड्डू किधर से भी, कैसे भी खाइये मीठा व आनन्ददायी होता है उसी प्रकार अर्हन्त भगवान का नाम कैसे भी जपो—चाहे अरिहन्त कहिये, अरहन्त कहिये, अरुहन्त या अरुह कहिये वह कर्मक्षय का ही कारण है, शब्दभेद होने पर भी यहाँ अर्थ भेद नहीं है, गुणों की अपेक्षा समानता है।

इस प्रकार जैन वाङ्मय में अरहन्त शब्द प्राचीन इतिहास "अनादिनिधनता" में तो समाहित है ही परन्तु वैदिक, बौद्ध एव सस्कृत वाङ्मय में भी इस शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है।

वैदिक वाङ्मय में अर्हत् शब्द

विनोवा भावे ने ऋग्वेद के मत्र का उदाहरण देते हुए जैनधर्म की व अर्हत् शब्द की प्राचीनता सिद्ध की है। मन्त्र है–

"अर्हत् विभर्षिसायकानि, धन्वार्हन्निष्कं यजत विश्वरूपम्।
अर्हन्निद दयसे विश्वमम्ब, न वा ओ जीओ रुद्र त्वदन्यदस्ति।"

अर्थात् हे अर्हत्। तुम इस तुच्छ दुनिया पर दया करते हो। (ऋग्वेद २ ३३.१०)

अर्हन् देवान् यक्षि मानुषत् पूर्वो अघ (ऋग्वेद २/५/२२/४/१)
अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामि शव स (ऋ ४/३/९/५२/५)
अर्हन्ता चित्पुरोदये शेष देवावर्तते (ऋ ३/८३/५)

इसके अलावा वराहमिहिरसंहिता, योगवशिष्ट, वायुपुराण तथा ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य में भी "अर्हत्" शब्द का उल्लेख मिलता है। सस्कृत साहित्य के महाकवि कालिदास ने अपने काव्य व नाटकों में अनेक स्थानों पर अर्हत् शब्द का प्रयोग किया है। रघुवश में रघु राजा गुरुदक्षिणाभिलाषी कौत्सऋषि को सबोधित करते हुए कहते हैं–हे अर्हत्। आप दो-तीन दिन ठहरने का कष्ट करें तब तक मैं आपके लिए गुरुदक्षिणा का प्रबन्ध करता हूँ।

एक अन्य स्थान पर कालिदास अर्हत् को "नय चक्षुषे" विशेषण देकर सभवत उनके नय प्रमाण के ज्ञातृत्व की ओर संकेत करते हैं–

अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे (रघु १/५५)

शाश्वतकोष तथा शारदीय नाम-माला में "अर्हत्" शब्द "जिन" का पर्यायवाची कहा गया है–स्तार्हन् जिनपूज्ययो (शाश्वतकोष, ६/४१)।

आचार्य हेमचन्द्र अर्हत् को पदार्थ का यथार्थ वर्णन करनेवाला परमेश्वर कहते हैं– यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हत् परमेश्वर (हेमचन्द्र, योगशास्त्र २-४)।

बौद्ध वाङ्मय में अरहन्त शब्द महात्मा बुद्ध के लिए प्रयुक्त है। अरहत के जो गुण पाली साहित्य में कहे गये हैं, वे बहुश जैन अरहन्त के गुणों से समानता रखते हैं।

पाली भाषा के बौद्ध आगम त्रिपिटक धम्मपद में 'अरहंत वग्गो' नामक एक प्रकरण है। इसमें १० गाथाओं में अरहत का वर्णन किया गया है।

धम्मपद के अनुसार अरहंत वह हैं जिन्होंने अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर ली है, जो शोकरहित हैं, ससार से मुक्त हैं तथा जिन्होंने सब प्रकार के परिग्रह को छोड़ दिया है और जो कष्ट रहित हैं (धम्मपद अरहन्त वग्गो ९०)।

ऐसा अरहन्त जहाँ भी विहार करता है वह भूमि रमणीय और पवित्र है–

"यत्थारहतो विहरन्ति त भूमि रामणेय्यक" (धम्मपद अ ब ९२)

महात्मा बुद्ध ने कहा था—"भिक्षुओं, प्राचीनकाल में भी जो अरहंत तथा बुद्ध हुए थे उनके भी ऐसे ही दो मुख्य अनुयायी थे, जैसे मेरे अनुयायी सारिपुत्र और मोग्गलायन हैं। (सयुक्तनिकाय ५ १६४)

जैनागम में अरहत किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, वह तो आध्यात्मिक गुणों के विकास से प्राप्त होने वाला एक मङ्गलमय परमेष्ठी पद है—

> जिसने राग-द्वेष कामादिक जीते, सब जग जान लिया।
> सब जीवों को मोक्ष मार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया।
> बुद्ध, वीर, जिन हरि-हर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो।
> भक्ति भाव से प्रेरित हो यह, चित्त उर्मा में लीन रहो।। (मेरी भावना)

तत्त्वार्थसूत्र के मगलाचरण का अर्थ है—मोक्षमार्ग के नेता अर्थात् हितोपदेशी, कर्मरूप पर्वतों को चूर करने वाले अर्थात् वीतरागी, विश्व तत्त्वों के ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ को अरहन्त कहते हैं।

अर्हन्तों के अतिशय

> घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया।
> चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहता एरिसा होंति।। (नि, ६९)

जो निबिड आत्मगुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मो से रहित हैं, केवल असहाय अथवा अनन्त ज्ञान आदि सर्वोत्कृष्ट गुणों से सहित हैं और तीर्थंकर प्रकृति नाम कर्म के निमित्त से जन्म के दस अतिशय, घाति कर्म के क्षय से प्रगट हुए केवलज्ञान के दस अतिशय और उसी समय देवों द्वारा कृत चौदह अतिशय, अर्हन्त परमात्मा चौंतीस अतिशयों से युक्त हैं।

अरहन्त भगवान के ४६ गुण

चार अनन्त चतुष्टय, ३४ अतिशय और आठ प्रातिहार्य अर्थात् ४+३४+८=४६ अरहन्त परमात्मा के गुण हैं।

अनन्त चतुष्टय

अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य।

जन्म के १० अतिशय

(१) स्वेद रहितता, (२) निर्मलशरीरता, (३) दूध के समान धवल रुधिर, (४) वज्र ऋषभनाराच सहनन, (५) समचतुरस्र शरीर सस्थान, (६) अनुपम, (७) नृप-चम्पक के समान उत्तम गन्ध को धारण करना, (८) १००८ उत्तम लक्षणों के धारक, (९) अनन्त बल, (१०) हित मित एव मधुर भाषण ये स्वाभाविक अतिशय के १० भेद हैं जो तीर्थंकर के जन्म ग्रहण करते ही उत्पन्न हो जाते हैं।

भगवान् के १००८ लक्षण

श्रीवृक्ष, शख, कमल, स्वस्तिक, अकुश, तोरण, चमर, सफेद छत्र, सिहासन, पताका, दो मीन, दो कुम्भ, कच्छप, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, मनुष्य, स्त्रियाँ, सिह, बाण, धनुष, मेरु, इन्द्र, देवगगा, पुर, गोपुर, चन्द्रमा, सूर्य, उत्तम घोडा, तालवृन्त (पखा), बासुरी, वीणा, मृदग, मालाऐं, रेशमी वस्त्र, कुण्डल आदि को लेकर चमकते हुए चित्र विचित्र आभूषण, फल सहित उपवन, पके हुए वृक्षों से सुशोभित खेत, रत्नद्वीप, वज्र, पृथ्वी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, वृषभ, चूडामणि, महानिधियाे, कल्पलता, सुवर्ण, जम्बूद्वीप, गरुड, नक्षत्र, तारे, राजमहल, सूर्यादि ग्रह, सिद्धार्थ वृक्ष, आठ प्रतिहार्य, आठ मगल द्रव्य इन्हें आदि लेकर एक सौ आठ लक्षण और मसूरिका आदि नौ सौ व्यञ्जन भगवान के शरीर में होते हैं। (इस प्रकार १०८ लक्षण + ९०० व्यञ्जन =१००८) (म.पु. /१५/३८-४४)

केवलज्ञान के ११ अतिशय

(१) अपने पास से चारों दिशाओं में एक सौ योजन तक सुभिक्षता, (२) आकाश-गमन, (३) हिंसा का अभाव, (४) भोजन नहीं, (५) उपसर्ग का अभाव, (६) चतुर्मुख होना, (७) छाया रहितता, (८) निर्निमेष दृष्टि, (९) विद्याओं की ईशता, (१०) सजीव होते हुए भी नख व रोमों का नहीं बढना, (११) अठारह महाभाषा तथा सात सौ क्षुद्रभाषा युक्त दिव्यध्वनि। इस प्रकार घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए ये ११ अतिशय तीर्थङ्कर प्रभु के केवलज्ञान उत्पन्न होने पर प्रकट होते हैं। (ति प ८९९-९०६)

देवकृत १३ अतिशय

(१) तीर्थंकरों के माहात्म्य से सख्यात योजनों तक वन असमय में ही षट्ऋतुओं के पत्र व फल-फूलों से युक्त हो जाता है, (२) कंटक और रेती को दूर करती हुई मन्द-सुगन्ध सुखदायक वायु चलने लगती है, (३) जीव पूर्व वैर को छोडकर मैत्रीभाव से रहने लगते हैं, (४) भूमि

दर्पणतल के सदृश स्वच्छ और रत्नमय हो जाती है, (५) सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार देव सुगन्धित जल की वर्षा करते हैं, (६) देव विक्रिया से फलों के भार से नम्रीभूत शालि और जौ आदि सस्य को रचते हैं, (७) सब जीवों को नित्य आनन्द उत्पन्न होता है, (८) वायुकुमार देव विक्रिया से शीतल पवन चलाता है, (९) कूप और तालाब आदि जल से पूर्ण हो जाते हैं, (१0) आकाश धुआँ और उल्कापातादि से रहित होकर निर्मल हो जाता है, (११) सम्पूर्ण जीवों को रोगादि की बाधायें नहीं होती हैं, (१२) यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित और किरणों से उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्मचक्रों को देखकर सभी जनों को आश्चर्य होता है (१३) तीर्थंकरों की चारों दिशाओं व विदिशाओ में छप्पन सुवर्णकमल, एक पादपीठ और दिव्य एव विविध प्रकार के पूजन द्रव्य होते हैं (ति प ८९0६-९१४)

विशेष—ग्रन्थान्तरों में केवलज्ञान के १0 व देवकृत १४ अतिशयों का वर्णन पाया जाता है परन्तु "तिलोयपण्णत्ति" में केवलज्ञान के ११ व देवकृत १३ अतिशयों का वर्णन मिलता है। "दिव्यध्वनि" अतिशय को "ति प" के कर्ता आचार्य श्री ने केवलज्ञान के अतिशय में ग्रहण किया है जबकि अन्य आचार्यों ने इसे देवकृत अतिशय में ग्रहण किया है। इतना अवश्य है कि किसी ने भी किसी अभिप्राय से अतिशयों का वर्णन किया हो पर अतिशय ३४ से अधिक या कम नहीं होते अत सिद्धान्त से कहीं बाधा नहीं आती है।

भगवान् के ८ प्रातिहार्य

(१) अशोक वृक्ष, (२) तीन छत्र, (३) रत्नखचित सिंहासन, (४) भक्तियुक्त गणों द्वारा वेष्टित रहना, (५) दुन्दुभिनाद, (६) पुष्पवृष्टि, (७) प्रभामण्डल, (८) चौंसठ चमरयुक्तता। (ति प ४/९१५-९२७)

भाषा-प्रभा-वलयविष्टर-पुष्पवृष्टि
पिण्डिद्रुमस्त्रिदशदुन्दुभि-चामराणि।
छत्रत्रयेण सहितानि लसन्ति यस्य,
तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय ॥ (समवसरण स्तोत्र)

(१) दिव्यध्वनि, (२) भामंडल, (३) सिंहासन, (४) पुष्पवृष्टि, (५) अशोक वृक्ष, (६) देव-दुन्दुभि, (७) चौसठ चमर और (८) तीन छत्र।

अष्ट मंगलद्रव्य

भृंगार-ताल-कलश-ध्वज सुप्रतीक-
श्वेतातपत्र-वरदर्पण-चामराणि।

प्रत्येक-मष्टशतकानि विभान्ति यस्य,
तस्मै नमस्त्रिभुवनप्रभवे जिनाय ॥६॥ (स अ)

झारी, पखा, कलश, ध्वज, स्वस्तिक, श्वेत छत्र, दर्पण और चमर ये मगल द्रव्य हैं। इनमें से प्रत्येक १०८ द्रव्य जिनके शोभायमान होते हैं उन भुवनत्रयाधिपति जिनराज के लिए नमस्कार होओ।

भगवान अरहन्त में १८ दोषों का अभाव

छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिता-जरा-रुजा-मिच्चू।
स्वेद खेद मदो रइ. विम्हिय णिद्दा जणुव्वेगा ॥ (नि सा ६)

भूख, प्यास, भय, क्रोध, राग, मोह, चिता, बुढापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और अरति ये अठारह दोष हैं। अरहन्त भगवान मे ये अठारह दोष नहीं होते अत उन्हें परमात्मा कहते हैं। कहा भी है–

णिस्सेसदोसरहिओ, केवलणाणाइपरमविभवजुदा।
सो परमप्पा उच्चइ, तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥ (नि सा ६)

अर्हन्त के भेद

सात प्रकार के अर्हन्त होते हैं–(१) तीर्थंकर केवली (पाच, तीन व दो कल्याणक युक्त), (२) सतिशय केवली अर्थात् गधकुटी युक्त केवली, (३) सामान्य केवली, (४) उपसर्ग केवली, (५) समुद्घात केवली, (६) मूक केवली और (७) अन्तकृत् केवली।

सामान्य केवली की वाणी खिरती है, किन्तु गणधर नहीं होते। क्योंकि उनकी वाणी के द्वारा द्वादशाङ्ग की रचना नहीं होती और गणधर का मुख्य कार्य द्वादशाङ्ग की रचना करना है। सामान्य केवलियों की सभा में बीजबुद्धि आदि ऋद्धि-धारी विशेषज्ञानी आचार्य होते हैं।

अरहत अवस्था में किसी प्रकार का कोई उपसर्ग नहीं रहता। जिनको उपसर्गपूर्वक केवलज्ञान होता है वे उपसर्ग-केवली कहलाते है। अन्तकृत् केवली भी उपसर्ग सहित होते हैं। इनका वर्णन अन्तकृद्दशाग में पाया जाता है। अन्तकृत् केवली व मूक-केवली की गधकुटी नहीं होती।

जिन मुनियो को शेर ने भक्षण कर लिया अथवा जिनके सिर पर अग्नि जला दी गई, केवलज्ञान क प्राप्त होते ही इन उपसर्ग-केवलियों का शरीर पूर्ववत् साङ्गोपाङ्ग बन जाता है।

अरहन्त अवस्था में शरीर कटा-फटा या अङ्गहीन नहीं रहता। अरहंत अवस्था महान अवस्था है, साक्षात् भगवान हैं अत उनका शरीर अङ्गहीन या विद्रुप हो यह सभव नहीं है। वह शरीर

तो परमौदारिक बन जाता है। उसमें सप्त कुधातु नहीं रहतीं। आत्मा की पवित्रता से शरीर भी पवित्र हो जाता है। बारहवें गुणस्थान में सर्व निगोदिया जीव शरीर से निकल जाते हैं। आत्मा की विशुद्धता का प्रभाव पौद्गलिक शरीर पर पडता है और वह अशुचि शरीर भी महान पवित्र बन जाता है। (परमुव्य.कृपृ १७४)

केवली के विहारादि क्रियाओं का कर्तृत्वाकर्तृत्व— अरहंत भगवान के खडे होना, बैठना, विहार, धर्मोपदेश देना (नियत और अनियत समय पर वाणी खिरना) आदि सभी क्रियाएँ बिना इच्छा अथवा प्रयत्न के होती हैं अत इन क्रियाओं को स्वाभाविकी कहा गया है, किन्तु कर्मोदय से होती हैं इसलिए औदयिकी कहा गया है। आ श्री कुन्दकुन्दस्वामी प्रवचनसार में लिखते हैं—

> ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
> अरहंताण काले मायाचारोव्व इत्थीण ॥४४॥

अर्थात्—उन अरहंत देव के उस अवस्था में स्थान, आसन और विहार तथा धर्मोपदेश ये स्वाभाविकी क्रियाएं हैं, जैसे स्त्री के मायाचार, तद्गत पर्याय-स्वभाव के कारण, बिना प्रयत्न के होता है।

और भी कहा है—

> पुण्यफलाअरहंता तेसिं किरिया पुणो वि ओदइया।
> मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइगत्ति मदा ॥४५॥ (प्र सा)

पुण्य का फल अरहन्त अवस्था है। उनकी क्रिया (स्थान, आसन, विहार, दिव्यध्वनि) शुद्धात्मतत्त्व से विपरीत होने के कारण औद्योगिकी अर्थात् कर्म-जनित है। किन्तु ये क्रियाएँ मोहादि से रहित अर्थात् बिना ईच्छा व प्रयत्न के होती हैं इसलिए आगामी कर्मबन्ध का कारण नहीं होतीं, किन्तु इन क्रियाओं के द्वारा कर्म फल देकर क्षय को प्राप्त हो जाता है इसलिए इन क्रियाओं को क्षायिकी भी कहा गया है।

अरहन्त भगवान् के ये क्रियाएँ बिना इच्छा के होती हैं इस अपेक्षा से वे इन क्रियाओं को करते नहीं, किन्तु होती हैं। ये क्रियाएँ अरहत की पर्यायें हैं इस अपेक्षा से अरहंत भगवान कथञ्चित् इन क्रियाओं के कर्ता भी हैं।

महिमा—

> तेजो दिट्ठी णाण इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
> तिहुवणपहाणदय माहप्पं जस्स सो अरिहो ॥ (नि.सा/ता वृ/६)

तेज (भामण्डल) केवलदर्शन, केवलज्ञान, ऋद्धि (समवसरणादि), अनन्त सौख्य, ऐश्वर्य और

त्रिभुवनप्रधान वल्लभपना—ऐसा जिनका माहात्म्य है, वे अर्हन्त हैं। (ध १/१, १, १)। मोह, अज्ञान व विघ्नसमूह को नष्ट कर दिया है, कामदेव विजेता, त्रिनेत्र द्वारा सकलार्थ व त्रिकाल के ज्ञाता, मोह, राग-द्वेष रूप त्रिपुर दाहक तथा मुनिपति हैं, रत्नत्रयरूपी त्रिशूल द्वारा मोहरूपी अन्धासुर के विजेता आत्मस्वरूपनिष्ठ, तथा दुर्नय का अन्त करने वाले ऐसे अर्हन्त होते हैं।

देवाधिदेव, घातिकर्म विनाशक, अनन्त चतुष्टय प्राप्त, आकाश-तल अन्तरिक्ष में विराजमान, परमौदारिक देहधारी, ३४ अतिशय व अष्ट प्रातिहार्य युक्त तथा मनुष्य, तिर्यञ्च व देवों द्वारा सेवित, पञ्चमहाकल्याणक युक्त, केवलज्ञान द्वारा सकल तत्वदर्शक, समस्त लक्षणोंयुक्त उज्ज्वल शरीरधारी, अद्वितीय तेजवन्त, परमात्मावस्था को प्राप्त ऐसे अर्हन्त अनुपम महिमा के धारक होते हैं।

"अर्हति इन्द्रादिकृतपूजामिति अर्हन्त" जो इन्द्रादिकृत पूजा के योग्य हैं, वे अर्हन्त कहलाते हैं।

प्रश्न—अर्हन्त ऐसे होते हैं, जानकर क्या करना चाहिए?

उत्तर—अर्हन्त का उनके द्रव्य-गुण-पर्यायों से चिन्तन करना चाहिए। कहा भी है—

जो जाणदि अरहंत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ (८० प्र. सा.)

अर्थ—जो अरहन्त को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है, उसका मोह अवश्य नाश को प्राप्त होता है।

प्रश्न—अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय किस प्रकार जाने जाते हैं?

समाधान—श्री अरिहन्त भगवान के केवलज्ञानादि विशेष गुण है, अस्तित्व आदि सामान्य गुण हैं। परमौदारिक-शरीराकार रूप में आत्मप्रदेशों का अवस्थान द्रव्य-व्यञ्जन पर्याय है। अगुरुलघुगुण के द्वारा जो षड्गुण वृद्धि-हानि रूप जो प्रति समय परिणमन है व शुद्ध अर्थ पर्याय है। इन गुण व पर्यायों के आधारभूत जो असंख्यात प्रदेश है वह द्रव्य है।

प्रश्न—अरिहन्त को उनके द्रव्य-गुण-पर्याय से जानकर क्या करना चाहिए?

उत्तर—उन्हें नमोऽस्तु करना चाहिए। कहा भी है—

अरहंतणमोकारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

जो प्रयत्नमति होकर भावपूर्वक अरहन्तदेव को नमस्कार करते हैं, वे बहुत थोड़े ही काल में सर्व दुःखों से छुटकारा पा लेते हैं। ऐसा जानकर सर्व कर्मों का क्षय करने के लिए अर्हंत भगवान की भक्ति करते हुए और शुद्ध नय से "मैं अर्हंत स्वरूप हूँ" ऐसी भावना करते हुए

तब तक उनका आश्रय लेना चाहिए, जब तक कि अपना आत्मा अर्हंत स्वरूप में परिणत न हो जावे।

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

तीर्थंकर और उनके पंच-कल्याणक

गर्भ-कल्याणक

❑ *ब्र सूरजमल प्रतिष्ठाचार्य*

सत्कथा वही कहलाती है कि जिसके सुनने से हेय और उपादेय का निर्णय हो। परम पुरुष के जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का स्मरण, पथ-प्रदर्शक बन जाता है, अनुकरण की एक दिशा दे जाता है। जैन वाड्मय में तीर्थ-पुरुषों की जीवन-गाथाओं का उल्लेख मिलता है। उनके जीवन-वृत्त में से सर्वाधिक महत्त्व की पॉच घटनाओं का ही वर्णन आदर्श रूप में स्वीकार किया गया है, जो ध्यान व भक्ति का साधन भी है और माध्यम भी है। तीर्थंकर का जीवन सर्वाधिक पुण्यप्रकृतियों का एक संयोग है, परिणाम है—पूर्ववर्ती निर्मल भावनाओं का, निर्मल श्रद्धा, ज्ञान व आचरण का। पुराणों में उल्लेख है कि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन, मनन और तदनुरूप आचरण न केवल चित्त को हल्का व निर्मल करता है, अपितु पुण्यवर्गणाओं के प्रवाह को एकत्रित कर बल जुटाता है, व मुक्ति हेतु क्षमता प्रदान करता है। देव, गुरु व शास्त्र के प्रति सम्यक् श्रद्धा, विनय, भक्ति, जीवन में शील का पालन, स्वाध्याय, सामायिक, त्याग-तपयुक्त आचरण और साधुसमाधि से उसकी दृढता अपने जीवन को जहॉ परिष्कृत व शुद्ध करती है, वहीं वह धारा उमडकर वैयावृत्ति, प्रवचन, प्रभावना व वात्सल्य द्वारा सामाजिक जीवन के दायित्वों के निर्वाह के लिए प्रेरणा देती है।इस प्रकार अपने जीवन में भावनाओं का निर्मलीकरण, उनकी पुष्टि हेतु आचरण और फिर सामाजिक दृष्टि से सेवा व दिशा निर्देशन, जीवन जीने का एक प्रशस्त मार्ग है, जिसके परिणामस्वरूप बध होता है—तीर्थंकर प्रकृति का। पुद्गल परमाणु पुण्य रूप जुटने लगते हैं, बल और सयोग सुलभ होते हैं। ऐसे अवसर उन्हें मिलें, जो ऐसा जीवन जी सके, वे तीर्थपुरुष हमारे जीवन के आदर्श हैं, जीने की कला सिखाने के लिए एव सर्वोत्तम उपलब्धियों की प्राप्ति के लिए उदाहरण हैं।

द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता, पर्यायें उत्पाद व्यय रूप होती हैं। यह एक विज्ञानसम्मत तथ्य है। जीव की चेतनता सभी द्रव्यों से विलक्षण है। भावनाऍ मूल हैं—तदनुरूप आचरण क्रिया है और फिर उसका परिणाम, फल, पुन भावनाओं व अवसर का सृष्टा बन जाता है और भ्रमण का चक्र साइकिल के पहिए की भॉति घूमने लगता है। उसमें विराम का स्थान नहीं है, ठहरने की गुजाइश नहीं है, मात्र आवश्यकता है एक मोड की, जो दिशा बदल दे, मिथ्या प्रपचों से सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान व आचरण की ओर मोड दे। फिर गति मिले और पॉव मजिल

की ओर बढने लगें—राह सुगम हो। परमपुरुषों की जीवनघटनाऍं सबल बन कर पथ पर बढने वालों को निर्देशन व दृढता प्रदान करती रहे। उदाहरण हमारे भी जीवन का अग बन जाए, जीवन में घट जाए। ऐसे ही परम उद्देश्य से उन परम पुरुषों के बिम्बों की प्रतिष्ठापना की जाती है। उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं के पवित्र स्मरण को, शब्द-अर्थ को बीजाक्षरों के उच्चारण से अलकृत कर एक निर्मल व तेजोमय वातावरण का निर्माण किया जाता है और भक्तिपूर्वक त्याग-तपरूप क्रियाओ-भावनाओं के अनुरूप साक्षात् अभाव की पूर्ति हेतु प्रतिष्ठापना क्रिया सपन्न की जाती है।

तीर्थंकरों के पुण्य व बल की कोई सीमा नहीं होती। ऐसे पुण्यपुरुषों के आगमन के अवसर पर सभी पुण्य सयोग जुट जाते हैं। सभी प्रकार की सुख-समृद्धि, शान्ति और आनन्द का वातावरण सहज प्रकट हो जाता है। तीर्थंकर का जीव जहाँ स्वर्ग से चय होने के निकट होता है और देवायु मात्र छ मास शेष रह जाती है, तब ही इन्द्र अवधिज्ञान से जानकर कि तीर्थंकर गर्भ में आयेंगे, इसकी सूचना कुबेर को देता है और कुबेर इन्द्र की आज्ञा पाकर पंचाश्चर्य प्रकट करता है। नित्य साढे तीन करोड प्रमाण रत्नों की वर्षा, मद सुगन्ध पवन का बहना, पुष्पवृष्टि का होना, दुन्दुभिवादन व जयघोष से समस्त वातावरण आह्लादित हो उठता है। इस प्रकार गर्भावतरण के छ माह पूर्व से जन्म होने तक ये पचाश्चर्य नित्य प्रति दिन होते हैं।

सुख-आनन्द का समय व्यतीत होता है कि एक रात्रि के पिछले प्रहर में तीर्थंकर की माता जब सुखपूर्वक सो रही होती है, वह सोलह स्वप्न देखती है और अन्त में मुखकमल से प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखती है। प्रातकालीन मगल वाद्ययन्त्रों की ध्वनि से जाग कर, स्नान विलेपन आदि कार्य सम्पन्न कर मगलीक वस्त्र व आभूषण धारण कर वह प्रसन्नचित्त से अपने पति के समीप जाती है और स्वप्नों का वृत्तात कहकर उनका फल जानने की इच्छा प्रगट करती है। तदुपरान्त तीर्थंकर के पिता अवधिज्ञान से विचारकर फल बतलाते हैं कि स्वप्न में जो ऐरावत हाथी देखा है, उसका फल है कि तुम्हारे उत्तम पुत्र होगा। बैल देखने से वह लोक में सबसे बडा होगा।श्वेत सिह के देखने से वह अनन्त बल का धारी होगा। लक्ष्मीदर्शन से उसका सुमेरु पर्वत पर देवों द्वारा अभिषेक किया जावेगा व दो मालाओं के देखने से वह तीर्थ का प्रवर्तक होगा, निश्चय व व्यवहार धर्म का मार्ग प्रशस्त करेगा। पूर्ण चन्द्रमा देखने से वह ससार को सुख देने वाला तथा सूर्य को देखने से तेजस्वी होगा। मीन-युगल का दिखाई देना सकल सुखों को भोगने का परिचायक है। सुवर्ण कलश देखने से बडी निधि का स्वामी तथा सरोवर देखने से उत्तम लक्षण वाला होगा। सागर देखने से वह गभीर होगा और सिहासन देखने से वह तीन लोक का नाथ होगा। देव विमान दिखाई देने से वह स्वर्ग से आकर जन्म लेगा और धरणेन्द्र का भवन दिखाई देने से वह जन्म से मति, श्रुत, अवधिज्ञान का धारी होगा। रत्नराशि देखने के फलस्वरूप वह गुणों की खान होगा। निर्धूम अग्नि देखने से वह कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाला होगा। स्वप्नों के अन्त में वृषभ अथवा हाथी के मुख में प्रवेश करने

का फल है कि ऐसे उत्तम गुणों के धारी जगप्रधान तीर्थंकर तुम्हारे गर्भ में आयेंगे। स्वप्न फल सुनकर माता के तन-मन हर्षांकुरों से व्याप्त हो जाते हैं। इस प्रकार शुभ घटनाओं के संकेत पहले से ही मिलने लगते हैं।

तीर्थंकर के गर्भावतरण का समय जानकर सभी इन्द्र वहाँ आते हैं और नगर की प्रदक्षिणा देकर गर्भ में स्थित भगवान को व माता-पिता को नमस्कार कर और संगीत और वाद्ययन्त्रों से गुंजित वातावरण में गर्भोत्सव सम्पन्न कर तथा नियोग साधकर चले जाते हैं।

माता के गर्भ में आए हुए बालक का पुण्य, उसके गुण व भाग्य सभी बाह्य वातावरण को प्रभावित करते हैं। श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी षट्कुमारी देवियाँ तीर्थंकर की माता की सेवा करने हेतु आती हैं और सेवारत होती हैं। माता को इस प्रकार प्रसन्न रखती हैं तथा गूढ तथा सरस तत्त्वचर्चा सम्बन्धी प्रश्न व पहेलियाँ पूछ कर माता से समाधान प्राप्त करती हैं व माता का मन प्रमुदित करती हैं। इस प्रकार नियोगिनी देवियाँ गर्भशोधन से लेकर तीर्थंकर के जन्म तक माता की परिचर्या करती हैं।

साकार की भक्ति आराधना—एक तन्मयता है, आकर्षण है और साधन है—जीवन में आध्यात्म के प्रवेश का। गर्भ से पूर्व व गर्भकालीन नियोगी घटनाओं के चितवन से कारण-कार्य सिद्धान्त की पुष्टि होती है। शुभ का जन्मदाता है—शुभ चिंतवन, महिमा व गुण चिंतवन के कारण मन की एकाग्रता में, शुद्धि में, बल संयोजन में यह सहायक होता है। चिंतवन ध्यान का आधार है, प्रारम्भ है। इसी आशय से नवनिर्मित जिनबिम्ब की शुद्धि करने के लिए पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव सम्पन्न कर, वास्तविक पंचकल्याणक के स्मरण चिंतवन सहित, बिम्ब में तीर्थंकर की प्रतिष्ठापना की जाती है। तीर्थंकर की जीवन्त घटनाएं आत्मवैभव का उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जो सुर, नर, नाग आदि सभी द्वारा पूज्य व चिंतवन योग्य हैं।

जन्म-कल्याणक

❑ *ब्र. धर्मचंद शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य*

गर्भावतरण के नव मास व्यतीत होने पर तीर्थंकर का जन्म होता है। उसके प्रतीक रूप में जन्म-कल्याणक महोत्सव मनाया जाता है। देवांगनाओं द्वारा परिचर्या में माता की गर्भकालीन अवधि प्रसन्नता और परम विवेकपूर्ण हास-परिहास में सहज ही व्यतीत हो जाती है। गर्भावधि पूर्ण होने पर शुभ व सुमंगल नक्षत्रों के अत्यन्त शुभ संयोग से निश्चित आनन्ददायक मुहूर्त

में तीर्थंकर-कुमार का जन्म होता है।

जन्म होता है एक महान् पुरुष का, एक तीर्थ-प्रवर्तक का। उस नर-रत्न के आगमन पर शुभ संयोग अनायास ही, नियोगवश जुट जाते हैं। शान्ति के सारे परमाणुओं का पुंज तीर्थंकर का सुन्दर शरीर जन्म के दस अतिशयों से युक्त होता है। अतिशय सुन्दर रूप होता है उनका, जिनकी ससार में कोई उपमा नहीं होती। नयनाभिराम रूप को देखकर, मन भरता ही नहीं। तन से सुगन्ध निकलती है। उनके पसीना नहीं आता, उनके निहार नहीं होता। प्रियहित ध्वनि से युक्त, वे अतुल्य बल के धारी होते हैं। उनके शरीर में रक्त का वर्ण श्वेत होता है। सारी देह १००८ सुलक्षणों से युक्त होती है। सुडौल व समचतुष्क-सस्थान-युक्त, परम औदारिक देहधारी वे वज्रवृषभनाराचसहनन के धारी होते हैं।

इन अतिशयों से युक्त तीर्थंकर का जब जन्म होता है, आकाश और दिशाएँ निर्मल हो जाती हैं। तीनों लोकों में अपार आनन्द फैल जाता है। आनन्द के वे क्षण, समस्त लोकों के त्रासहारी होते हैं। मन्द पवन सुख शान्ति के वातावरण में सुगन्ध भर जाता है। तभी स्वर्ग मे घंटे बजने लगते हैं, ज्योतिषी देवों के भवनों में सिहनाद होता है, भवनवासियों व व्यन्तरों के निवास-स्थानों मे शख व भेरियां स्वत बज उठती हैं। कल्पवृक्षों से पुष्पवर्षा होती है और अनहद बाजे बज उठते है। इन्द्रासन कपायमान होते हैं। इन लक्षणों के प्रकट होने पर इन्द्र अवधिज्ञान से जान लेता है कि मध्य लोक में तीर्थंकर प्रभु का जन्म हुआ है। विनय, भक्तिपूर्वक वह अपने सिंहासन से उठकर उस तीर्थपुरुष को बारम्बार नमन करता है।

फिर सब इन्द्र अपने अनेक प्रकार के वाहनों पर आरूढ होकर सौधर्म इन्द्र के पास आते हैं। नागदत्त और अभियोग जाति के देव अपने नियोग से विक्रिया करते हैं। सौधर्म इन्द्र की आज्ञा पाकर देव ऐरावत हाथी का सुन्दर रूप बना लेते हैं। कमलिनी के मध्य खिले सुन्दर कमल की पखुड़ियों पर, नृत्य करती हुई देवांगनाओं सहित तथा ढुरते चवरों के बीच, इन्द्र-इन्द्राणी उस हाथी पर आरूढ होकर, कल्पवासी देवों को साथ ले वाद्ययन्त्रों से गुंजित मनोहारी वातावरण में, विक्रिया से बने हाथी, रथ, पैदल, बैल, घोड़े, गायक और नर्तकी आदि की सतरंगिनी सेना सहित जन्मोत्सव मनाने हेतु चल पडते हैं। केवल अहमिन्द्रजन नहीं आते। वे अपने-अपने स्थान पर ही उठकर, आगे बढकर भगवान को परोक्ष नमन करते हैं। शेष सभी इन्द्र-इन्द्राणी अपने देवों सहित आते हैं। आकाश मार्ग से धूमधाम से, उत्साहपूर्वक आकर तीर्थंकर के जन्मस्थान तक आते हैं। नगर की प्रदक्षिणा देकर राजमहल में सब इन्द्र-इन्द्राणी एकत्रित होते हैं। दिक्कुमारी देवियाँ जातकर्म करती हैं।

तत्पश्चात् इन्द्र की आज्ञा पाकर इन्द्राणी प्रसूतिगृह में जाती है। माता और पुत्र की प्रदक्षिणा देकर प्रणाम करती है। माता को मायामयी सुख-निद्रा में सुलाकर, वह कुमार के अलौकिक सुन्दर रूप को अपलक निहारने लगती है, हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर स्तुति करती है और

फिर मायामयी पुत्र वहाँ रखकर तीर्थंकर कुमार को अपने हस्तकमलों से उठाकर लाती है। कुमार के शरीर का स्पर्श, भक्ति-जन्य सुख को अनेक गुणा कर देता है। दिशाओं में दिक्कुमारियों के मगलाचार के साथ बालक को लाने पर इन्द्र सिर झुकाकर, बारम्बार नमन कर उस अलौकिक रूप को देखने लगता है। दर्शन से अतृप्ति के कारण एक सहस्र नयन बनाकर देखने पर भी उसका मन तृप्त नहीं होता। सौधर्मेन्द्र भगवान को गोद में लेता है और अन्य कोई इन्द्र मस्तक पर छत्र करता है, तो कोई चँवर ढोरता है, तो कोई जयघोष से अपनी भावनाएँ व्यक्त करता है। देवागनाओं के नृत्य, गधर्व देवों के यशोगान, किन्नरियों के वीणावादन से झकृत वातावरण में सौधर्मेन्द्र, भगवान को ज्योतिष-पटल लॉघकर सुमेरु पर स्थित पाण्डुकवन में पाण्डुशिला पर ले जाता है। अष्टमगल द्रव्यों से सुसज्जित आसन पर प्रभु को विराजमान कर कुबेर द्वारा मेरु पर्वत से क्षीरसमुद्र तक निर्मित सीढियों पर खडे होकर देव १००८ कलश भरकर लाते हैं। सर्वप्रथम सौधर्मेन्द्र व फिर अन्य इन्द्र प्रभु का अभिषेक करते हैं। अतुल बलधारी तीर्थंकर कुमार पर उस जलधारा के फलस्वरूप मन्द बयार से उछल-उछल कर फुहार इधर-उधर फैल जाती है और समस्त दिशाओं के वातावरण को परम शातिदायक परमाणुओं से सिक्त करती है। प्रभु के अभिषेक के समय के सुन्दर व नयनाभिराम दर्शन अनेक जन्म के पापो को धाने में समर्थ होते हैं। अभिषेक के पश्चात् इन्द्राणी भगवान के शरीर को पवित्र वस्त्र से निर्जल कर अनेक विलेपन, व श्रगार करती है, तिलक लगाकर मुकुट और आभूषण पहनाती है। इन्द्र भक्तिपूर्वक पूजा आराधना करता है और विधिपूर्वक जन्माभिषेक सम्पन्न कर उसी धूमधाम से कुमार को वापिस पिता के घर लाता है। माता की मायामयी निद्रा दूरकर इन्द्र सब वृतान्त बताता है और माता-पिता की स्तुति करता है। राजा भी पुत्र जन्म का उत्सव करते हैं। इन्द्र ताडव नृत्य करता है और बालक के अँगूठे में अमृत भरता है। इस प्रकार नाट्य-नाटिका, नृत्य आदि जन्मोत्सव सम्पन्न कर सभी देव अपना नियोग साधकर स्वस्थान को चले जाते हैं।

तीर्थंकर भव अन्तिम भव है। उनके दर्शन पापनाशक व पुण्यदायक हैं इसीलिए इन्द्रादिक देव उनकी पूजा भक्ति आदि कर अपने को कृतार्थ करते हैं।

आनन्द और आह्लाद, पूजा-अभिषेक, भक्ति और साधना का प्रतीक जन्मकल्याण का स्मरण, चिन्तवन और तन्मयता के लिए आधार है। मानसपटल पर इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्य तीर्थंकर के जन्माभिषेक का चित्रण अनुभूति की जिस कगार पर ले जाता है, उस पुण्य के मूल की ओर दृष्टिपात करना ही अध्यात्म की जिज्ञासा है, प्रारम्भ है।

जो जन्माभिषेक का वर्णन सुनकर, तीर्थंकर और उसके कल्याणक की महिमा अपनी शुभ भावनाओं की तूलिका से अपने मानसपटल पर अकित करता है व भक्तिपूर्वक तन्मय होकर अर्घ्य चढाता है, वह अन्य बाह्य प्रपचों से मुक्त होकर पुण्य के उस सर्वोत्कृष्ट परिणाम का बीजारोपण करता है, जो बंधन से मुक्ति की ओर ले जाने में, ज्ञान का आवरण हटाने व बल प्रकट करने के लिए समर्थ बनाता है। वह पापतिमिर का, अज्ञान का नाश करता है और स्वय

के कष्टों का निवारण करता है।

✧✧✧

तप-कल्याणक

❑ *क्षु. राजमतीजी*

तीर्थंकर के जीवन की तीसरी महान् घटना उनका तप-कल्याणक है। गर्भ और जन्म के अत्यन्त शालीन और वैभवपूर्ण कल्याणक इन्द्रादिक देवों ने सम्पन्न किए थे। तीर्थंकर के जीवन के पॉचो कल्याणकों के अवसर पर इन्द्रादिक देव नियोग से अपने दायित्व का निर्वाह कर महोत्सव मनाते हैं। तीर्थंकर कुमार जन्म के पश्चात् देवकुमारों सहित क्रीडा करते हुए यौवन को प्राप्त होते हैं और भोगादि के मध्य वह घडी आ जाती है, जब जीवन का एक दिशा-मोड होता है।

भोग और मुक्ति के मध्य तपकल्याणक एक मोड है, दोनों के बीच सेतुरूप है, जीवन की एक महत्त्वपूर्ण कडी है, भोगों से विरक्ति और उनका त्याग, तप और साधना का प्रारम्भ है और अनन्त श्रद्धा, ज्ञान, बल, सुखपूर्ण सम्पन्नता के लिए कटिबद्धता है। जीवन की सार्थकता के लिए एक अपूर्व दृढ सकल्प—ससार मे विरागता एव उदासीनता है।

जीवन की कोई एक घटना-विचार का केन्द्र बिन्दु बन जाती है। विचार-तरंगों का वर्तुल बढता ही जाता है। भोगों से कभी तृप्ति नहीं होती, तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। भोगों की चाह नहीं मिटती, बल्कि बढती जाती है। इन्द्रिय-सुख प्रारम्भ में रुचिकर और परिणामत दु खदायी होते हैं। भटकन है, अनिश्चितता है, अज्ञान की स्थिति है। कषायें (क्रोध, मान, माया, लोभ), पॉच पाप (हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह) की जननी है। आरम्भ और उपाधियों का विचार घोर दु ख का कारण है। सयम के बिना जीवन की ससारोन्मुख गति में कभी विराम नहीं आ सकता, रोक नहीं हो सकती।

संसार अनित्य है, जो जन्मा है वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होगा। कोई किसी का शरणदाता नहीं है। तृष्णा ही दु ख का कारण है। जीव अकेला है, उसका कोई साथो नहीं है। यह शरीर भी अपना नहीं है, भीतर से घिनावना है। मोह के कारण जीव अचेत है। सत्गुरु का उपदेश ही तद्रा भंग कर सकता है, ज्ञान और साधना का मार्ग बता सकता है, पॉच समिति व महाव्रत के त्रिगुप्ति सहित पालन बिना कर्म डोर टूटने वाली नहीं है। धर्म और ज्ञान ही जीवन में सबसे दुर्लभ हैं।

किसी घटना को लेकर ससार की असारता का विचार आने पर तीर्थंकर को ससार की स्थिति का विचार होता है, जीव की स्थिति क्या है, इसका भान होता है। व्यवहार से पच-परमेष्ठी का जाप और निश्चय से आपको आप ही शरण है। धर्म-साधन के बिना मोक्ष की ओर गमन नहीं है।

तीर्थंकर के जीवन में वैराग्य के अकुर फूटते देख, नियोगवश ब्रह्मलोक अर्थात् पॉचवें स्वर्ग में रहने वाले सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ प्रकार के शुभ लेश्या वाले, शान्त ऋद्धिधारी, स्त्री सम्बन्धी राग से रहित व एक जन्म लेकर मोक्षगामी होने वाले लौकान्तिक देव वहॉ आकर तीर्थंकर की भक्तिसहित पूजा करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि विराग की इस खड्ग से कर्मशत्रु को जीत कर मोक्ष को प्राप्त कीजिए और मुक्ति का वरण करने हेतु पथ पर बढ कर ससारी जनों के अनुगमन हेतु पथ-प्रदर्शन कीजिए।

इस प्रकार देव पूजा स्तुति कर, वैराग्य भावना को दृढ करा कर और अपना नियोग साध कर चले जाते हैं। तत्पश्चात् इन्द्रादिक चार प्रकार के देव तीसरा कल्याणक मनाने हेतु आते हैं। महोत्सव की तैयारी के निमित्त मगलसूचक कार्य, चौक आदि का पूरना, मगल गीत गाना, देवागनाओं द्वारा नृत्य करना आदि सम्पन्न किए जाते हैं। इन्द्रादि देव क्षीरसमुद्र का जल लाकर, आसन पर प्रभु को विराजमान कर, उन्हे स्नान कराते हैं और वस्त्राभूषण पहिना कर, चन्दन आदि से अर्चित करते हैं। फिर भगवान सभी परिजनों को प्रतिबोध कर, समझाकर इन्द्र द्वारा लाई हुई पालकी में जा विराजते हैं।

मगल ध्वनि व पुष्प-वृष्टि के बीच सर्वप्रथम भूमिगोचरी राजा पालकी उठा कर, चवर ढोरते हुए सात कदम चलते हैं, फिर विद्याधर राजा उसी भाति पालकी उठाकर सात कदम चलते हैं। तत्पश्चात् इन्द्रादि देव पालकी उठाकर भगवान को आकाशमार्ग से वन को ले जाते हैं। निश्चित स्थान पर इन्द्राणी घने वृक्ष के नीचे स्वच्छ शिला पर स्वस्तिक का चिह्न अंकित करती है। पालकी से उतर कर भगवान शिला पर उत्तर की ओर मुख करके विराजते हैं। वे अपने वस्त्राभूषण उतार देते हैं और पचमुष्टि केश लुचन करते हैं।

इस प्रकार नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण कर वैराग्य सहित हाथ जोडकर सिद्धों को नमन करते हैं और ध्यानमग्न हो आत्मचिन्तन करते हैं । अन्य राजा भी तब जिनदीक्षा धारण करते हैं। तीर्थंकर स्वय ही दीक्षा लेते हैं क्योंकि वे जगद्गुरु है। इन्द्रादि देव पूजा आदि कर अपना नियोग साधकर चले जाते हैं। इन्द्र भगवान के केश क्षीरसमुद्र में ले जाकर प्रवाहित कर देता है।

सयम और आत्म-साधना के बल से सभी तीर्थंकरों को मन पर्यय ज्ञान होता है। भगवान का जहॉ आहार होता है, वहॉ पचाश्चर्य प्रगट होते हैं। मुनियो के अट्ठाईस मूलगुण व उत्तरगुण चौरासी लाख होते हैं। सब गुणों का मन, वचन, काय से पालन करते हुए वे आत्म-साधना

में लीन रहते हैं। कर्म-बन्धन नष्ट होने लगते हैं, उनकी निर्जरा होने लगती है।

तप-कल्याणक की यह गाथा सभी जनों का ध्यान ससार की असारता की ओर आकर्षित करती है। भवभ्रमण से छुटकारा पाने हेतु यह एक निर्देश सूचक है। निसग (अपरिग्रही) हुए बिना—मोह से छुटकारा नहीं मिल सकता। तिलतुषमात्र परिग्रह भी भव-भ्रमण का कारण होता है। नग्न दिगम्बर वीतरागी मुद्रा धारण कर मन, वचन, काय की एकाग्रतापूर्वक आत्म-चिन्तन बिना सकल चारित्र-शुद्धि असम्भव है। तप-कल्याण की घटना दृढ सकल्प का एक अनुपम उदाहरण है। दृढ सकल्प से ही जीवन की दिशा मोडी जा सकती है।

तप-कल्याणक का चिन्तवन साधारण स्थिति में भी मन को विकारों से मुक्त कराने में सहायक है। इससे मन की वृत्तियाँ शान्त होती हैं, समता का महत्त्व स्पष्ट होता है, अभाव और असन्तोष के व्यूहजाल के प्रति उपेक्षा होती है, लालसाओं का शमन होता है। यह पापनाशक है और पुण्य का कारण है।

पुण्य की महती सासारिक उपलब्धियों से मुंह मोड कर जो इस शक्ति को आत्मचिन्तन व साधना मे लगाते हैं, वे स्वय इस ससार-सागर से पार होते हैं, और अन्य जनों के लिए भी अनुकरणीय होते हैं।

ज्ञान-कल्याणक

❑ *आर्यिका श्रुतमतीजी*

जगत में जब घोर अन्धकार फैल जाता है तब नेत्र होते हुए भी मानव अन्धे के सदृश हो जाता है, किन्तु इस पौद्गलिक अन्धकार से भी गाढ अन्धकार मिथ्यात्व का है, जिसके कारण यह ज्ञान स्वभावी आत्मा अपने स्वरूप का श्रद्धान नहीं कर पाता परन्तु जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अधकार विलीन हो जाता है उसी प्रकार तीर्थंकर रूपी धर्मसूर्य के उदय होते ही जगत मे फैला हुआ मिथ्यात्व (मिथ्या अन्धकार) भी प्राणियों के अन्तःकरण से दूर भाग जाता है और कुछ आत्म-बोध होने लगता है। इस धरातल पर तीर्थंकर कब उत्पन्न होते हैं इसके लिए आचार्यों ने बतलाया है कि—

आचाराणा विघातेन कुदृष्टीना च सपदा।
धर्मग्लानि परिप्राप्तमुच्छ्रयन्तो जिनोत्तमा ॥ (पद्मपुराण)

जब उत्तम आचार का विघात होता है, मिथ्यादृष्टियों के पास लक्ष्मी की वृद्धि होती है, सच्चे धर्म के प्रति ग्लानि उत्पन्न होने लगती है तब तीर्थंकर उत्पन्न होकर धर्म का प्रवर्तन करते हैं। सभी तीर्थंकर भगवान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र से युक्त होते हैं। जिनेन्द्रवाणी के द्वारा जीव अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनाता है तथा मनुष्य गति में ही केवली एव श्रुतकेवली के पादमूल में षोडषकारण भावना को भा कर तीर्थंकर प्रकृति का बध करता है।

तित्थयरबधपारंभया णरा केवलिदुगते। (गो कर्मकाड)

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति होती है। इस अवसर्पिणी काल की अपेक्षा वृषभदेव आदि महावीर-पर्यंत चौबीस तीर्थंकर श्रेष्ठ पुरुष हुए हैं। पचकल्याणक तीर्थंकरों के ही होते हैं।

इस संसार को पच प्रकार के संकटों, अकल्याणों की आश्रयभूमि माना गया है। उनको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा भवरूप पंचपरावर्तन कहते हैं। तीर्थंकर भगवान के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान तथा मोक्ष कल्याण के स्वरूप का चिन्तन करने वाले सत्पुरुषों को उक्त पच परावर्तन रूप ससार में परिभ्रमण का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। उनके कल्याणस्वरूप जीवन के प्रसाद से पाच प्रकार के अकल्याण छूट जाते हैं तथा यह जीव पचमगति अर्थात् सिद्धगति को प्राप्त करता है।

तीर्थंकर दीक्षा लेकर तप रूप अग्नि के द्वारा कर्मरूप ईंधन को जलाने के लिए उद्यत होते हैं तथा एकत्ववितर्क शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं। पूर्ण ज्ञान उत्पन्न होने तक मौन रखते हैं। सर्वप्रथम वे मोहनीय कर्म को जडमूल से नष्ट करने के लिए विशिष्ट सामग्री एकत्र करते हैं। यथा मोहशत्रु के क्षय करने के लिए इन्द्रियसयम को सिर की रक्षा करने वाला टोप और प्राणिसयम को शरीर-रक्षक कवच, और उत्तमध्यान को जयशील अस्त्र बनाकर एक ही प्रहार मे मोहराज को नष्ट कर देते हैं। पश्चात् बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में पूर्ण निर्ग्रन्थ पदवी के स्वामी होते हैं। और अन्तर्मुहूर्त्त में शेष तीन घातिया कर्मों का युगपत् नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। सर्वज्ञता की उपलब्धि में बाधक ज्ञानावरण कर्म है। मोहक्षय के पश्चात् ही वीतरागता और विज्ञानता की प्राप्ति होती है। जैन सिद्धान्त में मोहविजय को ही पूज्यता का कारण माना है। अल्पज्ञानी भी मोह को जीतने मे पूज्यता को प्राप्त हुए; जैसे शिवभूति मुनि द्रव्यश्रुत के अभाव होने पर भी केवली हो गये।

चार घातिया कर्मों के क्षय से अर्हन्तपद की प्राप्ति होती है।

वृषभस्य श्रेयसोमल्ले पूर्वाह्णे नेमिपार्श्वयो ।
केवलोत्पत्तिरन्येषामपराह्णे जिनेशिनाम्। (हरिवश पुराण)

वृषभनाथ, श्रेयासनाथ, मल्लिनाथ, नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ इन पाच तीर्थकरों ने पूर्वाह्ण में केवलज्ञान प्राप्त किया था। शेष जिनेन्द्रों ने अपराह्ण काल में केवलज्ञान प्राप्त किया था। केवलज्ञान

ज्योति के कारण भगवान यथार्थ में देवाधिदेव बन जाते हैं। अकलक स्वामी ने कहा भी है—

> त्रैलोक्यं सकल त्रिकालविषय सालोकमालोकित,
> साक्षाद् येन यथा स्वयं करतले रेखात्रय सागुलि।
> रागद्वेष-भयामयान्तक-जरा-लोलत्व-लोभादयो,
> नाल यत्पद-लङ्घनाय स महादेवो मया वद्यते॥१॥

जिन्होंने करतल की अगुलियों महित तीन रेखाओं के समान त्रिकालवर्ती लोक का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया है तथा जिनके पद का उल्लंघन करने में राग, द्वेष, भय, रोग, मृत्यु, बुढापा, चचलता लोभादिक समर्थ नहीं है मैं उन महादेव को प्रणाम करता हूँ।

आदिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने स्वयभूस्तोत्र में कहा है—

> स्वदोष मूल स्व समाधि-तेजसा, निनाय यो निर्दय-भस्मसात्क्रियाम्।
> जगाद तत्त्व जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा, बभूव च ब्रह्मपदा मृतेश्वर ॥४॥

भगवान ने आत्मध्यान के तेज द्वारा अपनी आत्मा के दोषों को जडमूल से निर्दयतापूर्वक नष्ट कर दिया तथा उपदेशामृत के आकाक्षी जगत को वास्तविक तत्त्व का उपदेश दिया और ब्रह्मपद अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप अमृत पदवी को प्राप्त किया। इस प्रकार सर्वज्ञ अवस्था को प्राप्त तीर्थंकरों की अचिन्त्य, एव अद्भुत महिमा है।

जिस समय भगवान केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं उस समय तीनों लोकों में हलचल मच जाती है, ससार का सताप दूर हो जाता है, कल्पवासी देवों के यहाँ घण्टानाद, ज्योतिषी देवों के सिहनाद, व्यतरवासियों के पटहध्वनि तथा भवनवासी देवों के यहाँ शखध्वनि होती है।

समस्त इन्द्रों के आसन बडे जोर से कॉपने लगते हैं। समस्त दिशाएँ निर्मल हो जाती हैं। इस तरह भगवान के केवलज्ञान के दश अतिशय प्रकट हो जाते हैं और देवकृत चौदह अतिशय प्रकट होते हैं। इस प्रकार समस्त ससार के भीतर अकस्मात् आनन्द को बढाता हुआ केवलज्ञान रूपी सूर्य उदित होता है। इन पूर्वोक्त चिह्नों से इन्द्र भगवान के केवलज्ञानोत्पत्ति का वृत्तात जान परम हर्ष को प्राप्त होते हैं। इन्द्र अनेक देवो के साथ भगवान के केवलज्ञान की पूजा के लिए निकलता है। सौधर्मेन्द्र अपनी इन्द्राणी तथा ईशान इन्द्र के साथ विक्रिया के कारण आभियोग जाति के देव द्वारा निर्मित ऐरावत हाथी पर आरूढ होकर तीर्थंकर के केवलज्ञान का, उनकी सर्वज्ञता का उत्सव मनाने के लिए प्रस्थान करते हैं। सबसे आगे किल्विषिक देव जोर जोर से नगाडों के शब्द करते जाते हैं। उनके पीछे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिश, परिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक तथा प्रकीर्णक जाति के देवगण अपने वाहनों पर आरूढ हो प्रभु के दर्शनार्थ जाते हैं।

समवशरण रचना—

इन्द्र की आज्ञा से कुबेर भगवान के समवशरण की अद्भुत रचना करता है। इस रचना में देवों की कला-कुशलता के साथ साथ तीर्थंकर प्रकृति का उदय भी निमित्त बनता है। केवलज्ञान होने के साथ ही तेरहवें गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति का उदय होता है। इसके पहले तीर्थंकर प्रकृति सत्ता में ही रहती है। गर्भ, जन्म, तप, ये तीन कल्याण तो तीर्थंकर प्रकृति के सत्ता में रहते हुए ही देव बड़े हर्षोल्लास से मनाते हैं। पश्चात् केवलज्ञान होते ही कुबेर इन्द्रनील मणियों से निर्मित गोल आकार वाले अतिशय मनोज्ञ समवसरण की रचना कर देता है।

> सुरेन्द्रनीलनिर्माण समवृत्तं तदा बभौ।
> त्रिजगच्छ्रीमुखालोक-मंगलादर्शविभ्रमम्॥

इन्द्रनील मणि निर्मित तथा चारों ओर से गोलाकार वह समवसरण ऐसा लगता है मानों त्रिलोक लक्ष्मी के मुखदर्शन का मगलमय दर्पण ही हो। जिस रचना में इन्द्रराज स्वयं सूत्रधार है ऐसे अपूर्व समवसरण की रचना का वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है। आदिनाथ के समय समवसरण बारह योजन का था, पश्चात् आधा योजन घटता गया। महावीर स्वामी का समवसरण एक योजन का था। सर्व प्रथम रत्नों की धूलि से निर्मित परकोटा होता है जिसे धूलिसाल कहते हैं। धूलिसाल के बाहर चारो दिशाओ में सुवर्णमय खम्भों के अग्रभाग पर चार द्वार शोभायमान होते हैं। धूलिसाल के भीतर जाने पर कुछ दूर पर चारों दिशाओं में एक मानस्तम्भ होता है जो कि महाप्राण को लिए हुए ध्वजादि से शोभायमान होता है। उन स्वर्णमय मानस्तम्भ के मूलभाग में जिनेन्द्र भगवान की स्वर्णमयी प्रतिमाए विराजमान रहती हैं। जिनेन्द्र के चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से प्रत्येक दिशा में विजय स्तम्भ होते हैं।

> दु खौघसर्जनपटूस्त्रिजगत्यजेयान्,
> साक्षान्निहत्य चतुरोपि च घातिशत्रून्।
> स्तम्भा जयादय इव प्रभुणा निखाता,
> स्तम्भा बभु प्रतिदिश किल मानपूर्वा॥

अर्थात् तीनों लोकों में दुखों का निर्माण करने वाले अजेय जो घातिया कर्म रूप चार शत्रु हैं उन्हें साक्षात् नष्ट करके ही मानों जिनेन्द्र देव से आरोपित किये गये विजयस्तम्भ सदृश मानस्तम्भ प्रत्येक दिशा में शोभायमान होते हैं। इनका दर्शन करने से ही मिथ्यादृष्टि का अभिमान शीघ्र नष्ट हो जाता है।

> मानस्तम्भा सरांसि प्रविमल-जल-सत्खातिका पुष्पवाटी-
> प्राकारो नाट्यशालाद्वितयमुपवन वेदिकान्तर्ध्वजाद्या।
> शाल कल्पद्रुमाणा सुपरिवृत्तवनं स्तूपहर्म्यावली च
> प्राकार स्फाटिकोन्तनृसुरमुनिसभा पीठिकाग्रे स्वयंभू॥

—पहले धूलिसाल, इसके चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ, मानस्तम्भ के चारों ओर सरोवर, फिर निर्मल जल से परिपूर्ण परिखा, पुष्पवाटिका, उसके आगे प्रथम कोट, उसके आगे दोनों ओर दो दो नाट्यशालाएँ, उसके आगे अशोकादि का वन, उसके बाद स्तूप और स्तूप के बाद मकानों की पंक्तिया, फिर स्फटिक मणिमय तीसरा कोट, उसके भीतर मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और मुनियों की बारह सभाएँ होती हैं। तदनन्तर पीठिका है और उसके अग्रभाग पर स्वयंभू भगवान विराजित होते हैं। अरिहन्त देव स्वभाव से ही पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख करके विराजमान होते हैं। "देवोऽर्हन्प्राङ्मुखो वा नियतिमनुसरन् उत्तराशामुखावा"।

द्वादश सभा—भगवान के चारों प्रदक्षिणा रूप से द्वादश सभाओं में इस क्रम से भव्य जीव बैठते है—प्रथम कोठे में गणधर देवादि मुनींद्र विराजमान होते हैं। दूसरे में कल्पवासिनी देवियाँ, तीसरे में आर्यिका तथा मनुष्य-स्त्रियों, चौथे में ज्योतिषी देवियों, पाचवें में व्यन्तर देवियाँ, छठे में भवनवासिनी देवियों, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यन्तर देव, नवमें में ज्योतिषी देव, दशवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में पुरुष वर्ग, तथा बारहवें में तिर्यञ्च बैठते हैं।

श्रीमडप—भगवान रत्नमय स्तम्भों पर अवस्थित श्रीमडप में विराजमान रहते हैं। वह उज्ज्वल स्फटिक मणियों से निर्मित अनुपम शोभा युक्त होता है। आचार्य श्रीमडप की शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

> सत्य श्रीमडप सोऽय यत्रासौ परमेश्वर।
> नृसुरासुरसान्निध्ये स्वीचक्रे त्रिजगच्छ्रियम्॥

वह श्रीमडप यथार्थ में लक्ष्मी का मडप ही है कारण वहाँ परमेश्वर ऋषभादि भगवान ने मनुष्य देव, तथा असुरों के समीप तीनो लोकों की श्रीलक्ष्मी को स्वीकार किया है। इस श्रीमंडप के ऊपर यक्षो द्वारा बरसाया गया सुमनों का समूह बडा ही सुन्दर प्रतीत होता है। जिनेन्द्र देव का कितना माहात्म्य है कि एक योजन लम्बे चौडे श्रीमडप में मनुष्य, देव, असुर एक दूसरे को बाधा दिये बिना सुखपूर्वक बैठते हैं। उस श्रीमडप की भूमि के मध्य में वैडूर्यमणि की प्रथम पीठिका है। उस पीठिका पर स्थित अष्ट मगल द्रव्य रूपी सम्पदाएँ और यक्षों के उन्नत मस्तकों पर स्थित धर्मचक्र ऐसे लगते हैं मानो पीठिका रूपी उदयाचल से उदय होते हुए सूर्य बिंब ही हों। धर्मचक्रों में हजार-हजार आरे होते हैं। उस प्रथम पीठिका पर स्वर्ण निर्मित दूसरा पीठ होता है। उसके ऊपर चक्र, गज, वृषभ, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड और माला के चिह्नों सहित एक-एक चिह्न की १०८-१०८ सुन्दर-सुन्दर ध्वजाएँ सुशोभित होती हैं। दूसरे पीठ पर तीसरा पीठ अनेक रत्नों से निर्मित होता है। वह तीन कटनियों से युक्त रहता है और ऐसा लगता है मानों सुमेरु पर्वत प्रभु की उपासना के लिय आया हो। तीसरे पीठ के अग्रभाग पर गंधकुटी होती है, गंधकुटी के मध्य में एक रत्नजडित सिंहासन सुवर्णमय होता है। उस सिंहासन का स्पर्श किये बिना चार अगुल अधर अंतरिक्ष देवाधिदेव विराजमान होते हैं। यह समवसरण

पृथ्वी से ५00 योजन ऊपर जाकर निर्मित होता है। समवसरण में ऊपर चढने के लिए चारों दिशाओं में एक हाथ ऊंची चौडी २0,000 रत्नजडित स्वर्णमय सीढियाँ होती हैं जिनके द्वारा अन्तर्मुहूर्त में बिना श्रम के मनुष्य तिर्यञ्चादि चढ जाते हैं। समसवरण में भगवान का मुख पूर्व अथवा उत्तर की ओर रहता है, किन्तु बैठने वाले १२ सभा के जीवों को चारों ओर मुख दिखाई देता है।

दिव्यध्वनि—

सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु की वाणी को दिव्यध्वनि कहते हैं। यह निरक्षरात्मक एव बीजाक्षर एकरूप होती है। जिस प्रकार वर्षा का जल एक होकर भी भूमि, वृक्ष, सीपादि आधार को प्राप्त कर अनेक रूप हो जाता है उसी प्रकार भगवान की वाणी भी श्रोताओं के कर्ण-प्रदेश में जाकर उन उनकी भाषा के रूप में परिणमित हो जाती है। दिव्यध्वनि की विशेषता बतलाते हुए तिलोयपण्णत्ति में कहा है—

> छद्दव्व-णव-पयत्थे, पचट्ठीकाय-सत्त तच्चाणि।
> णाणाविह-हेदूहिं, दिव्वझुणी भणइ भव्वाणं।।९१४।।

यह दिव्यध्वनि भव्य जीवों को छह द्रव्य, नव पदार्थ, पचास्तिकाय तथा सप्त तत्त्व का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है। यह दिव्यध्वनि अत्यत मधुर, गभीर, तथा मृदु लगती है तथा यह एक योजन तक के प्राणियों को प्रतिबोध प्रदान करती है। यह जिनेन्द्रध्वनि कंठ तालु आदि शब्दों को उत्पन्न करने वाले स्थानों की सहायता के बिना उत्पन्न होती है। देवकृत १४ अतिशयों में अर्धमागधी भाषा का उल्लेख आया है। दिव्यध्वनि का अष्टप्रातिहार्यों में कथन है। तीर्थंकर भगवान का उपदेश देव, मनुष्य, पशु आदि अपनी अपनी भाषा में समझ लेते हैं इसलिए प्रभु की देशना को भाषा न कहकर उसके अलौकिक प्रभाव के कारण दिव्यध्वनि कहा गया है। भगवान अर्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं तथा मगध जाति के देव समवसरण में भगवान् की वाणी को भली प्रकार से श्रोतागण के कर्णपुट तक पहुँचाने में सहायक बनते हैं।

जिससे श्रोतागण सुखपूर्वक लाभ उठायें, आजकल वक्ता की वाणी को ध्वनिप्रसारक यन्त्र के माध्यम से दूरवर्ती श्रोताओं के पास तक पहुँचाई जाती है किन्तु यह वाणी कहीं उच्च स्वर से सुनी जाती है, कहीं मंद स्वर से। परन्तु अर्हंतवाणी सर्वत्र सभामडप में समान रूप से स्पष्ट और अत्यन्त मधुर सुनाई पडती है तथा १८ महाभाषा और सात सौ लघुभाषा रूप में परिणत होती है।

> गभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेत हित,
> कंठोष्ठादिवचोनिमित्तरहित नो वातरोधोद्गत।

स्पष्टतत्तदभीष्टवस्तुकथन निशेष भाषात्मकं
दूरासन्नसमं निरुपमं जैन वच पातु न ॥

गंभीर, मधुर, अत्यन्त मनोहर, दोषों से रहित, हितकारक जो कंठ, ओष्ठ, तालु की सहायता रहित उत्पन्न की हुई, स्पष्ट श्रोतागण के लिए अभीष्ट, तत्त्व का निरूपण करने वाली, सर्वभाषामय, समीप तथा दूरवर्ती जीवों को समान रूप से सुनाई पडने वाली, उपमा रहित, जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि हमारी रक्षा करे। दिव्यध्वनि प्रारम्भ में अनक्षरात्मक होती है, इसीलिए उस समय केवली भगवान के अनुभय वचनयोग होता है। पश्चात् श्रोताओं के कर्णप्रदेश में पहुँचकर सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न कराती है। इस प्रकार भगवान के सत्यवचनयोग भी कहा है। इस प्रकार केवली के सत्य-अनुभय-वचनयोग कहा गया है। वीरसेन स्वामी ने दिव्यध्वनि के लिए जयधवल, भाग प्रथम में कहा है—

"केरिसा सा दिव्वज्झुणि? सव्वभासा, सरूवा, अक्खराणक्खरप्पिया, अणतत्थगब्भ—बीजपद—घडिय-सरीरा"

वह दिव्यध्वनि किस प्रकार की है? वह सर्वभाषा स्वरूप है। अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक है, अनन्त अर्थ है गर्भ में ऐसे जिसके बीजपदों से निर्मित शरीर वाली है। चौंसठ ऋद्धि में बीजबुद्धि नाम की ऋद्धि का वर्णन आता है। जिनेन्द्र भगवान की बीजपदों से निर्मित वाणी को बीजबुद्धि के धारक गणधरदेव अवधारण करके द्वादशाग रूप रचना करते हैं। इस प्रकार भावश्रुत के कर्ता तीर्थंकर और द्रव्यश्रुत के कर्ता गणधर देव होते हैं।

दिव्य-ध्वनि का काल

"तिसंज्झू विसय छघडिया सु णिरतर पयट्टमाणिय" अर्थात् यह दिव्यध्वनि प्रात, मध्यान्ह तथा सायंकाल रूप तीन सध्याकालों में छह-छह घडी पर्यन्त खिरती है। "घातिकर्म—क्षयानतर-केवलज्ञान-सहोत्पन्न-तीर्थंकरत्व-पुण्यातिशय-विजृभितमहिम्न तीर्थंकरस्य पूर्वान्हे—मध्याह्नपराह्नमार्धराजिषु षट्षट्घटिका-कालपर्यन्त द्वादशगण-सभा मध्ये स्वभावतो दिव्यध्वनिरूद्गच्छति। अन्यकालेपि गणधर-शक्र-चक्रधर-प्रश्नान्तरं चोद्भवति। एव समुद्भूतो दिव्यध्वनि, समस्तासन्नश्रोतृगणानुद्दिश्य उत्तमक्षमादि लक्षण रत्नत्रयात्मकं वा धर्मं कथयति।"

तीर्थंकर की ध्वनि प्रभात, मध्यान्ह, सायकाल तथा मध्यरात्रि के समय चार-चार, छ छ घडी कालपर्यन्त खिरती है। इसके सिवाय गणधर, चक्रवर्ती, इन्द्रादि जैसे विशेष पुण्यशाली व्यक्तियों के आगमन से और उनके प्रश्नों के उत्तर के लिए अन्य समय में भी दिव्य ध्वनि खिरने लगती है। कार्य स्पष्ट ही है कि विशिष्ट पुण्यशाली व्यक्तियों के सदेह दूर हो जाने से धर्म भावना बढ़ेगी और प्रभु की देशना का प्रचार-प्रसार होगा, व मोक्षमार्ग का प्रवर्तन होगा। मध्यरात्रि में दिव्यध्वनि खिरती है यह बतलाया गया है क्योंकि समवसरण में प्रभामडल के प्रभाव से

रात दिन का भेद नहीं होता तथा समवसरण के अन्दर किसी को निद्रा, मृत्यु, प्रसव तथा रोग-शोकादि नहीं होते। तीर्थंकर भगवान के अनतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य से अनत चतुष्टय पाए जाते हैं। दश जन्म के अतिशय, दश केवलज्ञान, और चौदह देवकृत अतिशय, अष्ट प्रातिहार्य इस प्रकार छियालिस गुण होते हैं। केवलज्ञान होने के पश्चात् ही प्रभु पूर्ण निर्दोष कहलाते हैं। दोषों के गुरु मोहनीय के रहते हुए कोई भी निर्दोषी नहीं बन सकता। लेकिन अरहत भगवान अट्ठारह दोषों से रहित होते हैं—

जन्म, जरा, तिरखा, क्षुधा, विस्मय, आरत, खेद।
रोग, शोक, मद, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, स्वेद।
रागद्वेष अरु मरण जुत ये अष्टादश दोष।
नहि होत अरहन्त के सो छवि लायक मोग्व।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि भगवान् तीर्थंकर ही क्यों निर्दोष हैं? इसका समाधान करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

स त्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्ट ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥६॥ (आप्तमीमांसा)

हे भगवान। वह निर्दोषपना आप में ही है क्योंकि आपकी वाणी युक्ति तथा आगम के अविरुद्ध है किन्तु यह भी कैसे जाना? जो बातें आप को इष्ट हैं अभिमत हैं वह प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों द्वारा खण्डित नहीं होतीं हैं। वास्तव में स्याद्वाद शासन ऐसा है जिस पर एकान्तवाद किसी प्रकार से विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

भगवान् की दिव्यध्वनि वाणी रूप अमृत का पान करके इन्द्र ने प्रभु की स्तुति की—

तव वागमृत पीत्वा वयमद्यामरा स्फटम्।
पीयूषमिदमिष्ट नो देव सर्वरुजाहरम्॥

हे देव। आपके वचन रूपी अमृत को पीकर आज हम वास्तव में अमर हो गये हैं इसीलिए सब रोगों को हरने वाला आपका यह वचनरूप अमृत हम लोगों को बहुत ही इष्ट है। इस प्रकार सौधर्मेन्द्र ने भगवान की अत्यन्त सुन्दर मार्मिक स्तुति की और धर्मसाम्राज्य के नायक जगदीश्वर जिनेन्द्र के विहार योग्य समय को विचार कर विहारार्थ विनयपूर्वक निवेदन किया—

भगवन् भव्य-सस्याना पापावग्रह-शोषिणाम्।
धर्मामृत-प्रसेचेन त्वमेधि शरण विभो॥

हे भगवान्। भव्यजीव रूपी धान्य पापरूपी अनावृष्टि (अर्थात् वर्षा के अभाव) से सूख रही है, उस धर्मरूपी अमृत से सींचकर आप ही शरण रूप होइये।

इन्द्र की प्रार्थना के पश्चात् भगवान ने भव्य रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए अर्थात

कल्याण के लिए विहार किया। भगवान के विहार के समय अगणित देवों का समुदाय पुण्य से प्रेरित होकर तथा सर्व प्रकार की श्रेष्ठ व्यवस्था के लिए तत्पर था। तीर्थंकर प्रकृति का बध करते समय होनहार तीर्थंकर की यह मनोकामना थी कि मैं समस्त जगत के प्राणियों को ससार के दु खों से छुटाकर किस प्रकार इनका उद्धार करूं। ऐसी उत्कृष्ट भावना के फलस्वरूप पूर्व में बध को प्राप्त हुई तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में अरहन्त अवस्था में आया है। यह तीर्थंकर प्रकृति, जो महान् पुण्य प्रकृति है, के फलस्वरूप अर्हत अवस्था है, कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा भी है "पुण्यफला अर्हंता" उस पुण्य से प्रेरित होकर भगवान ने नाना देशों में विहार किया।

भगवान् का श्रीविहार

भगवान् के विहार करते समय सुगन्धित तथा प्रफुल्लित २२५ कमलों की रचना देवगण करते हैं। "पादन्यासे पद्म" एक कमल चरण को रखने के स्थान में, शेष दिशा-विदिशाओं में— इस प्रकार २२५ कमलों की रचना होती है। इस कथन से यह स्पष्ट विदित होता है कि भगवान विहार करते समय मनुष्यों के समान चरणों को उठाते थे। कहा भी है—

"भगवान के चरणन्यास अर्थात् चरण रखने के प्रदेश में आकाशतल में कोमल स्पर्श वाले तथा उत्कृष्ट शोभायुक्त सुवर्णमय कमल-समूह शोभायमान होते थे।" आकाशमडल चतुर्णिकाय देवों से, जय घोषों से, वादित्रों से व्याप्त था। वह दृश्य अपने आप में अलौकिक था। भगवान ने काशी, अवन्ति, कुरुजागल, अयोध्या, पुड, चेदि, अग, वग, मगध, आध्र, कलिग, मद्र, पचाल, मालवा, दशार्ण, विदर्भ आदि अनेको देशों में विहार कर धर्मामृत पिलाकर भव्यों को सतुष्ट किया था।

भगवान के विहार के सबध में यह प्रश्न उठता है कि प्रभु भव्य जीवों के संताप दूर करने के लिए जो विहार करते हैं उस समय पैरों को उठाकर डग भरते हुए गमन को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान के इस प्रकार की क्रिया का सद्भाव स्वीकार करना इच्छा के अस्तित्व का सदेह उत्पन्न करता है। समाधान यह है कि मोहनीय कर्म के अत्यन्त क्षय हो जाने से जिनेन्द्र भगवान की इच्छा का पूर्णतया अभाव हो चुका है। फिर भी उनके शरीर में जो क्रिया होती है वह स्वत होती है।

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताण काले मायाचारोव्व इत्थीण ॥४४॥ (प्रवचनसार)

ज्ञानार्णव में पिडस्थ ध्यान के प्रकरण में सिंहासन पर पद्मासन से विराजमान तीर्थंकर के स्वरूप का चिन्तवन करने का कथन आया है। इस प्रकार आगम तथा युक्ति से यह जाना जाता है कि समवसरण में भगवान सिंहासन पर पद्मासन से विराजमान रहते हैं। समवसरण

में अरहत भगवान को सिंहासन पर कायोत्सर्ग आसन से रहने की कल्पना करना उचित नहीं है। क्योंकि बारह सभा के समस्त जीव बैठे रहें और तीन लोक के नाथ भगवान खडे रहें ऐसा मानने से भक्तजनों को अविनय का दोष लगता है। अत समवसरण में सिंहासन के ऊपर कायोत्सर्ग आसन मानना उचित नहीं है।

योगनिरोध

ऐसा कोई भी कर्म नहीं है जो आत्मा को सुख-आनन्द प्रदायक हो। सभी कर्म का उदय आत्मस्वरूप से विपरीत स्वभाव वाला होता है तथा भगवान परोपकार में ही लगे रहें तो सिद्धि को प्राप्त कैसे करें इसलिए शेष अघातिया कर्मों को नष्ट करने के लिए वे योगनिरोध करते हैं।

आद्यश्चतुर्दशदिनैर्विनिवृत्तयोग,
षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्द्धमान।
शेषाविधूत घनकर्मनिबद्धपाशा,
मासेन ते यतिवरास्त्वभवन्वियोगा ॥

ऋषभनाथ भगवान ने मन-वचन-काय से निरोध का कार्य चौदह दिन पूर्व किया था तथा वर्धमान स्वामी ने दो दिन पूर्व किया था तथा शेष तीर्थंकरो ने एक माह पूर्व किया था। पश्चात् मुक्ति को प्राप्त किया। जिनके आयु की स्थिति अतर्मुहूर्त रह जाती है और तीन अघातिया कर्म की स्थिति अधिक रहती है तब आयुप्रमाण इन कर्मों की स्थिति करने के लिए केवली भगवान समुद्घात करते हैं, सब नहीं। आयु के अतर्मुहूर्त रहने पर तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान होता है।

व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान के द्वारा श्वासोच्छ्‌वास भी रुक जाता है। सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों का परिस्पद बन्द हो जाता है उस समय चौदहवें गुणस्थान में अठारह हजार शील के भेदो के स्वामी तथा चौरासी लाख उत्तरगुण के स्वामी होते हैं।

मोक्ष-कल्याणक

❑ *आचार्य श्री कुन्थुसागरजी*

महापुराण मे कहा गया है कि भगवान के मोक्षकल्याणक के अवसर पर अग्निकुमार देवों ने भगवान के पवित्र शरीर को पालकी में विराजमान किया। तदनन्तर अपने मुकुटों से उत्पन्न की हुई अग्नि को अगुरु, कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यों से बढाकर उसमें उस शरीर का वर्तमान आकार नष्ट कर दिया और इस प्रकार इसे दूसरी पर्याय प्राप्त करा दी। (३४३-३४६)

उस अग्निकुण्ड के दाहिनी ओर गणधरों के शरीर का सस्कार करने वाली तथा उसके बायीं ओर सामान्य केवलियों के शरीर का सस्कार करने वाली अग्नि स्थापित की। तदन्तर इन्द्र ने भगवान के शरीर की भस्म उठाकर अपने मस्तक पर चढायी।

मुक्त जीवों के मृत शरीर, आकार, उर्ध्वगमन या अवस्थान के विषय में दो धारणाएँ हैं—

गध पुष्पादिभिर्दिव्यै पूजितास्तनव क्षणात्।
जैनाद्या द्योतयन्त्यो द्यां विलीना विद्युतो यथा॥
स्वभावोऽयं जिनादीना शरीरपरमाणव ।
मुच्यति स्कन्धतामन्ते क्षणात्क्षणरुचामिव॥ (हरिवंशपुराण, १२-१३)

दिव्य गध तथा पुष्पादि से पूजित तीर्थंकर आदि मोक्षगामी जीवों के शरीर क्षण भर में विद्युत की भाति आकाश को देदीप्यमान करते हुए विलीन हो गए क्योंकि यह स्वभाव है कि तीर्थंकर आदि के शरीर के परमाणु अंतिम समय विद्युत के समान क्षणभर में स्कन्धपर्याय को छोड देते हैं।

जो जीव क्षपकश्रेणी चढ रहा है वह शुक्लध्यान की शक्ति से नवमें गुणस्थान में ३६ प्रकृतियों की सत्ता व्युच्छित्ति करता है। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के पहले भाग में (१) नरकगति, (२) नरक-गत्यानुपूर्वी, (३) तिर्यग्गति, (४) तिर्यक्-गत्यानुपूर्वी, (५) एकेन्द्रिग, (६) द्विन्द्रिय, (७) त्रीन्द्रिय, (८) चतुरिन्द्रिय, (९) स्त्यानगृद्धि, (१0) निद्रा-निद्रा, (११) प्रचला-प्रचला, (१२) उद्योत, (१३) आतप, (१४) साधारण, (१५) सूक्ष्म और (१६) स्थावर इन सोलह प्रकृति की सत्ताव्युच्छित्ति होती है। द्वितीय भाग में अप्रत्याख्यान चतुष्टय और प्रत्याख्यान चतुष्टय इस प्रकार ८ प्रकृतियों में व्युच्छिति होती है। तीसरे भाग में नपुसकवेद, चतुर्थ भाग में स्त्रीवेद, पाचवें भाग में छह नोकषाय अर्थात् (१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, छठे भाग में पुरुषवेद, सातवें भाग में सज्वलन क्रोध, आठवें भाग में संज्वलन मान, नवमें भाग में संज्वलन मायायें सब ३६ प्रकृतियों की उदय-व्युच्छित्ति होती है।

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में सज्वलन लोभ की उदय-व्युच्छत्ति होती है। क्षीणमोह गुणस्थान

में निद्रा, प्रचला, ज्ञानावरण ५, अतराय ५, दर्शनावरण ४-१६ प्रकृतियों की उदय-व्युच्छिति होती है।

अयोगकेवली गुणस्थान में उपान्त्य समय के शरीर आदि ५० (शरीर ५, बधन ५, संघात ५, अगोपाग नामकर्म ३, सस्थान ६, सहनन ६, वर्ण ५, गध २, रस ५, स्पर्श ८), स्थिर, अस्थिर, सुस्वर, दुस्वर, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्त-विहायोगति, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, अनुदित वेदनीय ९, नीचगोत्र इन ७२ प्रकृतियों तथा अन्त समय में इसी गुणस्थान में (मनुष्य गति, पञ्चेन्द्रिय, सूक्ष्म, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यश कीर्ति, तीर्थंकर, मनुष्यायु, उच्चगोत्र, व मनुष्यगत्यानुपूर्वी इन १३ प्रकृतियों—इस प्रकार कुल ८५ प्रकृतियों की सत्ता-व्युच्छिति होती है। उसके पश्चात् ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इन सब ही कर्मों का क्षय ध्यान से होता है। शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं (१) पृथक्त्व-वितर्क शुक्लध्यान, (२) एकत्व-वितर्क शुक्लध्यान, (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान और (४) व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान।

प्रथम शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्क में ४२ भेद हैं तथा यह ध्यान ऐसे तो ८वें गुणस्थान से प्रारंभ होता है तथा १२वें गुणस्थान के अल्पसमय के पूर्व तक पाया जाता है। क्षीणकषाय गुणस्थान के अत समय में एकत्ववितर्क शुक्लध्यान होता है। सयोगकेवली गुणस्थान के अतमुहूर्त शेष रहने पर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान होता है। तथा अयोगकेवली गुणस्थान का काल अ इ उ ऋ लृ शब्द उच्चारण करने में जितना काल लगता है उतना ही है तथा इस गुणस्थान में समुच्छिन्नाक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान होता है। इस ध्यान के द्वारा ही ८५ प्रकृतियों की सत्ता-व्युच्छिति होती है।

समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान में प्राणापान प्रचार (श्वासोच्छ्वास का चलना) समस्त मन, वचन, काय के योग और प्रदेशों का परिस्पदन आदि क्रियाओं के व्यापार सब नष्ट हो जाते हैं इसीलिए इसको समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति कहते हैं।

इस ध्यान में समस्त आस्रवों का निरोध हो जाता है और बाकी के समस्त कर्मों का नाश करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। ऐसे उन अयोगकेवली के समस्त ससार के दुखों की ज्वाला के स्पर्श तक को नाश करने वाले और साक्षात् मोक्ष के कारण ऐसे समस्त शील और गुण प्रगट हो जाते हैं।

उस समय वे अयोगी जिन निर्मल, शांत, कर्मरूप कलङ्क, से रहित, रोग से विहीन, जन्म मरण रूप ससार की अनेक दुर्निवार बधजनित आपत्तियों से विमुक्त सिद्ध, अतिशय प्रसिद्ध व निष्पन्न स्वरूप से सयुक्त, कर्म-कालिमा से रहित, क्रियाविमुक्त, शरीर से रहित, शुद्ध, निर्विकल्प, अतिशय निश्चल, प्रगट हुए यथाख्यातचारित्र से सहित, अनतवीर्य से विशिष्ट होकर अपने सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त, योगों से रहित हो जाने से अयोगी,

असहाय, अतिशय सुखी, आत्मस्वरूप की सिद्धि को प्राप्त, परमेष्ठी, सर्वोत्कृष्ट और अपूर्व प्रभावशाली होकर चौदहवें गुणस्थान में पांच (अ इ उ ऋ ऌ) ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण के काल प्रमाण स्थित रहते हैं और तत्पश्चात् वे शुद्धस्वरूप को प्राप्त होकर कर्मबंध से सर्वथा मुक्त होते हुए स्वभावत उर्ध्वगमन करते हैं।

आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र में उर्ध्वगमन की सिद्धि उदाहरण के द्वारा कहते हैं— "पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बधच्छेदात् तथागति परिणामाच्च। आविद्ध कुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाम्बुवद्-एरण्डबीजवद्-अग्निशिखावच्च"।

जैसे कुम्हार के हाथ हटा लेने पर भी चक्र पूर्वप्रयोग के कारण बराबर घूमता रहता है उसी प्रकार ससारी आत्मा ने अपवर्ग प्राप्ति से लिए जो अनेक बार प्रणिधान और यत्न किये हैं उनके कारण उसका उर्ध्वगमन होता है।

जैसे मिट्टी के लेप से वजनदार तूमडी पानी में डूब जाती है पर ज्यों ही मिट्टी का लेप धुल जाता है त्यों ही वह ऊपर आ जाती है उसी तरह कर्मभार से परवश आत्मा कर्मवश ससार में इधर-उधर भटकता था पर जैसे ही वह कर्मबन्धन से मुक्त होता है वैसे ही ऊर्ध्वगमन करता है। जीव की दण्ड की तरह अनियतगति नहीं हो सकती, क्योकि जीवों को ऊर्ध्वगमन धर्मवाला बताया गया है। अत वे ऊपर ही जाते हैं।

जैसे ऊपर के छिलके हटते ही एरंडबीज छिटक कर ऊपर जाता है उसी तरह मनुष्यादि भवों को प्राप्त कराने वाले गति आदि नामकर्म के बधनों के हटते ही मुक्तजीव की स्वाभाविक उर्ध्वगति होती है।

जैसे तिरछी बहने वाली वायु के दाब के अभाव में दीपशिखा स्वभाव से ऊपर हो जाती है उसी तरह मुक्तात्मा भी नाना गति-विकार के कारण कर्म के हटते ही ऊर्ध्व गति स्वभाव से ऊपर को ही जाता है।

परस्पर प्रवेश होकर एकमेक हो जाना बध है और परस्पर प्राप्ति मात्र सग है अत दोनों मे भेद है। अत क्रिया के कारण पुण्य-पाप के हट जाने पर मुक्तात्मा की स्वगति परिणाम से ऊर्ध्वगति होती है।

जीव का लक्षण करते हुए आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्रव्यसग्रह में कहते हैं—

> जीवो उवओगमओ अमुत्तिकत्ता सदेहपरिमाणो।
> भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥२॥

जो उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्त्ता है, निज प्राप्त शरीर के बराबर है, भोक्ता है, ससार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है। यहाँ पर भी ऊर्ध्वगमन जीव का स्वभाव कहा गया है।

शका—सिद्धशिला पर पहुंचने के बाद चूकि मुक्तजीव में ऊर्ध्वगमन नहीं होता अत ऊष्णस्वभाव के अभाव में अग्नि के अभाव की तरह मुक्तजीव का भी अभाव हो जाना चाहिए?

समाधान—'मुक्तजीव का ऊर्ध्व ही गमन होता है तिरछा आदि गमन नहीं।' यह स्वभाव है न कि ऊर्ध्वगमन करते ही रहना। जैसे अग्नि कभी ऊर्ध्व ज्वलन नहीं करती तब भी अग्नि बनी रहती है। उसी तरह मुक्तजीव में भी लक्ष्य प्राप्ति के बाद ऊर्ध्वगमन न होने पर भी स्वभाव का अभाव नहीं होता है।

शंका—अग्नि के तो तिर्यक पवन के सयोग से ऊर्ध्व ज्वलन का अभाव माना जा सकता है पर मुक्त आत्मा के आगे गमन न करने में क्या कारण है?

समाधान—लोकाकाश से आगे गति उपग्रह करने में कारणभूत धर्मास्तिकाय नहीं है। अत आगे गति नहीं होती। आगे धर्म द्रव्य का सद्भाव मानने पर लोक-अलोक विभाग का अभाव ही हो जायेगा।

अवरोध-विनिर्मुक्तो लोकाग्र समये प्रभु।
धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमन नानुमीयते॥ (ज्ञानार्णव)

इस प्रकार ऊर्ध्वगमन करके वे प्रभु प्रतिबध से रहित होते हुए लोक के अग्रभाग तक ही जाते हैं, उसके आगे धर्मद्रव्य के बिना नहीं जाते हैं। क्योंकि—

धर्मो गतिस्वभावोऽयमधर्म स्थितिलक्षण।
तयोर्योगात्पदार्थाना गति स्थितिरुदाहृते॥

इस धर्म द्रव्य का लक्षण गति-हेतुता और अधर्म का लक्षण स्थिति-हेतुता है। उन दोनों के सबंध से पदार्थों की, जीवों व पुद्गलों की गति और स्थिति निर्दिष्ट की गयी है।

तौ लोकगमनान्त स्थौ ततो लोके गतिस्थिती।
अर्थाना न तु लोकान्तामतिक्रम्य प्रवर्तते॥

वे दोनों धर्म और अधर्म द्रव्य चूकि लोकाकाश तक ही अवस्थित हैं, अतएव पदार्थों का गमन और अवस्थान लोक में ही होता है, वह लोक के अत को लाघकर अलोक में नहीं होता है।

मोक्ष का स्वरूप

उमास्वामी आचार्य तत्वार्थसूत्र में कहते हैं—"बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्न कर्मविप्रमोक्षो मोक्ष" बन्ध के हेतुओं अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

पूज्यपाद आचार्य सर्वार्थसिद्धि की उत्थानिका में कहते हैं कि जब आत्मा कर्म-मल (अष्ट-कर्म)

कलङ्क (राग, द्वेष, मोह) और शरीर को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुण रूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं।

भट्टाकलकदेव राजवार्तिक में कहते हैं—समस्त कर्मों का आत्यन्तिक उच्छेद मोक्ष है। 'मोक्ष असने' मोक्ष निक्षेपण में होता है। इसमें घञ-प्रत्यय लगाकर भाव साधन मोक्ष शब्द बनता है क्योंकि मोक्ष असन्, क्षेपण ये सब एकार्थवाची हैं। सर्व कर्मों का अत्यन्त क्षेपण हो जाने या नाश हो जाने को मोक्ष कहते हैं।

'मोक्ष की भाँति मोक्ष है।' अर्थात् जिस प्रकार बंधनयुक्त प्राणी बेडी आदि के छूट जाने पर स्वतंत्र होकर यथेच्छ गमन करता हुआ सुखी होता है, उसी प्रकार कर्मबधन का वियोग हो जाने पर आत्मा स्वाधीन होकर आत्यन्तिक ज्ञान-दर्शन रूप अनुपम सुख का अनुभव करता है।

नयचक्र में देवसेन आचार्य कहते हैं—ज अप्पसहावादो मूलोत्तर पयडिसचियं मुच्चद। तं मुक्ख अविरूद्धं " अर्थात् आत्मस्वभाव से मूल व उत्तर कर्म प्रकृतियों के सचय का छूट जाना मोक्ष है। और यह अविरूद्ध है।

समयसार की आत्मख्याति टीका में अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं—"आत्मबन्धयोद्विधाकरण मोक्ष" आत्मा और बध को अलग-अलग कर देना मोक्ष है।

> कम्ममल विप्पमुक्को उड्ढ लोगस्स अतमधिगता।
> सो सव्वणाणदरिसी लहदि सहुमणिंदियमणत।। (पचास्तिकाय)

कर्म मल से मुक्त आत्मा ऊर्ध्वलोक के अंत को प्राप्त करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनन्त अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता है।

सिद्धलोक व स्वरूप—

> ईसिप्पबभाराए उवरि अत्थदि सो जोयणम्मिसदिए।
> ध्रुवमचलमजरठाण लोकसिहरमस्सिदो सिद्धो।। (भगवती आराधना)

सिद्धभूमि 'ईषत्प्राग्भार' पृथ्वी के ऊपर स्थित है। एक योजन में कुछ कम ऐसे निष्काम व स्थिर स्थान में सिद्ध तिष्ठते हैं।

> सव्वट्ठसिद्धि इदयकेदण-दंडादु उवरि गंतूण।
> बारस जोयणमेत्त अट्ठमियाचेट्ठेदे पुढवी।। (तिलोयपण्णत्ति, ६५२)

सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक के ध्वजदण्ड से १२ योजन मात्र ऊपर जाकर ८वीं पृथ्वी स्थित है।

पुव्वावरेण तीए उवरिम हेट्ठिम तलेसु पत्तेक्कं।
वासो हवेदि एक्का रज्जू रूवेण परिहीणा॥६५३॥

उत्तर दक्खिणभाए दीहा किंचूणसत्तरज्जूओ।
वेत्तासण सठाणा सा पुढवी अट्ठजोयण बहला॥६५४)

जुत्ता घणो वहिघणाणितणुवादेहि तिहि समीरेहि।
जोयण बीस सहस्स पमाण बहलेहि पत्तेक्कं॥६५५॥

८वीं पृथ्वी के उपरिम और अधस्तन तल में से प्रत्येक तल का विस्तार पूर्व-पश्चिम में रूप से रहित (अर्थात् वातवलयों की मोटाई से रहित) एक राजू प्रमाण है। वेत्रासन के सदृश वह पृथ्वी उत्तर दक्षिण भाग में कुछ कम (वातवलयों की मोटाई से रहित) सात राजू लम्बी है। इसकी मोटाई ८ योजन है। यह पृथ्वी घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय इन तीन वायुओं से युक्त है। इनमे से प्रत्येक वायु का बाहल्य २०,००० योजन प्रमाण है।

एदाए बहुमज्झे खेत्त णामेण ईसिपब्भार।
अज्जुण सवण्ण सरिस णाणारयणेहि परिपुण्ण॥६५६॥

उसके बहुमध्य भाग में चादी एव सुवर्ण के सदृश और नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत्प्राग्भार नामक क्षेत्र है। यह क्षेत्र उत्तान धवल छत्र के सदृश (या उल्टे कटोरे के सदृश) आकार से सुन्दर और ४५ लाख योजन (मनुष्य क्षेत्र) प्रमाण विस्तार से संयुक्त है। इसका मध्य बाहुल्य (मोटाई) ८ योजन है। और उसके आगे घटते-घटते अन्त में एक अंगुल मात्र अष्टम भूमि में स्थित सिद्ध की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान है।

अट्ठमखिदीए उवरि पण्णसब्भहिय सत्तय सहस्सा।
दंडाणि गतूण सिद्धाण होदि आवासो ॥ (तिलोय पण्णत्ति) ॥३॥

पणदो छप्पण इगि अडणह चउछसग चउरवचदुरअट्ठकमसो।
अट्ठहिदा जोयणया सिद्धाण णिवास खिदियाण॥८॥

आठवीं पृथ्वी के ऊपर ७०५० धनुष जाकर सिद्धों का आवास है। उन सिद्धों के आवास क्षेत्र का प्रमाण (क्षेत्रफल) ८४०४७४०८१५६२५ / ८ योजन है।

प्रश्न—जैसे घोडा एक बधन से छूटकर फिर दूसरे बन्धन में बध जाता है, इस तरह जीव भी एक बार मुक्त होने के पश्चात् पुन बध जायेगा?

उत्तर—नहीं, क्योंकि, समस्त आस्रवों का कारण नष्ट हो जाने से उनको भक्ति, स्नेह, कृपा और स्पृहा आदि जागृत नहीं होते हैं। वे वीतराग हैं इसीलिए जगत के सपूर्ण प्राणियों को देखते हुए भी उनके करुणा आदि नहीं होती है।

प्रश्न—मुक्त जीव को अकस्मात् ही यदि बध हो जाये तो?

उत्तर—तब तो किसी जीव को कभी मोक्ष ही नहीं हो सकता, क्योंकि, तब तो मुक्ति हो जाने के पश्चात् भी उसे निष्कारण ही बंध हो जायेगा।

प्रश्न—मुक्ति-पद के स्थान की प्राप्ति होने के पश्चात् पतन हो सकता है क्या?

उत्तर—नहीं, क्योंकि उनके आस्रवों का अभाव है। आस्रव वाले ही पानपात्र का अथवा गुरुत्व (भार) युक्त ही ताड फल आदि का पतन देखा जाता है। परन्तु मुक्त जीव में आस्रव के कारण—मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय, योग का अभाव है इसीलिए गुरुत्व का अभाव है, इसीलिए मुक्त जीव संसार में नहीं आ सकते हैं। जिस प्रकार बीज के पूर्णतया जल जाने पर उसमे अंकुर उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार कर्मबीज के दग्ध हो जाने पर संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

"ण च त संसारे णिवदंति णट्ठासवत्तादो" (धवला)

योगसार में अमितगति आचार्य कहते हैं कि मुक्त जीव संसार मे क्यों आयेंगे? क्या मोक्ष में सुख की कमी है? या वहाँ भोगों की कमी है?

न निवृत्त सुखी भवन पुनरायाति संसृति।
सुखद हि पद हित्वा दुखद क प्रपद्यते ॥१८॥

युज्यते रजसा नात्मा भूयोऽपि विरजीकृत
पृथक्कृत कुत स्वर्ण पुन कीटेन युज्यते॥५३॥

जो आत्मा मोक्ष अवस्था को प्राप्त होकर निराकुल सुख का अनुभव कर चुका वह पुन संसार मे लौट कर नहीं आता, क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो सुखदायी स्थान को छोडकर दुखदायी स्थान में आकर रहेगा। जिस प्रकार एक बार कीट मे नियुक्त किया गया स्वर्ण पुन कीट से संयुक्त नहीं होता उसी प्रकार जो आत्मा एक बार कर्मों से रहित हो चुका है, वह पुन कर्मों से संयुक्त नहीं होता।

वर्तमान ग्राही नय से एक समय में सिद्ध होता है। अतीत ग्राही नय से जन्म की अपेक्षा सामान्य रूप से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में उत्पन्न हुआ मोक्ष प्राप्त होता है। विशेष रूप से अवसर्पिणी काल में सुषमा के अंत भाग में और दुषमा सुषमा में उत्पन्न हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है। दुषमा में उत्पन्न हुआ उस काल में सिद्ध नहीं होता।

सुषमा-दुषमा नामक तृतीय काल में ३ वर्ष और साढे आठ मास शेष रहने पर ऋषभ जिनेन्द्र तथा इतना ही चतुर्थ काल में अवशेष रहने पर महावीर प्रभु सिद्धि को प्राप्त हुए।

सिद्ध भगवान के गुणों की महिमा

स्थितिमासाद्य सिद्धात्मा तत्र लोकाग्रमन्दिरे।

आस्ते स्वभाव जानन्तगुणैश्वर्योवलक्षित ॥५८॥

वह सिद्ध परमात्मा लोक के शिखर पर अवस्थित होकर स्वाभाविक अनन्त गुणों के वैभव से परिपूर्ण होता हुआ वहाँ अनन्त काल तक रहता है।

आत्यन्तिक निराबाधमत्यक्षं स्वस्वभावजम्।
यत्सुखं देवदेवस्य तद्वक्तुं केन पार्यते॥५९॥

उस देवाधिदेव सिद्ध परमात्मा को जिन्हें अविनश्वर, निर्बाध, अतीन्द्रिय व स्वाभाविक आत्मिक सुख प्राप्त है उसका वर्णन करने के लिए भला कौन समर्थ है? कोई भी नहीं—उसका सुख अवर्णनीय है।

यद्देवमनुजा सर्वे सौख्यमक्षार्थसभवम्।
निर्विशन्ति निराबाधं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम्॥६१॥

सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्त महर्द्धिकम्।
भाविनो यच्च भोक्ष्यन्ति स्वादिष्ट स्वान्तरञ्जकम्॥६२॥

अनन्तगुणित तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम्।
एकस्मिन समये भुङ्क्ते तत्सुख परमेश्वर ॥६३॥

जो देव और मनुष्य बाधा से रहित एव सब ही इन्द्रियों को प्रसन्न करने वाले जिस इन्द्रिय विषयजनित सुख को वर्तमान में भोग रहे हैं, समस्त अतीत काल में, उन्होंने जिस महती ऋद्धियुक्त सुख को भोगा है, तथा भविष्य में वे मन को अनुरजित करने वाले जिस स्वादिष्ट सुख को भोगेंगे, उससे अनतगुणे अतीन्द्रिय स्वाभाविक उस सुख को वह सिद्ध परमात्मा एक समय में भोगता है।

निद्रातन्द्राभय-भ्रान्तिरागद्वेषार्तिसशयै ।
शोकमोहजराजन्ममरणाद्यैश्च विच्युत ॥६६॥

क्षुत्तृट्श्रममदोन्मादमूर्च्छामात्सर्यवर्जित ।
वृद्धिह्रासव्यपेतात्मा कल्पनातीत वैभव ॥६७॥

निष्कल करणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जन ।
अनतवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दित ॥६८॥

परमेष्ठी परंज्योति परिपूर्ण सनातन ।
ससारसागरोत्तीर्ण कृतकृत्योऽचलस्थिति ॥६९॥

सतृप्त सर्वदैवास्ते देवस्त्रैलोक्यमूर्धनि।
नोपमान सुखादीना विद्यते परमेष्ठिन ॥७०॥

चरस्थिरार्थसंकीर्णे मृग्यमाण जगत्त्रये।
उपमानोपमेयत्व मन्ये स्वस्यैव स स्वयम्॥७१॥

निद्रा, आलस्य, भय, भ्रम, राग, द्वेष, पीडा, सशय, शोक, मोह, जरा, जन्म, और मरण आदि से रहित, क्षुधा, तृष्णा परिश्रम, मद, उन्माद (विपयासक्ति), मूर्च्छा और ईर्ष्याभाव से विहीन, वृद्धि-हानि से रहित, स्वरूप से सयुक्त, अकल्पनीय (अचिन्त्य) वैभव से परिपूर्ण, शरीर से रहित, इन्द्रियों से अतीत, विकल्पों से निष्कान्त, कलंक से मुक्त, अनत वीर्यस्वरूप को प्राप्त, शाश्वतिक आनद से प्रशसित, परम पद में स्थित, उत्कृष्ट ज्ञान-ज्योति से सहित, परिपूर्ण सनातन संसार रूप समुद्र के पार को प्राप्त, कृतकृत्य और स्थिर स्थिति से सयुक्त वह सिद्ध परमात्मा अतिशय सन्तुष्ट होकर सदा तीन लोक के शिखर पर (सिद्धालय में) स्थित रहते हैं। उन सिद्ध परमेष्ठी के अनत सुखादि गुणों के लिए अस्थिर और स्थिर पदार्थो से परिपूर्ण लोक में यदि किसी उपमान को खोजा जाये तो वह उपलब्ध नहीं हो सकता है। अर्थात् अनत ज्ञानादि गुणों की किसी अन्य के साथ तुलना नहीं की जा सकती है। वह स्वय ही अपने उपमान और उपमेय स्वरूप को प्राप्त है, ऐसा मैं मानता हूँ—सिद्ध परमात्मा के वे गुण उसी के समान हैं, अन्य किसी के भी समान नहीं हैं।

यतोऽनन्तगुणाना स्यादनन्ताशोऽपि कस्यचित्।
ततो न शक्यते कर्तुं तेन साम्य जगत्त्रये॥७२॥

यदि सिद्ध परमेष्ठी के अनत गुणों का अनन्तवॉ भाग भी किसी अन्य के सभव होता तो उसके साथ उनकी उपमा (तुलना) की जा सकती थी, परन्तु ऐसा नहीं। इसलिए तीनों लोकों में उनकी तुलना अन्य से नहीं की जा सकती।

शक्यते न यथा ज्ञातु पर्यन्त व्योमकालयो।
तथा स्वभावजाताना गुणाना परमेष्ठिन॥७३॥

जिस प्रकार आकाश और काल का अन्त नहीं जाना जा सकता है उसी प्रकार सिद्ध भगवान के स्वाभाविक गुणो का भी अत नहीं जाना जा सकता है।

गगनघनपतङ्गहीन्द्रचन्द्राचलेन्द्र-
क्षितिदहनसमीराम्भोधिकल्पद्रुमाणाम्।
निचयमपि समस्त चिन्त्यमान गुणाना,
परमगुरुगुणौघैर्नोपमानत्वमेति॥८४॥

यदि सिद्धात्मा की तुलना के लिए आकाश, मेघ, सूर्य, नागराज, इन्द्र, चन्द्र, सुमेरू, पृथ्वी, अग्नि, वायु, समुद्र और कल्पवृक्ष के समस्त गुणों के समूह का भी विचार करें तो वह भी सिद्ध परमेष्ठी गुणसमूह के साथ उपमा को प्राप्त नहीं होते हैं—सिद्ध परमात्मा के गुण उपर्युक्त

आकाशादिकों के गुणों से उत्कृष्ट होने के कारण उनके साथ भी उनकी तुलना नहीं की जा सकती है। हीनाधिकता की विशेषता से रहित व विकार से न उत्पन्न होने वाले वे सिद्धात्मा के गुण न तो असत्पूर्व भी है— शक्ति की अपेक्षा उनका सद्भाव यद्यपि पूर्व में था, फिर भी व्यक्ति की अपेक्षा वे अपूर्व ही हैं क्योंकि शक्तिरूप में विद्यमान रहकर भी उनका पूर्व में कभी इस रूप से विकास नहीं हुआ था। किंतु उनके वे गुण अपनी स्वाभाविक विशेषता को प्राप्त हो जाने के अभूतपूर्व भी हैं, कारण कि उनकी यह विशेपता पूर्व में भी कभी प्रकट नहीं हुई थी। अभिप्राय इसका यह है कि सिद्धों के जो अनतज्ञानादि गुण हैं वे सर्वथा अभूतपूर्व नहीं हैं, क्योंकि उनका सद्भाव शक्तिरूप से ससार अवस्था में सभी प्राणियों के पूर्व में भी रहता है। इसका भी कारण यह है कि यदि वे शक्ति की अपेक्षा पूर्व में न होते तो फिर उस अवस्था में भी प्रकट नहीं हो सकते थे। उदाहरण के रूप में तिल के दानों में शक्तिरूप से तेल जब विद्यमान रहता है तभी कोल्हू आदि की सहायता से उनमे वह प्रकट होता हुआ देखा जाता है। परंतु बालू के कणों में वह चूंकि शक्ति रूप से विद्यमान नहीं है, इसीलिए उनमे तेल के निकालने का कितना भी प्रयत्न क्यो न किया जावे, वह त्रिकाल में भी पगट नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह कि सिद्ध परमात्मा के वे गुण सब ही प्राणियों मे अव्यक्तरूप से विद्यमान हैं जो अपने पुरुपार्थ से व्यक्त भी किये जा सकते हैं, अतएव पत्येक आत्महितैषी जीव को अपनी उस शक्ति का परिज्ञान प्राप्त करके उन स्वाभाविक गुणों के प्राप्त करने का पयत्न करना चाहिए। ओर भी,

> वाक्पथातीतमाहात्म्यमनन्तं ज्ञानवैभवम।
> सिद्धात्मना गुणग्राम सर्वज्ञज्ञानगोचरम्॥७५॥
>
> स स्वय यदि सर्वज्ञ सम्यग्ब्रूते समाहित।
> तथाप्येति न पर्यन्त गुणाना परमेष्ठिन ॥७६॥

सिद्धों के जिस गुण समूह की महिमा वचनों द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती हैं तथा जो अनतज्ञान के वैभव से परिपूर्ण होकर एक सर्वज्ञ का ही विषय है—छद्मस्थ का ज्ञान जिसके जानने के लिए समर्थ नहीं है, यदि सर्वज्ञ भी स्वय सावधान होकर सिद्ध परमेष्ठी के उस गुणसमूह का वर्णन भलीभाति करना चाहे तो वह भी उन गुणों के अत को नहीं पा सकता है, क्योंकि वे अनत हैं ओर शब्द परिमित हैं।

> त्रैलोक्य-तिलकीभूत निःशेपविपयच्युतम्।
> निर्द्वन्द्व नित्यमत्यक्ष स्वादिष्ट स्वस्वभावजम॥७७॥
>
> नैरौपम्यमविच्छिन्न स देव परमेश्वर।
> तत्रैवास्ते स्थिरीभूत पिबन् शाश्वत्-सुखामृतम्॥७८॥

वह सिद्ध परमात्मा तीनों लोकों में श्रेष्ठभूत, समस्त विपयों के संबध से रहित, निराकुल,

अविनश्वर, इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित, सुस्वादु, आत्मस्वभाव से उत्पन्न (स्वाधीन), असाधारण और व्यवधान से वर्जित ऐसा सुखरूप अमृत का सदा पान करता हुआ निरतर अनत सुख का अनुभव करता हुआ—वहीं पर स्थिर होकर रहता है—उसका फिर ससार में पुनरागमन नहीं होता है।

अनत वीर्य से सयुक्त, केवलदर्शन, केवलज्ञान व समीचीन सुखरूप अमूल्य रत्नों से व्याप्त, संसार रूप अधकार के नष्ट करने में सूर्य समान, समस्त विकल्पों से रहित, अबाधित महिमा से परिपूर्ण और निरन्तर सुख का स्थानभूत वह वन्दनीय सिद्ध परमात्मा अपने मात्र से उत्पन्न, अविनश्वर व सर्वोत्कृष्ट आनदरूप अमृत के समुद्र में मग्न होकर सर्वदा उस शोभायमान तीन लोक के शिखर पर ही रहता है।
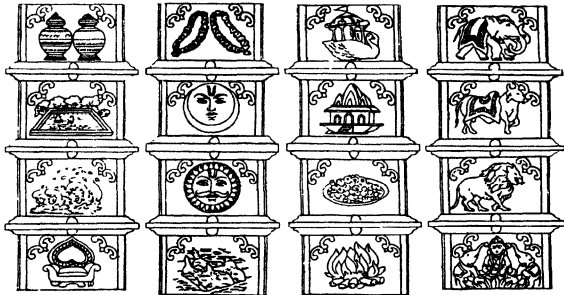
तीर्थकरकी माता के सोलह स्वप्न

सिद्ध—परमेष्ठी का स्वरूप और उनकी महिमा

❑ पं. रतनलाल जैन, इन्दौर

अनादिकाल से आज तक अनन्तानत सिद्ध परमात्मा हो गये, हो रहे हैं और होंगे। जिस प्रकार भट्ठी धमनी आदि कारणों की युक्तिपूर्वक योजना करने से किट्ट कालिमा आदि सब मैल निकल जाता है और शुद्ध सुवर्ण की प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार जो यह ससारी आत्मा ज्ञानावरणादि (घाति-अघाति) कर्मों से मलिन हो रहा है उसे शुद्धोपयोग रूप भट्ठी में तपाकर जिसने घातिया-अघातिया कर्मरूप कालिमा को निकाल कर, शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति की है और जो लोकशिखर पर विराजमान हुआ है, जो सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व और अगुरुलघुत्व आदि गुणों से सहित है वह सिद्धात्मा है।

जो पूर्णरूप से अपने स्वरूप में स्थित है, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने अपने साध्य को सिद्ध कर लिया है और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं।

जिन्होंने सुदूर भूतकाल से बाधे हुए आठ प्रकार के कर्मों को शुक्लध्यान रूप अग्नि के द्वारा नष्ट कर दिया है अथवा सिद्ध-गति को प्राप्त कर लिया है और जो पुनर्जन्म से छूटकर पूर्णरूप से अपने को प्राप्त कर चुके हैं ऐसे सिद्धों को निरतर नमस्कार है।

ये सिद्ध भगवत अजनसिद्ध, गुटिकासिद्ध, खड्गसिद्ध, माया-सिद्धादि से विलक्षण स्वात्मोपलब्धि-रूप केवलज्ञानादि अनत गुणों से युक्त हैं। कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार में कहते हैं—

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति॥ (गा ७२)

जिन्होंने अष्ट कर्मों के बन्धनों को नाश कर दिया है, जो आठ महागुणों से सहित हैं तथा लोकाग्र में स्थित नित्य और अविनाशी हैं वे सिद्ध हैं। तथा जन्म-मरण से रहित, उत्कृष्ट, अष्टकर्मों से दूरवर्ती, शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य चार स्वभावधारी, क्षयरहित, अविनाशी तथा छेदरहित-तत्व ही सिद्ध परमात्मा हैं। सिद्ध परमेष्ठी अनन्तज्ञानी हैं, कृतकृत्य हैं, देवाधिदेव हैं, इन्द्र-चक्रवर्ती-तीर्थंकर आदि समस्त महापुरुषों के द्वारा वदनीय परमपुरुष, परमब्रह्म, परमदेव, परमेश्वर, परमकृपालु, परमदयालु परमेष्ट, परमानन्द, परमज्योति, अजर, अचर, अचल, अक्षय, अकृत, अकन, अकथ, अवेदी, अविकारी, अमगी, अरगी, अभोगी, अयोगी, अरोगी, अभेदी, अखेदी, अविनाशी, अक्रोधी, अमानी, अमायी, अलोभी, अरागी, अमोही, अगद, अगम, अजय, निर्भेद,

निर्विकल्प, निराकार, निरंजन, निर्मल, निर्भय, निर्मम, निर्मोही, निर्लेप, निर्वधि, निर्विकार, निर्विघ्न, जगतदयाल, जगत्प्रतिपाल, जगदाधर, जगत्केतु, जगदानन्द, जगदीश, जगन्नाथ, जगदीश्वर, जगद्‌गुरु, जगज्ज्योति, महाज्ञानी, महाध्यानी, महातेजस्वी, महानुभाव, महापुरुष, महाप्रभु, महाबली, महात्मा, दीनबन्धु, दीनानाथ, दीनदयाल, दीनरक्षक, दीनवत्सल, ज्ञानसागर, ज्ञानगम्य, ज्ञानदीपक, ज्ञानवान्, गुणरत्नाकर, क्षमासागर, धर्मदिवाकर, अशरण-शरण, भवभयहरण, शिवसुखकरण, सत्वानुशरण, कुमतिकुठार, पाप-विडार, ज्ञानप्रचार, शक्ति संचार, पतितपावन. भक्तवत्सल, सच्चिदानन्द, सदानन्द, बुद्धानन्द, ज्ञानानन्द, निजानन्द, परमानन्द, सर्वज्ञान, सर्वदर्शनादि उत्तमोत्तम गुणाकृत सिद्ध परमेष्ठी है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ती द्रव्यसग्रह में सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं—

> णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
> लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहि सजुत्ता॥ (गा. १४)

जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सहित हैं और अंतिम शरीर से कुछ कम हैं और उर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में स्थित है, निल्य हैं तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से युक्त है वे सिद्ध परमात्मा हैं और भी,

> णट्ठट्ठकम्मदेहो लायालोयस्स जाणओ दट्ठा।
> पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो॥ (गा ५१)

आठ कर्मों तथा पाच शरीरों से रहित, लोक-अलोक को जानने व देखने वाले, पुरुषाकार से लोक के शिखर पर स्थित आत्मा सिद्ध-परमात्मा हैं, उनका ध्यान करो।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ती गोम्टसार जीवकाण्ड में कहते हैं—

> अट्ठविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरजणा णिच्चा।
> अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥ (गा ६८)

जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित हैं, अनन्त सुखरूपी अमृत के अनुभव करने वाले शान्तिमय हैं, मिथ्यादर्शनादि भावकर्मरूपी अञ्जन से रहित हैं, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु, ये आठ गुणों से सहित हैं, कृतकृत्य हैं—अर्थात् जिन्हें कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा है, लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले हैं वे सिद्ध परमात्मा हैं। और भी,

> जह कंचणग्गिगय, मुचइ किट्टेण कालियाए य।
> तह कायबधमुक्का, अकाइया झाणजोगेण॥ (गा २०३)

जिस प्रकार सोलह ताव के द्वारा तपाए हुए सुवर्ण में बाह्य किट्टिका और अभ्यन्तर कालिमा इन दोनों ही प्रकार के मल का बिल्कुल अभाव हो जाने पर, फिर किसी दूसरे मल का सम्बन्ध

नहीं होता उसी प्रकार महाव्रत और धर्मध्यानादि से सुसस्कृत एवम् सुतप्त आत्मा में से एक बार शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा बाह्य काय और अन्तरग मलकर्म के सम्बन्ध के सर्वथा छूट जाने पर फिर उनका बन्ध नहीं होता और वे सदा के लिए काय और कर्म से रहित होकर सिद्ध हो जाते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी नियमसार में कहते हैं—
णट्ठट्ठकम्मबधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, सिद्धा ते एरिसा होंति॥ (गा ७२)

परिपूर्णरूप से अन्तर्मुखाकार ध्यान और ध्येय के विकल्प से रहित जो निश्चय परम शुक्लध्यान है उस ध्यान के बल से आठ कर्मों के बन्धसमूह को जिन्होने नष्ट कर दिया है जो क्षायिक सम्यक्त्व, अनंतज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व इन आठ गुणों की पुष्टि से सन्तुष्ट हैं। तीन तत्त्व के स्वरूपों में विशिष्ट गुणों के आधारभूत होने से जो परम हैं अर्थात् बहिस्तत्त्व, अन्तस्तत्त्व और परमात्म तत्त्व स्वरूप हैं। तीन लोक के शिखर से ऊपर गति-हेतुरूप धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोक के अग्रभाग (तनुवातवलय) में विराजमान हैं, व्यवहारनय से अभूतपूर्व पर्याय से प्रच्युत न होन से जो नित्य हैं, अविनाशी हैं ऐसे वे भगवान सिद्धपरमेष्ठी होते हैं।

'सिद्धभक्ति' में कहा गया है—

अट्ठविहकम्ममुक्के अट्ठगुणड्ढे अणोवमे सिद्धे।
अट्ठम पुढविणिविट्ठे णिट्ठियकज्जे य वदिमो णिच्च॥

ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त हुए, आठ गुणो स सम्पन्न, अष्टम पृथ्वी (ईपत्प्राग्भार) अर्थात् मोक्षभूमि में स्थित और अपने कार्य को जिन्होंने समाप्त कर दिया है उन अनुपम सिद्धों को मैं नित्य नमस्कार करता हूँ।

जिन्होंने ज्ञानावरण की पाच, दर्शनावरण कर्म की नौ, वेदनीय कर्म की दो, मोहनीय कर्म की अट्ठाइस, आयु कर्म की चार, नाम कर्म की तिरानवे, गोत्रकर्म की दो और अतराय की पाच इस प्रकार आठों कर्मों की १४८ प्रकृतियों को नष्ट कर दिया है वे सिद्ध परमात्मा होते हैं। उन सिद्धों ने जो सुख प्राप्त कर लिया वह अतिशय अर्थात समार अवस्था में प्राप्त सुखों से बहुत अधिक है, अव्याबाध बाधा से रहित है अर्थात् उस सुख की अनुभूति में कभी बाधा नहीं आती। अनन्त है—उसका कभी अन्त नहीं होता, अनुपम है—उसकी तुलना ससार के किसी भी सुख से नहीं की जा सकती। उत्कृष्ट है, इन्द्रिय विषयों से अतीत है। सिद्ध पद प्राप्त करने से पहले ऐसा सुख कभी प्राप्त नहीं हुआ और प्राप्त हो जाने के बाद वह कभी छूटता नहीं, सदा बना रहता है। वे परमात्मा मैल से रहित हैं। शरीर से, इन्द्रियों से रहित हैं। केवल ज्ञानमय हैं, विशुद्ध हैं, परमपद में स्थित हैं, परमजिन हैं, मोक्ष को देने वाले हैं। वे अविनाशी हैं, नित्य

हैं, अचल है और आलम्बन रहित हैं। आगे गमन नहीं करते। नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

> णिव्वाणमेव सिद्धा, सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
> कम्मविमुक्को अप्पा, गच्छइ लोयग्गपज्जत॥ (गा. १८३)

निर्वाण (अवस्था) ही सिद्ध (अवस्था) है और सिद्धावस्था ही निर्वाण है। अर्थात निर्वाण और निर्वाण-प्राप्त जीव में कोई भेद नहीं है। आत्मा कर्मों से मुक्त होती है, वह मुक्त होते ही ऊपर लोक के अग्रभाग तक जाती है जहा न सासारिक सुख, न दुख, न पीडा, न बाधा, न मरण, न जन्म, न कर्म है, न नोकर्म है, न चिन्ता है, न आर्त और रौद्रध्यान है तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान भी नहीं है वही निर्वाण है।

आचार्यदेव गो जीवकाड में गुणस्थानातीत सिद्धों का वर्णन करते हैं–

सिद्धों का स्वरूप कथन करने से अन्य मतावलम्वी अपने-अपने मत के अनुसार ईश्वर को विभिन्न रूप मे मानते हैं, उन सबके मत का सर्वदा निराकरण हो जाता है जैसे–

(१) सदाशिव मत के अनुयायी जीव को सदा कर्म से रहित ही मानते हैं। उसके निराकरण के लिए उनसे कहा गया कि आठ कर्मों से रहित होने पर जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है।

(२) सांख्यमत में बन्ध, मोक्ष, सुख, दुख आदि प्रकृति को होते हैं, आत्मा को नहीं–इसके निराकरण को 'अनन्तसुख' स्वरूप विशेषण दिया है।

(३) एक अन्य मत मुक्त जीव को लौटना मानता है। उसको दूषित करने के लिए निरंजन अर्थात् भावकर्मों से रहित बताया, क्योंकि नवीन कर्मबन्ध न होने से ससार में सिद्धात्मा का आगमन नहीं है।

(४) बौद्धों का मत है कि सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं। इस सिद्धान्त को दूषित करने के लिए कहा कि ईश्वर (सिद्ध) नित्य हैं, शाश्वत हैं, विनाश को प्राप्त नहीं होते हैं।

(५) नैयायिक तथा वैशेषिक मुक्त अवस्था में बुद्धि आदि गुणों का विनाश मानते हैं, उनको समझाते हुए आ देव कहते हैं कि सिद्ध ज्ञानादि आठ गुणों से सहित हैं और ये गुण कभी अभाव को प्राप्त नहीं होते हैं।

जो ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं, रचना करने वाले मानते हैं उनसे कहा गया है कि ईश्वर तो कृतकृत्य अवस्था को प्राप्त हो गए हैं, उन्हें कोई भी कार्य करना शेष नहीं रहा है।

(६) एक और मत है जिसके अनुसार–मुक्त जीव हमेशा ऊपर ही गमन करता जाता है कभी जीव ठहरता ही नहीं। उन्हे भी गुरु बताते हैं कि जहां तक धर्मद्रव्य का अस्तित्व है

अर्थात् लोकाग्र तक ही जाते हैं, आगे गमन नहीं करते हैं, वहीं स्थित हो जाते हैं। इस प्रकार नीति एवं न्याय से अविरोध सिद्धों का स्वरूप बताया गया है।

भावप्राभृत में कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि—

> भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बधवाइमित्तेण।
> इय भाविऊण उज्झसु गंधं अब्भतर धीर॥ (गा ४३)

जो रागादि भावों से मुक्त है वही मुक्त है। किन्तु जो बन्धु बान्धव आदि से मुक्त है वह मुक्त नहीं है अर्थात् अभ्यन्तर परिग्रह के होते हुए मात्र बाह्य परिग्रह का त्याग करना कार्यकारी नहीं है। सम्पूर्ण परिग्रह का त्यागी ही मुक्त अवस्था को पा सकता है। जब दर्शनमोहनीय का तथा चारित्रमोह की अनन्तानुबंधी चौकडी का सर्वथा क्षय हो जाता है, तब क्षायिक ज्ञानरूपी सूर्य प्रकट होता है। वही क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके घातिया कर्मों को नाशकर केवलज्ञानी बनते हैं तथा अघातिया कर्मों को भी ध्यान की अग्नि में भस्म करके कंचन समान बन जाते हैं। जैसे स्फटिक मणि जहाँ से भी देखो वहीं से ही निर्मल, स्वच्छ, सुन्दर है इसी प्रकार से सिद्धों का आत्मस्वरूप निष्कलक होता है। प्रवचनसार में भी क्षायिक अतीन्द्रिय ज्ञान की महिमा का कथन है—

> अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजाद।
> पलय गय च जाणादि त णाणमदिदिय भणिय ॥४१॥

जो ज्ञान प्रदेशरहित परमाणु वगैरह को, प्रदेश सहित जीवादि द्रव्यों को, मूर्त और अमूर्त पदार्थों को तथा उनकी आगे होने वाली और नष्ट हुई पर्यायों को जानता है उस ज्ञान को अतीन्द्रिय ज्ञान कहा है। उस ज्ञान की महिमा का वर्णन नहीं हो मकता। पडित द्यानतरायजी सिद्धपूजा में लिखते हैं "यमराज की चोट बचायक हो, अर्थात छद्मस्थों से नहीं जीतने वाले काल (मृत्यु) को भी आपने जीत लिया। जब जन्म ही नहीं तो मृत्यु कहां से होगी। "तुम ध्येय महामुनि ध्यायक हो" अर्थात हे सिद्ध परमेष्ठी भगवान्। आप ध्येय हैं, केन्द्र है, ध्रुव हैं, विपय हैं, इस कारण तपस्वी महामुनि सन्त आप का ध्यान करते हैं। "जगजीवन के मन भायक हों" ससारी प्राणी जब दुखी होता है तब आपकी ही पुकार करता है। आपका नाम स्मरण करने से ही असाता का रस सूखकर सातारूप परिणत हो जाता है। प्रभु आप सबके मनभावन हो। "जय रिद्धि सुमिद्धि बढायक हो" आप सुखकारक आत्मकल्याणक, भव्यों को मनवांछित सामग्री देने वाले हैं। सिद्ध-परमेष्ठी इतने पवित्र हैं कि उनके नामस्मरण मात्र से ही जन्मजन्मान्तर के पापकर्म तडातड टूट जाते हैं। एक जीव जिस भूमि से मुक्त होता है उस भूमि के दर्शन से ही इतना सातिशय पुण्यबध होता है कि उसका वर्णन नहीं कर सकते। कवि ने कहा है—

> कागज सब धरती करूँ, लेखनी सब बनराय।
> सात समुद्र की मसि करूँ, प्रभु गुण लिखा न जाय॥

सारी पृथ्वी का कागज बनाओ, सारे वृक्षों की कलम बनाओ, सारे समुद्रों की स्याही बनाओ और सरस्वती को प्रभु गुण लिखने के लिए बिठाओ, कागज, कलम, स्याही समाप्त हो जायेंगे लेकिन सिद्धों के सुख का, गुणों का वर्णन पूरा नहीं होगा।

भीष्म पितामह जब युद्ध भूमि में मरणासन्न अवस्था में थे तब दो चारणऋद्धिधारी मुनीश्वर आते हैं, "णमो सिद्धाण" कहने को कहते हैं जिसके प्रभाव से वे स्वर्ग में देव होते है। तीर्थंकर किसी के सामने झुकते नहीं हैं लेकिन जब वैराग्य की धारा बहती है, दीक्षा के लिए उद्धत होते हैं उस समय "नम सिद्धेभ्य" कहकर सिद्ध भगवान को साक्षी में रखकर ही दीक्षा लेते हैं। जैसे सूर्य उष्णता का और प्रकाश का उत्कृष्ट आधार है, समुद्र जल का उत्कृष्ट आधार है उसी प्रकार सिद्ध भगवान आनन्द-सुख शान्ति के उत्कृष्ट आधार हैं।

एक मुख में एक जीभ होती है, उससे कोई काम नही चल सकता इसीलिए एक मुख में अनन्त जीभ लगाओ, ऐसे अनन्त मुख बनाओ और उससे सिद्धों के एक समय के सुख का अनन्तवॉ भाग लो तो भी वर्णन नहीं होगा। तीन लोक तीन काल के पूरे शब्दों को एकत्रित करो, उसे भी अनतानत गुणा कर लो, इधर सिद्धों के एक समय के सुख का अनन्तवाँ भाग लो, वर्णन करने से पूरी शब्दराशि समाप्त हो जायेगी लेकिन सुख का वर्णन नहीं हो पायेगा, उसे तो मात्र केवली ही जान सकते हैं। क्योंकि शब्द सीमित हैं, और सीमित शब्द असीमित, अतीन्द्रिय सुख का वर्णन नहीं कर सकते।

तिर्यंच से मनुष्य सुखी है। मनुष्यों से राजा, राजा से महाराजा, उससे अधिक अर्द्धचक्रवर्ती, जघन्य भोगभूमि के जीव, मध्यम भोगभूमि वाले, उत्कृष्ट भोगभूमि वाले देव, इन्द्र १६ स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश, ५ पचोत्तर वाले क्रमश अधिक- अधिक सुखी हैं। उसमें भी सर्वार्थसिद्धिवाले देव अधिक सुखी हैं। सभी सर्वार्थसिद्धि वाले देवों के सुख को भी अनत से गुणा करो तो भी सिद्धों के सुख की बराबरी नहीं हो सकती। क्योंकि वह अतीन्द्रिय, सहज, अव्याबाध, आत्मिक स्वाधीन हैं शेष सब इन्द्रियजन्य, क्षणिक विनाशी पराधीन सुखाभास ही हैं। ऐसे सुख को कैसे प्राप्त करें? कोई मजदूर कावटिका द्वारा निरन्तर बोझा ढोता है और उससे रहित होने पर सुखी होता है। ऐसे ही ससारी जीव काय की कावटिका से अनत दुखों के कारण कर्मरूपी बोझ को लेकर नाना गतियों में लिये-लिये फिरता है। परिणामत दुखों को भोगता है।

इस प्रकार सिद्धों का सुख अनुपम है, अलौकिक है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। वे इतने पवित्र हैं कि उनके नाम लेने मात्र से ही जन्मजन्मान्तर के पाप कर्म दूर हो जाते हैं।

जिन्हें सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति हो गई है ऐसे अनन्तसुख के धारी अनन्तानन्त सिद्ध-परमात्मा हो गये हैं, हो रहे हैं और होंगे, उनको मेरा मन-वचन-काय से, अत्यंत भक्तिभावना से, सबको एक साथ व प्रत्येक को अलग-अलग नमस्कार हो।

साधु संघ नायक : आचार्य

❑ *उपाध्याय श्री भरतसागरजी*

आयार पचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचार।
उवदिसदि य आयार एसो आयारव णाम॥ (भ आ/मू ४१९)

जो मुनि पॉच प्रकार के आचार निरतिचार स्वय पालता है और इन पाच आचारों में दूसरों को भी प्रवृत करता है, तथा आचार का शिष्यों को भी उपदेश देता है, उमे आचार्य कहते हैं।

'सिस्साणुग्गहकुसलो'—अर्थात् शिष्यों पर अनुगह करने में कुशल आचार्य कहलाते हैं।

साधुओं को दीक्षा-शिक्षा दायक, अनेक दोप निवारक, तथा अन्य अनेक गुण विशिष्ट सघनायक साधु को आचार्य कहते हैं। वीतराग होने के कारण पंचपरमेष्ठी में उनका स्थान है। इनके अतिरिक्त गृहस्थियों को धर्म-कर्म का विधि-विधान कराने वाला गृहस्थाचार्य है। पृजा-प्रतिष्ठा आदि कराने वाला प्रतिष्ठाचार्य है। सल्लेखना गत क्षपक साधु को चर्या करानेवाला निर्यापकाचार्य है। इनमें से साधु-रूपधारी आचार्य ही पूज्य हैं, अन्य नहीं।

पचाचारसमग्गा पचिदियदतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति॥ (नियमसार ७३)

पचाचारों से परिपूर्ण, पञ्चेन्द्रिय रूपी हाथी के मद का दलन करने वाले, धीर और गुण गभीर, ऐसे आचार्य होते हैं। 'आचरन्ति तस्माद् व्रतानीत्याचार्या ।' (सर्वार्थ सिद्धि ९/२४/४४२) अर्थात् जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करते हैं वह आचार्य कहलाते हैं।

'पञ्चविधमाचार चरति चारयतीत्याचार्य, चतुर्दशविद्यास्थानपारग, एकादशाङ्गधर, आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमय-परसमय-पारगो व मेरुरिव निश्चल, क्षितिरिव सहिष्णु, सागर इव वहिक्षिप्तमल, सप्तभयविप्रमुक्त आचार्य ।'

जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाच आचारों का स्वय आचरण करता है और दूसरे साधुओं से आचरण कराता है उसे आचार्य कहते हैं। जो चौदह विद्यास्थानों का पारगत है, ग्यारह अग का धारी है, अथवा आचारागमात्र का धारी है अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमय में पारगत है, मेरु के समान निश्चल है, पृथ्वी के समान सहनशील है, जिसने समुद्र के समान मल अर्थात् दोषों को वाहर फेक दिया, और जो सात प्रकार के भय से रहित है, उसे आचार्य कहते हैं।

प्रवचनरूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात परमागम के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिसकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, देश, कुल, जाति से शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, जो मेरू पर्वत के समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिह के समान निर्भीक हैं, जो निर्दोष हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

संगह-णुग्गह कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती।
सारण-वारण-सोहण-किरियुज्जुतो हु आइरियो ॥३१॥ (धवला पु १)

सगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती।
किरिआचरणसुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो य ॥ (मूलाचार १५८)

जो संघ के सग्रह अर्थात् दीक्षा और अनुग्रह करने में कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागम के अर्थ में विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और शोधन अर्थात् व्रतों की शुद्धि करने वाली क्रियाओं में निरन्तर उद्यत हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहते हैं।

जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, और वीर्य इन पॉच आचारों का स्वयं पालन करते हैं, और दूसरों से (अन्य साधुओं से) पालन कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं।

"आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते" अर्थात् अनादि रूढि से और योग से भी, निरूक्त्यर्थ से भी आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है कि जो संयमी अन्य सयमियों से पाच प्रकार के आचारों का आचरण कराता है वह आचार्य कहलाता है। जो व्रत के खण्डित होने पर फिर से प्रायश्चित लेकर उस व्रत में स्थिर होने की इच्छा करने वाले साधु को अखण्डित व्रत के समान व्रतों के आदेशदान के द्वारा प्रायश्चित्त को देता है वह आचार्य कहलाता है।

आचार्य परमेष्ठी अनेक गुणों के विभूषित होते हैं। ३६ मूलगुणों के धारक एवं ८ विशेष गुणों के पालक तथा अन्य गुणों से परिपूर्ण होते हैं।

३६ मूलगुण हैं--१२ तप, ६ आवश्यक, ५ आचार, १० धर्म, और ३ गुप्ति।

दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भतरो मुणेयव्वो।
एक्केक्को विय छद्धा जधाकम त परुवेमो ॥३४५॥ (मूलाचार, ३४५)

बाह्य व अभ्यन्तर के भेद से तपाचार भी दो प्रकार का है, उनमें भी एक-एक के ६-६ भेद हैं।

बाह्य तप

'अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तप।' (तत्वार्थ सूत्र ९ अ १९)

तप—तप के अनुष्ठान का नाम तपाचार है। जो बाह्य जनों में प्रकट है वह बाह्य तप है।

'कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तप। यद्वा मार्गाविरोधेन कर्मोच्छेदाय तप्यते।" कर्म क्षय के लिए जो तपा जाता है वह तप है। अथवा नियमक्रिया रत्नत्रय रूप मार्ग में किसी प्रकार की हानि न पहुंचाते हुए ज्ञानावरण आदि का या शुभ-अशुभ कर्मों का निर्मूल विनाश करने के लिए जो तपा जाता है उसी का नाम तप है।

अनशन तप—'अनशनं चतुर्विधाहारपरित्याग।' चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है।

अनशन तप के लाभ—

'दृष्टफलानपेक्ष संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनम्।'—दृष्टफल, मन्त्रसाधना आदि की अपेक्षा किये बिना सयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मो का विनाश, ध्यान और आगम की प्राप्ति के लिए अनशन तप किया जाता है।

काल की मर्यादा सहित और जीवनपर्यन्त के भेद से अनशन तप दो प्रकार का है। काल की मर्यादा सहित साकाक्ष है और यावज्जीवन अनशन निराकाक्ष होता है। (मूलाचार ३४७)

साकांक्ष अनशन—वेला, तेला, चोला, पाँच उपवास, पन्द्रह दिन और महीने भर का उपवास, कनकावली, एकावली आदि तपश्चरण के विधान में साकांक्ष अनशन कहे जाते हैं। अर्थात् आहार का त्याग करना, व्रतों का आचरण करना, समय को निर्धारित कर भोजन ग्रहण करना साकांक्ष अनशन कहलाता है। इसे श्रेष्ठ आचार्य ग्रहण करते हैं।

निराकांक्ष—भक्तप्रतिज्ञा, इगिनी और प्रायोपगमन तथा ऐसे और जो भी अनशन हैं वे निराकांक्ष अनशन कहे जाते हैं।

अवमौदर्य तप—अवमौदर्यतृप्तिभोजन। अतृप्ति भोजन अर्थात् पेट भर भोजन न करना अवमौदर्य है।

> बत्तीसा किर कवला परिसस्स दु होदि पयदि आहारो।
> एगकवलादिहि तत्तो ऊणियगहणं उमोदरिय॥ (मूलाचार, ३५०)

पुरुष का निश्चित रूप से स्वभाव से बत्तीस कवल आहार होता है। उस आहार में से एक कवल आदि क्रमश कम ग्रहण करना अवमौदर्य तप है।

संयम को जागृत रखने, दोषों के प्रशम करने, सन्तोष और स्वाध्याय आदि की सुखपूर्वक सिद्धि के लिए अवमौदर्य तप किया जाता है। भूख से कम खाने वाले को प्रमाद नहीं होने से ध्यान, स्वाध्याय आदि निर्विघ्न होते हैं किन्तु अधिक भोजन करने वाले के प्रमाद के षडावश्यक

में बाधा पहुँचती है।

रस परित्याग—दूध, दही, घी, तेल, गुड और लवण इन रसों का परित्याग व तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल तथा मधुर इन पॉच प्रकार के रसों का त्याग रसपरित्याग है। "रसानां परित्यागो रसपरित्याग, स्वाभिलषितस्निग्धमधुराम्लकटुकादिरसपरिहार"। अर्थात् अपने लिए इष्ट, स्निग्ध, मधुर अम्ल, कटुक आदि रसों का परिहार करना रस परित्याग तप कहलाता है।

वृत्तिपरिसंख्यान—

वृत्ते परिसंख्या वृत्तिपरिसख्या गृहदायकभाजनौदनकालादीनां परिसंख्यानपूर्वको ग्रह । (मूला. ३४६)

आहार की चर्या में परिसंख्या—गणना अर्थात् नियम करना। गृह का, दातार का, बर्तनों का, भात आदि भोज्य वस्तु का या काल आदि का गणनापूर्वक नियम करना वृत्तिपरिसंख्यान है। जैसे—आदि में सिर्फ मूग ही खाऊंगा। वृत्तिपरिसंख्यान तप से इच्छाओं का निरोध होकर क्षुधा व तृषा को सहन करने का अभ्यास होता है।

कायक्लेश—

कायस्य शरीरस्य परिताप कर्मक्षयाय बुद्धिपूर्वकं शोषण आतापनाभ्रावकाशवृक्षमूलादिभि'। क्लेश देना, आतापन, अभ्रावकाश और वृक्षमूल आदि के द्वारा कर्मक्षय के लिए बुद्धिपूर्व शोषण करना कायक्लेश तप है। खडे होना, कायोत्सर्ग करना, सोना, बैठना और अनेक विधिनियम ग्रहण करना, इनके द्वारा आगमानुकूल कष्ट सहन करना आदि कायक्लेश तप हैं।

इस तपश्चरण द्वारा शरीर में कष्ट-सहिष्णुता आ जाने से, घोर उपसर्ग या परीषहों के आ जाने पर भी साधु अपने ध्यान से चलायमान नहीं होते हैं।

विविक्तशयनासन—

स्त्री पशुषण्ढकविवर्जित स्थानसेवन षष्ठमिति। स्त्री, पशु, और नपुसक से वर्जित स्थान का सेवन करना विविक्तशयनासन तप है। एकान्त एव जन्तुओं की पीडा से रहित शून्य घर आदि में निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि की प्रसिद्धि के लिए संयत को शय्यासन लगाना चाहिए।

बाह्यतप का फल—

अनशन आदि करने से ज्ञानावरण आदि कर्मों की, शरीर के तेज की, रागद्वेष की और विषयों की, आशा की हानि होती है। एकाग्रचिन्तानिरोध रूप शुभध्यान आदि और संयम वृद्धिंगत होते हैं, दुख को सहने की शक्ति आ जाती है, सुख में आसक्ति नहीं होती, आगम की प्रभावना होती है अथवा ब्रह्मचर्य में निर्मलता आती है। अत बाह्य तप वह है—

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कड ण उट्ठेदि।

जेण य सद्धा जायदि जेण य जोणा ण हीयन्ते॥ (मूलाचार, ३५८)

जिससे मन अशुभ को प्राप्त नहीं होता है, जिससे श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिससे योग हीन नहीं होते हैं।

अन्तरंग तप

"मनोनियमार्थत्वात्" अर्थात् मन को नियमन करने वाले अतरग तप कहलाते हैं। (सर्वार्थसिद्धि)

"सन्मार्गज्ञा अभ्यन्तरा तदवगम्यत्वात्।" अर्थात् रत्नत्रय को जानने वाले मुनि उसका आचरण करते हैं।

पायच्छित्त विणय वेज्जावच्च तहेव सज्झाय।
झाण च विउस्सग्गो अब्भंतरओ तवो एसो॥ (मूलाचार, ३६०)

(१) प्रायश्चित्त—"प्रायश्चित-पूर्वापराधशोधन" पूर्व के किये हुए अपराधों का शोधन करना प्रायश्चित्त है। "प्रमाद दोष परिहार प्रायश्चित्तम्।" प्रमादजन्य दोष का परिहार करना प्रायश्चित्त तप है। (सर्वार्थसिद्धि)

आलोयणपडिकमण उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूल विय परिहारो चेव सद्दहणा॥ (मूलाचार ३६२)

आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दश प्रायश्चित्त के भेद हैं।

(१) आलोचना—"आचार्याय देवाय वा चारित्राचारपूर्वकमुत्पन्नापराधनिवेदन।" आचार्य अथवा जिनदेव के समक्ष अपने में उत्पन्न हुए दोषों का चारित्राचारपूर्वक निवेदन करना आलोचना है।

(२) प्रतिक्रमण—"रात्रिभोजनत्यागव्रतसहितपचमहाव्रतोच्चारण सभावन दिवसप्रतिक्रमण पाक्षिकं वा।" रात्रिभोजनत्याग व्रत सहित पाँच महाव्रतों का उच्चारण करना, सम्यक् प्रकार से उनको भाना अथवा दिवस और पाक्षिक सबधी प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है।

(३) तदुभय—"आलोचन-प्रतिक्रमणे"। आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो को करना तदुभय प्रायश्चित्त है।

(४) विवेक—"द्वि प्रकारो गणविवेक स्थानविवेको वा"। विवेक के दो भेद हैं—गणविवेक और स्थानविवेक। संसक्त अन्नादिक में दोषों को दूर करने में असमर्थ साधु जो ससक्त अन्नपान के उपकरणादि को अलग कर देता है उसे विवेक प्रायश्चित माना है।

(५) व्युत्सर्ग—मल के त्यागने आदि में अतिचार लगने पर प्रशस्तध्यान का अवलम्बन लेकर

अन्तर्मुहूर्त आदि कालपर्यन्त कायोत्सर्गपर्वक अर्थात् शरीर से ममत्व त्यागकर खडे रहना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है—

स व्युत्सर्गो मलोत्सर्गाद्यतीचारेऽवलम्ब्य सत्।
ध्यानमन्तर्मुहूर्तादि कायोत्सर्गेण या स्थिति ॥५१॥ (भ आ)

व्युत्सर्ग का अर्थ विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न रूप से माना है। उनके अनुसार—कायोत्सर्ग को व्युत्सर्ग करते हैं। दु स्वप्न आनेपर, खोटे विचार होने पर, मलत्याग दोष लगने पर, नदी या महाटवी (भयानक जंगल) को पार करने पर या इसी प्रकार के अन्य कार्यों से दोष लगने पर ध्यान का अवलम्बन लेकर तथा काय से ममत्व त्यागकर अन्तर्मुहूर्त या एक दिन या एक मास या एक पक्ष आदि तक खडे रहना व्युत्सर्ग तप है। (अकलंकदेव, राजवार्तिक, पृ. ६२२)

किन्हीं का कहना है कि नियत काल तक मन, वचन, काय को त्यागना व्युत्सर्ग है।

(६) तप—

कृतापराध श्रमण सत्त्वादिकगुणभूषण ।
यत्करोत्युपवासादिविधि तत्क्षालन तप ॥५२॥

शास्त्रविहित आचरण में दोष लगानेवाला किन्तु सत्त्व धैर्य आदि गुणों से भूषित श्रमण जो शास्त्रोक्त उपवास आदि करता है वह तप प्रायश्चित्त है।

आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, व्युत्सर्ग, विवेक और तप ये प्रायश्चित्त—डरकर भागना, असामर्थ्य, अज्ञान, विस्मरण, आतक, रोग आदि के कारण महाव्रतों में अतीचार लगने पर गुरु-आज्ञा एव शास्त्रोक्त विधि से किये जाते हैं।

(७) छेद—"दीक्षाया पक्षमासादिभिर्हानि ।" पक्ष मास आदि से दीक्षा की हानि कर देना छेद है। जो साधु चिरकाल से दीक्षित है, निर्मद है, समर्थ है, और शूर है उससे यदि अपराध हो जाये तो दिन, पक्ष या मास आदि का विभाग करके दीक्षा छेद देने को छेद प्रायश्चित्त कहते हैं। अर्थात् उसकी दीक्षा के समय में कमी कर दी जाती है। जैसे पॉच वर्ष के दीक्षित को चार वर्ष का दीक्षित मानना।

(८) मूल—"पुनरद्य प्रभृति व्रतारोपण।"—आज से लेकर पुन व्रतों का आरोपण करना अर्थात् फिर से दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है।

(९) परिहार—शास्त्रोक्त विधान के अनुसार दिवस आदि के विभाग से अपराधी मुनि को सघ से दूर कर देना परिहार प्रायश्चित्त है—

विधिवद्दूरात्त्यजनं परिहारो निजगुणानुपस्थनम्।
सपरगणोपस्थानं पारञ्चिकमित्यय त्रिविधि ॥ (भगवती आराधना, ५६)

परिहार प्रायश्चित्त के तीन भेद हैं—निजगुणानुपस्थान, सपरगणोपस्थान और पारंचिक।

मूलाचार के अनुसार परिहार प्रायश्चित के दो भेद हैं—गणप्रतिबद्ध और अप्रतिबद्ध।

(१) गणप्रतिबद्ध प्रायश्चित्त—जहाँ मुनिगण मूत्रादि विसर्जन करते हैं इस प्रायश्चित वाला पिच्छिका को आगे करके वहाँ पर रहता है और यतियों की वदना करता है किन्तु अन्य मुनि उनको वन्दना नहीं करते हैं। इस प्रकार गण में जो क्रिया होती है वह गणप्रतिबद्ध परिहार प्रायश्चित्त है।

(२) अप्रतिबद्ध—जिस देश में धर्म नहीं माना जाता वहाँ जाकर, मौन से तपश्चरण का अनुष्ठान करते हैं उनके आगणबद्ध अर्थात् अगणप्रतिबद्ध प्रायश्चित्त कहलाता है।

(१०) श्रद्धान—"श्रद्धानं तत्त्वरूचौ परिणाम क्रोधादिपरित्यागो वा।" तत्त्वरुचि में परिणाम होता है अथवा क्रोधादि का त्यागरूप जो परिणाम है वह श्रद्धान प्रायश्चित है।

गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्त्व यद्दीक्षाग्रहण पुन ।
तत्छद्धानमिति ख्यातमुपस्थापनमित्यपि॥ (भगवती आराधना, ५७)

जिसने अपना धर्म छोडकर मिथ्यात्व को अगीकर कर लिया है उसे पुन दीक्षा देने को श्रद्धान प्रायश्चित कहते हैं। इसे उपस्थापन भी कहा जाता है।

२. विनय

दंसणणाणेविणओ चरित्ततवओचारिओ विणओ।
पचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ॥ (मूलाचार, ३६४)

दर्शन-विनय, ज्ञान-विनय, चारित्र में विनय, तप में विनय और औपचारिक विनय इष्ट एवं सद्गुणों का साधन है।

(१) दर्शनविनय—सम्यक्त्व के आठ गुणों का (उपगूहन आदि का) पालन करना। पचपरमेष्ठियों में अनुराग करना, उन्हीं की पूजा करना, उन्हीं के गुणों का वर्णन करना, उनके प्रति लगाये गये अवर्णवाद अर्थात् असत्य आरोप का विनाश करना और उनकी आसादना अर्थात् अवहेलना का परिहार करना—ये भक्ति आदि गुण कहलाते हैं। सम्यक्त्व के पाँच अतिचारों का त्याग करना दर्शन विनय है।

(२) ज्ञानविनय—कालाचार, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यजन, अर्थ और तदुभय—इन अंगों सहित विनय करना ज्ञानविनय है। हाथ-पैर धोकर पर्यंकासन से बैठकर, विनयपूर्वक जिनवाणी का अध्ययन करना ज्ञानविनय है। विशेप विनय सहित पढना उपधान है। जो ग्रन्थ पढते हैं और जिनके मुख से सुनते हैं, गुरु, पुस्तक दोनों की पूजा करना, स्तवन करना बहुमान है, गुरु के नाम को नहीं छिपाना अनिह्नव है। शब्दों को शुद्ध पढना व्यजनशुद्ध विनय है। अर्थ शुद्ध करना अर्थशद्ध विनय है। दोनों को शुद्ध रखना व्यंजनार्थ उभयशुद्ध विनय हैं।

(३) चारित्रविनय—इन्द्रिय और कषायों का निग्रह, गुप्तियाँ और समितियाँ संक्षेप से यह चरित्र विनय कहा जाता है।

(४) तपो विनय—"आतापनाद्युत्तरगुणेषूद्योग उत्साह।" आतापन आदि उत्तर गुणों में उद्यम-उत्साह रखना, उनके करने में जो श्रम होता है उसको निराकुलता से सहन करना, षडावश्यकों में हानि-वृद्धि नहीं करना, श्रद्धाभाव रखना आदि तपो विनय है।

(५) औपचारिक विनय—कायिक, वाचिक, मानसिक के भेद से तीन प्रकार का औपचारिक विनय होता है जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार से किया जाता है। प्रत्यक्ष में, वर्तमान में पूज्य पुरुषों की काय सम्बन्धी विनय—

१. पूज्य पुरुषों के आने पर आदरपूर्वक अपने आसन से उठना, जाने पर खडे हो जाना, उचित स्थान पर बैठना आदि।

२. उनके योग्य पुस्तकादि देना।

३. उनके सामने ऊचे आसन पर नहीं बैठना।

४ काल, भाव और शरीर के योग्य कार्य करना अर्थात् गर्मी का समय हो तो शीत दूर करने का उपाय करना। झुककर यथायोग्य प्रणाम करना।

गुरु के अनुकूल गुरु की विनय, उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके मन को प्रसन्न रखना, उनके अनुकूल चलना गुरु के पीछे-पीछे चलना, गुरु के सोने के पश्चात् सोना, उनसे नीचे आसन पर सोना, उनके ठहरने के लिए स्थान व आसन देना आदि।

इसी प्रकार हित वचन, मित वचन और मधुर वचन, सूत्रों के अनुकूल वचन, आगमानूकूल अनिष्ठुर और कर्कशता रहित वचन बोलना वाचिक विनय है। तथा पाप विश्रुति के परिणाम त्याग करना, और प्रिय तथा हित में परिणाम करना अर्थात् पाप और विराधना विषयक परिणामों का त्याग करना। धर्म और उपकार को प्रिय कहते हैं तथा सम्यग्ज्ञानादि के लिये हित संज्ञा है। प्रिय और हित में परिणामों को लगाना अर्थात् चित्त से उत्पन्न होने वाला मानसिक विनय है।

३. वैयावृत्य—

क्लेशसंक्लेशनाशायाचार्यादिदशकस्य य
व्यावृत्तस्तस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्यमाचरेत्॥

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इस प्रकार दस प्रकार के मुनियों के क्लेश अर्थात् शारीरिक पीडा और सक्लेश अर्थात् आर्त-रौद्ररूप दुष्परिणामों का नाश करने के लिए प्रवृत्त साधु या श्रावक का जो कर्म—मन, वचन और काय का व्यापार

है वह वैयावृत्त्य है—उसे साधु वर्ग आपस में करते हैं।

वैयावृत्त्य का करने वाला उत्तम सुख को प्राप्त होता है। वह मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूपी विष को प्रभावशाली शिक्षा के द्वारा दूर करता है। उसे इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदों की तो गिनती ही क्या, इससे तीर्थंकर पद तक की प्राप्ति होती है।

4 स्वाध्याय—

ज्ञानभावनालस्यत्याग स्वाध्याय। (स सि) आलस्य का त्याग कर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय तप है। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा तथा स्तुति मंगल इस प्रकार से पंच अंगों से सहित हो क्रमश 'प्रथमं करण चरणं द्रव्य नम' नियमानुसार करने से आत्म तत्त्व की प्राप्ति एवं भेद ज्ञान की सिद्धि होती है। स्वाध्याय परमोत्कृष्ट तप है, समीचीन स्वाध्याय से सवर और निर्जरा होती है। शब्द-अर्थ की शुद्धता से पढना, न जल्दी-जल्दी पढ़ना न धीरे-धीरे पढ़ना, सम्यक् प्रकार से विनयपूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक अध्ययन करना स्वाध्याय है।

स्वाध्याय से मुमुक्षु की तर्कणाशील बुद्धि का उत्कर्ष तथा परमागम की स्थिति का पोषण होता है। मन, इन्द्रिय और सज्ञा, परिग्रह अभिलाषा का निरोध होता है।

5. ध्यान तप—

एक विषय पर चिन्ता का निरोध करना ध्यान है। (एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यान)।

ध्यान चार प्रकार का होता है। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। प्रथम दो ध्यान अशुभ ध्यान हैं तथा पश्चात् के दो ध्यान शुभ हैं। मुनिराज धर्मध्यान व शुक्लध्यान को ही करते हैं। वर्तमान में धर्मध्यान की विशेषता है जो मोक्ष के लिए कारण है।

6. व्युत्सर्ग तप—

'आत्मात्मीयसकल्पत्यागो व्युत्सर्ग।' अहंकार और ममकार रूप सकल्प-विकल्प का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

दस धर्म—

देशयामि समीचीन धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुखत सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार, २)

जो प्राणियों को संसार के दुख से उठाकर उत्तम सुख (वीतराग सुख) में धारण करे उसे धर्म कहते हैं। वह धर्म कर्मों का विनाशक तथा समीचीन है। आचार्य परमेष्ठी ऐसे ही धर्म का पालन करते हैं व कराते हैं जो नाना रूप से ग्रहण किया जाता है।

(१) उत्तम क्षमा—"शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशप्रहसनावज्ञाताडनशरीरव्यापादनादीनां सनिधाने कालुष्यानुत्पत्ति क्षमा"।—शरीर की स्थिति के कारण की खोज करने के लिए पर-कुलों में जाते हुए भिक्षु को दुष्ट जन गाली-गलौज करते हैं, उपहास करते हैं, तिरस्कार करते हैं, मारते-पीटते हैं और शरीर को कष्ट देते हैं तो भी उनके कलुषता का उत्पन्न न होना उत्तमक्षमा धर्म है।

(२) उत्तम मार्दव—"जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दव माननिर्हरणम्"। जाति आदि मदों के आवेशवश होने वाले अभिमान का अभाव करना मार्दव है। मार्दव का अर्थ है मान का नाश करना।

(३) उत्तम आर्जव--"योगस्यवक्रता आर्जवम्।" योगों का वक्र न होना आर्जव है।

ऋजोर्भाव आर्जव—सरल भावों का होना आर्जव है, कुटिल भावों से रहित निर्मल हृदय, मायाचारी से दूर रहना आर्जव धर्म है।

(४) उत्तम शौच—लोभ के प्रकार का त्याग करना शौच है। प्रकर्षप्राप्त लोभ का त्याग करना, तथा ममत्व को हृदय से दूर करना शौच धर्म है। जो परममुनि इच्छाओं को रोककर और वैराग्य रूप विचारों से युक्त होकर आचरण करता है उसे शौच धर्म कहा जाता है।

(५) उत्तम सत्य—"सत्सु प्रशस्तेपु जनेपु साधु वचन सत्यमित्युच्यते।" अच्छे पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना सत्य है।

(६) उत्तम सयम—व्रतो को धारण करना कपायों का निग्रह, समिति का पालन करना, व्रत, दान, पूजा आदि करना सयम है।

(७) उत्तम तप—"कर्मक्षयार्थं तप्यते इनत तप"। कर्म क्षय के लिए जो तपा जाता है वह तप धर्म है।

(८) उत्तम त्याग—"सयतस्य योग्य ज्ञानादिदान त्याग"। सयत के योग्य ज्ञानादिक का दान करना त्याग धर्म है। त्यजतीति इति त्याग जो छोडना है वह त्याग है।

(९) उत्तम आकिंचन्य—"उपात्तेष्वपि शरीरदिषु सस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनवृत्तिराकिंचन्यम् शरीरादिषुस्कारापोहायमेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिंचन्यम्।"—जो शरीरादि उपात्त हैं उनमें भी सस्कार का त्याग करने के लिए "यह मेरा है" इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना आकिंचन्य धर्म है।

(१०) उत्तम ब्रह्मचर्य—

"अनुभूताङ्गनास्मरणकथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद्ब्रह्मचर्यपरिपूर्णमवतिष्ठते।"—अनुभूत स्त्री का स्मरण न करने से, स्त्रीविषयक कथा के सुनने का त्याग करने से और स्त्री से सटकर सोने व बैठने का त्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुकुल में निवास करना ब्रह्मचर्य है।

"ब्रह्मणि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचर्य"। जो अपनी आत्मा में रमण करता है वह ब्रह्मचर्य धर्म है।

गुप्ति

"यत संसारकारणादात्मनो गोपनं भवति सा गुप्ति।" (स सि ९/२) अर्थात् जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन अर्थात् रक्षा होती है वह गुप्ति है।

> जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुत्ती।
> अलियादिणियत्ती वा मोण वा होदि वचिगुत्ती॥(मूलाचार, ३३२)

(१) मनोगुप्ति— मन से जो रागादि की निवृत्ति है उसे मनोगुप्ति कहते हैं।

(२) वचनगुप्ति—असत्य अभिप्रायों से वचन को रोकना अथवा मौन रहना, ध्यान-अध्ययन, चिंतनशील होना अर्थात् वचन के व्यापार को रोककर मौन धारण करना, असत्य वचन नहीं बोलना वचनगुप्ति कहलाती है।

(३) कायगुप्ति—काय की क्रियाओं के अभाव रूप कायोत्सर्ग करना कायगुप्ति है, अथवा हिंसादि पापों का अभाव होना भी कायगुप्ति है। स्थिर किया है शरीर जिसने तथा परीषह आ जाने पर भी अपने पर्यंकासन से ही स्थिर रहे, किन्तु डिगे नहीं उस मुनि के कायगुप्ति मानी गई है।

इस प्रकार आचार्य परमेष्ठी इन ३६ मूलगुणों का उत्तमोत्तम रूप से पालन करते हैं तथा उनमें कई विशेष गुण भी पाये जाते हैं।

> आचारवान् श्रुताधार प्रायश्चित्तसनादिद।
> आयापायकथी दोपाभासकोऽस्रावकोऽपि च॥
> सन्तोपकारी साधूना निर्यापक इमेऽष्ट च।
> दिगम्बरवेष्यनुद्दिष्ट भोजी (ज्य) शय्याशनीति च॥

आचार्य को आचारवान्, श्रुताधार, प्रायश्चित्तद, आसनादिद, आयापाय-कथी, दोषाभाषक, अस्रावक और संतोषकारी होना चाहिए, अर्थात् आचार्य में आचारवत्व, श्रुताधारत्व, प्रायश्चित-दातृत्व, आसनादि-दातृत्व आयापायकथित्व, दोपाभापकत्व अस्रावत्व और संतोषकारित्व

ये आठ गुण होते हैं।

(१) आचारवत्व—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का स्वयं पालन करना तथा दूसरों से कराना आचारवत्व गुण है।

(२) श्रुताधारत्व--जिसकी श्रुतज्ञान रूपी संपत्ति की कोई तुलना न कर सके उसे श्रुतधारी अथवा श्रुतज्ञानी कहते हैं। नौपूर्व, दशपूर्व या चौदह पूर्व तक के श्रुतज्ञान को अथवा कल्प व्यवहार के धारण करने को आधारवत्व कहते हैं।

(३) प्रायश्चित्तद—प्रायश्चित विषयक ज्ञान के रखने वाले को प्रायश्चित्तद कहते हैं। जिन्होंने अनेक बार प्रायश्चित को देते हुए देखा है, जिन्होंने स्वय भी अनेक बार उसका प्रयोग किया हो, स्वय प्रायश्चित्त ग्रहण किया हो अथवा दूसरे को दिलवाया हो वह प्रायश्चित्तद अर्थात् प्रायश्चित्त को देने वाला है। दूसरे ग्रन्थों में इस गुण को व्यवहारपटुता कहा है।

(४) आसनादि—समाधिमरण करने में प्रवृत्त हुए साधक साधुओं को आसन आदि देकर जो उनकी परिचर्या करते हैं वे आसनादिद-आसनादि को देने वाले कहलाते हैं। इन्हें परिचारी अथवा पकारी भी कहते हैं।

(५) आयापायकथी—जो क्षपक किसी प्रकार का अतिचार आदि न लगाकर सरल भावों से अपने दोषों की आलोचना करता है आचार्य उसके गुणों की प्रशंसा करते हैं और आलोचना में दोष लगाने वाले के दोष बतलाते हैं, वे आय-लाभ और अपाय-हानि का कथन करने वाले हैं।

(६) दोपाभापक--दोष छिपाने वाले शिष्य से दोष कहलवाने की सामर्थ्य रखने वाले आचार्य को दोपाभापक कहते हैं। जिस प्रकार चतुर चिकित्सक व्रण के भीतर छिपे हुए विकार को पीडित कर बाहर निकाल देता है उसी प्रकार आचार्य भी शिष्य के छिपाये हुए दोष को अपनी कुशलता से प्रकट करा लेता है।

(७) अस्रावक—जो किसी के गोप्य दोष को कभी प्रकट नहीं करता वह अस्रावक है। जिस प्रकार सतप्त तवे पर पडी पानी की बूंद वहीं शुष्क हो जाती है इसी प्रकार शिष्य द्वारा कहे हुए दोष जिसमें शुष्क हो जाते हैं अर्थात् जो किसी दूसरे को नहीं बतलाते हैं, वे अस्रावक हैं।

(८) सतोपकारी—जो साधुओं को संतोष उत्पन्न करने वाला हो अर्थात् क्षुधा, तृषा आदि की वेदना के समय हितकर उपदेश देकर साधुओं को संतुष्ट करता हो उसे संतोषकारी कहा है। इसका दूसरा नाम सुखावह भी है।

पाँच आचारों का पालन

(१) दर्शन-आचार—जो चिन्दानन्दरूप शुद्धात्म तत्त्व हैं वही सब प्रकार आराधने योग्य हैं, उससे भिन्न जो पर वस्तु है वह सब त्याज्य है, ऐसी दृढ प्रतीति चंचलता रहित निर्मल अवगाढ़ पर श्रद्धा है उसको सम्यक्त्व कहते हैं। उसका आचरण अर्थात् उसे स्वरूप परिणमन दर्शनाचार कहा जाता है।

(२) ज्ञानाचार—ज्ञानं तत्वप्रकाशन। तत्त्व प्रकाशन का नाम ज्ञान है। तत्रैव संशय विपर्यासानध्यवयसायरहितत्त्वेन स्वसंवेदन ज्ञान रूपेण ग्राहकबुद्धि सम्यग्ज्ञानं तत्राचरण परिणमनं ज्ञानाचार (प प्र ७/१३)। अर्थात् निजस्वरूप में सशय विमोह विभ्रम रहित जो स्वसंवेदनज्ञान रूपग्राहक-बुद्धि वह सम्यग्ज्ञान हुआ, उसका जो आचरण अर्थात् उस रूप परिणमन वह (निश्चय) ज्ञानाचार है। स्वाध्याय का काल, मन वचन, काय से शास्त्र की विनय यत्न से करना, पूजा सत्कारादि से पाठ करना अपने पढाने वाले गुरु का तथा पढे हुए शास्त्र का नाम प्रकट करना, छिपाना नहीं, वर्ण पद वाक्य को शुद्धि से पढ़ना, अनेकान्त स्वरूप की शुद्धि, अर्थ सहित पाठादिक की शुद्धि होना अर्थात् काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव अर्थ, व्यजन और तदुभय सम्पन्न ज्ञानाचार है।

(३) चारित्राचार—"चारित्र पापक्रिया निवृत्ति" अर्थात् पाप क्रिया से दूर होना चारित्र है।

पाणिवहमुसावाद-अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरदो।
एस चरित्तायारो पचविहो होदि णादव्वो ॥ (मू आ २८८)

हिसा और असत्य से तथा अदत्तवस्तुग्रहण, मैथुन और परिग्रह से विरति होना—यह पॉच प्रकार का चारित्राचार कहा गया है।

प्राणियों के वध का त्याग करना और इन्द्रियों के सयमन-निरोध में प्रवृत्ति होना भी चारित्राचार है।

शुद्ध स्वरूप में शुभ-अशुभ समस्त सकल्प रहित नित्यानद में निजरस का स्वाद निश्चय अनुभव सम्यग्चारित्र हैं, उसका आचरण उस रूप परिणमन चारित्राचार है। (प.प्र टी ७/१३)

(४) तपाचार—"तपति दहति शरीरेन्द्रियाणि तप बाह्याभ्यन्तरलक्षण कर्मदहन-समर्थ। जो शरीर और इन्द्रियों को तपाता है—दहन करता है वह तप है। वह बाह्य और अभ्यन्तर लक्षण वाला है और कर्मों को दहन करने में समर्थ है।

(५) वीर्याचार—शक्ति को नहीं छिपाना अर्थात् शुभ विषय में अपनी शक्ति से उत्साह रखना वीर्याचार है। मूलाचार—

अणुगुहियवलविरिओ परिक्कामदि जो जहुत्तमाउत्तो।
जुंजदि य जहाधाण विरियाचारोत्ति णादव्वो॥ (मूलाचार, ४१३)

अपना आहार आदि से नहीं छिपाया है शक्ति व बल को जिसने ऐसा साधु यथोक्त चारित्र में तीन प्रकार अनुमति रहित सत्रह प्रकार सयम विधान करने के लिए आत्मा को युक्त करता

है।

इस प्रकार जो श्रमण अपनी आत्मा को दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों से निग्रह करने में समर्थ है वह क्लेश रहित होकर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार पंचाचार में तत्पर अकिंचन, कषायों को नष्ट करने वाले, पाँच इन्द्रिय रूपी मदान्ध हाथी के गर्व को चूर करने में कुशल है, जो घोर उपसर्गों के विजय से उपार्जित धीरता आदि गुणों से गम्भीर हैं, वृद्धिगत निश्चल योग में ध्यान कुशल वृद्धि वाले उत्कर्षता को प्राप्त हुए गुणों से सहित ऐसे आचार्यों को हम भवदुखों के समूह को भेदन करने के लिए अर्जित करते हैं।
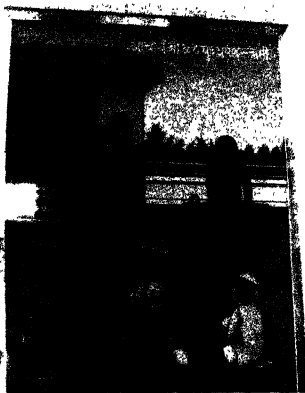
धर्मोपदेश प्रदाता उपाध्याय-परमेष्ठी

❑ *पं. धर्मचंद शास्त्री, ग्वालियर*

"णमो उवज्झायाणं" अनादिनिधन मूलमन्त्र णमोकार या पंचनमस्कार मन्त्र में पंचपरमेष्ठियों में उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। अत इन उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप जानने के विषय में जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने उपाध्याय के स्वरूप का इस प्रकार निरूपण किया है —

रयणत्तय संजुता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभाव सहिया उवज्झाया एरिसा होंति।। (नियमसार, गाथा ७४)

—रत्नत्रय से सयुक्त जिनकथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक और निकाक्षभाव सहित ऐसे उपाध्याय होते हैं।

उपाध्याय शब्द की व्युत्पत्ति-अर्थ शब्दकोष के अनुसार इस प्रकार है —उपाध्याय (पु) उपेत्य अधीयतेऽस्मात्। उप + अधि + इ + घञ्, अध्यापक। इत्यमर, वेदैकदेशाध्यापक।यथा—

एकदेशन्तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुन।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्याय स उच्यते॥ (शब्दकल्पद्रुम, प्रथम भाग, २६२)

वस्तुत उप उपसर्ग यानी समीप, अध्येति यानि प्राप्त होता है अर्थात् जो अपनी आत्मा की समीपता को प्राप्त होता है उसे ही उपाध्याय कहते हैं। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्चारित्र से सयुक्त हों तथा जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे हुए चतुर्दश विद्यास्थानो के व्याख्यान करनेवाले सप्ततत्त्व, नवपदार्थ, षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, छ लेश्याओं के शूरवीर अर्थात् निर्भीकता से व्याख्यान करनेवाले हों अर्थात् तत्त्वों के व्याख्याता हों, साथ ही निकाक्षभाव से सहित हों अर्थात् "संसार शरीर भोगनिर्विण्णा" सासारिक पदार्थों में तनिक भी सुख की आकाक्षा से रहित हों ऐसे उपाध्याय होते हैं। इसी भाव का धवलकार ने निम्न प्रकार से निरूपण किया है —

"या चतुर्दशविद्यास्थान-व्याख्यातार उपाध्याया तात्कालिक-प्रवचन-व्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेषलक्षणसमन्विता सग्राहानुग्रहादिहीना" (धवला टीका, प्र पु, पृष्ठ ५०)

उपर्युक्त अश में उपाध्याय परमेष्ठी के स्वरूप में वर्णित २५ मूलगुणों के साथ धवलाकार ने सबसे बडा विशेषण आचार्य के उक्त समस्त गुणों से सहित भी लिखा है। इससे ध्वनित होता है कि उपाध्याय परमेष्ठी में आचार्य एव साधु परमेष्ठी के सभी गुण मौजूद रहते हैं एवं संग्रह-अनुग्रह आदि से रहित होते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी के स्वरूप विषयक विभिन्न आचार्यों के मत दृष्टव्य हैं —

श्री नेमिचन्द्राचार्य कहते हैं —

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवएसणेणिरदो।
सो उवझाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स॥

जो रत्नत्रय सहित और हमेशा धर्मोपदेश देने में लवलीन हैं वह मुनीश्वरों में श्रेष्ठ आत्मा उपाध्याय परमेष्ठी हैं। ज्ञान-ध्यान, अध्ययन में निरन्तर लीन रहनेवाले मुनि उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं।

मूलाचार ग्रन्थ की ५११वीं गाथा में कहा है कि—

वारसग जिणक्खाद सज्झाय कथित बुधे।
उवदेसइ सज्झाय तेणूवज्झाय उच्चदि॥

बारह अंग और चौदह पूर्व जो जिनदेव ने कहे हैं उनको पण्डित जन स्वाध्याय कहते हैं। उस स्वाध्याय का जो उपदेश करते है, वे (मुनिराज) उपाध्याय कहलाते हैं।

चोद्दसपुव्व महोपहिमहिगम्मसिवत्थिओ सिवत्थीण। सीलधराण वत्ता होइ मुणीसो उवज्झाओ॥३२॥(धवला १/१/३२/५0/)अर्थात् जो साधु चौदहपूर्वरूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित हैं तथा मोक्ष के इच्छुक शीलधरों अर्थात् मुनियों को उपदेश देते हैं, उन मुनिवरों को उपाध्याय कहते हैं।

"विनयेनोपेत्य यस्माद् व्रतशीलभावनाधिष्ठानादागम श्रुताख्यमधीयते इत्युपाध्याय ॥ (राजवार्तिक ९/२४, सर्वार्थसिद्धि ९/२४) जिन व्रतशील भावनाशाली महानुभाव के पास जाकर भव्य जन विनयपूर्वक श्रुत का अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय हैं।

पचाध्यायी के अनुसार उपाध्याय का स्वरूप इस प्रकार है —

उपाध्याय समाधीयात् वादी स्याद्वादकोविद ।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञ सिद्धान्तागमपारग ॥
कविर्व्रत्यग्रसूत्राणा शब्दार्थै सिद्धसाधनात्।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम्॥
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्तिकारणम्।
यदध्येति स्वय चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरु ॥
शेषस्तत्रव्रतादीना सर्वसाधारणो विधि"॥ (६५९-६२)

उपाध्याय शंका समाधान करनेवाला, सुवक्ता, वाग्ब्रह्म, सर्वज्ञ अर्थात् सिद्धान्तशास्त्र और यावत् आगमों का पारगामी, वार्तिक तथा सूत्रों को शब्द और अर्थ के द्वारा सिद्ध करनेवाला होने से कवि, अर्थ में मधुरता का द्योतक तथा वक्तृत्व के मार्ग का अग्रणी होता है॥ उपाध्यायपने

में शास्त्र का विशेष अभ्यास ही कारण है। क्योंकि जो स्वयं अध्ययन करता है और शिष्यों को भी अध्ययन कराता है वही गुरु उपाध्याय है। उपाध्याय में व्रतादि के पालन करने की शेष सर्वविधि मुनियों के समान है।

प्राचीन आचार्यों के स्वरूप विषयक उद्धरण के साथ ही लोकप्रिय ग्रन्थ मोक्षमार्गप्रकाशक में आचार्यकल्प पडित टोडरमल जी कहते हैं कि —

"जो बहुत से जैनशास्त्रों के ज्ञाता होकर संघ में पठन-पाठन के अधिकारी हुए हैं तथा जो समस्त शास्त्रों का सार आत्म-द्रव्य में एकाग्रता है अधिकतर तो उसी में लीन रहते हैं, कभी कभी कषायांश के उदय से यदि उपयोग वहाँ स्थिर न रहे तो उन शास्त्रों को स्वयं पढते हैं, औरों को पढाते हैं वे उपाध्याय हैं। ये मुख्यत द्वादशाग के पाठी होते हैं।

मूलगुण शब्द भी बडा चमत्कारी है। जिस प्रकार मूल अर्थात् जड के बिना वृक्ष नहीं ठहर सकता है उसी प्रकार उक्त मूलगुणों के अभाव में परमेष्ठी-पद अर्थात् परमपद में स्थित नहीं रह सकता है। अत इन्हीं गुणों की प्रधानता के कारण अरहन्त परमेष्ठी के ४६ मूलगुण, सिद्धपरमेष्ठी के ८, आचार्य के ३६, उपाध्याय के २५ तथा सर्वसाधु के २८ मूलगुण जिनागम में कहे गये हैं।

उपाध्याय के २५ मूलगुणों का वर्गीकरण—ग्यारह अग तथा चौदह पूर्व मिलाकर २५ मूलगुण होते हैं। इसमें ११ अगों का विवेचन इस प्रकार है —

> आचार सूत्रकृतं, स्थानं समवायनामधेय च।
> व्याख्याप्रज्ञप्तिं च, ज्ञातृकथोपासकाध्ययने॥७॥
>
> वन्देऽन्तकृद्दशमनुत्तरोपपादिकदश दशावस्थम्।
> प्रश्नव्याकरणं हि, विपाकसूत्र च विनमामि॥८॥
>
> परिकर्म च सूत्रं च, स्तौमि प्रथमानुयोगपूर्वगते।
> सार्द्धचूलिकयापि च, पञ्चविधं दृष्टिवाद च॥९॥
>
> पूर्वगत तु चतुर्दश, धोदितमुत्पादपूर्वमाद्यमहम्।
> आग्रायणीयमीडे, पुरुवीर्यानुप्रवाद च॥१०॥
>
> सततमहमभिवदे, तथास्ति-नास्ति प्रवादपूर्वं च।
> ज्ञानप्रवाद-सत्यप्रवादमात्मप्रवाद च॥११॥
>
> कर्मप्रवाद मीडेऽथ प्रत्याख्यान-नामधेय च।
> दशम विद्याधारं पृथुविद्यानुप्रवाद च॥१२॥
>
> कल्याण-नामधेय, प्राणावायं क्रियाविशालं च।
> अथ लोकविन्दुसार वन्दे लोकाग्रसारपदम्॥१३॥(श्रुतभक्ति)

हिन्दी पद्य में संक्षेप में ग्यारह अंगों के नाम इस प्रकार हैं—

प्रथमहिं आचारांग गनि, दूजो सूत्रकृतांग।
ठाण अंग तीजो सुभग, चौथो समवायांग॥
व्याख्याप्रज्ञप्ति पाँचवों, ज्ञातृकथा षट् जान।
पुनि उपासकाध्ययन है, अन्तकृत् दश ठान॥
अनुत्तरण उत्पाद दश, सूत्रविपाक पिछान।
बहुरि प्रश्नव्याकरण जुत, ग्यारह अग प्रमान॥

(१) आचाराग, (२) सूत्रकृताग, (३) स्थानाग, (४) समवायाग ,(५) व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, (६) ज्ञातृकथांग, (७) उपासकाध्ययनांग, (८) अन्तकृद्दशांग, (९) अनुत्तरोपपादिक, (१०) प्रश्नव्याकरणांग और (११) विपाकसूत्राग ये ग्यारह अंग हैं।

चौदह पूर्व—

उत्पाद पूर्व अग्रायणी, तीजो वीरजवाद।
अस्तिनास्ति प्रवाद पुनि. पचम ज्ञानप्रवाद।।
छट्ठो कर्मप्रवाद है, सतप्रवाद पहचान।
अष्टं आत्मप्रवाद पुनि, नवमो प्रत्याख्यान॥
विद्यानुवाद पूरव दशम, पूर्वकल्याण महत।
प्राणवाद किरिया बहुल, लोकबिन्दु है अन्त॥

(१) उत्पादपूर्व, (२) अग्रायणी पूर्व, (३) वीर्यानुवादपूर्व, (४) अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, (५) ज्ञानप्रवादपूर्व. (६) कर्मप्रवादपूर्व, (७) सत्प्रवादपूर्व, (८) आत्मप्रवादपूर्व, (९) प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, (१०) विद्यानुवादपूर्व, (११) कल्याणवादपूर्व, (१२) प्राणानुवादपूर्व, (१३) क्रियाविशालपूर्व, और (१४) लोकबिन्दुसारपूर्व—ये चौदह पूर्व हैं।

इस प्रकार ग्यारह अग और चौदह पूर्व मिलकर उपाध्याय परमेष्ठी के पच्चीस मूलगुण होते हैं।

द्वादशाग जिनवाणी लोक में प्रचलित है। अर्थात् श्रुतज्ञान के १२ भेद हैं जिन्हें द्वादशाग कहते हैं। बारहवें अग के पॉच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। यहाँ १४ पूर्व जो हैं वे पूर्वगत के ही चौदह भेद हैं अत इसी कारण द्वादशांग श्रुतज्ञान ११ अंग १४ पूर्वरूप भी कहलाता है। तात्पर्य यह कि १४ पूर्व भी द्वादशाग के ही अन्तर्गत हैं।

इन ग्यारह अंगों एवं चौदह पूर्वो में विषय विवेचन निम्नप्रकार है —

(१) आचारांग—यह श्रुतज्ञान का पहला अग है तथा इसमें आचार धर्म का निरूपण किया गया है। इसमें मुनिचर्या का वर्णन है तथा गुप्ति, समिति, शुद्धियों आदि का वर्णन है।

(२) सूत्रकृतांग—ज्ञानविनय, छेदोपस्थापना व्यवहारधर्म की क्रिया का इसमें वर्णन है।

(३) स्थानांग—इसमें अनेक स्थानों में रहनेवाले पदार्थों का वर्णन है।

(४) समवायांग—इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों का समवाय बताया जाता है तथा धर्म, अधर्म, लोक, एक जीव इनके समान प्रदेश हैं। जंबूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि, अप्रतिष्ठान नरक, नन्दीश्वरद्वीप की बावडियों इनमें क्षेत्र समान हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का काल समान है। क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन यथाख्यातचारित्र के भाव समान हैं।

(५) व्याख्याप्रज्ञप्ति—इसमें साठ हजार व्याकरण पद तथा अस्तिनास्तिरूप कथन का वर्णन है।

(६) ज्ञातृकथाग—इसमें अनेक प्रकार की कथाओं का वर्णन किया गया है।

(७) उपासकाध्ययनाग—यह श्रावकों की क्रिया व्रतादि का वर्णन करता है।

(८) अत कृद्दशांग—प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में १०-१० मुनि घोर उपसर्ग सहनकर मोक्ष पधारे उनका वर्णन करता है।

(९) अनुत्तरोपपादिकदशांग—प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में १०-१० मुनि घोर उपसर्ग सहनकर विजयादिक विमानों में उत्पन्न हुए उनका वर्णन करता है।

(१०) प्रश्नव्याकरणाग—आक्षेप, विक्षेप, हेतु, नय इनके आश्रित उत्पन्न होने वाले प्रश्नों का व्याकरण बतलाया गया है।

(११) विपाकसूत्राग—इसमें पुण्य पाप का उदय बनलाया गया है।

(१२) दृष्टिवादांग—यह अनेक मत-मतान्तरों तथा ३६३ मिथ्यामतों का वर्णन करता है। इसके ५ भेद हैं। उनमें भी पूर्वगत के १४ भेद हैं जो निम्न प्रकार हैं —

(१) उत्पादपूर्व—इसमें काल, पुद्गलादि, जीवादि द्रव्यों की पर्यायों का वर्णन है।

(२) अग्रायणी पूर्व—क्रियावादियों की प्रक्रिया का इसमें वर्णन है।

(३) वीर्यप्रवाद—छद्मस्थकेवली, इन्द्रप्रतीन्द्रादि के बल का वर्णन इस पूर्व में है।

(४) अस्तिनास्तिप्रवाद—इसमें समस्त पदार्थों का अस्तित्व नास्तित्व आदि अनेक अंगो का वर्णन है।

(५) ज्ञानप्रवाद—ज्ञान-अज्ञान के विषयों का वर्णन करता है।

(६) सत्यप्रवाद—अनेक भाषाओं तथा १० प्रकार के सत्यों का वर्णन इसमें है।

(७) आत्मप्रवाद—इसमें आत्मा के अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व का वर्णन है।

(८) कर्मप्रवाद—इसमें कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमादि का वर्णन है।

(९) प्रत्याख्यान—व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, जप आदि की विराधना -आराधना शुद्धि का वर्णन करता है।

(१०) विद्यानुवाद—समस्त विद्या महानिमित्त विद्या आदि का वर्णन करता है।

(११) कल्याणवाद—इसमें सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र आदि की गतियों का वर्णन है।

(१२) प्राणानुवाद—इसमें अनेक औषधियों का वर्णन है।

(१३) क्रियाविशाल—इसमें पुरुषों की ७२ कला और स्त्रियों की ६४ कलाओं का वर्णन है।

(१४) लोकबिन्दुसार—इसमें आठ-प्रकार के व्यवहार, चार प्रकार के बीज आदि का वर्णन है।

उपर्युक्त विभिन्न आचार्यों द्वारा निरूपित उपाध्याय परमेष्ठी के स्वरूप में प्रमुखतया उपाध्याय का कार्य अपने सघ के साधुओं को पठन-पाठन कराना व उनके अन्दर विद्यमान अज्ञान तिमिर को दूर करना है। जैसा कि शब्दकोष में भी निरूपित किया है कि उपाध्याय का कार्य वेदांगों का अध्यापन करना है। इसी प्रकार जिनमत में भी द्वादशाग जिनवाणी का अध्ययन—अध्यापन मुख्य कार्य है।

परन्तु जैनधर्म में "रयणत्तय सजुत्ता" "ससार शरीर भोग निर्विण्णा" जैसे पदों के द्वारा जैनसाधु को मात्र ज्ञानसपन्न होना आवश्यक नहीं बल्कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय से विभूषित होना चाहिए। साथ ही ससार, शरीर एव भोगों से भी उदासीन होना चाहिए। क्योंकि उपाध्याय परमेष्ठी में आचार्य एवं सर्वसाधु के सम्पूर्ण मूलगुणों की गरिमा विद्यमान है। इसीलिए "चत्तारि मगल" पाठ में केवल "साहू मगल" पाठ के द्वारा आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु इन तीनों को साधु पद में गर्भित किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान को स्वतन्त्र से स्वच्छन्दता की ओर नहीं जाने दिया बल्कि उस पर भी सम्यग्चारित्र का नियन्त्रण रखा है। क्योंकि चारित्ररूप क्रिया के बिना ज्ञान के दिशाविहीन होने की सम्भावना है।

जिस प्रकार सभी वाहनों में ब्रेक होता है, विना ब्रेक की गाडी कभी भी खतरे में पड सकती है। इसी भाव को नीतिकार इस प्रकार से निरूपण करता है —

अवशेन्द्रियचित्ताना, हस्तिस्नानमिव क्रिया।
दुर्भगाऽऽभरणप्रायो, ज्ञानं भार क्रियां बिना॥

अर्थात् जिसके पॉच इन्द्रिय रूपी चञ्चल घोडे वश में नहीं है उसके सारे व्रत, जप, तप, सयम व्यर्थ चले जाते हैं। जिस प्रकार हाथी स्नान करने के बाद अपने ऊपर पुन धूल डाल लेता है उसी प्रकार विषयासक्त चित्तवाले मनुष्य के सभी कार्य व्यर्थ हैं। जैसा कि कहा है

— "विषयाशक्तचित्तानां गुण को वा न नश्यति।"

जिस प्रकार विधवा स्त्री के लिए आभूषण पहनना शोभा नहीं देते उसी प्रकार सम्यग्चारित्र रूप क्रिया के बिना ज्ञान भार स्वरूप है। इसीलिए आचार्य उमास्वामी ने अपने तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में मोक्षमार्ग का निरूपण करते हुए कहा है— "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं। यह भाव "मोक्षमार्ग" एकवचन के द्वारा निरूपित किया है।

राजवार्तिक में अंधे और लंगडे की कथा द्वारा इसकी पुष्टि की गई है। नाटक समयसार में भी बनारसीदास जी कहते हैं कि—

जो बिन ज्ञान क्रिया अवगाहे।
जो बिन क्रिया मोक्ष को चाहे।
जो बिन मोक्ष कहे मैं सुखिया।
ते अजान मूढन में मुखिया॥

अर्थात् ज्ञान के साथ चारित्र सोने में सुहागे का काम करता है। अत ज्ञान बिना क्रिया और क्रिया बिना ज्ञान दोनों ही अपूर्ण हैं एवं कार्यकारी नहीं हैं। इतने पर भी जो केवल ज्ञान के अथवा चारित्र के बल पर मोक्ष प्राप्ति का दावा करते हैं उनको बनारसीदास जी मूर्खशिरोमणि कहते हैं।

अन्त में विषयों की आशा के वश से रहित, आरम्भ एव परिग्रह रहित, ज्ञान, ध्यान एव तप में लीन ऐसे उपाध्याय परमेष्ठियों को हम कोटिश नमन करते हैं। क्योंकि —

न विना यानपात्रेण, तरितुं शक्यतेऽर्णव ।
नर्ते गुरुपदेशाच्च, सुतरोऽय भवार्णव ॥ (महापुराण, ९-१७५)

अर्थात् जिस प्रकार जहाज के बिना समुद्र कभी पार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार गुरु के उपदेश के बिना ससार समुद्र सुतर (अच्छी तरह तैरने योग्य) नहीं हो सकता।

"न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति" सूक्ति के अनुसार हम ऐसे परम वीतरागी उन गुरुओं के आभारी हैं— अज्ञानतिमिरान्धाना, ज्ञानाञ्जनशलाकया।

चक्षुरुन्मीलित येन, तस्मै श्रीगुरुवे नम ॥

पडिवज्जदु सामण्णं

❑ ब्र. भावना जैन

सिद्धिकांता को प्राप्त करने के इच्छुक कोई एक दिगबर जैनाचार्य मुनियों की सभा में विराजमान हैं। कोई एक भव्य जीव वहाँ आकर आचार्यवर्य को पुन पुन नमस्कार करके विनयपूर्वक उनके चरण-सान्निध्य में बैठ जाता है और हाथ जोडकर प्रश्न करता है कि हे भगवन्। आत्मा के लिए हितकर क्या है? आचार्य कहते हैं—आत्मा के लिए हितकर स्वतंत्रता है।

वह स्वतंत्रता क्या है? और कहाँ है?

कर्मों के बधन से पूर्णतया छूट जाना ही स्वतन्त्रता है, जोकि मोक्ष में ही होती है।

कर्मों से छूटने का क्या उपाय है?

ससार, शरीर और भोगों से ममत्व छोडकर रत्नत्रय की साधना में लग जाना ही कर्मों से छूटने का अथवा मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

यदि ऐसी बात है तो हे गुरुदेव। अब मैं इन कर्मों के बधन से छूटना चाहता हूँ। अत· अब मैं अपने आपको आपके श्रीचरणों में समर्पित करता हूँ। आप मुझे रत्नत्रय का दान दीजिये।

उस समय आचार्य महाराज उस भव्य से कहते हैं कि यदि तुम संपूर्ण दु·खों से मुक्त होना चाहते हो तो यतिधर्म को स्वीकार करो। "पडिवज्जदु सामण्ण जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं"॥

भव्य जीव कहता है कि हे गुरुवर्य। यतिधर्म क्या है? कृपा करके, आप मुझे साधु का स्वरूप समझाइये।

आचार्य धवला टीका में उपदेश देते हैं—

सीहगयवसह मिय पसु मारुद सुरुवहि मदरिंदु मणी।
खिदी उरगबर सरिसा परम पय विमग्गया साहू॥

सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी या उन्मत्त वृषभ के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी करने वाले, पवन के समान नि·संग सर्वत्र विचरण करने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या समस्त तत्त्वों के प्रकाशक, समुद्र के समान गंभीर, सुमेरुपर्वत के समान परीषह और उपसर्गों के विजेता अकंप, अडोल, चद्रमा के समान शांतिदायक, मणिसमान प्रभापुंज युक्त, पृथ्वी समान सभी बाधाओं को सहनेवाले, आकाश के समान निरालंबी एवं सर्वदा मोक्ष का अन्वेषण करनेवाले साधु परमेष्ठी होते हैं।

आचार्य कुंदकुंददेव के अनुसार–

जो सग तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पग सुद्धं।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति॥ (समयसार, १३१)

जो साधु बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के संपूर्ण परिग्रह को छोडकर आत्मा को दर्शन ज्ञानोपयोग स्वरूप शुद्ध अनुभव करता है, उसको परमार्थ स्वरूप के जानने वाले गणधरादिक देव निर्ग्रन्थ साधु कहते हैं।

आचार्य नेमिचद्राचार्य द्रव्यसंग्रह में कहते हैं कि–
दसणणाण समग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्त।
साधयदि णिच्चसुद्ध साहू सो मुणी णमो तस्स॥५४॥

बृहद् द्रव्यसंग्रह टीका में इस गाथा का विवेचन किया है कि जो जीव अभ्यन्तर की दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ये चार आराधना हैं, उनके बल से अर्थात् बाह्य मोक्षमार्ग और अभ्यन्तर मोक्षमार्ग करके जो वीतराग चारित्र का पालन करते हुए अविनाभूत निज शुद्ध आत्मा को साधते हैं अर्थात् भाते हैं, वे साधु परमेष्ठी हैं।

उद्योतनमुद्योगो निर्वहणं साधन च निस्तरणम्।
दृगवगमचरणतपसामाख्याताराधना सद्भि ॥

साधु परमेष्ठी के लिए शास्त्रों में अनेक नाम व्यवहृत किये गये मिलते हैं। जैसे –अकिञ्चन, अचेलक, अतिथि, अनगारी, अपरिग्रही, आर्य, ऋषि, गणी, गुरु, जिनलिगी, तपस्वी, दिगम्बर, दिग्वास, नग्न, निश्चेल, निर्ग्रन्थ, निरागार, पाणिपात्र, भिक्षुक, महाव्रती, माहण, मुनि, यति, योगी, वातवसन, विवसन, संयमी, स्थविर, साधु, सन्यस्त, श्रमण, क्षपणक।

अकिचन –जिसके पास किंचित् मात्र भी परिग्रह नहीं है।

अचेलक –कपडे आदि सब त्याग, केशलोंच, शरीरसस्कार का अभाव, मोरपिच्छी यह चार प्रकार लिगभेद जानना।

अनगार –न विद्यतेऽगारं गृहं स्त्र्यादिकं वा तेऽनगार।

श्रमण –'समण' शब्द की सस्कृत छाया श्रमण, शमन और समन होती है। 'श्रमण' का अर्थ कर्मक्षय के लिए श्रम अर्थात् पुरुषार्थ करने वाला, 'शमन' क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त करनेवाला, 'समन' अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों में माध्यस्थ समताभाव धारण करने वाला। कुंदाकुंदाचार्य कहते हैं कि–

"समसत्तुबधुवग्गो समसुहदुक्खोपससणिद समो।
समलोट्ठकचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥ (प्रवचन गा. २४९)

महाव्रती —पाँच महाव्रतों का पालन करनेवाला।

साधु —आत्मसाधना में लीन दिगम्बर मुनि।

मुनि —दिगम्बर साधु।

ऋषि —दिगम्बर मुनियों में विशेषतया ऋद्धिधारी साधु।

गुरु —'गु' का अर्थ अन्धकार, 'रु' का अर्थ रश्मि। जो अज्ञान अन्धकार को नष्ट करके ज्ञानरूप प्रकाश की ओर ला दे उसका नाम गुरु है। वैसे "गुरु" शब्द का अर्थ भारी भी होता है, जो अनेक सद्गुणों का भडार हो वह भारी परमगुरु ही परोपकारी होकर जगत् का कल्याण करने में सहायक है।

तपस्वी —विशेषतर तप में लीन होने के कारण दिगम्बर मुनि तपस्वी कहलाते हैं।

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह ।
ज्ञानध्यान तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥ (रत्न. श्रा, श्लोक १0)

ऐसे श्रमण को राजभय, चोरभय नहीं होता, इस लोक में सुख प्राप्त करते हैं, दूसरों के हित में तत्पर रहते हैं, कीर्ति को प्राप्त होते हैं, देवों द्वारा-पूजित होते हैं, हमेशा मुक्तिरूपी लक्ष्मी में रमने को तत्पर रहते हैं।

मुनिचर्या

मुनियों के मुख्य आचरण को मूलगुण कहते हैं। इन मूलगुणों के बिना आज तक किसी को शुक्लध्यान की सिद्धि नहीं हुई है। ये मूलगुण मोक्ष के लिए मूल कारण हैं। तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट होने से प्रामाणिक हैं। साधु के मूलगुण २८ हैं —

युक्ता पचमहाव्रतै समितय पंचाक्षरोधाशया,
पचावश्यकषट्कलुञ्चनवशाचेलक्यमस्नानता।
भूशय्यास्थितिभुक्तिदन्तकषणं चाप्येकभक्तम् यता-
वेव मूलगुणाष्टविशतिरियं मूल चरित्रश्रिय ॥ (आचारसार, १४)

५ महाव्रत, ५ समिनि, ५ इद्रियनिरोध, ६ आवश्यक, केशलोंच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभुक्त।

महाव्रत

मुख्यव्रतों को महाव्रत कहते हैं। मोक्ष मार्ग पर आरूढ होने के लिए जो हिंसादि पापों का त्याग किया जाता है उसे व्रत कहते है। तीर्थंकर आदि के द्वारा इनका अनुष्ठान किया

जाता है, इसलिए महाव्रत कहलाते हैं।

"महान् शब्दो महत्त्वे प्राधान्ये वर्तते। व्रतशब्दोऽपि सावद्यनिर्वृत्तौ मोक्षप्राप्तिनिमित्ताचरणे वर्तते। महद्भिरनुष्ठितत्वात्" (मूलाचार टीका, पृ. ५)। ये पाँच प्रकार के हैं—

१. अहिसा महाव्रत —छहढालाकार दौलतराम जी अंतिम ढाल में कहते हैं—

षट्काय जीव न हननतैं सब विधि दरब हिंसा टरी,

रागादि भाव निवारितैं, हिंसा न भावित अवतरी।

षट्कायिक (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, त्रस) जीवों की हिंसा का मन, वचन, काय से पूर्णतया त्याग कर देना अहिंसा महाव्रत है। इस महाव्रत में सपूर्ण आरंभ और परिग्रह का त्याग हो जाता है।

२ सत्य महाव्रत —अनगार धर्मामृत में पं. आशाधरजी कहते हैं —

अनृताद्विरति सत्यव्रत जगति पूजितम्।

अनृतं त्वभिधानं स्याद्रागाद्यावेशतोऽसत ॥४/३७॥

राग, द्वेष, मोह, क्रोध आदि दोषों से युक्त असत्य वचनों का त्याग कर देना और ऐसा सत्य भी नहीं बोलना कि जिससे प्राणियों का घात हो जावे, वह सत्यमहाव्रत है।

३ अचौर्य महाव्रत —आचार्य वट्टेकर मूलाचार में कहते हैं—

"संगृहीतानि चात्मवशीकृतानि च क्षेत्रवास्तुधनधान्यपुस्तकोपकरणच्छात्रादीनि तेपा सर्वेषां नादान न ग्रहणं आत्मीयकरणविवर्जनम्।" (मूला. टीका)

ग्राम, शहर आदि में किसी की भूली, रखी या गिरी हुई वस्तु को स्वयं नहीं लेना, दूसरों के द्वारा सग्रहीत शिष्य, पुस्तक आदि को भी न लेना तथा दूसरों के द्वारा बिना दी हुई ऐसी योग्य वस्तु को भी नहीं लेना अचौर्य महाव्रत है।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत —प आशाधर जी कहते हैं—

> या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुच प्रवृत्ति ।
> तद्ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम्॥ (अनगार धर्मामृत ४/६०)

राग भाव को छोडकर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना, अपनी आत्मा में रमण करना, परद्रव्य से दूर रहना, यह व्रत त्रैलोक्य पूज्य है और मोक्ष प्रदाता है।

५. परिग्रहत्याग महाव्रत —प दौलतराम जी कहते हैं—

> अंतर चतुर्दश भेद बाहिर संग दशधा तैं टले" (छहढाला/६/१)

धन, धान्यादि दस प्रकार के बहिरंग तथा मिथ्यात्व, वेद आदि १४ प्रकार के परिग्रह का त्याग कर देना, वस्त्राभूषण का सर्वथा त्याग अपरिग्रह महाव्रत है।

आत्मिक महत्ता प्राप्त करने के उद्देश्य से गुणीपुरुष इनका आश्रय लेते हैं, देवेन्द्रादिक भी महान् समझकर इनको नमस्कार करते हैं, तथा महान् अनन्तसुख ज्ञानादि को ये ही उत्पन्न करने वाले हैं। इस कारण इनको महाव्रत कहते हैं।

इन महाव्रतों की रक्षा के लिए आठ प्रवचन माताओं (५ समिति, ३ गुप्ति) का पालन करना चाहिए।

गुप्ति :—

> गोप्तु रत्नत्रयात्मान स्वात्मान प्रतिपक्षत ।
> पापयोगान्निगृहूणीयाल्लोकपक्त्यादिनिस्पृह ॥ (अनगार धर्मामृत, ४/१५४)

मन, वचन और काय के द्वारा होने वाले अनेक सावद्य कर्मों के रोकने को ही गुप्ति कहते हैं। मोक्षशास्त्र में भी आ. उमास्वामी ने कहा है—"सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति"। समीचीन याने लोकपूजादिक में स्पृहा न रखकर और रत्नत्रय अथवा तत्स्वरूप आत्मा की प्रतिपक्षियों से रक्षा करना, इस प्रकार से किया गया योगनिग्रह ही इष्ट का साधक हो सकता है। राजा की जिस प्रकार खाई, परकोटा, धूलिका ये तीनों रक्षा करते हैं, उसी प्रकार व्रतियों को भी रत्नत्रय की रक्षा के लिए परिखा (खाई), प्राकार (परकोटा), वप्र (धूलिका) तुल्य मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति को धारण करना चाहिए।

मनोगुप्ति - रागद्वेप कपायों के और मोह के अभाव को यद्वा विनयपूर्वक समय का अच्छी तरह अभ्यास करने को अथवा समीचीन ध्यान को मनोगुप्ति कहते हैं।

वचनगुप्ति - कठोर वचनादिक को छोडकर मौन धारण करने को वचनगुप्ति कहते हैं।

कायगुप्ति - शरीर में ममत्वबुद्धि के परित्यागरूप कायोत्सर्ग को अथवा पाँच पापों से दूर रहने को, समस्त शारीरिक चेष्टाओं की निवृत्ति को कायगुप्ति कहते हैं।

> सम्यक्प्रकार निरोधि मन वच काय आतम ध्यावते।
> तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते।
>
> रस, रूप, गध तथा फरस अरु शब्द-सुह असुहावने।
> तिनमें न राग विरोध, पचेन्द्रिय जयन पद पावने॥ (छहढाला ६/४)

मोक्षमार्ग की अधिदेवता गुप्ति की प्रतिहारिणी चेष्टा के द्वारा बहिष्कृत होने पर वे उस देवता के आराधन करने का पुन अवसर प्राप्त करने में तत्पर होते हैं और उसके लिए उस देवता की सखीसदृश समिति को धारण करते हैं।

समितियाँ

आगम में बताये हुए क्रम के अनुसार, समीचीनतया की गयी प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। सम्-समीचीनतया की गई इति-प्रवृत्ति। इस समिति के पाँच भेद हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग।

१ ईर्यासमिति —"परमाद तजि चउकर मही लखि, समिति ईर्यातैं चलै"। अर्थात् प्रमाद तजकर निर्जंतुक मार्ग से सूर्योदय के प्रकाश में चार हाथ आगे जमीन देखकर एकाग्रचित्तपूर्वक तीर्थयात्रा, गुरुवदना आदि धर्मकार्यो के लिए चलना ईर्यासमिति है।

२. भाषासमिति —

जग सुहितकर सब अहितहर, श्रुत सुखद सब सशय हरैं।
भ्रमरोग हर जिनके वचन, मुख चद्रतैं अमृत झरैं॥

अर्थात् जो साधु कर्कशादि दुर्भापाओं को छोडकर हित मित और असंदिग्ध वचन बोलते है उनके भाषा नाम की समिति समझनी चाहिए।

३ एषणासमिति —छ्यालीस दोष और बत्तीस अतराय से रहित नवकोटि से शुद्ध श्रावक के द्वारा दिया गया ऐसा प्रासुक, निर्दोष, पवित्र आहार लेना एषणासमिति है।

४ आदाननिक्षेपणसमिति —पुस्तक, कमडलु, आदि का रखते या उठाते समय परिमार्जन करके रखना उठाना, सावधानी से परिमार्जन करके ग्रहण करना या रखना आदाननिक्षेपण समिति है।

५ उत्सर्गसमिति —'निर्जन्तु थान विलोकि, तन मलमूत्र श्लेपम परिहरैं'। मुनिराज जब मलमूत्र त्याग करते हैं, उस भूमि को शोधकर जीवजन्तु रहित स्थान में बैठते हैं। इससे अहिंसा महाव्रत की पूर्ण रक्षा होती है।

स्पर्शन आदि पाँचों इद्रियों को वश में रखना, इनको शुभध्यान में लगा देना पचेन्द्रिय निरोध होता है। इसके भी पॉचों इद्रियों की अपेक्षा पॉच भेद हो जाते हैं।

स्पर्शनेद्रिय-निरोध —सुखदायक, कोमलस्पर्शादि में या कठोर स्पर्शादि में आनंद खेद न करना।

रसनेन्द्रिय-निरोध —सरस, मधुर भोजन में या नीरस, शुष्क भोजन में हर्ष-विषाद नहीं करना।

घ्राणेन्द्रिय-निरोध —सुगन्धित या दुर्गंधित वस्तु में राग-द्वेष नहीं करना।

चक्षुइन्द्रिय-निरोध —स्त्रियों के सुन्दर रूप या विकृत वेष आदि में राग-द्वेष भाव नहीं करना।

कर्णेन्द्रिय-निरोध —सुदर गीत, वाद्य तथा असुदर-निदा गाली वचनों में हर्ष-विषाद नहीं करना।

षट्-आवश्यक

मुनिराज पञ्चेन्द्रिय विजयी होते हैं वे जितेन्द्रिय कहलाते हैं। जो जितेन्द्रिय मुनि का कर्त्तव्य है वह आवश्यक है—

सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दना प्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चावश्यकस्य षड्भेदा ॥

१. समता, २ स्तुति, ३ वदना, ४. प्रतिक्रमण, ५ प्रत्याख्यान, ६. कायोत्सर्ग मुनि के ये छह आवश्यक हैं।

१. सामायिक (समता) —"जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दु ख आदि में हर्ष-विषाद नहीं कर, समान भाव रखना समता है, इसे ही सामायिक कहते हैं।

सम्मत्तणाणसंजमतवेहि ज त पसत्थममगमण।
समयत्तु त तु भणिद तमेव सामाइय जाण॥ (मूलाचार)

२ स्तुति ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना स्तव-आवश्यक है।

३ वदना अर्हंतो को, सिद्धो को, उनकी प्रतिमा को, जिनवाणी को, गुरु को कृतिकर्मपूर्वक नमस्कार करना वदना है। वन्दना के ३२ भेद हैं।

४ प्रतिक्रमण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सबधी कोई अपराध करने पर मन-वचन काय की शुद्धतापूर्वक अपनी निदा गर्हा करना प्रतिक्रमण है।

५ प्रत्याख्यान मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक पाप के कारण ऐसे नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, उन छहों का सर्वथा त्याग करना प्रत्याख्यान है। इनके १0 भेद हैं।

६ व्युत्सर्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान की शुद्धि हेतू शरीर से ममत्व के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। कार्योत्सर्ग के ३२ दोष होते हैं।

शेष सात गुण

१ केशलोंच —मुनिराज सिर, दाढी, मूंछ के बालों का लोच करते हैं। केशलोंच करने से भेदविज्ञान की सिद्धि, जीवों की रक्षा, अयाचक वृत्ति की सिद्धि और तपश्चरण में वृद्धि होती है।

२ अचेलकत्व (नग्नता) —मुनिराज वस्त्रादिक परिग्रह के सर्वथा त्यागी होते हैं। दिशाएँ ही उनका एक मात्र अम्बर है। वे यथाजात रूप में बालकवत् निर्विकार होते हैं।

३ अस्नान व्रत —स्नान, उबटन आदि का त्याग करना अस्नानव्रत है। धूलि से धूसरित, मलिन शरीरधारी मुनि कर्ममल को धो डालते हैं। चाडालादि, विष्टा, हड्डी, चर्म आदि का स्पर्श

होने से मुनि दडस्नान करके गुरु से प्रायश्चित्त भी ग्रहण करते हैं।

४ क्षितिशयन —निर्जंतुक भूमि में घास, पाट अथवा चटाई पर शयन करना भूमिशयन व्रत है। ध्यान, स्वाध्याय आदि से या गमनागमन से थककर स्वल्प निद्रा लेना होती है। "भू माहि पिछली रयन में कुछ शयन एकासन करन"।

५. अदतधावन —प्राणीसंयम, इन्द्रियसंयम की रक्षा के लिए मुनिराज दतधावन नहीं करते हैं।

६ स्थितिभोजन —पावों को चार अगुल अन्तराल से रखकर एक स्थान में खडे होकर दोनों हाथों की अजुली बनाकर श्रावक के द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करते हैं।

७ एकभक्त —एक बेला में आहार लेना। सूर्योदय के अनन्तर तीन घडी के बाद और सूर्यास्त के तीन घडी पहले तक दिन में सामायिक काल छोडकर एक बार आहार लेते हैं।

पॉच महाव्रत, पॉच समिति आदि चारित्ररूपी वृक्ष का रक्षक शील को बताया है।

१८,000 शील ३ योग × ३ करण × ४ सज्ञा × ५ इद्रिय × १0 संयम ×१0 धर्म = १८,000 शील के भेद हैं। मुनिराज इन १८,000 शील व्रतों का पालन करते हैं।

"पचमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ता अष्टादश सहस्रशीलधराश्चतुरशीतिशतसहस्र गुणधराश्च साधव।"

५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, १८,000 शील को जिसने धारण किया है तथा ८४,000 उत्तरगुणों की शोभा से सुशोभित किया है आत्मा को जिसने ऐसी मुद्रा से युक्त साधुपरमेष्ठी त्रिलोक-वदनीय हैं। (धवलटीका प्र.पु. पृ ५२)

मुनिराज मूलगुण, उत्तरगुण का पालन करते हैं। बाईस परीषह को सहन करते हैं। वे कायक्लेश किस प्रकार करते हैं सो कहते हैं—

> वर्षा घनी मूसलाधार, अपारनीर। योगी खडे स्थिर, दिगबर है शरीर।
> पै मौन मेरु सम वे ऋषि लोग सार। पीडा, व्यथा दुख नहीं समता अपार॥
> तीव्रातितीव्र चलती अतिशीत-वाय। तो झॉय झॉंय करते तरु सांय साय॥
> तो भी परीषहजयी ऋषिराज सारे। निर्ग्रन्थ हो करत ध्यान नदी-किनारे॥
>
> "जेठ तपै रवि आकरो, सूखे सरवर नीर।
> शैल शिखर मुनि तप तपैं दाझें नगन शरीर"॥

ऐसे दिगम्बर मुद्राधारी साधु के कई प्रकार होते हैं —

१ जिनकल्पी, २ स्थविरकल्पी तथा १ भावलिगी, २. द्रव्यलिगी, तथा १ आचार्य, २ उपाध्याय ३ सर्व साधू।

१. जिनकल्पी —जो उत्तम संहननधारी हैं, धूल, कटक आखों में गिरने पर खुद नहीं निकालते,

जल वर्षा से गमन रुक जाने पर छ मास तक कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित रहते हैं, ११ अंगधारी, धर्म शुक्लध्यान में तत्पर, मौनव्रती, गिरिकंदरा में निवास करनेवाले, बाह्याभ्यंतर परिग्रह से रहित, स्नेहरहित, निःस्पृही, यतिपति, तीर्थंकरों के समान विचरण करने वाले जिनकल्पी हैं।

२ स्थविरकल्पी —अनगारों को स्थविरकल्पी कहते हैं। यें २८ मूलगुण पालन करनेवाले पुर, नगर, ग्राम में रहने वाले संघसहित विहार करते, तथा शिष्य रखते हैं।

बारह तप तपनेवाले, द्वादशाग के ज्ञाता, क्षेत्र व काल के अनुसार आगम ज्ञाता, प्रायश्चितग्रंथ वेत्ता, एकत्वभावना में तत्पर, वृषभनाराच आदि तीन संहनन में से एक संहननधारी, मनोबल सहित, क्षुधादि बाधा सहने वाले, बहुत दिन के दीक्षित, तपस्या से वृद्ध और आचारशास्त्रों में पारंगत होने चाहिए।

> तवसुत्त सत्तएगात्तभावसघडणधिदिसमग्गो य।
> पविआआगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो॥ ॱमूलाचार अ. ४ज्ञ

१ भावलिगी —

> देहादि सग रहिओ माणक साएहि सयल-परिचत्तो।
> अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिगी हवे साहू॥ ॱभावपाहुडज्ञ

शरीरादि परिग्रह से रहित, मान कषाय से सब प्रकार से मुक्त, जिसका आत्मा आत्मा में रत रहता है वह साधु भावलिगी है।

२ द्रव्यलिगी —"द्रव्यलिग समास्थाय भावलिंगी भवेन्मुनि।" इन्द्रनदि आचार्य कहते हैं कि द्रव्यलिग धारण करके ही यति भावलिगी होता है। इसके बिना अनेकों व्रतों को धारण करने पर भी मुनि नहीं हो सकता। द्रव्यलिंग ही भावलिग का कारण है। मुद्रा ही सर्वत्र मान्य होती है, राजमुद्रा को धारण करने वाला अत्यंत हीन भी राजपुरुप माना जाता है। मुनि द्रव्य से २८ मूलगुण धारण करते हैं। उस वेष में ६ या ७वॉं गुणस्थान रूप भाव होना भावलिंग है। कदाचित् उन मुनि के पॉंचवे चौथे आदि गुण रूप भाव हो जावे तो भी वे द्रव्यलिंगी हैं। मूलगुणों में कदाचित् दोष भी लग जावे किन्तु छठे-सातवें गुणस्थान में रहने वाले मुनि पुलाक भावलिगी होते हैं।

णमोकार मंत्र और उसका माहात्म्य

❑ ब्र. रानू जैन, फिरोजाबाद

एसो पचणमोयारो सव्वपावप्पणासणो।
मगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मगलम्॥

णमोकार मंत्र कर्मराशि का विनाशक है और ससाररूपी पर्वतों के लिए वज्र के समान है। यह चराचर जगत के लिए सजीवन है और स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति में आने वाले सभी विघ्नों को दूर करता है। यदि तराजू के एक पलडे में इस मन्त्र को रखा जाए और दूसरे पलडे में तीनों लोकों को रखा जाए, तो भी इस पंच परमेष्ठी मत्र का पलडा भारी रहेगा। जो व्यक्ति उठते हुए, चलते हुए, सोते हुए सभी कालों में इसका स्मरण करता है वह सभी वांछित पदार्थों को प्राप्त करता है। इसके स्मरण से संग्राम, सागर, हाथी, सर्प, सिह, दुष्ट व्याधियों, अग्नि, शत्रु और बन्धन से उत्पन्न सभी भय (चोर, ग्रह, पीडा, निशाचर, शाकिनिया) आदि नष्ट हो जाते हैं। जो साधक भगवान जिनेन्द्र में हृदयवृत्तियों को एकाग्र करके अपने ध्येय के प्रति श्रद्धा से पूर्ण होकर वर्णक्रमों का स्पष्ट उच्चारण करता है, इस मन्त्र का विधिपूर्वक जाप करता है और एक लाख सुगन्धित पुष्पों से इसकी पूजा करता है वह तीर्थंकर-पद पाता है।

पचपरमेष्ठी वाचक इस मत्र को अनेक नामों से पुकारा जाता है (१) णमोकार मन्त्र, (२) अनादिमूल मन्त्र, (३) अपराजित मन्त्र, (४) पचपरमेष्ठी मन्त्र आदि।

मंत्रं संसारसारं त्रिजगदनुपम सर्वपापारिमत्र,
ससारोच्छेदमत्र विषमविषहर कर्मनिर्मूलमत्रम्
मंत्रं सिद्धिप्रदानं शिवसुखजनन केवलज्ञानमत्र,
मन्त्र श्रीजैनमन्त्र जप-जप जपित जन्म-निर्वाणमत्रम्। नमस्कार मत्र माहात्मय॥२॥

णमोकार मन्त्र तीन लोक में अनुपम और ससार में सारभूत, सर्वपापों का नाशक है। ससार का उच्छेदक, सर्वसिद्धिदायक, शिवसुख-उत्पादक, केवलज्ञानोत्पादक महामन्त्र है। निरन्तर चलते-फिरते, सोते-बैठते इस मन्त्र का जाप करने से निर्वाण पद की प्राप्ति होती है।

णमोकार मत्र ही आकर्षण, वशीकरण, उच्चाटन, स्तम्भन, सम्मोहन विद्या है—

आकृष्टि सुरसपदा विदधते मुक्तिश्रियो वश्यता,
उच्चाटं विपदा चतुर्गतिभुवां विद्वेपमात्मैनसाम्।
स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनं,

पापात्पचनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता॥३॥

प्रति समय शुद्ध या अशुद्ध अवस्था में भी इसका स्मरण करते रहना चाहिए—

अपवित्र पवित्रो वा सुस्थितो दुस्थितोऽपि वा,
ध्यायेत् पञ्चनमस्कारं सर्वपापै प्रमुच्यते।
अपवित्र पवित्रो वा सर्वास्था गतोऽपि वा।
य स्मरेत्परमात्मान स बाह्याभ्यतरे शुचि॥

यह मन्त्र सर्वमगलों में पहला मगल है—

अपराजित मत्रोऽय सर्वविघ्नविनाशन।
मगलेषु च सर्वेषु प्रथम मंगलं मत॥

णमोकार मंत्र एकादशाग और चतुर्दशपूर्व का मारभूत है—

जिणसासणम्म सारो, चउदस पुव्वाण जो समुद्दारो।
जस्स मणे णमुक्कारो ससारो तस्स किं कुणइ॥

जिस भव्यात्मा के मन में नमस्कार मत्र है, समार की कोई शक्ति उसका कुछ बिगाड नहीं कर सकती। जो व्यक्ति इस मत्र का आठ करोड, आठ लाख, आठ हजार, और आठ सौ आठ बार लगातार जाप करता है वह शाश्वतपद को प्राप्त करता है। तथा लगातार सात लाख जाप करने वाला व्यक्ति मब प्रकार के कष्टों से मुक्ति को प्राप्त करता है। एक लाख श्वेत पुष्पों से इस मत्र का जाप करने से तीर्थंकर पद प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं।

जिस प्रकार लड्डू को ऊपर नीचे कहीं से भी खाओ मीठा ही मीठा होता है उसी प्रकार इस महामत्र को उल्टा सीधा, कहीं से भी जपो यह सुख का कारण है।

धवला ग्रन्थ में इस मत्र के जपने की मख्यता से तीन विधिया बताईं हैं (१) पूर्वानुपूर्वी, (२) पश्चातानुपूर्वी और (३) याथातथ्यानुपूर्वी।

पूर्वानुपूर्वी—

णमो अरहताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण।
णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण॥

पश्चातानुपूर्वी—

णमो लोए सव्वसाहूण, णमो उवज्झायाण।
णमो आइरियाण, णमो सिद्धाणं, णमो अरहताण॥

याथातथ्यानुपूर्वी—

णमो सिद्धाणं, णमो अरहताण, णमो उवज्झायाणं।

णमो आइरियाणं, णमो लोए सव्वसाहूण॥

अथवा

णमो आइरियाण, णमो लोए सव्वसाहूण।
णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो उवज्झायाण॥

अर्थात् इस विधि में किसी भी पद को कैसे भी आगे पीछे लेकर स्मरण कर सकते हैं। इतनी ही बात का ध्यान रखना है कि पाँच से छ पद या चार पद न रहें। लड्डूवत् इस मत्र का उच्चारण उल्टा सीधा कैसे भी करने से सुख प्रदान करने वाला है।

यह मंत्र लाल वस्त्र से जाप करने से लक्ष्मी दायक तथा इष्टसिद्धिदायक होता है, पीत वस्त्र से जाप करने पर शांतिदायक होता है।

सुलोचना ने एक पल श्रीकन्या को णमोकार मत्र सुनाया। मत्र के प्रभाव से वह देवी हुई और प्रत्युपकार के रूप में सुलोचना की उसने रक्षा की। इस मत्र के प्रभाव से बैल का जीव सुग्रीव बना, अञ्जन निरञ्जन हो गया, चारुदत्त ने बकरे के जीव को मन्त्र दिया वह स्वर्ग में देव हुआ और चारुदत्त को अपना प्रथम गुरु मान प्रथम नमस्कार किया, बाद में मुनि को।

यह मंत्र १८४३२ प्रकार से बोला जा सकता है। इसमें ५ वाक्यपद, ३५ अक्षर और ५८ मात्राएँ हैं। सब मत्रों का राजा णमोकार मंत्र है। इससे ८४ लाख मत्र निकले हैं।

नवकार इक्कक्खरं पाव कडइ सत्त सायराण।
पन्नास च पएण सायर पणासया समग्गेण॥१॥

जो गुणइ लक्खमेग पूएइ जिणनमुक्कार,
तित्थयर नामगोदं सो बंधई णत्थि सदेहो।२॥

णमोकार मंत्र के एक अक्षर का भी भाव सहित स्मरण करने से सात सागर तक भोगा जाने वाला पाप नष्ट हो जाता है। एक पद का भावसहित स्मरण पांच सौ सागर तक भोगे जाने वाले पापो को नष्ट कर देता है।

प्रश्न—मगलमत्र णमोकार का अर्थ क्या है?

उत्तर—मगल—"मम् गालयतीति मगल" अर्थात् 'मम्' याने पाप का जो गालन करे या नाश करे वह है 'मगल'। अथवा 'मग लाति इति मगल' अर्थात् जो मग याने सुख को लाता हो वह 'मगल' है।

मंत्र

मत्र—शब्द "मन् धातु" से "ष्ट्रन्" (त्र) प्रत्यय लगाकर बनता है। इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ

है—"मन्यते ज्ञायते आत्मादेशोऽनेन इति मत्र" अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा का आदेश निजानुभव जाना जाय वह मन्त्र है। अथवा "मन्यते सत्क्रियते परमपदे स्थिता आत्मन वा यक्षादिशासनदेवता अनेन इति मत्र" अर्थात् जिससे परमपद में स्थित पच उच्च-आत्माओं का सत्कार किया जाय अथवा यक्षादि शासनदेवताओं का सत्कार किया जाय वह मन्त्र है।

णमोकार

णमोकार का अर्थ है "नमस्कार"। सम्पूर्ण अर्थ हुआ "परमसुख को लाने वाले मन्त्र को नमस्कार।" णमोकार मन्त्र वह मन्त्र है जिसमें पापमल और दुष्कर्मों को भस्म करने की अचिन्त्य शक्ति है। कारण कि इसमें उच्चरित ध्वनियो से आत्मा में घनात्मक (+) और ऋणात्मक (–) दोनों शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं जिससे कर्मकलंक भस्म हो जाता है। यही कारण है कि तीर्थंकर भगवान भी विरक्त होते समय सर्व प्रथम इसी मन्त्र का उच्चारण करते हैं तथा वैराग्य के लिए आये हुए लौकान्तिक देव भी इसी महामन्त्र का उच्चारण करते हैं। यह अनादि-निधन मन्त्र है। प्रत्येक तीर्थंकर के कल्पकाल में इसका अस्तित्व रहता है।

यह मन्त्र ही द्वादशाग का सार है। इसमें समस्त श्रुत की अक्षर सख्या निहित है। सभी ६४ मूलवर्ण निहित हैं। जैन दर्शन के तत्त्व पदार्थ, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय, निक्षेप, आस्रव, बध आदि इस मत्र में विद्यमान हैं। यह सभी मत्रशास्त्रों का राजा है। ८४ लाख मत्रों की मूलभूत मातृकायें इस महामत्र मे गर्भित हैं।

मत्र का अर्थ

वैदिक धर्मानुयायियों में जो ख्याति और प्रचार 'गायत्री मत्र' का है, बौद्धों में 'त्रिशाखा' मत्र का है, जैनों में वही ख्याति और प्रचार णमोकार मत्र का है। समस्त धार्मिक एव सामाजिक कृत्यों के आरभ में इस मगलमत्र का उच्चारण किया जाता है। जैन सम्प्रदाय का यह दैनिक जाप-मत्र है। इस मत्र में पाँच पद, अट्ठावन मात्रा और पैंतीस अक्षर हैं। विशेप पद ११ हैं— (१) णमो (२) अरहताण (३) णमो (४) सिद्धाण (५) णमो (६) आइरियाण (७) णमो (८) उवज्झायाण (९) णमो (१०) लोए (११) सव्वसाहूण। णमो अरहताण में ७ अक्षर हैं, णमो सिद्धाण में ५ अक्षर, णमो आइरियाण में ७ अक्षर हैं, णमो उवज्झायाण में ७ और णमो लोए सव्वसाहूणं में ९ अक्षर हैं अत ७+५+७+७+९ कुल अक्षर ३५।

इसमें कुल व्यजन ६+५+५+६+८ =३० व्यजन है। स्वर हैं ३४ अत कुल व्यंजन और स्वरो का प्रमाण है ३०+३४=६४।

वर्णित विषय का आदर्श

णमोकार मन्त्र एक ऐसा मंगल वाक्य है जिसमें द्वादशाग वाणी का सारभूत दिव्यात्मा पचपरमेष्ठी का पावन नाम गर्भित है। इसमें वर्णित आत्माओं का आश्रय पाकर कोई भी विकारग्रस्त प्राणी विकारों को दूर करके अपने अन्दर एक नई ज्योति को प्राप्त कर सकता है। वीतरागी, शान्त, लौकिक, दिव्यज्ञानी, अनुपम दिव्य, आनद और सामर्थ्यवान आत्माओं का आदर्श सामने रखने से मिथ्याबुद्धि दूर हो जाती है, रागादि का परिहार होने लगता है। विकारों को शान्त करने के लिए पच परमेष्ठी के समान उत्तम आदर्श अन्य कोई नहीं हो सकता है।

इस मत्र में निहित आत्माओं की शरण में जाने से अपने स्व की प्राप्ति होती है। 'साधक किसी आलबन को पाकर साधना की उन्नत अवस्था को प्राप्त कर लेना चाहता है।' आलंबन कमजोर नहीं है। परम उन्नत विश्व की समस्त आत्माओं से भी उन्नत परमात्मा रूप है, जिसके निकट पहुँच कर साधक उसी प्रकार शुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार दीप प्रज्वलित करने के लिए अन्य जलते हुए दीपकों के पास रख देने के पश्चात् नहीं जलने वाला दीपक भी जलने वाले दीपक की बत्ती की लौ से लगा देने पर जल उठता है, उसी प्रकार विषय वासनाओं में फँसा ससारी जीव भी पच परमेष्ठी रूप उत्तम शरण प्राप्त करके उनके तुल्य बन जाता है। पारस तो लोहे को स्वर्ण ही बनाता है, पारस नहीं, परन्तु पच परमेष्ठी अपने तुल्य बना लेते हैं।

णमोकार मंत्र के पाठान्तर

प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों में णमोकार मत्र के पाठान्तर भी उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम में यह मूल पाठ इस प्रकार है—

"णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण,
णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण।"

पाठान्तर इस प्रकार है—

अरिहताण के स्थान पर अरहताणं, हस्तलिखित ग्रन्थों में अर्हताण, अरुहताण पाठ भी मिलते हैं। आइरियाण के स्थान पर आयरियाण, आईरिआण पाठ भी किये जाते हैं। सब शुद्ध है। इससे व्युत्पत्ति अर्थ में अन्तर पडता है पर मूल भाव में अन्तर नहीं है। आगमसम्मत शुद्ध पाठ है—

णमो अरिहताण, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाण।
णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण॥ (आर्या छन्द)

श्वेताम्बर परम्परा में—

नमो अरिहताणं, नमो सिद्धाण, नमो आयरियाण।

नमो उवज्झायाण, नमो लोए सव्वसाहूण।

ण का न इस प्रकार परिवर्तन से शब्दों की शक्ति में कमी आती है। इससे मंत्रशास्त्र के रूप और मण्डल में विकृति हो जाती है। फल की प्राप्ति नहीं हो पाती है। "णमो" के उच्चारण, मनन और चिन्तन में आत्मा की अधिक शक्ति लगती है। फल अतिशीघ्र मिलता है। मंत्रोच्चारण से जिस प्राणवायु, विद्युत का सचार होता है वह णमो के सघर्ष से ही होता है अत शुद्ध मंत्र का ही उच्चारण करना चाहिए।

पदक्रम

इस मन्त्र में शुद्धात्माओं को क्रमश नमस्कार नहीं किया है। रत्नत्रय की पूर्णता तथा पूर्ण कर्म-कलक का नाश तो सिद्धों में देखा जाता है। अत पहले सिद्धों को नमस्कार किया जाना चाहिए था। परन्तु यहाँ पर 'अरिहन्तों' को सबसे पहले नमस्कार किया गया है।

धवला टीका में आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि "यह कोई दोष नहीं है।" क्योंकि "सबसे अधिक गुण वाले सिद्धों में श्रद्धा की अधिकता के मूल कारण अरिहन्त ही हैं। अरिहन्त के प्रसाद से ही हम लोगों को आप्त, आगम और पदार्थों का स्वरूप परिज्ञान होता है। अन्यथा हमें बोधिलाभ नहीं हो सकता है। 'उपकार' की अपेक्षा प्रथम पद में अरिहन्तों को नमस्कार करना युक्तिसगत ही है। प्रथम विभाग में अरिहत और सिद्ध हैं। द्वितीय विभाग में आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं।

दूसरे विभाग में प्रथम के समान साधु का स्थान उच्च होते हुए भी उपकारी परमेष्ठी को पहले रखा है। आत्म-कल्याण की दृष्टि से साधुपद उन्नत है परन्तु लोकोपकार की दृष्टि से आचार्य पद श्रेष्ठ है। आचार्य सघ का व्यवस्थापक ही नहीं होता अपितु अपने समय के चतुर्विध सघ के साथ धर्म प्रचार और प्रसार का कार्य भी करता है। वह लोक-व्यवहार का भी ज्ञाता होता है जिससे धर्म का सरक्षण व सवर्धन होता है। अत आचार्य अधिक उपकारी है।

आचार्य से कम उपकारी उपाध्याय है। उपाध्याय उन जिज्ञासुओं को अध्ययन कराते हैं जिनके हृदय में ज्ञान-पिपासा है। उनका सम्बन्ध सीमित विद्यार्थी से है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि वह एक नेता हैं जो अगणित प्राणियों को अपना मोहक उपदेश देकर उन्हें हित की ओर ले जाते हैं। वे एक "प्रोफेसर" हैं जो एक सीमित कमरे में बैठकर छात्रवृन्द को गम्भीर तत्त्व समझाते हैं अत आचार्य उपाध्याय दोनों ही उपकारी हैं। आचार्य के बाद उपाध्याय का पाठ उपकार गुण की न्यूनता के कारण ही है।

अन्त में साधुपद आता है। ये काम, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप अन्तरग परिग्रह तथा बहिरग परिग्रह धन-धान्य, वस्त्रादि स रहित होकर, आत्म-चितन में लीन रहते हैं। ये सदा लोकोपकार से पृथक् रहकर, आत्मा में रत रहते हैं। यद्यपि इनकी शान्त अहिंसक मुद्रा का

समाज पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है, पर ये आचार्य और उपाध्याय के समान लोक-कल्याण में सलग्न नहीं होते अत इन्हें अन्त में रखा गया है।

अनादि सादित्व

णमोकार मत्र अनादि है। प्रत्येक कल्पकाल में होने वाले तीर्थंकरों के द्वारा कथित इसका अर्थ, तथा इन शब्दों का निरूपण गणधरों ने किया है। पूजन के प्रारम्भ में भी इसे 'अनादि मूल मत्रोऽयं' कहकर बोला जाता है। पचपरमेष्ठी को एक साथ नमस्कार होने से इसे पंचपरमेष्ठी मन्त्र भी कहा जाता है और पचपरमेष्ठी अनादि होने से यह मन्त्र अनादि है तथा नमस्कार किये गये पात्र भी अनादि हैं। वास्तविकता तो यह है कि यह मन्त्र आत्मा का स्वरूप है। आत्मा अनादि है अत यह मन्त्र भी अनादि है। दिगम्बर परम्परा मानती है कि जैसे वस्तुएँ अनादि है उनका कोई कर्त्ता धर्त्ता नहीं है, उसी प्राकर यह मन्त्र भी अनादि है, मात्र व्याख्याता पाये जाते हैं। पट्खण्डागम में प्रथम खण्ड जीवट्ठाण के प्रारम्भ में यह मन्त्र मगलाचरण रूप से अकित है। विद्वानो ने धवला टीका (पुस्तक २ पृ ३३-३६) के आधार पर पुष्पदन्ताचार्य को इस महामन्त्र के आदिकर्त्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है परन्तु जैसे अग्नि का उष्णत्व, जल का शीतलत्व, वायु का स्पर्शत्व तथा आत्मा का चेतन धर्म अनादि है वैसे ही यह मन्त्र भी अनादि है।

> अनादि मूलमन्त्रोऽय सर्वविघ्नविनाशन ।
> मङ्गलेषु च सर्वेषु प्रथम मगल मत ।।

मंगलमन्त्र और मंगलशास्त्र

मत्र निर्माण के लिए ओं ह्रा ह्रीं ह्रू ह्रौं ह्र आदि बीजाक्षरों की आवश्यकता होती है। इन बीजाक्षरों की उत्पत्ति प्रधानत णमोकार मत्र से ही हुई है। श्री कीर्तिवाचक, ह्रीं कल्याणवाचक कहा गया है। कहा गया है—

> पणतीस सोल छप्पण चदुदुगमेग च जबह झाएह।
> परमेट्ठिवाचयाण अण्ण च गुरुवएसेण।। द्रव्य सग्रह ।।

पचपरमेष्ठी वाचक ३५, १६, ६, ५, ४, २, १ अक्षर रूप जाप्यों का मूल णमोकार मन्त्र है। उदाहरणार्थ, अक्षर १६-अरिहन्त सिद्ध आइरिय उवज्झाय साहु, अक्षर ६—अरिहन्त सिद्ध, अक्षर ५—अ सि आ उ सा।

णमोकार मन्त्र सभी मन्त्रों की उत्पत्ति के लिए समुद्र के समान है। जिस प्रकार समुद्र से अनेक मूल्यवान रत्न निकलते हैं, उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार इस महामन्त्र से अनेक उपयोगी

और शक्तिशाली मन्त्र उत्पन्न हुए हैं। यह मन्त्र कल्पवृक्ष है। इस मन्त्र से सर्प, विष, डाकिनी, शाकिनी, पिशाच सभी वश में हो जाते हैं। वश्य आकर्षण आदि नौ प्रकार के मन्त्र इसी से निष्पन्न हैं। जिस प्रकार गंगा-सिधु आदि नदियॉ पद्मह्रदादि से निकल कर समुद्र में मिल जाती हैं वैसे ही सभी मन्त्र इसी महामन्त्र से निकलकर इसी महामन्त्र के तत्वों में मिश्रित हैं।

जिनकीर्ति सूरि ने अपने नमस्कारस्तव के पुष्पिका-वाक्य में बताया है कि इस महामन्त्र में सभी मन्त्र उसी प्रकार निवास करते हैं जिस प्रकार एक परमाणु में 'त्रिलोकाकृति'। यही कारण है कि इसकी आराधना से सभी शुभ और आत्मानुभव रूप शुद्ध फल प्राप्त होते हैं। अत यह सब मन्त्रों का जनक एव प्रधान है।

इस मन्त्र का जाप अनेक प्रकार जैसे पश्चातानुपूर्वी, पूर्वापूर्वी, याथातथ्य, लोम-विलोम आदि अनेक प्रकार से किया जा सकता है। इसके अलावा तीन विधियॉ और भी हैं। (१) कमल जाप्य, (२) हस्तागुली जाप्य और (३) माला जाप्य। उत्तम में कमल जाप्य है।

जाप के लिए ८ प्रकार की शुद्धि आवश्यक है—(१) द्रव्यशुद्धि, (२) क्षेत्रशुद्धि, (३) समयशुद्धि, (४) आसनशुद्धि, (५) विनयशुद्धि, (६) मनशुद्धि, (७) वचनशुद्धि, (८) कायशुद्धि।

इस प्रकार णमोकार मन्त्र का जाप विभिन्न प्रकार की सिद्धियों के लिए अनेक प्रकार से किया जाता है। जाप का फल बहुत कुछ विधि पर निर्भर है।

माहात्म्य

ऐसो पचणमोयारो सव्वपावप्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसि पढम हवई मगल॥

इस महामत्र की अचिन्त्य महिमा है। यह रोग, शोक, आधि, व्याधि दूर करने वाला है। सर्व विघ्नों का नाशक, मगलों में पहला मगल है। किसी भी कार्य के आदि में इसका स्मरण करने से कार्य निर्विघ्न होता है। जैसे—व्यवहार में दूर्वा, दधि, अक्षत, चन्दन, नारियल, पूर्ण कलश, स्वस्तिक वस्तुए उत्कृष्ट मगल हैं वैसे ही यह सभी मगलों का मगल और अनेक सिद्धियों का प्रदाता महामत्र है।

यह मन्त्र जन्म मरण रूप ससार से छूटने का सारतत्त्व है। तीनों लोकों में अनुपम है। इसके समान चमत्कारी प्रभावक अन्य मत्र नहीं है। जिस प्रकार अग्नि का एक कण घास के बडे-बडे ढेरों को नष्ट कर देता है उसी प्रकार यह मत्र भी सभी प्रकार के पापों को नष्ट करने वाला पापारि है। यह ज्ञानावरणादि कर्मों का नाशक, रागादि भाव कर्मों का नाशक और विषों का नाशक है। इसे भाव सहित उच्चारण करने से कर्मों की निर्जरा होती है। तथा योगनिरोधपूर्वक स्मरण करने से कर्मों का नाश होता है। भाव एव विधि सहित इस मत्र का

अनुष्ठान करने से सभी लौकिक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

साधक जिस वस्तु की कामना करता है उसे प्राप्त हो जाती है। दुर्लभ व असभव कार्य भी महामंत्र की साधना से पूर्ण हो जाते हैं। यह मंत्र मोक्ष-सुख को देने वाला केवलज्ञान मंत्र है। इसके जाप से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। यह निर्वाण मत्र है।

यह देवों की विभूति को आकृष्ट करने वाला, मुक्तिरूपी स्त्री को वश में करने वाला है। चतुर्गतिरूप विपत्तियों को दूर करने वाला है। आत्मा के समस्त पापों को भस्मकर दुर्गति से बचाने वाला है। मोह का स्तभन करने वाला और सभी प्राणियों का रक्षक है।

पवित्र हो या अपवित्र, सोते, जागते, चलते फिरते किसी भी अवस्था में इस मन्त्र का स्मरण करने से आत्मा सर्वपाप से मुक्त हो जाता है और शरीर और मन पवित्र हो जाते हैं। सप्त धातुमय शरीर पवित्र णमोकार मत्र के स्मरण से निर्मल हो जाते हैं। निसदेह यह आत्मा को पूर्ण पवित्र करता है। यह अपराजित मन्त्र है। अन्य किसी के द्वारा इसकी शक्ति अवरुद्ध नहीं की जा सकती। समस्त विघ्नों को क्षणभर में नष्ट करने को समर्थ है। इसके द्वारा भूत, पिशाच, शाकिनी, डाकिनी, सिह, अग्नि आदि के विघ्नों को क्षण भर में ही दूर किया जा सकता है। जिस प्रकार हलाहल विष तत्काल अपना फल देता है उसी प्रकार णमोकार मन्त्र भी तत्काल शुभ पुण्यास्रव करता है। अशुभोदय को क्षीण करके निज वैभव, लौकिक वैभव को प्राप्त कराने में एक प्रधान साधन है तथा सम्यक्त्व वृद्धि का साधन है।

तिर्यंच पशु पक्षी जो मासाहारी क्रोधी होते हैं, अनेक प्राणियों की हिंसा करते हैं, वे भी अन्तिम समय में किसी दयालु द्वारा णमोकार मत्र का श्रवण करने मात्र से उस निद्य तिर्यंच पर्याय से छूटकर स्वर्ग को जाते हैं। इस मन्त्र का एक अक्षर भी भावसहित स्मरण करने से सात सागर तक भोगे जाने वाले पाप नष्ट हो जाते हैं। एक पद का भावपूर्वक स्मरण पांच सौ सागर तक भोगे जाने वाले पापों को नष्ट कर देता है। अभक्त प्राणी भी इस मन्त्र के प्रभाव से स्वर्गादि सुखों को प्राप्त करता है तथा भक्त प्राणी जाप्य के प्रभाव से अपने परिणामों को इतना निर्मल बना लेता है कि जिससे भव-भवातर के सचित पाप भी नष्ट हो जाते हैं और परम्परया निर्वाण को प्राप्त करता है।

न यद् दीपेन सूर्येण, चन्द्रेणाप्यपरेण वा।
तमस्तदपि निर्नाम स्यान्नमस्कार-तेजसा॥

इस पचम काल में कल्पवृक्ष के समान सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाला यह मन्त्र ही है। अत ससारी प्राणियों को इसका जाप अवश्य करना चाहिए। जिस अज्ञान, पाप और संक्लेश अन्धकार को सूर्य, चन्द्र और दीप दूर नहीं कर सके उस घने अन्धकार को यह महामन्त्र नष्ट कर देता है।

जिस प्रकार समुद्र के मन्थन से सारभूत अमृत, दधिमन्थन से घी उपलब्ध होता है उसी

प्रकार आगम का सारभूत यह णमोकार मन्त्र है। पूजा, स्वाध्याय, संयम, तप, दान, गुरुभक्ति सहित प्रतिदिन णमोकार मन्त्र का जाप करने वाला इतना पुण्यास्रव करता है कि चक्रवर्ती, अहमिन्द्र व तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है। इस मन्त्र का ८ करोड ८ लाख, ८ हजार, ८ सौ आठ बार लगातार जाप करने से शाश्वत सुख मिलता है तथा ७ लाख लगातार जाप करने से सभी कष्टों से मुक्ति हो जाती है। इसका अचिन्त्य प्रभाव है।

जैन संस्कृति और णमोकार मन्त्र

यों तो जैन सस्कृति के अनेक तत्त्व हैं पर णमोकार मत्र एक ऐसा तत्त्व है जिसके स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर इस सस्कृति का रहस्य अवगत करने में सरलता होती है। इस मंत्र में रत्नत्रयगुणमडित विशिष्ट शुद्धात्माओं को नमस्कार है। जिन आत्माओं ने अहिसा को अपने जीवन में पूर्णत उतार लिया है जिनकी सभी क्रियाएँ अहिसक हैं वे आत्माएँ 'जैन संस्कृति की साक्षात् प्रतिमायें' हैं। उनके नमस्कार से आदर्श जीवन की प्राप्ति होती है। पंच महाव्रतों का पालन करने वाले आत्मस्वरूप के ज्ञाता दृष्टा परमेष्ठियों का भेप ससार के सभी भेषों से परे है। लाल पीले तरह तरह के वस्त्र धारण आदि अनेक भेपों में नग्नता भेषातीत है। इसमें किसी भेप को नहीं अपनाया गया है। पचपरमेष्ठी निर्ग्रंथ रहकर सत्यमार्ग का अन्वेषण करते हैं। उनकी समस्त क्रियायें अहिंसक होती हैं। रागद्वेप, जिनके कारण जीवन में हिसा का प्रवेश होता है, इन आत्माओं में नहीं पाये जाते हैं। विकार रहित होने से शरीर पर इतना अधिकार हो जाता है कि भोजन की इन्हें आवश्यकता ही नहीं रहती है। समदृष्टि होने से प्रलोभन इन्हें खींच नहीं पाते। जैन सस्कृति का मुख्य उद्देश्य "निर्मल आत्मतत्त्व को पाकर शाश्वत सुख लाभ" है। इस मत्र में शुद्धात्माओं का आदर्श सामने होने से उनका स्मरण, चितन और मनन करने से शुद्धत्व की प्राप्ति होती है। जीवन पूर्ण अहिंसक बन जाता है। पंचपरमेष्ठी द्वारा स्वावलम्बन और स्वातन्त्र्य के भाव जागृत होते हैं। कर्तापन की भावना के कारण मानव परमुखापेक्षी होता रहता है। अपने कल्याण के लिए पर की अपेक्षा करना जैन सस्कृति के विपरीत है। इस मत्र का आदर्श स्वय ही अपने पुरुषार्थ द्वारा साधु अवस्था धारण कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करने की ओर सकेत करता है। अतएव णमोकार मत्र जैन सस्कृति का सच्चा एव स्पष्ट मानचित्र प्रस्तुत कर देता है।

तात्पर्य यही है कि यह महामगल मत्र प्राणीमात्र के लिए सुखदायी है। इस महामत्र के आदर्श से हमें आत्मसयम, आत्मसम्मान की भावना में बल मिलता है। इन्द्रियों, वासनाओं के नियत्रण की प्रेरणा मिलती है। दूसरों के प्रति किये जाने वाले कर्त्तव्यों में कुटुम्ब, देश, समाज, जाति, पशु-पक्षी, पेड पौधों के प्रति कर्तव्यों का समावेश होता है तथा शुद्धात्माओं के प्रति श्रद्धा-भक्ति, पूजा, ध्यान के भाव अन्तकरण में जागृत होते हैं। हमें नित्य प्रति इन महान

आत्माओं की आराधना करके उनके आदर्श गुणों को अपने भीतर धारण करने का प्रयास करना चाहिए।

शका—एक ही मन्त्र के पुन पुन जाप करने से कोई नवीन अर्थ तो निकलता नहीं फिर ज्ञान का विकास कैसे होता है? राग-द्वेष कैसे दूर हो जाता है? एक ही पद बार-बार अभ्यास में लाने पर उसका कोई विशेष प्रभाव आत्मा पर नहीं पडता है।

उत्तर—गणित के विद्यार्थी की दृष्टि से बहुत अच्छे ढग से इसका उत्तर दिया जा सकता है। एक एक दशमलव का एक नवीन अर्थ एव मूल्य होता है। इसी प्रकार णमोकार मत्र का बार बार उच्चारण रत्नत्रय गुणविशिष्ट आत्माओं के अधिक समीप ले जाता है।

विषय-कषायों को जीतने के लिए यह मत्र अमोघ अस्त्र है परन्तु ध्यान में तल्लीनता अवश्य हो। प्रारभ में आने वाले विकल्पों पर ध्यान न रखकर तल्लीनतापूर्वक जाप करते रहना चाहिए। जैसे अग्नि जलने पर प्रारंभ में धुआँ निकलता है और जब कुछ देर जलती रहती है तो धुआँ निकलना स्वय बन्द हो जाता है। वैसे ही साधक को प्रारभ में अनेक विकल्प आते हैं पर साधना पथ पर धीरे-धीरे सब रुक जाते हैं। वासनाओं का जाल-कषाय की कठोरता, सब इसी से नष्ट किया जा सकता है। अत प्रत्येक व्यक्ति को सोते जागते, उठते, बैठते सभी अवस्थाओं में इस मंत्र का स्मरण रखना चाहिए।

यह मगलमत्र जिनशासन का सार है तथा चतुर्दश पूर्वों का समुद्धारक है। जिनके मन में यह मत्र है ससार उनका कुछ बिगाड नहीं सकता। यह मत्र मगल का आगार है। भय को दूर करने वाला, जगत् का हितैषी तथा चितन मात्र से अपरिमित सुख का दाता है। तीन लोक, तीन काल में इससे वढकर कोई सुखकर नहीं है। कहा भी है—

> एक ओर तो तीन लोक हों मंत्रराज हो दूजी कोर,
> रखकर यदि तौलोगे तुम तो, मन्त्रराज भारी ले ठौर।
> पंचपरमपद नमनरूप इस महामत्र की जो महिमा,
> उसको नहीं कह सकता कोई, चाहे जितनी मति गरिमा॥

जैन दर्शन और धर्म का बीज	डा रतनचन्द जैन, भोपाल	१२७
जैन दर्शन और प्रमाण नय व्यवस्था	डा राजकुमारी जैन, जयपुर	१३१
जैन दर्शन की वर्तमान मे प्रासंगिकता	डा पारसमल अग्रवाल	१४०
ईश्वरत्व कर्तृत्व निरसन	आर्यिका जिनमतीजी	१४४
दैव की अवधारणा	आ वर्धमानसागरजी	१५५
वस्तु स्वभाव की निरपेक्षता और जीव जगत् सबध	प ज्ञानचन्द बिल्टीवाला, जयपुर	१८२
आस्तिक-नास्तिक	प हीरालालजी जैन, "कौशल"	१९९
अनेकान्त और स्याद्वाद	डॉ प्रकाशचन्द जैन, इन्दौर	२०३
अनेकान्तवाद और उसकी व्याप्ति	डॉ देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच	२१८
अनेकान्त दृष्टि अपनावे	प जवाहरलाल मोतीलाल, भिण्डर	२२३
जैन दर्शन की समन्वयात्मक दृष्टि	प्रो रामकरण शर्मा, दिल्ली	२३२

सम्यक् श्रुत	स्व सिद्धाताचार्य प फूलचन्द शास्त्री	२३४
जैनागम और जिनमुद्रा	आर्यिका विशुद्धमतीजी	२५९
चार अनुयोग	ब्र. कु. प्रभा	२७०
द्वादशाग और उनका चारों अनुयोगो मे अन्तर्भाव	ग आर्यिका सुपार्श्वमतीजी	२७४
सघर्षो का नवनीत-प्रथमानुयोग	मुनि अमितसागरजी	२८६
तत्त्व निरुपण	स्व प्रो महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य,	२९८
रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है	उपा भरतसागरजी	३२७
निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग	ब्र बंशीधर व्याकरणाचार्य	३३३
मोक्षमार्ग मे व्यवहारनय और निश्चयनय की उपयोगिता	मुनि देवनन्दीजी	३५७
आत्मसाधना का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन	आ वर्धमानसागरजी	३७२
सम्यग्दृष्टि कौन	आर्यिका सर्वज्ञश्री	३८६
सम्यग्दर्शन-एक विश्लेषात्मक विवेचन	डा लालचन्द जैन, वैशाली	४०१
सम्यग्ज्ञान-एक विवेचन	प पवनकुमार दीवान शास्त्री, मुरेना	४२३
ज्ञानदर्शन ही आत्मा है	प खुशालचन्द गोरावाला, वाराणसी	४४०
सम्यक् चारित्र	डा प्रमिला शास्त्री	४४७
शुद्धोपयोग	उपाध्याय भरतसागरजी	४६०
जिनशासन मे शुद्धोपयोग	ग आर्यिका विजयमतीजी	४६७
कर्मसिद्धान्त	आर्यिका आदिमतीजी	४७७
निमित्त-उपादान	प नाथूराम डोगरीय, इन्दौर	४९३
निमित्त उपादान मीमासा	उपाध्याय कनकनन्दीजी	४९८
मोक्षमार्ग मे पुण्य की उपयोगिता	प सागरमल जैन, विदिशा	५३१
परमात्मा कहाँ और कौन?	प नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर	५४०
लेश्या	आ पुष्पदन्तसागरजी	५४३

❑ डॉ. रतनचन्द्र जैन, भोपाल

जैनदर्शन का मर्म है कि धर्म क्रिया में नहीं, लक्ष्य में होता है। हम जीवन में किस चीज को पाना चाहते हैं, इस पर धर्म-अधर्म निर्भर है। यदि हम सांसारिक ऊँचाई पाना चाहते हैं तो हमारे भीतर अधर्म की जड है। यदि आध्यात्मिक ऊँचाई हमारा लक्ष्य है तो हमारे भीतर धर्म का बीज है। क्योंकि सांसारिक ऊँचाई लक्ष्य होने पर मनुष्य धन-दौलत, सत्ता, प्रभुता और ख्याति की प्राप्ति को ही एकमात्र धर्म मान लेता है, जिसके फलस्वरूप उसकी दृष्टि में किसी भी नैतिक नियम का मूल्य नहीं रहता और वह छल-कपट, हिंसा, अन्याय, किसी भी मार्ग का अवलम्बन कर अपने लक्ष्य को सिद्ध करने की चेष्टा करता है। अत सांसारिक ऊँचाई पाने का लक्ष्य अधर्म का लक्षण है। इसके विपरीत, आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँचना जिसके जीवन का उद्देश्य होता है, उसकी दृष्टि में धनदौलत, सत्ता, प्रभुता, ख्याति आदि सांसारिक वस्तुओं की निस्सारता पहले ही झलक चुकी होती है। इसलिए वह इन चीजों को पाने के लिए पापमार्ग का अवलम्बन नहीं करता। जीवनोपयोगी वस्तुओं की जितनी आवश्यकता होती है उन्हें वह न्यायमार्ग से ही अर्जित करता है। इसलिए आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँचने का लक्ष्य धर्म का मूलभूत लक्षण है।

इस प्रकार धर्म की जड लक्ष्य में होती है, क्रिया में नहीं। यद्यपि जैसा लक्ष्य होता है उसी के अनुसार क्रिया भी होती है, तथापि एक ही क्रिया भिन्न-भिन्न लक्ष्यों से भी हो सकती है। उदाहरण के लिए पूजा, भक्ति, स्वाध्याय, व्रत, तपादि शुभ क्रियाएँ सांसारिक सुख, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि लौकिक प्रयोजनों से भी की जा सकती है और मोक्षरूप आध्यात्मिक प्रयोजन से भी। अत इन क्रियाओं के द्वारा यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि इन्हें करने वाला व्यक्ति धार्मिक है या अधार्मिक। यह निर्णय केवल इस तथ्य से किया जा सकता है कि इनके पीछे उसका लक्ष्य क्या है। यदि ये क्रियाएँ वह लौकिक प्रयोजन से प्रेरित होकर करता है तो निश्चित है कि उसके भीतर धर्म नहीं है। यदि आध्यात्मिक लक्ष्य इन क्रियाओं का स्रोत है तो निश्चित ही करने वाले के भीतर धर्म मौजूद है।

इसी प्रकार भोजन-पान, शयन-आसन, जीविकोपार्जन, विवाह, सन्तानोत्पत्ति आदि लौकिक क्रियाएँ प्राय सभी मनुष्य करते हैं। किन्तु, जिसके जीवन का लक्ष्य आत्मा के सर्वोच्च स्वरूप को प्राप्त करना हो जाता है, उसकी ये क्रियाएँ भी धर्म का अंग बन जाती हैं। क्योंकि जब वह भोजन करता है तब स्वाद में उसकी आसक्ति नहीं होती, बल्कि धर्म के साधनभूत शरीर

का निर्वाह ही प्रयोजनभूत होता है। जब वह चलता-फिरता, उठता-बैठता है तो इस बात का ध्यान रखता है कि उसकी इन क्रियाओं से किसी जीव को पीडा न हो। किसी से बात करता है तो मुखमुद्रा कठोर न हो जाय, वाणी में कटुता न आ जाय, इस बात का बराबर ख्याल रखता है। मुद्रा को अत्यन्त प्रसन्न और वाणी को मृदु बनाकर ही बोलता है। आजीविका अर्जित करते समय इस विषय में सावधान रहता है कि अन्याय का एक भी पैसा उसके पास न आ पावे। उसके ऊपर यदि किसी सार्वजनिक हित के कार्य का उत्तरदायित्व रहता है तो वह इस बात का पूर्ण प्रयत्न करता है कि उसके हाथों किसी के साथ तिल भर भी अन्याय न हो। रिश्वत या घूसखोरी की तो वह स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता। किसी को सकट में पडा देखकर वह कायरतापूर्वक मुख नहीं मोड सकता, बल्कि अपने प्राणों को भी खतरे में डालकर उसे सकटमुक्त करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार लक्ष्य में अलौकिकता या आध्यात्मिकता आ जाने पर लौकिक क्रियाएँ भी अंशत अलौकिक या आध्यात्मिक बन जाती हैं। इसी आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है--

> उवभोगमिदियेहि दव्वाणमचेदणाणमिदराण।
> ज कुणदि सम्मदिट्ठी त सव्व णिज्जराणिमित्त॥२०२॥ज्ञानोदय प्रकाशन॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा इन्द्रियों से चेतन और अचेतन द्रव्यों का जितना भी उपभोग करता है वह सब निर्जरा का निमित्त होता है।

तात्पर्य यह कि सम्यग्दृष्टि जीव का लक्ष्य निज आत्मा के सर्वोच्च स्वरूप को प्राप्त करना होता है अत चेतन-अचेतन पदार्थों का उपभोग ऐन्द्रिय सुख की लालसा से नहीं करता, अपितु शरीर को आध्यात्मिक साधना के अनुकूल बनाये रखने के लिए करता है। फलस्वरूप लक्ष्य की आध्यात्मिकता से उसकी उपभोग क्रिया भी अशत आध्यात्मिक बन जाती है जिससे उसके उदयागत कर्म की निर्जरा हो जाती है और नवीन कर्मबन्ध बहुत मामूली सा (अल्पस्थिति-अनुभागवाला) होता है।

किन्तु जिसके जीवन का लक्ष्य सासारिक ऐश्वर्य होता है उसकी ये लौकिक क्रियाएँ पापमय ही बनी रहती हैं क्योंकि वह भोजन करता है तो उसमें स्वाद की लालसा होती है, वस्त्र पहनता है तो शरीर को सजाने का भाव मन में रहता है। चलते-फिरते, उठते-बैठते समय उसे प्राणियों के सुख-दुख की चिन्ता नहीं रहती। जीविकोपार्जन में भी न्यायमार्ग की परवाह नहीं करता।

तात्पर्य यह कि यदि सासारिक ऐश्वर्य जीवन का लक्ष्य है तो पूजा, भक्ति, व्रत, तप, यज्ञ आदि कर्मकाण्ड भी अधर्म ही बना रहता है और यदि आत्मा का सर्वोच्च स्वरूप जीवन का लक्ष्य होता है तो लौकिक क्रियाएँ भी अंशत धर्म बन जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में कहा है--

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि॥२५५॥

अर्थात् जैसे एक ही जाति के बीज भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमियों में बोये जाने पर भिन्न-भिन्न रूप में फलित होते हैं, वैसे ही एक ही शुभ राग सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि आत्माओं के सम्पर्क से भिन्न-भिन्न फल देने वाला हो जाता है।

इसी प्रकार लौकिक क्रियाओं का स्वरूप भी सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि आत्माओं के सम्पर्क से बदल जाता है। परिणामस्वरूप उनका फल भी भिन्न-भिन्न हो जाता है। सार यह कि जीवन का लक्ष्य ही धर्म और अधर्म का स्रोत है।

लक्ष्यभ्रम क्यों?

अविद्या, माया या मिथ्यात्व के प्रभाव से मनुष्य को जीवन के वास्तविक लक्ष्य का बोध नहीं हो पाता। सांसारिक वस्तुओं में ही उसे आकर्षण दिखाई देता है, सुख का आभास होता है। इसलिए उनकी प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य मान लेता है। किन्तु सांसारिक वस्तुओं का आकर्षण मायावी है, माया (मोह) के द्वारा उत्पन्न किया गया होता है। इसका प्रमाण यह है कि वह अस्थायी होता है। शुरू में वे आकर्षक दिखाई देती है, लेकिन कुछ ही समय बाद उनका आकर्षण समाप्त हो जाता है। जो वस्तु पहले रसमय प्रतीत होती है बाद में वह रसहीन हो जाती है। किसी भी वस्तु का आकर्षण, किसी भी वस्तु की सुखमयता अन्त तक नहीं टिकती। यौवन और सौन्दर्य अच्छे लगते हैं, लेकिन वे चार दिन के ही मेहमान होते हैं। दुनियां की कितनी चीजें हम प्राप्त करते हैं। किन्तु प्राप्त होने के बाद उनका आकर्षण खत्म हो जाता है और नई चीजों में आकर्षण दिखाई देने लगता है और जब वे नई चीजें प्राप्त हो जाती हैं तब उनका भी यह हश्र होता है।

हर वस्तु की आकर्षण क्षमता सामयिक ही होती है, शाश्वत नहीं। जो चीजें युवावस्था में आकर्षण लगती हैं, वे वृद्धावस्था में आकर्षण खो देती है। जिन वस्तुओं में वृद्धावस्था में आकर्षण प्रतीत होता है वे युवावस्था में आकर्षणहीन होती है। धन भी सदा आकर्षक नहीं रहता, कभी कोई अन्य वस्तु उससे भी अधिक आकर्षक हो जाती है। जो व्यक्ति भयंकर व्याधि से पीडित होता है उसके लिए व्याधि से छुटकारा ही दुनिया की सर्वाधिक स्पृहणीय वस्तु होती है। अन्धे के लिए नेत्र ही संसार की सर्वाधिक आकर्षक चीज है। जिस व्यक्ति को जीवन भर धन प्रिय रहा है उसे बुढापे में शायद यौवन ही सबसे ज्यादा प्रिय प्रतीत होता होगा और मरते हुए आदमी को सभवत जीवन से अधिक प्रिय और कोई चीज न होगी। अर्थात् दुनियाँ में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप से आकर्षक और सुख देने वाली हो। यही कारण है कि दुनियाँ से कोई भी आदमी सन्तुष्ट नहीं रहता। हर आदमी को

दुनियाँ से शिकायत रहती है। इससे सिद्ध है कि सांसारिक वस्तुओं का आकर्षण मायावी है।

इसके अलावा सासारिक वस्तुओं की केवल जीवन-व्यापन गत उपयोगिता है। उनसे जीवन के दु खों का शाश्वत उपचार नहीं होता। जीवन भर अनन्त वस्तुओं का उपभोग करते रहने पर भी मनुष्य दु खमय अवस्था में बंधा हुआ ही वापस लौटता है, बल्कि उसे और मजबूत कर लेता है। सांसारिक वस्तुओं के उपभोग या सम्पर्क से जीवनव्यापन का स्तर तो ऊँचा उठता है, लेकिन इंसानियत का स्तर ऊँचा नहीं उठता। ऐसा कोई फल या मिष्ठान, ऐसा कोई वस्त्र या आभूषण, ऐसा कोई पद या आसन धरती पर नहीं है, जिसे खा लेने, पहन लेने या जिस पर बैठ जाने से मनुष्य इंसानियत की ऊँचाई पर पहुँच जाय। इसलिए सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकती। मिथ्यात्व के प्रभाव से ही वे जीवन का लक्ष्य प्रतीत होती हैं।

जीवन का लक्ष्य तो वही वस्तु हो सकती है, जो जीवन के दु खों का शाश्वत उपचार हो, जिससे परमसंतोष की उपलब्धि हो, जिससे जीवनव्यापन का स्तर नहीं, स्वयं जीवन का स्तर ऊँचा उठे, जिससे मनुष्य अपनी क्षुद्र सांसारिक अवस्था से मुक्ति पाकर सर्वोच्च परमात्म अवस्था में प्रतिष्ठित हो जाय। वह वस्तु अलौकिक नहीं हो सकती, क्योंकि जैसा पूर्व में कहा गया है, लौकिक वस्तुओं से दु खों का शाश्वत उपचार नहीं होता, न ही व्यक्ति का गुणात्मक उन्नयन होता है। यह किसी अलौकिक वस्तु से ही सभव है। वह लौकिक वस्तु एक ही है— स्वयं का सर्वोच्चस्वरूप। वह स्वय में आनन्दमय है और शाश्वत है। अत उसकी उपलब्धि से हम शाश्वत रूप से आनंद में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। स्वयं के सर्वोच्च स्वरूप की प्राप्ति का अर्थ है शरीर से सदा के लिए छुटकारा। शरीर सम्बन्ध ही दु खों का कारण है। अत उससे सदा के लिए छुटकारा मिल जाने पर दु खों का शाश्वत उपचार हो जाता है।

जब स्वयं की सर्वोच्च अवस्था जीवन का लक्ष्य होती है तब दैनिक जीवन की क्रियाऍं भी धर्म बन जाती हैं। आज मनुष्य को कर्मकाण्ड में लगाने की बजाय उसके जीवन लक्ष्य को बदलने की, उसे सम्यक् बनाने की जरूरत है, ताकि मनुष्य का सॉस लेना भी धर्म बन जाय. उसका चलना-फिरना, उठना-बैठना, सोचना-विचारना, हँसना-रोना, जीविकोपार्जन करना इत्यादि सम्पूर्ण जीवनपद्धति ही कर्मकाण्ड का रूप धारण कर ले। विडम्बना यह है कि अधिकाश लोगों के जीवन में थोथा कर्मकाण्ड तो जोर-शोर से आ जाता है, लेकिन जीवन-पद्धति धर्म से अनुप्राणित नहीं हो पाती, जिससे धर्म के ढोल पिटते रहते हैं, लेकिन धर्म का परिणाम परिलक्षित नहीं होता।

जैनदर्शन में प्रमाण और नय व्यवस्था

❑ *डॉ. राजकुमारी जैन, जयपुर*

हम किसी भी पदार्थ के सम्बन्ध में यह किस प्रकार जानते हैं कि वह क्या है, किस प्रकार का है, उसमें क्या-क्या विशेषताएं हैं। आचार्य उमास्वामी इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—"प्रमाणनयैरधिगम" अर्थात् प्रमाण और नय के ज्ञान के द्वारा पदार्थों का ज्ञान होता है। प्रमाण का शाब्दिक अर्थ है "प्रमा करणं प्रमाणम्।" यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहा जाता है। तथा कार्य का साधकतम या अव्यवहित कारण, जिसके होने पर कार्य अनिवार्यतया हो तथा जिसके अभाव में कार्य नहीं हो, कारण कहलाता है। इस प्रकार जो प्रमा का अव्यवहित कारण हो वह प्रमाण है। दूसरे शब्दों में, "प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्" जिसके द्वारा वस्तु को यथार्थतया जाना जाय वह प्रमाण है। जिसके द्वारा श्रुतज्ञान के विषयभूत पदार्थ के एक अंश को प्राप्त किया जाता है, जाना जाता है वह नय है।[1] जैन आचार्यो ने प्रमाण और नय के अनेक भेद-प्रभेदों का वर्णन किया है।

प्रमाण का स्वरूप

भारतीय दर्शन में इस बात पर बहुत विवाद रहा है कि प्रमाण या वस्तुओं के स्वरूप को यथार्थत जानने का साधन क्या है। न्यायदर्शन में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को प्रमाण माना गया है जिसे किसी न किसी रूप में अधिकाश भारतीय दर्शन स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार किसी भी पदार्थ जैसे— घट, पट आदि को हम तभी जान सकते हैं जबकि उसका चक्षु, त्वचा आदि इन्द्रियों से सम्पर्क हो। ज्ञानेन्द्रियों से संयुक्त हुए बिना कभी कोई पदार्थ ज्ञात नहीं हो सकता। अत इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष (संयोग) द्वारा ही पदार्थ के स्वरूप को जाना जा सकने के कारण यही (सन्निकर्ष) प्रमाण है। कुछ नैयायिक कारक साकल्य को प्रमाण मानते हैं। वे कहते हैं कि कोई भी पदार्थ तभी ज्ञात हो सकता है जबकि उसके ज्ञान के लिए आवश्यक समस्त सामग्री—इन्द्रिय, पदार्थ, प्रकाश, उपदेशादि का सद्भाव हो। यदि ज्ञान की उत्पादक सामग्री में से एक का भी अभाव हो तो पदार्थ ज्ञात नहीं हो सकता। अत ज्ञानोत्पादक सामग्री का एकत्रीकरण या कारक साकल्य ही प्रमाण है।

जैन आचार्य चक्षुरादि बाह्य पदार्थों को प्रमाण न मानकर "स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान" को प्रमाण स्वीकार करते हैं।[2] वे कहते हैं कि इन्द्रिय, पदार्थ, प्रकाशादि जड़ पदार्थ हैं। इनमें यह

सामर्थ्य नहीं है कि वे किसी वस्तु के स्वरूप का बोध करा कर उसके प्रति अज्ञान की निवृत्ति कर सकें। यह सामर्थ्य मात्र स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान में होने के कारण वही प्रमाण हो सकता है। जो ज्ञान पदार्थ को जैसा वह वास्तव में है उसी रूप में निश्चयात्मक रूप से जानता है वह अर्थ व्यवसायात्मक ज्ञान है। प्रमाण के लक्षण में विद्यमान 'स्व' पद ज्ञान की स्वसवेदनता को सूचित करता है। प्रमाण ज्ञान और अपने अर्थ व्यवसायात्मक स्वरूप के निश्चय से युक्त होने के कारण स्वार्थव्यवसायात्मक कहलाता है। प्रमाण के लक्षण में विद्यमान 'व्यवसायात्मक' विशेषण संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय की प्रमाणता का निषेध करता है क्योंकि ये ज्ञान-पदार्थ के यथावस्थित रूप से रहित है उस रूप में ज्ञात के निश्चय से रहित है। संशय दो कोटियों में चलायमान अनिश्चयात्मक ज्ञान है। जैसे—यह रस्सी है या साप। वस्तु का विपरीत निश्चय विपर्यय है। इसमें वस्तु जिस स्वरूप से रहित है उस रूप में ज्ञात होती है। रस्सी को सांप समझ लेना भ्रम या विपर्यय का प्रसिद्ध उदाहरण है। अनध्यवसाय वह ज्ञान है जिसमें वस्तु का आभास मात्र होता है, उसके प्रति किसी प्रकार का निश्चय नहीं होता। उदाहरणार्थ, चलते समय किसी पदार्थ का पैर से स्पर्श होने पर प्रतीत होना कि 'कुछ है' लेकिन यह निश्चय नहीं हो पाना कि 'कौन सा पदार्थ है' अनध्यवसाय कहलाता है।

जैन आचार्य यथार्थ ज्ञान को प्रमाण मानते समय, इन्द्रियादि की विषयबोध के क्षेत्र में निरर्थकता की स्थापना नहीं करते अपितु वे पदार्थ के यथार्थबोध के प्रति इनकी अव्यवहित कारणता के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। एक ससारी व्यक्ति इन्द्रिय, मन आदि की सहायता लेकर ही किसी पदार्थ को जान सकता है इसलिए ये उसके विषयबोध के सहकारी कारण है। लेकिन इनके सद्भाव मात्र से कोई विषयज्ञान नहीं हो जाता। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर व्यक्ति अपनी विषय-ग्रहण सामर्थ्य तथा तत्पूर्वक होने वाले विषय-ग्रहण-व्यापार द्वारा ही पदार्थ को जान सकता है। एक नवजात शिशु और एक वयस्क व्यक्ति दोनो की ही इन्द्रियॉ प्रकाशादि समस्त कारणो के सद्भाव घट पटादि पदार्थों से समान रूप से सयुक्त होती हैं। इस सयोग द्वारा वयस्क व्यक्ति पदार्थों को घट-पट आदि रूप से जानता है जबकि नवजात शिशु नहीं जान पाता। फिर एक व्यक्ति की अनेक इन्द्रियॉ एक साथ अपने-अपने विषयो मे सम्बद्ध होती हैं, उन इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने के लिए सभी अनुकूल परिस्थितिया भी विद्यमान होती हैं लेकिन व्यक्ति उसी इन्द्रिय के विषय को जान पाता है जिसे जानने के लिए वह प्रवृत्त होता है तथा उतनी ही मात्रा में जान पाता है जितना वह अपनी जानने की क्षमता के अनुसार जानने रूप क्रिया करता है। इस प्रकार वस्तु के स्वरूप को यथाथित जानने तथा उसके प्रति अज्ञान की निवृत्ति का साधकतम या अव्यवहित कारण ज्ञप्तिक्रिया या स्वय यथार्थज्ञान ही है। अत यही प्रमाण है।

जैन आचार्य प्रमाण के साथ ही साथ नय को भी पदार्थों के अधिगम का महत्त्वपूर्ण साधन स्वीकार करते हैं। प्रश्न उठता है कि नय भी प्रमा का कारण होने के कारण प्रमाण के अन्तर्गत

ही आ जाते हैं तब इन्हें प्रमाण से पृथक् नाम क्यों दिया गया है? इस सन्दर्भ में यह दृष्टव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञान के पॉच भेद बताये गये हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यय और केवलज्ञान।[३] ये पाँचों ही ज्ञान प्रमाण हैं।[४] इनमें से मति, अवधि, मनपर्यय और केवल-ज्ञान मात्र प्रमाण रूप होते हैं। जबकि श्रुतज्ञान प्रमाण और नय उभय रूप होता है। नय श्रुत प्रमाण के विभिन्न अंश हैं। एक नय वस्तु के मात्र एक विशेष धर्म को ही जानता है तथा विभिन्न नयों से अनेकान्तात्मक अर्थ के परस्पर सापेक्ष समस्त धर्मों का जानने पर श्रुत प्रमाण की उत्पत्ति होती है। नय पदार्थों के अधिगम का साधन होने पर भी स्वय प्रमाण नहीं है, ये अप्रमाण भी नहीं है अपितु प्रमाणांश हैं क्योंकि नय का विषयभूत अर्थ आचार्य विद्यानन्दी के शब्दों में न तो वस्तु और न अवस्तु अपितु वस्तु का एक देश कहलाता है। जिस प्रकार समुद्र का एक विशेष अश न तो समुद्र और न असमुद्र अपितु वह समुद्रांश कहलाता है। आचार्य के इस कथन तथा विषयबोध के साधन के रूप में प्रमाण से स्वतत्र नय की सत्ता की स्वीकृति के महत्त्व को समझने के लिए हमें नय के स्वरूप का अध्ययन आवश्यक है।

नय का स्वरूप

नय को परिभाषित करते हुए अकलंकदेव कहते हैं—"प्रमाण द्वारा प्रकाशित अर्थ के एक विशेष अश का प्ररूपक ज्ञान नय है।"[५] यह पदार्थ के स्वरूप का विचारपूर्वक निर्णय करने का साधन है तथा इसमें पदार्थ परीक्षापूर्वक जाना जाता है।"[६] नयात्मक ज्ञान द्वारा मनमाने चिन्तन का अवलम्बन लेकर वस्तु को नहीं जाना जाता अपितु इसके द्वारा "युक्तिपूर्वक अर्थ का ग्रहण किया जाता है।"[७]

प्रमाण सकलादेशी होता है। उसका विषय सम्पूर्ण वस्तु होती है। नय विकलादेशी होता है।[८] जिस पदार्थ को पहले प्रमाण द्वारा जान लिया गया है उसी पदार्थ के एक अश के प्रति किसी प्रकार की समस्या या जिज्ञासा उत्पन्न होने पर उसके निराकरणार्थ परीक्षात्मक नयज्ञान की प्रवृत्ति होती है जिसमें युक्तियों के द्वारा अर्थात् विभिन्न प्रमाणों का अवलम्बन लेते हुए वस्तु के उस विशेष अश के स्वरूप का निश्चय किया जाता है। अनन्तवीर्य कहते हैं—"ज्ञाता के द्वारा साक्षात्कार किये गये अर्थ में (अभिहित अर्थात् वर्णन किये गये अर्थ में तथा अनुमित अर्थ में भी) किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने पर वस्तु में पुन ऊहापोहात्मक चिन्तन के अभाव में भ्रम का निवारण नहीं हो पाता। इसलिए आन्तरिक बाह्य सपूर्ण पदार्थ के प्रति नय का अनुष्ठान किया गया है।"[९]

जो व्यक्ति प्रमाण ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु को, वस्तु के परस्पर सापेक्ष समस्त धर्मों को जानता है वह व्यक्ति उस वस्तु के किसी विशेष धर्म के विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण कर सकता है। जिस वस्तु को प्रमाण के द्वारा नहीं जाना गया उसके प्रति नयात्मक ज्ञान की प्रवृत्ति भी

नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि ज्ञान का विषय भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, आध्यात्मिक या अन्य किसी भी प्रकार का पदार्थ हो, वह अनेकान्तात्मक स्वरूप से युक्त होता है। अनेकान्त की दो परिभाषाएँ दी गयी हैं। जैन-आचार्य प्रथम परिभाषा देते हुए कहते हैं कि वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता ही अनेकान्त है। लेकिन मतिश्रुत ज्ञान अनन्तधर्मात्मक वस्तु को ग्रहण करने वाले सकलादेशी प्रमाण ज्ञान नहीं हो सकते। अत इस सन्दर्भ में वस्तु की अनेकधर्मात्मकता अनेकान्त है। (अनेकान्त शब्द 'अनेक' और 'अन्त' (धर्म) पदों का योग है।) वस्तु का यह अनेक धर्मात्मक या अनन्तधर्मात्मक स्वरूप एक-अनेक, भेद-अभेद, सामान्य -विशेष, आदि सप्रतिपक्षी धर्म युगलों में व्यवस्थित होकर ही अस्तित्व रख सकता है। इसलिए अमृतचन्द्राचार्य अनेकान्त के दूसरे महत्त्वपूर्ण अर्थ को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं, "जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है। इस प्रकार एक वस्तु के वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरुद्ध शक्तिद्वय के प्रकाशन का नाम अनेकान्त है।"[१०]

प्रत्येक पदार्थ अपनी विशेषताओं (गुण, अवयव आदि) में व्याप्त एक अखण्ड सत्ता है तथा उन विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मों का समूह मात्र न होकर परस्पर सापेक्ष अनेक धर्मों में व्याप्त एक जटिल संरचना है। उसकी विशेषताएँ उसके अवयव या अश हैं तथा अपने अस्तित्व के लिए सम्पूर्ण पदार्थ पर, पदार्थ के अन्य समस्त धर्मों पर, आश्रित हैं। वस्तु का एक विशेष अंश जिस विशिष्ट स्वरूप से युक्त होकर अस्तित्व रखता है उस स्वरूप को वह वस्तु के अन्य अंशों से सापेक्ष रूप से—उनसे सम्बन्धित होकर, उनके कार्यों से प्रभावित होकर ही रख सकता है। उदाहरण के लिए शरीर हाथ, पैर, सिर, पेट आदि के अतिरिक्त कुछ नहीं है लेकिन वह इनका समूह मात्र न होकर इनमें व्याप्त एक सत्ता है। शरीर के विभिन्न अग अपना पृथक्-पृथक् स्वरूप रखते हैं, पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं लेकिन ये ऐसे शरीर के एक अग के रूप में ही शरीर के अन्य अगों से सम्बन्धित होकर ही, उनके कार्यों से प्रभावित होकर ही कर सकते हैं तथा यदि उन्हें शरीर से अलग कर दिया जाय तो उनका अस्तित्व नहीं हो सकता, जिस रूप में वे शरीर के अग के रूप में अस्तित्व रखते हैं। जैसे हाथ शरीर के एक अंग के रूप में हलन-चलन आदि क्रियाओं से युक्त होता है तथा वस्तुओं को उठाने और रखने का कार्य करता है। यदि हाथ किसी कारणवश शरीर से अलग हो जाय तो अपना यह स्वरूप तथा उपयोगिता खो देता है।

किसी भी वस्तु का एक विशेष अश जिस स्वरूप से युक्त होकर अस्तित्व रखता है उस रूप में उसका अस्तित्व सम्पूर्ण वस्तु पर, वस्तु के अन्य समस्त अंशों पर आश्रित होता है। इसलिए प्रयोजन के अनुसार वस्तु के एक विशेष अंश को ग्रहण करने वाले नयात्मक ज्ञान की प्रवृत्ति प्रमाण ज्ञान के द्वारा वस्तु के परस्पर सापेक्ष अनेक धर्मात्मक स्वरूप को ग्रहण करने के उपरान्त ही हो सकती है।[११] जो व्यक्ति सम्पूर्ण वस्तु को जानता है वही उसके एकांश के विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण कर सकता है तथा व्यक्ति की सम्पूर्ण वस्तु के प्रति समझ जितनी गहरी होती जाती

है उसमें एकांश के अधिक विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण करने की क्षमता उतनी प्रखर हो जाती है। शरीर के एक विशेष अंश—सिर में उत्पन्न हुए विकार के विशिष्ट स्वरूप तथा उसके निदान को एक कुशल डॉक्टर ही समझ सकता है क्योंकि वह सम्पूर्ण शरीर को अर्थात् शरीर के समस्त अंगों, उनकी कार्य प्रणाली तथा उनके कार्यों के सिर पर पडने वाले प्रभावों को जानता है, तथा अपनी इस समस्त जानकारी को दृष्टि में रखते हुए, इसका उपयोग करते हुए ऊहापोहात्मक चिन्तन का अवलम्बन लेकर वह यह तय करता है कि शरीर के अग सिर के विकार का कारण सिर की संरचना की कोई खराबी है, नेत्रों की कमजोरी है अथवा पेट की खराबी है। इस प्रकार युक्तियों अथवा प्रमाणों के द्वारा परीक्षापूर्वक किये गये चिन्तन के द्वारा वह सिर में उत्पन्न हुए विकार के स्वरूप को जानता है तथा उसी के अनुसार वह उस विकार के निदान का स्वरूप तय करता है। एक सामान्य व्यक्ति को सिर के विकारयुक्त विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि वह सपूर्ण शरीर की कार्य-प्रणाली को, शरीर के विभिन्न अगों पर पडने वाले प्रभावों को नहीं जानता।

नयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दादि प्रमाणों द्वारा जाने गये पदार्थों के प्रति किसी प्रकार की जिज्ञासा या व्यवहार में उनके प्रति किसी प्रकार की समस्या उत्पन्न होने पर उसका समाधान ही नहीं कराता अपितु यह पदार्थ के प्रत्यक्षादि से अगृहीत पूर्णतया नवीन पक्षों को जानने का एक महत्त्वपूर्ण साधन भी है। नयात्मक ज्ञान विभिन्न प्रमाणों से पदार्थ को जानने वाले विद्वानो का ही विषय नहीं है अपितु यह किसी भी विषय में विशेषता अर्जित करने का एक बहुत महत्त्वपूर्ण साधन भी है। जैसे नयात्मक ज्ञान एक डॉक्टर को शरीर से सम्बन्धित समस्त जानकारी का उपयोग करते हुए उसके एक अश के विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान ही नहीं कराता अपितु यह शरीर के क्षेत्र में डॉक्टर के स्तर की विशेषता अर्जित कराने का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन भी है।

श्रुतज्ञान या शब्द प्रमाण के द्वारा ही व्यक्ति किसी क्षेत्र में दक्षता प्राप्त कर सकता है। किसी भी क्षेत्र में अन्य व्यक्तियों द्वारा की गयी जानकारियों को अर्जित करना श्रुतज्ञान है। यह अर्जन भाषा के माध्यम से ही हो सकता है। भाषा में यह सामर्थ्य नहीं हैं कि यह सम्पूर्ण वस्तु को युगपत् अभिव्यक्त कर सके। इसके द्वारा क्रमिक रूप से एक वाक्य में वस्तु के एक-एक धर्म का वर्णन करते हुए ही सम्पूर्ण वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। व्यक्ति का श्रुतज्ञान प्रमाण तभी हो सकता है जबकि वह क्रमिक रूप से एक धर्म को जानते हुए समस्त धर्मों को जानकर उनकी पारस्परिक सापेक्षता के ग्रहणपूर्वक एक वस्तु को जाने। यदि व्यक्ति कुछ ही धर्मों को जानकर अपने ज्ञान को पूर्ण मान लेता है अथवा समस्त धर्मों को परस्पर निरपेक्ष रूप से जानता है तो उसका ज्ञान मिथ्या ही होगा तथा उसका अनुसरण करने पर व्यवहार में असफलता की प्राप्ति होगी। जैसे यदि एक मजदूर को भवन-निर्माण की जिम्मेदारी दे दी जाय तो वह जिम्मेदारी का सफलतापूर्वक निर्वाह नहीं कर सकता क्योंकि यद्यपि वह भवन-निर्माण

के सभी चरणों को जानता है लेकिन उन्हें परस्पर निरपेक्ष रूप से ही जानता है, उनके परस्पर सापेक्ष स्वरूप को नहीं जानता और इसलिए वह सही ढग से यह नहीं तय कर सकता कि इस जमीन में इतनी ऊचाई वाले मकान के लिए किस प्रकार की नींव लगायी जानी चाहिए। वह सम्पूर्ण भवन के स्वरूप को ध्यान में रख कर एक विशेष दीवार के स्वरूप को तय नहीं कर सकता। भवन-निर्माण के क्षेत्र में एक कुशल कारीगर का ज्ञान ही प्रमाण ज्ञान हो सकता है क्योंकि वह भवन-निर्माण के सभी चरणों को पारस्परिक सापेक्षतापूर्वक जानता है।

व्यक्ति भाषा के माध्यम से प्रमाण ज्ञान प्राप्त कर सके इसी उद्देश्य से नय को परिभाषित करते हुए समन्तभद्राचार्य कहते हैं—"स्याद्वाद के द्वारा प्रविभक्त अर्थ के एक विशेष अंश का व्यंजक नय है।"[१२] इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं—"स्याद्वाद अनुमान के द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थ का ज्ञान कराता है। वही प्रधानतया (समान रूप से) समस्त द्रव्य में व्याप्त होने के कारण स्याद्वाद के द्वारा प्रविभक्त अर्थ है। नित्यत्वादि पृथक्-पृथक् धर्म उसके विशेष अंश हैं। उनका प्रतिपादक ज्ञान नय है।[१३] आचार्य अन्यत्र कहते हैं—"यह स्याद्वादनयसस्कृत तत्त्वज्ञान ही प्रमाणनयसस्कृत कहा जाता है। स्याद्वाद प्रमाण रूप होता है। सप्तभगी वचनविधि तथा नैगमादि अनेक विकल्प नय हैं। अहेतुवाद आगम स्याद्वाद तथा हेतुवाद नय है। इन दोनों से सस्कृत अलकृत तत्त्वज्ञान की युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध होने के कारण प्रमाण हो सकता है।"[१४]

जैन आचार्यों के अनुसार प्रत्येक वाक्य एक नय है तथा उसके पूर्व स्यात् पद होना आवश्यक है। वाक्यों में स्यात् पद अनेकान्त का द्योतक तथा गम्य अर्थ के प्रति विशेषण है।[१५] गम्य अर्थ के प्रति विशेषण के रूप में स्यात् शब्द जाने जा रहे पदार्थ के अवयव का सूचक है। वह यह बताता है कि वाक्य में उद्देश्य पद के प्रति किया जा रहा विधान सर्वथा सत्य न होकर एक निश्चित अपेक्षा से ही उद्देश्य पद के वाच्य अर्थ के एक विशेष अश या पक्ष के प्रति ही सत्य है, तथा उसके अन्य अशों या पक्षो के प्रति असत्य भी है। उदाहरण के लिए कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य या अनित्य नहीं होता। वह गुणो की अपेक्षा नित्य तथा पर्यायों की अपेक्षा अनित्य होता है। "स्यात् द्रव्य नित्य है" इस वाक्य में स्यात् पद द्रव्य के गुणों की ओर सकेत कर रहा है जिनकी अपेक्षा से ही द्रव्य में नित्यत्व धर्म विद्यमान है।[१६]

स्याद्वाद जाने जा रहे पदार्थ के प्रति विशेषण होने के साथ ही साथ उसके अनेकान्तात्मक-अनेकधर्मात्मक या परस्पर सापेक्ष एक-अनेक, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष धर्म युगल रूप जात्यन्तर स्वरूप का द्योतक भी है। यह सामान्य रूप से वस्तु के उन समस्त धर्मों की ओर संकेत करता है जिनका सद्भाव होने पर ही वस्तु की जानी जा रही विशेषता का अस्तित्व सभव है।

नयात्मक ज्ञान वस्तु के एक विशेष अंश का ज्ञान है। इसके द्वारा व्यक्ति वस्तु को सही ढंग से तभी जान सकता है जबकि वह पहले स्याद्वाद रूप प्रमाण ज्ञान के द्वारा वस्तु के

सर्वांगीण स्वरूप को जाने। स्याद्वाद वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप का सामान्य रूप से ही बोध कराता है। इसके द्वारा यह ज्ञात नहीं हो पाता कि वस्तु में कौन-कौन से विशेष धर्म हैं। इसलिए स्याद्वाद रूप प्रमाण ज्ञान के द्वारा ज्ञात अनेकान्तात्मक अर्थ के एक-एक अंश को एक-एक नय द्वारा क्रमिक रूप से प्रकाशित किया जाता है। एक नय वस्तु के एक धर्म की मुख्यता से ग्रहण करता है तथा अन्य धर्मों को गौण कर देता है। वस्तु का एक धर्म अन्य सापेक्ष होता है इसलिए उसे ग्रहण करने वाला नय भी अन्य नयों से निर्पेक्ष होने पर मिथ्या तथा नयान्तर सापेक्ष रूप से ही सम्यक् होता है।[१७] विभिन्न नयों द्वारा वस्तु के समस्त धर्मों को परस्पर सापेक्ष रूप से जानने के पश्चात् उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रमाण ज्ञान है।

श्रुत प्रमाण के प्रारम्भिक स्तर पर हमें विभिन्न नयों के द्वारा वस्तु के विभिन्न धर्मों का अन्य निरपेक्ष सामान्य स्वरूप ही ज्ञात हो पाता है। इस स्तर पर हम स्यात् शब्द के प्रयोग के कारण सामान्य रूप से ही यह जानते हैं कि वस्तु के ये धर्म परस्पर सापेक्ष हैं। लेकिन हम यह नहीं जान पाते कि इनकी पारस्परिक सापेक्षता का स्वरूप क्या है अर्थात् ये एक दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित हैं, एक-दूसरे के स्वरूप को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। यह ज्ञान द्वितीय स्तर पर होने वाली नयात्मक ज्ञान की प्रवृत्ति द्वारा होता है। इसी को दृष्टि में रखते हुए नय की परिभाषा दी गयी है। श्रुत प्रमाण के द्वारा वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप को जानकर व्यवहार में प्रयोजन की सिद्धि हेतू उसके एक-एक धर्म को विशेष रूप से निरूपित करने वाले ज्ञाता का अभिप्राय नय है।[१८] उदाहरण के लिए सम्यक्चारित्र के दो पक्ष हैं—आन्तरिक और बाह्य। सम्यक्चारित्र का आन्तरिक पक्ष आन्तरिक अनुभूतियों तथा आत्मा की अवस्थाओं से सम्बन्धित है और बाह्य पक्ष शारीरिक और मानसिक क्रियाओं के स्वरूप से सम्बन्धित है। सम्यक्चारित्र के ये दोनों पक्ष पूर्णतया पृथक्-पृथक् न होकर परस्पर सापेक्ष है, एक-दूसरे के पूरक है। इन दोनों का समन्वित स्वरूप ही सम्यक्चारित्र है। सम्यक्चारित्र के इन उभय पक्षों में समन्वयपूर्वक व्याप्त स्वरूप को भाषा के द्वारा एक साथ अभिव्यक्त किया जा सकना सम्भव नहीं है। इसलिए समयसारादि आध्यात्मिक ग्रन्थों में सम्यक्चारित्र के आन्तरिक पक्ष का तथा तत्त्वार्थसूत्र, मूलाचारादि ग्रन्थों में बाह्य पक्ष का वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थों में सम्यक्चारित्र के आन्तरिक पक्ष के उस विशिष्ट स्वरूप का ही वर्णन किया गया है जो बाह्य पक्ष के सद्भाव में ही हो सकता है, तथा बाह्य पक्ष का वर्णन आन्तरिक अनुभूतियों की प्राप्ति हेतू तैयारी तथा आन्तरिक अनुभूतियों के सद्भाव में होने वाली अनिवार्य परिणति रूप में ही किया गया है। व्यक्ति का चारित्र सम्बन्धी ज्ञान तभी प्रमाण हो सकता है जबकि वह चारित्र के दोनों पक्षों को पारस्परिक सापेक्ष के ग्रहण पूर्वक जाने। ऐसा वह तभी कर सकता है जबकि ग्रन्थों का अध्ययन स्याद्वादनयसस्कृत दृष्टि से युक्त होकर करे। चारित्र के एक पक्ष का अध्ययन करते समय यह ध्यान रखे कि यह अपने आप में पूर्ण सत्य न होकर सत्यांश है। चारित्र का दूसरा पक्ष भी है जिसके सद्भाव में ही इस पक्ष का अस्तित्व हो सकता है और प्रारम्भिक स्तर पर

व्यक्ति दो नयों से चारित्र के दोनों पक्षों को पृथक्-पृथक् ही जान सकता है। इसके पश्चात् ही वह दोनों पक्षों से सम्बन्धित समस्त शास्त्रीय कथनों को ध्यान में रखते हुए स्वयं के ऊहापोहात्मक चिन्तन का अवलम्बन लेकर एक पक्ष के अन्य पक्ष सापेक्ष विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण करने में सक्षम हो सकता है। मूलाचारादि ग्रन्थों में आलोचना, प्रतिकमण, प्रत्याख्यानादि क्रियाओं का विधान है लेकिन ये क्रियाएँ तभी सार्थक हैं जबकि व्यक्ति आत्मस्वरूप की भावना से युक्त हो, निरन्तर अपने परमात्मस्वरूप का ध्यान करता हो तथा उसे प्राप्त करने के लिए वर्तमान में अपनी आत्मा में विद्यमान विकारों को आलोचना, प्रतिक्रमण आदि के द्वारा समाप्त करने का प्रयत्न करे। यदि व्यक्ति आत्मानुभूति और आत्मचिन्तन से रहित है तथा आलोचना आदि का उद्देश्य अपनी बाह्य क्रियाओं में हो रहे दोषों को समाप्त करना ही स्वीकार करता है तो उसका आचरण मिथ्याचारित्र ही कहलायेगा। इस प्रकार प्रत्येक बाह्य क्रिया का एक आन्तरिक पक्ष भी होता है तथा प्रत्येक आन्तरिक अनुभूति के अनुरूप अथवा उसे प्राप्त करने के लिए प्रवृत्यात्मक अथवा निवृत्यात्मक बाह्य क्रियाएँ भी होती है। जो व्यक्ति आचरण के इन दोनों पक्षों में से एक को ही जानता है अथवा दोनों को परस्पर पूर्णतया पृथक्-पृथक् स्वीकार करता है उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। जो व्यक्ति इन पक्षों की पारस्परिक अन्तर्व्याप्ति से निर्मित एक सत्ता, सम्यक्चारित्र को जानता है उसी का ज्ञान प्रमाण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रमाण और नय पदार्थों के स्वरूप को जानने के दो महत्त्वपूर्ण साधन हैं मतिज्ञान अर्थात् इन्द्रिय प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाण वस्तु के इन्द्रियगम्य गुणों की वर्तमानकालीन पर्याय का ही ज्ञान करा पाते हैं। इसके द्वारा वस्तु के गुण-दोष, उपयोगिता-अनुपयोगिता, उसके शाश्वत-सामान्य स्वरूप तथा उस सामान्य स्वरूप की कालक्रम से होने वाली विशिष्ट अभिव्यक्तियो से सम्बन्धित नियमों तथा अन्य परोक्ष धर्मों का ज्ञान नहीं हो सकता। इन सबकी जानकारी व्यक्ति को प्रत्यक्षादि प्रमाणो से जाने गये पदार्थ के प्रति विचारविमर्शात्मक नयज्ञान की प्रवृत्तिपूर्वक हो सकती है। नयात्मक ज्ञान वस्तु की उपर्युक्त क्षेत्रों से सम्बन्धित विशेषताओं को विभिन्न प्रमाणों से ज्ञात वस्तु के स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए परीक्षात्मक विचार विमर्श के द्वारा जानता है तथा उससे स्वतत्र किसी भी अन्य प्रमाण में परीक्षात्मक विचार रूप स्वरूप का अभाव होने के कारण यह सामर्थ्य नहीं है। अत प्रमाण के समान ही नय भी अधिगम का एक महत्त्वपूर्ण साधन है।[१९]

१ 'नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि स ।'—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १/३३/६

२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १/१०/७७

३. वही, १/६/५

४ "श्रुतभेदा नया"—लघीयस्त्रय, श्लोक ६६

५. "प्रमाणप्रकाशितार्थ विशेषप्ररूपको नय"—तत्त्वार्थवार्तिक पृ ९४

६ "विचारो निर्णयोपाय परीक्षेत्यवगम्यताम्।"—सिद्धिविनिश्चय, १०/३

७ "नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोर्थपरिग्रह।"—लघीयस्त्रय, का ५२

८ तत्त्वार्थवार्तिक, पृ, ३३

९ सिद्धिविनिश्चय टीका, पृ ६६७

१० समयसार, पृ ६४८

११ प्रमाणप्रकाशितेषु अर्थेषु नयपवृत्तिर्व्यवहारहेतुर्भवति नान्येषु।—तत्त्वार्थवार्तिक, पृ ३३

१२ "स्याद्वादप्रविभक्तार्थ विशेषव्यंजको नय।"—आप्तमीमासा, श्लो १०३

१३ अष्टसहस्री, पृ-२९०

१४ अष्टसहस्री, पृ-२८८-८९

१५ वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्य प्रति विशेषणम्—आप्तमीमासा, शलोक-१०३ पूर्वार्द्ध

१६. स्याद्वाद् के विस्तृत विवेचन के लिए देखें—'स्याद्वाद, नय और सप्तभगी' पूना विश्वविद्यालय से प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका—परामर्श जून-१९८६

१७ निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।—आप्तमीमासा, श्लोक-१०८

१८ लघीयस्त्रय, श्लाक-७३-७४

१९ "नयस्य प्रमाणात्मकत्त्वे पृथक् वचनमनर्थकम्, अन्यथा कथं तेनाधिगमो नाम यत प्रमाणनयैरधिगम प्रतिपद्येत, तन्न, ततस्तत्त्वाधिगमोपपत्ते तत्परीक्षालक्षणत्वात् नयस्य।"—सिद्धिविनिश्चय, स्ववृत्ति १०.२

जैनदर्शन की वर्तमान में प्रासंगिकता

❑ *डॉ. पारसमल अग्रवाल*

ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में बहुत तेजी से विश्व में तरक्की हो रही है। किन्तु कई कारणों से साधारण जनता न तो हमारे शास्त्रों का मर्म जान पाती है और न ही आधुनिक ज्ञान का रहस्य। इसका परिणाम यह होता है कि साधारण जनता को विरोधाभास प्रतीत होता है और वह या तो विज्ञान को धिक्कारती है या धार्मिक ज्ञान को व्यर्थ समझती है या वह इन दोनों में तटस्थ रहते हुए टी0वी0 एव सिनेमा द्वारा चित्रित मार्ग को ही जीवन का ध्येय जाने-अनजाने में बना लेती है।

हमारे ऋषियों ने जो मार्ग बताया है वह लाभदायक है तथा आधुनिक विज्ञान भी सत्य की खोज में लगा हुआ है। दुनिया केवल उतनी ही नहीं है जितनी हल्के-फुल्के समाचार-पत्र, साहित्य एवं फिल्मी दुनिया में चित्रित होती है। इस कथन को स्पष्ट करने का इस लेख में अति संक्षेप प्रयास किया जा रहा है। जैन दर्शन के चारों अनुयोगों का समावेश करने की दृष्टि से प्रत्येक के कुछ ही उदाहरण प्रस्तुत करना सभव हो सकेगा। प्रत्येक अनुयोग के लिए एक प्रश्न एव उसके उत्तर द्वारा तथ्य स्पष्ट किये जाने का प्रयास यहाँ किया गया है।

१. क्या पृथ्वी के अतिरिक्त अन्यत्र जीव हैं?

जैन करणानुयोग में शंका करते हुए सबसे वजनदार शका यह होती है कि 'स्वर्ग-नरक किसने देखा? जो कुछ भी है वह इस पृथ्वी पर ही है।'

इस शंका का पूर्ण समाधान क्या विज्ञान कर सकेगा? कब तक? इन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन कार्य है। किन्तु यह जानना उपयोगी होगा कि अब तक विज्ञान कितना जान पाया है। १९६७ में औषधि विज्ञान का नोबिल पुरस्कार प्राप्त करने वाले वैज्ञानिक जार्ज वाल्ड ने एक लेख[1] में यह स्पष्ट बताया है—

"The smallest estimate we would consider of the fraction of stars in the Milky Way that should have a planet that could support life is one percent. That means a billion such places in our own home galaxy; and with a billion such galaxies within reach of our telescopes, the already observed universe should contain at least a billion billion-10^{13}-places that

can support life.'

तात्पर्य यह है कि जार्ज वाल्ड के अनुसार १000000000000000000 (एक के आगे १८ शून्य) से भी अधिक स्थान (पृथ्वी जैसे) इस ब्रह्माण्ड में है जहाँ जीवधारी होने की संभावना है।

२. क्या दिन में भोजन करना व अण्डे-मांस, मद्य का त्याग लाभदायक है?

चरणानुयोग के इन बिन्दुओं के सम्बन्ध में मेरे स्वय के ४ वर्षो के अमरीका में रहकर वहाँ के जीवन को देखने, समझने व वहाँ के आधुनिक साहित्य के आधार पर कुछ संकेत यहाँ देना चाहूँगा।

(१) अमरीका की अधिकाश आबादी (80% से अधिक) शाम को ७ बजे के पूर्व अपना शाम का भोजन (dinner) ले लेती है। अमरीकी संस्कृति में यह साय भोज का समय मुख्यतया स्वास्थ्य एव सुविधा के कारण बना है।

(२) आज मोटापा एव कोलेस्टरल की समस्या अमरीका में इतनी बढ गई है कि लगभग प्रत्येक पत्र-पत्रिका में खानपान के सम्बन्ध में लेख प्रकाशित होते रहते है व एक स्वर से लगभग सभी लेख अण्डे एव मास का प्रयोग हानिकारक बताते हैं। अण्डा अब अमरीका में खलनायक हो गया है। अण्डे में कोलेस्टरल की मात्रा सबसे ज्यादा होती है।

(३) अमरीका में सिगरेट का प्रचलन बहुत तेजी से कम हो रहा है। अमरीका में मैं जिस विश्वविद्यालय में था वहाँ किसी भी भवन में कोई भी सिगरेट नहीं पी सकता है। पहले मैंने १९७९-८0 में जिस विश्वविद्यालय में सिक्के डाल कर सिगरेट खरीदने वाली मशीनें देखीं थीं वे अब १९८६-८९ में देखने को नहीं मिलीं।

(४) अमरीका में सिगरेट का इतना विरोध होने के पहले बहुत वर्षों तक सिगरेट के पाकेट पर "धूम्रपान हानिकारक है'—ऐसी चेतावनी छापी गई थी। इसी तरह १९८९ में अमरीकी सरकार ने शराब की बोतल पर भी अब यह चेतावनी छापने का कानून बनाया है कि 'गर्भवती महिलाओं के लिए शराब हानिकारक है'। शराब उद्योग को यह पहला झटका लगा है।

(५) एड्स रोग के प्रचलन के बाद अमरीकी जनता को यह एहसास हो गया है कि न केवल जुआ, मास, मद्य एव चोरी बुरे हैं अपितु वेश्यावृत्ति एव कुशील भी इसी जन्म में जानलेवा बीमारी वाले हैं। इस प्रकार जैन-चरणानुयोग ने जो सात व्यसन बताए एव जिनका त्याग अधिकाश जैन परिवारों में एक बच्चे को सहज ही विरासत में मिलता है उनमें से ६ व्यसनों को अमरीका ने बुरा मानना स्वीकार कर लिया है। शेष एक व्यसन—शिकार—के बारे में भी इसी तरह कभी चेतना जागृत होगी।

३. क्या बीसवीं सदी में कोई ऐसा नायक पैदा हुआ है जिसने 'अहिंसा परमो धर्मः' की महिमा उजागर की हो ?

इस प्रश्न को मैं ताजा 'प्रथमानुयोग' के रूप में लेकर प्रथमानुयोग में वर्णित समस्त महापुरुषों के चरित्र को समझने की पात्रता बनाना चाहता हूँ।

महात्मा गाँधी ने जो सफल अहिसात्मक आन्दोलन चलाया उसके लिए आज विश्व के समस्त राजनेता नतमस्तक हैं। आइंस्टीन ने गाधीजी के बारे में एक स्थान पर यह लिखा है कि कुछ सदियों के बाद लोगों को इस पर विश्वास नहीं आयेगा कि ऐसा हाड मांस का पुतला इस धरती पर सचमुच में पैदा हुआ था।

गाधीजी ने यह अहिसा एवं अहिंसा के उपयोग की विधि श्रीमद् राजचन्द्र से जैन ग्रन्थों के आधार पर सीखी थी। गाधीजी ने स्वय उनकी आत्मकथा में यह लिखा है कि जब भी अहिसा के बारे में उन्हें शका एवं अधिक विस्तृत जानने की जिज्ञासा रहती थी तब वे श्रीमद् राजचन्द्र से सम्पर्क करते थे।

अमरीका से कुछ वर्ष पूर्व एक पुस्तक[२] प्रकाशित हुई जिसमें विश्व को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले १०० व्यक्तियों की जीवनी एवं उनके कार्यों का वर्णन किया है। इन १०० में भगवान महावीर का नाम भी है व उनके प्रभाव के रूप में उस पुस्तक में लेखक ने यह स्पष्ट लिखा कि भगवान महावीर की अहिंसा को महात्मा गाधी ने अपनाकर न केवल भारत को अपितु समस्त विश्व को प्रभावित किया है और हो सकता है २१वीं सदी में इसकी और अधिक आवश्यकता एव उपयोग हो।

४. वैज्ञानिक सृष्टि को किसी के द्वारा निर्मित नहीं मानते हैं। क्या जैनदर्शन इस आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा से सहमत है ?

सृष्टि ही क्यों, वैज्ञानिको का तो यह मूल सिद्धान्त है कि 'ऊर्जा न तो पैदा की जा सकती है और न ही नष्ट की जा सकती है, केवल रूपान्तरण होना है।' जैन द्रव्यानुयोग इस मूल सिद्धान्त मे पूर्णत मेल खाता है। विषय अत्यन्त गंभीर होने के कारण विस्तार में न जाते हुए समयसार की गाथा क्र० १०४ द्वारा सकेत देना ही यहां उचित होगा।

> दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
> तं उभयमकुव्वतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता।।

अर्थात् आत्मा किसी भी पदार्थ को या उसके गुण को नहीं कर सकता है व इस अपेक्षा से वह कर्ता नहीं है।

चारों अनुयोगों के व आधुनिक ज्ञान के कुछ ही चावलों को देखकर यह निर्णय नहीं लिया

जा सकता है कि परमाणु बम या टीवी बनाने की विधि शास्त्रों में भी होना चाहिए और यदि नहीं है तो... .. । विशाल ससार, शाकाहारी भोजन, सात व्यसनों का त्याग, अहिंसा का महत्त्व व मूलत प्रत्येक द्रव्य की स्वतत्रता घोषित करने वाला वैज्ञानिक चिन्तन व जैन दर्शन की समानता इस लेख में जिस प्रकार वर्णित की गई है उनसे निश्चितत यह धारणा सिद्ध होती है कि यह दर्शन केवल चर्चा का ही विषय नहीं अपितु यह आधुनिक युग में व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के जीवन में भी अत्यत लाभकारी है।

1 George wald, 'The cosmology of Life and Mind', in 'Synthesis of Science and Religion', Edited by T D Singh and R Gomatam, Published by The Bhaktivedanta Institute, Sanfrancisco, Bombay 1988

2 M H Hart, "The 100 A ranking of the most influential persons in history',. citadel Press Secaucus, New Jersey, 1987

ईश्वर-कर्तृत्व-निरसन

❑ *आर्यिका जिनमतीजी*
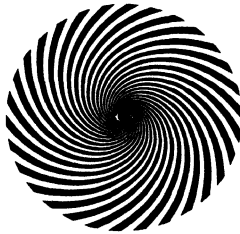
नैयायिक-वैशेपिक इस संपूर्ण जगत् का निर्माता एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर को मानते हैं। उनका कहना है कि पृथ्वी, पर्वत, तरु, द्वीप, सागर आदि सब पदार्थ ईश्वर ने बनाये हैं। बिना कर्त्ता के कोई भी पदार्थ स्वत नहीं बनता, जैसे घट पट आदि वस्तुओं के निर्माता कुम्हार, जुलाहा आदि हैं वैसे ही पृथ्वी आदि का निर्माता भी एक बुद्धिमान् सदेश्वर है।

नैयायिक आदि ईश्वर को एक, व्यापक, नित्य, अशरीरी, सदामुक्त इत्यादि स्वरूपवाला मानते हैं तथा उस ईश्वर के ज्ञान आदि गुणों को भी नित्य व्यापक आदि रूप स्वीकार करते हैं।

नैयायिक-वैशेषिक की जगत् एवं ईश्वर के विषय में उपर्युक्त कही गयी जो मान्यता है वह असत् है। सर्वप्रथम ईश्वर का जो स्वरूप है वही असमीचीन है। ईश्वर यदि एक और सर्वत्र व्यापक है तो सपूर्ण विश्व में एक साथ सर्वकार्य संपन्न होने का प्रसग आता है तथा द्वितीयत उसको नित्य माना है अत बिना किसी रुकावट के सदा कार्य होते रहना चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं। सबसे बडा दोष यह आता है कि शरीर रहित होने से वह सृष्टिनिर्माण का कार्य कर नहीं सकता। केवल ज्ञानशक्ति के द्वारा जगत् का निर्माण करना भी सभव नहीं क्योंकि ऐसा कहीं देखा नहीं गया। घट आदि पदार्थों का कर्त्ता तो सशरीरी ही होता है। ईश्वर यदि अपने शरीर को बनाकर सृष्टि रचता है तो जैसे शरीर बनाने रूप कार्य को बिना शरीर के किया वैसे जगत् को भी करना चाहिए? किसी अन्य शरीर से प्रकृत शरीर को बनाता है तो स्पष्टरूप से अनवस्था दिखाई देती है तथा अन्य-अन्य शरीर के निर्माण में क्षीणशक्ति होने से जगत्-रचना तो वह कर ही नहीं सकेगा।

ईश्वर का ज्ञान यदि नित्य है तो सदा कार्योत्पत्ति का प्रसग उपस्थित होता है और उस ज्ञान को अनित्य मानते हैं तो प्रश्न होता है कि अनित्य ज्ञान को किसने पैदा किया। वह स्वत ही उत्पन्न हुआ है तो ईश्वर का ज्ञान बिना कर्त्ता के स्वत होता है, फिर पृथ्वी आदि विश्व भी स्वत होता है ऐसा क्यों न माना जाय?

ईश्वर के ज्ञान को यदि अव्यापी मानते है तो एक साथ सर्वत्र (सर्व देशों में) कार्य उत्पन्न नहीं हो सकेंगे। जैसा कि कहा है—

अव्यापि च यदि ज्ञानमीश्वरस्य तदा कथम्।
सकृत् सर्वत्र कार्याणामुत्पत्तिर्घटते तत ॥

इस प्रकार ईश्वर का स्वरूप या लक्षण प्रमाण-बाधित है। अब ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व के विषय में विचार करते हैं। यौग—नैयायिक वैशेषिक का प्रसिद्ध अनुमान है कि पृथ्वी, पर्वत वगैरह किसी बुद्धिमान् कर्त्ता के द्वारा बनाये गये हैं (पक्ष), क्योंकि कार्य हैं (हेतु), जैसे घट वगैरह (दृष्टान्त), यह कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि पृथ्वी आदि सावयव हैं, अत वे कार्य है। यथा—पृथ्वी पर्वत, वृक्षादि कार्य हैं क्योंकि सावयव हैं, जैसे घट आदि यह कार्यरूप हेतु विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि जिनका कर्त्ता निश्चित है ऐसे घट आदि में कार्यपना प्रसिद्ध ही है। यह हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि जिनका अकर्तृक होना निश्चित है ऐसे आकाश आदि में कार्यपना नहीं रहता। यह हेतु कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है, क्योंकि उस हेतु का साध्य कार्यपना प्रत्यक्ष और आगम से अबाधित है। यह हेतु प्रकरण सम भी नहीं है, क्योंकि उसके समान बलशाली कोई प्रतिपक्षी हेतु नहीं है। अत यह निर्दोष कार्यत्व हेतु बुद्धिमान् कर्त्ता की सिद्धि करता हुआ पक्ष-धर्मता के बल से जगत का निर्माण करने में समर्थ सर्वज्ञ कर्त्ता को सिद्ध करता है।

यह यौग का प्रमाण किस प्रकार बाधित है सो बताते हैं— पृथ्वी आदि को किसी बुद्धिमान् की कृति सिद्ध करने के लिए जो कार्यत्व हेतु दिया है उसका क्या अर्थ है? सावयवत्व का नाम कार्यत्व है, या जो पहले नहीं था उसका अपने कारणों की सत्ता से सबध होने का नाम कार्यत्व है, अथवा 'कृत' इस पकार की बुद्धि का जो विपय है उसका नाम कार्यत्व है, अथवा विकारित्व का नाम कार्यत्व है? यदि कार्यत्व का अर्थ सावयवत्व है तो सावयवत्व का क्या अर्थ है? अवयवों में रहने का नाम सावयवत्व है या अवयवों मे रचना होने का नाम सावयवत्व है, या प्रदेशत्व का नाम सावयवत्व है या 'सावयव' इस प्रकार की बुद्धि का जो विषय हो वह सावयव है। प्रथम पक्ष में अवयव सामान्य (अवयवत्व) मे व्यभिचार आता है, क्योंकि सामान्य कार्य नहीं है फिर भी अवयवों में रहता है। दूसरे पक्ष में हेतु साध्य के तुल्य हो जाता है, क्योंकि जैसे पर्थ्वी आदि में कार्यपना साध्य है वैसे ही उनका परमाणु आदि अवयवों से रचा जाना भी साध्य है, वह सिद्ध नहीं है। तीसरे पक्ष में आकाश आदि से व्यभिचार आता है, क्योंकि आकाश भी सप्रदेशी है, किन्तु कार्य नहीं है। यदि 'सावयव' है इस प्रकार की बुद्धि का विषय होना सावयवत्व है तो इसमें भी आकाश से व्यभिचार आता है। अत यदि कार्यत्व का मतलब सावयवत्व से है तो वह ठीक नहीं है।

जो पहले नहीं था, उसका अपने कारणों की सत्ता मे सबध होने का नाम यदि कार्यत्व है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि समवाय सबध को आपने नित्य माना है, अत वह कार्य नहीं हो सकता। 'कृत' इस प्रकार की बुद्धि का जो विपय है, वह कार्य है—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि खोदने वगैरह से निष्पन्न हुए आकाश में भी 'कृत' इस प्रकार का व्यवहार पाया जाता है किन्तु आकाश कार्य में नहीं है। यदि विकारित्व का नाम कार्यत्व है तो ईश्वर भी कार्य हो जायेगा। सत् वस्तु में परिर्वतन का नाम विकारित्व है। इस प्रकार का विकारित्व ईश्वर में भी है, अत वह भी कार्य होने मे किसी अन्य बुद्धिमान् के द्वारा बनाया गया माना जायेगा।

और इस तरह अनवस्था दोष उपस्थित होगा। यदि ईश्वर अविकारी है तो वह कार्यों को नहीं कर सकता। अत कार्यत्व हेतु का स्वरूप विचारने पर सिद्ध नहीं होता है, इसलिए कार्यत्व हेतु असिद्ध है।

इस प्रकार नैयायिक वैशेषिक द्वारा ईश्वर-सृष्टि-कर्तृत्व सिद्धि के लिए प्रयुक्त हुए अनुमान का कार्यत्व हेतु असिद्ध हो जाता है। अनुमान में प्रमुख हेतु ही होता है, यदि वह असिद्ध है तो अनुमान प्रमाण कथमपि इष्ट विषय को सिद्ध नहीं कर सकता है, यह अनुमान प्रमाण मानने वाले वादी-प्रतिवादी सभी मानते हैं।

एक बात यह भी है कि वस्तु कादाचित्क (कभी-कभी) होती है, लोक में उसे ही कार्य कहते हैं, जगत तो ईश्वर की तरह सदा स्थायी है, वह कार्य कैसे हो सकता है?

ईश्वरवादियों का कहना है कि सपूर्ण कारणों का ज्ञान होने पर ही कार्यो को कर सकते हैं अन्यथा नहीं, हम जैसे व्यक्तियों को संपूर्ण कारणों का ज्ञान नहीं होता, वह ज्ञान तो सर्वज्ञ ईश्वर को होता है अत वही जगत एव जगत के प्राणीगण, उनके भोग्य पदार्थ आदि सबका निर्माण करता है। किन्तु यह कथन असत् है। मकान बनानेवाले शिल्पी घट-पट आदि बनाने वाले कुंभकार आदि व्यक्तियों को उन मकान घट आदि के कारण-कलापों का पूर्णतया ज्ञान नहीं होता, क्योंकि कारण में धर्म-अधर्म अर्थात् पुण्य-पाप अन्तर्गत हैं उनका ज्ञान तो कुंभकार आदि को होता नहीं, अन्यथा इनके द्वारा प्रारभ कार्य अधूरे नहीं रहते। किन्तु देखा जाता है कि बहुत से कर्त्ता कार्य प्रारंभ करते हैं वह सब के सब पूरे नहीं हो पाते हैं।

योग का यह हठाग्रह है कि जगत के कार्यो का एक अधिष्ठाता होना चाहिए और वह अधिष्ठाता ईश्वर है इत्यादि। किन्तु यह कोई नियम नहीं है, अनेक व्यक्ति भी अनेक कारकों के अधिष्ठाता होते हैं, जैसे कुम्हार, जुलाहा आदि द्वारा घडे, वस्त्र आदि स्वतन्त्र रूप से निर्मित होते हैं। एक ही कार्य को अनेक मिलकर भी करते देखे जाते हैं, जैसे पालकी ढोना रूप एक कार्य को चार पुरुष मिलकर करते हैं, अनेक दीमकों द्वारा एक वामीरूप कार्य किया जाता है।

यह भी कोई नियम नहीं है कि सभी कार्य बुद्धिमान् द्वारा किये जाते हैं। दो प्रकार के कार्य देखे जाते हैं। कुछ कार्य बुद्धिमान् कर्त्ता द्वारा रचे जाते हैं, जैसे घट। और कोई-कोई कार्य बिना बुद्धिमान् कर्त्ता के ही निष्पन्न होते हैं जैसे स्वय उगनेवाली वनस्पतियाँ।

ईश्वर यदि जगत का कर्त्ता है तो उसे सशरीर मानना होगा, क्योंकि शरीर रहित व्यक्ति कोई भी क्रिया नहीं कर सकता, क्रिया वचनकृत या कायकृत हुआ करती हैं। जिसके शरीर नहीं है उसके उक्त दोनों क्रियाएँ असंभव हैं तथा ऐसी किसी को प्रतीति भी नहीं होती कि ईश्वर ने वचन या काय द्वारा अमुक-अमुक कार्य में प्रेरित किया है। ईश्वर को सर्वव्यापक माना जाता है इसलिए भी उसमें हलन-चलन रूप क्रिया होना असभव है, जैसे आकाश सर्वव्यापक होने से क्रियारहित है पर वादी हठात् उस महेश्वर को सक्रिय मानते हैं तो एक और दोष

भी आता है कि क्रियाशील ईश्वर सर्वदा तदवस्थ-कूटस्थ नित्य नहीं रह सकता और ऐसा होने से उसको अनित्य मानने का प्रसंग उपस्थित होता है। सर्वथा नित्य और 'एक' तो वही हो सकता है जिसकी अवस्था में रंचमात्र भी परिवर्तन न हो। इस दोष को दूर करने के लिए यदि ईश्वर को परिणमनस्वरूप से अनित्य मानते हैं तो अनित्य होने से वह 'कार्य' भी होगा। और तब उसके लिए कोई दूसरा बुद्धिमान् कर्त्ता मानना होगा, और ऐसी स्थिति में अनवस्था दोष आता है। यदि अनित्य होकर भी ईश्वर का कोई बुद्धिमान् कर्ता नहीं है तो कार्यत्व हेतु ईश्वर से भी व्यभिचरित होता है अर्थात् पृथ्वी आदि पदार्थ बुद्धिमान् द्वारा रचे गये हैं क्योंकि कार्य हैं, अनित्य हैं ऐसा यौग का सुप्रसिद्ध अनुमान है। जो भी कार्य है उसका बुद्धिमान् कर्त्ता होना चाहिए ऐसा यौग का सिद्धात है। ईश्वर अनित्य माना तो वह कार्यरूप हुआ अत उसका भी अन्य बुद्धिमान् कर्ता चाहिए? इस दोष के भय से यदि अनित्य ईश्वर रूप कार्य का कोई बुद्धिमान् कर्ता नहीं मानते तब तो पृथ्वी, पर्वत, तरु आदि पदार्थ भी बिना बुद्धिमान् कर्ता के स्वत ही सिद्ध होंगे। और इस तरह जगत रचना रूप हेतु द्वारा ईश्वर का अस्तित्व एव कर्तृत्व कथमपि सिद्ध नहीं होता है।

ईश्वर प्रत्येक कार्य के लिए एकदेश से व्यापार करता है या सर्वात्मना व्यापार करता है? यदि एकदेश से व्यापार करता है तो जितने कार्य है उतने ही ईश्वर के अवयव होने चाहिए, और ऐसी स्थिति में ईश्वर को निरश मानने की बात नहीं बनती। यदि ईश्वर प्रत्येक कार्य के लिए सर्वात्मना व्यापार करता है तो जितने कार्य हैं उतने ही ईश्वर मानने होंगे और तब ईश्वर के एक होने की बात समाप्त हो जाती है तथा ईश्वर में रचने की इच्छा और सहार करने की इच्छा एक साथ होती है या क्रम से होती है? यदि एक साथ होती है तो सृष्टि और सहार एक साथ होने का प्रसग आता है। यदि क्रम से इच्छा होती है तो उसका कारण बतलाना होगा और फिर इच्छा कारण की अपेक्षा रखती है तो वह नित्य नहीं हो सकती।

ईश्वर की इच्छा प्रयत्न आदि नित्य हैं तथापि विचित्र सहकारियों के सान्निध्य से विचित्र कार्यों को करता हैं, ऐसा कहना भी असगत है। इसमें प्रश्न होता है कि वे विचित्र सहकारी कारण ईश्वर के अधीन हैं या नहीं? यदि नहीं तो उन्हीं से कार्यत्व हेतु में व्यभिचार आता है अर्थात् जैसे सहकारी कारण ईश्वर के अधीन नहीं है, ईश्वरकृत नहीं हैं वैसे ही जगत ईश्वरकृत नहीं है ऐसा सिद्ध होता है। यदि उक्त सहकारी कारण ईश्वर के अधीन हैं तो वे सहकारी उसी समय क्यों नहीं होते? यदि कहा जाय कि उनके कारणों का अभाव है तो पुन वही प्रश्न होता है कि वे कारण ईश्वर के अधीन हैं या नहीं, और इस प्रकार अनवस्था दोष आता है।

जगत के निर्माण में ईश्वर की प्रवृत्ति अपनी रुचि के अनुसार होती है, या करुणा से होती है, कर्म की परवशता से होती है या धर्म आदि के प्रयोजन के उद्देश्य से होती है या क्रीड़ा से होती है, अथवा लोगों का निग्रह और अनुग्रह करने के लिए होती है, या स्वभाव से होती

है? यदि रुचि के अनुसार ईश्वर जगत के निर्माण में प्रवृत्त होता है तो कभी सृष्टि विलक्षण भी हो सकती है। यदि ईश्वर कर्माधीन है तो उसकी स्वतन्त्रता में हानि आती है, ईश्वरत्व या स्वातन्त्र्य यही है कि किसी अन्य का मुख देखना न पड़े। यदि ईश्वर करुणावश जगत की रचना करता है तो दयालु होने से एक साथ सभी को ऐश्वर्यशाली बनाना चाहिए। तब संसार में कोई भी दुखी नहीं रहेगा, क्योंकि दयालु की यही दयालुता है कि दूसरों को दुख का लेश भी न हो।

यदि यह कहा जाय कि पूर्वोपार्जित कर्मों के वश होकर ही प्राणी दुख उठाते हैं उसमें ईश्वर क्या कर सकता है? सो यह कथन असत् है, कर्मवश प्राणी दुख भोगे और ईश्वर कुछ न कर सके तो ईश्वर का पौरुष ही क्या रहा? कुछ भी नहीं।

ईश्वर अदृष्ट की अपेक्षा करके जगत का निर्माण करता है तो ईश्वर को मानने से क्या लाभ है? क्योंकि ईश्वर यदि अदृष्ट के अधीन है तो जगत को ही सीधे अदृष्ट के अधीन क्यों न माना जाय? व्यर्थ के इस ईश्वर से क्या लाभ? यदि ईश्वर धर्म आदि प्रयोजन के उद्देश्य से जगत के निर्माण में प्रवृत्ति करता है तो वह कृतकृत्य कैसे हो सकता है, क्योंकि जो कृतकृत्य हो जाता है उसे धर्म आदि का प्रयोजन नहीं रहता। यदि ईश्वर क्रीडावश प्रवृत्ति करता है तो साधारण जन की तरह हुआ, वीतराग कहाँ रहा? ईश्वर परम पुरुष है और बच्चों की तरह क्रीडा करता है यह तो महान आश्चर्य है। इसी तरह यदि वह शिष्टजनों के अनुग्रह और दुष्टजनों के निग्रह के लिए प्रवृत्ति करता है तो वह वीतराग और वीतद्वेष कैसे हुआ? जैसे सूर्य स्वभाव से ही प्रकाशित होता है वैसे ईश्वर यदि स्वभाव से ही जगत के निर्माण में प्रवृत्ति करता है तो अचेतन जगत की प्रवृत्ति भी स्वभाव से मान लेनी चाहिए। एक अधिष्ठाता की कल्पना से क्या लाभ है? अनादि काल से जगत अपने स्वभाव से ही स्थित है।

पुनश्च बुद्धिमान् ईश्वर की बुद्धि नित्य है या अनित्य? नित्य तो हो नहीं सकती, क्योंकि नित्यता अनुमान और प्रतीति से भी बाधित है। यदि ईश्वरबुद्धि अनित्य है तो उसकी उत्पत्ति किससे होती है? इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से अथवा समाधि विशेष से या समाधि से उत्पन्न हुए धर्म के माहात्म्य से, या ध्यान मात्र से? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि ईश्वर तो अशरीरी है, उसके मुक्तात्मा की तरह न तो मन है और न इन्द्रियाँ हैं। यदि हैं तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान नियत अर्थ को ही जानता है।

समाधिविशेष और ध्यानविशेष भी ज्ञानविशेष ही है और ईश्वर अभी तक भी असिद्ध है तब स्वयं से स्वय की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? जब समाधिविशेष ही असभव है तो उससे उत्पन्न हुआ धर्म ईश्वर में कैसे हो सकता है जिससे उसके माहात्म्य से ज्ञान की उत्पत्ति सभव हो? तथा अशरीरी ईश्वर में समाधि भी कैसे संभव है? अत कारण के असभव होने से ईश्वर

में ज्ञान का सद्भाव नहीं बनता, ऐसी स्थिति में ईश्वर में बुद्धिमत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है?

ऐसे ईश्वर को मानने से ससार का ही लोप हो जाता है, क्योंकि ईश्वर के व्यापार के पहले, शरीर और इन्द्रिय आदि का अभाव होने से सब आत्माओं के बुद्धि आदि गुणों का भी अभाव होगा और शरीर-इन्द्रिय आदि के अभाव में तथा बुद्धि आदि विशेष गुणों के अभाव में आत्यंतिक शुद्धि को प्राप्त आत्माओं को अमुक्त मानना ठीक नहीं है। इस प्रकार संसार की रचना में प्रवृत्त हुआ ईश्वर ससार का अभाव कर देता है यह तो उसकी बड़ी भारी बुद्धिमत्ता नहीं है?

इस प्रकार नैयायिक वैशेषिक द्वारा माना गया ईश्वर समस्त जगत का जनक नहीं हो सकता और इसलिए वह सर्वज्ञ भी सिद्ध नहीं होता है।

अब यहाँ पर सांख्य द्वारा मान्य ईश्वर एव उसके जगत-कर्तृत्व का विचार किया जाता है। प्रथम हम सांख्य की मान्यता प्रस्तुत करते हैं—शुभ-अशुभ कर्म, उन कर्मों के फल का उपभोग रूप विपाक तथा आशय (नाना प्रकार के तदनुरूप संस्कार) से अछूता जो पुरुष विशेष है वह ईश्वर है। अन्य मुक्तात्मा ईश्वर नहीं है, क्योंकि वे बध से सर्वथा अछूते नहीं होते। जो सर्वदा बंध से मुक्त हैं और जिसे कभी भी क्लेशादि नहीं सताते वही ईश्वर है। ईश्वर के सिवाय जो अन्य मुक्तात्मा हैं वे ऐसे नहीं हैं। उनके प्राकृत, वैकारिक और दक्षिण के भेद से तीन प्रकार का बध होता है। आत्मा और अनात्मा के विवेक का नहीं होना प्राकृत बंध है, विषयो में आसक्ति का होना वैकारिक बध है, और धर्म-अधर्म स्वरूप दक्षिण वध है। इन तीनों प्रकार के बधों मे ईश्वर ही सदा अछूता रहता है। मुक्तात्मा तो इन तीनों बन्धों को विवेक ज्ञान से, माध्यस्थ से तथा कर्म फल के उपभोग से नष्ट करके ही कैवल्य को प्राप्त हुए हैं। भगवान ईश्वर तो सदा ही मुक्त है, सदा ही ईश्वर है। न तो उसके समार से मुक्त हुए आत्माओं की तरह पूर्वा कोटि है, और न प्रकृतिलीन तत्त्वज्ञानी योगियों की तरह अपरा कोटि है। योगी लोग मुक्ति को प्राप्त करके भी पुन बन्धन में पड जाते है।

ईश्वर में निरतिशय उत्कृष्ट सत्त्वशाली बुद्धि रहती है। अत उससे उसकी ऐश्वर्यशीलता सिद्ध होती है तथा शास्त्र से उसकी निरतिशय उत्कृष्ट तत्त्वशीलता सिद्ध है। उस ऐश्वर्यशाली ईश्वर का ऐश्वर्य आठ प्रकार का है—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायिता। अणु शरीर होकर समस्त प्राणियो को दिखाई नहीं देते हुए सर्वत्र लोक में सचार करता है यही अणिमा कहलाती है। वह समस्त लोक में पूजित और बड़ों से भी बडा होता है, यह महिमा है। लघु होकर वायु की तरह विचरण करता है, यह लघिमा है। वह मन में जो-जो सोचता है वह-वह उसे प्राप्त होता है, यह प्राप्ति है। विषयों को भोगने में समर्थ होता है, यह प्राकाम्य है। तीनों लोकों का स्वामी होता है, यह ईशत्व है। स्थावर और जंगम प्राणियों को अपने वश में करता है, तथा जितेन्द्रिय होता है, यह वशित्व है। ब्राह्म,

प्राजापत्य, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि आठ देवयोनियों में तथा पाँच प्रकार के तिर्यंचों और मनुष्यों में जहाँ-जहाँ उसकी इच्छा होती है वहीं बसता है, यह यत्रकामावसायिता है।

इन ज्ञान और ऐश्वर्य आदि का प्रकृष्ट रूप से तारतम्य देखा जाता है। जिसमें इनका सर्वाधिक प्रकर्ष पाया जाता है वही ईश्वर है। अनुमान प्रमाण से भी ईश्वर की सिद्धि होती है। वह इस प्रकार है—जिसके तारतम्य प्रकर्ष—हीनता और अधिकता की चरम सीमा देखी जाती है उसका कहीं पर्यवसान होता है। जैसे परिमाण का प्रकर्ष आकाश में। ज्ञान और ऐश्वर्य आदि धर्मों के तारतम्य का भी प्रकर्ष देखा जाता है। उस ईश्वर की प्रवृत्ति समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिए ही होती है। वह कल्प, प्रलय और महाप्रलय में समग्र जगत का उद्धार करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करके ही स्थित रहता है। जो ध्यानी उसका ध्यान करते हैं, वचन से उसका जप करते हैं उनको वह अभीष्ट फल देता है। काल के द्वारा उसका कभी विनाश नहीं होता अत वह कपिल महर्षि आदि पूर्व गुरुओं का भी गुरु है। कपिल आदि, कल्प महाकल्प आदि काल के द्वारा नष्ट होते हैं, किन्तु ईश्वर सदा अवस्थित रहता है।

सांख्य का उक्त सारा ही कथन अविचारित रमणीय है। ईश्वर का जैसा स्वरूप आपने बताया वह अनुमान, तर्क, आगम आदि किसी से भी सिद्ध नहीं होता। ईश्वर का स्वरूप मात्र क्लेशों से मुक्त होना ही है या क्लेशों से मुक्त और सर्वज्ञ होना रूप है? प्रथम पक्ष कहो तो वह मुक्त ही हुआ ईश्वर नहीं, क्योंकि अन्य मुक्त भी क्लेश आदि से अछूते होते हैं। फिर भी यदि वह ईश्वर है तो अन्य मुक्तों को भी ईश्वरत्व का प्रसंग आता है।

सांख्य—मुक्त जीव बंध से सर्वदा अस्पृष्ट नहीं होते, अत उन्हें ईश्वरत्व का प्रसंग नहीं आता।

जैन—ईश्वर भी बंध से सदा अस्पृष्ट नहीं हो सकता क्योंकि इस विषय में संवादक प्रमाण नहीं है। दूसरे पक्ष में अर्थात् क्लेशों से अस्पृष्ट होते हुए सर्वज्ञता ईश्वर का स्वरूप है तो उसकी सिद्धि कैसे करते हैं, सर्व जगत का कर्त्ता होने से अथवा ऐश्वर्य का आश्रय होने से? प्रथम पक्ष में यौग—नैयायिक वैशेषिक द्वारा माने गये ईश्वर के पक्ष में जो दूषण आते हैं वे सब आपके पक्ष में भी आयेंगे तथा यदि आप ईश्वर को कर्ता मानते हैं तो आपने आत्मा को जो 'अकर्ता निर्गुण शुद्ध' आदि कहा है वह खण्डित होता है।

सांख्य—अकर्ता आदि आत्माओं के लक्षण है, ईश्वर के नहीं। ईश्वर अन्य आत्माओं से विशिष्ट है, अत उसमें कोई दोष नहीं आता।

जैन—तब तो शुद्धता आदि भी ईश्वर का स्वरूप नहीं हो सकेगा और इस तरह ईश्वर अन्य आत्माओं से अत्यंत विशिष्ट हो जायेगा।

अथवा ईश्वर कर्ता रहे, किन्तु वह स्वतन्त्ररूप से कार्य करता है या प्रकृति के अधीन होकर कार्य करता है? यदि स्वतन्त्र रूप से कार्य करता है तो यौग के द्वारा माने गये ईश्वर से

उसमें कोई विशेषता नहीं है अत उसमें दूषण से ही इसको भी दूषित समझ लेना चाहिए। यदि वह ईश्वर प्रकृति के अधीन होकर कार्य करता है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृति का स्वरूप ही पहले असिद्ध है, उसका जैसा स्वरूप आपने कहा है त्रिगुणात्मक, अविवेकी, अचेतन, व्यापक आदि वह सर्वथा अयुक्त है, इसलिए प्रकृति की सहायता से ईश्वर जगत-रचना करता है यह पक्ष निरस्त होता है। तथा ईश्वर प्रकृति के अधीन क्यों है? क्या प्रकृति ईश्वर में कुछ अतिशय का आधान करती है या मिलकर कार्य करती है? पहला पक्ष ठीक नहीं है, ईश्वर सर्वथा अविकारी है, अत प्रकृति उसमें अतिशय नहीं ला सकती। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब ईश्वर और प्रकृति दोनों कारण सर्वत्र विद्यमान हैं और उनकी शक्ति भी अप्रतिहत है तो अविकल कारण होने से सभी कार्य एक साथ उत्पन्न हो जायेंगे। जो जब अविकल कारण होता है वह तब उत्पन्न होता ही है, जैसे अन्तिम क्षण अवस्था को प्राप्त कारण सामग्री से अकुर की उत्पत्ति होती ही है? नित्यव्यापी ईश्वर और प्रकृति नामक दो कारणों के अधीन समस्त कार्य हैं अत उनकी उत्पत्ति एक साथ होगी ही।

सांख्य—यद्यपि ईश्वर और प्रकृति रूप दोनों कारण सर्वत्र सर्वदा वर्तमान रहते हैं फिर भी सर्वत्र सर्वदा कार्योत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि कार्यों की स्थिति, उत्पत्ति और विनाश में क्रम से प्रकटपने को प्राप्त सत्त्व, रज और तम सहायक हैं और प्रकटपने को प्राप्त सत्त्व, रज और तम क्रम से होते हैं।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जिस समय ईश्वर और प्रकृति स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयों में से किसी एक को उत्पन्न करते हैं तो उनमें शेष दो को उत्पन्न करने की शक्ति है या नहीं? यदि है तो सृष्टि के समय में भी स्थिति और प्रलय का प्रसंग आता है, क्योंकि सृष्टि की तरह वे दोनों भी अविकल कारण हैं। इसी तरह स्थिति के समय उत्पाद और विनाश का तथा विनाश के समय स्थिति और उत्पाद का प्रसग आता है। किन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि परस्पर में परिहार से रहने वाले उत्पाद आदि धर्मों का एक धर्मी में एक साथ सद्भाव होना प्रतीतिविरुद्ध है। यदि एक को उत्पन्न करने के समय शेष दो को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है तो स्थिति आदि में से जिसको उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है वही एक कार्य सदा होगा, शेष दोनों कभी नहीं होंगे क्योंकि ईश्वर और प्रकृति में उन दोनों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है और यत दोनों अविकारी हैं, उनमें कोई विकार होना सभव नहीं है, अत उनमें पुनशक्ति की उत्पत्ति हो नहीं सकती अन्यथा वे दोनों नित्य एक स्वभाव वाले नहीं हो सकते।

सांख्य—ईश्वर और प्रकृति में स्थिति, यद्यपि उत्पाद और विनाश तीनों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है तथापि जब उद्भूत-वृत्ति (प्रकटपने को प्राप्त) रज सहायक होता है तब वे उत्पत्ति करते हैं, जब सत्त्व सहायक होता है तब स्थिति करते हैं और जब तम सहायक होता है तो प्रलय करते हैं।

जैन—यह ठीक नहीं है, क्योंकि सत्त्व, रज और तम की उद्भूत वृत्तिता नित्य है या अनित्य? नित्य तो हो नहीं सकती, क्योंकि वह कादाचित्क (कभी-कभी होने वाली) है। तथा यदि उसको नित्य मानेंगे तो स्थिति वगैरह एक साथ होने का प्रसग आता है। यदि सत्त्व आदि की उद्भूत-वृत्तिता अनित्य है तो वह किससे उत्पन्न होती है? प्रकृति और ईश्वर से ही या किसी अन्य से, अथवा स्वतन्त्र रूप से? प्रथम पक्ष में उद्भूत-वृत्तिता के सदा सद्भाव का प्रसंग आता है, क्योंकि उसके कारण प्रकृति और ईश्वर नित्य होने से सदा रहते हैं। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृति और ईश्वर के सिवाय कोई तीसरा कारण आप (सांख्य) मानते ही नहीं। तीसरे पक्ष में उद्भूतवृत्तिता का आविर्भाव काल और देश के नियम से नहीं हो सकता है, क्योंकि जो स्वतन्त्रपूर्वक होता है उसका देश-नियम और काल-नियम नहीं बन सकता। अत. विचार करने पर ईश्वर में कर्तृत्व किसी भी तरह नहीं बनता है। अत कर्त्ता होने से ईश्वर सर्वज्ञ है ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते।

ऐश्वर्य का आश्रय होने से ईश्वर सर्वज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि विचार करने पर ईश्वर में ऐश्वर्य का अस्तित्व भी नहीं बनता है। इसका विशेष तर्क इस प्रकार है—ईश्वर में ऐश्वर्य स्वाभाविक है या प्रकृतिकृत है? स्वाभाविक तो हो नहीं सकता क्योंकि साख्य ऐश्वर्य को बुद्धि का धर्म मानते हैं और आत्मा में केवल चैतन्य को स्वाभाविक मानते हैं। यदि ऐश्वर्य प्रकृतिकृत है अर्थात् जब प्रकृति बुद्धि रूप परिणमन करती है तब उसकी अवस्था विशेष धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि प्रकट होते हैं ऐसा स्वीकार करते हैं तब तो आपने ही ईश्वर में ऐश्वर्य का अभाव बतला दिया। क्योंकि जब ऐश्वर्य बुद्धि का परिणाम है और ईश्वर उससे भिन्न है तो ईश्वर में ऐश्वर्य कैसे हो सकता है, फिर तो अन्य आत्माओं में भी ऐश्वर्य मानना पडेगा।

अपने इष्ट कार्य के सपादन में, द्रव्यसहाय आदि की सपन्नता को ऐश्वर्य कहते हैं, यदि ईश्वर अपने किसी इष्ट कार्य को नहीं करता, केवल वस्तुओं को ज्यों का त्यों जानता है, तो वह इतने ही से ऐश्वर्यवान कैसे हुआ? जो जिसे जानता है वह उस विषय में ईश्वर है, ऐसी तो बात नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से अतिप्रसग दोष आता है। यदि कहा जाय कि ईश्वर का ज्ञान काल से विच्छिन्न नहीं होता, अत वही ईश्वर है, अन्य काल से विच्छिन्न हो जाते हैं इसलिए ईश्वर नहीं कहलाये सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि काल से विच्छिन्न न होने से नित्यता की सिद्धि होती है, ऐश्वर्य की नहीं।

इस प्रकार साख्याभिमत ईश्वर का स्वरूप और उसका ऐश्वर्य सिद्ध नहीं होता है। जैसे ईश्वर का स्वरूप असिद्ध है उसी तरह उनके प्रकृति का स्वरूप भी असिद्ध है। साख्य प्रकृति अपर नाम प्रधान का स्वरूप इस तरह बताते हैं—

> त्रिगुणमविवेकिविषय सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
> व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥

हेतुमद् नित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रित लिगम्।
सावयव परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥ —साख्यकारिका ११/१०।

अर्थ—प्रधान या प्रकृति नाम का पदार्थ त्रिगुणात्मक सत्व, रज और तम युक्त होता है, अविवेकी-अभिन्न है क्योंकि कारण से कार्य अभिन्न माना गया है। विषय अर्थात् ज्ञान का विषय यही प्रधान है। सामान्य का अर्थ सभी के द्वारा भोग्य होना है। प्रधान अचेतन है तथा बुद्धि आदि को उत्पन्न करने से प्रसवधर्मि कहलाता है, इस प्रकार का प्रधान होता है और इससे विपरीत स्वरूपवाला पुरुष (आत्मा) है। तथा यह जो प्रधान है वह व्यक्त और अव्यक्त दो प्रकार का है। व्यक्त प्रधान हेतुमत्, अनित्य, अव्यापक, क्रियावान्, अनेक, आश्रित, लिग, सावयव और परतन्त्र है और अव्यक्त प्रधान इससे विपरीत स्वभाव वाला है। इस तरह प्रकृति या प्रधान स्वरूप असत् है क्योंकि आपने (साख्य ने) कारण से कार्य सर्वथा अभिन्न माना है अत प्रकृति से बुद्धि कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते, तथा मूल प्रकृति को अविकृत माना है अत उससे महान अहंकार आदि २४ तत्त्वों की प्रादुर्भूति कथमपि सिद्ध नहीं होती। सबसे अधिक हास्यास्पद तो यह बात है कि अव्यक्त प्रधान अहेतुक, नित्य, व्यापक आदि स्वभाववाला है उसी से प्रकट होने वाला व्यक्त प्रधान हेतुमत्, अनित्य, अव्यापक आदि स्वभाववाला है। पुनश्च दोनों परस्पर में अभिन्न हैं, यह सर्वथा अयुक्त है। कोई भी बुद्धिमान् ऐसा असगत वस्तुस्वरूप स्वीकार नहीं कर सकता।

इस तरह ईश्वर और प्रकृति दोनो मिलकर जगत का निर्माण करते हैं ऐसा सांख्य मत खण्डित हुआ।

इस प्रकार नैयायिक, वैशेषिक और साख्य जगत का—पृथ्वी, पर्वत, तरु, द्वीप, सागर आदि का निर्माता—एक सर्वशक्तिमान, ईश्वर-महेश्वर मानते हैं उनका यहाँ पर भली प्रकार से निरसन कर दिया है। बडा ही आश्चर्य है कि ईश्वर परम दयालु, परमपिता, कारुणिक, सर्वशक्ति संपन्न है और अंधे, लूले, लगडे, कुष्ठी आदि दु खी मनुष्यों को, अत्यत दु खी असमर्थ ऐसे पशु-पक्षियों को, महादु खी नारकी जीवों को क्यों उत्पन्न करता है? उन उन जीवों का ऐसा ही भाग्य है ऐसा कहना असत् है क्योंकि ऐसे खोटे भाग्य को उस सर्व शक्तिमान ईश्वर ने क्यों निर्माण किया? यदि कहो कि खोटे भाग्य को ईश्वर ने नहीं बनाया तो फिर जैसे भाग्य उसके द्वारा निर्मित नहीं है उसी प्रकार पृथ्वी आदि भी ईश्वर निर्मित मत होवें, वे भी अपने उपादान से स्वय निर्मित हैं। तथा ईश्वर विश्व-रचना करता है तो किसी परमाणु आदि उपादान द्वारा ही बना सकेगा। अब यदि जब ईश्वर में विश्व निर्माण की इच्छा हुई और उस समय परमाणु समूहरूप विशाल उपादान नहीं रहा या रहते हुए भी कार्यों के अनुकूल नहीं रहा तो असमर्थ ही माना जायेगा। यदि बिना उपादान के जगत रचना मानें तो वह मायावी या इन्द्र-जालिया ही कहलायेगा, तथा जिसका निर्माण बिना उपादान के (मूलभूत परमाणु आदि वस्तु के) हुआ है वह किसी प्रकार भी उपयोगी अर्थात् अर्थक्रियाकारी नहीं होता है, जैसे इन्द्रजालियों के द्वारा

निर्मित रुपये आदि से वस्तु खरीदना आदि कार्य संपन्न नहीं होते। अत ईश्वर द्वारा जगत निर्मित नहीं है यह सुतरां सिद्ध हुआ।

ईश्वर ही प्राणियों को स्वर्ग-नरक भेजता है, वही धन, परिवार, मकान, पुत्र, वैभव देता है, तथा वही इन परिवार, घर, पुत्र, कलत्र, संपत्ति को छीन लेता है तो ऐसा व्यक्ति सबसे ज्यादा क्रोधी, दुष्ट कहलायेगा।

इस ईश्वरकर्तृत्व का जाने-अनजाने सब मनुष्यों में विष फैला हुआ है। कोई दुर्घटना हो जाय, कोई मर जाय, रोग, शोक, संताप होता है तो अच्छे-अच्छे ज्ञानी मानी मानव भी कहने लग जाते हैं कि यह ईश्वर की मर्जी है तथा धन, सुपुत्र का होना, मनोवांछित कार्य सिद्ध आदि होने पर कहने लग जाते हैं कि ईश्वर प्रसन्न हो गया, सब ईश्वर की माया है इत्यादि। यह सब गृहीतमिथ्यात्व रूप जहर है, अज्ञानता है। प्रत्येक प्राणी का अपना-अपना अतीत पुरुषार्थ ही भाग्य का निर्माता है अर्थात् जीवन में मनुष्य या पशु, पक्षी, देव आदि जीवों ने जैसा शुभ-अशुभ भाव या विचार किया है, शुभ-अशुभ वचन बोले हैं, शुभ-अशुभ कार्य द्वारा क्रिया की है तदनुसार तत्काल शुभ-अशुभ कर्म परमाणु आत्मा से सबद्ध होते हैं और समय-समय पर परिपक्व होकर सुख या दुख देते हैं अथवा सुख सामग्री और दुख सामग्री का सयोग कराते हैं, यही वास्तविक तर्क सिद्ध सिद्धांत है।

यह संपूर्ण विश्व, जगत या ससार तो शाश्वत है, स्वय सिद्ध है, इसका न अत है और न आदि है, जैसा कि कहा है—"लोगो अकिट्टिमो खलु अनाहिनिहणो", यह लोक-विश्व अकृत्रिम है, अनादिनिधन है।

इसका कोई न कर्ता है और न हर्ता। यह अमिट, अनादि है, इत्यादि। अत पृथ्वी, पर्वत, तरु, सूर्य, चन्द्र, वस्त्र, स्वर्ग, नरक, मनुष्य, पशु, देव आदि चेतन-अचेतन आदि सर्व ही पदार्थ स्वतसिद्ध हैं। इन पदार्थों का कोई कर्त्ता नहीं है ऐसा तर्क, युक्ति, आगम एव अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। इसी को बुद्धिमान् पुरुषों को स्वीकार करना चाहिए।

देव की अवधारणा

❑ *आचार्य श्री वर्धमानसागरजी*

जिस प्रकार ग्रीष्मकालीन सन्ताप से सन्तापित प्राणी शान्ति-प्राप्ति के लिए वृक्ष की शीतल छाया, शीतल जल अथवा चन्द्रमा की शीतल किरणें चाहता है, अथवा भौतिक विकास युगीन आधुनिक मानव शीतलता देने वाले नवीनतम साधनों जैसे कूलर, एयरकण्डीशनर आदि की वाञ्छा करता है, उसी प्रकार परिवर्तनशील-अशरणभूत-दुःख बहुल पञ्चपरावर्तनमय इस अनादि-अनन्त संसार में चतुर्गति सम्बन्धी मानसिक, स्वाभाविक, शारीरिक और आगन्तुक दुःखों के सन्ताप से संत्रस्त होकर अनन्तजीव, शाश्वत् सुख और शान्ति को प्राप्त करना चाहते हैं।

निराकुल शान्ति प्राप्ति करने की अभिवाञ्छा वाला प्राणी अपने लक्ष्य के अनुरूप ही वीतराग परमशान्त आदर्श की खोज करता है, क्योंकि वीतरागी ही निराकुल शान्ति प्राप्त करता है। यथार्थत राग-द्वेप ही समस्त ससारी जीवों को आकुलता देने वाले हैं, अत जिन्होंने अपने समीचीन पुरुषार्थ से रागद्वेष को नष्ट करके वीतरागता प्राप्त की है, अपने आदर्श के अनुरूप सम्यक् रत्नत्रयधारक भी उन्हीं महान् आत्माओं की शरण में अपने अभिलषित निराकुल सुख को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार सुतरा सिद्ध है कि निराकुल सुख-शान्ति को चाहने वाले प्राणी के लिए वीतराग, सर्वज्ञ, अरिहन्त-सिद्ध परमात्मा ही अनुपम आदर्श हैं। अत प्रस्तुत निबन्ध में अरिहन्त-सिद्ध दोनों ही परमात्मा "देवाधिदेव" शब्द से वाच्य हैं और विवेच्य हैं। इतना ही नहीं, 'देव' शब्द के वाच्यभूत आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, जिनधर्म, जिनवाणी, जिनचैत्य, जिनचैत्यालय और चतुर्णिकाय देव भी विवेच्य हैं। इन सभी के साथ 'अदेव' और 'कुदेव' का विवेचन भी जिनागम के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का सद्प्रयत्न है।

देवाधिदेव

जिन, तीर्थंकर, अरिहन्त, परमात्मा, केवली, सर्वज्ञ, आप्त, जिनवरवृषभ आदि पर्याय शब्द 'देवाधिदेव' के लिए प्रयुक्त होते हैं। आचार्य भगवन्तों ने जिनागम में यत्र-तत्र इन्हीं विभिन्न नामों से अर्हन्त-सिद्ध का स्मरण किया है।

जिन—"जिदकोहमाणमाया, जिदलोहा तेण ते जिणा होंति" (मूलाराधना गा. ५६१) जिन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लिया है, उन्हें जिन कहते हैं। अथवा "अनेक

जन्माटवीप्रापणहेतून् समस्तमोहरागद्वेषादीन् जयतीति जिन" अर्थात् अनेक जन्मरूप अटवी को प्राप्त कराने में हेतुभूत समस्त मोह-राग-द्वेषादि जो जीत लेता है वह जिन है।" जिन दो प्रकार के बताये हैं—सकलजिन और देशजिन।

खवियघाइकम्मा सयल जिणा। के ते। अरहंत सिद्धा।अवरे आइरिय उवज्झाय साहू देस जिणा तिव्वकसायइंदियमोह-विजयादो। जो घातियाकर्मों का क्षय कर चुके हैं वे अरहन्त, सिद्ध सकल जिन हैं। इतर आचार्य-उपाध्याय-साधु, तीव्रकषाय, इन्द्रिय और मोह को जीत चुके हैं, देशजिन हैं।[१]

तीर्थंकर—"तीर्थं करोतीति तीर्थंकर" जो धर्म तीर्थ को करने वाले हैं उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। यहाँ धर्मतीर्थ के प्रवर्तन करने की अपेक्षा ही है। अर्थात् जो धर्म का प्रवर्तन करते हैं, (नवीन निर्माण नहीं करते) वे तीर्थंकर कहलाते हैं। "तीर्थकृत संसारोत्तरणहेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागम तत्कृतवत" (समाधिशतक टीका), अर्थात संसार से पार होने के कारण ही तीर्थ कहते हैं, उसके समान होने से आगम को तीर्थ कहते हैं, उस आगमरूप तीर्थ के कर्त्ता को तीर्थंकर कहते हैं।

केवली—'निरावरणा केवलिन' केवली निरावरण ज्ञानी होते हैं।[२] ज्ञानावरण कर्म का अत्यन्तक्षय हो जाने पर जिनके स्वाभाविक अनन्तज्ञान प्रकट हो गया है और जिनका ज्ञान इन्द्रिय, काल, क्रम और दूर-देश आदि के व्यवधान से परे और परिपूर्ण है, वे केवली है।

आप्त—जो प्रत्यक्षज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता है और परम हितोपदेशी है, जो शका अर्थात् सम्पूर्ण मोहरागद्वेषादि से रहित है और केवलज्ञानादि परमवैभव सहित है वही आप्त है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्य नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥५॥रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लो ६

—नियम से वीतराग सर्वज्ञ तथा आगम का ईश ही (सच्चा देव) होता है निश्चय करके अन्य किसी प्रकार आप्तपना नहीं हो सकता है। आप्त का हितोपदेशी भी विशेपण है और नियम से अर्हन्त का उपदेश (दिव्यध्वनि) होता है, अत मुख्य रूप से आप्त विशेपण उन्हीं के लिये दिया जाता है।

परमात्मा—परमात्मा का स्वरूप कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने नियमसार ग्रन्थ में निम्न प्रकार कहा है—

णिस्सेस दोसरहिओ केवलणाणाइ परमविभजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा॥७॥

—जो निशेष दोषों से रहित है और केवलज्ञानादि परमवैभव मे सयुक्त है, वह परमात्मा कहलाता है, उससे जो विपरीत है वह परमात्मा नहीं है। परमात्मा दो प्रकार के हैं—सकल

परमात्मा और निकलपरमात्मा। अर्हन्त सकल परमात्मा यानी सशरीरी हैं तथा सिद्ध निकल (शरीररहित) परमात्मा हैं। परम + आत्मा अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा परमात्मा है। तात्पर्य यह है कि 'क्षुधा, तृषा' आदि १८ दोषों से रहित आत्मा ही परमात्मा होता है।

जिनवर वृषभ—जो जिनों के श्रेष्ठ में भी प्रधान हैं वे जिनवरवृषभ कहलाते हैं। "सासादनादि-क्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते, शेषाश्चानगारकेवलिनो जिनवरा भण्यन्ते। तीर्थंकरपरमदेवाश्च जिनवरवृपभा। अथवा 'एकदेशजिना असयतसम्यग्दृष्ट्यादयस्तेषां वरा गणधरदेवास्तेषां जिनवराणां वृषभ प्रधानो जिनवरवृपभस्तीर्थंकरपरमदेव"

सासादन गुणस्थान से (अथवा असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से) क्षीणकषायगुणस्थान पर्यन्त एक देश जिन कहलाते हैं, शेष सामान्य केवली जिनवर और तीर्थंकर परमदेव जिनवरवृषभ कहलाते हैं। अथवा असंयतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानवर्ती एकदेश जिन कहलाते हैं, उनमें जो वर अर्थात् श्रेष्ठ हैं ऐसे वे गणधरदेव उन जिनवरों में पधान है वे जिनवरवृषभ अर्थात् तीर्थंकर परमदेव हैं।

देव—'देव' शब्द दिव् धातु से निष्पन्न है। दिव् धातु के अनेक अर्थ होते हैं क्रीडा करना, जय की इच्छा करना आदि, तदनुसार देव शब्द के व्युत्पत्ति अर्थ निम्न प्रकार होंगे—

[1]"दीव्यति क्रीडति परमानन्दे इति देव अथवा दीव्यति कर्माणि जेतुमिच्छति इति देव, वा दीव्यति कोटिसूर्याधिकतेजसा द्योतत इति देव अर्हन् वा दीव्यति धर्मव्यवहार विदधातीति, वा दीव्यति लोकालोकं गच्छति जानाति इति देव सिद्धपरमेष्ठी वा दीव्यति स्तौति स्वचिद्रूपमिति देव सूरिपाठकसाधुरूपस्तम्॥"

जो परमसुख में क्रीडा करता है वह देव है या जो कर्मों को जीतने की इच्छा करता है वह देव है अथवा जो करोडों सूर्यों के तेज से भी देदीप्यमान होता है वह देव है जैसे अर्हन्तदेव। अथवा जो धर्मयुक्त व्यवहार का विधाता है वह देव है। अथवा जो लोक-अलोक को जानता है वह देव है जैसे सिद्धपरमेष्ठी। अथवा जो अपने आत्मस्वरूप का स्तवन करता है वह देव है जैसे आचार्य, उपाध्याय, साधु।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की उक्त पक्तियों के अनुसार देव शब्द के विभिन्न अर्थों से पचपरमेष्ठियों का ग्रहण किया गया है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिनवाणी, जिनचैत्य और जिनचैत्यालय इस प्रकार नवदेवता का कथन भी आगम में पाया जाता है। 'देवाधिदेव' प्रकरण में प्रधानतया अर्हन्त और सिद्ध का ग्रहण कर उनका स्वरूप प्ररूपण ही लक्ष्य है।

आत्मा के देवत्व गुण का घात करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म हैं। जिनागम में इन्हें घातियाकर्म कहा गया है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप अनन्त चतुष्टय का घात करने वाले ये चार कर्म ही क्रमश कारण हैं।

इन चारों कर्मों का अभाव होने से जिन्होंने परमात्मपद प्राप्त किया है, उन सशरीरी परमात्मा को जीवन्मुक्तदशा प्रकट हो जाती है और यही अर्हन्त, अरिहन्त या अरुहन्त अवस्था है। इस परम अवस्था को प्राप्त प्रत्येक आत्मा, वीतराग और सर्वज्ञ तो होती है, किन्तु सभी हितोपदेशी नहीं होतीं।

[1]जो नमस्कार करने योग्य है, पूजा के योग्य हैं और देवों में उत्तम हैं, मोक्ष जाने के योग्य हैं वे अर्हन्त कहलाते हैं। "अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्त" अतिशय पूजा के योग्य होने से अर्हन्त कहे जाते हैं। इसे थोडा विस्तार दें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि "पचकल्याणरूपां पूजामर्हति योग्यो भवति तेन कारणेन अर्हन् भण्यते" अर्थात् पञ्चकल्याणरूप (अतिशय) पूजा के योग्य होते हैं। इस कारण से वे अर्हन्त कहलाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पचकल्याणकों तथा इनमें होने वाली पूजा को प्राप्त करना ही, यहाँ अतिशय पूजा का अर्थ है।

"अरिहननादरिहन्ता" अशेष दुःखप्राप्तिनिमित्त्वादरिर्मोह। रजोहननाद्वा अरिहता। ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव .... वस्तु विषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वादजासि। रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता। रहस्यामन्तराय तस्य शेषघातित्रयविनाशाविना भाविनो भ्रष्टबीजवन्निशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता।[2] (ध पु १ पृ ४२ व ४४)

'अरि' अर्थात् शत्रुओं का नाश करने से अरिहन्त सज्ञा है। यहाँ सम्पूर्ण दुःखों का निमित्त होने से 'मोह' और हर्ष, 'रज' यानी आवरणकर्म का नाश करने से अरिहन्त हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म रज की भाति वस्तु विषयक बोध और अनुभव के प्रतिबन्धक हैं, अत 'रज' से उनका ग्रहण किया गया है। रहस्य के अभाव से भी अरिहन्त सज्ञा प्राप्त है। रहस्य यानी अन्तराय कर्म और मोह-ज्ञानावरण दर्शनावरणरूप कर्मत्रय के नाश का अविनाभावी अन्तरायकर्म है। अन्तरायकर्म का नाश हो जाने से शेष अघातिया कर्म भी भ्रष्टबीज के समान निःशक्त हो जाते हैं।

पंडितप्रवर दौलतराम जी ने भी अपनी 'देव स्तुति' में व्यक्त किया है 'अरि-रज-रहस विहीन' अर्थात् हे प्रभो। आप अरि (मोह) रज (ज्ञानावरण-दर्शनावरण) रहस (अन्तराय) से रहित हैं।

इस प्रकार घातिया कर्मों के नाश से जिन्होंने अरिहन्त पद प्राप्त किया है वे देवाधिदेव हैं। कहा भी है—

> "देवाधिदेव' परमेश्वर वीतराग,
> सर्वज्ञ तीर्थकर सिद्ध महानुभाव।
> त्रैलोक्यनाथ जिनपुगव वर्धमान,
> स्वामिन् गतोऽस्मि शरण चरण द्वय ते।।"

और भी कहा है—"देवाधिदेव अरिहन्तदेव वन्दो मन वच तन (देवशास्त्रगुरु पूजा की जयमाला)

अरुहंताणं अर्थात् जिस प्रकार दग्ध बीज में अत्यन्तरूप से अकुर प्रादुर्भूत नहीं होते हैं. उसी प्रकार ससार के कारणभूत घातिया कर्मरूप बीजों के नष्ट हो जाने से अरिहन्त भगवान के भवरूपी अकुर उत्पन्न नहीं होते। इसी अर्थ में अरुहंताण शब्द अर्हन्त या अरिहन्त के लिए प्रयुक्त हुआ है। (भगवती आराधना १.११)

अरिहन्त भगवान ससारी जीवों में पाये जाने वाले जिन अठारह दोषों से रहित होते हैं उन्हें कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने निम्न गाथा के माध्यम से बताया है—

छुहतण्हभीरुरोसो, रागो मोहो चिंता जरारुजामिच्च्।
सेदं खेद मदो रइ बिम्हिय णिद्दाजणुव्वेगो॥६॥ (नियमसार)

—क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग (आश्चर्य) ये अठारह दोष अरिहन्त भगवान में नहीं है।

अठारह दोषरहित, अनन्तचतुष्टयसहित, वीतराग सर्वज्ञ भगवान ३४ अतिशय और अष्ट प्रातिहार्यों से सयुक्त होते हैं। ये ही अरिहन्त के ४६ गुण भी कहलाते हैं। ३४ अतिशयों में १० जन्म के, ११ केवलज्ञान के और १३ देवकृत अतिशय होते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान के शरीर में श्रीवत्स, शख, कमल, अकुश आदि १०८ लक्षण एव ९०० व्यञ्जन पाये जाते हैं। अशोक वृक्ष, तीनछत्र, रत्नखचितसिहासन, भक्तियुक्त गणों से युक्तता, दुन्दुभिनाद, पुष्पवृष्टि, प्रभामण्डल तथा चौसठ चमर युक्तता ये आठ प्रातिहार्य हैं।

अर्हन्त के भेदः-

तीर्थंकर अर्हन्त आर सामान्य अर्हन्त के भेद से अर्हन्त दो प्रकार के हैं। इनमें तीर्थंकर अर्हन्त तीन प्रकार के हैं—१ पाचकल्याणक युक्त २ तीनकल्याणक युक्त और ३ दो कल्याणक युक्त। सामान्य अर्हन्तों के भी सातिशय केवली (गन्धकुटीयुक्त), सामान्य (मूक) केवली, उपसर्ग केवली और अन्तकृत केवलीरूप चार भेद हैं।

पंच-तीन-दो कल्याणक वाले तीर्थंकर—

तीर्थङ्कर अरिहन्त पाचकल्याणक वाले ही होते हैं ऐसा नियम नहीं है, तीन अथवा दो कल्याणक वाले भी होते हैं। तीर्थङ्कर होने से पूर्व तीसरे भव में जिन जीवों ने श्रुतकेवली के पादमूल में अत्यन्त विशुद्धि को प्राप्त कर तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध कर लिया है ऐसे जीव यहाँ से स्वर्ग जाकर अथवा मिथ्यात्व अवस्था में आगामीभव की आयु बाध लेने की अपेक्षा नरक जाकर वहाँ से चयकर मनुष्यभव को प्राप्त करते हैं तव उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष ये पांचो कल्याणक होते हैं। यदि कोई जीव वर्तमान भव में ही असयतसम्यग्दृष्टि या सयतासयतावस्था

में तीर्थकरप्रकृति का बन्ध करते हैं तो तप, ज्ञान और निर्वाण ये तीन ही कल्याणक होते हैं। यदि वर्तमान भव में ही प्रमत्त-अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीव उस संयमी अवस्था में ही तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध करते हैं उनके मात्र ज्ञान और निर्वाण ये दो ही कल्याणक होते हैं।

मनुष्यलोक (ढाईद्वीप) सम्बन्धी पांच भरत और पांच ऐरावत क्षेत्रों में तो प्रत्येक अवसर्पिणी काल में होने वाले चौबीस ही तीर्थङ्कर पचकल्याणक वाले ही होते हैं तथा इन्हीं के द्वारा अपने-अपने काल में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन होता है। विदेह क्षेत्र में निरन्तर ही सुखमा-दुखमा काल वर्तता है, अत वहाँ नित्यविहरमान सीमन्धरादि तीर्थङ्कर पाये जाते हैं। कम से कम २० और अधिक से अधिक १६० युगपत् हो सकते हैं तथा इनमें भरत-ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी ५-५ तीर्थङ्कर और मिलाने से एक साथ १७० तक तीर्थङ्कर ढीईद्वीप में हो सकते हैं। पुराणग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि भरतक्षेत्र में इस हुण्डावसर्पिणी काल सम्बन्धी चतुर्विंशति तीर्थंकरों में से दूसरे अजितनाथ भगवान के समय में युगपत् १७० तीर्थङ्कर ढाईद्वीप में हुए थे। दो अथवा तीन कल्याणक वाले तीर्थङ्कर विदेह क्षेत्र में ही होते हैं, इससे जाना जाता है कि विदेह क्षेत्र में तो पाच, तीन और दो कल्याणक वाले (तीनों ही प्रकार के) तीर्थङ्कर अर्हन्त होते हैं, किन्तु भरत ऐरावत में पांचकल्याणक वाले एक ही प्रकार के तीर्थङ्कर होते हैं।

भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में भूत-वर्तमान-भविष्यत् कालसम्बन्धी चतुर्विंशति तीर्थङ्करों के प्रतिबिम्ब विराजमान किये जाते हैं तो उनके पाचों ही कल्याणक होते हैं ऐसा सुदूर प्राचीन परम्परा से ज्ञान होता है। इसका कारण यही समझ में आता है कि जिन्होंने निर्वाण प्राप्त कर लिया है उन्हीं तीर्थङ्करों की हम यहां स्थापना करते हैं और चूंकि उनके पचकल्याणक साक्षात् हो चुके हैं। विदेह क्षेत्रस्थ सीमन्धरादि विद्यमान बीस तीर्थङ्करों की प्रतिष्ठाविधि में कुछ दशकों से मतभेद दिखाई दे रहा है। भारतवर्ष के जिस क्षेत्र या प्रान्त विशेष में भरत क्षेत्र-सम्बन्धी चतुर्विंशति तीर्थङ्करों के बजाय विदेह क्षेत्रस्थ विद्यमान तीर्थङ्करों के प्रति विशेष भक्ति प्रदर्शित की जा रही है वहाँ सीमन्धरादि तीर्थङ्करों के बिम्बो की प्रतिष्ठापना के अवसरों पर प्राय प्रतिष्ठाशास्त्रों में कथित पचकल्याणक विधि का उल्लघन कर उन सीमन्धरादि तीर्थङ्करों के चार ही कल्याणक करके बिम्ब स्थापित किये जाते रहे हैं। उन लोगों का हेतु है कि वर्तमान सीमन्धरादि तीर्थङ्कर केवलज्ञान में ही विद्यमान हैं, उनका मोक्ष तो हुआ नहीं तब फिर पचकल्याणक कैसे किये जायें? किन्तु वे लोग यह क्या नहीं विचारते कि हम जिन सीमन्धरादि के प्रतिबिम्ब विराजमान करते हैं वे, अनादिकाल से अब तक जो अनन्त सीमन्धरादि तीर्थङ्कर निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं उनके करते हैं न कि विद्यमान (वर्तमान में साक्षात् स्थित) के। शास्त्रानुकूल तो यही लगता है कि भूतकाल में जो सीमन्धरादि निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं उन्हीं के प्रतिबिम्ब विराजमान होना चाहिए और फिर उनकी अपेक्षा पचकल्याणक करने में आगम से प्रतिकूलता भी नहीं दिखाई देती है। यह एक विचारणीय तथ्य प्रसगवश प्रस्तुत किया है, विशिष्ट ज्ञानी जनों को इस पर विचार करना चाहिए।

तीर्थङ्कर अर्हन्त का विहार एवं दिव्यध्वनि

भव्यों के भाग्यवश, बिना इच्छा के ही तीर्थङ्करों का विहार होता है। चूंकि तीर्थङ्करों के मोहनीयकर्म का अभाव हो चुका है और इच्छा का कारण नहीं है, अत कारण के अभाव में कार्यरूप इच्छा भी नहीं है, तथापि भव्य जीवों का भाग्य ही वह प्रबल कारण है जिससे इस धरा पर तीर्थंकरों का विहार हुआ।

भगवान का विहार आकाशमार्ग से होता है और उनके विहार पथ पर देवगण स्वर्णमयी कमलों की रचना करते हैं। मल्लिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए समन्तभद्रस्वामी ने और एकीभाव स्तोत्र में वादिराजसूरि ने भी तो इस बात को कहा ही है, किन्तु मानतुग आचार्य ने आदिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए भक्तामरस्तोत्र के ३६ वें श्लोक में स्पष्ट शब्दों में कहा है—"पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्त, पद्मानि तत्र विवुधा परिकल्पयन्ति" अर्थात् हे जिनेन्द्र। आप जहाँ चरण रखते हैं वहीं देवगण कमलों की रचना कर देते हैं।

जिस प्रकार भगवान का विहार बिना इच्छा के भव्यों के भाग्य से होता है, उसी प्रकार भगवान की दिव्यध्वनि भी बिना इच्छा के भव्यों के भाग्य से होती है, किन्तु विशेष बात यह है कि भगवान का वचनयोग भी दिव्यध्वनि मे कारण है। कहा भी है—"भवि भागन वचजोगे वशाय तुम धुनि है सुनि विभ्रम नशाय"।१ भगवान की दिव्यध्वनि तीनों सध्याकालों में नव मुहूर्त तक खिरती रहती है। इसके अतिरिक्त गणधरदेव, चक्रवर्ती आदि के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ अन्य समयो में भी खिरती है।

सर्वभाषाओं में परिणत होने के स्वभाव को लिए हुए अमृतपान के ही समान दिव्यध्वनि समवशरण सभा में एकयोजन पर्यन्त सभी प्राणियों को तृप्त करने वाली होती है। न्यूनता और अधिकता से रहित मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद वह दिव्यध्वनि १८ महाभाषा एवं ७00 लघु भाषाओं से युक्त होती है। मनुष्य, देव और तिर्यंच की भाषारूप में परिणत होने की सामर्थ्यवाली भगवान की दिव्यध्वनि भव्यजीवों को छह द्रव्य, नौ पदार्थ पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों का निरूपण नाना हेतुओं से करती है।

तीर्थंकर अर्हन्त धर्मतीर्थ के प्रर्वतक है। अत उनकी दिव्यध्वनि से धर्मतीर्थ प्रवर्तित होता है। समवशरण नामक धर्मसभा में गणधर प्रमुख श्रोता है। उनकी विद्यमानता के बिना भगवान की दिव्यध्वनि नही खिरती। गणधर स्वय मन पर्ययज्ञान से सहित तथा कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि आदि अनेक ऋद्धियों से सयुक्त होते हैं। वे ही भगवान की वाणी को ग्रहणकर फिर द्वादशाग की रचना करते हैं।

ऐसे अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्ग लक्ष्मी युक्त, बाह्य समवशरण विभूति सहित धर्मतीर्थप्रर्वतक तीर्थंकर अर्हन्त वर्तमान में हमारे साक्षात् विद्यमान नही है, किन्तु इतना सुनिश्चित है कि किसी भी काल-क्षेत्र के अथवा कितने भी कल्याणक वाले तीर्थंकर हों, जो भी तीर्थंकर होते है उनका

विहार काल कमसे कम वर्षपृथकत्व प्रमाण काल तक तो होता ही है।

वर्तमान में तीर्थंकर अर्हन्त का साक्षात् अभाव होने से पंचकल्याणक प्रतिष्ठाविधि से उन अर्हन्तों की बिम्बस्थापना कर भव्य जीव उन देवाधिदेवो की पूजा अर्चना कर आत्मसाधना की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

सामान्य अर्हन्त

१. सातिशय केवली— **गन्धकुटी युक्त** केवली सातिशय केवली कहलाते हैं। सातिशय केवली के तीर्थंकर प्रकृति का उदय नहीं पाया जाता है। अन्तरङ्ग वैभव में तीर्थंकर केवली और सातिशय केवली में कोई अन्तर नहीं है। मात्र बाह्य समवशरण आदि तथा धर्मचक्रप्रवर्तन आदि में ही अन्तर है। दिव्यध्वनि भी दोनों केवलियों के मध्य अन्तर का एक कारण है। सातिशय केवलियों की दिव्यध्वनि नहीं होती है। विशेष के लिए आगम ही प्रमाण है।

२. सामान्य केवली— **केवलज्ञान** उत्पन्न होने पर जिनके गन्धकुटी की रचना भी नहीं होती वे सामान्य केवली कहलाते हैं। जिनकी वाणी नहीं खिरती वे मूककेवली हैं।

३ उपसर्ग केवली— **दारुण उपसर्गों** को सहकर जिन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ वे उपसर्ग केवली कहलाते हैं। **जैसे—तीर्थंकर** पार्श्वनाथ। वैसे यह नियम है कि तीर्थङ्करों पर उपसर्ग नहीं होता, किन्तु यह हुण्डावसर्पिणी काल के दोष का प्रभाव जानना चाहिए। सुपार्श्वनाथ और महावीर भी ऐसे ही तीर्थंकर हैं जिन्हें अपनी साधना अवस्था में तीर्थंकर प्रकृति के उदय (केवलज्ञान) से पूर्व उपसर्ग हुए यही बात पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में जानना चाहिए।

४. **अन्तकृत केवली**— "संसारस्यान्त 'कृतो यैस्ते अन्त कृत" जिन्होनें ससार का अन्त (नाश) कर दिया है वे अन्तकृत हैं कहा भी है— अशेपकर्मण तत्प्रभवससारस्य चान्तं विनाश कृतवताम् ये हि दुर्धरोपसर्गं प्राप्यान्तर्मुहूर्तमध्ये घातिकर्मक्षय कृत्वा केवलमुत्पाद्य- शेपकर्मक्षय च विधाय सिद्ध्यन्ति तेऽन्तकृत इत्युच्यन्ते[२]। दुर्धर उपसर्ग को प्राप्तकर (सहनकर) एक अन्तर्मुहूर्त में घातिया कर्मों को नष्टकर जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और सम्पूर्ण कर्मों का शीघ्र ही क्षयकर सिद्ध पद प्राप्त कर लिया वे अन्त कृतकेवली कहलाते हैं। मूककेवनियों के समान ही इनकी भी दिव्यध्वनि नहीं खिरती।

दारूण उपसर्गों को सहनकर केवलज्ञान को प्राप्तकर लघुकाल में ही निर्वाणसुख को प्राप्त करते हैं ऐसे अन्तकृतकेवली प्रत्येक तीर्थङ्कर के काल में १०-१० की सख्या में होते हैं। शास्त्रों में गजकुमार मुनि, पाण्डव आदि का उदाहरण इस रूप में प्राप्त होता है। आगम में तो भगवान महावीर के समय में होने वाले अन्तकृत केवलियों के नाम भी पाए जाते हैं— नमि, मातङ्ग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्किविल, पालम्ब और अष्टपुत्र। द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान के अन्तकृत्दशाङ्ग नामक अङ्गश्रुत में २३,२८,००० पदों द्वारा अन्तकृत केवलियों का वर्णन किया

गया है।

इस प्रकार शान्ति के खोजकर्ता भव्यजीव के आदर्शरूप देवाधिदेव अर्हन्त का वर्णन हुआ। द्वितीय भेदरूप सिद्ध भगवान भी देवाधिदेव हैं और कर्मनाश की अपेक्षा दोनों में कोई भेद भी नहीं है जैसे कि कहा है– "खविदघाधिकम्मा केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठा अरहंताणं। अथवा,णिट्ठविदट्ठकम्माणं घाइदघादिकम्माण च अरहंतेत्ति मण्णा, अरिहणणं पदि दोण्हं भेदाभावदो।" जिन्होंने घातिया कर्मों को नष्टकर केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को देख लिया है वे अरहन्त हैं। अथवा आठों कर्मों को दूर कर देने वाले और चार घातियाकर्मों को नष्ट कर देनेवालों की अरहन्त सज्ञा है, क्योंकि कर्म शत्रु के विनाश के प्रति दोनों में कोई भेद नहीं है (अर्थात् कर्मरूप शत्रुओं का नाश की अपेक्षा दोनों ही हन्त हैं)। यही कारण रहा कि देवाधिदेव के अन्तर्गत दोनों का वर्णन किया है।

सिद्ध

स्वरूप– जो कर्ममल से विप्रमुक्त-निरजन हैं, अर्थात् जिनके द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म नहीं पाये जाते, नानाभेदरूप ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का नाशकर जिन्होंने आठ महागुणों को प्राप्त कर लिया है, अन्य भी अनन्तगुण जिनके प्रकट हो गए हैं, जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं, अत्यन्त शान्तिमय हैं, नित्य और कृतकृत्य हैं, जिनके जन्म, जरा, मरण, भय, सयोग, वियोग, दुख, सज्ञा और रोगादि नहीं हैं, अत निर्दोष हैं, ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग को अर्थात् लोकान्त को प्राप्तकर जो तीनलोक के मस्तक के शिखरस्वरूप है अतीन्द्रिय अनन्तज्ञान और सुख को प्राप्त होने से जो अव्याबाधासुख समुद्र में निमग्न हैं ऐसे अशरीरी मुक्तात्माओं को सिद्ध कहते हैं। मुक्त होने के पश्चात् सिद्धभगवान अनन्तकाल तक भी लौटकर पुन ससार को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि ससार के कारणभूत कर्मबीज का सर्वथा नाश हो चुका है।

प्रश्न—सिद्ध (मुक्त) होकर जीव कहा जाता है ?

उत्तर—मुक्त होकर जीव अपने ऊर्ध्व गमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में विराजमान होता है।

प्रश्न—सिद्ध भगवान साकार है या निराकार? यदि निराकार हैं तो मुक्त जीवों का अभाव प्राप्त होगा?

उत्तर—सिद्ध भगवान का अभाव प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि उनके अतीत अनन्तर (सिद्ध होने से पूर्व जो चरम शरीर था) शरीर का आकार उपलब्ध होता है। अन्तिम भव में जिसका जैसा आकार, दीर्घता और बाहुल्य होता है उससे तृतीय भाग से कम सब सिद्धों की अवगाहना होती है। तात्पर्य यह है कि चरमशरीर से किंचित् न्यून सिद्धों के न्यूनता का वह प्रमाण शरीर नामकर्म व आगोपाग नामकर्म से उत्पन्न नासिका आदि छिद्रों की पोलाहट के कारण से है।

मोमरहित मूस के आकार के समान अथवा छाया के प्रतिबिम्ब के समान पुरुषाकार सिद्ध भगवान मनुष्यलोक (४५ लाख योजन) प्रमाण तनुवातवलय के उपरिम भाग में स्पर्शित मस्तक वाले हैं। अर्थात् सभी सिद्धों के तनुवात वलय में मस्तक सदृश होते है। उक्त सम्पूर्ण कथन से यह ही सिद्ध हो जाता है कि अनादिकाल से नामकर्म से प्राप्त शरीर के आकार से रहने वाले असंख्यात आत्मप्रदेश शरीराभाव होने से मुक्तावस्था में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त न होकर अन्तिम शरीर के आकार रूप रहते हैं। जीवप्रदेशों के संकोच विस्तार का कारण संसार अवस्था में नामकर्म है, अत उसका अभाव होने पर मुक्त जीवों में सकोच विस्तार का अभाव है।

सिद्धों के गुण—

सम्मत्तणाणदसण वीरिय सुहुम तहेव अवगहण।
अगुरुलहुमव्वावाह अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं॥

—सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व ये आठ गुण आठकर्मों के नाश से प्राप्त होते हैं।

मोहनीय कर्म के नाश से सम्यक्त्व (क्षायिकसम्यक्त्व) ज्ञानावरण कर्म के नाश से ज्ञान (केवलज्ञान), दर्शनावरणकर्म के नाश से दर्शन (केवलदर्शन), अन्तरायकर्म के नाश से अनन्तवीर्य, आयुकर्म के नाश से सूक्ष्मत्व, नामकर्म के अभाव में अवगाहनत्व, गोत्र कर्म के अभाव में अगुरुलघुत्व तथा वेदनीय कर्म के अभाव में अव्याबाधत्व गुण प्रकट होता है सामान्यत ये मुख्य आठगुण सिद्धों के हैं जो आठ कर्मों के अभाव में होते हैं इन सम्बन्धी विशेष कथन प्रवचनसार, क्षपणासार, परमात्मप्रकाश, पद्मनन्दिपचविशतिका आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

उपर्युक्त आठ गुणों के अतिरिक्त सिद्धों में अकषायत्व, अवेदत्व, अकारकत्व, अचलत्व, अलेपत्व आदि गुण भी पाए जाते हैं तथा इन्हीं सम्यक्त्वादि आठ गुणों में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप चतुष्टय सहित सिद्धों के बारह गुणों का कथन भी धवला टीका (ध पु ७, पृ. ५७) में किया गया है।

देव

"दीव्यति स्तौति स्वचिद्रूपमिति देव सूरिपाठकसाधुरूपस्तम्"। यहाँ देव शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ करते हुए कहा है जो अपने आत्मस्वरूप का स्तवन करता है वह देव है, जैसे—आचार्य उपाध्याय और साधु। इससे पूर्व देवाधिदेव अर्हन्त और सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप प्रतिपादन हुआ। अब आचार्य, उपाध्याय और साधु का रूप विवक्षित, है, अत देव शब्द से अभिहित शेष तीन परमेष्ठियों का वर्णन प्रस्तुत है।

आचार्य

"पंचविधमाचारं चरन्ति चारयतीत्याचार्या" अथवा "आचरन्ति तस्माद् व्रतानित्याचार्या." जो पांच प्रकार के पंचाचारों का स्वय आचरण करते हैं और अन्य मुनिजनों से करवाते हैं अथवा जिनके निमित्त से व्रतों का आचरण करते है वे आचार्य कहलाते है।

पवयण[२]-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धिसुद्धछावासो।
मेरुव्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वण्णो॥

देसकुलजाइसुद्धो सोमेगो सग-भग उम्मुक्को।
गयणव्व णिरुवलेवो आयरिओ एरिसो होई॥

संगह णिग्गह कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहियकित्ती।
सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आयरिओ॥ (ध पु १, पृ ४९)

पचाचरसमग्गा३ पचिंदियदतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुण गभीर आयरिया एरिसा होंति॥

—प्रवचनरूपी समुद्र के जल में स्नान करने से अर्थात् परमात्मा के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरु के समान निष्कम्प हैं, शूरवीर हैं, सिह के समान निर्भीक हैं, श्रेष्ठ हैं, देश कुल जाति से शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अतरग और बहिरङ्ग से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

जो सघ के संग्रह अर्थात् दीक्षा और निग्रह अर्थात् शिक्षा या प्रायश्चित्त देने में कुशल हैं, परमागम के अर्थ में विशारद हैं, जिनकी कीर्तिसर्वत्र फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, वारण अर्थात् निषेध और साधन अर्थात् व्रतों की रक्षा करने वाली क्रियाओं में निरन्तर उद्युक्त हैं वे आचार्य परमेष्ठी हैं। पचाचार से समग्र-परिपूर्ण पचेन्द्रियरूपी हाथी के मद का दलन करने वाले, धीर और गुण गम्भीर आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

उपर्युक्त गुणों से सयुक्त आचार्य परमेष्ठी ११ अग १४ पूर्वरूप श्रुत के ज्ञाता अथवा आचारांग के ज्ञाता अथवा तात्कालिक स्वसमय-परसमय के ज्ञाता होते हैं। सप्त भय रहित एवं पृथ्वी के समान सहनशील होते हैं। आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, आयापायदर्शी, उत्पीलक, अपरिस्रावी, निर्वापक और निर्यापक आदि गुणों से सहित आचार्य परमेष्ठी ५ आचार, ६ आवश्यक, १० धर्म, १२ तप तथा ३ गुप्ति इन ३६ गुणों के धारक होते हैं।

उपाध्याय

"विनयेनोपेत्य यस्माद् व्रतशीलभावनाधिष्ठानादागम श्रुताख्यमधीयते इत्युपाध्याय" जिन

व्रतशील भावनाशील महानुभाव के पास जाकर भव्यजन विनयपूर्वक श्रुत का अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय हैं।

रयणत्तयसंजुता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति॥७४॥ नियमसार

चोद्दस-पुव्व-महोपहिमहिगम्म सिवत्थिओ सिवत्थीणं।
सीलंधराण वत्ता होइ मुणी सो उवज्झाओ॥३२॥ (ध पु. १ पृ. ५0)

—रत्नत्रय से संयुक्त जिनकथित पदार्थों के कथन करने में शूरवीर और निकांक्ष भाव से युक्त उपाध्याय होते हैं। चौदह पूर्वरूप समुद्र में प्रवेश करके परमागम का अभ्यास करते हुए मोक्षमार्ग में स्थित हैं तथा मोक्ष के इच्छुक शीलवान् मुनिजनों को उपदेश देते हैं, ऐसे मुनिजन उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते है।

उपाध्याय परमेष्ठी ११अंग और १४ पूर्व के ज्ञाता होते हैं अथवा तात्कालिक स्वसमय-परसमय के ज्ञाता होते हैं। संग्रहनिग्रह, अनुग्रह आदि को छोडकर आचार्य परमेष्ठी के अन्य सभी गुण उपाध्याय परमेष्ठी में पाये जाते हैं। साधु परमेष्ठी सम्बन्धी २८ मूलगुणों का पालन तो उपाध्याय करते ही हैं साथ ही ११ अग १४ पूर्व का ज्ञान होने से इनके २५ विशेष गुण कहे गये हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी तत्त्वजिज्ञासुओं की शकाओं के समाधता, सुवक्ता, वागब्रह्म, सिद्धान्त शास्त्र और सम्पूर्ण आगमों के पारगामी होते हैं।

साधु

"णिव्वाणसाधए' जोगे सदा जुंजंति साधवो। समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाहवो॥५१२॥

मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले मूलगुणादिक तपश्चरणों को जो सर्वकाल अपनी आत्मा से जोडते हैं और सर्व जीवों में समभाव को प्राप्त होते हैं वे सर्वसाधु कहलाते हैं। अथवा

दसण णाण समग्ग मग्ग मोक्खस्स जो हु चारित्त।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स॥५४॥ द्रव्यसग्रह

—जो दर्शन और ज्ञान से पूर्ण मोक्ष के मार्गभूत सदा शुद्ध चारित्र को प्रकटरूप से साधते हैं वे मुनि परमेष्ठी हैं, उनको मेरा नमस्कार हो।

साधु परमेष्ठी न तो शास्त्रों की व्याख्या करते हैं और न शिष्यों को दीक्षादि देते हैं। वे तो कर्मों के उन्मूलन करने मे समर्थ ऐसे ध्यान में सदा तत्पर रहते हैं। साधु परमेष्ठी वैराग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर प्रभावशाली दिगम्बर यथाजातरूप को धारण करते हैं। पांच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग), पांच समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग), पंचेन्द्रिय निरोध (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र का वश करना),

षडावश्यक (समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग) शेष सात (अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधोवन, खडे-खडे भोजन, एक बार दिन में भोजन और केशलोंच) इन २८ मूलगुणों का निरन्तर पालन साधु परमेष्ठी करते है।

सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी अथवा उन्नत बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरीवृत्ति करने वाले, पवन के समान निसंग अथवा सभी जगह बे रोक-टोक विचरने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्त्वों के प्रकाशक, सागर के समान गम्भीर, मेरु के समान अकम्प व अडोल, चन्द्रमा के समान शान्तिदायक, मणि के समान प्रभापुञ्ज युक्त, पृथ्वी के समान सर्वप्रकार की बाधाओं को सहन करने वाले, सर्प के समान अनियत वसतिका में रहने वाले, आकाश के समान निरालम्बी व निर्लेप और सदाकाल परमपद का अन्वेषण करने वाले होते हैं। विकथाओं से सदा दूर रहने वाले साधु परमेष्ठी पंचनमस्कार, षडावश्यक, असही, निसही इन १३ क्रियाओं के पालक होते हैं। साधु परमेष्ठी जिनागम में अहोरात्रि सम्बन्धी २८ कृतिकर्म करने वाले होते हैं।

शंका--जिन्होंने आत्मस्वरूप प्राप्त कर लिया है ऐसे अरिहन्त, सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करना योग्य है, क्योंकि उनमें देवपना है, किन्तु आचार्यादिक तीन परमेष्ठियों को नमस्कार करना योग्य नहीं है, कारण कि आचार्यादिक तीन परमेष्ठियों ने आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं किया है, अत उनमें देवपना नहीं है?

समाधान-- ऐसा नहीं है, क्योंकि अपने-अपने भेदों से अनन्त भेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रय से युक्त जीव ही देव हैं, अन्यथा सम्पूर्ण जीवों को देवपना प्राप्त हो जायेगा, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी रत्नत्रय के यथायोग्य धारक होने से देव हैं, क्योंकि अरिहन्तादिक से आचार्यादिक में रत्नत्रय के सद्भाव की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है, इसलिए आंशिक रत्नत्रय की अपेक्षा इनमें भी देवपना बन जाता है।

दूसरी बात यह है कि आचार्यादिक में स्थित तीन रत्नों का सिद्ध परमेष्ठी में स्थित रत्नों से भेद नहीं है। यदि दोनों के रत्नत्रय में सर्वथा भेद मान लिया जाये तो आचार्यादिक में स्थित रत्नों के अभाव का प्रसङ्ग आ जायेगा।

शङ्का-- पूर्णता को प्राप्त रत्नों को ही देव माना जा सकता है?

समाधान--ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योकि रत्नों के एकदेश में देवपने का अभाव मान लेने पर रत्नों की समग्रता (पूर्णता) में भी देवपना नहीं बन सकता।

शंङ्का--आचार्यादिक तीन परमेष्ठी में स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उनके रत्न एकदेश हैं?

समाधान--यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार पलाशराशि का अग्निसमूह रूप कार्य एक कण से भी देखा जाता है (अर्थात बहुत बडी पलाशराशि को जलाने में अग्नि

का समूह ही समर्थ हो ऐसा नहीं, किन्तु एक चिनगारी भी जला सकती है) उसी प्रकार यहाँ पर भी समझना चाहिए (आचार्यादि के एकदेश रत्न भी कर्मक्षय के कारण हैं) इसलिए आचार्यादि भी देव हैं यह बात निश्चित हो जाती है।

जिनधर्म

"केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि" केवली भगवान के द्वारा कहे हुए धर्म की शरण को प्राप्त होता हूँ जो संसार के दुखों से छुडाकर उत्तम सुख में पहुचाता है, समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करता है, सम्पूर्ण सुखों को देने वाला है, दिव्य और मनोवाञ्छित शिव-कल्याण को करने वाला है, तीर्थंकरादि महापुरुषों ने भी धारण किया और अपने आत्म स्वभाव को प्राप्त किया, ऐसे चतुर्गति के दुखों से रक्षा करने वाले एव मिथ्यात्वरागादि रूप भावसंसार से हटाकर निर्विकार परमानन्दरूप शुद्ध चैतन्यदशा को देने वाले जिनधर्म को मेरा शत शत वन्दन-नमन हो।

जिनवाणी

जन्म, जरा, राग-द्वेष आदि १८ दोषों से रहित वीतराग, सर्वज्ञ हितोपदेशी भगवान के मुखकमल से विनिर्गत, पूर्वापर दोष से रहित, स्याद्वाद चिन्ह से चिन्हित वाणी जिनवाणी है। इसी अनेकान्तमयी जिनवाणी से षड्द्रव्य, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ और पचास्तिकाय का प्रतिपादन हुआ है। इस प्रकार वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करने वाली, मिथ्यामार्ग का खण्डन करनेवाली और सब जीवों का हित करनेवाली जिनवाणी सदा जयवन्त हो।

जिन चैत्य

चैत्य का अर्थ प्रतिमा होता है। अर्हन्त, सिद्ध की प्रतिमाएँ चैत्य कहलाती हैं। कृत्रिम व अकृत्रिम के भेद से चैत्य दो प्रकार के हैं। कृत्रिम प्रतिमाएं वे हैं जो शिल्पी द्वारा निर्मित की जाती हैं। जैसे– जिनमदिरों में विराजमान प्रतिमाए। शिल्पी के द्वारा बनाई जाने के पश्चात् जिनमें प्रतिष्ठा विधि से अरिहन्त-सिद्ध की स्थापना की जाती है। जो प्रतिमाएँ अनादि-अनिधन हैं, किसी के द्वारा निर्मित नहीं हैं वे अकृत्रिम प्रतिमाएँ हैं। जैसे नन्दीश्वर द्वीप में विराजमान प्रतिमाएँ। अष्टप्रातिहार्य सहित तथा यक्षादि से युक्त प्रतिमा अर्हन्त प्रतिमा हैं, इनसे रहित सिद्ध प्रतिमाएँ हैं। जिस प्रकार की निर्विकार परमानन्दमयी दशा को आत्मा प्राप्त करता है उसी प्रकार की दशा का प्रतिनिधित्व करने वाली ये वीतराग प्रतिमाएँ निरन्तर हमें हमारी वीतराग दशा को प्राप्त करने का सन्देश देती हैं।

जिन चैत्यालय

जिन वैभवयुक्त जिनभवनों में चैत्य अर्थात् जिन प्रतिमाएँ विराजमान रहती हैं वे जिनालय, चैत्यालय कहलाते हैं। चैत्यालय भी कृत्रिम और अकृत्रिम के भेद से दो प्रकार के हैं. अनादि-अनिधन चैत्यों के आलय भी अनादि-अनिधन हैं किसी के द्वारा निर्मित नहीं हैं। इन अकृत्रिम चैत्यालयों के वैभव का वर्णन एवं इनके माप का कथन जिनागम में सविस्तार किया गया है। जिन्हें निर्मित किया जाता है वे कृत्रिम चैत्यालय हैं। चतुर्निकाय के देवों के भवनों, विमानों एवं आवासों के तथा मध्यलोक के ४५८ जिन चैत्यालय अकृत्रिम हैं। विशेष जिज्ञासुओं को तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि ग्रन्थ देखने चाहिए।

चतुर्निकायदेव

"देवगतिनामकर्मोदये सत्यभ्यन्तरे हेतौ बाह्यविभूति विशेषै द्वीप समुद्रादिप्रदेशेषु यथेष्टं दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवा"[१]अभ्यन्तर कारणरूप देवगति नामकर्म के उदय होने पर जो नानाप्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप-समुद्रादि अनेक स्थानों में इच्छानुसार क्रीडा करते हैं वे देव कहलाते हैं। दिव्य एव कान्तिमान शरीर के धारक देवगण अणिमा, महिमादि आठ दिव्य गुणों से अर्थात् विक्रिया से युक्त होते है और नाना प्रकार की क्रीडाओं में सतत रहते हैं। तीर्थकरों के पंचकल्याणको में तथा अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना आदि के लिए विक्रिया से निर्मित शरीर से नानाविध स्थानों पर जाते हैं। इसके अतिरिक्त देवाङ्गनाओं के साथ रतिक्रीडा आदि के लिए भी अपने मूल विमान, भवन या आवास को छोडकर अन्यत्र भी उत्तर (विक्रिया निर्मित) शरीर से यत्र तत्र सर्वत्र गमन करते हैं।

देवों के भेद—

देव चार निकाय (समूह) वाले हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक ये चार निकाय हैं। देवों के छह निकाय भी होते हैं—भवनवासी, पातालवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी और कल्पातीतविमानवासी इन्हीं छह निकायों में आकाशोपपन्न भेद मिलाने से देवों के सातभेद भी कहे गए हैं। इन सभी देवों के पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्तरूप दो-दो भेद भी पाये जाते हैं। आकाशोपपन्न देवों के कथन में अकलंकदेव ने चतुर्थ अध्याय के २३वें सूत्र की टीका करते हुए तत्त्वार्थ राजवार्तिक में १२ भेदों का कथन किया है—पाशुतापि, लवणतापि, भवनतापि, सोमकायिक, यमकायिक, वरुणकायिक, वैश्रवणकायिक, पितृकायिक, अनलकायिक, रिष्टक, अरिष्टक और सम्भव।

उपर्युक्त चतुर्निकाय के देवों में भी भवनवासियों के १0, व्यन्तरवासियों के ८, ज्योतिषियों के ५ तथा वैमानिक देवों के कल्पवासी भेद सम्बन्धी १२ उत्तर भेद एवं द्वितीय भेद कल्पातीत

वैमानिक देवों के ९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश और ५ अनुत्तर ऐसे २३ भेद पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक निकाय में (मात्र कल्पातीत के २३ भेदों को छोड़कर) इन्द्र-प्रतीन्द्र, दिगिन्द्र (लोकपाल), त्रायस्त्रिशद्, सामानिक, तनुरक्षक, तीन प्रकार के पारिषद्, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्विष ये १०-१० भेद पाये जाते हैं। इतना विशेष जानना कि व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल भेद नहीं पाये जाते शेष ८ भेद ही पाये जाते हैं।

देवो का शरीर एवं आहार—

देवों के शरीर में हड्डी, नस, रुधिर, चर्बी, मूत्र, रोम, चर्म, मासादिक नहीं होते। देवों का शरीर निगोदिया जीवों से रहित होता है, प्रत्येक शरीर नामकर्मोदय से प्राप्त प्रत्येक शरीर होता है। समचतुरस्र सस्थान एव शुभ विक्रिया से युक्त शरीर होता है। सहनन नामकर्म के उदय का अभाव होने से छहों संहननों का भी अभाव पाया जाता है।

देवों का आहार दिव्य, अनुपम, अमृतमय तुष्टि और पुष्टिकारक कवलाहार के अभावरूप मानसिक आहार होता है। देवों के आहारसंज्ञा उत्पन्न होने पर मन में चिन्तन करते ही कण्ठ में अमृतझरण होकर मानसिक तुष्टि होती है। वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श के विषय में अतिशय को प्राप्त दिव्यस्कन्ध से निर्मित वैक्रियिक शरीरी देवों के कर्म के प्रभाव से रोगादि नहीं होते हैं तथा आहार होने पर भी नीहार नहीं होता है।

देवगति में सुख-दुःख की स्थिति—

देवगति में सुख-दुःख की मिश्रित अवस्था है, क्योंकि अन्य गतियों के समान वहाँ भी विषय जनित सुख को सुख और उनके विरह में या अन्य देवों के अधिक वैभव को देखकर मानसिक दुःख की कल्पना है। अन्य देवों के उत्कृष्ट वैभव को देखकर मन में ईर्ष्या उत्पन्न होने से दुःख होता है। वे देव नाना प्रकार के रतिसुख को प्रकट करने में चतुर, दिव्यरूपों से युक्त, स्वभाव से प्रसन्न रहने वाली देवाङ्गनाओं के साथ राग के स्थानभूत प्रासादों में मृदुल आसन व शय्या पर आनन्दोत्पादक रतिसुख का उपभोग करते हैं।

ऊपर-ऊपर के स्वर्गों के क्रमशः स्थिति (आयु), सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिज्ञान के विषय की अपेक्षा अधिक-अधिक हैं तथा गति (गमन), शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा हीन-हीन हैं। प्रवीचार जन्य सुख भी देवों के विभिन्न प्रकार का है। भवनत्रिक और सौधर्म-ईशान स्वर्ग तक मनुष्यों के समान प्रवीचार है। आगे स्पर्श, रूप, शब्द और मन में चिन्तन आदि से विषयजनित सुख का उपभोग करते हैं। यह प्रवीचार १६वें स्वर्ग तक ही है, आगे नवग्रैवेयक, नवअनुदिश और पांच अनुत्तर विमानों के देव सभी अहमिन्द्र होते हैं वहाँ देवियों का भी अभाव है तथा लेश्या विशुद्धि से वे वैसे भी परिणामों से विशुद्ध होते हैं, अतः

वहाँ प्रवीचार नहीं पाया जाता है।

भवनवासी देव

"भवनेषु वसन्तीत्येवं शीला भवनवासिन" जिनका स्वभाव भवनों में निवास करना है वे भवनवासी देव कहलाते हैं। "वलहिकूडविवज्जिया सुरणावासा भवणाणि णाम" वलभि और कूट से रहित देवों और मनुष्यों के आवास भवन कहलाते हैं। ये भवन अधोलोक में रत्नप्रभा पृथ्वी में स्थित हैं। रत्नप्रभा नामक प्रथमपृथ्वी के खरभाग, पंकभाग और अब्बहुल ऐसे तीन भाग हैं। उनमें से खरभाग में ७ प्रकार के भवनवासी तथा पंकभाग में एक प्रकार के भवनवासी देवों के भवन पाये जाते हैं इसके अतिरिक्त मध्यलोक में द्वीप समुद्रों पर स्थित अपने भवनपुर निवासस्थानों तथा तालाब, पर्वत, वृक्षादि पर बने आवासों में भी निवास करते हैं।

भवनवासीदेवों के भेद— भवनवासियों के असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार के भेद से दस भेद हैं।

शका— भवनवासी देवों के साथ कुमार शब्द क्यों प्रयुक्त है ?

समाधान—यद्यपि इन सब देवों का वय और स्वभाव अवस्थित है तो भी इनकी वेश-भूषा, शस्त्र, यान, वाहन और क्रीडा आदि कुमारों के समान होती है, अत सभी भवनवासियों में कुमार शब्द रूढ है।

असुरकुमार— "अहिंसाद्यनुष्ठानरतय सुरा नाम तद्विपरीता असुरा" (ध पु १३ पृ. ३८९) अर्थात् जिनकी अहिसादि अनुष्ठान में रति है वे सुर कहलाते हैं। इसके विपरीत असुर कहलाते हैं। असुरकुमार जति के देवों के भवन रत्नप्रभा नरक के पंकभाग में स्थित है। इनमें से अम्बावरीष जाति के सिकतानन, असिपत्र, महाबल, महाकाल, श्याम, शबल, रुद्र, अम्बरीष, वैतरणि आदि देव ही तीसरे नरक तक जाकर नारकियों में परस्पर क्रोध उत्पन्न करते हैं, अत इनका असुरकुमार नाम सार्थक है। इनके चमर और वैरोचन नामक दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्र क्रमश ३४ लाख और ३0 लाख भवनों में निवास करते हैं। इनका वर्ण कृष्ण तथा मुकुट चिन्ह चूडामणि है। चैत्यवृक्ष का नाम अश्वत्थ है। ये १000 वर्ष के बाद आहार ग्रहण करते हैं तथा १५ दिन के पश्चात् श्वासोच्छ्वास लेते हैं।

नागकुमार—"फणोपलक्षिता नागा" फण से उपलक्षित (भवनवासी देव) नाग कहलाते है। नागकुमार देवों के धरण और भूतानन्द नामक दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्र रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में क्रमश ४४ लाख और ४0 लाख भवनों के स्वामी हैं। इनका वर्ण श्याम तथा मुकुट चिन्ह सर्प है। इनके चैत्यवृक्ष का नाम सप्तपर्ण है। साढे बारह दिन में आहार एवं साढे बाईस मुहूर्त में श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं।

इसी प्रकार विद्युत्कुमार के हरिसिंह-हरिकान्त, सुपर्णकुमार के वेणुदेव-वेणुधारी, अग्निकुमार देवों के अग्निशिख-अग्निमाणव, स्तनितकुमारों के सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारों के जलकान्त और जलघोष, द्वीपकुमारों के पूर्णभद्र और वशिष्ट दिक्कुमारों के अमितगति और अमितवाहन तथा वातकुमार देवों के वैलम्ब, प्रभज्जन ये सर्वमिलकर असुरकुमारादि भवनवासियों के बीस इन्द्र हैं। इतने ही इनके प्रतीन्द्र होते हैं। उपर्युक्त २० इन्द्रों में पहले-पहले इन्द्र दक्षिणेन्द्र और दूसरे-दूसरे उत्तरेन्द्र कहलाते हैं. इसके अतिरिक्त सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिपद् (आभ्यन्तर, मध्यम और बाह्यरूप तीन प्रकार के) आत्मरक्ष, लोकपाल, आभियोग्य, अनीक आदि परिवार देव हैं। इनकी अग्रदेवियाँ और अन्य देवियाँ भी परिवार में पायी जाती हैं। तीनों की परिषदों में सहस्रों देव होते हैं। अनीकदेव भी सात प्रकार के होते हैं।

असुरकुमार एव नागकुमार के इन्द्रों के भवन, वर्ण, चैत्यवृक्ष, मुकुटचिह्न, आहार का अन्तराल एवं श्वासोच्छ्वास का अन्तरकाल ऊपर प्रतिपादन किया है। अन्य भी विद्युत्कुमारादि देवों के भवनों की सख्या, वर्ण, चैत्यवृक्ष और मुकुटचिह्न, आहार का अन्तराल एव श्वासोच्छ्वास आदि का कथन तिलोयपण्णत्ती, त्रिलोकसार आदि आगम ग्रन्थों से जानना चाहिए।

व्यन्तरदेव

जिनका नाना प्रकार के देशों में निवास है वे व्यन्तरदेव कहलाते हैं। ये व्यन्तरदेव भी भवन, भवनपुर और आवास रूप तीन प्रकार के निवासों में निवास करते हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में तथा पङ्कभाग में भवनों एव मध्यलोकस्थ द्वीप-समुद्रों पर बने भवनपुरों तथा द्रह-पर्वत वृक्षादि पर बने आवासों में निवास करने वाले ये व्यन्तरदेव नानाप्रकार की क्रीडाए करते हैं। महापुराण में एक प्रसङ्ग में १३वें अध्याय के ११वें श्लोक में कहा है—

"हे सार्व (भरतेश)। वट वृक्षों पर, छोटे-छोटे गड्ढों में, पहाडों के शिखर पर, वृक्षों की खोलों और पत्तों की झोंपडियों में रहने वाले तथा दिन-रात भ्रमण करने वाले हम लोगों को आप सब जगह जाने वाला समझिये।"

इससे ज्ञात होता है कि व्यन्तरदेव अधोलोक के खर और पङ्कभाग के अतिरिक्त मध्यलोक में यत्र-तत्र-सर्वत्र निवास करते हैं।

त्रिलोकसार में व्यन्तरदेवों के निवासक्षेत्र का वर्णन करते हुए कहा है कि चित्रा और वज्रपृथ्वी की मध्यसधि से मेरुपर्वत की ऊचाई पर्यन्त तथा तिर्यक् लोक के विस्तार प्रमाण लम्बे-चौडे क्षेत्र में व्यन्तरदेव निवास करते हैं।

व्यन्तरदेवों के भेद—"व्यन्तरा किन्नरकिम्पुरुपमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षस भूतपिशाचा" किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद व्यन्तर देवों के हैं। इन आठ भेदों में से राक्षस जाति के व्यन्तरदेव तो पङ्कभाग में तथा शेष ७ प्रकार के देव खरभाग

में निवास करते हैं। व्यन्तरदेवों के आठ भेदों में से प्रत्येक के दो-दो इन्द्र और दो-दो प्रतीन्द्र होने से ३२ भेद होते हैं। दो-दो इन्द्रों में पहले-पहले तो दक्षिणेन्द्र और दूसरे-दूसरे उत्तरेन्द्र कहलाते हैं। किन्नर जाति के व्यन्तर देवों के किम्पुरुष-किन्नर, किम्पुरुषों के सत्पुरुष-महापुरुष, महोरगदेवों में महाकाय-अतिकाय, गन्धर्वों के गीतरति-गीतरस, यक्षों के मणिभद्र-पूर्णभद्र, राक्षसों के भीम-महाभीम, भूतदेवों के स्वरूप-प्रतिरूप तथा पिशाचों के काल और महाकाल नाम के इन्द्र हैं।

किन्नर—"गीतरतय किन्नर" गान में रति करने वाले किन्नर कहलाते हैं। किम्पुरुष, किन्नर, हृदयङ्गम, रूपमाली, किन्नर-किन्नर , अनिन्दित, मनोरम, किन्नरोत्तम, रतिप्रिय और ज्येष्ठ ये १० प्रकार के किन्नरदेव हैं।

किम्पुरुष—"प्रायेण मैथुनप्रिया किम्पुरुषा" प्राय मैथुन में रुचि रखने वाले होने से किम्पुरुष कहलाते हैं। पुरुष, पुरुषोत्तम, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषप्रभ, अतिपुरुष, पुरु, पुरुदेव, मरुप्रभु और यशस्वान् इस प्रकार ये किम्पुरुष व्यन्तरों के १० भेद हैं।

महोरग—"सर्पाकारेण विकरण प्रिया महोरगा नाम" सर्पाकाररूप से विक्रिया करना जिन्हें प्रिय है वे महोरग कहलाते हैं। इनके भुजग, भुजगशाली, महातनु, अतिकाय, स्कन्धशाली, मनोहर, अशनिजन, महेश्वर और प्रियदर्शन ये १० भेद हैं।

गन्धर्व—"इद्रादीना गायका गन्धर्वा" इन्द्रादिकों के गायकों को गन्धर्व कहते हैं। इनके हाहा, हूहू, नारद, तुम्बर, वासव, कदमाब, महास्वर गीतरति, गीतरस और वज्रवान ये १० भेद हैं।

यक्ष—"लोभभूयिष्ठा भाण्डागारे नियुक्ता यक्षा नाम" जिनके लोभ की मात्रा अधिक होती है और भाण्डागार में नियुक्त किये जाते हैं वे यक्ष कहलाते हैं। माणिभद्र, पूर्णभद्र, शैलभद्र, मनोभद्र, भद्रक, सुभद्र, सर्वभद्र, मानुष, धनपाल, स्वरूपयक्ष, यक्षोत्तम और मनोहरण ये १२ भेद यक्षजाति के देवों के हैं।

राक्षस—"भीषणरूपविकरणप्रिया राक्षसा नाम" जिन्हे भीषणरूप की विक्रिया करना प्रिय है वे राक्षस कहलाते हैं। भीम, महाभीम, विनायक, उदक, राक्षस, राक्षस राक्षस और ब्रह्म राक्षस ये सात भेद राक्षसों के हैं।

भूत—स्वरूप, प्रतिरूप, भूतोत्तम, प्रतिभूत, महाभूत, प्रतिच्छन्न और आकाशभूत ये सात भेद इनके हैं। ये व्यन्तरदेव अत्यन्त क्रीडाप्रिय होते हैं। अन्य मनुष्यादि के शरीर में प्रवेश करके अथवा बिना प्रवेश के ही नाना प्रकार की क्रीडाऐं करते हैं। भगवती आराधना में सल्लेखना को प्राप्त मुनि के मृतशरीर सम्बन्धी छेदन क्रिया का यही प्रयोजन बताया है कि "मृतशरीर में क्रीडा करने के स्वभाववाला (भूत या पिशाच) उसमें प्रवेश करेगा, उठेगा, भागेगा, क्रीडा करेगा।" इससे सिद्ध होता है कि ये देव शरीर में प्रवेश करते हैं।

पिशाच—कुष्माण्ड, यक्ष, राक्षस, सम्मोह, तारक, अशुचिनामक काल, महाकाल, शुचि, सतालक,

देह, महादेह, तूष्णीक और प्रवचन ये १४ भेद पिशाचों के होते हैं।

श्री, आदि देवियाँ—हिंमवान् आदि छह कुलाचलों के पद्मादि सरोवरों के मुख्यकमलों पर निवास करने वाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी ये छह देवियाँ हैं। ये अपने परिवार देवों सहित रहती हैं। सामानिक, पारिषद्, त्रायस्त्रिश, आत्मरक्ष, अनीक आदि देव इनके परिवार में हैं। ये उन सरोवरों में स्थित अन्य कमलों पर निवास करते हैं।

इनके अतिरिक्त मध्यकाल में नाना स्थानों के अधिष्ठाता देवगण तथा भगवान की माता की सेवा में निरत दिक्कन्याएँ आदि अनेक व्यन्तर जाति के देव हैं, उनका सविस्तार कथन तिलोयपण्णत्ति एवं त्रिलोकसार ग्रन्थ से जानना चाहिए। जिनागम में इनके कार्यो का वर्णन भी मिलता है।

आहार एवं श्वासोच्छ्वास—पल्य प्रमाण आयुवाले व्यन्तरदेवों का ५ दिन के अन्तराल से आहार तथा ५ मुहूर्त के अन्तर से श्वासोच्छ्वास क्रिया होती है। १0000 वर्ष की आयु वाले देवों के दो दिन के बाद आहार एव ७ उच्छ्वास काल के पश्चात् श्वासोच्छ्वास ग्रहण होता है।

व्यन्तरेन्द्रों का परिवार—व्यन्तरवासी देवों में प्रत्येक इन्द्र के परिवार में एक प्रतीन्द्र, सामानिकदेव ४000, आत्मरक्ष १६000, पारिषद् ३0000 तथा सात प्रकार के अनीक २४८९२000 हैं। प्रकीर्णक असंख्यात तथा आभियोग्य व किल्विष देव भी पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त अग्रमहिषी आदि भी पायी जाती हैं।

व्यन्तरेन्द्रों के शरीर वर्ण एव चैत्यवृक्ष—किन्नर जाति के देव प्रियगुवर्ण के शरीर वाले है। तथा इनका चैत्यवृक्ष अशोक है। किम्पुरूषों का शरीर सुवर्ण के समान एव चैत्यवृक्ष चम्पक है। महोरग देवों का शरीर श्याम तथा चैत्यवृक्ष नागद्रुम है। गन्धर्व देवों के शरीर का वर्ण सुवर्ण के समान तथा इनका चैत्यवृक्ष न्यग्रोध है। राक्षस देव भी श्यामवर्ण वाले होते है तथा इनका चैत्यवृक्ष कण्टक वृक्ष है। भूतजाति के देव श्याम वर्ण के हैं एव चैत्यवृक्ष तुलसी है। पिशाच जाति के देव कज्जल के समान वर्ण वाले हैं, इनका चैत्यवृक्ष कदम्ब है। विस्तृत जानकारी हेतू अध्येताओं को आगम ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

ज्योतिषीदेव

"ज्योतिस्स्वभावत्वादेषां पञ्चानामपि ज्योतिष्का इति सामान्यसज्ञा अन्वर्था" ये पांच प्रकार के देव ज्योतिर्मय हैं। इसलिए 'ज्योतिषी' यह इनकी सामान्य संज्ञा है। "सूर्यादयस्तद्विशेषसज्ञा नामकर्मोदयसंज्ञा नामकर्मोदयप्रत्यया।" सूर्यादि सज्ञाए विशेष नामकर्म के उदय से हैं।

ज्योतिषी देवों के भेद—"ज्योतिष्का सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्र प्रकीर्णतारकाश्च" (त. सू. अ. ४ सू. १२)

सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये ज्योतिष के पांच भेद हैं। इनमें सूर्य प्रतीन्द्र और चन्द्र इन्द्र हैं। इस प्रकार मध्यलोक में जितने भी चन्द्र हैं वे तो इन्द्र और उतने ही सूर्य प्रतीन्द्र जानना। इसके अतिरिक्त ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारा भी चन्द्र के परिवार देव हैं। व्यन्तरदेवों के समान ज्योतिषी देवों के भी इन्द्र, सामानिक पारिषद, आत्मरक्ष, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विष ये ८ भेद पाये जाते हैं। चन्द्रमा, प्रभकरा, सुसीमा और अर्चिमालिनी ये चन्द्र की तथा द्युति, श्रुति, प्रभकरा, सूर्यप्रभा और अर्चिमालिनी ये सूर्य की अग्रदेवियाँ हैं।

ज्योतिषी देवों का परिवार, आहार, उत्सेध, किरणें आदि—प्रत्येक चन्द्र के परिवार में एक सूर्य, बुध-शुक्र-वृहस्पति-मंगल-शनि-काल लोहित-राहु-केतु आदि ८८ ग्रह, कृतिका को आदि लेकर भरिणी पर्यन्त अभिजित् सहित २८ नक्षत्र तथा ६६९७५ कोडाकोडी तारे होते हैं। ज्योतिषी देवों के आहार एव श्वासोच्छ्वास आदि का कथन भवनवासियों के समान हैं। विशेषरूप से ज्योतिषी देवों की ऊचाई का प्रमाण सात धनुप एव इनके अवधिज्ञान का विषय भवनवासी देवों से असंख्यातगुणा जानना चाहिए। चन्द्र और सूर्य की १२-१२ हजार किरणें हैं। इनमें से चन्द्र की किरणें शीतल और सूर्य की किरणें तीक्ष्ण हैं। शुक्र ग्रह की २५00 किरणें अतिउज्जवल हैं। शेष ज्योतिषी देवों का प्रकाश अत्यन्त मन्द है। २८ नक्षत्रों के अधिपति देवता, उनका आकार तथा प्रत्येक नक्षत्रसम्बन्धी मूलतारों की तथा उनके परिवार तारों की सख्या आदि का कथन विस्तार भय से यहाँ नहीं किया।

ज्योतिपीदेवों का निवास—सम्पूर्ण ज्योतिषी देव मध्यलोक में निवास करते हैं। किस द्वीप और किस समुद्र में कितने ज्योतिषी देव हैं इसका सविस्तार कथन जिनागम में पाया जाता है। मध्यलोक में भी १ राजू लम्बे और १ राजू चौडे सम्पूर्ण मध्यलोक की चित्रा पृथ्वी से ७९0 योजन ऊपर जाकर ज्योतिष लोक प्रारम्भ होता है और ९00 योजन की ऊचाई तक ११0 योजन की मोटाई में ज्योतिषी देवों का निवास तथा चार (सचार) क्षेत्र है। ७९0 योजन से नीचे और ९00 योजन से ऊपर इन ज्योतिषी देवों का निवास एव सचार नहीं है। इसमें भी मेरु के चारों ओर १३0३२९२२५0१५ घन योजन प्रमाण मध्यलोक का क्षेत्र ज्योतिषी देवों के अगम्य है, क्योंकि मेरु से ११२१ योजन दूर रहकर ही वे सचार करते हैं।

चित्रा पृथ्वी से ऊपर ७९0 योजन पर तारों के विमान, उससे १0 योजनऊपर (८00 यो. पर) सूर्य विमान, उससे ८0 योजन ऊपर (८८0 यो पर) चन्द्रविमान, उससे ४ योजन ऊपर (८८४ यो पर) नक्षत्र विमान, उससे ४ योजन ऊपर (८८८ यो पर) बुध विमान, उससे ३ योजन ऊपर ८९१ यो पर) शुक्र, उससे ३ योजन ऊपर जाकर (८९४ यो पर) गुरुविमान, उससे ३ योजन ऊपर (८९७ यो पर) मगलविमान, उससे भी ३ योजन ऊपर (९00 यो पर) शनिविमान स्थित है। राहु और केतु के विमान चन्द्र और सूर्य विमानों के साथ ही स्थित हैं। राहु-केतु विमानों के ध्वजदण्ड के चार अंगुल ऊपर जाकर क्रम से चन्द्र और सूर्य के विमान हैं।

ज्योतिषी देवों में चर-अचर विभाग—अढाई द्वीप (जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और अर्द्ध पुष्करवरद्वीप) एव लवण समुद्र, कालोदक समुद्र में अर्थात् ४५ लाख योजन विस्तार वाले मनुष्य लोक में पांचों प्रकार के ज्योतिषी देव निरन्तर गमन करते हैं अन्यत्र नहीं। जम्बूद्वीपस्थ समस्त ज्योतिषी देव मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते हैं, किन्तु धातकीखण्ड और पुष्करार्ध द्वीप में आधे ज्योतिषी देव मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। मनुष्यलोक में कुल १३२ चन्द्र, १३२ सूर्य, ११६१६ ग्रह, ३६९६ नक्षत्र एवं ८८४०७०० कोडा कोडी तारे अपनी ज्योतिर्मय किरणों से आलोक विकीर्ण करते हैं।

मानुषोत्तर पर्वत से आगे स्वयंभूरमण समुद्र-पर्वत पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्रों में अचररूप से स्थित ज्योतिषी देवों के समूह ज्योतिर्मान हैं। मानुषोत्तर पर्वत के बाहर ५०००० योजन छोडकर तथा अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र की अन्तिमवेदी से ५०००० योजन पहले तक अचर ज्योतिषी देवों का अपने-अपने वलयों में अवस्थान है। मानुपोत्तर पर्वत के बाहर ५०००० यो छोडकर प्रथमवलय स्थित है, उससे आगे १००००० - १००००० लाख योजन की दूरी पर वलय स्थित हैं, यह क्रम अन्तिम वलय तक जानना चाहिए। प्रत्येक वलय में ४-४ चन्द्र और ४-४ सूर्य की वृद्धि होती गयी है। प्रत्येक द्वीप के प्रथम वलय में पूर्ववर्ती द्वीप के प्रथमवलय की अपेक्षा दूने-दूने चन्द्र और सूर्य हैं। इस प्रकार असंख्यात द्वीप-समुद्र वाला यह मध्यलोक चर-अचर ज्योतिषी देवों से नित्य ही आलोकित है।

वैमानिकदेव

पूर्वोक्त चतुर्निकाय के देवों में से पूर्वोक्त भवनत्रिक (भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी) देवों का अवस्थान तो अधोलोक और मध्यलोक में है। शेप वैमानिक निकाय के देवों का अवस्थान ऊर्ध्वलोक में है। चूँकि ऊर्ध्वलोक में स्थित विमान ही इनके निवास हैं, अत ये वैमानिक देव कहलाते हैं।

शका—विमान किसे कहते हैं?

समाधान—"विशेषेणात्मस्थान सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि" जो विशेषता से अपने में रहने वाले जीवों को पुण्यात्मा मानते हैं वे विमान कहलाते हैं। अथवा "वलहि-कूड समण्णिदा पासादा विमाणाणि" अर्थात् बलभि और कूट से युक्त प्रासाद विमान कहलाते हैं। (ध पु १४, पृ. ४९५) इन विमानों के इन्द्रक, श्रेणिबद्ध और पुष्पप्रकीर्णक के भेद से तीन प्रकार हैं।

देवों की विक्रिया और स्वभाव रूप दो प्रकार के विमान होते हैं। इनमें से विक्रिया से होने वाले यानरूप विमान विनश्वर और स्वभाव से उत्पन्न हुए परम रम्य विमान नित्य व अविनश्वर होते हैं। इस प्रकार के विमानों में जो निवास करते हैं वे वैमानिकदेव हैं। कहा भी है—"विमानेपुभवा वैमानिका"

वैमानिकदेव दो प्रकार के होते हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। जो कल्पों में उत्पन्न होते हैं वे कल्पोपपन्न (कल्पवासी) तथा कल्पों से परे कल्पातीत कहलाते हैं।

शंका—कल्प किसे कहते हैं?

समाधान—जिनमें इन्द्रादि दस प्रकार कल्प किये जाते हैं वे कल्प कहलाते हैं। इस प्रकार इन्द्रादि की कल्पना ही कल्पसंज्ञा का कारण है। यद्यपि भवनवासी आदि देवों में इन्द्रादि की कल्पना है, तथापि रूढि से वैमानिक देवों में ही कल्प व्यवहार किया जाता है। सौधर्म स्वर्ग से अच्युत स्वर्गतक ही देवों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विष ये दस प्रकार पाये जाते हैं, अत वहीं तक कल्पसंज्ञा है। इससे आगे नवग्रैवेयक, नवानुदिश और पांच अनुत्तर विमानों में ये दस प्रकार नहीं हैं, क्योंकि वहाँ पाये जाने वाले सभी देव अहमिन्द्र कहलाते हैं।

इन्द्र—"इन्दन्तीति इन्द्र" जो आज्ञा ऐश्वर्यवाला है वह इन्द्र है। "इदरायसरिच्छा" देवों में इन्द्र राजा के समान होता है। "अन्यदेवासाधारणाणिमादिगुणयोगादिन्तीति इन्द्रा" जो अन्य देवों में असाधारण अणिमादि गुणों के सम्बन्ध से शोभते हैं वे इन्द्र कहलाते हैं (स सि अ ४ सू.४) प्रतीन्द्र युवराज के समान होते हैं। इन्द्र के प्रतीन्द्र चारों दिशाओं में जानना चाहिए और वे सब तुल्य बल, रूप, विक्रम एव प्रताप से युक्त होते हैं।

सामानिक—"समाने स्थाने भवा सामानिका। आज्ञैश्वर्यवर्जित यत्स्थानायुर्वीर्य परिवार भोगोपभोगादि तत्समान, तस्मिन् समाने भवा सामानिका महत्तरा पितृगुरूपाध्यायतुल्या" समान स्थान या पद में जो होते हैं वे सामानिक कहलाते हैं। आज्ञा और ऐश्वर्य के अतिरिक्त जो आयु, वीर्य, परिवार. भोग और उपभोग हैं वे समान हैं उन समानों में जो होते हैं वे सामानिक कहलाते हैं। ये पिता, गुरू और उपाध्याय के समान सबसे बडा है। इनका सत्कार आदि इन्द्रों के समान ही होता है।

त्रायस्त्रिश—"मन्त्रिपुरोहितस्थानीयास्त्रायस्त्रिशा। त्रयस्त्रिंशदेव त्रायस्त्रिशा।" जो मन्त्रि और पुरोहित के समान हैं वे त्रायस्त्रिश कहलाते हैं। ये तेतीस ही होते हैं, अत त्रायस्त्रिश कहलाते हैं। अथवा "पुत्तणिहा तेत्तीसत्तिदसा" त्रायस्त्रिंशदेव पुत्र के समान होते हैं। (त्रि. सा गा. २२४)

पारिषद्—"वयस्य पीठमर्दसदृशा परिषदि भवा पारिषदा" जो सभा में मित्र और प्रेमीजनों के समान होते हैं वे पारिषद् कहलाते हैं। राजा की बाह्य, मध्य और अभ्यन्तर समिति के समान देवों में भी तीन प्रकार की परिषद् होती है, इन परिषदों में बैठने योग्य देव क्रमश बाह्य, मध्यम और अभ्यन्तर पारिषद् कहलाते हैं। समिता, चन्दा व जतु ये क्रमश बाह्य-मध्यम और अभ्यन्तर परिषद् के नाम हैं। (त्रि सा.गा २२९)।

बाह्य परिषद् के देव अत्यन्तस्थूल, निष्ठुर, क्रोधी, अविवाहित और शस्त्रों से उद्युक्त होते हैं। वे वहाँ 'अपसर' अर्थात् दूर हटो की घोषणा करते हैं। बेतरूपी लता को हाथ में ग्रहण

करने वाले, आरूढ वेष के धारक तथा कंचुकी की पोषाक पहने हुए मध्यम पारिषद् बहुधा अन्तपुर में महत्तर होते हैं। फर्री, किराती, कुब्जा, कर्मान्तिका, दासी और चेटीनिका समुदाय (आभ्यन्तर परिषद्) नाना प्रकार के वेष में अन्तपुर के अभियोग को करता है।

आत्मरक्ष—अङ्गरक्षक के समान जो देव होते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं।

लोकपाल—"अर्थचरा रक्षकसमाना लोकपाला। लोकं पालयन्तीति लोकपाला " जो रक्षक के समान अर्थचर हैं वे लोकपाल हैं, जो लोक का पालन करते हैं वे लोकपाल कहलाते हैं। प्रत्येक इन्द्र के पूर्वादि चारों दिशाओं के रक्षक क्रम से सोम, यम, वरुण और धनद (कुबेर) नामक चार-चार लोकपाल होते हैं। इन्हें त्रिलोकसारमें दिगिन्द्र भी कहा है। ये दिग्पाल (लोकपाल) नियम से देव पर्याय से च्युत होकर मनुष्यपर्याय में आकर उसी भव से निर्वाण प्राप्त करते हैं, अत इन्हें एकभवावतारी कहते हैं।

अनीक—"पदात्यादीनि सप्त अनीकानि दण्डस्थानीयानी" सेना के समान सात प्रकार के पदाति आदि अनीक कहलाते हैं। जैसे राजा के हस्ति आदि सेना है वैसे देवों में हस्ति आदि आकाररूप अपने नियोग के अनुसार विक्रिया करते हैं।

प्रकीर्णक—"प्रकीर्णका पौरजनपदकल्पा" जो गाव और शहर में रहने वालों के समान हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। ये प्रकीर्णक देव प्रजा के सदृश होते हैं।

आभियोग्य—"आभियोग्या दास समाना वाहनादिकर्माणि प्रवृत्ता "जो दास के समान वाहनादि कर्म में प्रवृत्त होते हैं वे आभियोग्य देव कहलाते है।

किल्विष—"अन्तेवासिस्थानीया किल्विषिका। किल्विष पाप येपामस्तीति किल्विपिका" जो सीमा के पास रहने वालों के समान हैं वे किल्विप कहलाते हैं। किल्विप पाप को कहते हैं, इसकी जिनके बहुलता होती है वे किल्विप कहलाते हैं। किल्विप देव चाण्डाल की उपमा का धारण करने वाले हैं।

श्रुतज्ञान में, केवलियों में, धर्म में तथा आचार्य, उपाध्याय, साधु में दोषारोपण करने वाला, उनकी दिखावटी भक्ति करने वाला मायावी तथा अवर्णवादी कहलाता है। ऐसे अशुभ विचारों से जीव किल्विष जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं। किल्विष देवों का इन्द्र की सभा में प्रवेश निषिद्ध होता है।

कल्पवासी देवों के इन्द्र

सौधर्म-ईशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आणत-प्राणत और आरण-अच्युत रूप से आठ युगलों में स्वर्ग १६ हैं। इन १६ स्वर्गों में नीचे के और ऊपर के चार-चार कल्पों में अर्थात् पहले से चौथे तक और १३ वें से १६ वें स्वर्ग

तक प्रत्येक कल्प का एक-एक इन्द्र है, अत आठ कल्पों के आठ इन्द्र हुए एवं मध्यवर्ती चार युगलों के अर्थात् ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर का एक, लान्तव कापिष्ठ का एक, शुक्र-महाशुक्र का एक, शतार-सहस्रार का एक इस प्रकार सब मिलकर १६ कल्पों के १२ इन्द्र हैं। यथा—सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तव, शुक्र, शतार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।

कल्पवासी देवों में दक्षिणेन्द्र व उत्तरेन्द्र

सौधर्म-ईशान स्वर्ग युगल में सौधर्म इन्द्र दक्षिणेन्द्र तथा ईशान इन्द्र उत्तरेन्द्र है। सानत्कुमार व माहेन्द्र कल्पयुगल में सानत्कुमार दक्षिणेन्द्र और महेन्द्र उत्तरेन्द्र है। ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर युगल में ब्रह्म दक्षिणेन्द्र है, यहाँ उत्तरेन्द्र नहीं है। लान्तव कापिष्ठ युगल में भी लान्तव नामक दक्षिणेन्द्र ही है। उत्तरेन्द्र नहीं है। शुक्र-महाशुक्र युगल में दक्षिणेन्द्र नहीं है यहाँ महाशुक्र नामक उत्तरेन्द्र है। इसी प्रकार शतार-सहस्रार स्वर्ग युगल में भी दक्षिणेन्द्र नहीं है, सहस्रार में उत्तरेन्द्र ही है। आनन्त-प्राणत युगल में आनत दक्षिणेन्द्र तथा प्राणत उत्तरेन्द्र है तथा आरण-अच्युत युगल में आरण दक्षिणेन्द्र और अच्युत उत्तरेन्द्र है। (ति प अ ८ गा ३४९-३५१)

वैमानिक देवों का आहार व श्वासोच्छ्वास

जदि सागरपमाऊ तदि वाससहस्सियादु आहारो।
पक्खेहि दु उस्सासो सागरसयेहि चेव भावे॥११४५॥ (मूलाराधना)

अर्थात्—जिस देव की जितने सागर की आयु है उतने हजार वर्ष के पश्चात् देवों का आहार तथा उतने ही पक्ष बीतने पर श्वासोच्छ्वास होता है।

यहाँ विशेष इतना जानना कि पल्यप्रमाण आयुवाले देवों का आहार ५ दिन में एवं श्वासोच्छ्वास ५ मुहूर्त में होता है। प्रतीन्द्र, सामानिक और त्रायस्त्रिंश देवों के आहार के काल का प्रमाण अपने-अपने इन्द्रों के सदृश जानना। सौधर्म इन्द्र के दिक्पालों में से सोम व यम तथा उनके सामानिकों में से प्रत्येक के भोजन का अवसर साढे बारह दिन के अन्तर से है।

लौकान्तिक देव

"एत्य यस्मिन् लीयन्त इति आलय आवास। ब्रह्मलोक आलयो येषा ते ब्रह्मलोकालया लौकान्तिका देवा वेदितव्या।" आकार जिसमें लय को प्राप्त होते हैं, वे आलय या आवास कहलाते हैं। ब्रह्मलोक जिनका घर है वे ब्रह्मलोक में रहने वाले लौकान्तिक देव जानने चाहिए।

लौकान्तिक शब्द में जो लोकशब्द है उससे ब्रह्मलोक ग्रहण किया, ब्रह्मलोक का अन्त अर्थात् प्रान्तभाग लोकान्त कहलाता है, वहॉ-वहॉ जो होते हैं लौकान्तिक कहलाते हैं। अथवा जन्म,

जरा और मरण से व्याप्त संसार लोक कहलाता है और उसका अन्त लोकान्त कहलाता है। इस प्रकार ससार के अन्त में जो हैं वे लौकान्तिक हैं। ये सभी लौकान्तिकदेव स्वतन्त्र हैं, क्योंकि इनमें हीनाधिकता का अभाव है। विषय-रीति से रहित होने से ये देवऋषि हैं। अन्य देव इनकी चर्चा करते हैं, १४ पूर्वों के ज्ञाता है। सतत ज्ञान भावना में निरत, ससार से उद्विग्न, अनित्यादि भावनाओं के भाने वाले, अतिविशुद्ध, सम्यग्दृष्टि होते हैं तथा तीर्थंकरों के अभिनिष्क्रमण (तपकल्याणक) के समय आते हैं।

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ प्रकार के लौकान्तिक है तथा इनके मध्य में दो-दो लौकान्तिक देवगण और भी पाये जाते हैं। लौकान्तिक देव एक भवावतारी होते हैं।

कल्पातीत अहमिन्द्र

सोलहवें अच्युत स्वर्ग से कल्पातीत विमानों में निवास करने वाले सभी देव अहमिन्द्र कहलाते हैं। नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पच अनुत्तर विमानों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिश आदि १० प्रकार के भेद नहीं होते, वे सभी अहमिन्द्र होते हैं। न तो उनमें परस्पर असूया है और न मात्सर्य ही पाया जाता है। उन अहमिन्द्रों में पर की निन्दा और आत्मप्रशसा भी नहीं पायी जाती है। इनमें हीनाधिकता का कोई कारण नहीं होने से ये सब अहमिन्द्र समान होते हैं। सभी अहमिन्द्र अपनी परम विभूति के साथ सुख का अनुभव करते हैं।

अदेव-कुदेव

जिनके देवगति नामकर्म का उदय नहीं है और जिनका कोई आकार विशेष भी नहीं है उन्हें अदेव कहते हैं। बड, पीपल, अग्नि, जल, सिन्दूर लगा कोई पत्थर आदि अदेव हैं। इन्हें देव मानकर पूजना उचित नही है, घोर मिथ्यात्व का कारण है। जिनागम में सम्यग्दर्शन के प्रकरण में तीन मूढताओं का वर्णन करते हुए इसका प्रतिपादन हुआ है।

जो देवगति नामकर्म के उदय से युक्त तथा आकार विशेष को धारण करने वाले तो हों किन्तु गृहीत मिथ्यात्व से युक्त हों ऐसे देव 'कुदेव' कहलाते हैं। जैसे पीर, कीर, पैगम्बर आदि। आचार्य समन्तभद्र देव ने देवमूढता का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए बताया है कि वर की इच्छा से आशा युक्त प्राणी यदि राग-द्वेष से मलिन देवताओं की उपासना करते हैं तो वह देवमूढता है। देवमूढता के कथन में रागद्वेष से मलिन उन सभी देवताओं की उपासना का निषेध हो जाता है जो आप्ताभास हैं अर्थात् जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी नहीं है अथवा वीतरागता के अनुगामी (रत्नत्रयाराधक साधु) नहीं हैं। पूज्यता गुणों से आती है और उपर्युक्त तीन गुणों की ही उपासना की जाती है।

छहढालाकार प. दौलतराम जी ने तो इस विषय को थोडा विस्तार देते हुए स्पष्ट किया है—

"जो राग-द्वेष मल करि मलीन, वनिता गदादि जुत चिह्न चीन।
ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, सठ करत न तिन भवभ्रमण छेव॥"

अर्थात् जो राग-द्वेष से मलिन हैं तथा स्त्री गदादि चिह्न से युक्त हैं वे कुदेव हैं। गदादि से युक्त और किसी चिह्न से रहित (अदेव) ये सभी कुदेव हैं, इनकी सेवा (उपासना) यदि कोई मूढ प्राणी करते हैं तो उनके संसार परिभ्रमण का नाश नहीं होता है।

वस्तु स्वभाव की निरपेक्षता और जीव-जगत् सम्बन्ध

❑ *पं. ज्ञानचंद बिल्टीवाला, जयपुर*

जैन दर्शन बहुत्ववादी है। वह अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश और असख्य कालाणुओं का पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानता है। बाल गोपाल के ज्ञान में ये प्रकट पृथक् ग्रहण हो रहे हैं। पर, दार्शनिक जगत् की एक बडी समस्या यह है कि ये पृथक् अस्तित्वधारी द्रव्य किस प्रकार एक व्यवस्थित विश्व को निष्पन्न कर रहे हैं? इनमें परस्पर सम्बन्ध, पृथक् होते, कैसे बन रहे हैं? इस समस्या के हल हेतु कोई दर्शन नाना पदार्थों के प्रकट पृथक् अस्तित्व में एक ब्रह्म की सत्ता को व्याप्त रूप से स्वीकार करता है, तो कोई इनमें व्यवस्था लाने हेतु एक ईश्वर को स्वीकार करता है।

जैन दर्शन अनेकान्तिक है। उसे पदार्थ-पदार्थ के स्वतन्त्र अस्तित्व की भांति उनके परस्पर सम्बन्ध भी इष्ट हैं। वह इन दोनों बातों में विरोध नहीं देखता, वरन् एक के बिना दूसरे को अर्थहीन, एकान्त स्वीकार करता है। पदार्थों के पृथक्, स्वतन्त्र अस्तित्व की व उनके द्रव्य-गुणों (स्वभाव) की निरपेक्षता घोषित कर रक्षा करता है, तथा उनके गुणों के परिणमन में स्व के अतिरिक्त पर-प्रत्यय या निमित्त को भी स्वीकार कर परस्पर सम्बन्धों को मान्य करता है और इस प्रकार विश्व-व्यवस्था को बुद्धिगम्य बनाता है। इस प्रकार समस्त ही (शुद्ध तथा अशुद्ध) जड-चेतन पदार्थों के परिणाम विशेषों में पर-प्रत्यय की स्वीकृति उसके अनुसार समस्या का समाधान है।

जहाँ तक वस्तु के द्रव्य-गुण रूप स्वभाव का प्रश्न है, जैन दर्शन उसे अन्यकृत स्वीकार नहीं करता, उसमें अन्य का अनुग्रह, उपकार स्वीकार नहीं करता, वह वस्तु में पर-निरपेक्ष, स्वरूपत है। परन्तु जहा तक गुणों के कार्य करने का प्रश्न है वह सर्वथा पर-निरपेक्ष नहीं है। द्रव्य के षट् गुणी हानि-वृद्धि रूप अगुरुलघु गुण द्वारा वे पर-निरपेक्ष ही अपनी स्वभाव पर्याय बनाये रखते हैं, पर उनकी पूर्वोत्तर पर्यायों मे तारतम्य (अन्तर) शुद्ध अपने से न होकर पर-प्रत्यय के निमित्त, आलम्बन से होता है। पर-प्रत्यय से इस प्रकार बनने वाली गुणात्मक विभाव-पर्यायें शुद्ध द्रव्यों की शुद्ध ही होती हैं, अशुद्ध द्रव्यों की अशुद्ध तथा शुद्धि की ओर उन्मुख की विशुद्ध।[१]

उदाहरणार्थ, ज्ञान के अवस्था विशेष से अवस्थान्तर होने में, एक ज्ञेयाकार से अन्य ज्ञेयाकार होने में ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ दोनों कारण पडते हैं। 'पदार्थ का ज्ञान' के दो प्रत्यय हैं—पदार्थ

और ज्ञान। पदार्थ के अभाव में पदार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं है। इसी प्रकार धर्म द्रव्य में जीव पुद्गलों को गति में सहायक होना गुण तो पर-निरपेक्ष है, पर वह विशेष रूप में कार्य करे तो किसी जीव या पुद्गल को गतिमान होना आवश्यक है। पुन, पानी का शीतल रहना तो उसकी स्वभाव पर्याय है, पर वह विशेष ठण्डा हो जम जाता है अथवा उष्ण हो जाता है तो इसमें कारणान्तर (बर्फ या आग की सन्निकटता) आवश्यक है।

संसारी दशा में जीव पौद्गलिक देह धारण किये असमानजातीय द्रव्य पर्याय में जी रहा है। उसका प्रवीचार–देह प्रवीचार उसके सुख के प्रत्येक सवेदन में देह की वर्गणाओं का स्निग्ध परिणमन शामिल है तथा देह का हर रूक्ष रुग्ण परिणमन जीव के सुख सवेदन को मलिन करता है। इसीलिए तो महान वीतरागी निर्ग्रन्थ आचार्य तक परमात्मा से 'आरोग्य' की प्रार्थना करते हैं।

ससारी जीव पुद्गल देह धारण किये चारो ओर के वातावरण से निरन्तर जुडा हुआ है। दूर के ग्रह-नक्षत्र भी उसे प्रभावित करते हैं। देह धारण किये रहने के निमित्त वह राज्य, समाज, परिवार आदि अनेक सस्थाओ से जुड़ा होता है। पौदगलिक देह-मुक्त सिद्ध परमात्मा बन जाने पर उसकी असमानजातीय द्रव्य-पर्याय नहीं रहती है, इसके आत्मप्रदेशों पर से कर्म-नोकर्म का पुद्गल लेप हट जाता है और वह ज्ञानदेही, अदेह, परवीचारी हो जाता है।[२] तब पौद्गलिक देह से उत्पन्न होने वाले भूख, प्यास, जन्म-मरण, सुख-दुख, भय-चिन्ता, राग-द्वेष आदि अनेकविध सम्बन्धों से तो जीव मुक्त हो जाता है, पर ज्ञान-देह के नाते जगत के सम्पूर्ण ही पदार्थों से स्वभावभृत होने से सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो जाते हैं।

जीव जगत से सम्बन्ध अनिवार्य, स्वभावभूत है। ससारी जीव देह के टेढे-मेढे कुरूप सम्बन्ध का जाला-बुनकर ज्ञान के स्वस्थ सुन्दर सम्बन्धों को आधे-अधूरे व शिथिल कर लेता है। यह उसकी बधन दशा है जो उसे महान पीड़ा-दायक है। पुद्गल-देह के कृत्रिम सम्बन्धों को उन्मूलित कर, स्वस्थ ज्ञान सम्बन्धों को पुन स्थापित करना ही जीव की मुक्ति है। मुक्ति, जगत से सम्बन्ध-विच्छेद का नाम नहीं है। जैनाचार्यों के अनुसार इस प्रकार की मुक्ति मिथ्या, भ्रम, असत् कल्पना है। मुक्ति जगत से सम्बन्ध सुधार का नाम है, राग के स्थान पर ज्ञान के सम्बन्धों की इसमें पुन संस्थापना होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र प्रवचनसार के परिशिष्ट में जीव के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप अस्तित्व को समझाने हेतू धनुष और प्रत्यञ्चा के बीच सधान दशा में स्थित लोहमय बाण का उदाहरण देते हैं। बाण का द्रव्य लोह रूप है, जीव का द्रव्य उसके असख्यात प्रदेश हैं, मनुष्य और प्रत्यंचा के बीच स्थित बाण की भाति जीव शरीर और बाह्य परिस्थिति विशेष में स्थित है, यह उसका क्षेत्र-काल है, बाण की भाति किसी लक्ष्य की ओर वह उन्मुख है– कुछ जानने, करने, वेधने में लगा है, यह उसका भाव है। जानने, करने और वेधने, तीनों ही कार्य स्व-पर प्रत्ययपूर्वक

वह कर रहा है। जीव के अस्तित्व की यह परिभाषा सभी जीवों पर संसारी, मुक्त, मोक्ष-मार्गी, रागी, वीतरागी पर—समान रूप से लागू होती है भूमिका और अभिप्राय के अन्तर अपने-अपने हैं। मति के स्तर पर मिथ्यादर्शन-सम्यग्दर्शन शुभ-अशुभ लेश्याओं के भेद से व्यक्ति-व्यक्ति के लिए बाह्य जगत का प्रतिभासन भिन्न-भिन्न होता है, श्रुत के लोक में तो बाह्य जगत और स्व से उसके सम्बन्ध बहुत ही भिन्न अपने-अपने हैं। पर व्यवहार में व्यक्ति कोई न कोई ज्ञेय जगत को लेकर ही जी रहा है।

आचार्य सोमदेव सूरि 'योगमार्ग' ग्रन्थ में ४0वें पद में कहते हैं कि 'मुक्ति में सुकृतिजन आत्मरूप की प्राप्ति करते हैं, कुछ भी अपूर्व नहीं प्राप्त करते।' जो आत्मा छद्मस्थ, ससारी दशा में अशुद्ध है, वह ही मुक्ति में शुद्ध, सम्पूर्ण गुण- वैभव सम्पन्न हो जाता है, राग-द्वेष की औदयिक ललाई हट कर आनन्द, क्षमा, मृदुता आदि रूप चारित्र पक्ष निर्मल हो जाता है, अल्प, सालम्ब, मति-श्रुत रूप परोक्ष, क्षायोपशमिक ज्ञान निरावधि, निरालम्ब, प्रत्यक्ष, क्षायिक केवलज्ञान हो जाता है, चंचल, दुर्बल योग अनन्तवीर्यमय अचल अयोग हो जाते हैं, आदि।

आचार्य अमृतचन्द्र पचास्तिकाय गाथा २0 की टीका में कहते हैं कि जैसे एक भाग में चित्र-विचित्र हुए बांस को देखकर अन्य भाग में शुद्ध होते हुए भी हम मिथ्या व्याप्ति कर सम्पूर्ण बास को चित्र-विचित्र स्वीकार कर लेते हैं वैसे ही ज्ञानावरणादि से मलिन अपना और अन्यों का कुछ भाग देखकर अपने को तथा उन्हे सम्पूर्ण रूप से मलिन मानने की गलती कर रहे हैं।

उपरोक्त कथनों से स्पष्ट है कि न तो हमारा मूलभूत स्वभाव समारी दशा में पूरी तरह ढका हुआ है, न पूरी तरह विकृत हुआ है, न मुक्त होने पर बिल्कुल ही अपूर्व कुछ और हो जायेगा, और न हमारे मुक्त होने पर जगत के पदार्थों के सम्बन्ध कुछ बिल्कुल ही भिन्न प्रकार के बन जायेंगे। पौद्गलिक देह नहीं रहने से उनके सम्बन्धों का अभाव होगा, अन्तर होगा क्षायोपशमिक दर्शन-ज्ञान-चारित्र के स्थान पर क्षायिक होने का। यहा और वहा का तारतम्य मात्र है। इसीलिए आचार्य वीरसेन कषायपाहुड टीका की प्रथम पुस्तक में मति-श्रुत ज्ञान को केवलज्ञान का एक देश ज्ञान कहते हैं। अवयव देखकर जैसे अनिसृत अवयवी देख लिया—कहा जाता है, वैसे ही यह कहा जा सकता है कि हमारे क्षायोपशमिक योग-उपयोग को अनुभव, युक्ति और आगम से भली भाति समझकर हम क्षायिक तक की उनकी मुक्ति-यात्रा का पथ, बन्धनकारक और मुक्तिकारक तत्वों का निर्णय कर समझ सकते हैं। इसलिए आचार्य जयसेन पचास्तिकाय गाथा ११७ की टीका में कहते हैं कि 'मन तीन जगत और तीन काल के केवलज्ञान प्रणीत परमात्मादि तत्त्वों का व्याप्ति ज्ञान रूप परोक्ष ज्ञान करने से केवलज्ञान के समान है।' इसी बात को वे गाथा १00 की टीका में इस प्रकार कहते हैं—"चित्त मति-श्रुत ज्ञान का उपादान कारण है, अनियत विषय वाला है। भाव, श्रुत ज्ञान स्वसवेदन ज्ञान रूप से प्रत्यक्ष आत्मग्राहक है, पुन बारह अग एवं चौदह पूर्व रूप परमागम सज्ञावाला वह (श्रुतज्ञान) मूर्तामूर्त दोनों की

व्याप्ति ज्ञान रूप से परोक्ष परिच्छिति करने से केवलज्ञान सदृश है।" आत्म-ग्राहक प्रत्यक्ष और लोकालोक के मूर्तामूर्त पदार्थों का परोक्ष ज्ञान, ये श्रुत ज्ञान की दो भुजायें हैं और केवलज्ञान के सकल-प्रत्यक्ष लोक में प्रवेश करने हेतू सम्यग्दृष्टि व्यक्ति, क्रम क्रम से अथवा एक के साथ दूसरी, जैसे बनता है दोनों भुजाओं को काम में लेता है। वह जानता है कि केवलज्ञानी स्व-पर प्रकाशन रूप अनन्त बलिष्ठ दोनों भुजाओं से शोभायमान हैं, वे पर-प्रकाशन रहित मात्र स्व प्रकाशन करती एक भुजा वाले नहीं है, इसलिए कैवल्य-प्राप्ति का मार्ग भी आत्म-ग्राहक स्व-संवेदन मात्र एक भुजा के आरोहण की वस्तु नहीं है, न ही लोकालोक प्रकाशन रूप दूसरी भुजा का प्रयोग-आरोहण का रुक जाना, सुस्ताना या पीछे खिसक जाना, वरन् मोह-राग-द्वेष के अभाव में वह भी उसी द्रुतगति से कैवल्य दिशा में आरोहण करना है।

आचार्य रामसेन तत्वानुशासन में पद सख्या ४-५ में दुख और दुख के कारण आश्रव-बन्ध को हेय कहते हैं तथा सुख और सुख के कारण सवर, निर्जरा और मोक्ष को उपादेय कहते हैं। दुख से सब ही छूट कर सुख पाना चाहते हैं। आचार्य अमृत चन्द्र कहते हैं कि ज्ञानादि गुणों का कार्य करने में असफल होना ही, दुख है। गुणो की अल्पता दुखदायी है। छ खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती भी केवलज्ञानी परमात्मा के आगे अपने में गुणों की अल्पता देख चक्रवर्ती पद छोड, उन जैसा अनन्त गुण वैभव धारी तीन लोक का स्वामी बनने हेतू निर्ग्रन्थ हो जाता है। व्यक्ति को गुणों की हीनता और महानता का बोध पर-प्रत्यय से होता है। व्यक्ति जगत के पदार्थों के बीच जीता है। उसका ज्ञान जगत के पदार्थों का दर्पण है, तो जगत के जड-चेतन पदार्थ, अनुकूलतायें-प्रतिकूलतायें भी उसके लिये दर्पण हैं, वे उसे बता देती हैं कि वह कितना महान अथवा अल्प है। उनके बीच महसूस होती गुणाल्पता की पीडा ही उसे उत्कृष्ट, परम बनने की प्रेरणा करती है, और वह पूर्ण प्रभु हो गया है, इसका प्रमाण भी जड-चेतन पदार्थों से ही आता है कि उसे नयी आयु गति नहीं बंधते हैं, कोई उपसर्ग परिषह नहीं होता है, वह देही से अदेही हो जाता है तथा ज्ञान में सर्वात्मक हो जाता है। इस प्रकार ससार-मोक्ष वस्तुत व्यक्ति का जगत के जड-चेतन पदार्थों से क्रमश मिथ्या-सम्यक् सम्बन्धों का नाम है, सम्बन्ध और सम्बन्ध-विहीनता का नहीं।

मोक्षमार्ग ज्ञान का मार्ग है और ससार मार्ग राग-द्वेष का है। पर कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में जघन्य ज्ञान को भी कर्मबन्ध का कारण कहते हैं।[१] जघन्य ज्ञान के दो अर्थ हैं—(१) ज्ञान वस्तु के एक पक्ष को ही पूरी वस्तु मान रहा है, नित्यानित्यात्मक वस्तु को मात्र अनित्य या मात्र नित्य मान रहा है, ऐसा ज्ञान गृहीत, अगृहीत मिथ्यात्व सहित वस्तु के स्वरूप का पूरा निर्णय ही नहीं कर पाया है, अत जघन्य है और कर्म बन्ध का कारण है। वस्तु के सत्य, सम्पूर्ण रूप को जाने बिना ज्ञान का सारा व्यापार कर्म-बन्ध करता ही रहेगा। (२) व्यक्ति सम्यग्ज्ञानी भी हो गया है पर फिर भी जब तक छद्मस्थ है, आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि उसके अविनाभावी रूप से राग वर्तता है अत केवलज्ञान के पूर्व कर्म बन्ध की प्रक्रिया रुकना सम्भव नहीं है।

दोनों अर्थों का समन्वय कर हम कह सकते हैं कि मोक्षमार्ग की यात्रा में प्रथम व्यक्ति वस्तु स्वरूप को प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि से यथातथ्य निर्णय कर ज्ञान को मिथ्यात्व की जघन्यता से उबारे और फिर उसे ज्ञानाभ्यास से अजघन्य, उग्र बनाता हुआ चरम उत्कृष्ट बनाने का सतत् प्रयत्न करे, यह ही मोक्ष मार्ग है। जितनी ज्ञान शक्ति उत्कृष्ट होती जायेगी, राग की जातिया बदलती जायेंगी, अशुभ से शुभ और शुभतक होती जायेंगी, ज्ञान को मिथ्या धारणाओं की पकड से निकाले बिना राग-द्वेष के गढ की एक ईंट भी हिलाना सम्भव नहीं है। बाह्य में त्यागी बन कर राग-द्वेष का रूप अवश्य बदला जा सकता है, पर सतत् ज्ञानाभ्यास कर ज्ञान को उग्र बनाये बिना राग-द्वेष छोडने की बात, बात ही रह जाती है और राग-द्वेष नहीं छूटते।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि ज्ञान की उग्रता में आत्मा के सभी शुद्ध गुणों की उग्रता शामिल है। जैनाचार्यों के अनुसार ज्ञानी निर्भय, निश्चित, वीर्यवान्, क्षमाशील, मृदु, निर्लोभी आदि गुणधारी व्यक्ति का नाम है। ज्ञान में अन्य आत्मिक गुण गर्भित हैं। उनकी वृद्धि के साथ ही इसकी वृद्धि होती है। रागी कहकर जैनाचार्य व्यक्ति को आर्त्तरौद्र ध्यानी, सकल्प (यह पदार्थ मेरा है आदि) और विकल्प (अपने माने गये पदार्थ के हानि-लाभ से होने वाला सुख-दुःख) करने वाला, ख्याति-लाभ का लोभी और कृष्णादि अशुभ लेश्याओं में जीने वाला स्वीकार करते हैं।[१] ये रागी के 'स्व' हैं। जगत के पदार्थ ऐसे रागी के राग में ही प्रत्यक्ष बनते हैं। ज्ञानी का 'स्व' भिन्न हो गया है। वह धर्मध्यानी है, सकल्प-विकल्प से मुक्त, ख्याति-पूजा-लाभ से ऊँचा उठा हुआ है, शुक्लादि शुभ लेश्याओं में जीने वाला होता है, अत उसके 'स्व' के अनुरूप ही जगत के पदार्थ उसके लिये ज्ञानानन्द की महान पर्याय-रचना में प्रत्यय बनते हैं। मुक्ति और बन्धन में पदार्थों को न तो वस्तुत श्रेय है, न दोष, सारा श्रेय और दोष तो व्यक्ति के 'स्व' को है जिसके ज्ञान लोक अथवा राग के लोक में प्रवेश कर वे मुक्ति अथवा बन्धन में आलम्बन बनते हैं। इसीलिये पर्याय रचना में 'स्व-पर प्रत्यय' के क्रम में प्रथम स्थान 'स्व' को है। यह जैनाचार्यों का आत्म-प्रधान लोक है। वे लोक को छोडकर आत्मा की बात नहीं करते वरन् प्रत्येक व्यक्ति के लिये उसकी आत्मा को उसके श्रेयार्थ-प्रधान घोषित करते हैं। उसकी श्रेय रूप पर्याय की अभिव्यक्ति हेतु सारा जगत ही क्रीडार्थ आलम्बन स्वरूप है। खेलने के लिये बालक को ऑगन चाहिए, आत्मा को ज्ञान-क्रीडा के लिये सारा लोक है।

स्याद्वादी जैनाचार्यों ने आगम और अध्यात्म की प्रतिपक्षी शैलियों में ग्रन्थ रचना की है; अध्यात्म में आत्मा के, ज्ञान के गीत गाये हैं तो आगम ग्रन्थों में विश्वव्यवस्था का वर्णन किया है, उनमें आत्मा का जगत से सम्बन्ध, उसकी पर-प्रत्यय से होने वाली द्रव्य और गुण पर्यायों को समझाया है। अध्यात्म ग्रन्थों का कथन यही है कि आत्मा का मोक्ष उसकी अपनी परिणतियों से होता है, पर इन परिणतियों के बनने में पर-प्रत्यय कितना आलम्बन स्वरूप होता है इसे भी अध्यात्म के आचार्य भूले नहीं है। एक ही आचार्य कुन्दकुन्द ने जहाँ समयसार जैसे गम्भीर

अध्यात्म ग्रन्थ की रचना की वहा प्रवचनसार, पचास्तिकाय जैसे सात तत्व, नौ पदार्थ आदि आगमचर्चा बहुल ग्रन्थों की भी रचना की। अध्यात्म भी एक नय है जो 'वत्थु सहावो णिरवेक्खो' कह कर निश्चय को, उपादान को प्रमुखता देता है और व्यवहार को, निमित्त को गौण करता है, द्रव्य और उसके गुणों का उसके स्व-प्रत्यय मात्र से स्वीकार करता है पर की कृपा, अनुग्रह से नहीं। इन ग्रन्थों में द्रव्य दृष्टि-प्रमुख है, पर्याय दृष्टि नहीं।

पर्यायों की रचना में अमृतचन्द्र जैसे महान आध्यात्मिक आचार्य पर-प्रत्यय को स्पष्ट स्वीकार करते हैं। मात्र गुणात्मक स्वभाव पर्याय रहते द्रव्यों को शुद्ध-मुक्त ये आचार्य कहते और पर-प्रत्यय से बनने वाली गुणात्मक विभाव (द्विभाव) पर्यायों से द्रव्यो को अशुद्ध-बद्ध मानते तो हम कह सकते थे कि जैनाचार्य पदार्थों की परस्पर सम्बन्ध-विहीनता में विश्वास करते हैं, वे सम्बन्धों में पदार्थ के बन्धन देखते हैं और सम्बन्ध-विहीनता में मुक्ति। पर, तब वे न आकाश के अवगाहन गुण की घट, पट को अवगाहन देती पर्यायें स्वीकार कर सकते थे और न ही सिद्धों की लोकाग्र को गमन और स्थिति।

दु ख रूप आश्रव बन्ध के कारणों में आचार्य नागसेन (तत्वानुशासन में) मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिगणना करते हैं। उनके अनुसार अन्यथा अवस्थित पदार्थों में अन्यथा रुचि का होना मिथ्यादर्शन है अज्ञान-सशय-भ्रम रूप अन्यथा अधिगम मिथ्याज्ञान तथा कपाय वशवर्ती होना व अशुभ योग प्रवृत्ति करना मिथ्या चारित्र है। वे मोह को चक्री, मिथ्या ज्ञान को सचिव तथा ममकार (पुत्रादि अनात्मियों में आत्मीय भाव) और अहकार को (नृपति आदि कर्म कृत अवस्थाओं में आत्माभिनिवेश) सेनानायक कहते है। इन सेनानायक आदि से व्यक्ति की ससार रचना चलती है—इनसे राग-द्वेष, राग-द्वेष से कषाय-नो कषाय, उनसे योग, उनसे प्राणी वधादि, उनसे कर्मबन्ध, उससे सुगति-दुर्गति तथा सुगति-दुर्गति में काय और इन्द्रिय-रचना होती है। इन्द्रियों द्वारा पदार्थों के ग्रहण से मोह-राग-द्वेष कर पुन व्यक्ति कर्मबन्ध करता है। इस प्रकार आत्मा मोह व्यूह में पडा भ्रमण करता रहता है। यह स्व-पर प्रत्यय से होने वाला ससार भ्रमण है। अज्ञानी अपने को, पदार्थों को सम्यक रूप से न जानता हुआ यों दु ख-रचना करता रहता है।

ससार चक्र को नष्ट करने के लिए आचार्य नागसेन मोक्ष-हेतुओं के परिग्रह का उपदेश देते हैं। मोक्ष हेतु या मोक्ष मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप है। सम्यग्दर्शन जीवादि नौ पदार्थों में श्रद्धा, प्रमाण-नय निक्षेप से उन पदार्थों का याथात्म्य रूप से निश्चय सम्यग्ज्ञान और नौ कोटि से पाप रूप क्रियाओं का त्याग सम्यकचारित्र है। मोक्ष मार्ग को आचार्य निश्चय (साध्य) और व्यवहार (साधन या आलम्बन) दो रूप बताते हैं। कर्तृकर्मादि षट् कारक जहाँ अभिन्न हैं वह निश्चय नय होता है और जहाँ कर्तृकर्मादि भिन्न होते हैं वह व्यवहार नय होता है २९/तशा। निश्चय मुक्ति हेतु आचार्य कहते हैं, वह आत्मा है जो मध्यस्थ होकर आत्मा को आत्मा में, आत्मा द्वारा जानता और देखता है ३२/तत्त्वानुशासन।

धर्म-ध्यान के सम्बन्ध में आचार्य नागसेन बहुत ही सुन्दर ढग से कहते हैं—आत्मा के मोह-क्षोभ से विवर्जित परिणाम धर्म हैं, इनसे युक्त धर्म्य-ध्यान है (५२/तशा। फिर कहते हैं—शून्य होते हुए विश्व को वस्तु स्वरूप ने धारण कर रखा है। अत वह धर्म है और उससे युक्त ज्ञान धर्म्य-ध्यान है। जिनसेनाचार्य ने भी कहा है—'धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यं'।

जड पदार्थ अनुकूल बाह्य प्रत्यय मिलने पर एक प्रकार परिणमन करते ही हैं। पानी आग के निकट रखे जाने पर गर्म होता ही है। मनुष्यादि के बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध के दो पक्ष हैं—(१) चेतना या उपयोग के स्तर पर (२) शरीर के स्तर पर। शरीर के स्तर पर बहुभाग उसका व्यवहार जडपदार्थों के अनुसार ही होता है। उसे आग से जलन ओर पानी से ठण्डक अनुभव होती है। चेतना के स्तर पर पुन दो भेद हो जाते हैं—(१) मति के स्तर पर (२) श्रुत के स्तर पर। मति के स्तर पर मनुष्य मन और इन्द्रियों के विषय बने हुए पदार्थों से अपने अभिप्राय, धारणा आदि अनुसार पर-प्रत्ययों को अपने परिणमन में आलम्बन बना लेता है और अपने ऐहिक यात्रा पूरी करता है।

श्रुत के स्तर पर पर-प्रत्यय की कथा बहुत ही भिन्न है। श्रुत के विषय अपने ही उपयोग लोक के हैं। वे लोकालोक सम्बन्धी, पर ज्ञानी-ध्यानी व्यक्ति के ज्ञान लोक में ही उनका विशेष स्थान है, वे उसकी चेतना में उभरते हुए बिम्ब हैं। वे बिम्ब उसके सुधार बिगाड के बहुत ही शक्तिशाली प्रत्यय हैं। मति के पर-प्रत्यय तो बहुभाग बाह्य हैं, पर श्रुत के बहुभाग अभ्यन्तर हैं। जैनाचार्य छह-द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ को याथात्म्य रूप से ज्ञान-ध्यान का विषय बनाना निश्रेयस् और अभ्युदय की रचना करने वाला मानते हैं।

श्रुतज्ञान-ध्यान में सम्पूर्ण ही विश्व के पदार्थों के और अपनी आत्मा के शुद्धस्वभाव से जुडना कल्याणकारी स्वीकार कर आचार्य ज्ञान लोक में स्व-पर की महान घनिष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। ज्ञान के लोक में आत्मा सर्वात्मक है, सबको व्याप्य कर जीना ही उसका गौरव है। ऐसा कर वह पदार्थों का स्वातन्त्र्य नष्ट नहीं करता वरन् उन्हें स्वतन्त्र स्वीकार कर स्वय स्वतन्त्र बनता है। इस प्रकार जैन दर्शन स्वतन्त्रता के साथ सम्बन्धों का, भेद के साथ अभेद का विज्ञान है।

सदेह अवस्था में व्यक्ति के बाह्य जड चेतन पदार्थों से कितने घनिष्ठ सम्बन्ध हैं इसे श्रुत के निर्मल लोक में जीने वाला निरन्तर चरितार्थ करता है। मुनि बनकर जगल में बैठा श्रुत ज्ञान के लोक में विचरण करता हुआ व्यक्ति बाह्य से लगता है मात्र निज-मुक्ति साध रहा है, पर वह ज्ञान में सारे ही जगत के पदार्थों का याथात्म्य रूप से बिम्ब उतार रहा है और उनकी पवित्रता से अपने को पवित्र कर रहा है, तो उसके पवित्र ओर पवित्रतर होते उससे चारों और शुभ्र वर्गणा-विकीरण से दूर तक का जड-चेतन जगत पवित्र होता जा रहा है। क्या उस महापुरुष के लिये यह भी कहा जायेगा कि वह मात्र निज-मुक्ति साध रहा है? वह

तो निज के साथ 'पर' को निर्दोष, मुक्त कर रहा है, एक ऐसा कार्य जो बिना अपने को पवित्र करने की ज्ञान की प्रक्रिया अपनाये बाह्य में अन्यों के हित में रात दिन एक करने वाला कोई अन्य समाज मुक्ति की बात करने वाला नहीं कर सकता [१] इस प्रकार सम्बन्धों के इस जगत में सम्यग्दृष्टि महापुरुष आत्म हित को प्रधान करते हुए जगत हित अनायास करते हैं। अपना हित करने का मार्ग ज्ञानदीप की आरती से अपने को और जगत को पवित्र कर ग्रहण करना है, और यह होने पर वह महापुरुष जगत हित का आलम्बन बन जाता है। इसके पूर्व तो भूख, प्यास, रोग, शमन में भौतिकी सेवा कर व्यक्ति थोडा पुण्योपार्जन कर ले इतना ही बनता है, अपना और अन्य के आत्म हित के बडे कार्य नहीं बनते।

ऐसा नहीं है कि ज्ञान पृथकों की पृथकता का लोप करता हो। पर यह ज्ञाता की मर्जी है कि पृथकता को गौण कर ज्ञान में सर्वात्मकता का अनुभव करे, सबको अपने ज्ञान में समाया हुआ अनुभव करे , जैसे ईंधन में अग्नि। अथवा पृथक् अनुभव करे जैसे दर्पण और पदार्थ।[२] दोनों ही प्रकार से मोह-राग-द्वेष के अभाव में ज्ञाता-ध्याता कर्म निर्जरा ही करता है।

श्रुत ज्ञान और ध्यान के लोक में विचरण कर आत्म कल्याण करने का पात्र वह तो है ही नहीं जो जगत के पदार्थों से सर्वथा मुँह मोड अध्यात्म के नाम पर एकान्त के चक्कर में पडा हुआ है, पर वह भी नहीं है जो पदार्थों को लेकर राग-द्वेष में पड जाता है। आचार्य सोमदेव योगमार्ग के चौथे पद में कहते हैं–

हे भगवान। जो मैत्री का पात्र नहीं है, जिसकी पिशाची आशा प्रशमित नहीं हुई है, जिसका चित स्थिर नहीं है, जिसकी कामाग्नि शान्त नहीं हुई है, जो क्लेशों (परीषहों) को सहन नहीं कर सकता, जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में नहीं है वह आपके ध्यान की इच्छा करने वाला महापुरुषों की हंसी का पात्र कैसे नहीं है?

अपने और जगत के पदार्थो के एकत्वविभक्त, शुद्ध, याथात्म्य स्वरूप को ज्ञान-ध्यान में ग्रहण करने के पात्र के बारे में आचार्य छठे पद में कहते हैं–

"हे सूर्य। दिशा और आकाश को जलाने वाला तू अपना प्रचुर तेज छोड हे बादल। जगत के मन को क्षोभित करने वाला तू प्रचुर जल छोड हे पवन। वृक्षों को मूर्छित करने वाली हिम को छोड (रचना कर) तो भी धृत धी (दृढ बुद्धि का धारक), कल्याणकारी (श्रेयांसि), आत्म स्वभाव को प्रकाशित करने वाला (स्वावभासि) अनन्त तत्वाभ्यास को नहीं छोडता।"

ध्याता कैसे कैसे ध्यान में विषय. बदलता है इसे पद संख्या १४ में कहते हैं–"कभी चित त्रैलोक्य-अर्थ को, उसके अवयव को, उसकी पर्याय को लक्ष्य बनाता है–(फिर) इन्हें छोडकर स्वयं में लीन हो जाता है।"

एकाग्र चिन्ता निरोध ध्यान है। अपने से और पदार्थों से ध्यान के लोक में हम राग-द्वेष और मिथ्याज्ञान के द्वार से जुडते हैं तो वह आर्तरौद्र ध्यान कहलाता है और हमें पशु, नारकी-

बनाता है और सम्यग्ज्ञान के द्वार से जुडते हैं तो स्वर्ग-मोक्ष हमें प्राप्त होते हैं।[१]

अज्ञान और मोह के बादल छूट जाने पर जगत के जड चेतन सभी पदार्थ और उनके परस्पर सम्बन्ध धर्मध्यानी के ध्येय बनते हैं और इससे उसका मोह उन्मूलित हो जाता है। आचार्य सोमदेव योग मार्ग के २२ वें पद में कहते हैं—

"प्रचुर बुद्धि वालों ने वस्तु जात के याथात्म्य (स्वरूप) को धर्म कहा है। राग-द्वेष से शून्य मन के ये सर्व ही आलम्ब होते हैं। मति-श्रुत-अवधि-मन पर्यय-केवलज्ञान द्वारा जान ली गयी हैं पर्यायें जिसकी ऐसे किसी भी तत्त्व में स्थिरता कर, उसका ध्यानाधीन (ध्यान में लीन) होने वाला प्रतिगमविगमन (मन की चंचलता हट जाना) मोह को उखाड देता है।"

इस प्रकार प्रकट है कि जैनाचार्य ज्ञाता स्वभावी आत्मा का अज्ञान और राग-द्वेष छोड जगत में किसी भी पदार्थ का ज्ञाता, ध्याता होने को मोक्ष-मार्ग स्वीकार करते हैं।[१] सम्यग्ज्ञान के लोक में जगत के पदार्थों से मैत्री आचार्य कल्याणकारिणी मानते हैं, राग-द्वेष और अज्ञान भरे लोक के सम्बन्धों को अनिष्ट कारक मानते हैं।

यहाँ यह कहा जा सकता है ज्ञान-ध्यान चाहे अपना किया गया हो या पदार्थों का, ज्ञान और वीतराग परिणति ने हमारे अज्ञानादि दोष और कर्म-बन्धन नष्ट किये, पदार्थों से तो वस्तुत बाह्य में हमारे कोई सम्बन्ध बने नहीं कि उनके प्रभाव से हमारे में परिवर्तन घटित हुए हो। सही है, ज्ञान के लोक की चर्चा करते हैं तो ज्ञान में याथात्म्य रूप से लिया गया पदार्थ हमें बदलता है, बाह्य पदार्थ नहीं, पदार्थ का ज्ञान बदलता है। पदार्थ में क्या परिवर्तन हुआ हम नहीं जानते, लेकिन पदार्थ के ज्ञाता-ध्याता के रूप में पदार्थ हमारे लिये अर्थपूर्ण हो गये और हमारे कल्याण के साधन के रूप में हो गये, यह महत्वपूर्ण है। ज्ञाता में आये परिवर्तन से बाह्य जड-चेतन पदार्थों में परिवर्तन आता है, यह भौतिक स्तर की बात है ही।

ज्ञान दर्शन हमें बाहृय में लोकालोक से सम्बन्धित कर रहे हैं। ये हमारे विशेष गुण हैं। आचार्य सोमदेव सूरि तो योगमार्ग ग्रन्थ के ३९ वें पद में कहते है कि हमारे अन्य सब गुण ज्ञान दर्शन में गर्भित हो जाते हैं—

"आत्मा में दर्शन-ज्ञान दो गुण कहे गये हैं। वे दोनों विविधविध उत्कर्ष भाव को प्राप्त कर बहुत हो जाते हैं। सूक्ष्मता, श्रद्धा, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्वादि का समूह अविरोध रूप से प्रकृत दोनों गुणों में गर्भित हो जाता है।"

वस्तुत आत्मा की दुर्गति सुगति 'स्व' प्रत्यय से तो जुडी हुई है ही, 'पर' प्रत्यय से (जगत के पदार्थों से) भी बडी गहराई से जुडी हुई है। आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय की गाथा १०६-१०७ में कहते हैं कि 'लब्धबुद्धि भव्यों के लिए सम्यक्त्वज्ञान युक्त, राग-द्वेष परिहीन चारित्र मोक्ष का मार्ग होता है। सम्यक्त्व भावों (छह द्रव्य नौ पदार्थ) में श्रद्धा है, उनका अधिगम ज्ञान है और मोक्ष मार्ग पर रुढ हुओं का विषयों में समभाव चारित्र है।'

इनकी टीका लिखते हुए आचार्य अमृत चन्द्र कहते हैं कि नव पदार्थों का श्रद्धान 'शुद्ध चैतन्य रूप आत्मतत्त्व के विनिश्चय का बीज है। उनका सम्यग्ज्ञान महान् ज्ञान चेतना प्रधान आत्मतत्व की उपलब्धि का बीज है और इन्द्रिय और मन के विषयभूत पदार्थों के प्रति राग-द्वेष पूर्वक विकार के अभाव के कारण जो निर्विकार ज्ञान स्वभाव रूप समभाव होता है वह चारित्र है, जो कि उस काल में और आगामी काल में रमणीय है और अपुनर्भव के महासौख्य का एक बीज है।'

पंचास्तिकाय की इन गाथाओं और दिये गये टीकांशों से फलित होता है—

१. राग-द्वेष रूप जगत के पदार्थों से अज्ञानी बने जुडकर हम दुर्गति प्राप्त करते हैं और कर्मबन्ध में पडते हैं।

२. नव पदार्थ (समस्त 'स्व' और 'पर' तथा बन्धन-मोक्षमार्ग) के राग-द्वेष रहित निर्विकार ज्ञान में समभाव पूर्वक वर्तन सुख स्वरूप है, मुक्ति कारक है।

महान आध्यात्मिक सन्त आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि निश्चय नय से केवली भगवान् अपनी शुद्ध आत्मा को ही जानते-देखते हैं और व्यवहार नय से लोकालोक को जानते-देखते हैं। निश्चय नय कर्त्ता-कर्म आदि षटकारक वस्तु में 'स्वय' में ही घटित देखता है और व्यवहार नय षट्कारक दो भिन्न पदार्थों के बीच घटित देखता है। नय वस्तु का एक पक्ष होता है, पूरी वस्तु नहीं होती। केवली भगवान में दोनों पक्ष (नय) एक साथ उपस्थित है, हमारे भी हर ज्ञान और कर्म (क्रिया) में दोनों पक्ष एक साथ होते हैं। अत जैसे लोकालोक को जानते देखते केवली भगवान् का एक पक्ष है कि वे अपने विशाल ज्ञानाकाश के एक कोने में लोकालोकाकार रूप अपने ही ज्ञान का परिणमन देख रहे हैं, वे अपने ज्ञान से निकल कर बाहर पदार्थ जगत में नहीं चले गये, और उन लोकालोकाकारो को जानते हुए ज्ञान और ज्ञान के सहचारी आनन्द, क्षमा, मृदुता आदि का ही स्वाद उन्होंने लिया, वैसे ही हम छद्मस्थ भी राग की मलिनता अथवा वीतरागता की निर्मलता के क्षणों में व्यवहार से सब कुछ बाह्य जानते देखते हैं, निश्चय से तो अपने ज्ञानाकाश में बने ज्ञेयाकारों को जान-देख रहे हैं और कभी भी अपने ज्ञान लोक से बाहर नहीं जाते, तथा रागी अथवा वीतरागी जैसे हम हैं तदनुरूप-क्रोध, मान, क्लेश आदि का अथवा क्षमा, मृदुता, आनन्द आदि का स्वाद लेते हैं। निश्चय और व्यवहार एक सिक्के के दो पहलू हैं और एक-दूसरे के अभाव में अवस्तु हैं, कहीं प्राप्त नहीं किये जा सकते हैं। निश्चय वस्तु के स्व-प्रत्यय से वर्तन की चर्चा जहाँ है, वहाँ व्यवहार, पर-प्रत्यय से वर्तन की है। जब छद्मस्थ सब ओर से उपयोग हटाकर अपनी आत्मा का ही चिन्तन, मनन और ध्यान करता है तो कहा जा सकता है कि वह अपने से व्यवहार कर रहा है, स्वयं ही अपने ज्ञान का ज्ञेय बन रहा है। अध्यात्म ग्रन्थ आत्मा के सम्बन्ध में इस प्रकार के चिन्तन से भरे हुए हैं। पर से पृथक्, एकत्व, विभक्त अपने शुद्ध स्वरूप का चिन्तन ध्यान शुद्धोपयोग स्वरूप है

और जितनी निराकुलता, परिणामों में विशुद्धि हुई उतनी कर्म निर्जरायें भी होती हैं। जब वह ध्याता लोक के अन्य जड-चेतन पदार्थों के याथात्म्य स्वरूप का चिन्तन, ध्यान करता है तो यह भी शुद्धोपयोग ही है और आत्मा चिन्तन-ध्यान के क्षणों के समान निराकुलता, परिणामों में विशुद्धि होने में ज्ञाता स्वभाव से कोई बाधा नहीं है। आत्म चिन्तन एक ध्यान के क्षणों में स्व-पर के ज्ञाता रूप उसकी एक पर्याय थी और अन्य को जानते हुए भी स्व-पर के ज्ञाता रूप उसकी एक भिन्न पर्याय है और जितना यथार्थ ज्ञान और परिणामों में विशुद्धि है उतना ही वह शुद्धोपयोगी है और कर्म निर्जरा कर रहा है। दोनों ही अवस्थाओं में सम्यग्ज्ञानी व्यक्ति को ज्ञातृत्व की तीक्ष्णता, निर्मलता और परिणामों की विशुद्धि में अन्तर होना आवश्यक नही है कि हम आत्मा को ही ज्ञानध्यान में लेने का आग्रह करें और विश्व के अन्य जड-चेतन पदार्थों को उपयोग में लेना घाटे का सौदा समझें, अपनी कमजोरी मानें, आध्यात्म से बाह्य मानें। वीर सेनाचार्य ने षट्खण्डागम की सारी चर्चा को अध्यात्म विद्या कहा है।

वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। किसी को हम विशेषत जानते हुए अन्य सबको सामान्यत जानते हैं। चाहे स्वयं को जानें चाहे अन्य को और जो अपने को, अपने स्वरूप को घने रूप से नहीं जानता-पहचानता वह अन्य को कैसे जानेगा- पहचानेगा। लेकिन यह भी सही है कि जो अन्यों को नहीं जानता वह अपने को भी पूरा क्या जानेगा। अपने और अन्यों के बीच सादृश्य सूत्र बहुत ही घने और मजबूत हैं। हा, यह सही है कि वे हमारे मुक्ति की सिद्धि, दुख कूप से निकलने में साधन ही हो सकते है। साधकतम हमारी ही अपनी निर्मल परिणति होती है, उसी से हमारी दुर्गति बनती है। इसीलिए जैनाचार्य दुर्गति-सुगति में साधकतम व्यक्ति की स्वयं की परिणति होने कम व्यक्ति को ही अपना साध्य (अन्तिम रूप से) नहीं हो सकते क्योंकि उसकी परिणति, योग-उपयोग की कोई क्रिया का साधन तो हो सकती है पर साधन और साध्य के बीच की अनिवार्यता खाई को पाटने वाली साधकतम नहीं बन पाती। इस प्रकार साधन रूप से ही अन्य से हमारे सम्बन्ध है। साधकतम रूप में से तो अन्य किसी का किसी से सम्बन्ध नही हैं, जड चेतन सब का ही अपना अपने से ही सम्बन्ध है। पर इससे साधनों के स्तर के सम्बन्ध व्यर्थ नहीं हो जाते क्योंकि साधकतम स्व-परिणति में वे अवलम्बन बनते हैं और उनके बिना वह पक नहीं पाती।

बाह्य पदार्थ के आलम्बन से अशुभ, शुभ और शुद्ध सभी परिणतियाँ बनती हैं। सम्यग्दृष्टि के शुभ परिणति में शुद्ध गर्भित रहता है और बहुभाग शुद्ध रहते हैं, नीचे गुणस्थानों में मन्द कषाय रूप शुभ परिणति चलती है। इसलिए आचार्य नागसेन तत्त्वानुशासन (पद ७०) में सम्यग्चारित्र को 'पाप क्रिया का त्याग', ध्याता को 'परित्यक्त-दुर्लेश्या शुभभावन' दुर्लेश्या रूप शुभ भावना के त्याग वाला कहते हैं। उनके अनुसार ध्याता 'जीवादि-ध्येयवस्तु-व्यवस्थिति' के सम्यक् निर्णय वाला होता है, पर वह इहलोक और परलोक दोनों की अपेक्षा करने वाला नहीं होता, वह महासत्त्व (बलवान), अशेष परीपह सहन करने वाला होता है। ध्याता मन से स्थिर

और प्रबुद्ध होना चाहिए।

आचार्य नागसेन तत्वानुशासन में धर्म की परिभाषा दो प्रकार से करते हैं—(१) 'आत्मन परिणामो मोह-क्षोभ-विवर्जित स च धर्म'-मोह-क्षोभ से विवर्जित आत्म परिणाम धर्म है (५२ज्ञ)। (२) शून्य होता हुआ यह विश्व स्वरूप से धृत, धारण किया जा रहा है अत वस्तु स्वरूप धर्म है। (५३ज्ञ)। धर्म के इन दोनों प्रकारों को आगे के पद में उन्होंने जोड दिया है कि जो ज्ञान वस्तुस्वरूप (स्व-पर पदार्थों के) से अनपेत है वह धर्म्य ध्यान है।

६९ वें पद में आचार्य कहते हैं 'ज्ञानादर्थान्तराऽप्राप्तादात्मा' आत्मा ज्ञान से भिन्न प्राप्त नहीं है, अत एक पूर्वापर अर्थात् भूत ज्ञानमात्मेति कीर्तितम्' एक ही वस्तु का पूर्वा पर रूप से ज्ञान आत्मा है अथवा आत्मा ज्ञान है, कही गयी है। वे कहते हैं कि ध्येय अर्थ का अवलंबन रूप ध्यान ध्याता से भिन्न नहीं है अत द्रव्यार्थिक नय से ध्याता ही ध्यान है। ज्ञाता-ध्याता शुद्ध आत्म लोक में जिये इस हेतू आचार्य ज्ञान-वैराग्य दो रस्सियों से चित्त को जीतने का उपदेश करते हैं।[१] वस्तुत ज्ञेय पदार्थों से भागने अथवा उनके याथात्म्य ज्ञान से अशुद्धि तो किसी भी आचार्य ने नहीं कही है। आचार्य नागसेन तो कहते हैं—ध्यान-स्वाध्याय सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है।[२] पद ८७ में आचार्य पुन कहते हैं कि निरन्तर ध्यान करने वाले के धारण सौष्ठव से ध्यान-प्रत्यय (अतिशय) होते हैं। ज्ञानार्णव के ४१वें सर्ग में शुभचन्द आचार्य ने एक गाथा उद्धृत कर कहा है कि योग-प्रवृत्ति करने वाले के इन्द्रिय और मन अचंचल, आरोग्य, अनिष्ठुर, सुगन्ध, कान्ति, प्रसाद, स्वर सौम्यता आदि लिए होती है। उसी सर्ग के बारहवें पद में आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि धर्मध्यान के बल से चतुर्थ गुणस्थान के आगे असख्यात गुणी कर्म निर्जरा करता है। सर्ग ७ में कहते हैं कि अज्ञानी पुरुष स्वय को अपने ही से कर्म रूपी बन्धनों से वेष्टित कर लेता है और विज्ञानी समयान्तर में बन्धनों को प्रबुद्ध हो नष्ट कर देता है, ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान से कभी कर्मबन्ध नहीं होता, एक ही राह चलते अज्ञानी बंधता है, तत्त्वविद् मुक्त होता है।[३]

जैसे ज्ञान में परिनिमित्तों से ज्ञेयाकार रूप ज्ञान की निर्मल विविध पर्यायें प्रकट होती हैं वैसे ही विश्व के चराचर जीवों को आत्म सदृश देखने से आनन्द, प्रमोद, मैत्री, करुणा आदि आत्मा के स्वभावगत भावों की अभिव्यक्ति होती है। इनके साथ मन्द कषाय रूप द्रव्य कर्मो के उदय रहे, यह भिन्न बात है, पर ये कोई औदयिक अशुभ भाव नहीं हैं वरन् शुद्ध क्षायोपशमिक आत्म गुण हैं। आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानार्णव के ८वें सर्ग के ४१वें पद में कहते हैं—

परमाणो पर नाल्प न महद्गगनात्पर।
यथाकिंचित्तथा धर्मो नाहिंसालक्षणात्पर ॥

अर्थात् परमाणु से कोई अल्प नहीं है और गगन से कोई महान नहीं है, इसी पकार अहिंसा लक्षण धर्म से कुछ भी बडा नहीं है। इसी प्रकार शिवार्य आचार्य कहते हैं, 'जीववहो अप्पवहो,

जीव दया होई अप्पणो हु दया', अर्थात् जीव वध अपना वध है और जीव दया अपनी आत्मा पर दया है। क्या ये शुद्ध आत्म स्वभाव की चर्चा न होकर मात्र औदयिक शुभ भाव की है?

हम प्राय. जीवों के प्रति मैत्री, करुणा आदि को शुभ भाव मात्र ही स्वीकार कर, उन्हें व्यवहार मात्र मानकर उनसे परे शुद्ध और निश्चय की कल्पना करते हैं। शुभ भाव रूप इनकी अभिव्यक्ति कोई हो, पर अपनी भूमिका अनुसार अन्यों के कल्याण में मैत्री-करुणा पूर्वक सहयोग करना हमारे शुद्ध स्वभाव की ही अभिव्यक्ति है, कोई राग आदि औदयिक भाव नहीं, अपने कुल, गच्छ, प्रान्त आदि वाले व्यक्ति में विशेष उत्साह, प्रीति और अन्य के प्रति कम उत्साह औदयिक अवश्य है। जीव कल्याण में सहयोग तो हमारे सजीवत्व का परिचायक है और उसे बढाने वाला है, कोई शुभ कषाय नहीं। कषाय शुभ-अशुभ होती है। गुण में आया विकार शुभ-अशुभ होगा, पर भूमिका अनुसार पर-प्रत्यय पूर्व जो हमारे गुण ही स्वय कार्य करते हैं वे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान की भाति क्षायोपशमिक हैं। इन्द्रियादि के सहारे कार्य करने वाले ज्ञान के लिये तो जैन दर्शन में कोई औदयिक शब्द नहीं है। औदयिक तो अज्ञान है। ज्ञान के लिये तो मात्र क्षायोपशमिक ही शब्द है। (हॉ, मिथ्यात्व सहित हो तो ज्ञान को कुमति, कुश्रुत कह देते हैं)। चारित्रिक गुणों में औदयिक और क्षायोपशमिक दोनों शब्दों का जैन दर्शन में प्रयोग है। पर जो औदयिक हैं वे ही शुभ-अशुभ में विभक्त किये जा सकते हैं, जैसे क्रोध अशुभ या शुभ, मान अशुभ या शुभ आदि। चार कषाय और नौ कषाय ही शुभ-अशुभ हो सकते हैं। कहा जा सकता है इनसे अतिरिक्त चारित्रिक गुण अन्य कौन से हैं, सो आचार्य वीरसेन धवला टीका में करुणा को जीव का स्वभाव कहते हैं। उनके अनुसार चारित्र मोहनीय कर्मों में करुणा नामक कोई कर्म नहीं है जिसके उदय से करुणा होती हो[1] तथा देशघाति प्रकृति के उदय रहते चारित्रिक गुणों को औदयिक भी नहीं कहा जाता, क्षायोपशमिक (अन्त स्वभावभूत) कहा जाता है।[2] सर्वघाति के उदय में ही वे औदयिक कहलाती हैं। मिथ्यात्व के उदय में कार्य करने वाली अनन्तानुबन्धी तथा अविरति के कारणभूत अप्रत्याख्यानावरणीय-प्रत्याख्यानावरणी कषायें सर्वघाती हैं। अत उनके उदय में होने वाले क्रोध आदि कषाय औदयिक हैं और वे ही तीव्र होने पर अशुभ और मन्द होने पर शुभ जानने चाहिए। सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाने पर जो व्यक्ति गुण विशुद्ध, ज्ञानयुक्त आचरण करता है वह तो सम्यक्त्वाचरण या स्वरूपाचरण चारित्र है और मोक्ष का हेतु है।[3] आचार्य अमृतचन्द्र तो पचास्तिकाय गा. १३८ की टीका में चित्त प्रसाद रूप अकालुष्य होने में कषाय का विशिष्ट क्षयोपशम (अन्त स्वभावभूतता) अज्ञानी के भी स्वीकार करते हैं।

इस विवेचना का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि जैसे पर प्रत्यय से मति श्रुत आदि ज्ञानों की नाना पर्यायों में सम्यग्दृष्टि जगत के पदार्थों के याथात्म्य स्वरूप से जुडकर अपने गुणों की निर्मलता में वृद्धि करता है, मोक्ष पद पर अग्रसर होता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि मैत्री, प्रमोद, करूणा आदि आत्म गुणों के विकास में जीव मात्र को, गुणी पुरुषों आदि को आलम्बन बनाता

है। जैसे ज्ञान में पदार्थों का ज्ञेयरूप में ग्रहण ज्ञान का ही विस्तार है और ज्ञान के विस्तार का अन्य कोई उपाय नहीं है तथा इस ज्ञान के विस्तार से सम्यग्दृष्टि कर्म निर्जरायें करता है, कर्म बन्धन नहीं, वैसे ही चारित्रिक गुणों का जगत के जड-चेतन पदार्थों के आलम्बन से होने वाला निर्मल परिणमन स्वरूपाचरण है, कोई शुभ भाव कह कर हेय मानने की वस्तु नहीं। जैसे पर-प्रत्यय बिना मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय और केवल ज्ञान सम्भव नहीं वैसे ही क्षमा, मृदुता, ऋजुता, करुणा आदि जीव के स्वभावभूत चारित्रिक गुणों की मति-श्रुत आदि ज्ञान द्वारों से प्राप्त पर-प्रत्यय के अवलम्बन् के अभाव में नानाविध शुद्ध पर्यायों में स्वय को व्यक्त कर पुष्ट, विकसित, सशक्त बने और मोहनीय मैल दूर करने का कोई उपाय नहीं है। मिथ्यादृष्टि अपने और अन्य के वस्तुस्वरूप को नहीं जानने से अनन्तानुबन्धी आदि सर्वघातियों की औदयिकताओं से शुभ-अशुभ भावों में जीता है, पर सम्यग्दृष्टि तो हिंसादि पापों से विरत हो सज्वलन के देशघाति निषेकों को अपनी विवेक ज्योति से मन्द किये हुए बहुभाग शुध्द चारित्रिक गुणों के लोक में जड-चेतन से व्यवहार होने से उसे मुक्त करने वाला होता है और अन्यों को यथा सम्भव मुक्ति में सहयोग करने वाला होता है।

जैनाचार्यों ने जीव के कर्मास्रव और बन्ध जहाँ अन्य जीव-अजीव के सम्बन्ध से स्वीकार किये हैं वहाँ सवर-निर्जरा-मोक्ष भी उनके आलम्बन से स्वीकार करते हैं। वीरसेनाचार्य धवला टीका में बन्ध के कारण और मोक्ष के कारण गिनाते हुए कहते हैं कि बन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि तो अन्तरंग कारण हैं तथा जगत के सभी पदार्थ बाह्य कारण हैं, मोक्ष के सम्यक्त्व, विरति, निष्कषायत्व आदि अन्तरंग कारण हैं तथा जगत के सभी पदार्थ बाह्य कारण हैं। अज्ञानी अपनी मोहित मति से जगत के पदार्थों को अन्यथा देखता व व्यवहार करता हुआ बन्ध और दुर्गतियाँ रचता है तो उसके लिये जगत् के पदार्थ शत्रुवत होते हैं, ज्ञानी तो उनके याथात्म्य रूप से परिचित होता है अत वे सभी उसके मित्रवत् हैं। और, वह पुन-पुन उन्हें ज्ञान का ही विषय नहीं बनाता वरन् उनके ध्यान में स्वय को लीन कर देता है और इस प्रकार उनकी स्वरूप गंगा में मज्जन कर स्वय को पवित्र कर लेता है। ज्ञानी को पदार्थों के याथात्म्य रूप से इतनी प्रीति है कि उसे निश्चय रूप स्व चिन्तन और आत्मा से आत्मा में ध्यान जहाँ कर्म निर्जरा के रूप में स्वीकार है, वह प्रकट उसका अपना घर-आँगन है, वहाँ ही जगत के जड-चेतन सभी का याथात्म्य रूप भी उसे ध्येय रूप में उतना ही स्वीकार होता है। हम जानते हैं ध्यान ध्येय वस्तु से एकत्व का नाम है। जड चेतन पदार्थों को भी उनके याथात्म्य रूप में जैनाचार्य हमारे ध्यान का ध्येय घोषित कर, जगत के पदार्थों को स्वरूपत पवित्र, सुन्दर स्वीकार कर वे हमारे आत्म कल्याण के हजारों मार्ग खोल देते हैं। सामान्य से तो चित्त-शुद्धि रूप एक ही मार्ग है, पर आलम्बन भेद से हजारों-हजारों मार्ग हैं।

आचार्य नागसेन तत्त्वानुशासन में कहते हैं कि ध्याता अन्तर्विशुद्धि हेतू किसी ध्येयवस्तु को, स्वरूप या पररूप को ध्यायें। (९४-९५) स्वरूप के ध्यान में षट्कारक अभिन्न होने से निश्चय

ध्यान है तथा पररूप के ध्यान में षट्कारक भिन्न होने से वह व्यवहार ध्यान है। (९६-९७) पर रूप ध्येय जड-चेतन कोई भी पदार्थ हो सकते हैं। इनके भेद निम्न प्रकार वे कहते हैं—

(१) नाम ध्येय—अ से लेकर सभी अक्षर एक-एक अथवा सब मिलकर ध्येय बनाये जा सकते हैं। अर्हं आदि मन्त्र नाम ध्येय है। (१०८)

(२) स्थापना-ध्येय— जिनेन्द्र बिम्ब (१०९)

(३) द्रव्य ध्येय—गुण-पर्याय वाला, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त, अनादि निधन, प्रतिक्षण जलकल्लोल की भाति उन्मज्जन- निमज्जन करने वाला कोई भी चेतन-अचेतन पदार्थ द्रव्य ध्येय है। (११० से ११२) द्रव्यध्येय ध्यान में स्पष्ट प्रतिभासित होता है। (१३३)

(४) भाव ध्येय—जब ध्याता ध्यान के बल से स्व विग्रह शून्य कर (अर्थात् उसका भान छोड) ध्येय स्वरूप में प्रविष्ट कर जाता है और भेद मिटा देता है तो भाव ध्येय होता है। (१३५-३६) "जो आत्मा जिस भाव रूप परिणमन करता है वह उस भाव के साथ तन्मय होता है, अत अर्हद्ध्यान से व्याप्त आत्मा स्वय भाव-अर्हन्त होता है।" (१००)

द्रव्य-ध्येयों में आचार्य पुरुषरूप आत्मा को ध्येयतम कहते हैं। "ज्ञाता के होने पर ही ज्ञेय ध्येयता को प्राप्त होते हैं इसलिये ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ध्येयतम है। इनमें भी तत्वत पच परमेष्ठी ध्यातव्य है।" (११८-११९)

निश्चय ध्यान के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं—"आत्मा जीवादि द्रव्यों के यथार्थ ज्ञान स्वरूप है, (अत) आत्मा को आत्मा देखता हुआ मैं वस्तुओं के प्रति उदासीन होता हूँ।" (१५२)

इस प्रकार जैनाचार्य कह रहे हैं कि जब अपनी आत्मा को देख रहा हूँ तो जगत के सभी पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को देखता हूँ क्योंकि मेरा आत्मा उनके ज्ञान स्वरूप है, तथा मैं जब जगत के जड-चेतन पदार्थों को यथार्थ जानता हुआ अपने ध्यान का ध्येय बनाता हूँ तो मैं अपनी आत्मा को ही ध्येय बना रहा हूँ क्योकि उनका ज्ञान आत्मा ही है। दोनों तरह ध्याता-ज्ञाता वस्तुत एक ही कार्य कर रहा है—कर्म निर्जरा का, आत्म शुद्धि का। तो प्रश्न हो सकता है कि ध्याता केवल व्यवहार ध्यान ही या केवल निश्चय ध्यान ही क्यों नहीं करता, केवल निश्चय या केवल व्यवहार ध्यान का ही शास्त्रकारों ने प्रतिपादन न कर दोनों का क्यों किया? उत्तर है छद्मस्थ एक ही प्रकार की चेष्टा से थक जाता है। केवल निश्चय का एकान्त व्यक्ति को तुच्छ बना देता है और केवल व्यवहार का उसे थका देता है। इस प्रकार दोनों ही एकान्तों से अज्ञानी नष्ट होता है।[१४] जैन दर्शन में निश्चय और व्यवहार दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, एक सिक्के के दो पक्ष हैं, दोनों के मेल से वस्तु पूर्ण होती है।

व्यवहार ध्यान सालम्ब ध्यान है, निश्चय निरालम्ब। दोनों ही ध्याता की इच्छा और रुचि के अनुसार ग्रहण करने योग्य साधन हैं। साध्य तो चित्त की निर्मलता है, कर्म उसी से कटते हैं। आचार्य नागसेन कहते हैं कि धर्म्यध्यान में एकाग्र हुई अर्हत्मय आत्मा अनन्तशक्तिसम्पन्न

होती है और वह भुक्ति तथा मुक्ति दोनों देती है। ज्ञान, श्री, आयु, आरोग्य, सन्तोप, पोष, शरीर, धैर्य तथा और भी जो इस लोक में प्रशस्त वस्तुयें हैं वे सब ध्याता को प्राप्त होती हैं।"[१५]

इस प्रकार जैनाचार्यों के अनुसार जीव ज्ञान-ध्यान के द्वारों से बहुत गहराई से जगत से जुडा हुआ है। संसारी दशा में तो देह प्रवीचार करते हुये उसके लिये बहुत आवश्यक ही है कि वह जगत के पदार्थों से अज्ञान और राग-द्वेष के द्वारों से जुडकर अपनी और अन्य की भी दुर्गतियाँ न रचे, ज्ञान-ध्यान, सर्व जीव मैत्री, गुणियों में प्रमोद, दुखियों के प्रति अनुकम्पा आदि चारित्रिक गुणों के शुद्ध-शुभ द्वारों से ही जुडकर स्वय का कल्याण करें और अन्यों के कल्याण में सहयोगी बने।

प्रस्तुत लेख का विषय जैन दर्शन में सर्वत्र स्वीकार किये जा रहे विरोधियों के बीच सुमेल का एक उदाहरण है। जैनाचार्य वस्तु को नित्यानित्यात्मक, एकानेक, विधिनिषेधात्मक आदि विरोधों के समन्वय के साथ स्वीकार करते हैं और किसी भी एकान्त (नित्य ही, अनित्य ही) को मिथ्या, असत् कहते हैं, उसी प्रकार स्वतन्त्रता के साथ सहयोग का आदान-प्रदान स्वतन्त्रता को तुच्छता से बचाने और सहयोग को अनर्गल न हो जाने हेतू आवश्यक है। उनके अनुसार जहाँ परिणमन में निरपेक्षता का आग्रह दुराग्रह है और प्रत्येक द्रव्य को अपने गुणों के नानाविध स्पर्श हेतु सम्यक् आलम्बन ग्रहण के प्रति मृदु होना अनिवार्य है, वहाँ द्रव्य और उसके गुणों के सृष्टिकर्त्ता की मान्यता का दृढता के साथ निपेध करना सम्यग्दृष्टिपना है।

१ प्रवचनसार गाथा ९३ की अमृतचन्द्राचार्य की टीका

२ पचास्तिकाय, गाथा-१०९

३ समयसार गाथा, ७१-७२

४ योग मार्ग-३९

५ ध्यानी योगी का वन के पशुओं पर प्रभाव का वर्णन आचार्य सोमदेव सूरि ने योग मार्ग पद ७ में अच्छा किया है।

६ प्रवचनसार परिशिष्ट २४-२५ (आचार्य अमृतचन्द्र रचित ज्ञान-ज्ञेय अद्वैत नय तथा ज्ञान-ज्ञेय द्वैत नय)

७ धवला टीका पुस्तक ९-१० पृष्ठ पर पद है—

आलबणेहि भरिओ लोगो झाइदुमणस्स खवयस्स।

जं जं मणसा पस्सइ त त आलंबण होई॥३॥

८ तत्वानुशासन गा ७७

९ तत्वानुशासन गा ८१

१० सर्ग ७ पद १७, २०, २१

११ षटखडागम धवला टीका पु १३ पृ ६१-६२

१२ सर्वार्थसिद्धि २।५।१५७।३

१३ चारित्रपाहुडगाथा ८

१४ समयसारकलश, २५४-५५

१५ तत्त्वानुशासन १९६ एव १९८
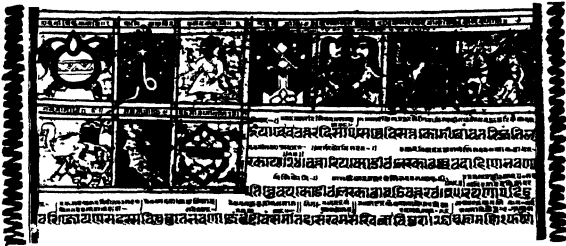
आस्तिक-नास्तिक

❑ *पं. हीरालाल जैन 'कौशल', दिल्ली*

भारत धर्मप्राण देश है। यहाँ समय समय पर अनेक धर्मों की उत्पत्ति होती रही है। यों तो प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय में ही ३६३ मतों की उत्पत्ति बतलाई गई है परन्तु भगवान् महावीर के समय में प्रचलित धर्मों को दो प्रधान श्रेणियों में रखा जा सकता है। १ वैदिक और २ अवैदिक (श्रमण)। वैदिक-वेद को मानने वाला धर्म और वेद को न मानने वाला अवैदिक जिसके अन्तर्गत मुख्यत बौद्धों और जैनों को रखा जाता था। महावीर के समय भारत में वेदों का सर्वत्र प्रचार था। यत्र तत्र यूपा (याज्ञिक-स्तम्भों) की भरमार थी तथा वेदविहित हिसा अधर्म नहीं मानी जाती थी। लोग हिसामयी विधि विधानों से घबरा गये थे। उस समय महावीर स्वामी ने इस मान्यता का खडन कर अहिसा का प्रचार किया। हिसापूर्ण क्रियाकाड को अधर्म बताया तथा लोगो को जीवन में भी अहिसा के पालन की प्रेरणा दी। वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् बालगगाधर तिलक ने इस बात को स्वीकार किया है कि यज्ञों से हिसा को दूर करने का श्रेय महावीर स्वामी को है। बौद्ध धर्म के सस्थापक महात्मा गौतम बुद्ध भी उसी समय हुये और उन्होंने भी हिसापूर्ण विधि विधानों का खडन किया, पर वे हिसा का पूर्ण त्याग न करा सके। फलस्वरूप आज भी श्रीलका, वर्मा, चीन, जापान आदि बौद्ध धर्मानुयायी देश मांसाहारी हैं।

धार्मिक क्रियाकाडों में हिसा का विरोध करने वाले महावीर और गौतम बुद्ध के अनुयायियों की सख्या बढने लगी। छोटे-बडे, गरीब-अमीर तथा वैभवशाली राजागण भी उनकी छत्रच्छाया में आये और वातावरण ऐसा बदला कि धीरे धीरे भारत से याज्ञिक हिसा का नाम निशान ही उठ गया, पर उसमें ही धर्म माननेवाले लोग इस बात को सहन न कर सके और उन्होंने अहिसा के विरुद्ध लोगों को भडकाना पारम्भ किया तथा जैन और बौद्धो को 'नास्तिक' कहकर बदनाम किया जाने लगा। उस समय 'हस्तिना पीडयमानेऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्' अर्थात् हाथी के पैर के नीचे कुचले जाने का अवसर आने पर भी जैनमन्दिर में नहीं जाना चाहिये, जैसी बातें प्रचलित हुईं।

समय की गतिविधियों को गभीरता से समझनेवाले लोग यह भली भांति जानते हैं कि प्रचार का प्रभाव अवश्य पडता है। प्रचार में विरोधी के विषय में अनेक असगत और तथ्यहीन बातें कही जाती हैं पर वे भी अपना प्रभाव डालती हैं तथा लोगों के मन में अनेक सन्देह उत्पन्न कर देती हैं। जैन व बौद्धों के विरुद्ध किया जानेवाला यह प्रचार भी व्यर्थ नहीं गया।

धीरे धीरे उनके प्रति लोगों में अश्रद्धा उत्पन्न होने लगी और कई जगह तो वह घृणा की सीमा तक पहुँच गई। उसके पश्चात् अनेक कारणों से आठवीं शताब्दी के लगभग भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास हो जानेपर विरोध में सिर्फ जैनधर्म ही रह गया। उस समय उस पर अनेक अमानुषिक अत्याचार तक किये गये तथा यत्र तत्र उसके अनुयायियों का तिरस्कार किया गया। यद्यपि जैनधर्म अपनी लोकोत्तर विशेषताओं के कारण आज भी अपना मस्तक ऊचा किये हुये है, भारत की संस्कृति पर उसका पर्याप्त प्रभाव है। वे पुरानी बातें लोग अब भूल रहे हैं पर कभी कभी यत्र तत्र वह बात दृष्टिगोचर हो जाती है। 'नास्तिक' शब्द के अर्थ को न जानकर बहुत से लोग अपनी पिछली धारणा के अनुसार जैनियों को नास्तिक ही समझते हैं और कह देते हैं। अत आस्तिक और नास्तिक का क्या अर्थ है, यह जान लेना आवश्यक है।

व्याकरण से ही शब्दो की सिद्धि होती है। वैय्याकरणों में शाकटायन अति प्राचीन हैं। वे इस शब्द की इस प्रकार सिद्धि करते हैं-"देष्टिकास्तिक-नास्तिक" (३-२-९१)। कृतिकार श्री अभयचद सूरि ने इसका अर्थ किया है-'अस्ति मतिर्यस्य आस्तिक तद्विपरीतो नास्तिक। अर्थात् परलोक, पुण्यपाप आदि को माननेवाला आस्तिक और उससे विपरीत विचार नास्तिक है।

आचार्य पाणिनि जो सबसे बडे वैय्याकरणी माने जाते हैं, अपने ग्रंथ में लिखते हैं कि 'आस्तिनास्तिदिष्टंमति' (४-४-९०) कौमुदी कार भट्टोजीदीक्षिताने इसकी वृत्ति लिखी है नदस्त्येव परलोक इति आस्तिक। नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिक।' अर्थात् परलोक को मानने वाला व्यक्ति आस्तिक और न माननेवाला नास्तिक है। हेमचन्द्राचार्य ने अपने सिद्धहेमशब्दानुशासन नामक प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ में भी यही अर्थ माना है। जैनधर्म नरक, स्वर्ग तथा पाप पुण्यरूप कर्मानुसार उनमें उत्पत्ति मानता है, यह सर्वविदित है। अत व्याकरण के अनुसार जैनधर्म आस्तिक धर्म है।

कोष (Dictionary) से शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है। 'शब्द स्तोमहानिधि' प्र १८५ पृ पृष्ठ ६३४ अभिधानचिन्तामणि, काण्ड ३ श्लोक ५२६ आदि सर्व सुप्रसिद्ध कोष उपर्युक्त अर्थ को ही बताते हैं। अभिधानचिन्तामणि में नास्तिक के पर्यायवाची इस प्रकार बतलाये है-"बार्हस्पत्य, नास्तिक, चार्वाक, लौकायातिक इति तन्नामानि।" अर्थात् बार्हस्पत्य, नास्तिक, चार्वाक और लौकायतिक ये चार नास्तिक के नाम हैं। इस प्रकार कोष के अनुसार जैनधर्म नास्तिक नहीं है।

किसी भी दार्शनिक विद्वान् ने जैनधर्म को नास्तिक नहीं बताया है। नास्तिक के सिद्धान्त भी जैनधर्म को मान्य नहीं। जैन शास्त्रकारों ने प्रमेय कमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में अन्य मतों के साथ नास्तिक मत का भी संयुक्तिक और जोरदार खण्डन किया है।

यद्यपि मनुस्मृतिकार ने 'नास्तिको वेदनिन्दक' अर्थात् जो वेदों को नहीं मानता वह नास्तिक है, ऐसा लिखा है पर यह उनकी अपनी कल्पना है। यदि ऐसा माना जाय तो आज मुसलमान,

ईसाई, सिक्ख, पारसी, यहूदी आदि के साथ स्वय को भी नास्तिक कहलाने से नहीं बच सकते। क्योंकि ऋक्-यजु-साम और अथर्व इन चारों वेदों में से एक वेद मानने वाले, बाकी ३ वेदों, २ वेद माननेवाले द्विवेदी बाकी दो वेदों तथा त्रिवेदी बाकी एक वेद को नहीं मानते। वे भी नास्तिक होंगे। विभिन्न टीकाकार अलग अलग अर्थ लगाकर दूसरे के अर्थ को स्वीकार नहीं करते। सनातन धर्मी वेदों में हिंसा बतानेवाले महीधर भाष्य को ठीक बताते हैं पर आर्यसमाजी सायण और महीधर को नहीं मानते।

फिर वेद को न माननेवालों को नास्तिक कहने का दूसरों पर अपनी बात लादने से अधिक कोई मूल्य नहीं। जब अलग अलग धर्म हैं तो एक के ग्रन्थों को दूसरा मान्यता की कोटि में कैसे रख सकता है।

वेद को भी ईश्वरकृत स्वीकार नहीं किया गया। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने बहुत समय पहले अपनी साहित्यसीकर पुस्तक में इस बात का स्पष्ट विवेचन किया है। अब तो अनेक साहित्यकार इस बात को स्पष्ट कर चुके है।

कुछ लोग कहते हैं कि जैनधर्म परमात्मा को सृष्टिकर्ता नहीं मानता इसलिये वह नास्तिक है। पर जैसा कि पहिले स्पष्ट किया जा चुका है कि परलोक न माननेवाला नास्तिक कहलाता है, ईश्वर को सृष्टिकर्ता न माननेवाला नहीं। नास्तिक शब्द यौगिक शक्ति से भी उसका वाचक नहीं है। फिर प्रमाणो से भी ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं ठहरता। उसे सृष्टिकर्ता मानने पर अनेक दोषों का प्रादुर्भाव होने से उसमें ईश्वरत्व नहीं रह सकता। आप्तपरीक्षा, प्रमेय कमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री आदि जैनग्रन्थो में इसका सयुक्तिक विवेचन है। इसके अतिरिक्त सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष की सत्ता स्वीकार कर सृष्टि-रचना का कार्य प्रकृति द्वारा होना बताया है। मीमासक भी ईश्वर को सृष्टि कर्ता नहीं मानते पर फिर भी विद्वानों ने उनको नास्तिक नहीं लिखा क्योंकि जैसा पहले बताया जाचुका है, इस बात का आस्तिक-नास्तिक से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में आया है कि —

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्मफलसंयोग स्वभावस्तु पवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पाप न चैव सुकृत विभु ।
अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यति मानव ॥

अर्थात ईश्वर ससार के कर्तापने को या कर्मों को नहीं बनाता है और न कर्मफल के सयोग की व्यवस्था ही करता है, मात्र स्वभाव काम करता है। परमात्मा न किसी को पाप का फल देता है न पुण्य का। अज्ञान से ज्ञान ढका है, इसी से जगत के प्राणी मोहित हो रहे हैं।

ऐसी ही मान्यता जैनधर्म की भी है। यह मानता है कि जीव अपने ही भावों से शुभाशुभ

कर्म बांधते हैं तथा स्वयं उनका फल भोगते हैं। जैन धर्म ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार नहीं करता बल्कि वह प्रत्येक आत्मा में ईश्वरत्व शक्ति मानता है।

इतिहास पर दृष्टि डालने से भी यही बात सिद्ध होती है। किसी भी इतिहासकार ने जैनधर्म को नास्तिक नहीं लिखा बल्कि सुप्रसिद्ध इतिहासकारों ने इसका जोरदार खडन किया है। 'इतिहास तिमिरनाशक' के लेखक राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने लिखा है कि "चार्वाक का जैन से कुछ सम्बन्ध नहीं है। जैन को चार्वाक कहना ऐसा है जैसा स्वामी दयानन्दजी को मुसलमान कहना।"

इस विषय में पाश्चात्य तर्कविद्या के पिता अरस्तू जैसे शान्त विचारवान और चिन्तक के विचार देखिये—

"ईश्वर किसी भी दृष्टि से विश्व का निर्माता नहीं है। सब अविनाशी पदार्थ पारमार्थिक हैं। ऐसा कभी नहीं होगा कि उनकी गति अवरुद्ध हो जाय। यदि हम उन्हे परमात्मा के द्वारा प्राप्त पुरस्कार माने तो या तो हम उसे अयोग्य न्यायाधीश अथवा अन्यायी न्याय कर्ता बना डालेंगे। यह बात परमात्मा के स्वभाव के विरुद्ध है, वह इतना महान है कि हम भी उसका कभी आस्वाद कर सकते हैं। वह आनन्द आश्चर्यपद है।"

वैज्ञानिक जूलियन हक्सले कहते हैं — "इस विश्व पर शासन करने वाला कौन या क्या है? जहाँ तक हमारी दृष्टि जाती है, वहाँ तक हम यही देखते हैं कि विश्व का नियत्रण स्वय ही अपनी शक्ति से हो रहा है। यथार्थ में देश और उसके शासक की उपमा इस विश्व के विषय में लगाना मिथ्या है।"

विज्ञान सृष्टि को ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं मानता, यह सर्वविदित है। पाश्चात्य दार्शनिक विद्वान् जिन्होंने जैनधर्म का गंभीर अध्ययन किया है, वे जैनधर्म के सिद्धान्तों की मुक्तकठ से प्रशसा करके इसे आत्मा की स्वतत्रता का मार्गदर्शक आस्तिक धर्म मानते हैं।

पूर्व और पश्चिम के दर्शनों के विश्व ख्यातिप्राप्त प्रकाण्ड विद्वान् पूर्व राष्ट्रपति डा राधाकृष्णन, सुप्रसिद्ध साहित्यकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री रामधारी सिह दिनकर, गान्धी वादी प्रसिद्ध नेता आचार्य विनोबा भावे आदि सभी भारतीय चिन्तक जैनधर्म को भारतीय सस्कृति का भूषण आस्तिक धर्म मानते हैं। राष्ट्रपिता गान्धी जी के साथी विद्वान् काका कालेलकर ने क्या "जैनदर्शन नास्तिक दर्शन है?" नामक अपने लेख में विविध दृष्टियों से विचार करते हुये अन्तमें लिखा है "कोई मुझे आस्तिकता का नमूना बताने को कहे तो मैं प्रथम जैनधर्म का और उसके बाद में वेदों का नाम लूगा।"

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

❑ डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, इन्दौर

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। उसकी विचार करने की क्षमता ही उसे संसार के समग्र प्राणियों में एक विशिष्ट एवं उच्चतम स्थान प्राप्त कराती है।[1] अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में वह शुरू से ही विचार करता आया है। इस सोचने-विचारने के क्रम के साथ ही दर्शन का प्रादुर्भाव हो जाता है। मनुष्य के इस स्वतत्रतापूर्वक सोचने से ही विचार के क्षेत्र में विभिन्न दृष्टियों का जन्म हुआ है। किसी भी दर्शन या धर्मपथ की, उसके मूलप्रवर्तक पुरुष की, एक दृष्टि होती है, जैसे कि—शकराचार्य की अपने मत निरूपण में 'अद्वैत दृष्टि' और भगवान बुद्ध की अपने धर्मपथ प्रवर्तन में 'मध्यमप्रतिपदा दृष्टि' खास दृष्टि है। जैन दर्शन भारतीय दर्शनों में एक विशिष्ट दर्शन है और साथ ही एक विशिष्ट धर्म भी है, इसलिए उसके प्रवर्तक और प्रचारक मुख्यपुरुषों की एक खास दृष्टि, उसके मूल में होनी ही चाहिए और वह है भी। वह दृष्टि 'अनेकान्त' है। वैचारिक स्वतत्रता से जहा दृष्टिगत भिन्नता का जन्म हुआ वहीं, ऐकान्तिक दृष्टिकोण और हठवादिता के रूप में पारस्परिक समन्वय भाव के अभावरूप विद्वेषपूर्ण संघर्ष का भी जन्म हुआ। इस सघर्ष के परिहार का नाम ही 'अनेकान्त' है।

प्रत्येक दर्शन अपने-अपने दृष्टिकोण मे जीव और जगत की व्याख्या करता है और इसका आधार तद्दर्शन की प्रौढ गवेषणापूर्ण व्यापकता तथा समन्वयमूलक चिन्तन हो सकता है। जैनदर्शन का अनेकान्तवाद या सापेक्षवाद तथा स्याद्वाद का सिद्धान्त इस कसौटी पर पूरी तरह खरा उतरता है। उसका यह सिद्धान्त जहॉ उसे व्यापक, उदारचेता और सहिष्णु बनाता है, वहीं अन्य मतावलम्बियों के दृष्टिकोण का सम्मान करना भी सिखाता है।[2] इसी सिद्धान्त ने तो जैन दर्शन को एकदम गैर-साम्प्रदायिक दर्शन की श्रेणी में ला खडा किया है। साम्प्रदायिक चित्त का अर्थ है कि 'सत्य का ठेका मेरे पास है, और सब असत्य हैं, सत्य मैं हूँ।' जहाँ भी ऐसा आग्रह हो, वहाँ साम्प्रदायिक चित्त है। लेकिन जहाँ इतना विनम्र निवेदन हो कि मैं जो कर रहा हू वह भी सत्य हो सकता है, उससे भी सत्य तक पहुचा जा सकता है, तो वहा साम्प्रदायिक चित्त नहीं होगा।

'अनेकान्त' शब्द 'अनेक' और 'अन्त' इन दो शब्दों के सयोग से बना है जिसका सामान्य अर्थ है—'अनेका अन्ता धर्मा यस्यासौ अनेकान्त।' अर्थात् जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म पाए जाते हैं, उसे 'अनेकान्त' कहते हैं। अब जरा इन दोनों शब्दों के अर्थ को और स्पष्ट करते हैं। 'अनेक' शब्द का सामान्य अर्थ है— एक से अधिक अर्थात् दो से लेकर अनन्त संख्या तक,

परन्तु यही शब्द, वस्तु के गुणों के सन्दर्भ में प्रयुक्त होकर वस्तु के दो विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का अर्थ देता है। दूसरे 'अन्त' शब्द का अर्थ है—'धर्म' अर्थात् वस्तु का गुण या स्वभाव।[३] इस प्रकार अनन्त गुण तथा परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में सद्भाव होना ही 'अनेकान्त' है। विभिन्न आचार्यों द्वारा भी इसी बात की पुष्टि की गई है। जयसेनाचार्य के अनुसार—एक वस्तु में मुख्य और गौण की अपेक्षा से अस्तित्व, नास्तित्व (Positive, Negative) आदि परस्पर विरोधी धर्मों का प्रतिपादन ही 'अनेकान्त' है।[४] अमृतचन्द्राचार्य के मत से भी जो वस्तु तत् है, वही अतत् है, जो एक है, वही अनेक है, जो सत् है, वही असत् है, जो नित्य है, वही अनित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु में वस्तुत्व को निष्पन्न करने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशन ही 'अनेकान्त' है।[५]

प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सत्ता, प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक विचार अनन्त धर्मात्मक है।[६] उसके विभिन्न पहलू या पक्ष होते हैं। उन पर विचार किए बिना यदि हम कुछ निर्णय लेते हैं तो यह उस वस्तुत्व के प्रति स्वरूपाघात होगा, वस्तु-विज्ञान के साथ अन्याय होगा और स्वयं अपनी चेतना के साथ भी छलना होगी। किसी भी वस्तु के स्वरूप पर चिन्तन करने से पहले हमें अपनी दृष्टि को पूर्वाग्रहों से मुक्त करके व्यापक बनाना होगा। उससे प्रत्येक पहलू को अस्ति-नास्ति आदि विभिन्न दृष्टियों से परखना होगा, तभी हम उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। अन्यथा आधा-अधूरा ज्ञान हमें कभी वस्तु की तह तक नहीं ले जा सकेगा। प्रत्येक वस्तु अपने रूप, द्रव्य, क्षेत्र और काल के विचार से है और अन्य वस्तु के रूप, द्रव्य, क्षेत्र और काल के विचार से नहीं है।[७] चूँकि प्रत्येक वस्तु का ज्ञान सापेक्ष है। अत किसी तत्त्व पर विचार करने के लिए उसके अनेक धर्मों का विचार करना चाहिए। सक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि 'अनेकान्त' अनन्त धर्मात्मक (नित्य-अनित्य, चेतन-अचेतन, कूटस्थ-क्षणिक) वस्तु विशेष के प्रति व्यक्ति की विधेयक दृष्टि का समन्वित रूप है। यह व्यक्ति के सोचने-समझने की कदाग्रह रहित निष्पक्ष विचार-पद्धति है, समाजवाद, साम्यवाद आदि की तरह। एक ही घर में आज एक व्यक्ति समाजवादी है, तो दूसरा साम्यवादी या फासिस्ट। इसी तरह महावीर के पूर्व भी जब तक सिर्फ विचार-पद्धतियाँ ही रहीं, ऐसा ही था। हम देखते हैं कि जहा एक ओर वैदिक क्रियाकाण्ड था, तो दूसरी ओर ठीक उन्हीं के विरोध में थे—उपनिषद् के विचारक। उपनिषद् उतना ही विरोधी है वेद का, जितना कि जैन या बौद्ध। उपनिषद् के ऋषि ने वैदिक कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के खिलाफ इतनी सख्त बातें कही हैं कि हैरत होती है। लेकिन चूकि तब तक कोई सम्प्रदाय नहीं था अत सभी एक परिवार की तरह अपने-अपने ढंग से विचार करने के लिए स्वतंत्र थे। उनके चित्त सम्प्रदाय से मुक्त थे। लेकिन जब विचार-पद्धतियाँ सम्प्रदाय के घेरे में जकड जाती हैं, तो फिर ऐसा नहीं हो सकता, तब कम्युनिस्ट का बेटा कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट का बेटा ही सोशलिस्ट होगा। उस समय ये मुक्त-विचार पद्धतियाँ जन्म से बँध जायेंगी। उनमें पंथ विशेष के आग्रह का प्रवेश हो जायेगा और तब पारस्परिक प्रेम और सद्भाव बैरभाव में

बदल जायेगा।

आज के विज्ञान ने भी तो यह सिद्ध कर दिया है कि एक ही वस्तु की कई बाजुएँ हो सकती हैं और उनमें भी ऐसी बाजुएँ अधिक होती है, जिनका स्वरूप अधिकतर प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष ही रहता है। अत इन सारे प्रत्यक्ष व परोक्ष पक्षों को समझने के बाद ही किसी भी वस्तु के सत्य स्वरूप का अनुभव किया जा सकता है। पर इसके विपरीत वस्तु विशेष के किसी एक पक्ष या दृष्टिकोण को ही उसका सर्वांग समझकर, सत्य मान बैठना ही दुराग्रह का कारण बन जाता है। विभिन्न पक्षों या दृष्टिकोणो के प्रकाश में जब तक एक वस्तु का स्पष्ट विश्लेषण न कर लिया जाय, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि हमने उस वस्तु का सर्वांग स्वरूप समझ लिया है। अत किसी वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर देखने, समझने या वर्णन करने के विज्ञान का नाम ही अनेकान्तवाद, स्याद्वाद या सापेक्षवाद (Science of Versatility or Relativity)।

आज जगत के वैचारिक सघर्ष की पृष्ठभूमि को समझ लेना भी जरूरी है। एक ही वस्तु के बारे में अलग-अलग लोग अलग-अलग ढग से सोचते हैं, किन्तु जब वे एक ही वस्तु को विभिन्न दृष्टियों से सोचकर उसके स्वरूप को समन्वित करने की ओर नहीं झुकते, तो ऐकान्तिक दृष्टिकोण व हठवादिता का वातावरण शुरू होने लगता है, जो सघर्ष को जन्म देता है। ऐसी परिस्थिति में अनेकान्तवाद का सिद्धान्त हमें बताता है कि सत्य के टुकडों को पकड कर उन्हें ही आपस में मत टकराओ, बल्कि उन्हें तरतीब से जोडकर पूर्ण सत्य के साक्षात् की ओर सामूहिक रूप से जुटना होगा। यदि विचारों को जोड कर देखने की वृत्ति पैदा नहीं होती व एकांगी सत्य के साथ ही हठ को बाध दिया गया, तो यह एकागी सत्य, सत्य न रहकर असत्य में बदल जायेगा। अत यह आवश्यक है कि अपने दृष्टिकोण को सत्य मानते हुए भी दूसरों के दृष्टिकोणों पर भी उदारतापूर्वक विचार करते हुए, उनमें रहे हुए सत्य को जोडकर वस्तु के स्वरूप को व्यापक दृष्टि से देखने की कोशिश हमें करनी होगी। यही ससार के वैचारिक संघर्ष के अन्त का एक मात्र उपाय है।

विचारों की हिसक प्रतिद्वन्द्विता के कुपरिणामों से ससार अपरिचित नहीं है। यही कारण है कि विश्व की बडी-बडी शक्तियाँ कहलाने वाले देशों के नेतागण, चाहे-अनचाहे ही बोल रहे हों, पर यह कहा जा रहा है कि साम्यवाद ओर पूजीवाद दोनों ही विचार-प्रणालियाँ शातिपूर्वक एक साथ चलकर अपनी-अपनी व्यवस्थाएँ कायम रख सकती हैं। यह अनुभूति इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि अब मनुष्य विचारों के दुखद सघर्ष को सहन करते रहने की स्थिति में नहीं है। और इसलिए अब हमें अनेकान्तवाद एव स्याद्वाद के समन्वयकारी सिद्धान्त की ओर झुकना ही होगा। यही सत्य के साक्षात्कार का एकमात्र रास्ता है, और इसी में मानव जाति के शांतिपूर्ण विकास का रहस्य निहित है।

अनेकान्त और स्याद्वाद, ये दोनों ही, इस समय सामान्यत एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कितने ही जैन[६] और अजैन दार्शनिक भी इन्हें एकार्थक ही मानते हैं। जैन दर्शन का विचार पक्ष अनेकान्तवाद के सिद्धान्त से प्रकट होता है और स्याद्वाद इसी विचारपक्ष को प्रकट करने की भाषाशैली है। इसी भाषाशैली का व्याकरणीय विश्लेषण अर्थात् वस्तु के भिन्न-भिन्न धर्मों का प्रकट करना नयवाद (सप्तभगी नय) है। साधारण बोलचाल की भाषा में अनेकान्त को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा भलीभाँति समझा जा सकता है—हम जब कच्चे आम को देखते हैं, तो सहसा कह बैठते हैं—आम हरा है। उसे चखते हैं, तो कहते हैं, आम खट्टा है। इस कथन में आम में रहे हुए अन्य—गध, स्पर्श आदि विद्यमान गुणधर्मों की तथा भविष्य में परिवर्तित होने वाले पीत एव माधुर्य आदि पर्यायों की सहज उपेक्षा-सी हो गई है। निषेध नहीं, उन्हें गौण कर दिया गया है और वर्तमान में जिस वर्ण या रस आदि का विशिष्ट अनुभव हो रहा है, उसी की अपेक्षा से—आम को हरा, और खट्टा कहा गया है। आम के सम्बन्ध में यह कथन, सत्य कथन है, क्योंकि उसमें अनेकान्तमूलक स्वर है। किन्तु यदि कोई कहे कि, आम हरा ही है, खट्टा ही है, तो यह एकान्त या आग्रहवादी कथन होगा।

मनुष्य स्वभाव से ही अपनी दृष्टिगत भिन्नता के सहारे, किसी तत्त्व विशेष या तत्त्वों की व्याख्या तक पहुँचने का प्रयास करता आ रहा है, ताकि इस वैभिन्न्य के बावजूद वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठाक और सरलता से समझा जा सके। पर यदि वह अपने ही कथन को सत्य मान बैठता है, तो उसका कथन भी आग्रह की सीमा में आकर एकान्त और असत्य ही कहलायेगा तथा संघर्ष को ही जन्म देगा। कुछ उदाहरण दृष्टव्य है—वैदिक ऋषि कहते हैं, 'तत्त्व तो एक ही है, केवल विद्वान् लोग ही उसे अनेक नामों से पुकारते हैं'।[९] एक ही तत्त्व की सत्ता मानने वाले, जडवादी और वेदान्ती भी है, परन्तु जडवादियों के अनुसार, वह एक तत्त्व —जडपदार्थ है। पर वेदान्ती उसे चिद्स्वरूप मानते हैं। इसके विपरीत साख्य (द्वैतवादी) मत एक ही तत्त्व की बात को नकारता हुआ, 'प्रकृति' और 'पुरुष' दो तत्त्वों के आधार पर जगत की व्याख्या करता है। वहीं नैयायिक-वैशेषिक इन से भी चार कदम आगे बढकर, अनेक तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करते हुए, भिन्न पदार्थों की सृष्टि करते हैं तथा बौद्ध दर्शन तो इस एक अनेक के पचडे से दूर रहकर अनुभवाश्रित क्षणिकता के आधार पर शून्य को ही सत्य मान बैठता है। यद्यपि इन कथनों में भी सत्याश मौजूद है, परन्तु मेरा ही कथन सत्य है, यह बात प्रत्येक कथन से ही ध्वनित होती है। इस तरह का आग्रह जहाँ भी होता है, वहाँ यह आशिक सत्य भी, सत्य न रहकर असत्य का चोला पहन लेता है। इसीलिए तो भगवान महावीर ने प्रतिभासित सत्य को स्वीकृति देकर भी, अन्य सत्यांशों को लक्ष्य में रखते हुए, आग्रह का नहीं, अनाग्रह का उदार दृष्टिकोण दिया जो 'अनेकान्तवाद' के नाम से जाना जाता है।

लोक-जीवन के व्यवहार-क्षेत्र में भी हम 'ही' का प्रयोग करके नहीं, किन्तु 'भी' का प्रयोग करके ही अधिक सफल और सन्तुलित जीवन जी सकते हैं। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात

स्पष्ट हो जायेगी–

मान लो कि एक अधेड व्यक्ति आपके पास खडा है, तभी एक नौजवान व्यक्ति आकर उससे पूछता है, "भैया। कहाँ जा रहे हो?" दूसरे ही क्षण एक बच्चा कहता है, "पिताजी मेरे लिए मिठाई जरूर लाना" तभी एक बूढा उसे पूछ बैठता है, "बेटा, ऐसी धूप में कहाँ चले?" इस तरह कई व्यक्ति आते हैं और अपने-अपने रिश्ते के अनुसार उसे चाचा, भतीजा, मामा, भानजा, या मित्र कहकर पुकारते हैं। ये सब रिश्ते-नाते परस्पर विरोधी है और दो विरोधी तत्त्व (रिश्ते) एक ही व्यक्ति में कैसे घटित हो सकते हैं? इस प्रश्न का एक मात्र सहज हल यदि कहीं कुछ है तो वह है—अपेक्षावाद या अनेकान्तवाद, जो वस्तु को विभिन्न अपेक्षाओं, दृष्टिबिन्दुओं (view-point) से देखता है। इसके लिए वह, 'ही' का नहीं, 'भी' का प्रयोग करता है। अर्थात् जो बेटा है, वह सिर्फ बेटा ही नहीं, किसी का बाप भी है। चाचा ही नहीं, भतीजा भी, मामा ही नहीं, भानजा भी है। यदि हम केवल 'ही' को ही पकडकर बैठ जायेंगे तो सत्य की रक्षा नहीं कर सकेंगे। एकान्त 'ही' का प्रयोग अपने से भिन्न सत्यों को झुठला देता है। जब कि 'भी' का प्रयोग अपने द्वारा प्रस्तुत सत्य को भी अभिव्यक्ति देता है, दूसरे के सत्यों को भी साथ-साथ मूक एव गौण स्वीकृति देना चलता है इसलिए किसी एक पक्ष एव एक सत्यांश के प्रति एकान्त अन्ध आग्रह न रखकर, उदारतापूर्वक दूसरे पक्षों एव सत्याशों को भी सोचना, समझना और अपेक्षापूर्वक उन्हे स्वीकार करना ही समीचीन है और यही तो भगवान महावीर का अनेकान्त दर्शन है।

किसी एक पक्ष की सत्ता भले ही स्वीकार करो, परन्तु उसके विरोधी जैसे पतिभासित होने वाले (सर्वथा विरोधी नहीं) दूसरे पक्ष की भी जो सत्ता है, उसे झुठलाओ मत। विपक्षी सत्य को भी जीने दो, चूंकि देश काल के परिवर्तन के साथ आज का प्रच्छन्न सत्याश कल प्रकट हो सकता है। अत हमें दोनों ही सत्य के प्रति जागरूक रहना है। व्यक्त सत्य को तो स्वीकार करना ही है, पर साथ ही अव्यक्त सत्य को भी नकारना नहीं है। यह ठीक है कि देश, काल, व्यक्ति एव स्थिति के अनुसार उसकी कथचित् गौणता, सामयिक उपेक्षा तो की जा सकती है, पर सर्वथा निषेध नहीं। क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने स्वचतुष्टय-रूप द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के विचार से है और पर-चतुष्टय की अपेक्षा से नहीं है।[10] अत प्रत्येक वस्तु का ज्ञान सापेक्ष है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'सत्' – नित्य, क्षणिक अथवा अलग-अलग स्थितियों में नित्य-अनित्य दोनों है। वह (सत्) परिवर्तनशील होते हुए भी, कभी उसके अपनेपन को नष्ट नहीं होने देता।[11]

द्रव्य के दृष्टिकोण से जो वस्तु सत्, नित्य, सार्वभौम और एक है, पर्याय के दृष्टिकोण से वही—असत्, क्षणिक, विशेष और अनेक है।[12] इसलिए कोई निर्णय निरुपाधि और ऐकान्तिक (one sided) नहीं हो सकता। सब परामर्शो (Judgements) में स्वीकार और निषेध दोनों होते हैं। इसीलिए तो जैन दार्शनिकों ने वस्तु का सदा 'सदात्मकम् व्यावृत्यनुगमात्मक, नित्यानित्य

स्वरूपं तथा अनेकानेकात्मकम्' कहकर वर्णन किया है। वस्तु की इस कथनगत पारस्परिक विभिन्नता को स्पष्ट करने के लिए हाथी और छ अन्धों का दृष्टान्त दिया है—छ अन्धे एक हाथी का आकार जानना चाहते हैं। वे अपने-अपने हाथों से हाथी के शरीर के अलग-अलग भागों को छूते हैं। प्रत्येक अन्धा उसी भाग को ही पूरा हाथी समझ लेता है। इस तरह कोई पैर, कोई पूंछ, कोई कान, कोई सूंड तो कोई पेट इत्यादि को पकडता है और हाथी के विषय में अपना-अपना अभिमत प्रकट करते हुए—कोई उसे पखे जैसा, कोई खम्भे जैसा, कोई रस्सी जैसा बतलाता है। जिसने पैर को छुआ है वह हाथी को खम्भे जैसा बोलता है। प्रत्येक सोचता है कि उसी का ज्ञान सब कुछ है और बाकी गलत हैं। इसी प्रकार दार्शनिक भी अपनी-अपनी हाकते हुए दूसरों के मत को असत्य ठहराते हैं। उपरोक्त उदाहरण में सिर्फ आँखों वाला व्यक्ति जानता है कि सभी सच्चे हैं और सभी झूठे हैं। अपने-अपने दृष्टिकोण (view-points) से प्रत्येक दर्शन सत्य हैं, परन्तु दूसरे को झूठा ठहराने वाला अथवा अपने ही मत को एक मात्र सत्य समझने वाला दर्शन झूठा है। वर्तमान वस्तुवादियों (Realists) ने इसी को एकान्तवाद का दोष कहा है। जैन दर्शन ने अनेकान्तवाद का सिद्धान्त देकर इस समस्या के समाधान की दिशा में एक सराहनीय एवं सफल प्रयास किया है, जिसके द्वारा बैर-विरोध को टालते हुए सत्य को प्राप्त किया जा सकता है।

जिस समय इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था, उस समय यथार्थता का बोध और उस बोध का निर्वचन तीन विभिन्न प्रकार से किया जाता था—अस्ति रूप में, नास्ति रूप में तथा अस्ति-नास्ति दोनों रूप में तथा इन तीनों के प्रतिपादक दर्शन क्रमश साख्य, बौद्ध और उपनिषद् हैं। महावीर ने कहा, इन तीन से ही काम नहीं चलेगा। यदि इन्हें अलग-अलग करके देखा जाए तो इन तीनों में से एक भी दृष्टिकोण पूर्णत सही नहीं है क्योंकि ये यथार्थता के जिस रूप का निर्वचन करते हैं, वह अयथार्थ ही नहीं, एक पक्षीय भी है। जैन दर्शन के अनुसार यथार्थता का स्वरूप अनियत है अत उसका साग्रह निर्वचन करना भ्रान्तिपूर्ण है। पूर्णसत्य का ज्ञान तो केवल केवली को ही होता है, अत समग्र निर्वचन केवल सर्वज्ञ या केवली ही कर सकते हैं। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए सिद्धसेन दिवाकर ने 'अनेकान्तवाद' को विश्व का एकमेव गुरु निरूपित किया है, क्योंकि उसके बिना लोक का व्यवहार बिलकुल नहीं चल सकता।[13] इसलिए जो सर्वज्ञ या केवली नहीं है, उन्हें साग्रह कथन से बचने के लिए अपने प्रत्येक परामर्श में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करने की सलाह जैन दार्शनिकों द्वारा दी गई, जो वस्तु स्वरूप को जानने की कुंजी है। स्यात्सयुक्त सप्तभगी—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति च नास्ति च, स्यात् अवक्तव्यम्, स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च, स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च, स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च, के द्वारा ही अनन्त धर्मात्मक वस्तु की सम्पूर्ण यथार्थता का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

सप्तभंगी के इन सात भंगों में शुरू के चार ही महत्त्व के हैं। शेष तीन की तो पुनरावृत्ति

मात्र ही है। शुरू के इन चार भगों का महत्त्व इस बात से भी प्रतिपादित होता है कि इनकी चर्चा वेद, उपनिषद् तथा दीर्घनिकाय के ब्रह्मजाल सूत्र में भी पायी जाती है।[१४] इन चार भंगों में से भी, चौथा 'स्यात् अवक्तव्य' ही सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार किसी वस्तु का क्रमिक वर्णन विभिन्न दृष्टियों से हो सकता है। एक साथ विरोधी धर्मों के द्वारा वस्तु का वर्णन नहीं किया जा सकता, अत उसे अवक्तव्य कहा जाएगा, सभी प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' या 'नहीं' में नहीं दिया जा सकेगा। कई ऐसे भी प्रश्न हैं जिनका कोई उत्तर नहीं हो सकता। साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि परस्पर विरुद्ध धर्म किसी वस्तु के लिए एक ही अपेक्षा से एक साथ प्रयुक्त नहीं हो सकते। इन सब बातों को दृष्टिगत रखते हुए ही इस मंत्र का उदय हुआ है। कहा जाता है कि आगम युग के प्रारम्भ में इस का (स्यात् अवक्तव्य) अर्थात् सत्-असत् या नित्य-अनित्य आदि दो अंशों को एक साथ प्रतिपादन करने वाला कोई शब्द ही नहीं था, अत ऐसे प्रतिपादन की विवक्षा होने पर, वस्तु अवक्तव्य है, ऐसा कहा जाता था। पर जब हम इस (अवक्तव्य) शब्द के प्राचीन इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो—उपनिषदों में इसे "यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह" उक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप को अनिर्वचनीय या वचनागोचर के रूप में कहा गया है।[१५]

इसी तरह, 'सव्वे सरा निअट्टंति, तत्थ झुणी न विज्जइ'[१६] कह कर आत्मा के स्वरूप को वचनागोचर ही कहा गया है। भगवान बुद्ध ने भी अनेक वस्तुओं को अव्याकृत[१७] शब्द के द्वारा वचनागोचर ही कहा है। जैन परम्परा में तो अनभिलप्य[१८] भाव प्रसिद्ध ही हैं, जो कभी वचनगोचर नहीं होते।

मजे की बात तो यह है कि, उपनिषद् कहते हैं—'ब्रह्म की व्याख्या नहीं की जा सकती, बाइबिल कहती है—'ईश्वर की व्याख्या नहीं हो सकती', लेकिन महावीर कहते हैं—ईश्वर और ब्रह्म तो बडी बातें हैं, 'घडे' की व्याख्या नहीं हो सकती, छोटी से छोटी चीज में भी एक तत्त्व ऐसा है, जो उतना ही अव्याख्येय है, जितना कि 'ब्रह्म'। छोटी से छोटी चीज में वह मौजूद है और अनिर्वचनीय है। इसलिए महावीर चौथा मत्र—'स्यात् अनिर्वचनीय' जोडते हैं। वह ऐसा भी नहीं कहते कि अनिर्वचनीय है, क्योंकि वह कहते हैं कि यह दावा ज्यादा हो जाएगा। अत वह जो भी कहते हैं, उसके पहले, 'स्यात्' लगा देते हैं। महावीर जब भी कहते हैं 'स्यात्', तो उसका अर्थ होता है—'ऐसा भी हो सकता है' 'इससे अन्यथा भी हो सकता है।' 'स्यात्' शब्द में दो बातें जुडी हैं—ऐसा है, इससे अन्यथा भी है, इसलिए कोई दावा नहीं है। किसी प्रकार का आग्रह नहीं है। सप्तभगी में 'अवक्तव्य' का जो अर्थ लिया जाता है वह पुरानी व्याख्या का वादाश्रित एवं तर्कगम्य दूसरा रूप है। इन सात कोणों से जो व्यक्ति बिना किसी दृष्टि से बँधे, देखने में समर्थ है, वह पूर्णसत्य को जानने में तो समर्थ हो जायेगा, लेकिन बोलने में समर्थ नहीं होगा। पूरा-पूरा सत्य जब भी बोला जायेगा, इन्हीं सात भगियों में ही बोला जायेगा।

जैन दर्शन अनुभव पर आधारित एक धर्म (वस्तु के गुण) के ज्ञान को सत्य तो मानता है, पर यह नहीं मानता कि केवल इसी एक धर्म के आधार पर सपूर्ण सत्य का ज्ञान हो जाता है। वह अनुभववादी होकर भी, केवली के सम्पूर्ण ज्ञान को मान्यता देता है, तथा अनुभव को प्रमाण मानकर भी उसी वस्तु में विरोधी धर्म का अस्तित्व भी मानता है। जबकि वर्तमान अनुभववादी या यथार्थवादी जैनदर्शन के इस रूप को मानने को तैयार नहीं। अनेकान्तवादी दृष्टिकोण अनुभववादी या यथार्थवादी होते हुए भी पाश्चात्य दर्शन में बहुप्रचलित तार्किक भाववाद (लॉजिकल पाजिटिविज्म) की एकान्तवादी दृष्टि को नहीं अपनाता।

पाश्चात्य दार्शनिक—लॉक, वर्कले तथा ह्यूम भी अनुभववादी हैं। लोक ने भी जड द्रव्य में, मुख्य तथा गौण धर्मों की कल्पना की है। वह गौणधर्मों को अनुभव सापेक्ष भी मानता है, पर इन दोनों गुणों का आश्रय जडद्रव्य को मानता है। जैन दर्शन के—'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'[१९] सूत्र के अनुसार—द्रव्य का अस्तित्व गुण एव पर्यायियुक्त है। इनसे स्वतत्र रूप से द्रव्य की कल्पना नहीं की जा सकती।[२०] कहने का अभिप्राय यह है कि जब वस्तु के एक धर्म का अनुभव होता है, तब दूसरा धर्म वस्तु के आश्रित रहता है। एक ही धर्म से वस्तु का तादात्म्य नहीं हो सकता। अनुभव एक धर्म का होता है, लेकिन वस्तु अनेक धर्मात्मक रहती है। जो वस्तु द्रव्य रूप से नित्य होती है, वही पर्यायरूप से अनित्य। अर्थात् उसके धर्मों में परिवर्तन होता रहता है। जैसे—सोना द्रव्य रूप से नित्य, लेकिन इसके आकार—कुण्डल, कंगन, हार पर्याय होने से अनित्य है। हमारे सामान्य अनुभव में दो विरोधी धर्म निहित रहते हैं, पर हम कथन केवल उसका करते हैं, जो प्रत्यक्ष होता है। परन्तु इस कथन में भी, सच्चाई होते हुए भी आग्रह नहीं होना चाहिए। क्योंकि द्रव्य में विरोधी धर्म भी रहते हैं। अत 'स्यात्' शब्द के प्रयोग से हमारी दृष्टि निष्पक्ष और अनेकान्तवादी हो जायेगी।

'स्यात्' शब्द के बारे में जितनी भ्रान्ति दार्शनिको में रही है, उतनी किसी और शब्द के सम्बन्ध में शायद ही रही हो। इसका शायद सम्भवत आदि अर्थ करते हुए, उसे सशयवाद, सम्भावनावाद या अनिश्चयवाद समझने की भूल की जाती रही है और इस भूल का कारण उसे निष्फल पद मान लेना है। जबकि आचार्य समन्तभद्र के अनुसार यह निपात शब्द है जो अर्थ के साथ सम्बद्ध होने पर वाक्य में अनेकान्त का द्योतक होकर विवक्षित अर्थ का एक विशेषण है।[२१] अमृतचन्द्राचार्य ने भी इसे एकान्त का निषेधक, अनेकान्त का प्रतिपादक तथा 'कथचित्' अर्थ का द्योतक एक निपात शब्द ही बताया है।[२२] मल्लिषेण आदि ने भी 'स्यात्' को अनेकान्त का द्योतक एक अव्यय ही माना है।[२३] ऐसा लगता है कि जैन दार्शनिक इस बात के प्रति सावधान थे कि 'स्यात्' शब्द का सशय-परक अर्थ लिया जा सकता है, तभी उन्होंने इसके साथ 'एव' शब्द भी जोडा, जो निश्चयात्मकता का द्योतक है। जैसे—'स्यादस्त्येव घट' अर्थात् किसी अपेक्षा से यह घडा भी है।

'स्यात्' सशय का नहीं, पूर्णता का परिचायक है। अर्थात् इस वस्तु-स्थिति के बारे में कहा

तो जा रहा है, किन्तु जो कुछ कहा जा रहा है, वह सापेक्ष है। ऐसा कुछ बच रहा है जिसे भाषा अपनी असमर्थता के कारण कह नहीं पायी है। भाषा की विवशता यह है कि वह सम्पूर्णता का युगपत् कथन नहीं कर सकती। वह एक समय में एक ही स्थिति के कथन में समर्थ है, ऐसा करते हुए, अन्य सहवर्ती स्थितियों का कथन उसकी पकड से छूट जाता है। छूटा हुआ अर्थ अनुभव में रहता है, किन्तु कहने में सम्बन्धित अर्थ स्खलित हो जाता है। 'स्यात्' का अर्थ 'सापेक्ष' है।[२४] जब हम हिमालय को उत्तर में कहते हैं तो भारत की अपेक्षा से कहते हैं, चीन की अपेक्षा से नहीं, अन्यथा वह दक्षिण में भी हो सकता है।

भारतीय दर्शन के प्राय सभी सम्प्रदायों ने किसी न किसी रूप में समन्वय तथा सहअस्तित्व की भावना का आदर किया है। इस भावना के बीज वेदों तथा उपनिषदों में भी मौजूद हैं।[२५] वेदों के 'अनिर्वचनीयवाद,' बुद्ध के अव्याकृतवाद तथा विभाज्यवाद एव साख्य की परिणामी नित्यता में इसी समन्वय भावना के सकेत ही तो पाए जाते है। अक्षपाद के 'न्यायसूत्र' के भाष्य का वात्स्यायन ने २-१-१५,१६ के भाष्य में जो निरूपण किया है वह अनेकान्त का ही द्योतक है। इतना ही नहीं, 'यथादर्शन विभागवचन' कहकर तो उन्होंने 'विभाज्यवाद' को ही ध्वनित किया है और विभाज्यवाद का ही दूसरा अर्थ अनेकान्त है। साख्य दर्शन की सारी की सारी तत्त्वचिन्तन-क्रिया अनेकान्त दृष्टि से निरूपित है। योगदर्शन के सूत्र (३-१३) के भाष्य तथा वैशारदी विवरण को पढकर तो साख्य मत की अनेकान्त दृष्टि को भलीभाति समझा जा सकता है। कुमारिल ने भी (श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, २७-३० में) अपनी तत्त्वव्यवस्था में अनेकान्त दृष्टि का उपयोग किया है। उपनिषदो के समान आधार पर स्थापित केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि अनेक वाद वस्तुत अनेकान्त विचार के ही भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। इस सबके बावजूद, अनेक आचार्यो ने जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का जोरदार खण्डन किया है। बौद्ध और वेदान्तियों ने इसे एक परस्पर-विरोधी सिद्धान्त कहा है। धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और शकराचार्य ने तो इसे पागलों का प्रलाप ही कह डाला है।[२६] बादरायण जैसे सूत्रकारों ने तो उसके खण्डन में सूत्र ही रच डाले। यही नहीं, उन सूत्रों के भाष्यकारों ने तो उसी विषय में अपने भाष्यों की रचना की। ऐसा लगता है कि शकराचार्य तथा अन्य धर्म के अनुयायियों ने अपने सम्प्रदाय में आग्रह रखते हुए जैनदर्शन की मूल दृष्टि की ओर ध्यान ही नहीं दिया।

जैन दार्शनिकों ने भी उनका डटकर मुकाबला किया, परिणामस्वरूप अनेकान्त दृष्टि का तर्कबद्ध विकास हुआ और उसका प्रभाव दूसर विरोधी सम्प्रदायों के विद्वानों पर भी पडा। रामानुजाचार्य ने शकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध अपने मत की स्थापना करते हुए आश्रय तो उपनिषदों का ही लिया, पर विशिष्टाद्वैत के निरूपण में अनेकान्त दृष्टि का ही उपयोग किया। इसी तरह पुष्टिमार्ग के पुरस्कर्ता वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद के सारे तत्त्व हैं तो औपनिषदिक पर उनकी सारी विचार-सरणि अनेकान्त दृष्टि का ही नया वेदान्त है।[२७] यों तो भारतीय दर्शन में अस्ति-नास्ति का विचार प्राचीन काल से ही पाया जाता है, फिर भी जैनेतर

वाङ्मय में अनेकान्तवाद का निखरा हुआ स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता जो जैनागम में मिलता है।[२८]

जैनदर्शन के इतिहास में सप्तभगी का जो रूप आज दिखाई देता है, प्राचीन आगमों में उसका—स्याद्वाद के सात भगों का, कहीं उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यं' की 'त्रिपदी' तथा द्रव्य, गुण, पर्याय एव नय आदि स्याद्वाद सूचक शब्दों का अनेक स्थानों पर उल्लेख पाया जाता है।[२९] ईसा की पहली सदी में आचार्य उमास्वामी ने नयवाद की चर्चा[३०] तो की है, किन्तु स्याद्वाद के सप्तभगों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इनका सबसे पहले उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने 'पचास्तिकाय' और 'प्रवचनसार' ग्रन्थों में किया है। इसके बाद सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य समन्तभद्र, मल्लवादि, भद्रगणि, जिनभद्र, हरिभद्र, विद्यानन्द, आचार्य हेमचन्द्र आदि ने अनेकान्त और स्याद्वाद पर स्वतंत्र रूप से चर्चाएँ करते हुए अनेक बहुमूल्य ग्रंथों का प्रणयन किया।

वस्तु के गुणो की सापेक्षता और निरपेक्षता के आधार पर एकान्त और अनेकान्त को भी सम्यक् (सापेक्ष) और मिथ्या (अन्य गुणों के अभाव की अपेक्षा) दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। जब वस्तु के विरोधी धर्मो को सापेक्षिक रूप से अनेक दृष्टिकोणों के सन्दर्भ में देखा जाता है तब वह 'सम्यक्-अनेकान्त' कहलाता है तथा जब वस्तु के विरोधी धर्मो को निरपेक्ष रूप से अनेक दृष्टिकोणों के सन्दर्भ में देखा जाता है तब उसे 'मिथ्या-अनेकान्त' कहते हैं। इसे प्रमाणाभास के नाम से भी जाना जाता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि तत् व अतत् स्वभाव वाली वस्तु से शून्य, केवल वचन विलासरूप, परिकल्पित अनेक धर्मात्मक निरूपण ही 'मिथ्या अनेकान्त' है।[३१]

अनेकान्तवाद के सिद्धान्त की महिमा अमृतचन्द्राचार्य के शब्दों में दृष्टव्य है—'मैं उस अनेकान्त को नमन करता हूँ जो परमागम (जिनवाणी) का जीव (प्राण) है, जिसमें जन्म से अधे लोगों का हस्तिविज्ञान और कथन निषिद्ध है।" अर्थात्, जैसे जन्माध व्यक्ति हाथी के एक पैर या सूंड को पकड कर उसे ही हाथी मान, कथन कर परस्पर लडते हैं, वैसा अनेकान्त नहीं है। इसमें तो सभी नय हिलमिल कर क्रीडा करते हैं। यह सभी प्रकार के दृष्टिजन्य विरोधों को दूर करने वाला समन्वयवादी उदार सिद्धान्त है।[३२] जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी महती उपयोगिता है। आध्यात्मिक दृष्टि से जहाँ वह जड, चेतन पदार्थों का यथार्थ बोध कराता है, जिससे हम आत्मस्वरूप का परिचय पाकर, ज्ञान और अनुभूति के अनुरूप आचरण कर, आत्मा की स्वोन्मुखी वृत्ति का विकास करके, परोन्मुखीवृत्ति का परिहार करते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त परोन्मुखी वृत्ति के मूल—परपदार्थों के प्रति ममत्व का समूल नाश करता है तो लौकिक दृष्टि से व्यक्ति और समाज के बीच बाहरी-भीतरी मतभेदों, विवादों आदि का निराकरण करके सामाजिक सुरक्षा एवं शान्ति की स्थापना में सहायक होता है। यही नहीं, विश्व में आर्थिक दृष्टि से पूंजीवाद एवं साम्यवाद तथा राजनीतिक दृष्टि से लोकतन्त्र और अधिनायकवाद (तानाशाही) आदि परस्पर

विरोधी विचारधाराओं के बीच समन्वयकारी सेतु का काम करता है। यह मानव-समाज को बहुत से विवादों और झगड़ों से बचाता है। विरोधी के प्रति सहिष्णुता का भाव हमारे अनेक विवादों, वैमनस्यों और मतभेदों को दूर कर देता है। क्योंकि इनका एक मात्र कारण है दूसरों के भाव को न समझना या विरोधी के विचारों के प्रति सहिष्णुता न रखना। यह हमें समन्वयवादी दृष्टि देकर विविध धर्मों, वर्गों, सम्प्रदायों एवं मत-मतान्तरों में विभक्त मानवता को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह सिद्धान्त कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मानव-मन में पाए जाने वाले—श्रद्धा और तर्क (बुद्धि) में से कभी श्रद्धा की प्रधानता होती है, तो कभी तर्क की। श्रद्धा से भरा मन तर्क या बुद्धि की उपेक्षा कर देता है, तो तर्क का पक्षधर श्रद्धा को मात्र एक अन्धविश्वास मान बैठता है। श्रद्धा के आँख नहीं होती, केवल पाँव होते हैं, वह चुपचाप सिर झुकाए चला करती है। बुद्धि के पाँव नहीं रहते, केवल आँख होती है, वह देखती है और दिखा सकती है। परन्तु पूर्ण जीवन के लिए, न तो केवल चलते जाना ही पर्याप्त है और न देखते, दिखाते रहना। व्यवहार-जगत में आँख और पाँव दोनों का रहना आवश्यक है। श्रद्धा हमारी आधारभूत भूमि हो, और बुद्धि उसके ओर-छोर को अजोरती आलोकशिखा। केवल श्रद्धा या केवल तर्क (बुद्धि) तो आधे अधूरे-साधन हैं। इन दोनों का समन्वय अनेकान्त से ही सम्भव है। जैन दर्शन के अहिसा और अपरिग्रह भी अनेकान्तात्मक ही हैं। अहिसात्मक अनेकान्त को इस प्रकार समझा जा सकता है। जैन दर्शन में साधक के लिए हिंसा का सर्वथा निषेध[33] है, पर जनकल्याण के लिए, ध्येय की प्राप्ति हेतु तथा वीतराग जीवनचर्या में भी कभी कहीं परिस्थितिवश, अनचाहे जो सूक्ष्म या स्थूल प्राणीघात हो जाता है, उस विषय में कभी एकान्त निवृत्ति का आग्रह नहीं किया। अपितु व्यवहार में उस प्राणीहिसा को, हिंसा स्वीकार करके भी, उसे निश्चय हिसा की परिधि से मुक्त माना। क्योंकि उन्होंने अहिंसा की मौलिक तत्त्वदृष्टि से बाह्य प्राणीवध को नहीं, किन्तु रागद्वेषात्मक अन्तर वृत्ति के प्रमत्त योग को ही हिसा बताया है।[34] अपरिग्रह के क्षेत्र में भी यही बात घटित होती है। महावीर वस्तुवादी न होकर भाववादी थे, फिर भला उनका अपरिग्रह का सिद्धान्त बाह्य जड वस्तुवाद में कैसे उलझ जाता? उन्होंने स्पष्ट घोषणा की—वस्तु परिग्रह नहीं, भाव (ममता) ही परिग्रह है। मन की मूर्च्छा[35] आसक्ति और रागात्मक विकल्प यही परिग्रह है, बन्धन है। इसे ही जैन दर्शन का अपरिग्रहात्मक अनेकान्त कहा जा सकता है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि अनेकान्त हमारे सारे मतभेद, बैर-विरोध एवं विषमतापूर्ण आचार-विचार की विकृतियों से मुक्त करके एक अहिसक और अपरिग्रही समाज-व्यवस्था देकर सर्वोदय का मार्ग प्रशस्त करता है। यह जैन दर्शन का एक विलक्षण सिद्धान्त है, जो सभी नयों से गुम्फित है। इन नयों के साथ उसका दृष्टिकोण उस पिता की तरह है, जिसका अपने सभी पुत्रों पर समता भाव है।[36] हेमचन्द्राचार्य तो इसी सिद्धान्त के आधार पर जैनमत को निष्पक्ष निरूपित करते हुए कहते हैं कि वह सभी एकान्तिक नयों को एक साथ रखता है, जबकि अन्य

सम्प्रदाय सापेक्ष्य और एकान्तिक होकर परस्पर मत्सरता में उलझे रहते हैं—

"अन्योन्यपक्ष-प्रतिपक्ष-भावाद् यथापरे मत्सरिण प्रवादा।
न भावशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समपस्तथाते॥"[३७]

आइए, अब जरा 'स्याद्वाद' पर भी थोडा विचार कर लें। यों तो अनेकान्त और स्याद्वाद दोनों ही सामान्यत एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, पर दोनों में थोडा-बहुत अंतर है—जैन दर्शन का विचार पक्ष अनेकांतवाद के सिद्धान्त से प्रकट होता है। यही अनेकान्त, जब वाणी का आश्रय लेता है, तो अभिव्यक्ति का शालीन परिधान पहन लेता है। भाषा का बाना धारण करते ही यही स्याद्वाद कहलाने लगता है। अर्थात् जैन दर्शन की चिन्तनशैली यदि अपेक्षावादी या अनेकान्तवादी है, तो कथन शैली-स्याद्वाद या विभाज्यवादी। अनेकान्त वस्तु में अनन्त धर्म तत्त्व की दृष्टि रखता है, अत वह वस्तुपरक है। स्याद्वाद अनन्तधर्मात्मक वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा प्रधान वर्णन होने से वह शब्दपरक है। जन साधारण इतनी गहराई में न जाकर दोनों को ही पर्यायवाची मान लेता है। है तो दोनों में ही अनेकान्त का स्वर, फिर भी अनेकान्त स्याद्वाद की अपेक्षा अधिक व्यापक है। दोनों में व्यापक-व्याप्य भाव है। अर्थात् अनेकान्त व्यापक है और स्याद्वाद व्याप्य। अनेकान्त वस्तुस्वरूप है तो स्याद्वाद उस अनेकान्तिक वस्तुस्वरूप के कथन की निर्दोष भाषा-पद्धति है। अनेकान्त दर्शन है तो स्याद्वाद उसकी अभिव्यक्ति का ढंग।

अनेकान्त दर्शन की महत्ता को निम्नलिखित विचारकों के मत से भलीभाति समझा जा सकता है कि उसकी क्या उपयोगिता है। राष्ट्रकवि स्व रामधारी सिह दिनकर कहते हैं—"अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और ससार इसे जितनी शीघ्रता से अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।" राष्ट्रपिता महात्मा गाधी के विचारों में आये परिवर्तन का कारण उन्हीं के शब्दों में देखिए—"पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं, आज मैं विरोधियों की दृष्टि मे भी देख सकता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद—सत्य और अहिंसा—इन युगल सिद्धातों का परिणाम है।"

यह दार्शनिक चिन्तन सिर्फ दर्शन और धर्म के क्षेत्र में ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला चिन्तन है। इसी अनेकान्त दर्शन के आधार पर हम गरीबों को, दुर्बलों को और अल्पसंख्यकों को न्याय दे सकते हैं, उनके अस्तित्व को स्वीकार कर उन्हें भी विकसित होने का अवसर दे सकते हैं। आज विभिन्न वर्गों में, राष्ट्र, जाति-धर्मों में जो विग्रह, कलह एवं संघर्ष है, उसका मूल कारण भी एक-दूसरे के दृष्टिकोण को न समझना, वैयक्तिक आग्रह एवं हठ है। अनेकान्त ही इन सब में समन्वय स्थापित कर सकता है। यह हमारी संकीर्ण एवं अनुदार दृष्टि को विशाल बनाता है, और यह विशालता, उदारता ही पारस्परिक सौहार्द, सहयोग, सद्भावना एव समन्वय का मूल प्राण है। अनेकान्त वस्तुत मानव का जीवन धर्म है, समग्र

मानव-जाति का दर्शन है। वर्तमान युग में तो इसकी और भी आवश्यकता है। समानता और सह अस्तित्व का सिद्धान्त अनेकान्त के बिना चल ही नहीं सकता।

❖❖❖

१ "सुन्दर हैं विहग सुमन सुन्दर, मानव तुम सबसे सुन्दरतम।' —पन्त

२ डॉ चन्द्रधर शर्मा, "इण्डियन फिलासफी', प्रथम सस्करण, पृ स ५८

३ 'वत्थुसहावो धम्मो' —कार्तिकेयानुप्रेक्षा।

४ "अनेकान्त इति कोऽर्थ इति चेत् एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकं अस्तित्व-नास्तित्व-द्वयादिस्वरूपं परस्परविरुद्ध- सापेक्षशक्ति-द्वय यत्तस्य प्रतिपादन स्यादनेकान्तो भण्यते।"—'समयसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा ४१

५ "तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव, सत्तदेवासत् यदेव नित्य तदेवानित्यम् इत्येकवस्तुवस्तुत्व-निष्पादकपरस्पर- विरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्त ।"—समयसार, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट, गाथा संख्या ४१५

६ "सदेव, सत् स्यात्सादत्ति त्रिधार्थोमीयेत दूर्नीति नयप्रमाणे ।"—आचार्य हेमचन्द्र, अन्ययोगव्यवच्छेदिका, २८

७ "स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावै सत्त्व, पररूपद्रव्य-क्षेत्र-कालभावैस्त्वसत्त्वम।" आचार्य हेमचन्द्र, स्याद्वादमंजरी, पृ १७६-७७

८ "तत स्याद्वाद अनेकान्तवाद", वही, प फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, 'जैनतत्त्वमीमांसा', पृ सं ३६०-६१, आचार्य समन्तभद्र, आप्तमीमांसा—

"वाक्येष्वनेकान्तद्योतीगम्ये प्रतिविशेषणम्।

स्यान्निपातोऽर्थ योगित्वात्त केवल्निनामपि॥१०३॥" उद्धृत, जैन तत्त्वमीमासा, पृ ३६१

९ "एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति" — ऋग्वेद

१० स्याद्वाद मजरी, पृ १७६-७७

११ अन्ययोगव्यवच्छेदिका, २८

१२ "अपर्यय वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्चविविच्यमानम्।

आदेशभेदोदितसप्तभगमदीदृशस्त्व बुधरूपवेद्यम्॥—अन्ययोगव्यवच्छेदिका, १३

१३ "जेण विणा लोगस्य वि ववहारो सव्वहा न निव्वाहइ।

तस्स भुवणेक्क गुरुणो, णमो अणेगातवायस्स।"

१४ पं सुखलाल, जैनधर्म का प्राण, पृ १७३

१५ तैत्तिरीय उपनिषद् २-४

१६ आचारांग सूत्र, १७०

१७ मज्झिमनिकाय सुत्त, ६३

१८ विशेषावश्यक भाष्य, १४१, ४८८

१९ आचार्य उमास्वामि, तत्त्वार्थसूत्र, ५/३८

२० "दव्वं, पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जिवा णत्थि।" समणसुत्तं, पृ. २१२

२१ "वाक्येष्वनेकान्तद्योतीगम्ये प्रतिविशेषणम्।

स्यान्निपातोऽर्थ योगित्वात्तत्र केवलिनामपि।"—आप्तमीमांसा, १०३

२२ "सर्वथात्व निषेधकोऽनेकान्तता द्योतक कथंचितदर्थे स्यात् शब्दो निपात।"—पंचास्तिकाय, टीका

२३ "स्यादित्यव्ययमनेकांतद्योतकं", स्याद्वादमंजरी

२४ 'तीर्थंकर', मासिक, अगस्त ८९, सम्पादकीय, पृ ६-७

२५ "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" ऋग्वेद

"नासादासीन्नो सदातीत् तदानीम", ऋग्वेद, नासदीय सूत्र।

"तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तदन्तिके, अणोरणीयान् महतो महीयान्।" 'सदसच्चामृतं च यत्"—ईशोपनिषद्-५,

"अणोरणीयान् महतो महीयान्" —कठोपनिषद्—२०,

२६ प्रमाणवार्तिक, न १८२-१८५ 'तत्त्वसंग्रह' ३११-२७, शारीरिक भाष्य, नन २,३३

२७. पं सुखलाल, जैनधर्म का प्राण, अनेकान्तवाद, पृ १७७-७९

२८ दि जैन म बुलेटिन वर्ष २, अक १०, पृ ७, श्री श्रीनिवास शास्त्री, जैनदर्शन की अनुपम देन—अनेकान्त दृष्टि

२९ जगदीश चन्द्र जैन, स्याद्वादमंजरी, भूमिका, पृ २७

३० तत्त्वार्थाधिगम सूत्र

३१ "तद् तत्स्वभाववस्तुशून्य परिकल्पितानेकात्मक केवल वाग्-विज्ञानं मिथ्यानेकान्त।" —तत्त्वार्थवार्तिक १६, ७

३२ "परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यंधसिंधुरविधानम्।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकांतम्।"—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २

३३ "सव्वाओ पाणारवायाओ विरमणं" स्थानागसूत्र, उपाध्याय अमर मुनि, 'भगवान महावीर का अनेकान्त

दर्शन' मार्च १९५२ में उद्धृत।

३४. 'पमायं कम्ममाइसु'—सूत्रकृतांग १।८।३

३५ 'मुच्छा परिग्गहो', दशवैकालिक, मूर्च्छापरिग्रह, तत्त्वार्थसूत्र ७।१७।

३६. "जैनीदृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते।

यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव। —आचार्य यशोविजय, अध्यात्मसार, ६१

३७ आचार्य हेमचन्द्र, अन्ययोगव्यवच्छेदिका, ३०
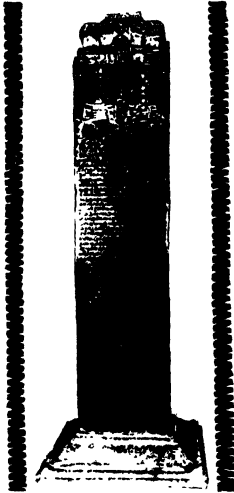
अनेकान्तवाद और उसकी व्याप्ति

❑ *डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच*

जैनदर्शन यथार्थ में वस्तुवादी दर्शन है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण बसते हैं इसलिए वह वस्तु कहलाती है। वस्तु में रहने वाले अनन्त गुण-धर्म सहज, स्वाभाविक होते हैं। उनको कोई उत्पन्न नहीं करता है, इस कारण कोई नाश भी नहीं कर सकता है। वास्तव में वस्तुत्व के उत्पादक तथा निष्पादक स्वत गुण हैं। हर वस्तु अपने-अपने गुणों से एक-दूसरे से भिन्न तथा विलक्षण होती है। वस्तु में दो प्रकार के गुण होते हैं—सामान्य और विशेष। सभी वस्तुओं में सामान्यत अस्तित्व गुण पाया जाता है जिससे वस्तु स्वत सिद्ध होती है। वस्तुत वस्तु में होने वाला परिणाम भी स्वाभाविक है। स्वभाव सदा परनिरपेक्ष होता है। जिस वस्तु से जो भाव निष्पन्न होता है, वह भाव वह वस्तु ही है। प्रत्येक भाव वस्तु को ही साधने वाला होता है। अत बिना भाव और बिना आकार के कोई वस्तु नहीं होती।

'अनेकान्त' शब्द 'अनेक' और 'अन्त' इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'अनेक' का अर्थ है—बहुत तथा 'अन्त' का अर्थ है—धर्म। प्रत्येक वस्तु में तरह-तरह के अनन्त धर्म रहते हैं जिनमें विरोधी धर्म भी अविरोध रूप से रहते हैं। एक अग्नि में दाहक, पाचक, प्रकाशक आदि गुण-धर्म पाये जाते हैं। पाषाण में जहाँ रूक्षता, शीतलता आदि गुण-धर्म रहते हैं वहीं अग्नि भी रहती है। यदि अग्नि न हो तो पाषाण के दो टुकडों की रगड से आग कैसे पैदा हो जाती है। आग भीतर में शक्ति रूप से है, तभी प्रकाशित होती है।

वस्तु में वस्तुत्व रूप से रहने वाले गुण-धर्मों को बतलाना ही अनेकान्त का प्रयोजन है। अनेकान्त वह अभेद्य दुर्ग है जिसमें परमत, परवस्तु तथा परभावों का प्रवेश सम्भव नहीं है। अनेकान्त की रक्षा करने वाला भी अनेकान्त है। इसलिए जैनदर्शन में वस्तु की, अर्थ की, शब्द की सिद्धि अनेकान्त से है। सक्षेप में, अनेकान्त से ही वस्तु की सिद्धि है और इसी से परमार्थ सिद्ध होता है।

यथार्थ में अनेकान्त वस्तु-तत्त्व का प्रकाशक है। वस्तु अनेकधर्मात्मक है। इसलिए अनेकान्त ही वस्तु को प्रकाशित कर सकता है। वस्तु में रहने वाले अनेक धर्मों की प्रसिद्धि करना ही अनेकान्त का मुख्य कार्य है। अनेकान्त दर्शन ही यह प्रसिद्ध करता है कि वस्तु अनेकान्त स्वभाव वाली है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—"एक वस्तु में वस्तुत्व की निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।[१] वस्तु में जहाँ अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व,

चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तिकत्व, अमूर्तिकत्व इत्यादि गुण पाये जाते हैं, वहीं उन गुणों में प्रत्येक समय में परिणमन भी होता रहता है। परिणमन होना पर्याय है जो अनन्त है। वस्तु में एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्त्व आदि अनेक धर्म हैं। वस्तु में विद्यमान सामान्य धर्म तो वचनगोचर हैं, किन्तु विशेष रूप अनन्तधर्म अवक्तव्य हैं। अनेकान्त की प्रतिपत्ति यह है कि जो वस्तु तत् है वही अतत् है, जो सत् है वही असत् है, उसमें परस्पर विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं। उभयधर्मी वस्तु एक है। यदि वे धर्म वस्तु में न होते, तो धर्म भी अनेकान्त नहीं कहा जाता। अनेक धर्म वस्तु में वास्तव में हैं, केवल कहे जाते हों—ऐसा नहीं है। उनमें विरोधाभास भी नहीं है। परस्पर विरुद्ध धर्मों का होना स्पष्ट है। किन्तु उन धर्मों के होने से वस्तु सदा काल जैसी है वैसी ही रहती है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि ज्ञानस्वरूपी आत्मा ज्ञानरूप ही रहता है। ज्ञानस्वरूप के द्वारा उसका तत्पना है और ज्ञेयत्व को प्राप्त पररूप के द्वारा उसका अतत्पना है। इसी तथ्य को आचार्य समन्तभद्र स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ज्ञान में नील, शुक्ल आदि अनेक आकार पाये जाते हैं, जैसे कि चित्र-विचित्र अश्व में अनेक रंग पाये जाते हैं। किन्तु अनेक आकार होने पर भी ज्ञान के एकत्व में कोई विरोध नहीं आता है। ज्ञान स्वज्ञान की अपेक्षा सदा काल एक रूप ही रहता है। आकारों की अपेक्षा से ज्ञान अनेक रूप कहा जाता है। क्या इसीलिए एक ज्ञान में अनेक आकार हो सकते हैं? निश्चित ही नहीं हो सकते। फिर भी, किसी का ऐसा मत हो कि ज्ञान में चित्रता है, तो हम क्या कर सकते हैं?[२] इसी प्रकार अनन्तचतुष्टय की अपेक्षा से आत्मा अनेकरूप है और आत्मद्रव्य की अपेक्षा से एकरूप है—इसमें कोई सदेह नहीं है।

अनेकान्त प्रमाणस्वरूप है और नय एकान्तरूप हैं। अखण्ड वस्तु का विषय अनेकान्तमय है। किन्तु नय वस्तु को एकदेश रूप में ग्रहण करता है। नय कथन करने के लिए है और अनेकान्त वस्तु को समझने के लिए है। बिना अनेकान्त के वस्तु का वास्तविक स्वरूप समझ में नहीं आता। अनेकान्त-दर्शन सर्वप्रथम इस सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है कि सभी द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है, अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का उनमें अभाव है। इसलिए जीव अपने ही परिणामों का कर्ता है। न तो जीव अन्य के परिणाम कर सकता है और न अजीव जीव के परिणाम कर सकता है।[१] इस व्याख्या से यह स्पष्ट फलित होता है कि उपादान कारण के समान ही कार्य होना है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है—"अज्ञानी ज्ञान को प्राप्त नहीं होता और ज्ञानी कभी किसी के द्वारा अज्ञान को प्राप्त नहीं हो सकता। अनेकान्त की यह प्रस्तुति प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर है। प्रत्यक्ष से सामान्य-विशेषात्मक वस्तु-तत्त्व की प्रतीति होती है। विरोधी धर्मों के रहने पर भी वस्तु में कोई विरोध नहीं होता। वस्तु तो निर्विरोध है। किन्तु अनेकान्त का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वस्तु में जिन धर्मों का अत्यन्त अभाव है उस समय वे पाये जाते हों। अतएव वस्तु की सिद्धि अनेकान्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा करता है। अपेक्षा भेद से वस्तु अविरोधी सिद्ध होती है। वस्तु

के विरुद्ध धर्मों में भी अविरोध की स्थापना करना अनेकान्त का मुख्य कार्य है। प्रश्न यह है कि अनेकान्त यह कार्य क्यों करता है? उत्तर यह है कि वस्तु अखण्ड है। विधि-निषेध रूप कथन किये बिना उसे कहा नहीं जा सकता। नय सम्यक् रूप से वस्तु को खण्ड-खण्ड रूप में कहते हैं, अनेकान्त उनमें एकत्व स्थापित कर वस्तु की अखण्डता को प्रकाशित करता है। अनेकान्त के अनुसार वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावमय सत् तथा नित्य है। वही सत् परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि की अपेक्षा अखण्डित होते हुए भी अनेक है। क्योंकि व्यतिरेक के बिना अन्वय अपने पक्ष की रक्षा कर नहीं सकता। इसी प्रकार द्वैत के बिना अद्वैत की कल्पना नहीं की जा सकती। व्यवहार के बिना निश्चय का कोई अस्तित्व नहीं है। परन्तु जहाँ द्रव्य न हो, वहाँ परिणमन की कल्पना करना निरी मूर्खता होगी। व्यवहाराभास को व्यवहार नहीं कहते। व्यवहार (परिणमन) की सच्ची उपस्थिति वहीं होती है, जहाँ निश्चय में द्रव्य है।

अनेकान्त का मुख्य प्रयोजन ज्ञान मात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करना है।आत्मा में ज्ञान है, जड़ वस्तुओं में ज्ञान नहीं है—यह प्रकट है। अनेकान्त इसमें क्या प्रकाशित करता है? आचार्य अमृतचन्द्र स्वयं प्रश्न प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि ज्ञानमात्र होने पर भी यदि आत्मवस्तु को स्वयं अनेकान्त प्रकाशित करता है, तो फिर, अर्हन्त भगवान उसके साधन रूप में अनेकान्त का उपदेश क्यों देते हैं? हम ऐसा कहते हैं कि इस अनेकान्त का उपदेश ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करने के लिए अज्ञानियों को दिया जाता है। यथार्थ में अनेकान्त के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि नहीं हो सकती। स्वभावत अनेक भावों से भरे हुए इस विश्व में, सभी भावों के स्वभाव से अद्वैत होने पर भी द्वैत का निषेध अशक्य होने के कारण समस्त वस्तुओं में स्वरूप में प्रवर्तमान तथा पररूप से भिन्न दोनों प्रकार के भाव विद्यमान हैं। अतएव जब ज्ञानमात्र भाव शेष भावों के साथ निजरस के भार से प्रवर्तित ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध के कारण तथा अनादि काल से ज्ञेयों के परिणमन के कारण ज्ञानतत्त्व को पररूप मानकर अर्थात् ज्ञेयरूप से स्वीकार कर अज्ञानी होता हुआ नाश को प्राप्त होता है, तब ज्ञानमात्र भाव का स्वरूप (ज्ञानरूप) से तत्पना प्रकाशित कर ज्ञाता रूप से परिणमन के कारण ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त ही उसका उद्धार करता है।[४]

अनेकान्त जिनशासन है। अनेकान्त को जिनदेव का अलंघ्य शासन कहा गया है। अनेकान्त ही निर्बाध जिनमत है तथा यथार्थ वस्तुस्थिति का प्रतिपादक है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में अज्ञानमूढ जनों के लिए अनेकान्त ज्ञानमात्र की प्रसिद्धि करता है तथा ज्ञानियों के स्वत अनुभव में आता है।[५] वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्याख्या के द्वारा अनेकान्त स्वयं व्यवस्थित है। इस व्यवस्था को कोई बिगाड नहीं सकता है।[६] प्रश्न यह है कि एक आत्मा अनेक रूप कैसे है? आचार्य कुन्दकुन्द इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—ज्ञान से ज्ञानी का भेद नहीं किया जाता है। यद्यपि ज्ञान और ज्ञानी एक हैं, तथापि ज्ञान अनेक है। इसीलिए ज्ञानियों ने द्रव्य को विश्वरूप अनेकरूप कहा है।[७] यह तो निश्चित है कि ज्ञानी ज्ञान से भिन्न नहीं है। क्योंकि

दोनों का अस्तित्व एक है, दोनों में द्रव्यत्व एक है, दोनों के प्रदेश अभिन्न होने से दोनों का क्षेत्रपना एक है, दोनों की रचना एक समय में होने से कालपना एक है और दोनों का स्वभाव एक होने से दोनों में भावपना एक है। यह सब नियत होने पर भी एक आत्मा में मति, श्रुत, अवधि आदि ज्ञान कहे जाते हैं। इस अनेकता के कारण कोई विरोध नहीं है; क्योंकि द्रव्य विश्वरूप है। वास्तव में द्रव्य सहवर्ती क्रमवर्ती ऐसे अनन्त गुणों तथा पर्यायों का आधार होने से अनन्त रूप वाला है और एक होने पर भी अनेक रूप है।[८] वस्तु के प्रतिपादन में, उसके अनेक रूपों में तथा अनुयोगों में दिखाई पडने वाले विरोध को भी हम वस्तुत समझ कर किस प्रकार समाधान कर सकते हैं, अनेकान्त उसमें कहाँ तक कार्यकारी है—इसका विशद तथा स्पष्ट वर्णन पंडितप्रवर टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्गप्रकाश' में किया है। उनके ही शब्दों में—'अब, शास्त्रों में अपेक्षादिक को न जानने से परस्पर विरोध भासित होता है, उसका निराकरण करते हैं।.

तथा एक ही अनुयोग में विवक्षावश अनेकरूप कथन करते हैं, जैसे करणानुयोग में प्रमादों का सातवें गुणस्थान में अभाव कहा। वहाँ कषायादिक प्रमाद के भेद कहे तथा वहीं कषायादिक का सद्‌भाव दसवें आदि गुणस्थान पर्यन्त कहा—वहाँ विरुद्ध नहीं जानना। क्योंकि यहाँ प्रमादों में तो जिन शुभाशुभ भावों के अभिप्राय सहित कषायादिक होते हैं उनका ग्रहण है और सातवें गुणस्थान में ऐसा अभिप्राय दूर हुआ है, इसलिए उनका वहाँ अभाव कहा है तथा सूक्ष्मादि भावों की अपेक्षा उन्हीं का दसवें आदि गुणस्थान पर्यन्त सद्‌भाव कहा है . . . तथा नाना भावों की सापेक्षता से एक ही भाव का अन्य-अन्य प्रकार से निरूपण करते हैं, जैसे—कहीं तो महाव्रतादिक को चारित्र के भेद कहा, कहीं महाव्रतादि होने पर भी द्रव्यलिंगी को असंयमी कहा। वहाँ विरुद्ध नहीं जानना। क्योंकि सम्यग्ज्ञान सहित महाव्रतादिक तो चारित्र हैं और अज्ञानपूर्वक व्रतादिक होने पर भी असंयमी ही है।[९]"

इस प्रकार अनेकान्तरूप जिन-शासन प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता। प्रमाण से जो सिद्ध है, वह प्रसिद्ध कहा जाता है। उसका किसी से बाधित होना युक्त है क्योंकि यह विशेषण परमत की अपेक्षा से है। किन्तु अनेकान्त शासन के बाधक अनित्यत्व धर्म प्रत्यक्ष से प्रसिद्ध नहीं है। अतएव अनित्यत्व आदि एकान्त धर्म अनेकान्त शासन में बाधा नहीं डाल सकते।[१०] कहने का सार यही है कि चारों अनुयोगों का सारभूत आत्मतत्त्व है। आत्मा चैतन्य सामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य है। क्योंकि अनन्त धर्मों में व्याप्त होने वाले जो अनन्त नय हैं उनमें व्याप्त होने वाला जो श्रुतज्ञान स्वरूप प्रमाण है उससे युक्त स्वानुभव से वह आत्मद्रव्य प्रमेय होता है।[११] अनेकान्त दर्शन अस्ति-नास्ति रूप से उसका युक्तियुक्त निर्वचन करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र स्पष्ट रूप से जिनशासन को अनेकान्त की मूर्ति कहते हैं। भारतवर्ष के सभी दर्शन जिस परमतत्त्व का अपनी-अपनी भाषा में निर्वचन करते हैं, उसको युक्तियुक्त व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र धर्मी का प्रतिपादन करते हैं और उस तत्त्व को अनिर्वचनीय

कहते हैं। उनके ही शब्दों में—

अनन्तधर्मिणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मन।
अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्॥

इस प्रकार अनेकान्त वस्तु-तत्त्व का रहस्य उजागर करने वाला महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

❖❖❖

१ "तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्य— मित्येकवस्तुवस्तुत्त्व- निष्पादक- परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्त।" समयसार, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट

२ किं स्यात्सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि।

यदीद स्वयमर्थभ्यो रोचते तत्र क वयम्॥—आप्तमीमांसा, तत्त्वदीपिका, पृ ९३

३ "सर्वद्रव्याणा स्वपरिणामै सह तादात्म्यात् ककणादिपरिणामै काचनवत्। एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिध्यति, सर्वद्रव्याणा द्रव्यान्तरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्,"—समयसार, गा ३०८ की आत्मख्याति टीका।

४ समयसार, परिशिष्ट-आत्मख्यातिटीका।

५ इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रमाधयन्।

आत्मतत्त्वमनेकान्त स्वयमेवानुभूयते॥—समयसारकलश, श्लोक २६२

६ एव तत्त्वव्यवस्थित्या स्व व्यवस्थापयन् स्वयम्।

अलघ्य शासन जैनमनेकान्तो व्यवस्थित॥—वही, श्लोक २६३

७ ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि।

तम्हा दु विस्सरूवं भणिय दवियत्ति णाणीहिं॥—पचास्तिकाय, गाथा ४३

८ दृष्टव्य है—पचास्तिकायसग्रह, गा ४३ की समयव्याख्या।

९ मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवा अधिकार, पृ २९४, २९५

१० "तत्प्रसिद्धेन न बाध्यते। प्रमाणत सिद्धं प्रसिद्धम्। तदेव कस्यचिद्बाधन युक्तम्। विशेषणमेतत्परमतापेक्षम्, अप्रसिद्धेनाप्यनित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण बाधाकल्पनात्। न ह्यनेकान्तशासनस्य प्रत्यज्ञत सिद्धोस्त्यनित्यत्वधर्मो बाधक, सर्वथा नित्यत्वादिधर्मवत्।'—अष्टसहस्री, प्रथम परिच्छेद, कारिका ६

११ प्रवचनसार, परिशिष्ट, तत्त्व दीपिकावृत्ति।

अनेकान्त दृष्टि अपनावें

❑ *पं. जवाहरलाल मोतीलाल जैन, भिण्डर*

प्रश्न—वास्तविक सम्यक् अनेकान्त रूप निश्चय-व्यवहार का और मिथ्या अनेकान्त रूप निश्चय-व्यवहार का प्रतिपादन किया जा सकता है या नहीं ?

उत्तर—प्रतिपादन तो किया जा सकता है, किया भी जाता है। परन्तु सम्यक् अनेकांत-रूप निश्चय-व्यवहार द्वादशांग गर्भित होता है तथा मिथ्या अनेकान्तरूप निश्चय-व्यवहार द्वादशांग-बाह्य होता है अर्थात् ग्राह्य अनेकान्त, अथवा ग्राह्य निश्चय व्यवहार नहीं हो सकता।

प्रश्न—भूतार्थ और अभूतार्थ का प्रतिपादन किया जा सकता है या नहीं ?

उत्तर—किया जा सकता है, किया जाना भी चाहिए, क्योंकि अभूतार्थ को जाने बिना भूतार्थ का निर्णय नहीं हो सकता। तथैव भूतार्थ को जाने विना अभूतार्थ का निर्णय नहीं हो सकता। दोनों सापेक्ष शब्द हैं। आगम में प्राश्निक द्वारा प्रकथित प्रकरण को दृष्टिगत रखते हुए उत्तर में निवेदन है कि अभूतार्थ भी सर्वथा अभूतार्थ नहीं होता तथा भूतार्थ भी सर्वथा भूतार्थ नहीं होता। ये आपेक्षिक ही हैं।

प्रश्न—भूतार्थ का प्रतिपादन तो वास्तविक सम्यक् अनेकान्त रूप निश्चय-व्यवहार से और अभूतार्थ का प्रतिपादन मिथ्या अनेकान्तरूप निश्चय-व्यवहार से होना मानना सम्यक् है या मिथ्या ?

उत्तर—मिथ्या है। इसका कारण यह है कि जो आगम में भूतार्थ कहा है उसका अस्तित्व नियामक अभूतार्थ है, किञ्च, अभूतार्थ भी स्यात् अभूतार्थ है—स्यात् असत्य-अर्थ ही है। यदि अभूतार्थ सर्वदा (हर प्रकार से) असत्य-असत् या मिथ्या ही होता तो निश्चय-व्यवहार रूप, सद्भूत-असद्भूत व्यवहाररूप भूतार्थाऽभूतार्थ आदि का प्रतिपादक होने से भगवद्-देशना भी कथंचित् सत्य प्रतिपादक तथा कथंचित् असत्य प्रतिपादक हो जायेगी। तब आप ही बताइए कि भगवान थोडा-थोडा तो सत्य (भूतार्थ) तथा थोडा-थोडा झूठ (अभूतार्थ) बोलते थे क्या ? अत अभूतार्थ का प्रतिपादन मिथ्या अनेकान्तरूप निश्चय-व्यवहार से है, ऐसा मानना उचित नहीं है।

प्रश्न—एक ही अभेद पदार्थ के अभेद का प्रतिपादन करने वाले निश्चय का और उसी अभेद पदार्थ में विशेष प्रयोजनवश भेद करके भेद का प्रतिपादन करने वाले व्यवहार का तथा दो भिन्न-भिन्न अथवा अन्य-अन्य पदार्थों में से किसी भी एक पदार्थ का तो निमित्तरूप व्यवहार से और दूसरे पदार्थ का नैमित्तिक रूप निश्चय से प्रतिपादन किया जाता है। कृपया समाधान करें कि नयचतुष्टय

मारा।' (प० पु० सर्ग ७६ श्लोक ३४), 'कृष्ण द्वारा कंस मारा गया' (हरिवंशपुराण ३६/४५); 'सगर चक्री के ६0,000 पुत्र नागेन्द्र की क्रोधाग्नि की ज्वाला द्वारा मारे गये' (पद्मपुराण ५/२५१-५२) इत्यादि ये सब वाक्य यद्यपि सत्य हैं, परन्तु दो द्रव्य (वे भी सश्लेष-सबंध-रहित) विपयक हैं, अत यह सब सत्य उपचरित असद्भूत व्यवहार नय का विषय है और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय संश्लेष-सबध-सहित दो वस्तुओं का विषय है।

"सश्लेष-सहित-वस्तुसम्बन्धविपयोऽनुपचरित-असद्भूतव्यवहारो यथाजीवस्य शरीरमिति।" (आ० प० २२८ पृष्ठ ३५)

अर्थात्—सश्लेष सम्बन्ध सहित बाकी दो वस्तुओं को विषय करने वाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है, जैसे जीव का शरीर है। (देवसेनाचार्य)

इसलिए आयु-कर्म और जीव का चूकि सश्लेप सम्बन्ध है, अत सश्लेष सम्वन्ध सहित इन दोनों वस्तुओं को विषय करने वाला नय यद्यपि देवसेनस्वामी के मतानुसार अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है परन्तु इसी नय के विपय को समयसार की आत्मख्याति में (आयु कर्म से जीव का जीवन और मरण होता है—गा० २४८ से २५२ की समयसार टीका) निश्चय का विपय कहा, क्योंकि यहाँ इस नय की तुलना उपचरित असद्भूत व्यवहार से हो रही है (एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का मारा जाना आदि, उपचरित असद्भूत व्यवहार है) अत 'उपचरित असद्भूत व्यवहार की अपेक्षा अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय निश्चयनय है' यह सिद्ध होता है।

इस प्रकार अपने से सूक्ष्म विषय की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मविषय वाला नय निश्चय सज्ञा को प्राप्त हो जाता है तथा उस सूक्ष्म से सूक्ष्मतर (अतिसूक्ष्म) विपय का नय सम्मुख हो तो उस सूक्ष्मतर विपय की अपेक्षा वह सूक्ष्म विपय व्यवहार कहा जाता है और सूक्ष्मतर विपय निश्चय नय का कहा जाता है। (नय ज्ञाता है वस्तु ज्ञेय है, नय विपयी है तथा ज्ञेय विपय, यह सर्वत्र ज्ञातव्य है।) फिर, जब सूक्ष्मतर विपय के सामने और अत्यन्त सूक्ष्म विपय (सूक्ष्मतम विषय) खडा हो तो उस सूक्ष्मतम विपय की अपेक्षा सूक्ष्मतर विषय का ज्ञाता नय भी व्यवहार नय कहा जाता है।

इस प्रकार किसी वस्तु या वस्तु-सम्बन्ध या वस्त्वश को विपय करने वाला नय कौन-सा है या होगा यह अपेक्षा पर आधारित है, ऐकान्तिक नहीं।

दूसरा, प्राश्निक को इस स्थल पर यह जानना चाहिए कि दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों को विषय करने वाले नय या विवक्षाएँ भी न्याय-शास्त्र एव आगम में समीचीन मानी गई हैं यथा—कथंचित् जीव शरीर है, कथंचित् जीव शरीर नहीं है। "आत्मा एव शरीरम् इति" आत्मा ही शरीर है (राजवार्तिक ५/२४)

"व्यवहारेण औदारिकादिशरीरमस्येति शरीरी, निश्चयेनाशरीरी।" (गो० जीव०, जी० प्र० टी० ३६६)

कथंचित् (व्यवहारनय से) जीव शरीरी है (गो0 जी0 ३६६) या जीव ही शरीर है (रा0 वा0 ५/२४/९) या जीव पुद्गल है (धवल १/१२०) (जीवो पोग्गलो) तथा कथंचित् जीव अशरीरी है। कथचित् से अभिप्राय निश्चयनय की दृष्टि का है। यदि ऐसा स्याद्वाद नहीं माना जाय तो जैन न्यायशास्त्र तथा जिनागम के दूपित-मिथ्या होने का प्रसग आयेगा।

परन्तु कोई जीव यदि व्यवहार के कथन को भी निश्चय की ऑख से देखकर, निश्चय को ही मान्यता देकर तथा निश्चय से तुलना कर फिर व्यवहार को सर्वथा झूठ कहे तो जैनागम का अज्ञ ही होने से ऐसा प्राणी ऐकान्तिक दृष्टि वाला कहलाएगा, क्योंकि "अपने अभिप्राय तैं निश्चय नय की मुख्यता करि जो कथन किया गया, ताही कौं ग्रहिकरि मिथ्यादृष्टि को धारै है।" (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ0 २९१, सस्ती ग्रन्थमाला, धर्मपुरा, दिल्ली)

अर्थात्—यह (जीव) अपने अभिप्राय से निश्चयनय की मुख्यता से जो कथन किया हो—उसी को ग्रहण करके मिथ्या दृष्टि का धारण करता है। (पृ0 १९८ दि0 जैन स्वाध्याय मदिर, सोनगढ) पूज्य श्रीमद्राजचन्द्र कहते हैं कि "सर्व जीव हितकारी ज्ञानी पुरुप की वाणी को, किसी भी एकान्त दृष्टि को ग्रहण करके, अहितकारी अर्थ में न ले जावें—यह उपयोग निरन्तर स्मरण में रखने योग्य है।" (पृष्ठ ६८८, 'श्रीमद्राजचन्द्र', परमश्रुत प्रभावक मण्डल, राजचन्द्र आश्रम, अगास)

सर्वधर्मों/दर्शनों से जैन-दर्शन का भेद ही यह है-जैन दर्शन स्याद्वादी (अनेकान्तवादी) है तथा शेप दर्शन अस्याद्वादी हैं। ऐसे इस स्याद्वादी दर्शन में भी एक पक्ष को ही ग्रहण करें तथा इतर पक्ष को मात्र इसलिए टाल दें कि वह व्यवहार विषयीकृत या द्रव्यद्वयविषयक है तो नहीं चाहते हुए भी हममें एकान्त दृष्टि-ग्रहण का दूषण अवश्य प्राप्त होगा।

अध्यात्म की अपेक्षा (ध्येय तो) हमें अकेला बनना है, अत एक मात्र चैतन्य (ध्रुव) तत्त्व ही ध्येय होना चाहिए। परन्तु ज्ञेय तो व्यवहार नय भी एव तद्गृहीत विपय भी है। वह भी इसलिए कि व्यवहार विपयीकृत पदार्थ या पदार्थ-सम्बन्ध या अशुद्धि या बन्ध या पर्याय या भेद या द्वैत भी अपने स्थान पर यथार्थ है। व्यवहार नय का विपय कहीं झूठ नहीं है, यह ध्यान रहे। "ण च ववहारणओ चप्पलओ " अर्थात्—व्यवहार नय झूठ नहीं होता। (जयधवला पु0 १ पृष्ठ ६ पक्ति ३-४)

अत "ते उण ण दिट्ठसमओ विहयइ सच्चे व अलीए वा॥" (सन्मतितर्क १/२८ तथा जयधवला १/२३७ पुरातन सस्करण ज0ध0 १/२५७)

अर्थात्—अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता पुरुष "यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है," इस प्रकार का विभाग नहीं करते हैं। इसीलिए सिद्धान्ताचार्य प फूलचन्द्र शास्त्री कहते हैं कि "किसी एक नय का विषय उस नय के प्रतिपक्षी दूसरे नय के विषय के साथ ही सच्चा है।" (जयधवल ९/२३३ विशेषार्थ)

आचार्य कुन्दकुन्द ने जो व्यवहार को अभूतार्थ कहा है वह व्यवहार की अपेक्षा नहीं, किन्तु निश्चय की अपेक्षा से कहा है। "व्यवहार अपने अर्थ में उतना ही सत्य है जितना कि निश्चय।" (वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ. ३५४-५५ ले. प फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री)। आचार्य पद्मनन्दि ने पं. पंचवि. ११/११ में "व्यवहारनय पूज्य है" कहा है। स्मरण रहे कि व्यवहार से निरपेक्ष निश्चय भी मिथ्या है, ऐसी बात एक मात्र जैन शासन ही कहता है। कहा भी है—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति न।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्॥

अत हे भव्यात्मन्। "मात्र एक कुन्दकुन्द पर समस्त आचार्यों की बलि नहीं दी जा सकती।" (स्व. पं. कैलाशचन्द्र)

इस प्रकार उक्त तथ्यों के प्रकाश में समयसार ग्रन्थ की परमपूज्य जयसेन स्वामी रचित तात्पर्यवृत्ति की १३वीं गाथा "ववहारोऽभूदत्थो" की व्याख्या में प्रतिपादित नयचतुष्टय रूप दो प्रकार के व्यवहार तथा दो प्रकार के निश्चय के प्रतिपादन में चारों ही नय अपने-अपने स्थान पर भूतार्थ ही हैं और वास्तविक सम्यग् अनेकान्त में वे सर्वगृहीत हैं। उन चारों नयों को नय मानने वाला सम्यग्ज्ञानी है, परन्तु जो उन चार नयों में से मात्र दो को ही भूतार्थ मानता है शेष को कथचित् भूतार्थ रूप से स्वीकार नहीं करता वह एकान्त नामक मिथ्यात्व दोप से दूषित है, ऐसा समझना चाहिए। इसी तरह निमित्त नैमित्तिक भाव को मिथ्या अनेकान्त माननेवाला तथा अविनाभाव सबध में ही कारण-कार्य विधान एकान्तत मानने वाला भी मिथ्यात्वी एकान्तवादी जानना चाहिए। प्रमाण के लिए आगम भरा पडा है।

प्रश्न—अनेकान्त वास्तव में सम्यक् अथवा मिथ्या होता है या नहीं?

उत्तर—विद्वान् प्राश्निक के उक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—

नयदर्पण में लिखा है कि—प्रमाण, नय, एकान्त तथा अनेकान्त ये चारों सम्यक् ही होते हों ऐसा नहीं है, मिथ्या भी होते हैं। सम्यक् प्रमाण, मिथ्या प्रमाण, सम्यक् नय, मिथ्या नय, सम्यग् अनेकान्त, मिथ्या अनेकान्त, सम्यगेकान्त तथा मिथ्या एकान्त, ये ८ रूप होते हैं . (नयदर्पण, पृ० ४५ आदि)

श्री भट्टाकलकदेव राजवार्तिक में लिखते हैं—अनेकान्तोऽपि द्विविध—सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति। (रा०वा० १/६/७ पृष्ठ ३५)

"सम्यक् और मिथ्या के भेद से अनेकान्त दो प्रकार का होता है।" (स्व प. महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य)

एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यक् अनेकान्त है तथा वस्तु को तत् अतत् आदि स्वभाव से शून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त

है। सम्यक् अनेकान्त प्रमाण कहलाता है तथा मिथ्या अनेकान्त प्रमाणाभास कहलाता है (रा0वा0 वही; पृ0 ३५ एवं २८७ भाग १)।

(i) प्रत्येक पदार्थ कथंचित् अस्ति रूप (स्वरूप चतुष्टय की अपेक्षा) है तथा वही कथंचित् नास्तिरूप (पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा) है।

(ii) जीव कथंचित् मूर्त है (कर्मबन्ध की अपेक्षा) तथा कथचित् अमूर्त है (स्वभाव बन्ध की अपेक्षा)। कहा भी है—"आत्मा बन्धपर्याय प्रत्येकत्वात् स्यान्मूर्त, तथापि ज्ञानादि-स्वलक्षणापरित्यागात् स्यादमूर्त।" (रा0वा0 २/७/२५/११७, हिन्दी पृ0 ३४७)

सर्वार्थसिद्धि में भी कहा है—"कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदावेशात् स्यान्मूर्त। शुद्धस्वरूपापेक्षया स्यादमूर्त। (स0सि0 २/७/प्रकरण २६९ पृ0 ११४)

अब मिथ्या अनेकान्त के भी उदाहरण देखिए—

(१) कोई कोई समन्वयवादी कहते हैं कि "मन कथचित् विकार का प्रधान है (सांख्यदर्शन की दृष्टि से) तथा कथचित् पुद्गल का विकार है (जैनों की दृष्टि से)," ताकि दोनों खुश हो जाएँ। ऐसा 'कथचित् वाद'—स्याद्वाद या अनेकान्तवाद मिथ्या अनेकान्त है।

(२) ये ही समन्वयवादी बहुत से जीवों का जातिस्मरणादि आज भी प्रत्यक्ष देखकर कहते हैं कि जीव का कथचित् पुनर्जन्म होता है तथा किन्हीं-किन्हीं जीवों का पुनर्जन्म नहीं भी होता है क्योंकि सब के पुनर्जन्म का प्रत्यक्ष (चक्षुर्दृश्य) प्रमाण तो उपलब्ध है नहीं। ऐसे आधुनिक वैज्ञानिकों का अनेकान्त भी मिथ्या अनेकान्त है।

(३) "नवकम्बलोऽयम्" (देवदत्त)। यहाँ नव शब्द के दो अर्थ होते हैं एक '९ सख्या' और दूसरा अर्थ 'नया'। नूतन (नया) विवक्षा मे कहे गए 'नव' शब्द का '९ सख्या' रूप अर्थ विकल्प करके वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करना अनेकान्त नहीं, परन्तु अनेकान्ताभास (छल) है। "नवकम्बलोऽयम् देवदत्त" का अर्थ वक्ता के अभिप्रायानुसार तो ऐसा था—'इसके नव अर्थात् नवीन (अभिनव, नया) कम्बल है।' परन्तु नव का अर्थ ९ भी होने से, वक्ता के अभिप्राय से विपरीत दूसरा अर्थ करना कि—इसके पास नौ कम्बल हैं (मात्र ४ या ५ ही नहीं) यह छलावा-छल है, अनेकान्ताभास है।

(३) आगम में लिखा है कि 'ब्रह्मचारी सुखी भवेत्" ब्रह्मचारी यानी ईश्वर में रमण करने वाला (ब्रह्मणि रमते इति) सुखी होता है। उसका यह अर्थ करना कि—ब्रह्म ईश्वरं चरति अत्ति इति ब्रह्मचारी अर्थात् जो ईश्वर को खा जाय, जो ईश्वर की सत्ता ही नष्ट कर दे (चार्वाक दर्शन) वही सच्चा सुखी होता है—उसके ईश्वराधीनता नष्ट हो जाने से और अनेकान्तवाद में अनेक अर्थ सम्भव होने माने हैं ही, अत हम दूसरा अर्थ मान लें तो क्या आपत्ति? जिसकी जैसी अपेक्षा हो वैसा अर्थ ग्रहण करे। जैन अपना अनुकूल अर्थ ग्रहण करे तथा हम चार्वाक अपने अनुकूल अर्थ को ग्रहण करें। अन्यथा जैनियों ने स्याद्वादी/अनेकान्तवादी बनकर किया ही

क्या? ऐसी थोथी दलीलें देकर स्याद्वाद के प्रति अनर्थ/दुरुपयोग करना अनेकान्ताभास का अनुपालन है; सम्यक् अनेकान्त का नहीं। परन्तु समीचीन अनेकान्त (प्रमाण) द्वारा स्वीकृत चारों नय जो कि भगवद् भासित हैं वे मिथ्या या सर्वथा अभूतार्थ कैसे हो सकते हैं? कदापि नहीं।

पुनश्च, यदि विवक्षा बिना ही यों कहा जाय कि (i) जीव कथंचित् रूपी है (ससारावस्था की अपेक्षा अथवा बध-पर्याय की अपेक्षा) और जीव कथचित् अरूपी है उसी अपेक्षा से यानी संसारावस्था की अपेक्षा ही अथवा बधपर्याय की अपेक्षा ही जीव अरूपी भी है। (ii) ऐसे ही यदि यों कहें कि सिद्ध कथचित् वीतरागी हैं (वर्तमान पर्याय की अपेक्षा) तथा वे ही सिद्ध कथचित् रागी भी हैं, उसी वर्तमान सिद्ध पर्याय की अपेक्षा ही। ये उक्त दो उदाहरण ऐसे हैं जो कथंचिद्वादभास या स्याद्वादाभास रूप हैं। अथवा यों भी कह सकते हैं कि ये अनेकान्तवादाभास रूप हैं।

यदि यों कहा जाय कि जीव तो अमूर्त ही है, अत जीव की मूर्तता बताने वाले नय मिथ्या हैं, सो भी ठीक नहीं है। कहा भी है—

"सर्वथाऽमूर्तस्यापि तथाऽऽत्मन समारविलोप स्यात्।" (आलापपद्धति, देवसेनस्वामी) अर्थात्— आत्मा को सर्वथा अमूर्त मानने पर ससार का लोप ही हो जाएगा (पृष्ठ १६६)। तथैव आगे भी कहा है—

"शुद्धस्यैकान्तेनात्मनो न कर्मकलकावलेप सर्वथा निरजनत्वात्। (पृ० १६६ सूत्र १४६, वही ग्रन्थ) अर्थात्—सर्वथा एकान्त से शुद्ध स्वभाव के मानने पर आत्मा सर्वथा निरञ्जन (शुद्ध-अबद्ध-निर्लेप) हो जाएगी। निरजन हो जाने मे कर्ममलरूपी कलक का अवलेप अर्थात् कर्मबन्ध सम्भव नहीं होगा।

इसी ग्रन्थ में (सूत्र १६२ पृ० १७३ वही ग्रन्थ) विजाति असद्भूत व्यवहार उपनय की अपेक्षा जीव के भी अचेतन स्वभाव है (जीवस्याप्यसद्भूत व्यवहारेणाऽचेतन स्वभाव) सूत्र २९ (पृ० ९ वही ग्रन्थ) में "जीवपुद्गलयो एकविशति" कहकर जीव के भी कथचित् अचेतनपना तथा मूर्तपना बताया है। इसीलिए असद्भूत व्यवहार नयों की कथचित् सार्थकता सिद्ध होती है। यदि दो द्रव्यविपयी नय सर्वथा मिथ्या होते तो जिनेन्द्र भगवान असत्य के प्ररूपण करने वाले कहलाते अथवा थोडा-थोडा झूठ तथा थोडा-थोडा सत्य बोलने वाले कहलाते। परन्तु "नान्यथावादिनो जिना" जिनेन्द्र झूठ नहीं बोलते। इसी से जाना जाता है कि जयसेनी तात्पर्यवृत्ति (तेरहवीं गाथा की ता० वृ०) में कथित सर्वनय स्व स्व स्थान में समीचीन हैं। (स्मरण रहे कि निश्चय भी स्वस्थान में ही सत्य है, पर-स्थान में नहीं) तथा निश्चयनय भी प्रमाण नहीं है, प्रमाणाश है, वह भी तब तक जब तक कि व्यवहार सापेक्ष (निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्) हो। एक ही नय को सर्वथा सदा मुख्य व प्रामाणिक मानकर इतर नय को सर्वथा सदा अमुख्य व अप्रामाणिक मानना, यह बुद्धि द्वादशाग-बाह्य है।

असद्‌भूत व्यवहार द्वारा वर्णित जीव से कर्मों का बन्ध भी कथचित् सत्य ही है। यदि ऐसा न माना जाय तो— कर्मबन्ध का सद्‌भाव नहीं मानने पर ससार सबधी अनेक भय का विचार करना केवल मूढता है तथा कर्मबन्ध के विना मोक्षसुख की प्रार्थना और मोक्ष, ये दोनों भी नहीं बनते हैं। इस तरह अनेक दोष निश्चय व्यतिरिक्त नयों के न मानने से प्रसक्त होंगे, इसीलिए जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश (भाग २/१२६) में कहा है—

"इनके (कुन्दकुन्द के) आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढकर भोलेजन उनके अभिप्राय की गहनता को स्पर्श न कर पाने के कारण अपने को एकदम शुद्ध बुद्ध व जीवन्मुक्त मानकर स्वच्छन्दाचारी बन जाते हैं, परन्तु वे तो स्वय महान् चरित्रवन्त थे। भले ही भोले जन उसे देख न सके, पर उन्होंने अपने शास्त्रों में सर्वत्र निश्चय व व्यवहार नयों का साथ-साथ कथन किया है। जहाँ वे व्यवहार को हेय बताते हैं वहाँ वे उसकी कथचित् उपादेयता भी बताए बिना नहीं रहते। क्या ही अच्छा हो कि अज्ञानी जन उनके शास्त्रों को पढकर संकुचित एकान्त दृष्टि अपनाने की बजाय व्यापक अनेकान्त दृष्टि अपनावें।"
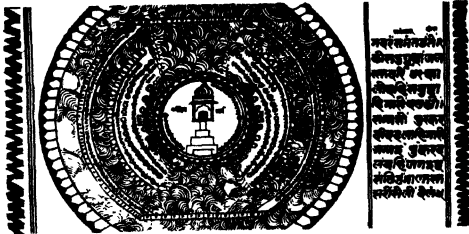
जैनदर्शन की समन्वयात्मक दृष्टि
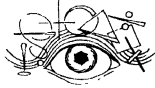
❑ प्रो. रामकरण शर्मा, दिल्ली

जिस भारतीय महामानस ने समग्र विश्व को 'एक नीड' के रूप में देखा था और जिसने "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" की अमर प्रेरणा से हमारे जीवन को आलोकित किया था उसी ने हमारे अन्तकरण में अहिसा और असीम मैत्री भावना को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने के उद्देश्य से 'सर्वज्ञ' तीर्थंकर की अमर, सनातन वाणी में एक महादर्शन दिया जिसका प्रधान केन्द्रबिन्दु 'महाव्रत' था।

इस महाव्रत प्रधान जैन दर्शन ने अपने 'स्याद्वाद' (सप्तभङ्गी नय) या अनेकान्तवाद के द्वारा सदैव इस बहुआयामी लोकजीवन के प्रति सहिष्णुतात्मक, अहिसात्मक, समन्वयात्मक एव सम्मानजनक दृष्टि अपनाने की प्रेरणा दी। 'सर्वज्ञ' के अतिरिक्त कोई भी किसी वस्तु का एक ही समय में सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। फलत किसी निष्कर्ष के प्रति जैनदर्शन की भावनात्मक प्रतिक्रिया समन्वयात्मक एव सम्मानजनक ही होती है, एकान्तिक या पक्ष-विपक्षात्मक या विरोधात्मक नहीं।

"अहिंसा परमो धर्म"—यह प्राय सर्वानुमत सिद्धान्त है। महर्षि पतञ्जलि ने अहिसा को 'सार्वभौम महाव्रत' का उच्चतम स्थान प्रदान किया है (सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को भी)। चित्त-प्रसादन के मूलमन्त्र 'मैत्री' आदि परिकर्म भी वस्तुत मानसिक, वाचिक और व्यावहारिक अहिंसा भावना को ही मूर्धाभिषिक्त करते हैं। किन्तु वैचारिक 'अन्तशरीर' से लेकर व्यावहारिक बाह्य आचार तक अहिसा को व्यापक और मूर्त रूप प्रदान करने एव अहिंसा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म सैद्धान्तिक से अधिक कार्यान्वयन रूप—व्याख्या करने में जैन दर्शन की अनुपम, अपूर्व भूमिका रही है—इसमें सन्देह नहीं।

किसी भी हिसापरक भावना के मूल में किसी न किसी तरह की—आधिभौतिक, आध्यात्मिक (वैचारिक) या अन्य—विजिगीषा की भावना रहती है। भगवद्गीता में वर्णित "कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया" (मेरी तरह विद्वान्, गुणी, बलवान्, पुण्यात्मा, महात्मा, आदरणीय, प्रभावशाली आदि और कौन हो सकता है ?) इसी तरह की साम्राज्यवादी आसुरी भावना है जो व्यक्ति या किसी जनसमुदाय में विजिगीषात्मक हिंसा भावना को जन्म देती है और उसे उत्तरोत्तर उत्प्रेरित करती रहती है। इसके दुष्प्रभाव से प्रकृति का सन्तुलन नष्ट हो जाता है। यह सक्रामक रोग का रूप धारण कर लेती है और हमारा "सत्य, शिव, सुन्दरम्" से आपूरित लोकजीवन "असत्यम्, अशिवम्, असुन्दरम्" का रूप धारण कर लेता है।

इस विजिगीषा की चिकित्सा मैत्रीपूर्ण विजिज्ञासा की भावना है। ऐसी तटस्थ विजिज्ञासा की भावना उत्पन्न होते ही विजिगीषा की भावना स्वय अपने अन्त करण की आचारिक दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने लग जाती है विजिज्ञासा की भावना जिज्ञासु को सर्वज्ञता की ओर उन्मुख कर देती है। "तत्र को मोह क शोक।"

हिंसा और असत्य के सक्रामक आक्रमण से आज हम अपने 'स्वरूप' से ही बहुत दूर होते जा रहे हैं। असमन्वित लोकजीवन एक दूसरे के प्रति श्रद्धावान् और क्षमाशील होने के स्थान पर संशयालु और आघात-प्रत्याघातशील होता जा रहा है। असमन्वय की इस भयंकर व्याधि का शमन करने में जैनदर्शन की 'महाव्रतप्रधान अनेकान्तात्मक' समन्वयदृष्टि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

सम्यक् श्रुत

❑ *स्व. सिद्धान्ताचार्य प. फूलचन्द्रजी शास्त्री*

प्रवाह की अपेक्षा श्रुत अनादि है। इसकी महिमा की व्याख्या करते हुए जीवकाण्ड में श्रुतज्ञान की मुख्यता से कहा है कि केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही भेद है, अन्य कोई भेद नहीं। ऐसा नियम है कि केवलज्ञानविभूति से सम्पन्न भगवान तीर्थंकर परमदेव अपनी दिव्यध्वनि द्वारा अर्थरूप से श्रुत की प्ररूपणा करते हैं और मत्यादि चार ज्ञान के धारी गणधरदेव अपनी सातिशय प्रज्ञा के माहात्म्यवश अगपूर्वरूप से अन्तर्मुहूर्त में उसका सकलन करते हैं। अनादि काल से सम्यक् श्रुत और श्रुतधरो की परम्परा का यह क्रम है।

इस नियम के अनुसार वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के अन्तिम भाग मे अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर और उनके ग्यारह गणधरों में प्रमुख गणधर गौतमस्वामी हुए। भावश्रुत पर्याय से परिणत गौतमगणधर ने ग्यारह अग और चौदह पूर्वों की रचना कर लोहाचार्य को दिया। लोहाचार्य ने जम्बूस्वामी को दिया। इसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँचों आचार्य परिपाटी क्रम से चौदहपूर्व के धारी हुए। तदनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थदेव, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल, गगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य परिपाटी क्रम से ग्यारह अग और उत्पादपूर्व आदि दस पूर्वों के धारक तथा शेष चार पूर्वों के एकदेश धारक हुए। इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन और कसाचार्य ये पाँचों ही आचार्य परिपाटी क्रमसे सम्पूर्ण ग्यारह अगों के और चौदह पूर्वों के एकदेश धारक हुए। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चारों आचार्य सम्पूर्ण आचाराग के धारक और शेष अंगों के तथा पूर्वों के एकदेश के धारक हुए।

आचार्य धरसेन-पुष्पदन्त-भूतबलि

तदनन्तर सभी अग पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परा से आता हुआ धरसेन आचार्य को प्राप्त हुआ। ये सौराष्ट्र देश के गिरिनगर पत्तन के समीप ऊर्जयन्त पर्वत की चन्द्रगुफा में निवास करते हुए ध्यान अध्ययन में तल्लीन रहते थे। इनके गुणों का ख्यापन करते हुए वीरसेन स्वामी ने (धवला पु. १) लिखा है कि वे परवादीरूपी हाथियों के समूह के मद का नाश करने के लिए श्रेष्ठ सिह के समान थे और उनका मन सिद्धान्तरूपी अमृतसागर की तरगों के समूह से धुल गया था। वे अष्टाग महानिमित्त शास्त्र में भी पारगामी थे। वर्तमान में उपलब्ध श्रुत

की रक्षा का सर्वाधिक श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। अपने जीवन के अन्तिम काल में यह भय होने पर कि मेरे बाद श्रुत का विच्छेद होना सभव है, इन्होने प्रवचन वात्सल्यभाव से महिमानगरी में सम्मिलत हुए दक्षिणा पथ के आचार्यों के पास पत्र भेजा। उसे पढकर उन आचार्यों ने ग्रहण और धारण करने में समर्थ नाना प्रकार की उज्ज्वल और निर्मल विनय से विभूषित अंगवाले, शीलरूपी माला के धारक, देश-कुल-जाति से शुद्ध, समस्त कलाओं में पारगत ऐसे दो साधुओं को आन्ध्रप्रदेश में बहनेवाली वेणा नदी के तट से भेजा।

जब ये दोनों साधु मार्ग में थे, आचार्य धरसेन ने अत्यन्त विनयवान् शुभ्र दो बैलों को स्वप्न में अपने चरणों में विनतभाव से पडते हुए देखा। इससे सन्तुष्ट हो आचार्य धरसेन ने 'श्रुतदेवता जयवन्त हो' यह शब्द उच्चारण किया। साथ ही उन्होंने 'मुझे सम्यक् श्रुत को धारण और ग्रहण करने में समर्थ ऐसे दो शिष्यों का लाभ होने वाला है' यह जान लिया।

जिस दिन आचार्य धरसेन ने यह स्वप्न देखा था उसी दिन वे दोनों साधु आचार्यधरसेन को प्राप्त हुए। पादवन्दना आदि कृतिकर्म से निवृत्त हो और दो दिन विश्राम कर, तीसरे दिन वे दोनों साधु पुन आचार्य धरसेन के पादमूल में उपस्थित हुए। इष्ट कार्य के विषय में जिज्ञासा प्रकट करने पर आचार्य धरसेन ने आशीर्वादपूर्वक दोनो को सिद्ध करने के लिए एक को अधिक अक्षरवाली और दूसरे को हीन अक्षरवाली दो विद्याएँ दीं और कहा इन्हें उपवास धारण कर सिद्ध करो। विद्यायें सिद्ध होने पर उन दोनो साधुओं ने देखा कि एक विद्या की अधिष्ठात्री देवी के दाँत बाहर निकले हुए हैं और दूसरी विद्या की अधिष्ठात्री देवी कानी है। यह देखकर उन्होने मन्त्रो को शुद्ध कर पुन दोनो विद्याओं को सिद्ध किया। इससे वे दोनों विद्यादेवियाँ अपने स्वभाव और अपने सुन्दर रूप में दृष्टिगोचर हुईं। तदनन्तर उन दोनो साधुओं ने विद्यासिद्धि का सब वृत्तान्त आचार्य धरसेन के समक्ष निवेदन किया। इससे उन दोनों साधुओं पर अत्यन्त पसन्न हो, उन्होने योग्य तिथि आदि का विचार कर उन्हें ग्रन्थ पढाना प्रारम्भ किया। आषाढ़ शुक्ला ११ के दिन पूर्वाह्नकाल में ग्रन्थ-अध्यापन समाप्त हुआ।

जब इन दोनों साधुओं ने विनयपूर्वक ग्रन्थ समाप्त किया तब भूतजाति के व्यन्तर देवों ने उनकी पूजा की। यह देख आचार्य धरसेन ने एक का नाम पुष्पदन्त और दूसरे का नाम भूतबलि रखा।

बाद में वे दोनों साधु गुरु की आज्ञा से वहाँ से रवाना होकर अंकलेश्वर आये और वहाँ वर्षाकाल तक रहे। वर्षायोग समाप्त होने पर पुष्पदन्त आचार्य बनवास देश को चले गये और भूतबलि आचार्य द्रविण देश को गये।

बाद में पुष्पदन्त आचार्यने जिनपालित को दीक्षा देकर तथा वीसदि सूत्रों की रचना कर और जिनपालित को पढाकर भूतबलि आचार्य के पास भेज दिया। भूतबलि आचार्य ने जिनपालित के पास वीसदि सूत्रों को देखकर और पुष्पदन्त आचार्य अल्पायु हैं ऐसा जिनपालित से जानकर

महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का विच्छेद होने के भय से द्रव्यप्रमाणानुगम से लेकर शेष ग्रन्थ की रचना की।

यह आचार्य धरसेन प्रभृति तीन प्रमुख आचार्यों का सक्षिप्त परिचय है। इस समय जैन परम्परा में पुस्तकारूढ जो भी श्रुत उपलब्ध है उसमें षट्खण्डागम और कषायप्राभृत की रचना प्रथम है। षट्खडागम के मूल स्रोत के व्याख्याता हैं आचार्य धरसेन तथा रचयिता हैं आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि।

आचार्य गुणधर-यतिवृषभ

जैन-परम्परा में षट्खण्डागम का जो स्थान है वही स्थान कषायप्राभृत का भी है। इन आगमग्रन्थों का मूल स्रोत क्या है यह तो श्रुत-परिचय के समय बतलायेंगे। यहाँ तो मात्र कषायप्राभृत के रचयिता आचार्य गुणधर और उस पर वृत्तिसूत्रों की रचना करने वाले आचार्य यतिवृषभ के बारे में विचार करना है। कषायप्राभृत की प्रथम गाथा से सुस्पष्ट विदित होता है कि आचार्य धरसेन के समान आचार्य गुणधर भी अग-पूर्वों के एक देश के ज्ञाता थे। उन्होंने कषायप्राभृत की रचना पाँचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के तीसरे प्राभृत के आधार से की है। इससे विदित होता है कि जिस समय पाँचवें पूर्व की अविच्छिन्न परम्परा चल रही थी तब आचार्य गुणधर इस पृथिवी-तल को अपने वास्तव्य से सुशोभित कर रहे थे। ये अपने काल के श्रुतधर आचार्यों में प्रमुख थे।

आचार्य यतिवृषभ उनके बाद आचार्य नागहस्ती के काल में हुए हैं, क्योंकि आचार्य वीरसेन ने इन्हें आचार्य आर्य मक्षु का शिष्य और आचार्य नागहस्ती का अन्तेवासी लिखा है। ये प्रतिभाशाली महान् आचार्य थे, यह इनके कषायप्राभृत पर लिखे गये वृत्तिसूत्रों (चूर्णिसूत्रों) से ही ज्ञात होता है। वर्तमान में उपलब्ध त्रिलोकप्रज्ञप्ति इनकी अविकल रचना है यह कहना तो कठिन है, पर इतना अवश्य है कि इसके सिवा एक त्रिलोकप्रज्ञप्ति और होनी चाहिए। सम्भव है उसकी रचना इन्होंने की हो।

यह तो हम पहले ही लिख आये हैं कि सम्यक् श्रुत के अर्थकर्ता तीर्थंकर केवली होते हैं और ग्रन्थकर्ता गणधरदेव होते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर आनुपूर्वी क्रम से विचार करने पर विदित होता है कि सिद्धान्त-ग्रन्थों और तदनुवर्ती श्रुत के अतिरिक्त अन्य जो भी श्रुत वर्तमानकाल में उपलब्ध होता है उसके रचयिता आचार्यों ने परिपाटी क्रम से प्राप्त हुए श्रुत के आधार से ही उसकी रचना की है। इसलिए यहाँ पर कुछ प्रमुख श्रुतधर आचार्यों का नाम-निर्देश कर देना भी इष्ट है जिन्होंने अन्य अनुयोगों की रचना कर सर्वप्रथम श्रुत के भंडार को भरा है। द्रव्यानुयोग को सर्वप्रथम पुस्तकारूढ करने वाले प्रमुख आचार्य कुन्दकुन्द हैं। इनकी और इनके द्वारा रचित श्रुत की महिमा इसी से जानी जा सकती है कि भगवान् महावीर और गौतम

गणधर के बाद इनको स्मरण किया जाता है। उत्तरकाल में आचार्य गृद्धपिच्छ, बट्टकेर, शिवकोटि, समन्तभद्र, पूज्यपाद, भट्टाकलकदेव, विद्यानन्दि और योगीन्द्रदेव प्रभृति सभी आचार्यों ने तथा राजमल, बनारसीदास जी आदि विद्वानों ने इनका अनुसरण किया है। आचार्य अमृतचन्द्र के विषय में तो इतना ही लिखना पर्याप्त है कि मानो आचार्य कुन्दकुन्द के पादमूल में बैठकर ही 'समयसार' आदि श्रुत की टीकायें लिखी हैं।

चरणानुयोग को पुस्तकारूढ करने वाले प्रथम आचार्य बट्टकेरस्वामी हैं। इनके द्वारा निबद्ध 'मूलाचार' इतना सांगोपांग है कि आचार्य वीरसेन इसका आचाराग नाम द्वारा उल्लेख करते हैं। उत्तरकाल में जिन आचार्यों और विद्वानों ने मुनि-आचार पर जो भी श्रुत निबद्ध किया है उसका मूल स्रोत मूलाचार ही है। आचार्य वसुनन्दि ने इस पर एक टीका लिखी है। भट्टारक सकलकीर्ति ने भी मूलाचारप्रदीप नामक एक ग्रन्थ की रचना की है। उसका मूल स्रोत भी मूलाचार ही है। इसी प्रकार चार आराधनाओ को लक्ष्य कर आचार्य शिवकोटि ने आराधनासार नामक श्रुत की रचना की है। श्रुत के क्षेत्र में मूल श्रुत के समान इसकी भी प्रतिष्ठा है।

श्रावकाचार का प्रतिपादन करने वाला प्रथम श्रुतग्रन्थ रत्नकरण्डश्रावकाचार है। यह आचार्य समन्तभद्र की कृति है, जिसका मूल आधार उपासकाध्ययनाग है। इसके बाद अनेक अन्य आचार्यों और विद्वानों ने गृहस्थधर्म पर अनेक ग्रन्थों की रचनायें की हैं।

प्रथमानुयोग में महापुराण, पद्मपुराण आर हरिवशपुराण प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना भी यथासम्भव परिपाटी क्रम से आये हुए अग-पूर्वश्रुत के आधार से की गई है। जिन आचार्यों ने इस श्रुत को सम्यक् प्रकार से अवधारण कर निबद्ध किया है उनमें आचार्य जिनसेन (महापुराण के कर्ता), आचार्य रविषेण (पद्मपुराण के कर्त्ता) और आचार्य जिनसेन (हरिवशपुराण के कर्ता) मुख्य हैं।

इस तरह चारों अनुयोगों में विभक्त समग्र मूल श्रुत की रचना आनुपूर्वी से प्राप्त अंगपूर्वश्रुत के आधार से ही इन श्रुतधर आचार्यों ने की है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। जैन परम्परा में पूर्व पूर्व श्रुत की अपेक्षा ही उत्तर-उत्तर श्रुत को प्रमाण माना गया है। अत सर्वत्र इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही श्रुत की प्रामाणिकता स्वीकार करनी चाहिए।

सम्यक्श्रुत-परिचय

इस समय इस भरतक्षेत्र में केवली, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वियों का तो सर्वथा अभाव है ही, उत्तरकाल में विशिष्ट श्रुतधर जो ज्ञानी आचार्य हो गये हैं उनका भी अभाव है। फिर भी उन आचार्यों द्वारा लिपिबद्ध किया गया जो भी आगम साहित्य हमें विरासत में मिला है उसका पूरी तरह से मूल्याकन करना हम अल्पज्ञों की शक्ति के बाहर है।

पूर्व काल में अरिहन्त परमेष्ठी की वाणी के रूप में जिस श्रुत का गणधरदेव ने सकलन किया था वह अंगबाह्य और अगप्रविष्ट के भेद से दो भागों में विभक्त किया गया था। अंगबाह्य

श्रुत मुख्य रूप से चौदह प्रकार का है—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, और निषिद्धिका तथा अगप्रविष्ट श्रुत बारह प्रकार का है—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। इनमें से दृष्टिवाद श्रुत के पाँच अर्थाधिकार हैं— परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। परिकर्म पॉच प्रकार का है— चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। पूर्वगत के चौदह अर्थाधिकार हैं—उत्पादपूर्व, आग्रायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्ति-नास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार तथा चूलिका पाँच प्रकार की है— जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता, और आकाशगता।

यह मूल श्रुत है। किन्तु कालदोपवश उत्तरोत्तर उसका ह्रास होने पर आज से लगभग साधिक दो हजार वर्ष पूर्व अन्त में, धरसेन आचार्य हुए। उन्हे अग-पूर्वसम्बन्धी अवशिष्ट जो भी ज्ञान प्राप्त था, उसका उन्होंने पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य को अध्ययन कराया। परिणामस्वरूप इन दोनों आचार्यों ने मिलकर पट्खण्डागम श्रुत को पुस्तकारूढ किया।

षट्खण्डागम

इन दोनों आचार्यों ने पट्खण्डागम श्रुत की रचना किस आधार से की इसका विशेष ऊहापाह आचार्य वीरसेन ने धवला टीका में किया है। यहाँ सक्षेप में इतना लिखना पर्याप्त है कि अग्रायणीय पूर्व की २० वस्तुओं में से पॉचवी वस्तु चयनलब्धि के २० प्राभृतों में से चौथा प्राभृत महाकर्मप्रकृति है। मुख्यतया उसी से पट्खण्डागम की उत्पत्ति हुई है। इतना अवश्य है कि इसके कृति आदिक ३४ अधिकार हैं। उनमें से प्रारम्भ के ६ अधिकारों से ही इन खण्डों की उत्पत्ति हुई है। मात्र जीवस्थान की सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका का मूल आधार दृष्टिवाद का दूसरा भेद सूत्र है और गति-आगति चूलिका का मूल आधार व्याख्याप्रज्ञप्तिअग है।

यह समस्त पट्खण्डागम की रचना का मूल स्रोत है। इससे विदित होता है कि पट्खण्डागम के रूप में इस समय जो भी श्रुत उपलब्ध है वह मात्र आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि की स्वनिर्मित कृति न होकर अग-पूर्वश्रुत का ही अवशिष्ट भाग है। इसलिए आगम में इसकी मूल अंग-पूर्व साहित्य के समान ही प्रामाणिकता स्वीकार की गई है। वर्तमान काल में यह हमारा महान् भाग्य है कि शेष बचे अंग-पूर्व श्रुत के विच्छेद के भय से और प्रवचनवत्सलता के कारण आचार्यवर्य धरसेन के मन में जो अवशिष्ट अंग-पूर्वश्रुति की सुरक्षा का भाव उदित हुआ था उसी के परिणामस्वरूप इस समय अग-पूर्वश्रुत उस अवशिष्ट अंश के दर्शन, श्रवण और मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हो सका है। इस महान् प्रयास में आचार्य धरसेन तो श्रेयोभागी हैं

ही, साथ ही आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि भी कम श्रेयोभागी नहीं, जिनकी विलक्षण प्रतिभा और प्रयास के फलस्वरूप अग-पूर्वश्रुत का यह अवशिष्ट भाग पुस्तकारूढ़ हुआ। भावविभोर होकर मनपूर्वक हमारा उन भावप्रवण परम सन्त आचार्यों को नो-आगमभाव नमस्कार है । सम्यक्श्रुत के प्रकाशक वे तो धन्य हैं ही, उनकी षट्खण्डागमस्वरूप यह अनुपम कृति भी धन्य है।

षट्खण्डागम के जो छह खण्ड हैं उनमें प्रथम खण्ड का नाम जीवस्थान है। उसके सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोगद्वार तथा प्रकृति-समुत्कीर्तना, स्थान-समुत्कीर्तना, तीन महादण्डक, जघन्य स्थिति, उत्कृष्ट स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति ये नौ चूलिकाएँ हैं। इन अधिकारों के जो नाम हैं उनके अनुसार ही गुणस्थानों और मार्गणाओं का आश्रय लेकर इसमें जीवों का वर्णन किया गया है।

दूसरा खण्ड क्षुल्लकबन्ध है। इसके स्वामित्वादि ग्यारह अधिकार हैं। उनके द्वारा इस खण्ड में बन्धक और अबन्धक जीवों का सक्षेप से निरूपण किया गया है। इस खण्ड की चूलिका भी है। उक्त अर्थ का और साथ ही अनुक्त अर्थ का विशेष रूप से कथन करने वाले प्रकरण को चूलिका कहते हैं। इसमें महादण्डक सूत्रों का समावेश कर सब जीवों की अपेक्षा अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है।

तीसरा खण्ड बन्धस्वामित्वविचय है। इसमें चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणाओं की अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों का कौन जीव बन्धक है और कौन जीव अबन्धक है इसका विस्तार से विचार किया गया है।

चौथा खण्ड वेदना है। इसमें सर्वप्रथम वेदना खण्ड की उत्पत्ति के मूल स्रोत का निर्देश करते हुए मूल में ही बतलाया है कि आग्रायणी पूर्व की पाँचवीं वस्तु के प्रकृति नामक चौथे प्राभृत के कृति और वेदना आदि २४ अनुयोगद्वार हैं। कृति और वेदना में वेदना की प्रधानता होने से इस खण्ड को वेदनाखण्ड कहते हैं। उनमें से कृति का निरूपण करते हुए उसके (१) नामकृति, (२) स्थापनाकृति, (३) द्रव्यकृति, (४) गणनाकृति, (५) ग्रन्थकृति, (६) करणकृति और (७) भावकृति का प्रथम अधिकार द्वारा निरूपण किया गया है। तथा वेदना का निरूपण करते हुए उसका वेदनानिक्षेप आदि १६ अधिकारों द्वारा निरूपण किया गया है इस प्रकार इन दो अधिकारों के आश्रय से वेदनाखण्ड में कृति और वेदना का निरूपण हुआ है।

पाँचवाँ खण्ड वर्गणा है। इसमें स्पर्श, कर्म, प्रकृति तथा बन्धन के बन्धविधान भेद को छोडकर बन्ध, बन्धक और बन्धनीय का कथन हुआ है। विशेष खुलासा इस प्रकार है—

१ स्पर्श-अनुयोगद्वार के स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता आदि १६ अनुयोगद्वार हैं। उनमें से स्पर्शनिक्षेप के नामस्पर्श, स्थापनास्पर्श, द्रव्यस्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तरक्षेत्रस्पर्श, देशस्पर्श, त्वक्स्पर्श, सर्वस्पर्श, स्पर्शस्पर्श, कर्मस्पर्श, बन्धस्पर्श, भव्यस्पर्श और भावस्पर्श इन तेरह प्रकार के

स्पर्शों का, किस स्पर्श को कौन नय स्वीकार करता है यह स्पष्टीकरण करके कथन किया गया है।

२ कर्म-अनुयोगद्वार के कर्मनिक्षेप, कर्मनयविभाषणता आदि सोलह अधिकार हैं। उनमें से कर्मनिक्षेप के नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म ये दस भेद हैं। इनमें से किस कर्म को कौन नय स्वीकार करता है इसका निर्देश करने के बाद इस अनुयोगद्वार में उक्त दस कर्मों का कथन किया है।

३ प्रकृति-अनुयोगद्वार के भी प्रकृतिनिक्षेप, प्रकृतिनयविभाषणता आदि सोलह अधिकार हैं। उनमें से प्रकृतिनिक्षेप के चार भेद हैं। कौन नय किस निक्षेप को स्वीकार करता है यह बतलाकर इसमें प्रकृतिनिक्षेप के चार भेदों का तथा प्रसंग से मतिज्ञान आदि ज्ञानों का सांगोपांग कथन किया है।

४. बन्धक - के चार भेद हैं– बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान । इनमें से बन्ध के नामबन्ध, स्थापनाबन्ध, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध ये चार भेद हैं। नैगम, व्यवहार और संग्रहनय इन सब बन्धों को स्वीकार करता है। ऋजुसूत्रनय स्थापना को स्वीकार नहीं करता, शेष को स्वीकार करता है तथा शब्दनय नामबन्ध और भावबन्ध को स्वीकार करता है। इस प्रकार ये चार प्रकार के बन्ध हैं। इनका विस्तृत विवेचन तो बन्धन अनुयोगद्वार में किया ही है, साथ ही बन्धक का एक उदाहरण देकर तदनुसार 'महादण्डक जानने चाहिए' यह संकेतकर बन्धनीय का विस्तार के साथ विचार करते हुए वर्गणा, वर्गणासमुदाहार, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमांसा और अल्पबहुत्व इन आठ अधिकारों का आश्रय लेकर २३ प्रकार की वर्गणाओं का अनुयोगद्वार में निरूपण किया गया है। इसके बाद इसकी चूलिका प्रारम्भ होती है। इसमें निगोद का, बारहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग साधु के शरीर में से उनके अभाव होने के क्रम का तथा अन्य अनेक उपयोगी विषयों का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है। अन्त में बन्धन के चौथे भेद 'बन्धविधान के चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध।' इतना संकेत मात्र किया है। मात्र इस सूत्र की टीका करते हुए वीरसेन स्वामी लिखते हैं—'इन चार बन्धों का विधान भूतबलि भट्टारक ने महाबन्ध में विस्तार के साथ किया है।

छठा खण्ड महाबन्ध है। इसमें बन्धन के चौथे भेद बन्धविधान का प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध इन चार अधिकारों द्वारा विस्तार से वर्णन किया गया है। खुलासा इस प्रकार है—

(१) प्रकृतिबन्ध—इस नाम के अनुयोगद्वार में प्रकृतिसमुत्कीर्तना आदि २४ अनुयोगद्वारों का आश्रय लेकर विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यह दुर्भाग्य की बात है कि इस अनुयोगद्वार की मूल ताडपत्रीय प्रति का प्रारम्भिक भाग त्रुटित हो जाने के कारण प्रकृति समुत्कीर्तना का

प्रारम्भ का कुछ भाग तथा ताडपत्र का २८वा पत्र त्रुटित हो जाने के कारण बन्धस्वामित्वविचय का मध्य का भाग वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। इससे यह ज्ञान सहज हो जाता है कि किस प्रकृति के बन्ध का स्वामी कौन है, कितना काल और अन्तर है आदि। साथ ही इससे हमें यह ज्ञान भी हो जाता है कि किस प्रकृति का बन्ध होते समय अन्य किन प्रकृतियों का बन्ध होता है। इसके अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार का विवेचन करते हुए उसके जीव-अल्पबहुत्व और अद्धा-अल्पबहुत्व ऐसे दो भेद कर दिये हैं, इससे किस प्रकृति के बन्धक जीवों से तद्भिन्न प्रकृतियों के बन्धक जीवों के अल्पबहुत्व का क्या क्रम है इसका ज्ञान तो हो ही जाता है, साथ ही काल की अपेक्षा भी परिवर्तमान प्रकृतियों के बन्धकाल का परस्पर अल्पबहुत्व किस प्रकार का है यह ज्ञान भी हो जाता है।

(२) स्थितिबन्ध— इस अनुयोगद्वार में पहले मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध की प्ररूपणा करके बाद में उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध की प्ररूपणा की गयी है। मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध की प्ररूपणा करते समय पहले स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आबाधाकाण्डकप्ररूपणा और अल्पबहुत्व इन चार अनुयोगद्वारों के आश्रय से उसकी प्ररूपणा की गयी है तथा इसके बाद ओघ और आदेश से स्थितिबन्ध की प्ररूपणा की गयी है। उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध के कथन में भी यही पद्धति स्वीकार की गयी है। अन्तर केवल इतना है कि मूलप्रकृतिस्थितिबन्धकी प्ररूपणा में ज्ञानावरणादि आठ मूलप्रकृतियों का अवलम्बन लिया है और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध की प्ररूपणा में मूलप्रकृतियों के अवान्तर भेदों को आलम्बन बनाया गया है।

स्थितिबन्धस्थान का कथन करते समय चौदह जीवसमासों में स्थितिबन्धस्थानों का, सक्लेशविशुद्धिस्थानो का और स्थितिबन्ध का अल्पबहुत्व बतलाया गया है। निषेकप्ररूपणा का अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा इन दो अधिकारों का आलम्बन लेकर विचार किया गया है। विवक्षित निषेक से समानन्तर स्थिति में स्थित निषेक में कितनी हानि होती है इसका विचार अनन्तरोपनिधा अधिकार द्वारा किया गया है तथा विवक्षित निषेक से पल्य के असंख्यातवें भागप्रमाण स्थान जाने पर कितनी हानि होती है इसका विचार परम्परोपनिधा अधिकार द्वारा किया है।

आबाधा का विवेचन करते हुए बतलाया है कि मोहनीय का सत्तर कोडाकोडी सागर स्थितिबन्ध होने पर सात हजार वर्षप्रमाण आबाधा प्राप्त होती है। आबाधा का विचार इसी अनुपात से सर्वत्र करना चाहिए। मात्र अन्त कोडाकोडी प्रमाण स्थितिबन्ध होने पर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आबाधा प्राप्त होती है। आयुकर्म की आबाधा परभवसम्बन्धी आयु का बन्ध होते समय जो भुज्यमान आयु शेष रहती है तत्प्रमाण होती है।

आबाधाकाण्डक का विवेचन करते हुए बतलाया है कि आयु के सिवा शेष सात कर्मों का अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थिति से लेकर पल्य के असख्यातवें भाग कम स्थितिबन्ध के प्राप्त होने तक प्राप्त स्थितियों का एक आबाधाकाण्डक होता है। अर्थात् इतनी स्थितियों में से किसी भी

स्थिति का बन्ध होने पर उन सब स्थितियों की एक समान आबाधा प्राप्त होती है। अर्थात् इतने स्थिति विकल्पों की अपने-अपने अनुपात से उत्कृष्ट आबाधा प्राप्त होती है। इसके बाद इतने ही स्थिति विकल्पों की एक समय कम आबाधा होती है। इसी प्रकार यथा योग्य शेष स्थितिबन्ध में भी आबाधा जाननी चाहिए। यहाँ जितने स्थितिविकल्पों की एक आबाधा होती है उनकी एक आबाधाकाण्डक संज्ञा है। इसे लाने का क्रम यह है कि उत्कृष्ट आबाधा का भाग उत्कृष्ट आबाधा-न्यून उत्कृष्ट स्थिति में देने पर एक आबाधाकाण्डक का प्रमाण आता है। सब जीवसमासों में आबाधाकाण्डक का प्रमाण इसी विधि से प्राप्त कर लेना चाहिए। मात्र आयुकर्म में यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि वहाँ स्थितिबन्ध के अनुपात से आबाधा नहीं प्राप्त होती।

अल्पबहुत्व की प्ररूपणा करते हुए आबाधा, आदि के अल्पबहुत्व का निर्देश किया है।

इस प्रकार स्थितिबन्ध के सम्बन्ध में सामान्य प्ररूपणा करके आगे उसका अद्धाच्छेद आदि चौबीस अनुयोगद्वारों तथा भुजगार, पदनिक्षेप और वृद्धि अनुयोगद्वारों के आश्रय से कथन किया गया है। यह मूल-प्रकृतिबन्ध की मीमासा है। उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध का विचार भी इसी प्रक्रिया से किया गया है। अन्तर है तो केवल इतना ही कि मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध में आठ मूल प्रकृतियो के आश्रय से विचार किया गया है और उत्तर-प्रकृतिस्थितिबन्ध में १२० उत्तरप्रकृतियों के आश्रय से विचार किया गया है। यद्यपि प्रकृतियॉ १४८ हैं तथापि दर्शनमोह की सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व दो अबन्ध प्रकृतियॉ हैं। पॉच बन्धनो और पॉच सघातों का पॉच शरीरों में अन्तर्भाव हो जाता है तथा स्पर्शादिक के बीस भेदों के स्थान में सामान्य से स्पर्शादिक चार का ही ग्रहण किया है इसलिए २८ प्रकृतियाँ कम होकर बन्ध में १२० प्रकृतियॉ ही ली गयी हैं।

स्थितिबन्ध के मुख्य भेद चार हैं। स्थिति और अनुभाग बन्ध का मुख्य कारण कषाय है। कहा भी है 'ठ्ठिदि-अणुभागा कसायदो होति।' स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय से होता है।

यहॉ स्थितिबन्ध के कारणभूत कषायों की कषायाध्यवसानस्थान सज्ञा बतलायी है। इन्हें ही स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान भी कहते हैं। साता और असाता वेदनीय के स्थितिबन्ध के साथ अन्य कर्मों के स्थितिबन्ध का प्रकार क्या है इसका निर्देश करते हुए यहॉ बतलाया है—

वहॉ जो ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धक जीव हैं वे दो प्रकार के हैं—साताबन्धक और असाताबन्धक। जो साताबन्धक जीव हैं वे तीन प्रकार के हैं—चतुःस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक। वहॉ जो असाताबन्धक जीव हैं वे तीन प्रकार के हैं—द्विस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और चतुःस्थानबन्धक। सर्वविशुद्ध साता के चतुःस्थानबन्धक जीव हैं। त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर हैं। द्विस्थानबन्धक जीव उनसे भी सक्लिष्टतर हैं। सर्वविशुद्ध असाता के द्विस्थानबन्धक जीव हैं। त्रिस्थानबन्धक जीव सक्लिष्टतर है। चतुःस्थानबन्धक जीव उनसे भी

साता के चतुःस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरण कर्म की जघन्य स्थिति का बन्ध करते हैं। त्रिस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरण कर्म की अजघन्यानुत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करते हैं। द्विस्थानबन्धक जीव सातावेदनीय की ही उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करते हैं। असाता के द्विस्थान बन्धक जीव स्वस्थान की अपेक्षा ज्ञानावरण कर्म की जघन्य स्थिति का बन्ध करते हैं। त्रिस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरण कर्म की अजघन्यानुत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करते हैं। चतुःस्थानबन्धक जीव असातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करते हैं।

यह स्थितिबन्ध का प्रकरण है, अनुभाग बन्ध का नहीं। इसमें जिन परिणामों से सब कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्धक होता है उनकी संक्लेश सज्ञा रखी है और जिन परिणामों से जघन्य स्थितिबन्ध होता है उनकी विशुद्धि सज्ञा रखी है। मात्र तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु इस नियम के अपवाद हैं। उन तीन आयुओं के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के योग्य परिणामों की विशुद्धि संज्ञा और जघन्य स्थितिबन्ध के योग्य परिणामों की संक्लेश संज्ञा रखी है। पूर्व में जो हम महाबन्ध का उद्धरण दे आये हैं उसमें साता और असातावेदनीय के किस प्रकार के अनुभागबन्ध के साथ शेष कर्मों के स्थितिबन्ध की क्या प्रक्रिया है यह मिलान करके बतलाया है। इससे विदित होता है कि अनुभागबन्ध में जिन परिणामों की सक्लेश और विशुद्धि सज्ञा है, स्थितिबन्ध के प्रकरण मे उनकी वे सज्ञाएँ दूसरे पकार से रखी गयी हैं। इसे विशेषरूप से समझने के लिए जीव समुदाहार अनुयोगद्वार दृष्टव्य है।

यहाँ विशेष जानना चाहिए कि क्षपकश्रेणि में जिन प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध होता है वहाँ बन्ध योग्य परिणामों के लिए सक्लेशरूप या विशुद्धिरूप किसी प्रकार की संज्ञा का प्रयोग नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, सातावेदनीय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय इन १७ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबन्ध होता है, सो इसके स्वामित्व का निर्देश करते हुए लिखा है कि 'जो अन्यतर क्षपक सूक्ष्मसाम्परायिक जीव अन्तिम जघन्य स्थितिबन्ध कर रहा है वह इन प्रकृतियों के जघन्य स्थितिबन्ध का स्वामी है।' इस पद्धति से यह कथन स्थितिबन्धाधिकार में ही किया गया हो यह बात नहीं है, अनुभागबन्ध अधिकार में भी इस पद्धति को स्वीकार किया गया है।

'सातावेदनीय—यशःकीर्ति-उच्चगोत्र का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध किसके होता है? अन्तिम समय में उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करने वाले अन्यतर क्षपक सूक्ष्मसाम्परायिक जीव के होता है।'

'ओघ से पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अन्तराय का जघन्य अनुभागबन्ध किसके होता है? अन्तिम समय में जघन्य अनुभागबन्ध करनेवाले अन्यतर क्षपक सूक्ष्मसाम्परायिक जीव के होता है। निद्रा-प्रचला का जघन्य अनुभागबन्ध किसके होता है? निद्रा-प्रचला के बन्ध के अन्तिम समय में विद्यमान अपूर्वकरण क्षपक के होता है। क्रोध सज्वलन का जघन्य अनुभागबन्ध

किसके होता है? क्रोधसंज्वलन का अन्त में अनुभागबन्ध करनेवाले अन्यतर क्षपक अनिवृत्तिकरण जीव के होता है। ये महाबन्ध के स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध अधिकार के महत्त्वपूर्ण उल्लेख हैं। इनको दृष्टिपथ में लेने से विदित होता है कि श्रेणि-आरोहण के समय से लेकर कषायविकल्प विश्रान्त होकर उपयोग परिणति वीतरागस्वरूप हो जाती है। यही कारण है कि वहाँ द्रव्यानुयोग में ध्यान की एकतानता का निर्देश करते हुए बतलाया है कि जहाँ अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प का अभाव होकर अनुभूतिमात्र आत्मा की अवस्था होती है वही परम उत्कृष्ट ध्यान है।

(३) अनुभागबन्ध—इस अनुयोगद्वार के मूलप्रकृतिअनुभागबन्ध और उत्तरप्रकृतिअनुभागबन्ध ये दो विभाग हैं। मूलप्रकृतिअनुभागबन्ध का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम निषेकप्ररूपणा का विवेचन किया है।

निषेकप्ररूपणा—प्रति समय जो मूल और तदनुरूप उत्तरप्रकृतियों का बन्ध होता है वह दो प्रकार से होता है—एक तो स्थितिबन्ध की अपेक्षा और दूसरा अनुभागबन्ध की अपेक्षा। आबाधा काल को छोड़कर शेष स्थितियों के प्रत्येक समय में जो कर्मपुञ्ज प्राप्त होता है उसे स्थितिबन्ध की अपेक्षा निषेक कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक समय बँधनेवाला कर्म अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार आबाधा से ऊपर के सब स्थितिविकल्पों में उत्तरोत्तर एक-एक चय की हानि के क्रम से विभाजित होता रहता है। मात्र आबाधा का जितना काल परिणाम होता है उसमें निषेक रचना नहीं होती। यह तो स्थितिबन्ध के अनुसार बँधनेवाले कर्म के विभाजन का क्रम है। अनुभाग की अपेक्षा जघन्य अनुभागवाले कर्म परमाणुओं की प्रथम वर्गणा होती है। तदनुसार प्रत्येक परमाणु को वर्ग कहते है। क्रमवृद्धिरूप अनुभागशक्ति को लिये हुए ये वर्गणायें जहाँ तक पायी जाती हैं उन सबकी मिलकर स्पर्धक सज्ञा है। ये स्पर्धक देशघाति और सर्वघाति दो प्रकार के होते हैं। ये दोनों प्रकार के स्पर्धक स्थितिबन्ध के अनुसार जो निषेक रचना कही है उसके प्रथम निषेक से लेकर अन्त तक पाये जाते हैं।

स्पर्धकप्ररूपणा—पर्यायशक्ति के अविभागी अश का नाम अविभाग प्रतिच्छेद है। ऐसे अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद एक वर्ग में पाये जाते हैं तथा उन वर्गों मे मिलकर एक वर्गणा बनती है और ऐसी अनन्तानन्त वर्गणाएँ मिलकर एक स्पर्धक होता है। इतना अवश्य है कि प्रथम वर्गणा के प्रत्येक वर्ग में समान अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। दूसरी वर्गणा के प्रत्येक वर्ग में एक अधिक अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। इसी प्रकार स्पर्धक की अतिम वर्गणा तक जानना चाहिए।

ये दो अनुयोगद्वार आगे की प्ररूपणा के मूल आधार हैं। उनके अनुसार अनुभागबन्ध का विचार संज्ञा आदि २४ अधिकारों द्वारा किया गया है।

सज्ञा का विचार करते हुए बतलाया है कि सज्ञा दो प्रकार की है—घातिसज्ञा और स्थानसंज्ञा। जो ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं वे घाति और अघाति इन दो भागों में विभाजित हैं। घातिकर्म भी दो प्रकार के हैं—देशघाति और सर्वघाति। घातिकर्मों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वघाति ही

होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध सर्वघाति और देशघाति दोनों प्रकार का होता है। जघन्य अनुभागबन्ध देशघाति ही होता है। अजघन्य अनुभागबन्ध देशघाति और सर्वघाति दोनों प्रकार का होता है तथा अघातिकर्मों का अनुभागबन्ध देशघाति ही होता है।

स्थानसंज्ञा का कथन करते हुए बतलाया है— चारों घातिकर्मों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक, त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक होता है। जघन्य अनुभागबन्ध एकस्थानिक होता है। अजघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक होता है। चार अघाति कर्मों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागबन्ध चतुःस्थानिक, त्रिस्थानिक और द्विस्थानिक होता है। जघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक होता है। अजघन्य अनुभागबन्ध द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुःस्थानिक होता है।

आगे सर्वबन्ध और नोसर्वबन्ध आदि १० अनुयोगद्वारों का निर्देश करके स्वामित्व का विचार करते हुए बतलाया है कि इसको समझने के लिए प्रत्ययानुगम, विपाकदेश तथा प्रशस्तप्ररूपणा ये तीन अधिकार ज्ञातव्य हैं। विवरण इस प्रकार है—

प्रत्ययानुगम का विचार करते हुए कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग ये चार प्रत्यय कहे हैं। उनमें से छह कर्म मिथ्यात्वप्रत्यय, असंयमप्रत्यय और कषायप्रत्यय होते है। वेदनीयकर्म मिथ्यात्वप्रत्यय, असयमप्रत्यय, कषायप्रत्यय और योगप्रत्यय होता है। तात्पर्य यह है कि वेदनीय का केवल योग के निमित्त से भी बन्ध होता है, इसलिए उसके बन्ध के हेतु चार कहे हैं। किन्तु ज्ञानावरणादि छह कर्मों का केवल योग के निमित्त से बन्ध नहीं होता, इसलिए उनके बन्ध के हेतु तीन कहे हैं। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि पूर्व हेतु के सद्भाव में आगे आगे के हेतु होते ही हैं। किन्तु आगे आगे के हेतु के सद्भाव में पूर्व पूर्व के हेतु होते है और नहीं भी होते। यहाँ आयुकर्म का बन्ध किस प्रत्यय से होता है इसका निर्देश नहीं किया।

विपाकदेश का विचार करते हुए छह कर्मों को जीवविपाकी, आयुकर्म को भवविपाकी तथा नामकर्म को जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी और क्षेत्रविपाकी बतलाया है।

प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणा का विचार करते हुए चार घातिकर्मों को अप्रशस्त तथा अघाति कर्मों को प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार का बतलाया है।

इस प्रकार स्वामित्व के लिए उपयोगी इन तीन अधिकारों का प्ररूपण कर बाद में स्वामित्व आदि शेष अधिकारों का तथा १३ अधिकारों द्वारा भुजगार का, ३ अधिकारों द्वारा पदनिक्षेप का और १३ अधिकारों द्वारा वृद्धि का विचार किया है तथा सबके अन्त में अध्यवसानसमुदाहार और जीवसमुदाहार का अपने अवान्तर अधिकारों के आश्रय से कथन कर मूलप्रकृतिअनुभागबन्ध प्ररूपणा समाप्त की है। उत्तरप्रकृति अनुभागबन्ध प्ररूपणा का विचार भी इसी विधि से किया

है। मात्र वहाँ मूल प्रकृतियों के स्थान में उत्तर प्रकृतियों के आश्रय से यह प्ररूपणा की है।

(४) प्रदेशबन्ध—महाबन्ध का चौथा भाग प्रदेशबन्ध है। इसमें प्रदेशबन्ध के क्रम का निर्देश करते हुए बतलाया है कि सुख-दुख के निमित्त से वेदनीयकर्म की अधिक निर्जरा होती है, इसलिए इसे सबसे अधिक प्रदेश मिलते हैं। उसके बाद स्थितिबन्ध के अनुसार मोहनीय आदि कर्मों को प्रदेश मिलते हैं। इस प्रकार इस अनुयोगद्वार में प्रदेशबन्ध का सागोपांग विचार किया गया है।

अनुपलब्ध चार टीकाएँ

षट्खण्डागम का समस्त जैन वाड्मय में जो महत्त्वपूर्ण स्थान है और उनमें जीवसिद्धान्त तथा कर्मसिद्धान्त का जैसा विस्तार से सागोपाग विवेचन किया गया है उसे देखते हुए इतने महान् ग्रन्थ पर सबसे पूर्व आचार्य वीरसेन ने ही टीका लिखी होगी, यह बुद्धिग्राह्य प्रतीत नहीं होता। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि सर्व प्रथम षट्खण्डागम और कषायप्राभृत इन दोनों सिद्धान्तों का ज्ञान गुरुपरिपाटी से कुण्डकुन्दपुर में पद्मनन्दि मुनि को प्राप्त हुआ और उन्होंने सबसे पहले षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण परिकर्म नाम की एक टीका लिखी। यह तो स्पष्ट है कि इन्द्रनन्दि ने यहाँ पर जिन पद्मनन्दि मुनि का उल्लेख किया है वे प्रातःस्मरणीय कुन्दकुन्द आचार्य ही होने चाहिए।

इन्द्रनन्दि ने दूसरी जिस टीका का उल्लेख किया है वह शामकुण्ड आचार्यकृत थी। वह छठे खण्ड को छोडकर शेष पॉच खण्डों और कषायप्राभृत इस प्रकार दोनो सिद्धान्त ग्रन्थों पर लिखी गयी थी। इसका नाम पद्धति था। भाषा प्राकृत, संस्कृत तथा कानडी थी। प्रमाण बारह हजार श्लोक था।

इन्द्रनन्दि ने तीसरी जिस टीका का उल्लेख किया है वह तुम्बुलूर ग्रामनिवासी तुम्बुलूर आचार्य कृत थी। यह महाबन्ध नामक छठे खण्ड को छोडकर दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों की टीका के रूप में लिखी गयी थी। नाम चूडामणि और प्रमाण चौरासी हजार श्लोक था। भाषा कानडी थी।

इन्द्रनन्दि ने चौथी जिस टीका का उल्लेख किया है वह तार्किकार्क समन्तभद्र द्वारा अत्यन्त सुन्दर मृदुल संस्कृत भाषा में महाबन्ध को छोड कर शेष पाच खण्डों पर लिखी गयी थी। उसका प्रमाण ४८ हजार श्लोक था।

ये चार टीकाएँ हैं जिनका उल्लेख इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में किया है। किन्तु धवला टीका लिखते समय वीरसेन स्वामी के समक्ष आचार्य कुन्दकुन्द रचित परिकर्म को छोडकर अन्य तीन टीकाएँ उपस्थित थीं, यह धवला टीका से ज्ञात नहीं होता। उत्तर काल में इनका क्या हुआ यह कहना बडा कठिन है। परिकर्म भी वही है जिसका इन्द्रनन्दि ने परिकर्म टीका के

रूप में उल्लेख किया है यह कहना भी कठिन है।

धवला टीका

वर्तमान समय में हमारे समक्ष षट्खण्डागम के प्रारम्भ के पॉच खण्डों पर लिखी गयी एकमात्र धवला टीका ही उपलब्ध है। इसकी रचना सिद्धान्तशास्त्र, छन्दशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, व्याकरणशास्त्र और प्रमाणशास्त्र के पारगामी तथा भट्टारक पद से समलकृत वीरसेन आचार्य ने की है। यह प्राकृत-सस्कृत भाषा में लिखी गयी है। यह तो धवला टीका से ज्ञात होता है कि षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान पर यह टीका १८ हजार श्लोकप्रमाण है और चौथे वेदनाखण्ड पर १६ हजार श्लोकप्रमाण है। किन्तु इसका पूरा प्रमाण ७२ हजार श्लोक बतलाया है। इससे विदित होता है कि दूसरे, तीसरे और पॉचवें खण्ड को मिला कर तीन खण्डो तथा निबन्धन आदि १८ अनुयोगद्वारों पर सब मिला कर इसका परिमाण ३८ हजार श्लोक है। यहॉ यह निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि निबन्धन आदि १८ अनुयोगद्वारों पर आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलिकृत सूत्ररचना नहीं है। इसलिए वर्गणाखण्ड के अन्तिम सूत्र को देशामर्षक मानकर इन अठारह अनुयोगद्वारों का विवेचन आचार्य वीरसेन ने स्वतन्त्ररूप से किया है।

इसका 'धवला' यह नाम स्वय आचार्य वीरसेन ने निर्दिष्ट किया नहीं जान पडता। यह टीका जगत्तुग उपनामधारी अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्य के प्रारम्भकाल में समाप्त हुई थी और अमोघवर्ष की एक उपाधि 'अतिशय धवल' भी मिलती है। सम्भव है इसी को ध्यान में रखकर इसका नाम धवला रखा गया हो। यह धवल पक्ष में पूर्ण हुई थी, इस नामकरण का यह भी एक कारण हो सकता है।

धवला टीका का प्रमाण बहुत अधिक है। साथ ही उसमें षट्खण्डागम के पॉंच खण्डों में प्रतिपादित विषय का और निबन्धनादि अठारह अनुयोगद्वारो का विस्तार से विवेचन किया गया है, इसलिए यहॉ उसमें प्रतिपादित सभी विषयों का साङ्गोपाङ्ग परिचय कराना सम्भव नहीं है। यहॉ तो मात्र उसकी शैली का उल्लेख करके सक्षेप में उसका जो भी परिचय कराना इष्ट माना जा सकता है, इनका षट्खण्डागम का परिचय देते समय उल्लेख किया ही है।

मगल, निमित्त, हेतु, परिणाम, नाम और कर्ता का निर्देश करने के बाद व्याख्यान करने की पद्धति पुरानी है। श्री वीरसेन आचार्य ने धवला टीका का प्रारम्भ करते समय इसी पद्धति को स्वीकार कर षट्खण्डागम के प्रतिपाद्य विषय का विवेचन किया है। यहॉ यह प्रश्न होता है कि जीवस्थान के प्रारम्भ में जब इस पद्धति का विवेचन कर दिया गया तब फिर वेदनाखण्ड का प्रारम्भ करते समय इस पद्धति का पुन अनुसरण क्यों किया गया? समाधान यह है कि जीवस्थान खण्ड का सकलन अग-पूर्वसम्बन्धी प्रारम्भ के किसी एक अधिकार से नहीं हुआ है। यही कारण है कि आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि ने इस खण्ड के मूलस्रोत का उल्लेख स्वय अपनी

कृति में नहीं किया। किन्तु षट्खण्डागम का प्रथम खण्ड जीवस्थान है यह जानकर आचार्य वीरसेन ने अपनी टीका के प्रारम्भ में उक्त पद्धति का स्पष्टीकरण किया। परन्तु वेदनाखण्ड का प्रारम्भ आग्रायणीय पूर्व की चयनलब्धि वस्तु के महाकर्मप्रकृति प्राभृत के कृति नामक प्रथम अधिकार से हुआ है और इस तथ्य का स्पष्टीकरण स्वय आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि ने किया है, इसलिए आचार्य वीरसेन को उसका विवेचन करते समय भी पुन उक्त पद्धति का स्पष्टीकरण करना पडा।

षट्खण्डागम में विविध विषयों का विवेचन करते समय १४ गुणस्थान और १४ मार्गणाओं का आश्रय लिया गया है। कहीं-कहीं चौदह जीवसमासों के आश्रय से भी प्रकृत विषय का विवेचन हुआ है। प्रश्न यह है कि यहाँ चौदह मार्गणाओं में काय, योग और वेद पद से किसका ग्रहण हुआ है—भावमार्गणा का या द्रव्यमार्गणा का? क्योंकि अर्वाचीन साहित्य में कहीं-कहीं काय पद से औदारिकादि शरीरों का, योग पद से द्रव्य मन, वचन और काय की क्रिया का तथा वेदपद से द्रव्येतर का ग्रहण किया गया है, इसलिए यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि सिद्धान्त ग्रन्थों में और तदनुसारी गोम्मटसार प्रभृति ग्रन्थों में इन पदों से किनका ग्रहण हुआ है? इस प्रश्न के समाधान स्वरूप सत्प्ररूपणा के दूसरे सूत्र में आये हुए 'इमाणि' पद की व्याख्या करते हुए आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

'इमानि' इस पद से प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणास्थानों का ग्रहण करना चाहिए, द्रव्यमार्गणाओं का नहीं, क्योंकि द्रव्यमार्गणाएँ देश, काल और स्वभाव की अपेक्षा दूरवर्ती हैं।

यहाँ षट्खण्डागम में अन्य मार्गणाओं के समान काय, योग और वेद ये तीनों भी भावमार्गणाऐं ही ली गई हैं इसका निर्णय क्षुल्लकबन्ध से स्वामित्वानुयोगद्वार के सूत्र १५ से लेकर ३६ क्रमाक तक के सूत्रों से भली प्रकार हो जाता है।

इसी प्रसग से गतिमार्गणा में 'मनुष्यिनी' पद भी विचारणीय है। कुछ भाई ऐसा मानते हैं कि जीवस्थान सत्प्ररूपणा के ९३ सख्याक सूत्र में 'सयत' पद नहीं है, क्योंकि वह सूत्र द्रव्यास्त्रियों को लक्ष्य में रखकर रचा गया है। किन्तु उनकी इस मान्यता का निषेध इसी सूत्र की धवला टीका से हो जाता है। उस द्वारा जहाँ उक्त सूत्र के आधार से सम्यग्दृष्टियों की स्त्रियों में उत्पत्ति का निषेध किया है वहाँ उसी सूत्र के आधार से 'मनुष्यिनी' पद का अर्थ द्रव्यस्त्री नहीं है यह भी स्पष्ट कर दिया गया है।

गतिमार्गणा में जीव की नोआगमभाव पर्याय ली गयी है, शरीर की नहीं—यह क्षुल्लकबन्ध-स्वामित्व अनुयोगद्वार के गतिमार्गणा का विवेचन करने वाले सूत्रों से तथा वर्गणाखण्ड के १५वें सूत्र से भी भली-भाँति सिद्ध है। अतएव गतिमार्गणा में मनुष्यों के सामान्य मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त, मनुष्यिनी और अपर्याप्त मनुष्य ये जो चार भेद किये हैं वे जीवविपाकी मनुष्यगति, वेदनोकषाय और पर्याप्त-अपर्याप्त नामकर्म के उदय में होने वाली नोआगमभाव पर्याय को ध्यान

में रखकर ही किये गये हैं, ऐसा यहाँ जानना चाहिए। गोम्मटसार कर्मकाण्ड के उदय प्रकरण (गाथा २९ से ३०१) का सम्यक् अवलोकन करने पर भी यही ज्ञात होता है कि ये भेद उक्त प्रकृतियों को ध्यान में रखकर ही किये गये हैं।

सत्यप्ररूपणा के ९३वें सूत्र में 'मनुष्यिनी' पद का द्रव्यस्त्री अर्थ करनेवाले महानुभावों को भय यह है कि षट्खण्डागम दिगम्बर परम्परा का अंग-पूर्वगत मूल आधार श्रुत होने से यदि उसमें कहीं भी 'मनुष्यिनी' पद का अर्थ 'द्रव्यस्त्री' किया गया नहीं माना जाय तो द्रव्यस्त्रियों की मुक्तिसिद्धि के साथ सवस्त्र मुक्ति की सिद्धि हो जायगी। किन्तु उनके द्वारा इस भय के कारण मूल आगम में सशोधन किया जाना आगम के आशय को न समझने का ही कुफल है। आचार्य वीरसेन ने इस शका को स्वतन्त्र मानकर दो स्थलों पर इसका उत्तर दिया है।

प्रथम तो उन्होंने इस प्रश्न का समाधान जीवस्थान-सत्प्ररूपणा के ९३वें सूत्र की टीका में ही कर दिया है। वहाँ वे स्पष्ट लिखते हैं कि द्रव्यस्त्रियाँ सवस्त्र होने से अप्रत्याख्यान गुणस्थान वाली होती हैं, इसलिए उनके सयम भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस पर पुन शंका की गयी है कि वस्त्र के रहते हुए भी उनके भाव सयम बन जाने में आपत्ति ही क्या है? इसका समाधान करते हुए वे लिखते हैं कि जब वे भावअसयम के अविनाभावी वस्त्रादि को स्वीकार किये रहती हैं, ऐसी अवस्था में उनके भावसयम नहीं बन सकता।

दूसरा स्थल वेदनाकालविधान के १२वें सूत्र की टीका है। यहाँ पर सिद्धान्त ग्रन्थों में स्त्रीवेद शब्द का वाच्यार्थ भाववेद है, द्रव्यस्त्रीवेद नहीं है। इस अभिप्राय को दो प्रमाण देकर स्पष्ट किया गया है। यहाँ वेदनाकालविधान के इस सूत्र में अन्य वेदवालों के साथ स्त्रीवेदी जीव भी नारकियों और देवोंसम्बन्धी तेतीस सागर आयु का बन्ध करते हैं, यह कहा गया है। इस पर यह शका हुई कि इस सूत्र में स्त्रीवेद शब्द का वाच्यार्थ क्या है— भावस्त्रीवेद या द्रव्यस्त्रीवेद। वीरसेन स्वामी ने एक अन्य प्रमाण देकर इस शका का समाधान किया है। अन्य प्रमाण में स्त्रियों (द्रव्यस्त्रियों) का छठी पृथ्वी तक मर कर जाना बतलाया है। किन्तु इस सूत्र में स्त्रीवेदी के तेतीस सागर आयुबन्ध का विधान किया है। इस पर से वीरसेन स्वामी ने यह निष्कर्ष फलित किया है कि सिद्धान्त ग्रन्थों में स्त्रीवेद शब्द का वाच्यार्थ भावस्त्रीवेद ही विवक्षित है। यदि ऐसा न होता तो यहाँ पर इस सूत्र में आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि अधिक से अधिक बाईस सागर आयुबन्ध का ही विधान करते, क्योंकि द्रव्यस्त्री छठे नरक से आगे नहीं जाती और छठे नरक में उत्कृष्ट आयु बाईस सागर होती है। कदाचित् यह कहा जाय कि देवों की उत्कृष्ट आयुबन्ध की अपेक्षा इस सूत्र में स्त्रीवेद शब्द का वाच्यार्थ द्रव्यस्त्रीवेद लिया जाय तो क्या हानि है? परन्तु वीरसेन स्वामी यह कहना भी उचित नहीं मानते, क्योंकि देवों सम्बन्धी उत्कृष्ट आयु का बन्ध निर्ग्रन्थ (भावनिर्ग्रन्थ) के ही होता है और द्रव्यस्त्री निर्ग्रन्थ हो नहीं सकती, क्योंकि द्रव्यस्त्री (द्रव्य-नपुसक) वस्त्रादिका त्याग किये बिना भावनिर्ग्रन्थ नहीं हो सकते ऐसा छेदसूत्र का वचन है।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि ने महाकर्मप्रकृति के कृति आदि २४ अनुयोगद्वारों में से प्रारम्भ के छह अनुयोगद्वारों पर ही सूत्र रचना की है, निबन्धन आदि अन्त के अठारह अनुयोगद्वारों पर नहीं। वीरसेन स्वामी के समक्ष यह स्थिति भी है, इसलिए उन्होंने स्वय पिछली सूत्र रचना को देशामर्षक मानकर निबन्धन आदि शेष अठारह अनुयोग द्वारों की रचना की है। इसका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१ निबन्धन—जो द्रव्य जिसमें निबद्ध है उसकी निबन्धन सज्ञा है। वह अनेक प्रकार का है। प्रकृति में अध्यात्मविद्या की प्ररूपणा होने से कर्मनिबन्ध का ग्रहण किया गया है। कर्मनिबन्धन के मूल और उत्तरप्रकृतियों के भेद से अनेक भेद हैं। उनमें से जिस प्रकृति का निमित्त कथन की अपेक्षा जिस कार्य के लिए व्यापार होता है उसमें वह निबद्ध है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। उदाहरणार्थ ज्ञानावरण कर्म सब द्रव्यों और असर्व पर्यायों में निबद्ध है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान सब द्रव्यों को विषय करता है, इसलिए उसका विरोधी होने से केवलज्ञानावरण को सब द्रव्यों में निबद्ध कहा है तथा शेष ज्ञान कुछ पर्यायों को विषय करते हैं, इसलिए शेष ज्ञानावरणों को असर्वपर्यायों में निबद्ध कहा है। शेष कर्मों के विषय में भी ऐसा जान लेना चाहिए।

इस अनुयोगद्वार की रचना सूत्र और उनकी टीका उभयरूप मे दृष्टिगोचर होती है। सूत्र किस महाभाग की रचना है, यह धवला टीका से ज्ञात नहीं होता।

२ प्रक्रम—प्रक्रम अनेक प्रकार का है। उनमें से कर्मप्रक्रम प्रकृत है। प्रक्रम का अर्थ प्रचय है। कर्म-पुद्गलों का प्रचय कर्मप्रक्रम है। कर्मपुद्गल कर्मरूप से कैसे परिणत होते हैं इसके अनेक दर्शनों का ऊहापोह करते हुए फलितार्थरूप में कार्यकारण परम्परा के विषय में न्यायशैली से स्वमत का प्रस्थापन कर उत्तर भेद बतलाये गये हैं—प्रकृतिप्रक्रम, स्थितिप्रक्रम और अनुभागप्रक्रम। प्रकृतिप्रक्रम में मूल तथा उत्तर किस प्रकृति को कितना द्रव्य मिलता है, स्थितिप्रक्रम में किस स्थिति में कितने द्रव्य का निक्षेप होता है यह बतलाकर अनुभागप्रक्रम का संक्षेप में निरूपण किया है। इसमें अनुभाग की अपेक्षा किस वर्गणा में कितने प्रदेश होते हैं, यह बतलाया है।

3. उपक्रम—नामउपक्रम, स्थापनाउपक्रम इत्यादिरूप से उपक्रम अनेक प्रकार का है। प्रकृत में कर्मउपक्रम का प्रकरण है। वह चार प्रकार का है—बन्धन उपक्रम, उदीरणा उपक्रम, उपशामना उपक्रम और विपरिणाम उपक्रम। प्रक्रम अनुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को प्राप्त होने वाले कर्मों की प्ररूपणा करता है परन्तु उपक्रम अनुयोगद्वार बन्ध के द्वितीय समय से लेकर सत्त्वरूप से स्थित कर्मपुद्गलों के व्यापार की प्ररूपणा करता है।

बन्धन उपक्रम—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से बन्धन उपक्रम चार प्रकार का है। दूध के साथ पानी के समान जीव प्रदेशों के साथ परस्पर अनुगत प्रकृतियों के बन्ध के क्रम की प्ररूपणा करना प्रकृतिबन्धन उपक्रम है। उन्हीं सत्त्वरूप प्रकृतियों के एक समय से लेकर सत्तर कोडाकोडी सागर काल तक कर्मरूप से रहने की काल की प्ररूपणा को स्थितिबन्धन

उपक्रम कहते हैं। उन्हीं सत्त्वरूप प्रकृतियों के जीव के साथ एकता को प्राप्त हुए अनुभाग सम्बन्धी वर्ग, वर्गणा, स्थान और अविभागप्रतिच्छेद आदि की प्ररूपणा को अनुभागबन्धन उपक्रम कहते हैं तथा उन्हीं प्रकृतियों के क्षपित कर्मांशिक, गुणितकर्मांशिक और उनके घोल मान जीव का आश्रय कर सञ्चय को प्राप्त हुए उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रदेशों की प्ररूपणा को प्रदेशबन्धन उपक्रम कहते हैं। उपक्रम अनुयोगद्वार में इन चार प्रकार के कर्मों की प्ररूपणा सत्कर्म प्रकृतिप्राभृत के अनुसार करनी चाहिए, महाबन्ध के अनुसार नहीं, क्योंकि महाबन्ध की प्ररूपणा प्रथम समय में होने वाले बन्ध को लक्ष्य में रखकर की गयी है।

उदीरणा उपक्रम—अपक्वपाचन को उदीरणा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि नूतन बन्ध में बन्ध-समय से लेकर एक आवलिकाल तक तो उदीरणा होती ही नहीं। साथ ही उदयावलि में स्थित प्रदेशों की भी उदीरणा नहीं होती। अतएव उदयावलि में बाहर स्थित प्रदेशों का उदयावलि में देना उदीरणा है। यह प्रकृति उदीरणा आदि के भेद से चार प्रकार की है। उस सबका इस अनुयोगद्वार में विस्तार के साथ निरूपण हुआ है।

अनुभाग उदीरणा का व्याख्यान करते हुए लिखा है कि यद्यपि तिर्यंचों में नीच गोत्र की ही उदीरणा होती है ऐसा सर्वत्र बतलाया है और यहाँ उनमें उच्चगोत्र की उदीरणा की भी प्ररूपणा की गयी है सो कैसे? इसका समाधान यह किया है कि जो तिर्यञ्च संयमासंयम को स्वीकार करते हैं उनमें उच्चगोत्र की प्राप्ति बन जाती है। इसी प्रकार आगे यह भी बतलाया है कि नीच गोत्र की उदीरणा एकान्त से भवप्रत्यय होती है तथा उच्चगोत्र की उदीरणा गुणप्रतिपन्न जीवों में गुणप्रत्यय होती है और अगुणप्रतिपन्न जीवों में भवप्रत्यय होती है। गुण से यहाँ संयम और संयमासंयम का ग्रहण किया है।

उपशामना उपक्रम—उपशामना का निक्षेप करते हुए कर्मउपशामना के दो भेद किये हैं—करण उपशामना और अनुदीर्णोपशामना। करणोपशामना के दो भेद हैं—देशकरणउपशामना और सर्वकरण उपशामना। उनमें से सर्वकरणोपशामना के अन्य दो नाम हैं—गुणोपशामना और प्रशस्तोपशामना तथा जो देशकरणोपशामना है उसके अन्य दो नाम हैं—अगुणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना। प्रकृत अनुयोगद्वार में इसी अप्रशस्तोपशामना का विवेचन किया गया है। उसके अर्थपद का निरूपण करते हुए बतलाया है कि अप्रशस्त उपशामना के द्वारा उपशम को प्राप्त हुआ जो प्रदेशाग्र अपकर्षण के लिए भी शक्य है, उत्कर्षण के लिए भी शक्य है तथा अन्य प्रकृति में संक्रमण के लिए भी शक्य है, किन्तु केवल उदयावलि में प्रविष्ट कराने के लिए शक्य नहीं है, वह अप्रशस्तोपशामना है।

विपरिणाम उपक्रम—इसके प्रकृति, स्थिति आदि के भेद से चार भेद हैं। उसमें भी इन चारों को देशविपरिणामणा और सर्वविपरिणामना इस प्रकार दो-दो प्रकार का बतलाया है।

४. उदय—प्रकृत में कर्म-उदय का प्रकरण है ऐसा लिखकर उसके प्रकृति-उदय आदि चार

भेद किये हैं और स्वामित्व आदि के द्वारा इसका विशेष व्याख्यान किया है।

५. मोक्ष—मोक्ष पद का निक्षेप करके कर्मद्रव्यमोक्ष के प्रकृतिमोक्ष आदि चार भेदों का इस अनुयोगद्वार में विवेचन किया है।

६ संक्रम—संक्रम पद का निक्षेप करके प्रकृत में कर्मसंक्रम का निरूपण करते हुए उसका प्रकृतिसंक्रम आदि चार प्रकार से निरूपण किया है। एक प्रकृति का अन्य प्रकृति में संक्रमित होना यह प्रकृतिसंक्रम है। यहाँ इतना विशेष है कि मूल प्रकृति में संक्रम नहीं होता है। साथ ही दर्शनमोहनीय का चारित्रमोहनीय में और चारित्रमोहनीय का दर्शनमोहनीय में तथा चार आयुओं का परस्पर में संक्रम नहीं होता। शेष उत्तर प्रकृतियों में सजातीय प्रकृतियों में संक्रम होता है। स्थिति उत्कर्षण, स्थितिअपकर्षण तथा अन्य प्रकृति को प्राप्त स्थिति का नाम स्थितिसंक्रम है। अनुभाग संक्रम भी इसी तरह अनुभाग की अपेक्षा तीन प्रकार का है। प्रदेश संक्रम के पांच भेद हैं—उद्वेलना, विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुण और सर्व। जहाँ जिन प्रकृतियों का बन्ध सम्भव है वहाँ उन प्रकृतियों का बन्ध होते हुए और नहीं होते हुए अधःप्रवृत्तसंक्रम होता है। सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व अबन्ध प्रकृतियों के लिए यह नियम नहीं है। जिन प्रकृतियों का जहाँ नियम से बन्ध नहीं है वहाँ उन प्रकृतियों का विध्यातसंक्रम होता है। यह भी नियम मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक ही ध्रुव स्वरूप से है। अप्रमत्त गुणस्थान से आगे बन्धरहित प्रकृतियों का गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम होता है। यह कथन अप्रशस्त प्रकृतियों की अपेक्षा से किया है। प्रशस्त प्रकृतियों की अपेक्षा तो उपशम और क्षपकश्रेणि में उनका भी अधःप्रवृत्तसंक्रम होता है। उद्वेलना संक्रम मात्र १३ प्रकृतियों का होता है।

७ लेश्या—इस अनुयोगद्वार में लेश्या का निक्षेप करके द्रव्य और भावलेश्या का स्वरूप बतलाया है कि बंधे हुए पुद्गल स्कन्धों के चक्षु द्वारा ग्रहण करने योग्य वर्ण को द्रव्यलेश्या कहते हैं तथा मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से उत्पन्न हुए जीव के संस्कार को भावलेश्या कहते हैं।

८ लेश्याकर्म—मारना, विदारना, दया करना आदि लेश्याकर्म है। इस प्रकार इस अनुयोगद्वार में छहों लेश्याओं के अपने कर्म का निर्देश किया है।

९. लेश्यापरिणाम—कौन लेश्याएँ किस स्वरूप से किस वृद्धि या हानि द्वारा परिणमन करती हैं, इस बात का विशेष ज्ञान इस अनुयोगद्वार में कराया गया है। उदाहरणार्थ, कृष्ण लेश्या में संक्लेशवृद्धि स्वस्थान में ही होती है। संक्लेशहानि स्वस्थान में तो होती ही है, इसके द्वारा नील लेश्या में भी गमन होता है इसलिए वह परस्थान में भी सम्भव है। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना चाहिए।

१०. सातासात—इस अनुयोगद्वार में साता और असाता का विशेष व्याख्यान करते हुए प्रत्येक के दो-दो भेद बतलाये हैं। यथा—एकान्त सात और अनेकान्त सात। एकान्त असात और अनेकान्त

असात। जो साता या असाता कर्म जिस रूप में बँधता है, विना परिवर्तन के उसका उसी रूप में भोगा जाना एकान्त सात और एकान्त असातकर्म है तथा इससे विपरीत अनेकान्त सात और अनेकान्त असातकर्म हैं।

११. दीर्घ-ह्रस्व—कर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। उसका बन्ध, उदय और सत्त्व का आश्रय कर दीर्घ-ह्रस्व का विचार इस अनुयोगद्वार में किया गया है। उदाहरणार्थ, मूल प्रकृतियों की अपेक्षा आठ कर्मों का बन्ध होने पर दीर्घबन्ध सज्ञा है और इससे कम का बन्ध होने पर ह्रस्वबन्ध सज्ञा है।

१२. भवधारणीय—भव का विचार करते हुए उसे तीन प्रकार का बतलाया है—ओघभव, आदेशभव और भवग्रहणभव। आठ कर्म या आठ कर्मों से उत्पन्न हुए परिणाम को ओघभव कहते हैं। चार गति, नामकर्म और उनसे उत्पन्न हुए परिणाम को आदेशभव कहते हैं। यह चार प्रकार का है—नरकभव, तिर्यञ्चभव, मनुष्यभव और देवभव। भुज्यमान आयु के निर्जीर्ण होने के बाद अपूर्व आयु के उदय के प्रथम समय में उत्पन्न हुए व्यञ्जनसंज्ञा वाले जीव परिणाम को अथवा पूर्व शरीर के परित्यागपूर्वक उत्तर शरीर के ग्रहण करने को भवग्रहण कहते हैं।

१३ पुद्गलात्त—इसका निक्षेप निरूपण के बाद स्वरूप का कथन करते हुए बतलाया है कि आत्मसात् किये गये पुद्गलों की पुद्गलात्त सज्ञा है। वे छह प्रकार से आत्मसात् किये जाते हैं। यथा—ग्रहण से, परिणाम से, उपभोग से, आहार से, ममत्व से और परिग्रह से। हाथ या पैर से जो दण्ड आदि पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं वे ग्रहण से आत्त पुद्गल कहलाते हैं। मिथ्यात्व आदि परिणामों के द्वारा जो पुद्गल अपने किये जाते हैं वे परिणाम से आत्त पुद्गल कहे जाते हैं। जो गन्ध और ताम्बूल आदि पुद्गल उपभोग रूप से अपने किये जाते हैं वे उपभोग से आत्त पुद्गल कहलाते हैं। भोजन-पान आदि के द्वारा जो पुद्गल अपने किये जाते हैं वे आहार से आत्त पुद्गल कहे जाते हैं। जो पुद्गल अनराग से गृहीत होते हैं वे ममत्व से आत्त पुद्गल कहलाते हैं तथा जो आत्माधीन पुद्गल हैं वे परिग्रह से आत्त पुद्गल कहलाते हैं।

१४ निधत्त-अनिधत्त—इसका विवेचन करते हुए बतलाया है कि जो प्रदेशाग्र निधत्तीकृत है अर्थात् उदय में देने के लिए शक्य नहीं है, अन्य प्रकृति में सक्रान्त होने के लिए शक्य नहीं है, किन्तु अपकर्षण व उत्कर्षण के लिए शक्य है उसकी निधत्त सज्ञा है। उपशामक और क्षपक के सब कर्म अनिवृत्ति गुणस्थान में प्रविष्ट होने पर अनिधत्त हैं। अनन्तानुबन्धीचतुष्क की विसयोजना करने वाले के अनिवृत्तिकरण में अनन्तानुबन्धीचतुष्क अनिधत्त हैं। शेष कर्म निधत्त व अनिधत्त हैं। दर्शनमोहनीय के उपशामक व क्षपक के अनिवृत्तिकरण में दर्शनमोहनीय कर्म अनिधत्त है। शेष कर्म निधत्त व अनिधत्त हैं।

१५. निकाचित-अनिकाचित—इसका विवेचन करते हुए बतलाया है कि जो प्रदेशाग्र उत्कर्षण के लिए तथा अपकर्षण के लिए शक्य नहीं है, अन्य प्रकृति में सक्रमण के लिए शक्य नहीं है

और उदय (उदयावलि) में देने के लिए शक्य नहीं है उसकी निकाचित संज्ञा है। अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट हुए जीव के सब कर्म अनिकाचित हैं। इसके पूर्व निकाचित और अनिकाचित दोनों प्रकार के हैं। शेष व्याख्यान निधत्त-अनिधत्त के समान है।

१६ कर्मस्थिति—कर्म की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति की प्ररूपणा अथवा कर्मस्थिति से सञ्चित हुए सत्कर्म की प्ररूपणा कर्मस्थिति कहलाती है। इसका इस अनुयोगद्वार में विवेचन है।

१७. पश्चिमस्कन्ध—अन्तिम भव की प्राप्ति होने पर जीव के सब कर्मों का बन्ध, उदय, उदीरणा, संक्रमण और सत्ता इन पॉच की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों के आश्रय से मार्गणा करते हुए इस अनुयोगद्वार में आयु के अन्तर्मुहूर्त शेप रहने पर सर्व प्रथम यह जीव आवर्जित करण करता है। उसके बाद दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करते हुए जिस समुद्घात में तथा उसके बाद जो-जो क्रिया करता है उसका विवेचन किया गया है।

१८ अल्पबहुत्व—इसमें सत्कर्म के आश्रय से किस प्रकृति के सत्कर्म का कौन स्वामी है यह विवेचन कर तथा एक जीव की अपेक्षा काल आदि को जानने का सकेत कर अल्पबहुत्व का निर्देश किया गया है।

इस प्रकार पूर्वोक्त परिचय से ज्ञात होता है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के जो २४ अनुयोगद्वार हैं, उनमें से कृति और वेदना को वेदनाखण्ड में, स्पर्श, कर्म, प्रकृति तथा बन्धन के बन्ध, बन्धक और बन्धनीय को वर्गणाखण्ड में तथा बन्धन के बन्धविधान को महाबन्ध में आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि ने सूत्र रूप से निबद्ध किया है तथा निबन्धन आदि शेप अठारह अनुयोगद्वारों का आचार्य वीरसेन ने धवला टीका के अन्त में स्वयं विवेचन करते हुए उसे सत्कर्म सज्ञा दी है। इसकी पुष्टि 'वोच्छामि संतकम्मे पंजियरूवेण विवरण समुहत्थ' (धवला पु १५ सतकम्मपजिया) इस वचन से होती है।

सत्कर्मपञ्जिका विवरण

धवला पुस्तक १५ के अन्त में मुद्रित होकर एक 'सत्कर्मपञ्जिका' जुडी हुई है। यह निबन्धन, प्रक्रम और उपक्रम इन तीन अनुयोगद्वारों पर लिखी गयी धवला टीका के कुछ विशेष पदों का स्पष्टीकरण मात्र है। जिसने इसे निबद्ध किया है उसने अपने नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इतना अवश्य है कि जिन विशेष पदों पर इसमें विवरण प्रस्तुत किया गया है वह महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है।

कषायप्राभृत

पहले हम यह बतला आये हैं कि पञ्चम काल में अग-पूर्व श्रुत की परम्परा अविच्छिन्न

न रह सकी। धीरे-धीरे उसका विच्छेद होता गया। इसे समग्र जैन परम्परा का महान् भाग्य ही समझना चाहिए कि जिस प्रकार आग्रायणीय पूर्व की चयनलब्धि नामक वस्तु का चतुर्थ प्राभृत कर्मप्रकृति किसी प्रकार सुरक्षित रह गया उसी प्रकार ज्ञानप्रवादपूर्व के दसवें वस्तु अधिकार के अन्तर्गत तीसरा प्रेयोदोषप्राभृत भी सुरक्षित रह आया। आचार्य गुणधर ने वर्तमान में उपलब्ध जिस कषायप्राभृत की रचना की है उसका मूल आधार यही प्रेयोदोपप्राभृत है। दिगम्बर जैन परम्परा में इस समय अन्य जितना मूल श्रुत उपलब्ध होता है उसका भी मूल आधार अन्य-अन्य अंग-पूर्व श्रुत ही है यह स्पष्ट विदित होता है।

जैसा कि कषायप्राभृत इस नाम से ही सुस्पष्ट विदित होता है इस महान् ग्रन्थ में एकमात्र मोहनीय कर्म को माध्यम बनाकर ही विवेचन किया गया है। इसका दूसरा नाम प्रेयोदोषप्राभृत भी है सो इससे भी यही विदित होता है कि इसमें एकमात्र राग-द्वेप अर्थात् मोहनीय कर्म के आश्रय से ही विवेचन किया गया है। ग्रन्थ की मूल गाथाएँ १८० हैं यह बात 'गाहासदे असीदे' (पु १ पृ. १४१) इत्यादि दूसरी गाथा से विदित होती है। परन्तु इसमें मूल गाथाएँ २३३ उपलब्ध होती हैं। इसलिए यह प्रश्न होता है कि एक ओर कपायप्राभृत की मूल गाथाएँ १८० बतलायी गयी हैं और दूसरी ओर उसमें २३३ गाथाएँ उपलब्ध होती हैं सो इसका क्या कारण है? यह प्रश्न आचार्य वीरसेन के सामने भी था। उन्होने इसका समाधान करते हुए (पु. १ पृ १८२) जो कुछ लिखा है उसका आशय यह है कि पन्द्रह अर्थाधिकारों में से इस अर्थाधिकार में इतनी गाथाएँ निबद्ध हैं इस प्रकार का ज्ञान कराने के लिए गुणधर भट्टारक ने 'गाहासदे असीदे' इस पकार प्रतिज्ञा की है। शेप ५३ गाथाओं का समावेश इन अर्थाधिकारों में नहीं होता, इसलिए उनका उल्लेख स्वयं आचार्य गुणधर ने नहीं किया।

समग्र कपायप्राभृत जिन पन्द्रह अर्थाधिकारों में विभक्त है उनका नामनिर्देश आचार्य गुणधर ने गाथा १३-१४ में स्वय किया है। वे अर्थाधिकार ये हैं—१ प्रेयोदोपविभक्ति, २ स्थितिविभक्ति, ३ अनुभागविभक्ति, ४ बन्ध (अकर्मबन्ध) अथवा प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक, ५ संक्रमण (कर्मबन्ध अथवा बन्धक), ६ वेदक, ७ उपयोग, ८ चतुस्थान, ९ व्यञ्जन, १०. दर्शनमोहोपशामना, ११. दर्शनमोहक्षपणा १२ सयमासयमलब्धि, १३ चारित्रलब्धि, १४. चारित्रमोहोपशामना और १५ चारित्रमोहक्षपणा। इनके सिवा अद्धापरिमाण का निर्देश करने वाली ६ गाथाएँ (१५ से २०) इसमें उपलब्ध होती हैं। पर यह स्वतन्त्र अधिकार न होने से इसका अलग निर्देश नहीं किया।

ये कषायप्राभृत की मूल गाथाओं में वर्णित विषयसम्बन्धी अधिकारों के नाम हैं। इससे जिस अधिकार में जिस विषय का वर्णन है उसकी सूचना मिल जाती है। इसकी मूल गाथाओं में कहीं प्रश्नरूप में और कहीं सकेत रूप में सूचनामात्र की गयी है। सूत्र का लक्षण है—'जिसमें अल्प अक्षर हों, जो असदिग्ध हो, और जिसमें प्रतिपाद्य विषय का सार भर दिया गया हो, जिसका विषय गूढ हो, जो निर्दोष सयुक्तिक और तथ्यभूत हो उसे सूत्र कहते हैं।' सूत्र के

इस लक्षण के अनुसार कषायप्राभृत की सब गाथाएँ सूत्ररूप हैं इसमें सन्देह नहीं। आचार्य यतिवृषभ और आचार्य वीरसेन ने तो इन्हें सूत्रगाथारूप से स्वीकार किया ही है। स्वय आचार्य गुणधर 'वोच्छामि सुत्तगाहा' (गाथा २) इस पद द्वारा उक्त तथ्य को स्वीकार करते हैं।

चूर्णिसूत्र

आचार्य वीरसेन ने जयधवला के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुए जो आठ गाथाएँ निबद्ध की हैं उनमें तीन गाथाएँ कषायपाभृत के कर्ता आचार्य गुणधर का, कषायप्राभृत का सम्यक् प्रकार से अवधारण करने वाले आचार्य आर्यमक्षु और नागहस्ति का तथा आर्यमंक्षु के शिष्य और नागहस्ति के अन्तेवासी कषायपाभृत वृत्तिसूत्रों के रचयिता आचार्य यतिवृषभ का स्मरण करती है।

यह जयधवला का उल्लेख है। इमसे ये चारों आचार्य थोडे-बहुत काल के अन्तर से आगे-पीछे हुए जान पडते हैं। मालूम पडता है कि जिस प्रकार आचार्य यतिवृषभ को आचार्य आर्यमक्षु का शिष्य और आर्य नागहस्ति का अन्तेवासी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उसी प्रकार इन दोनों आचार्यों को भी आचार्य गुणधर के सान्निध्य का लाभ मिला। किन्तु सर्व प्रथम कषायप्राभृत पर वृत्तिसूत्र या चूर्णिसूत्र के रूप में विस्तृत विवेचन आचार्य यतिवृषभ ने ही लिखा, आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्ति ने नहीं। उन्होंने तो मात्र कषायप्राभृत अर्थ को सम्यक् प्रकार से अवधारण कर इसका पाठ आचार्य यतिवृषभ को दिया और उन्होंने उस पर 'वृत्तिसूत्रों' की रचना की। आचार्य वीरसेन जहाँ इन्हें वृत्तिसूत्र इस नाम से सम्बोधित करते हैं वहाँ वे इनका 'चूर्णिसूत्र' यह नामकरण भी करते हैं। मालूम पडता है कि पूर्वकाल में ये दोनों नाम एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं।

जैसा कि हम पूर्व में सकेत कर आये हैं कषायप्राभृत की मूल गाथायें प्रकृत विषय का सकेतमात्र करती हैं। उनमें वर्णित विषय का सर्वप्रथम संक्षिप्त होते हुए भी विशद और अर्थपूर्ण विवेचन करने वाली यदि कोई रचना है तो ये चूर्णिसूत्र ही हैं। चूर्णिसूत्रों की रचना की यह विशेषता है कि जिस विषय पर स्पष्ट और विशद विवेचन करना आवश्यक हुआ वहाँ पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और गाथाओ मे वर्णित जिस विषय पर विशेष विवेचन करना आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ उन्हे विवेचन के बिना वैसा ही रहने दिया है। उदाहरणार्थ कषायप्राभृत में १५ से २० तक की गाथाओं द्वारा अनाकार उपयोग से लेकर उपशामक तक के कतिपय पदों का अल्पबहुत्व बतलाया गया है। अत यह विषय सुगम है, इसलिए इन गाथाओं पर आचार्य यतिवृषभ ने चूर्णिसूत्रों की रचना नहीं की। यह बात २ से १२ तक की गाथाओं पर भी लागू होती है, क्योंकि इन गाथाओं द्वारा मात्र इतना निर्देश किया गया है कि किस अधिकार के विषय-विवेचन में कितनी गाथायें निबद्ध हैं। सक्रमण अनुयोगद्वार में २७ से लेकर ५८ तक

की गाथाओं पर भी चूर्णिसूत्र नहीं हैं। परन्तु इन गाथाओं के प्रारम्भ में 'तत्थ पुव्वं गमणिज्जा सुत्तसमुक्कित्तणा त जहा' यह चूर्णिसूत्र आया है और इन गाथाओं के अन्त में 'सुत्तसमुक्कित्तणाए समत्ताए इमे अणुयोगद्दारा' यह चूर्णिसूत्र आया है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि आचार्य यतिवृषभ के समक्ष ये गाथाएँ रही अवश्य हैं, परन्तु विशेष विवेचन करना इष्ट न होने से इन पर उन्होंने चूर्णिसूत्रों की रचना नहीं की।

आचार्य गुणधर ने पन्द्रह अर्थाधिकारों में विभक्त जिन १८० गाथाओं का उल्लेख किया है उनमें पूर्वोक्त ६ + ११ + ३२ = ४९ गाथायें सम्मिलित नहीं हैं तथा इनके सिवा १७, २५, २६ तथा २७ क्रमांक की गाथाएं भी सम्मिलित नहीं हैं, पर इन चारों गाथाओं पर चूर्णिसूत्र उपलब्ध होते हैं। इससे विदित होता है कि १८० गाथाओं के अतिरिक्त शेष ५३ गाथाओं की रचना की तो थी आचार्य गुणधर ने ही, पर सरल समझकर आचार्य यतिवृषभ ने उनमें से कतिपय २ से १२ तथा १५-२० गाथाओं पर चूर्णिसूत्रों की रचना नहीं की और सक्रमवृत्ति-सम्बन्धी गाथाओं की चूर्णिसूत्रों द्वारा स्वीकृति मात्र दी। इनके सिवा शेष सब गाथाओं पर आचार्य यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र हैं। इनके द्वारा उन्होंने मूल सूत्रगाथाओं में निवद्ध दुरूह विषयों का जो सुगम और सुस्पष्ट व्याख्यान किया है वह उनके रचनासौष्ठव के साथ विषयस्पर्शी अगाध पाण्डित्य को ही सूचित करता है।

यह तो सुविदित सत्य है कि आचार्य यतिवृषभ ने अपने चूर्णिसूत्रों में उन्हीं विषयों का सम्यक् विवेचन किया है जिनकी सूचना आचार्य गुणधर ने कषायप्राभृत के स्वरचित पन्द्रह अधिकारों में दी है। किन्तु मूल गाथाओं को ध्यान में रखकर आचार्य यतिवृषभ ने अपने चूर्णिसूत्रों में मूल कषायपाभृत में प्रतिपादित पन्द्रह अधिकारों का तदनुरूप भिन्न प्रकार से विभक्त कर स्थान दिया है। यथा—१ प्रेयोदोषविभक्ति, २. प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिक, ३ वन्ध (अकर्मबन्ध), ४ सक्रमण (कर्मबन्ध), ५ उदय, ६ उदीरणा, ७ उपयोग, ८ चतुःस्थान, ९ व्यञ्जन, १० दर्शनमोहोपशामना, ११ दर्शनमोहक्षपणा, १२ देशविरति, १३ चारित्रमोहोपशामना, १४ चारित्रमोहक्षपणा और १५ अद्धापरिमाणनिर्देश।

टीकाग्रन्थ . जयधवला

जैन परम्परा में षट्खण्डागम का जितना महत्त्व है, कषायप्राभृत का उससे कम महत्त्व नहीं है। अति प्राचीन काल में इसकी रचना होने के बाद इसपर भी षट्खण्डागम के समान अनेक आचार्यों ने विस्तृत टीकायें रची हैं। उनमें से अनेक का उल्लेख हम पूर्व में ही कर आये हैं। इस पर लिखी गयी वर्तमान में उपलब्ध टीका जयधवला है। उसका सम्यक् प्रकार से अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि जयधवला की रचना करते समय जयधवलाकार के सामने उच्चारणवृत्ति, मूलोच्चारणा, वप्पदेवविरचित उच्चारणा, स्वय आचार्य वीरसेन द्वारा लिखित

उच्चारणा आदि पाँच उच्चारणायें रही हैं। साथ ही कुछ ऐसे व्याख्यानाचार्य भी हो गये हैं जिनके अभिप्रायों से भी वे परिचित थे। जयधवला कलेवर इन्हीं पाँच उच्चारणाओं और व्याख्यानाचार्यों के अभिप्रायों से पुष्ट हुआ है। इनके सिवा कषायप्राभृत का अन्य कोई टीका-साहित्य जयधवलाकार के सामने था यह लिखना बहुत कठिन है।

कषायप्राभृत और उस पर लिखे गये चूर्णिसूत्रों का परिचय हम पूर्व में करा आये हैं। उन दोनों का विस्तृत व्याख्यान करने वाली यह जयधलवा टीका है। यह टीका आचार्य वीरसेन और जिनसेन की कृति है। यह भी सम्कृत मिश्र प्राकृत में लिखी गयी है। टीका का परिमाण सब मिलाकर साठ हजार श्लोक प्रमाण हैं। साधारणत धवला टीका में जिस प्रकार पट्खण्डागम के प्रारम्भ के पॉच खण्डों में प्रतिपादित विषय का विशदरूप से स्पष्टीकरण किया गया है उसी प्रकार जयधवला टीका में भी कषायप्राभृत और चूर्णिसूत्रों द्वारा प्रतिपादित विषय का विस्तार से विवेचन किया गया है। इतना अवश्य है कि प्रारम्भ के प्रेयोदोषविभक्ति, पकृतिविभक्ति और स्थिति विभक्ति इन तीन अधिकारों में जिस प्रकार विषय का विवेचन चौदह मार्गणाओं के आश्रय से किया गया है उसी प्रकार अनुभागविभक्ति आदि अधिकारों में चौदह मार्गणाओं का आश्रय लेकर विषय का विवेचन न करके मात्र गतिमार्गणा का आश्रय लेकर ही स्वामित्वादि प्ररूपणाओं का विवेचन किया गया है। यह टीका भी प्रमेयबहुल होने से इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ उत्कर्षण, अपकर्षण और सक्रमण के लिए कषायप्राभृत चूर्णिसूत्र और जयधवला टीका विशेषरूप से दृष्टव्य है।
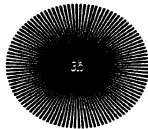
जैनागम और जिनमुद्रा

❑ *आर्यिका श्री विशुद्धमतीजी*
(शिष्या आचार्य शिवसागरजी)

यह संसार अनन्तानन्त दुखों से भरा हुआ है, अत इसमें रहने वाला प्रत्येक प्राणी किसी न किसी प्रकार के दुख से दुखी है। हिताहित का विवेक रखने वाले जो भव्य जीव इन दुखों से छूटना चाहते हैं उन्हें उसी प्रकार जिनागम का आश्रय लेना चाहिए जिस प्रकार (ग्रीष्म ऋतु में) आतप से पीडित मनुष्य वृक्षादि की छाया का आश्रय लेते हैं।

जिन्होंने ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों पर विजय प्राप्त कर सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्राप्त कर ली है उन्हें जिन अर्थात् तीर्थङ्कर कहते हैं। हितोपदेशिता भी इनका विशिष्ट लक्षण है। यहाँ प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में तीर्थङ्कर २४-२४ ही होते हैं। केवलज्ञान हो जाने के बाद समवसरण की रचना होती है, जहाँ दिव्यध्वनि के माध्यम से इन तीर्थङ्कर प्रभु का दिव्योपदेश होता है। जिनमुखोद्भव होने से इनकी वाणी को जिनवाणी कहते हैं। यह जिनवाणी ही आगम है क्योंकि 'जिन' का दूसरा नाम आप्त है और "आगमो ह्याप्तवचनम्" इस सूत्र में आप्त के वचनों को आगम कहा गया है। आचार्य अकलङ्कदेव राजवार्तिक ग्रन्थराज के प्रथम अध्याय सूत्र १२ की टीका में कहते हैं कि—"आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति, न सर्व। यदि सर्व स्यात्, अविशेष स्यात्"। अर्थात् जिनके सर्वदोष क्षीण हो गये हैं ऐसे प्रत्यक्षज्ञानियों के द्वारा प्रणीत आगम ही आगम है, सर्व नहीं, क्योंकि यदि ऐसा हो तो आगम एव अनागम में कोई भेद नहीं रह जायेगा।

आत्महित के सर्व साधनों में मूल साधन आगम है, इसी कारण आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने शास्त्र (आगम) का लक्षण कहने के लिए छह विशेपण कह कर उसकी निर्दोषता सिद्ध की है। यथा—

> आप्तोपज्ञमनुल्लघ्य-मदृष्टेष्ट-विरोधकम्।
> तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं, शास्त्र कापथ-घट्टनम्॥९॥र श्रा।

अर्थात्—जो आप्त का कहा हुआ हो, वादी-प्रतिवादी द्वारा खण्डित न हो, प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणों से विरोध रहित हो, वस्तुस्वरूप का उपदेश करने वाला हो, सब जीवों का हित करने वाला हो और मिथ्यामार्ग का खण्डन करने वाला हो, वह सत्यार्थ शास्त्र है।

मिथ्यात्व के तीव्रोदय की वशवर्तिता से अथवा नयविवक्षा न समझ पाने से कभी-कभी अनेक

वक्ताओं (जीवों) का ज्ञान भ्रमित हो जाता है और वे विपरीत प्रतिपादन करते या लिखते हुए भी उसे आगम ही कहते हैं। ऐसे मूढ जीवों के लिए न्यायदीपिका में कहते हैं कि— 'आप्त-वाक्य-निबन्धनमर्थ-ज्ञानमागम', अर्थात् आप्त के वाक्यानुरूप आगम के ज्ञान को (ही) आगम कहते हैं (आप्त वचन के विपरीत ज्ञान को नहीं)। ऐसा आगमज्ञान ही प्रामाणिक होता है, क्योंकि वह भगवत् अर्हत्परमेष्ठी के मुखारविन्द से निर्गत है। धवल पुस्तक में भी कहा है कि "वक्तृप्रामाण्याद्वचन-प्रामाण्यम्" अर्थात् वक्ता की प्रमाणता से वचनों में प्रमाणता आती है। ऐसा प्रामाणिक और निर्दोष जैनागम अनेकान्तरूपी दृढ स्तम्भ पर स्थित है और स्याद्वादरूप ध्वज से चिह्नित है। अर्थात् अनेकान्त और स्याद्वाद ये दो आगम के कारण हैं। ये दोनों एक ही अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं। इनमें ज्ञानवाद-ज्ञेयवाद तथा प्रमाणवाद और प्रमेयवाद के सदृश ही अन्तर है।

अनेकान्त और स्याद्वाद

अनेकान्त का अर्थ है परस्पर विरोधी-अविरोधी अनेक धर्म अथवा एक ही वस्तु में तत्-अतत्, नित्यानित्य, एकानेक आदि एक साथ रहने वाले अनेक धर्म।

स्याद्वाद में दो शब्द हैं, स्यात् और वाद। स्यात् का अर्थ है कथञ्चित् और वाद का अर्थ है मान्यता का कथन। अर्थात् जो वस्तु में रहने वाले अनन्तधर्मों में से विवक्षित किसी एक धर्म को एक समय में अपने सप्तभङ्गी नय के माध्यम से प्रतिपादन करता है, उसे स्याद्वाद कहते हैं। इससे यह सिद्धान्त हुआ कि ज्ञेय-ज्ञायक के सदृश अनेकान्त व्यवस्थाप्य है और स्याद्वाद व्यवस्थापक। अथवा अनेकान्त प्रतिपाद्य है और स्याद्वाद प्रतिपादक (वाचक)।

जिनेन्द्र का यह शासनरूप आगम अनेकान्त सिद्धान्त की भव्य एवं विशाल आधार-शिला पर निर्मित होने के कारण अत्यन्त दृढ है। इसीलिए समन्तभद्र स्वामी ने युक्त्यनुशासन में इसे सर्वोदयतीर्थ कहा है। यथा—

> सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्प, सर्वान्त-शून्य च मिथोऽनपेक्षम्।
> सर्वापदामन्तकर निरन्त, सर्वोदय तीर्थमिद तवैव॥६१॥

अर्थात्—हे वीर जिन! आपका शासन समस्त धर्मों से युक्त है और गौण तथा मुख्य की विवक्षा को लिये हुए है, किन्तु अन्य शासन निरपेक्ष एक-एक नित्यत्व या अनित्यत्व आदि का ही प्रतिपादन करने से उस एक-एक धर्म के अविनाभावी शेष धर्मों से शून्य हैं और उनके अभाव में उन धर्मों के अविनाभावी उस एक-एक धर्म से भी रहित हैं, अत आपका ही अनेकान्तशासन रूप तीर्थ सर्व दुखों का अन्त करने वाला है, किसी अन्य के द्वारा अन्त (नाश) न होने वाला है और सबका कल्याणकर्ता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में परमागम के बीजस्वरूप इस अनेकान्त को

नमस्कार किया है। यथा—

परमागमस्य जीवं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम्।
सकलनय-विलसितानां, विरोध-मथन नमाम्यनेकान्तम्॥२॥

अर्थ—जात्यन्ध पुरुषों के हस्ति-विधान का निषेध करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित वस्तु-स्वभावों के विरोधों को दूर करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त के जीवनभूत अनेकान्त को मैं नमस्कार करता हूँ।

एकान्तवाद—अनेक धर्मात्मक वस्तु को एक धर्मात्मक मानना या अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को ही स्वीकार करना, अन्य धर्मों की उपेक्षा करना एकान्तवाद है। अर्थात् वस्तु के जटिलस्वरूप को न समझ सकने के कारण व्यक्ति उसके किसी एक या दो आदि अल्पमात्र अङ्गों को जान लेने पर यह कह बैठता है कि इतना मात्र ही उसका स्वरूप है, इससे अधिक कुछ नहीं, अत उसमें अपने उस नियम का पक्ष उदित हो जाता है जिसके कारण वह उसी वस्तु के अन्य सद्भूत अङ्गों को समझने का प्रयत्न करने की अपेक्षा उल्टा उनका निषेध करने लगता है और उनके पोषक अन्य वादियों के साथ विवाद करता है। दृष्टि को सकुचित कर देने वाला यह एकान्त-पक्षपात रागद्वेष की पुष्टि करने के कारण तथा व्यक्ति के व्यापक स्वभाव को कुण्ठित कर देने के कारण मोक्षमार्ग में अत्यन्त अनिष्टकारी है और स्व-पर घातक है, जैसा कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने स्वयम्भूस्तोत्र में कहा है—

य एव नित्य-क्षणिकादयो नया, मिथोऽनपेक्षा स्वपर-प्रणाशिन ।
त एव तत्त्व विमलस्य ते मुने, परस्परेक्षा स्वपरोपकारिण ।६१॥

अर्थात्—यदि नित्यत्व, अनित्यत्व आदि परस्पर निरपेक्ष एक-एक ही धर्म वस्तु में हों तो वे न स्वय अपने अस्तित्व को रख सकते हैं और न अन्य के अस्तित्व को रख सकते हैं, क्योंकि यह एकान्त दृष्टि स्व-पर-घातक है। यदि वे ही धर्म परस्पर सापेक्ष हों, अन्य का तिरस्कार न करे तो हे विमल जिन। वे अपना भी अस्तित्व रखते हैं और अन्य धर्मों का भी, क्योंकि अनेकान्त दृष्टि स्वपरोपकारक है। यथा—

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते, सती शून्यो विपर्यय ।
तत सर्वं मृषोक्त स्यात्तदयुक्त स्वघातत ॥९८॥

अर्थात्—हे अर जिन। आपकी अनेकान्तदृष्टि समीचीन है और इसके विपरीत जो एकान्तदृष्टि (मत) है, वह असमीचीन अर्थात् शून्यरूप असत् है, अत जो कथन अनेकान्त दृष्टि से रहित है वह सब मिथ्या है, क्योंकि वह अपना ही घातक है।

अहंकार और हठाग्रह को जन्म देने वाला यह एकान्तवाद भी कई प्रकार का है। यथा— सामान्यैकान्त, विशेषैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, नित्यैकान्त और अनित्यैकान्त इत्यादि।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड ग्रन्थ में मिथ्यामत के ३६३ भेद गिनाते हुए कहा है कि—

असियसय किरियवाई, अक्किरियाण च होइ चुलसीदी।
सत्तट्ठी अण्णाणी, वेणैया होंति बत्तीसा॥१३५॥

अर्थात्—क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और वैनयिकवादियों के ३२ भेद हैं। ये सब मिलाकर ३६३ मिथ्यामत होते हैं।

द्वादशाङ्ग के दृष्टिवाद नामक १२वें अग के ५ अधिकार हैं। (१) परिकर्म, (२) सूत्र, (३) प्रथमानुयोग, (४) पूर्वगत, (५) चूलिका। इनमें से सूत्र नामक अधिकार में ८८00000 पदों द्वारा इन मिथ्यामतों का निरूपण किया गया है।

धवल पुस्तक प्रथम पृ. १०७-१०८ पर वीरसेन स्वामी ने लिखा है कि दृष्टिवाद नाम के अग में कौत्कल, काणेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, माधपिक, रोमश, हारित, मुण्ड और अश्वलायन आदि क्रियावादियों के १८० मतों का, मारीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर और मौद्गल्यायन आदि अक्रियावादियों के ८४ मतों का, शाकल्य, वल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यदिन, मोद, पैप्पलाद, वादरायण, स्वेष्टकृत, ऐतिकायन, वसु और जैमिनी आदि अज्ञानवादियों के ६७ तथा वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, ऐन्द्रदत्त और अयस्थूण आदि वैनयिकवादियों के ३२ मतों का वर्णन और उनका निराकरण किया गया है।

द्वादशाङ्ग में इनका निरूपण और निराकरण किया गया है जिससे ज्ञान होता है कि ये ३६३ मिथ्यामत प्राचीन काल से ही जैनागम के घिराव में रहे हैं।

षड्दर्शनसमुच्चय में षड्दर्शनों का नाम निर्देश करते हुए कहा गया है कि—

दर्शनानि षडेवात्र, मूलभेद-व्यपेक्षया।
देवता तत्त्व-भेदेन, ज्ञातव्यानि मनीषिभि ॥२॥

बौद्ध नैयायिकं साख्य, जैन वैशेषिकं तथा।
जैमिनीय च नामानि, दर्शनानाममून्यहो॥३॥

मूल भेदों की अपेक्षा दर्शन छह हैं—बौद्ध, नैयायिक, साख्य, जैमिनीय, वैशेषिक तथा जैन। इसमें से बौद्धादि पाँच दर्शन तो मिथ्या (एकान्तवादी) ही हैं, केवल जिनेन्द्र कथित जैनदर्शन ही समीचीन दर्शन है। किन्तु हुण्डावसर्पिणी काल दोष से परमोपकारी यह जैनदर्शन भी पूर्णरूपेण निर्दोष नहीं रह सका। मिथ्यात्व के तीव्रोदय के वशवर्ती अनेक ससारी जीवों ने स्याद्वाद तत्त्व की उपेक्षा कर जैन दर्शन में भी अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न कर दी हैं। इनका नाम निर्देश करते हुए सोमदेव सूरि नीतिसार ग्रन्थ में लिखते हैं कि—

गोपुच्छक श्वेतवासो, द्राविडो यापनीय ।

निपिच्छिकश्चेति पञ्चैते, जैनाभासा प्रकीर्तिता ॥

अर्थात्—गोपुच्छक, श्वेताम्बर, द्रविड, यापनीय और निष्पिच्छ ये पाँच जैनाभास कहे गये हैं।

दर्शनसार के पृष्ठ ४१ पर उद्धृत श्लोकों से अन्य प्रकार के जैनाभासों का निर्देश और प्राप्त हो रहा है। यथा—

काष्ठासघो भुवि ख्यातो, जानन्ति नृ-सुरासुरा।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो, राजन्ते विश्रुता क्षितौ॥१॥

श्रीनन्दीतट-सज्ञश्च, माथुरो बागडाधिप।
लाडबागड इत्येते, विख्याता क्षिति-मण्डले॥२॥

अर्थात्—पृथ्वी पर काष्ठासंघ विख्यात है, उसे नर-सुर और असुर सब जानते हैं। उस सघ में चार गच्छ पृथ्वी पर स्थित हैं (१) नन्दितट, (२) माथुरगच्छ, (३) बागडगच्छ और (४) लाडबागडगच्छ। इन जैनाभासों की उत्पत्ति कब हुई और पॉच जैनाभासों में से सर्व प्रथम कौन-सा जैनाभास प्रकट हुआ था, इसका निर्देश करते हुए नीतिसार में उद्धृत है कि—"पूर्व" श्री मूलसङ्घस्तदनु सितपट काष्ठास्ततो हि तावाभूद्भादि-गच्छ, पुनरजनि तनो यापनीसङ्घ एक"। अर्थात् मूलसङ्घ में भद्रबाहु स्वामी के काल में सर्व प्रथम श्वेताम्बर सङ्घ उत्पन्न हुआ था। तत्पश्चात् काष्ठासङ्घ हुआ जो पीछे अनेक गच्छो में विभक्त हो गया। उसके कुछ ही काल पश्चात् यापनीय सङ्घ उत्पन्न हुआ।

श्वेताम्बरमत—इस मत की उत्पत्ति आदि का निर्देश करते हुए देवसेन स्वामी भावसंग्रह ग्रन्थ में कहते हैं कि—

छत्तीसे वरिससए, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्य।
सोरट्ठे उप्पण्णो, सेवडसङ्घो हु बलहीए॥१३७॥

अर्थात्—विक्रमराजा के मरण के १३६ वर्ष बाद सौराष्ट्र देश के बल्लभीपुर नगर में श्वेताम्बर सङ्घ उत्पन्न हुआ।

आसि उज्जेणि-णयरे, आयरिओ भद्दबाहु णामेण।
जाणिय सुणिमित्त-धरो, भणिओ सघो णिओ तेण॥१३८॥

हो हइ इह दुब्भिक्ख वारह बरसाणि जाम पुण्णाणि।
देसतराइं गच्छइ, णिय-णिय सघेण सजुत्ता॥१३९॥

सोऊण इमं वयण, णाणादेसेहि गणहरा सव्वे।
णिय-णिय संघ पउत्ता, विहरीआ जत्थ सुब्भिक्ख॥१४०॥

अर्थात्—उज्जयिनी नगरी में भद्रबाहु नाम के आचार्य थे। वे निमित्तज्ञान के धारी थे। उत्तर

प्रान्त में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पडेगा ऐसा जानकर उन्होंने अपने सम्पूर्ण सङ्घ को बुला कर कहा कि यहाँ दुर्भिक्ष पडेगा अत आप सबको अपना-अपना सङ्घ लेकर देशान्तर को विहार कर देना चाहिए। गुरु वाणी सुनकर सभी आचार्य अपने-अपने सङ्घ को लेकर वहाँ से विहार कर गये।

एक्कं पुण संतिणामो, सपत्तो वलहिणाम-णयरीए।
बहुसीस-सपउत्तो, विसए सोरट्ठए रम्मे॥१४१॥

अर्थात्—भद्रबाहु के सङ्घ में शान्ति नाम के एक आचार्य थे जो गुरु-आज्ञा का उल्लङ्घन कर अपना सङ्घ लेकर सौराष्ट्र देश के बल्लभीपुर नगर में आये, परन्तु वहाँ भी भारी दुष्काल था। भूख से पीडित क्रूर परिणामी लोग दूसरों के उदर का विदारण करने लगे, इस निमित्त को पाकर मिथ्यात्व के वशवर्ती होते हुए सकल सङ्घ ने निर्दोष मुनिचर्या का त्याग कर दिया। वस्त्र, कम्बल, पात्र और दण्ड आदि धारण कर लिये। दीनतापूर्वक याचना करने लगे और वसतिका में बैठकर इच्छापूर्वक भोजन करने लगे।

भावसंग्रह में आगे (१४५ से १६० तक की गाथाओं में) जो उल्लेख है उसका अर्थ है—बहुत समय तक इसी प्रकार की शिथिलाचार प्रवृत्ति चलती रही। जब देश में सुभिक्ष हो गया और सर्वत्र शान्ति हो गयी तब शान्त्याचार्य ने अपने भ्रष्टाचारी सङ्घ को बुला कर कहा कि—भो सर्व साधुजन। इस कुत्सित आचरण को छोडकर अपनी-अपनी निन्दा-गर्हा करते हुए जिनेन्द्र कथित सच्चारित्र ग्रहण करो। उनके ये वचन सुनकर उनका प्रथम शिष्य बोला—"यह अतिदुर्धर चारित्र धारण करने में अब कौन समर्थ है? आहार का लाभ न मिलने पर उपवास करना, अन्तराय पालन करना, खडे-खडे दिन में मात्र एक बार भोजन करना, याचना नहीं करना, नग्न रहना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, भूमि पर शयन करना, अत्यन्त असहनीय गर्मी-सर्दी आदि बाईस परिषह सहन करना और अति पीडाकारक केशलुञ्चन प्रत्येक दो-तीन माह में करना इत्यादि प्रकार का यह कठिन आचरण करने के लिए इस दु पम काल में हम लोग समर्थ नहीं है और न इस कठोर आचरण के लिए हम लोग इस लोक सम्बन्धी प्रत्यक्ष सुख को ही छोड सकते हैं।

ससार-परिभ्रमण कराने वाले इन वचनों को सुनकर शान्त्याचार्य बोले—"समीचीन जैनमार्ग में दूषण लगाकर चरित्रभ्रष्ट जीवन जीने से क्या? जिनेन्द्र-कथित परम निर्ग्रंथ पथ का त्याग कर मिथ्यामार्ग का सेवन करना उचित नहीं।" उनके वचन सुनकर उन्हीं के शिष्य ने रुष्ट होकर डण्डे से उनके सिर पर जोर का प्रहार किया जिससे शान्त्याचार्य का सिर फट गया और वे मर कर व्यन्तर जाति के देव हुए।

आचार्य का मरण हो जाने पर वह जिनचन्द्र सङ्घाधिपति बन गया और उसने कहा कि सग्रन्थ (परिग्रह धारी) को ही मोक्ष होता है। स्त्रियों को मोक्ष होता है। अर्हन्त कवलाहार करते

हैं इत्यादि। उसने इसी मत के शास्त्र रचे और इसी प्रकार के आचरण में रत हो गया। निर्ग्रन्थ मार्ग की निन्दा करते हुए उस मार्ग में नाना प्रकार के दूषण लगाने लगा और बहुत द्रव्य का सञ्चय करने लगा।

शान्त्याचार्य मरकर व्यन्तर देव हुए। वे सङ्घ के ऊपर नाना प्रकार के उपद्रव करने लगे और कहने लगे कि मिथ्यामार्ग छोड़कर निर्ग्रन्थ (जैन) मत धारण करो। उसके भय से जिनचन्द्र ने विपुल द्रव्य लेकर आठ प्रकार से उस देव की पूजा की और उसे प्रसन्न किया। उस मत में यह पूजा-प्रक्रिया आज तक हो रही है।

आचार्य कुन्दकुन्द का उपकार

आचार्य कुन्दकुन्द ईसा की दूसरी शताब्दी में हुए हैं। उसी समय इस नवीन जैनाभास (मिथ्यामत) का आक्रमण जिनमत पर हुआ। "धर्म-निर्मूल-विध्वम, सहन्ते न प्रभावका" नीति के अनुसार समीचीन धर्म पर मिथ्यामत का यह प्रहार कुन्दकुन्दाचार्य को सह्य नहीं हुआ। धर्म की रक्षा और धर्मधारियों के स्थितिकरण करने के लिए ही शायद उन्होंने दर्शनपाहुड आदि अनेक पाहुडों की रचना करने का समीचीन पुरुषार्थ किया। सम्भवत यही कारण है कि आचार्यदेव ने दर्शनपाहुड में सम्यक्त्व का लक्षण एव उसके भेद आदि का निरूपण न करके मङ्गलाचरण के बाद सर्वप्रथम यही कहा है कि हे भव्यो। कान खोल कर सुन लो कि सम्यग्दर्शन-हीन मनुष्यों की वन्दना नहीं करनी चाहिए।

> दसणमूलो धम्मो, उवइट्ठो जिणवरेहि सिस्साण।
> त सोऊण सकण्णे, दसणहीणो ण वदिव्वो॥२॥द पा ॥

अर्थात्—जिनेन्द्र भगवान ने शिष्यों के लिए सम्यग्दर्शनमूलक धर्म का उपदेश दिया है, सो उसे अपने कानों से सुन कर समझ लो कि सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य की वन्दना नहीं करनी चाहिए। इसी गाथा की टीका करते हुए श्रुतसागर सूरि ने कहा है—'अथ कोऽसौ दर्शनहीन इति चेत्। तीर्थङ्कर-परमदेव-प्रतिमा न मानयन्ति. ।' सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य कौन हैं जिन्हें नमस्कार नहीं करना चाहिए? उत्तर—जो तीर्थङ्करपरमदेव की प्रतिमा को नहीं मानते वे सम्यक्त्व रहित हैं, उन्हें नमस्कार नहीं करना चाहिए। पुन प्रश्न होता है कि—मिथ्यादृष्ट्य किल वदन्ति—व्रतै किं प्रयोजनं? आत्मैव पोषणीय, तस्य दुःखं न दातव्य। मयूरपिच्छ किं रुचिर न भवति, सूत्रपिच्छं रुचिरम्.. ।"

इसी प्रकार गाथा ६ की टीका में स्पष्ट कहते हैं—"कलौ पञ्चमकाले कलुषा कश्मलिन शौचधर्मरहिता, वर्णान् लोपयित्वा, यत्र तत्र भिक्षाग्राहिण, मासभक्षि-गृहेष्वपि प्रासुक-अन्नादिकं ग्रहृणन्त कलिकलुपा "। अर्थात् जो पञ्चम काल में कलुष (मलिन) हैं, शौचधर्म से रहित हैं, वर्णों का लोप करके चाहे जहाँ भिक्षा ग्रहण करते हैं, मासभोजी घरों में भी अन्नादि ग्रहण

करते हैं, पाप रूप हैं, म्लेच्छों तथा श्मशानवासी लोगों के घर में भी भोजन करते हैं और धर्म से रहित हैं (उन्हें नमस्कार आदि नहीं करना चाहिए)।

इस मत ने जिनचैत्य एवं जिन चैत्यालयों का खण्डन किया है, अत इनके (चैत्य-चैत्यालयों के) मण्डन के लिए आचार्य कुन्दकुन्द बोधप्राभृत में कहते हैं—

चेइय बधं मोक्खं, दुक्खं सुक्खं च अप्पयतस्स।
चेइहरं जिणमग्गे, छक्काय हियंकर भणियं॥९॥

अर्थात्—जो चैत्यगृह के प्रति दुष्ट प्रवृत्ति करता है उसे वह बन्ध तथा उसके फलस्वरूप दुख उत्पन्न करता है और जो चैत्यगृह के प्रति उत्तम प्रवृत्ति करता है उसे वह मोक्ष तथा उसके फलस्वरूप सुख प्रदान करता है। जिनमार्ग में चैत्यगृह को षट्कायिक जीवों का हितकारी कहा गया है। इसकी टीका में कहते हैं कि—'चैत्यगृह जिनमार्गे श्रीमद् भगवदर्हत्सर्वज्ञ-वीतराग-शासने वर्तते एव, को मिथ्यादृष्टि पापीयास्तल्लोपयति? यश्चैत्यगृह च न मानयति स महापातकी भवति ।'

चैत्य प्रतिमा के अस्तित्व का मण्डन करते हुए आचार्य देव को अवश्य यह विकल्प उठा होगा कि प्रतिमा-पूजन के मण्डन से कहीं भोले-भाले प्राणी जिस किसी की मूर्ति को नमस्कार आदि न करने लगें? उसका स्पष्टीकरण करने हेतू बोध प्राभृत की अगली गाथा में कहा गया है—

सपराजगमदेहा, दसण-णाणेण सुद्ध-चरणाण।
णिग्गथ वीयराया, जिणमग्गे एरिसा पडिमा॥१०॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के द्वारा निर्दोष चारित्र को धारण करने वाले तीर्थङ्कर की प्रतिमा स्वशासन और परशासन की अपेक्षा दो प्रकार की है, अजङ्गमरूप है तथा निर्ग्रन्थ एव वीतराग है। जिनमार्ग में ऐसी प्रतिमा मानी गयी है।

टीका—स्वकीया अर्हच्छासन-सम्बन्धिनी। परा परकीयशासन-सम्बन्धिनी प्रतिमा भवति। स्वकीय-शासनस्य या प्रतिमा सा उपादेया ज्ञातव्या। या परकीया प्रतिमा सा हेया, न वन्दनीया। अथवा स्वकीय-शासनेऽपि या प्रतिमा उत्कृष्टा भवति सा वन्दनीया, न तु अनुत्कृष्टा। का उत्कृष्टा, का अनुत्कृष्टा? या पञ्च-जैनाभासैरञ्चलिका-रहितापि नग्नमूर्तिरपि प्रतिष्ठिता सा न वन्दनीया, न चार्चनीया च। या तु जैनाभासरहितै साक्षादार्हतसङ्घै प्रतिष्ठिता चक्षु-स्तनादिषु विकार-रहिता नन्दिसङ्घ-सेनसङ्घ-देवसङ्घ-सिंहसङ्घै समुपन्यस्ता सा वन्दनीया तथा चोक्त इन्द्रनन्दिना भट्टारकेण—

"चतु सघसहिताया जैन बिम्बं प्रतिष्ठितम्।
नमेन्नापरसघीय यतो न्यासविपर्यय ॥"

अर्थात्—अर्हन्त भगवान के शासन से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिमा स्व-प्रतिमा है और पर-शासन

से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिमा पर-प्रतिमा है। जो प्रतिमा स्व-शासन की है वह उपादेय है, भक्ति वन्दना आदि करने योग्य है और जो पर-शासन से सम्बन्ध रखने वाली है वह हेय है, छोडने योग्य है, वन्दना करने के योग्य नहीं है। अथवा जो प्रतिमा अर्हन्तदेव के शासन में उत्कृष्ट है अर्थात् प्रतिष्ठा-सिद्धान्त के अनुसार निर्मित है वही वन्दना करने योग्य है। अनुत्कृष्ट प्रतिमा वन्दना करने योग्य नहीं है।

शका—कौन प्रतिमा उत्कृष्ट है और कौन अनुत्कृष्ट?

उत्तर—पाँच प्रकार के जैनाभासों ने जो प्रतिमा प्रतिष्ठित की है वह अञ्चलिका-लग से रहित, नग्न रूप होने पर भी वन्दनीय और अर्चनीय नहीं है। किन्तु साक्षात् अर्हत्सङ्घ के सज्जन पुरुषों द्वारा जो प्रतिष्ठित है, नेत्र और स्तन आदि में विकार रहित है, नन्दिसङ्घ, सेनसङ्घ, देवसङ्घ और सिहसङ्घ के द्वारा प्रतिष्ठापित है, वह वन्दनीय और अर्चनीय है। जैसा कि भट्टारक इन्द्रनन्दि ने कहा है—

चारसंङ्घ की सहिता (विधान) से जिस जिनविम्ब की प्रतिष्ठा हुई है उसे ही न॰ चाहिए, अन्यसङ्घ की प्रतिमा को नहीं, क्योंकि उसके न्यास अर्थात् स्थापना निक्षेप में विपरीतता है।

बोधपाहुड में जिनमुद्रा के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि—

> दढसजम-मुद्दाए, इदियमुद्दा कसायदढमुद्दा।
> मुद्दा इह णाणाए, जिणमुद्दा एरिसा भणिया॥१९॥

अर्थात्—जो सयम की दृढमुद्रा से सहित है, जिसमें इन्द्रियो का मुद्रण—सकोच है, जिसमें कषायों का दृढमुद्रण—नियन्त्रण है और जो सम्यग्ज्ञान से सहित है, ऐसी मुनिमुद्रा ही जिनमुद्रा है। जिनशासन में यही जिनमुद्रा कही गयी है।

यदि कोई कहे कि मोक्ष तो आत्मा को होता है फिर यहॉ मुद्रा सम्माननीय क्यों कही गयी है? इसके उत्तर में श्री इन्द्रनन्दी प्रतिष्ठाचार्य कहते हैं —

> मुद्रा सर्वत्रा मान्या, स्यान्निर्मुद्रो नैव मान्यते।
> राजमुद्रा-धरोऽत्यन्त-हीन-वच्छास्त्रनिर्णय ॥१॥

अर्थात्—सब जगह मुद्रा माननीय होती है, मुद्रा रहित का सम्मान नहीं होता। जिस प्रकार राजमुद्रा को धारण करने वाला अत्यन्त हीन मनुष्य भी मान्य होता है इसी प्रकार यहाँ भी शास्त्र का यही निर्णय है।

आगे लिखा है कि जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं तथा मयूरपिच्छ, कमण्डलु और शास्त्रों को छोडकर गृहस्थवेष को धारण करते हुए संयमधारी सम्यग्दृष्टि मुनियों के चरणों में नमोऽस्तु नहीं करते और अभिमान के वश मूसल के समान यों ही खडे रहते हैं वे बोलने और सुनने

में असमर्थ होते हैं। ऐसे लोगो को लाखों जन्म में भी रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ है।

आगे पुन कहते हैं—

सहजुप्पण रूव, दट्ठु जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो सजम-पडिवण्णो, मिच्छाइट्ठी हवइ ऐसो॥२४॥द पा.॥

अर्थात्—जो स्वाभाविक नग्न रूप को देख कर उसे नहीं मानता है, उल्टा ईर्ष्याभाव रखता है, वह सयम को प्राप्त होकर भी मिथ्यादृष्टि है।

तात्पर्य यह कि नग्न-दिगम्बर मुद्रा सहजोत्पन्न स्वाभाविक मुद्रा है, उसे देखकर जो पुरुष उसका आदर नहीं करता, प्रत्युत नग्न मुद्रा में अरुचि करता हुआ यह कहता है कि नग्नत्व में क्या रखा है? क्या पशु नग्न नहीं होते? ऐसे जीव मिथ्यादृष्टि हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का जो सुन्दर लक्षण मोक्षपाहुड में कहा है, वह भी ध्यान देने योग्य है। यथा—

हिसा-रहिए धम्मे, अट्ठारहदोस-वज्जिए देवे।
निग्गथे पावयणे, सद्दहण होइ सम्मत्त॥९०॥

अर्थात्—हिसारहित धर्म, अठारह दोषो से रहित देव और निर्ग्रन्थ गुरु में जो श्रद्धा है, वह सम्यग्दर्शन है। और—

कुच्छियदेव धम्म, कुच्छिय लिग च वदए जो दु।
लज्जा-भय-गारवदो, मिच्छादिट्ठी हवे सो हु॥९२॥

अर्थात्—जो लज्जा, भय एव गारव (गर्व) से भी कुत्सित देव, कुत्सित धर्म और कुत्सित लिङ्ग की वन्दना करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

इस प्रकार जिन-चैत्य, जिन-चैत्यालय और जिन-मुद्रा का सम्मान आदि करना सम्यक्त्व का द्योतक है और इनका सम्मान आदि नहीं करना मिथ्यात्व है। केवल सम्मान आदि नहीं करना मात्र मिथ्यात्व नहीं है अपितु जिनलिंग से विपरीत लिंगधारी असयमियों को नमस्कार तथा अभिवादन आदि करना भी मिथ्यात्व है। दर्शनपाहुड गा २६ में—"अस्सजद ण वदे" कह कर असयमियों की वन्दना का निषेध किया गया है। यदि वे किसी भी पक्ष व्यामोह आदि के वशीभूत होकर नमस्कार आदि करते हैं तो पाप की अनुमोदना करने वाले होने से स्वय पापी हैं। यथा—

जे पि पडंति च तेसिं, जाणंता लज्ज-गारव-भयेण।
तेसिं पि णत्थि बोही, पाव अणुमोअमाणाण॥१३॥

अर्थात्—जो जानते हुए भी लज्जा, गर्व और भय से उन मिथ्यादृष्टियों के चरणों में पडते हैं अर्थात उन्हें नमोऽस्तु आदि करते हैं, पाप की अनुमोदना करने वाले उन लोगों को भी रत्नत्रय

की प्राप्ति नहीं होती।

जिन्होंने जिन-मुद्रा के साथ-साथ सम्यक्त्व को भी छोड दिया है तथा उन्मार्गगामी होकर निर्ग्रन्थ-मुद्रा को तिरस्कृत कर रहे हैं उनके स्वयं के रत्नत्रय की वृद्धि आदि कभी भी नही हो सकती है क्योंकि दर्शनपाहुड में आचार्यदेव कहते हैं—

> जह मूलम्मि विणट्ठे, दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी।
> तह जिणदंसण-भट्ठा, मूल-विणट्ठा ण सिज्झति॥१०॥

अर्थात्—जिस प्रकार जड के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के परिवार की वृद्धि नहीं होती उसी प्रकार सम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर चारित्ररूपी वृक्ष की वृद्धि नहीं होती। जो मनुष्य अर्हन्त भगवान के मत से भ्रष्ट हैं वे मूल विनष्ट हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन से शून्य हैं और ऐसे लोग मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो मूलसङ्घ की आम्नाय मे भ्रष्ट होकर नये-नये पन्थ चलाते हैं वे इसी ससार में लाखों जन्मों तक भटकते रहते हैं।

जिस समय परम पवित्र जिनमतरूपी सूर्य पर जैनाभासरूपी राहु के द्वारा अभेद्य घिराव डाला जा रहा था, शायद उसी सक्रान्ति काल में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा अष्टपाहुड ग्रन्थ की रचना की गयी है, क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र और काल का प्रभाव भावों पर पडता है तथा लेखनी प्राय भावों का ही अनुसरण करती है।

जिनवाणी, जनवाणी और निजवाणी के भेद से वाणी तीन प्रकार की है। निर्ग्रन्थ मुद्राधारी तीर्थंकर अर्हन्त प्रभु की दिव्यवाणी को चार ज्ञान एव सप्तऋद्धियों के अधीश्वर गणधर ने द्वादशाङ्ग रूप से सम्बद्ध किया था। पश्चात् समीचीन देव, शास्त्र, गुरु और आत्मसाक्षी पूर्वक जिन्होंने यह प्रतिज्ञा की है कि मैं कभी असत्यभाषण नहीं करूँगा तथा असत्य बोलने के कारणभूत हिंसा-चोरी-कुशील और परिग्रह का त्याग कर जिन्होंने पञ्चमहाव्रत ग्रहण किये हैं उन परमोपकारी आचार्यों के माध्यम से जिसका प्रवाह गङ्गा की धारा के सदृश अनादि काल से बहता चला आ रहा है वह जिनवाणी है।

कल्याणेच्छु प्रत्येक भव्यात्मा को संसार परिभ्रमण कराने वाली जनवाणी और निजवाणी का पक्ष-व्यामोह त्याग कर जिनवाणी का शरण ग्रहण करना चाहिए।

चार अनुयोग

❑ *ब्र. कु. प्रभा पाटनी (संघस्थ)*

तीर्थादाम्नाय निध्याय युक्त्याऽन्त प्रणिधाय च।
श्रुत व्यवस्येत् सद्विश्वमनेकान्तात्मकं सुधी ॥७॥ (धर्मा, तृ.अ)

बुद्धिशाली मुमुक्षु को गुरु से श्रुत को ग्रहण करके तथा युक्ति से परीक्षण करके और उसे स्वात्मा में निश्चल रूप से आरोपित करके अनेकान्तात्मक अर्थात् द्रव्यपर्याय रूप और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक विश्व का निश्चय करना चाहिए।

श्रुतज्ञान प्राप्त करने की यह विधि है कि शास्त्र को गुरुमुख से सुना जाये या पढा जाये। गुरु अर्थात् शास्त्रज्ञ जिसने स्वय गुरुमुख से शास्त्राध्ययन किया हो। गुरु की सहायता के बिना स्वय स्वाध्यायपूर्वक प्राप्त किया श्रुतज्ञान कभी-कभी गलत भी हो जाता है। शास्त्रज्ञान प्राप्त करके युक्ति से उसका परीक्षण भी करना चाहिए। कहा भी है कि "इस लोक में जो युक्तिसम्मत है वही परमार्थ सत् है। क्योंकि सूर्य की किरणों के समान युक्ति का किसी के भी साथ पक्षपात नहीं है। जैसे सब अनेकान्तात्मक है सत् होने से, और जो सत् नहीं है वह अनेकान्तात्मक नहीं है जैसे आकाश का फूल। इसके बाद उस श्रुत को अपने अन्तस्तल में उतारना चाहिए। गुरुमुख से पढकर और युक्ति से परीक्षण करके भी उस पर अन्तस्तल मे श्रद्धा न हुई तो वह ज्ञान कैसे हितकारी हो सकता है। श्रुतज्ञान का बडा महत्त्व है। उसे केवलज्ञान के तुल्य कहा है। समन्तभद्र स्वामी ने आप्त मीमासा में कहा है—

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेद साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत् ॥१०५॥

स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही सर्व जीवादि तत्त्वों के प्रकाशक हैं। दोनों के भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष हैं। जो दोनों में से किसी का भी ज्ञान का विषय नहीं है वह वस्तु ही नहीं है।

गणधरो ने भगवान की दिव्य देशना का विभाजन किया, विषयों की तालिका बनी, सात तत्त्व, नव पदार्थ आदि आत्मोपयोगी विषयों का विश्लेषण हुआ। वीतराग प्रभु की वाणी को जनोपयोगी बनाने में अनुपम मेधावी, निर्ग्रन्थ गणधरों का प्रमुख हाथ था। पूजा में भी आया है "गणधर गूँथे बारह सु अंग" अर्थात् भगवान् की दिव्यवाणी को गुम्फित करने का श्रेय गणधरों को ही था। वाणी द्वादशाग रूप में सीमित हुई, गूँथी गयी और कालक्रम से आचार्य-परम्परा

में आयी। वर्तमान में जितना भी शास्त्र साहित्य उपलब्ध है उसमें राग-द्वेष मोह से रहित, कषायों से रहित वीतरागता का वर्णन है, अनादिकालीन मिथ्यात्व को दूर करनेवाली बन्धन से मुक्त करने वाली उपदेशात्मक वाणी का वर्णन है।

समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति एवं जिज्ञासा अलग-अलग है। किन्हीं प्राणियों को तो संक्षिप्त शैली में समझ आता है, किन्हीं प्राणियों को विस्तार से वर्णन करने पर समझ में आता है। अत पंचेन्द्रियों में आलिप्त सासारिक प्राणियों को आत्मोन्मुख किया जाय, यह समस्या पूर्वाचार्यों व सभी धर्माचार्यों के समक्ष रही है। उचित समाधान भी समयानुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि को जानकर किया गया।

कथन-प्रणालियाँ जैन साहित्य में अनुयोगरूप में पायी जाती हैं। श्रुत की वन्दना करते समय "प्रथम करण चरण दव्य नम" यह वाक्य पाया जाता है। इससे इनके क्रम का भी पता चलता है।

तीर्थ और आम्नायपूर्वक श्रुत का अभ्यास करने का उपदेश देते हुए कहा गया है—

श्रुतकेवलबोधश्च विश्वबोधात् सम द्वयम्।
स्यात्परोक्ष श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष केवल स्फुटम्॥

परमागमरूपी समुद्र से प्राप्त करके भगवज्जिनसेनाचार्य आदि सत्पुरुषरूपी मेघों के द्वारा बरसाये गये प्रथमानुयोग आदि रूप जल को भव्यरूपी चातक बार-बार प्रीतिपूर्वक पान करें। मेघों के द्वारा समुद्र मे ग्रहीत जल बरसने पर ही चातक अपनी चिरप्यास को बुझाता है। यहाँ भव्य जीवों को उसी चातक की उपमा दी है, क्योंकि चातक की तरह भव्य जीवों को भी चिरकाल से उपदेशरूप जल नहीं मिला है। परमागम को समुद्र की उपमा दी है और परमागम से उद्धृत प्रथमानुयोग, करुणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग सम्बन्धी शास्त्रों को जल की उपमा दी है, क्योंकि जल से तृषा दूर होती है। उन शास्त्रों की रचना करने वाले भगवज्जिनसेनाचार्य आदि आचार्यों को मेघ की उपमा दी है, क्योकि मेघों की तरह वे भी विश्व का उपकार करते हैं।

प्रथमानुयोग

पुराण चरित चार्थाख्यान बोधिसमाधिदम्।
तत्त्वप्रथार्थी पथमानुयोग प्रथयेत्तराम्॥७॥

हेय और उपादेय रूप तत्त्व के प्रकाश का इच्छुक भव्य जीव बोधि और समाधि को देने वाले तथा परमार्थ सत् वस्तुस्वरूप का कथन करने वाले पुराण और चरितरूप प्रथमानुयोग को अन्य तीन अनुयोगों मे भी अधिक प्रकाश में लायें अर्थात् उनका विशेष अध्ययन करें।

तिरसठ शलाकापुरुषों (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र) की कथा जिस शास्त्र में कही गयी हो उसे पुराण कहते हैं। उसमें आठ बातों का वर्णन होता है। कहा है—लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान तथा अन्तरंग और बाह्य तप से आठ बातें पुराण में होती हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा है—"जिसमें सर्ग—कारणसृष्टि, प्रतिसर्ग—कार्यसृष्टि, वंश, मन्वन्तर और वंशों के चरित हों उसे पुराण कहते हैं।" पुराण के पाँच लक्षण हैं। जिसमें एक पुरुष की कथा होती है उसे चरित्र कहते हैं। पुराण और चरित विषयक शास्त्र प्रथमानुयोग में आते हैं। प्रथम नाम देने से ही इसका अर्थ स्पष्ट है। अन्य अनुयोगों में जो सिद्धान्त आचार आदि वर्णित हैं, उन सबके प्रयोगात्मक रूप से दृष्टान्त प्रथमानुयोग में ही मिलते हैं। इसलिए इसके अध्ययन की विशेष रूप से प्रेरणा की है। इसके अध्ययन से हेय क्या है और उपादेय क्या है, इसका सम्यक् रीति से बोध होता है, साथ ही बोधि और समाधि की भी प्राप्ति होती है। बोधि का अर्थ है—अप्राप्त सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति। और प्राप्त होने पर उन्हें उनकी चरम सीमा तक पहुँचाना समाधि है अथवा समाधि का अर्थ है धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान।

करणानुयोग

चतुर्गति युगावर्त लोकालोक-विभागवित्।
हृदि प्रणेय करणानुयोग करणातिगै ॥१०॥ (अ धर्मा)

नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देवरू चार गतियों, युग अर्थात् सुपमा-सुपमा आदि काल के विभागों का परिवर्तन तथा लोक और अलोक का विभाग जिसमें वर्णित है उस करणानुयोग को हृदय में धारण करना चाहिए।

करणानुयोग सम्बन्धी शास्त्रों में चार गति आदि का वर्णन होता है। नरकादि गति नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय को गति कहते हैं। उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों के परिवर्तन को युगावर्त कहते हैं। जिसमें जीव आदि छहों पदार्थ देखे जाते हैं उसे लोक कहते हैं। अर्थात् तीन सौ तैंतालीस राजु प्रमाण आकाश का प्रदेश लोक है। उसके चारो ओर अनन्तानन्त प्रमाण केवल आकाश अलोक है। इन सबका वर्णन करणानुयोग में होता है। लोकानुयोग, लोक-विभाग, पंचसग्रह आदि ग्रन्थ उसी अनुयोग के अर्न्तगत हैं।

चरणानुयोग

सकलेतरचारित्र जन्म-रक्षाविवृद्धिकृत्।
विचारणीयश्चरणानुयोगश्चरणादृतै ॥११॥अ. धर्मा ॥

चारित्र पालन के लिए तत्पर पुरुषों को सकलचारित्र और विकलचारित्र की उत्पत्ति, रक्षा और विशिष्ट वृद्धि को करने वाले चरणानुयोग का चिन्तन करना चाहिए।

हिंसा आदि के साथ रागद्वेष की निवृति को चारित्र कहते हैं। उसके दो भेद हैं—सकलचारित्र और विकलचारित्र। इन चारित्रों को कैसे धारण करना चाहिए, धारण करके कैसे उन्हें अतिचारों से बचाना चाहिए और फिर कैसे उन्हें बढाना चाहिए—इन सबके लिए आचाराग, उपासकाध्ययन आदि चरणानुयोग सम्बन्धी शास्त्रों को पढना आवश्यक है।

द्रव्यानुयोग

जीवाजीवौ बन्धमोक्षौ पुण्यपापे च वेदितुम्।
द्रव्यानुयोगसमय समयन्तु महाधिय ॥१२॥अ धर्मा ॥

तीक्ष्ण बुद्धिशाली पुरुषों को जीव-अजीव, बन्ध-मोक्ष और पुण्य-पाप का निश्चय करने के लिए सिद्धान्त सूत्र, तत्त्वार्थ सूत्र, पंचास्तिकाय आदि द्रव्यानुयोग-विषयक शास्त्रों को सम्यक् रीति से जानना चाहिए।

इस प्रकार चारो अनुयोगों में सग्रहीत जिनागम की उपासना का फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जिनागम पूर्वापर विरोध आदि दोषों से रहित होने से अमल है।

लोक-अलोकवर्ती पदार्थों का कथन करने वाला होने से विपुल है, सूक्ष्म अर्थ का दर्शक होने से निपुण है, अर्थात अवगाढ—ठोस होने से निकाचित है। सबका हितकारी है, परम उत्कृष्ट है और पाप का हर्ता है। ऐसे जिनागम की जो सदा अच्छी रीति से उपासना करता है उसे सात गुणो की प्राप्ति होती है—

१ त्रिकालवर्ती अनन्त द्रव्यपर्यायों के स्वरूप का ज्ञान होता है।

२ हित की प्राप्ति, अहित के परिहार का ज्ञान होता है।

३ मिथ्यात्व आदि से होने वाले आस्रव का निरोधरूप भावसवर होता है अर्थात् शुद्ध स्वात्मानुभूतिरूप परिणाम होता है।

४ प्रति समय संसार से नये-नये प्रकार की भीरुता होती है।

५ व्यवहार और निश्चयरूप रत्नत्रय में अवस्थिति होती है।

६ रागादि का निग्रह करने वाले उपायों में भावना होती है।

७ पर को उपदेश देने की योग्यता प्राप्त होती है।

❖❖❖
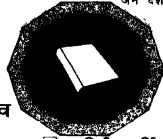
द्वादशांग और उनका चार अनुयोगों में अन्तर्भाव

❑ *गणिनी आर्यिका श्री सुपार्श्वमतीजी*

सामान्यत श्रुत का अर्थ है 'सुना हुआ' तथापि श्रवण मात्र इसका अर्थ नहीं है। जैसे कुश को काटने वाले दातृ विशेष को कुशल कहते हैं परन्तु कुशल का अर्थ है क्षेम-वार्ता, कुश को काटना नहीं। उसी प्रकार श्रुतज्ञान का अर्थ सर्वथा श्रवण मात्र नहीं, अपितु ज्ञान विशेष है जो मतिज्ञान के बाद होता है। यद्यपि मतिज्ञान जिसका निमित्त है ऐसे सामान्य ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं तथापि श्रुतज्ञान से, विशेषकर वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द को सुनकर श्रोता को वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध की सहायता से, जो शब्द-बोध होता है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है। स्पष्ट है कि श्रुतज्ञान से पूर्व मतिज्ञान का होना अनिवार्य है। जिसके द्वारा श्रोता को शब्दों का ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान है। तदनन्तर उस शब्द के द्वारा शब्द के वाच्य पदार्थ का ज्ञान होना श्रुतज्ञान है।

इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में कार्य-कारण सम्बन्ध है। मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। यद्यपि दोनों ज्ञान साथी हैं, परोक्ष रूप हैं तथापि इनमें भिन्नता है। मतिज्ञान मूक और श्रुतज्ञान मुखर है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है और वर्तमानकालीन पदार्थों को ग्रहण करता है जबकि श्रुतज्ञान मन से उत्पन्न होता है और त्रिकालिक पदार्थों को ग्रहण करता है। यह कहा जा सकता है कि मतिज्ञान यदि दूध है तो श्रुतज्ञान खीर है। मतिज्ञान सन है तो श्रुतज्ञान उससे बनी रस्सी है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय-मनोजन्य दीर्घकालीन ज्ञान धारा का प्राथमिक अपरिपक्व अंश मतिज्ञान है और उत्तरकालीन परिपक्व अंश श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान अगर अपनी पूर्ण मात्रा में उत्पन्न हो जाता है तो मानव श्रुतकेवली कहलाता है।

यह श्रुतज्ञान द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादिनिधन है जबकि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा इस द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के मूलकर्ता सर्वज्ञदेव और उत्तर सूत्रग्रन्थकर्ता गणधर, प्रतिगणधर आदि अनेक आचार्य है।

श्रुतज्ञान के मूल भेद दो हैं—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। भावश्रुत ज्ञानात्मक है और द्रव्यश्रुत शब्दात्मक है। यहाँ द्रव्यश्रुत को आगम कहते हैं। उसी का यहाँ विशेष वर्णन किया जायेगा।

धर्म के क्षेत्र में आगम की सर्वाधिक महत्ता है। धर्म की धुरी श्रुत या आगम के इर्द-गिर्द घूमा करती है। धार्मिक व्यक्ति की दृष्टि क्रिया, सभ्यता और संस्कृति आगम से अनुप्राणित

होती है। अनेक भारतीय दर्शनों की भाँति जैनधर्म भी आगम के प्रामाण्य को स्वीकार करता है। उसके प्रामाण्य की उसने एक विशिष्ट कसौटी अंगीकार की है—

जैन धर्म आगम को अपौरुषेय, अनादि-निधन अथवा ईश्वर द्वारा प्रेषित मानकर छुट्टी नहीं पा लेता। उसका कथन है कि अपौरुषेय या अनादि आगम असम्भव है। अतएव वीतराग पुरुष द्वारा प्रणीत आगम ही विश्वसनीय एव प्रमाणभूत हो सकता है। जैन-जगत् के दार्शनिक समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है—"जो आप्त द्वारा कथित हो, तर्क द्वारा उल्लंघनीय न हो, जिसमें प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से बाधा न आती हो, वही सच्चा शास्त्र या आगम है", अत अपौरुषेय होने से आगम प्रामाणिक नहीं अपितु आप्तपुरुष द्वारा प्रणीत होने के कारण ही आगम को प्रामाणिक माना जाता है। कौन-सा आगम आप्तप्रणीत है और कौन-सा नहीं—यह निर्णय करने के लिए ही शेष विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं।

जैनधर्म के अनुसार, अनेकान्त दृष्टि के प्रवर्त्तक, अखण्ड सत्य-दृष्टा केवलज्ञानी तीर्थंकर देव ने समस्त जगत के जीवों की करुणा के लिए प्रवचन-प्रसूनों की वृष्टि की है। तीर्थंकर के प्रधान शिष्य गणधरदेव अपने बुद्धिपट में उन कुसुमों को झेलते हैं और प्रवचन-माला गूँथते हैं। यह प्रवचन-माला जैन-परम्परा में आगम-प्रमाण के रूप में स्वीकार की गयी है।

जब तर्क थक जाता है, लक्ष्य अस्थिर होकर डगमगाने लगता है, चित्त में चचलता उत्पन्न हो जाती है, तो सर्वज्ञदेव प्रणीत आगम ही मुमुक्षु जनों का एकमात्र आधार बनता है। कहा भी है—"सूक्ष्मं जिनोदित तत्त्व हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञामात्र तु तद् ग्राह्य नान्यथावादिनो जिना।" अर्थात् जिनेन्द्र के द्वारा कथित तत्त्व सूक्ष्म है, किसी हेतु के द्वारा खण्डित नहीं होता, आज्ञामात्र ग्राह्य है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं होते। इस प्रकार भगवान के वचनों पर दृढ विश्वास करना आगम को जानना है। यह आगम ही द्रव्यश्रुत कहलाता है और द्रव्यश्रुत के सहारे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भावश्रुत कहलाता है।

यह आगम प्रमाण दो भागों में विभाजित किया गया है—अगप्रविष्ट और अगबाह्य। अगप्रविष्ट का शब्दार्थ है—अगों के अन्तर्गत अक्षर-पुरुष के बारह अग। इनके नाम हैं आचाराग, सूत्रकृतांग, स्थानाग, समवायाग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृकथाग, उपासकाध्ययनाग, अन्तकृद्दशाग, अनुत्तरौपपादिकदशाग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्राग और दृष्टिवाद।

आचाराग—जिसमें मुनीश्वरों के पाँच महाव्रत, पच समिति, तीन गुप्ति, भक्त-पान, एषणा-शुद्धि आदि का कथन है अथवा किस प्रकार चलना, बैठना, शयन करना, भोजन करना आदि के प्रश्नानुसार कथन करता है कि गमन आदि क्रियायें इस प्रकार करें जिससे आत्मा पाप से लिप्त न हो इत्यादि का कथन करने वाला आचारांग कहलाता है। इसमें अठारह हजार पद हैं।

सूत्रकृतांग—जिसमें छत्तीस हजार पदों के द्वारा स्वसमय, परसमय, स्वपर समय का कथन

है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष रूप स्वसमय कथित पदार्थों का वर्णन करके, जो पाप से मलिन मति को विशुद्ध करने के लिए एक सौ अस्सी क्रियावादी, चौरासी अक्रियावादी, सड़सठ अज्ञानवादी और बत्तीस विनयवादी इन तीन सौ तिरेसठ मिथ्या पाखण्ड रूप पर-समय का खण्डन कर जीवों को स्वसमय में स्थापित करता है तथा ज्ञान, विनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापनादि व्यवहार-धर्म क्रियाओं का जिसमें प्ररूपण है वह सूत्रकृतांग है।

स्थानांग—जिसमें बयालीस हजार पदों के द्वारा जीव-अजीव के एक से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का निरूपण है। जैसे—सग्रह नय की अपेक्षा आत्मा एक है और व्यवहार नय की अपेक्षा, ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा, त्रस-स्थावर की अपेक्षा या ससारी-मुक्त की अपेक्षा दो प्रकार का है।

कर्मचेतना, कर्मफल-चेतना और ज्ञान-चेतना से लक्ष्यमान होने के कारण तीन भेदरूप है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के भेद से तीन भेदरूप है। कर्मोदयवश चारों गतियों में भ्रमण करने की अपेक्षा यह जीव चार भेदयुक्त है।

औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन पाँच प्रधान भावों की अपेक्षा पाच भेदरूप है।

भवान्तर में सक्रमण के समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ऊर्ध्व और अधोगमन के कारण छह सक्रमण लक्षण उपक्रमों से युक्त होने की अपेक्षा जीव छह प्रकार का है।

अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति, अवक्तव्य, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति अवक्तव्य—इन सप्तभंगी की अपेक्षा जीव सात प्रकार का है।

ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों के आश्रव से युक्त होने से अथवा सम्यग्दर्शन, दर्शनत्व, ज्ञान, अगुरुलघु, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, वीर्यत्व और अव्याबाधत्व इन आठ गुणों से युक्त होने से अथवा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, ज्ञानत्व और दर्शनत्व इन सामान्य आठ गुणों से युक्त होने से जीव आठ प्रकार का है।

जीव, अजीव, आस्रव, बध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप रूपी नौ प्रकार के पदार्थों का विषय करने वाला अथवा जीवादि नौ प्रकार के पदार्थों रूप परिणमन करने वाला होने से नौ प्रकार का है।

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पतिकायिक, साधारण वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जाति के भेद से दश स्थानगत होने से जीव दश प्रकार का है। इस प्रकार जीव और पुद्गल के भेदों का वर्णन जिसमें किया जाता है वह स्थानाग है।

समवायाग—इसमें एक लाख चौसठ हजार पद हैं। इसमें सम्पूर्ण पदार्थों के समवाय का

वर्णन किया गया है। सादृश्य सामान्य से यह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जीवादि पदार्थों का ज्ञान कराता है। समवाय चार प्रकार का है—द्रव्य-समवाय, क्षेत्र समवाय, काल-समवाय और भाव-समवाय। द्रव्य समवाय का अर्थ है द्रव्यों के प्रदेशों की समानता। जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश (असख्यात प्रदेशी) समान हैं। यह द्रव्य-समवाय है।

क्षेत्र-समवाय का अर्थ है क्षेत्र की सदृशता। जैसे—प्रथम नरक के प्रथम पटल का सीमन्तक नामक इन्द्रक बिल, ढाई द्वीपप्रमाण मनुष्यक्षेत्र, प्रथम स्वर्ग के प्रथम पटल का ऋजु नामक इन्द्रक विमान और सिद्ध क्षेत्र समान है अर्थात् ये पाचों पैंतालीस लाख-पैंतालीस लाख योजनप्रमाण हैं—यह क्षेत्र की अपेक्षा सादृश्य है। काल की अपेक्षा एक समय-एक समय के बराबर है और एक मुहूर्त एक मुहूर्त के बराबर है। उसी प्रकार उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि का काल समान है। यह काल की अपेक्षा सादृश्य है। भाव की अपेक्षा केवलज्ञान केवलदर्शन के समान है, क्योंकि आत्मा के जितने प्रदेशों में ज्ञान है, उतने ही प्रदेशो में दर्शन है अथवा ज्ञेयप्रमाण ज्ञान बराबर दर्शन-चेतना-शक्ति की उपलब्धि होती है अथवा केवलज्ञान के अविभागी परिच्छेद व केवलदर्शन के अविभागी परिच्छेद समान हैं। अथवा नाना प्रकार के जीव-अजीव का जो वर्णन है उसमें अनेक प्रकार की पर्यायों की अपेक्षा से समानता होती है, जैसे—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति में जीवों के आहार, श्वासोच्छ्वास, लेश्या-आवास सख्या का प्रमाण, उपपाद, च्यवन, उपग्रहण, उपाधि, वेदना, विधान, उपयोग, योग, इन्द्रिय-कषाय, विविध प्रकार की जीवयोनि, विष्कंभ, उत्सेध, परिमाण, विधिविशेष, मन्दरादि, पर्वत-कुलाचल, कुलकर, तीर्थंकर, गणधर, सारे भरतक्षेत्र के अधिपति, चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्ती, हलधर आदि के वैभव आदि की सदृशता का वर्णन जिसमें किया जाता है, वह समवायाग है। जैसे देवों में, नारकियों में, गुणस्थान, आयु आदि की अपेक्षा समानता है। देवों के चार गुणस्थान तक ही होते हैं और नारकियों के भी चार गुणस्थान तक ही होते हैं। दोनो की भी जघन्य आयु दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट तेतीस सागर है। इसी प्रकार योनि, प्राण, पर्याप्ति, ज्ञान-दर्शन, सज्ञा, उपयोग, योग, इन्द्रिय, काय की अपेक्षा इनमें समानता है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति—इस अग में दो लाख अट्ठाईस हजार पद हैं। इसमें साठ हजार प्रश्नों द्वारा जीव, अजीव आदि पदार्थों का विवेचन किया गया है।

ज्ञातृधर्मकथाग—ज्ञातृधर्मकथाग और नाथधर्मकथाग इन दो नामों से इस अग का कथन है। तीन लोक के स्वामी तीर्थंकर परम भट्टारक को नाथ कहते हैं। उन नाथ की धर्मकथा जीवादि वस्तुस्वभाव का इसमें कथन है। अथवा घातिकर्म के क्षयानन्तर, केवलज्ञान के साथ उत्पन्न तीर्थंकरत्व, पुण्यातिशय प्रकट महिमा वाले तीर्थंकर की पूर्वाह्न, अपराह्न, मध्यान्ह और अर्धरात्रि में छह-छह घडी कालपर्यन्त बारह सभा में स्वभाव से दिव्यध्वनि निकलती है और विशिष्ट पुण्यशाली गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि प्रधानपुरुषों के प्रश्नानन्तर के कारण अन्य काल में भी

प्रभु की दिव्यध्वनि खिरती है। इस प्रकार समुत्पन्न दिव्यध्वनि सारे आसन्न श्रोता-गणों का उद्देश्य लेकर उत्तम क्षमा आदि लक्षण एव रत्नत्रयात्मक धर्म का कथन करती है— यह नाथधर्मकथाग है।

अथवा जिज्ञासु ज्ञाता गणधर देव के प्रश्नानुसार उसके उत्तर वाक्यरूप धर्मकथा—अस्तित्व, नास्तित्व स्वरूप का कथन करना ज्ञातृकथाग है। ज्ञाता तीर्थंकर, गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि की धर्मानुबंधि कथा-उपकथाओं का कथन करना नाथधर्मकथा वा ज्ञातृधर्मकथाग है। ज्ञातृकथा नाम का अंग पॉच लाख छप्पन हजार पदों के द्वारा सिद्धान्तोक्त विधि से स्वाध्याय की प्रस्थापना के लिए तीर्थंकरों की धर्मदेशना का, सन्देह को प्राप्त गणधरदेव के सशय को दूर करने की विधि का तथा अनेक प्रकार की कथा एव उपकथाओं का वर्णन करता है।

उपासकाध्ययन—इस अग में ग्यारह लाख सत्तर हजार पद हैं। यह दार्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोपधोपवासी, सचित्त-विरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत इन ग्यारह प्रकार के श्रावकों के लक्षण, उन्हीं के व्रतधारण की विधि, उनके आचरण का वर्णन करता है तथा श्रावकों के सम्यग्दर्शन की विशुद्धि, पाक्षिक, नैष्ठिक साधक श्रावक के भेद, मूलगुण एवं उत्तरगुणों का वर्णन इसमें पाया जाता है।

अन्तकृद्दशाग—इस अंग में तेईस लाख अट्ठाईस हजार पद हैं। यह एक-एक तीर्थंकर के समय में घोर उपसर्ग सहन कर निर्वाण को प्राप्त दश अन्तकृत केवलियों का कथन करता है।

जिन्होंने संसार का अन्त किया है या केवलज्ञान और मोक्ष एक साथ प्राप्त किया है उन्हें अन्तकृत केवली कहते हैं। वर्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में नमि, मतग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कविल, पालम्ब और अप्टमपुत्र ये दश अन्तकृत केवली हुए हैं। उसी प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर के समय में दश-दश मुनिगण दारुण उपसर्गों को सहन कर सारे कर्मों का क्षयकर अन्तकृत केवली हुए हैं। उनकी दशा—घोरोपसर्ग आदि का वर्णन जिसमें पाया जाता है, उसे अन्तकृद्दशाग कहते हैं।

अनुत्तरौपपादिकदशाग—एक-एक तीर्थंकर के तीर्थ में दश-दश मुनीश्वर दश प्रकार के घोर उपसर्ग सहन कर अनुत्तरादि विमानों में उत्पन्न होते हैं। उनका बावन लाख चवालीस हजार पदों के द्वारा जो वर्णन करता है वह अनुत्तरौपपादिकदशाग कहलाता है।

अथवा उपपाद जन्म ही जिनका प्रयोजन है उन्हें औपपादिक कहते हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पॉच अनुत्तर विमान हैं। इन पॉच अनुत्तरो में जन्म लेने वालों को अनुत्तरोपपादिक कहते हैं। स्त्री, पुरुप, नपुसक के भेद से तीन प्रकार के तिर्यञ्च, तीन प्रकार के मनुष्य एवं स्त्री और पुरुप के भेद से दो प्रकार के देव इन आठ चेतनों के द्वारा किये हुए आठ प्रकार के चेतन कृत उपसर्ग तथा शारीरिक कुष्ठ आदि व्याधि और दीवार का गिरना आदि दो प्रकार के अचेतन कृत उपसर्ग ये दश प्रकार के उपसर्ग हैं। ऋषिदास,

धान्य, सुनक्षत्र, कार्त्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश मुनीश्वर वर्द्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में घोर उपसर्ग सहन कर अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए हैं। ऐसे ही प्रत्येक तीर्थंकर के काल में दश-दश मुनि घोर उपसर्ग सहन कर अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं उनका वर्णन जिसमें हैं उसे अनुत्तरौपपादिकदशाग कहते हैं।

प्रश्नव्याकरणाग—जिसमें आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, सवेदिनी, निर्वेदिनी इन चार कथाओं का तथा लाभ-अलाभ आदि का वर्णन है वह प्रश्नव्याकरणांग कहलाता है। व्याख्यान करने को व्याकरण कहते हैं। जिसमें शिष्य के प्रश्नानुसार आक्षेपिणी आदि कथाओं का व्याख्यान किया गया है अथवा जिसमें दूतवाक्य, नष्ट, मुष्टि, चिंतादि रूप प्रश्न का त्रिकाल गोचर धन-धान्यादि लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मरण, जय-पराजय आदि रूप व्याख्यान किया जाता है।

प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग रूप परमागम पदार्थों का तथा तीर्थंकरादि का वृत्तान्त, लोकसस्थान, देश-काल, यतिधर्म, पचास्तिकाय आदि का परमत की शकारहित कथन करना वा स्वमत का स्थापन करना आक्षेपिणी कथा है। प्रमाण-नयात्मक युक्ति-युक्त हेतु आदि के बल से सर्वथा एकान्तवादियों के मत का निराकरण करना विक्षेपिणी कथा है।

रत्नत्रयात्मक धर्मानुष्ठान फलभूत तीर्थंकरादि का ऐश्वर्य, प्रभाव-तेज-वीर्य-ज्ञान-सुखादि का वर्णन करने वाली कथा सवेदिनी कथा कहलाती है। ससार-शरीर-भोग रागजनित दुष्कर्म का फल, नारकादि दुख, दुष्फल, विरूपांग, दारिद्रय, अपमान आदि दुखों के वर्णन के द्वारा वैराग्य उत्पन्न कराने वाली कथा निर्वेदिनी कहलाती है।

तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य का फल हैं। नरक, तिर्यञ्च और कुमानुष की योनियों में जन्म-मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदि की प्राप्ति पाप का फल है। पाप फल का वर्णन करने वाली निर्वेदिनी और पुण्यफल का वर्णन करने वाली सवेदिनी कथा कहलाती है। अथवा ससार, शरीर और भोगों में वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेदिनी कथा कहते हैं।

अथवा दूतवाक्य, नष्ट, मुष्टि, चितादिरूप प्रश्न का तथा त्रिकाल गोचर धन, धान्य, लाभ, अलाभ, सुख, दुख, जीवन, मरण, जय, पराजयादि रूप अर्थ का व्याख्यान जिसमें किया जाता है वह प्रश्नव्याकरण अग है।

दूतवाक्य—कोई दूत आकर युद्ध के निमित्त भरे स्वर में प्रश्न करे तो पूछने वाले की जीत हो, रिक्त स्वर में प्रश्न करे तो दूसरे की जय हो और दोनों स्वर चलते हुए प्रश्न करे तो दोनों की जय होती है।

प्रश्नकर्त्ता यदि प्रथम ज्ञाता का नाम उच्चारण कर अनन्तर आतुर (रोगी) का नाम उच्चारण करता है तो रोगी "रोग से मुक्त हो जाता है" ऐसा फल कहा जाता है। यदि पृच्छक रोगी के नाम का प्रथम उच्चारण करता है और फिर ज्ञाता का तो उसका फल है—रोगी की मृत्यु।

जैसे—गुरुदेव, मेरा भाई बीमार है। ठीक होगा कि नहीं? इसमें प्रथम गुरु के नाम का उच्चारण है अत रोगी अवश्य नीरोग होगा।

यदि पृच्छक पूछता है—भाई बीमार है। गुरुदेव, ठीक कब होगा? इसमें आतुर का नाम प्रथम लिया है। अत इस प्रश्न का फल है रोगी का मरण।

पृच्छक जिसके लिए पूछे उसके नामाक्षर सम (दो चार छह इत्यादि) हों, बायीं नाडी बहती हुई की तरफ खडा होकर पूछे तो अवश्य विजय एव नीरोगता प्राप्त हो। नाम के विषमाक्षर (एक तीन पांच इत्यादि) वाले के लिए दाहिनी नाडी बहती हुई में खडा होकर पूछे तो शुभ है। इससे विपरीत अशुभ है अर्थात् पराजय, अलाभ, दुख आदि का सूचक है। इसी प्रकार कोई भूतादिग्रहीत हो, रोग से पीडित हो, सर्प ने काटा हो, उसके लिए पूर्ववत् विषमाक्षर वाले के लिए दाहिनी नाडी और समाक्षर वाले के लिए बायीं नाडी की तरफ खडे होकर पूछना शुभ सूचक है। इससे विपरीत अशुभ है।

मुष्टिप्रश्न—कोई आकर पूछता है मेरी मुष्टि में कौन-सी रग की वस्तु है? यदि प्रश्न के समय मेष लग्न है तो मुट्ठी में लाल रग की वस्तु, वृष लग्न हो तो पीले रग की वस्तु, मिथुन लग्न हो तो नीले रग की वस्तु, कर्क लग्न हो तो गुलाबी रग की वस्तु, सिह लग्न हो तो धूम्र वर्ण की, कन्या लग्न में नीले वर्ण की, तुला, धनु एव मीन लग्न में पीत वर्ण की, वृश्चिक में लाल रंग की तथा मकर एव कुंभ लग्न में कृष्ण वर्ण की वस्तु होती है। इस प्रकार लग्नेश के अनुसार वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करना मुष्टिप्रश्न है।

मूकप्रश्न—कोई मानव मौन आकर बैठा है उस समय यदि मेष लग्न हो तो मन में मनुष्य की चिता, वृष लग्न हो तो चतुष्पद गाय भैस आदि की, मिथुन हो तो गर्भ की, कर्क हो तो व्यवसाय की, सिह हो तो अपनी, कन्या हो तो स्त्री की, तुला हो तो धन की, वृश्चिक हो तो रोगी की, धनु हो तो शत्रु की, कुंभ हो तो स्थान की और मीन हो तो देव सम्बन्धी चिन्ता जानना चाहिए। इस प्रकार प्रश्नव्याकरण में पश्नशास्त्र की अनेक वार्ताओं पर प्रकाश डाला गया है।

विपाकसूत्राग—शुभ-अशुभ कर्मों के तीव्र-मद-मध्यम विकल्प रूप शक्ति के अनुभाग का वर्णन जिसमें है वा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से फलदान परिणत रूप उदय को विपाक कहते हैं। उन कर्मों के विपाक का कथन करने वाला विपाकसूत्र कहलाता है अर्थात् इसमें ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के फल का वर्णन है। इसके एक करोड चौरासी लाख पद हैं।

दृष्टिवाद-अग—बारहवॉं अग दृष्टिवाद अग है। इसमें पदों की सख्या एक सौ आठ करोड अडसठ लाख छप्पन हजार पॉंच है। इस अग में तीन सौ तिरेसठ दृष्टियों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। मूल में क्रियादृष्टि अक्रियादृष्टि, अज्ञानदृष्टि और विनयदृष्टि के भेद से दृष्टियॉं चार प्रकार की हैं। इसमें क्रियावादियों के एक सौ अस्सी, अक्रियावादियों के चौरासी,

अज्ञानवादियों के सडसठ और वैनयिकवादियों के बत्तीस भेद हैं। इन मिथ्यादृष्टियों के तीन सौ तिरेसठ मतों या वाद का निराकरण जिसमें किया जाता है उसे दृष्टिवाद अग कहते हैं अथवा इसमें अनेक दृष्टियों का वर्णन किया गया है इसीलिए इसे दृष्टिवाद कहते हैं।

दृष्टिवाद के पाँच अधिकार हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। चारों तरफ से कर्मों का गणितीकरण सूत्रों का जिसमें वर्णन है उसे परिकर्म कहते हैं। जिसमें क्षेत्र आदि का वर्णन है उस परिकर्म के पाँच भेद हैं चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति।

जिसमें चन्द्रमा की आयु, विमान, परिवार, ऋद्धि, गति, हानि, वृद्धि, ऊँचाई, चतुर्थांश, अर्धांश, सकलाश ग्रहण आदि का वर्णन है, उसे चन्द्रप्रज्ञप्ति कहते हैं। जो सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, मडल, परिवार, ऋद्धि, गमन, प्रमाण, बिम्ब की ऊँचाई, दिन की हानि-वृद्धि, किरणों का प्रमाण, प्रकाश, सकलाश, चतुर्थांश, ग्रहण आदि का वर्णन करता है वह सूर्यप्रज्ञप्ति है। जो जम्बूद्वीपगत भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न नाना प्रकार के मनुष्य, तिर्यंचों की आयु आदि का वर्णन तथा पर्वत, मेरु, कुलाचल, तालाब, भरतादि क्षेत्र, कुण्ड, नदी, वेदिका, वनखण्ड, व्यन्तरों का आवास, महानदियों, अकृत्रिम जिनमन्दिर आदि का कथन करता है वह जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति है। जो २५ कोटाकोटी पल्यप्रमाण द्वीप सागरों का प्रमाण तथा उसमें रहने वाले अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालय, व्यन्तर-ज्योतिषी देवों के आवास आदि का प्ररूपण करता है वह द्वीपसागरप्रज्ञप्ति है। जिसमें रूपी अजीव द्रव्य (पुद्गल), अरूपी अजीव द्रव्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ससारी जीव, भव्य और अभव्य एव उनके लक्षण, प्रमाण आदि का कथन, अनन्तर सिद्ध आदि अन्य वस्तुओं का प्रतिपादन है उसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहते हैं।

जो मिथ्यादृष्टियों का वर्णन और उनके मतो का खडन करता है, सूचन करता है वह सूत्र है। जीव सर्वथा अबन्धक, अलेपक, अकर्ता, अभोक्ता, निर्गुण अणु पमाण है वा नास्ति रूप ही है, अस्तिस्वरूप ही है, पृथ्वी आदिक पाच भूतों के समुदाय रूप से जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, ज्ञान के बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है इत्यादि रूप से यह तीन सौ तिरेसठ कुदृष्टियों का वर्णन कर खडन करता है। यह त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन करता है।

अथवा इस सूत्र में चार अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में अबन्धकभावों का कथन है। दूसरे भेद में श्रुति, स्मृति और पुराण के अर्थ का निरूपण है अथवा त्रैराशिकवादियों का वर्णन है। तीसरे भेद में नियतिवाद का वर्णन है और चतुर्थ अधिकार में स्वसमय और परसमय का निरूपण है।

प्रथमानुयोग—दृष्टिवाद का तीसरा भेद है प्रथमानुयोग। यह चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव बलदेव, नव वासुदेव नव प्रतिवासुदेव आदि तिरेसठ शलाकापुरुषों के चरित्र का कथन करता है।

दृष्टिवाद का चतुर्थभेद है पूर्वगत। यह तीर्थ प्रवर्तन काल में सम्पूर्ण श्रुत के अर्थ के अवगाहन करने में समर्थ गणधरों का उद्देश्य लेकर सूत्रार्थ का कथन करता है। उसके उत्पाद आदि चौदह भेद हैं।

दृष्टिवाद का पाँचवाँ भेद है चूलिका। जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता के भेद से चूलिका पाँच प्रकार की है।

जिसमें जलस्तंभन, जलगमन, अग्नि स्तभन, अग्नि भक्षण, अग्नि आसन (अग्नि पर बैठना), अग्नि-प्रवेशकरण आदि के कारण भूत मत्र-तंत्र तपश्चरण आदि का वर्णन है वह जलगता चूलिका है। मेरु कुलाचल भूमि आदि में प्रवेश, शीघ्रगमन आदि के कारणभूत, मंत्र, तत्र तपश्चरण आदि का जो वर्णन करती है वह स्थलगता है। साथ ही, भूमि सम्बन्धी दूसरे शुभ अशुभ कारणों का वर्णन भी इसमें किया गया है।

जिसमें माया रूप इन्द्रजाल, विक्रिया करण, मत्र-तत्र, तपश्चरणादिक का कथन किया गया है वह मायागता चूलिका है।

सिंह, हाथी, घोडा, हरिण, मानव, वृक्ष, श्याल, खरगोश, बैल आदि रूप परावर्त्तन के कारणभूत मत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का तथा चित्र, कष्ट, लेप, उत्खनन आदि लक्षण धातुवाद, रसवाद, खान्यवाद आदि का जिसमें वर्णन किया गया है उसे रूपगता चूलिका कहते हैं।

आकाश में गमन आदि के कारणभूत मंत्र-तत्र-तपश्चरण आदि का जिसमें कथन किया गया है वह आकाशगता चूलिका है।

इन बारह अंग और दृष्टिवाद के भेद चौदह पूर्व आदि का वर्णन अगप्रविष्ट के अन्तर्गत किया जाता है।

जो तीनों काल की समस्त द्रव्य वा पर्यायों को 'अगति' अर्थात् प्राप्त होना है या व्याप्त करता है अथवा जो मध्यम पदों के द्वारा लिखा जाता है, वह अग कहलाता है। अथवा समस्त श्रुत के एक-एक आचारादि रूप अवयव को अग कहते हैं। अत आचारादि १२ प्रकार का ज्ञान अंगप्रविष्ट कहलाता है।

गणधरदेव के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा अल्पबुद्धि, अल्प-आयु और अल्पशक्ति वाले प्राणियों के अनुग्रह करने के लिए अगों के आधार से रचे गये सक्षिप्त ग्रन्थ अगबाह्य कहलाते हैं।

कालिक, उत्कालिक आदि के भेद से अगबाह्य अनेक प्रकार के हैं।

इन १२ अगप्रविष्ट और १४ अगबाह्य का समावेश चार अनुयोगों में हो जाता है।

प्राचीन आचार्यों के द्वारा श्रुतस्कन्ध के चार महा-अधिकार वर्णित किये गये हैं। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। अत जैनागम चार विभागों में विभाजित है, जिन्हें चार अनुयोग कहते हैं।

प्रथमानुयोग

प्रथमं मिथ्यादृष्टिमविरतिकमव्युत्पन्नं वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगोऽधिकार प्रथमानुयोग (गो. जी. प्र. टी ३६१- ३६२।) प्रथम का अर्थ है, मिथ्यादृष्टि, अविरत तथा विशेषज्ञान रहित मानव। उन मिथ्यादृष्टि, अव्रती और अव्युत्पन्न मानव का निमित्त लेकर प्रवृत्त हुआ (कथन किया गया) अनुयोग (अधिकार) प्रथमानुयोग कहलाता है। अथवा जिसमें परमार्थ विपय का अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुपार्थ का अथवा एक पुरुप के आश्रित चरित्र का तथा त्रेसठ शलाकापुरुषों के आश्रित पुराण का, पुण्य-पाप रत्नत्रय और ध्यान का वर्णन है वह प्रथमानुयोग कहलाता है।

"यद्यपि यह प्रथमानुयोग रूप ग्रन्थ अर्थ की अपेक्षा अपरिमेय है, सख्या से रहित है तथापि शब्दों की अपेक्षा परिमेय है, संख्येय है। अक्षरों के अनुप्टुप् श्लोक के द्वारा गणना करने पर प्रथमानुयोग में दो लाख करोड, पचपन हजार करोड, चार सौ बयालीस करोड और इकतीस लाख, सात हजार पॉच सौ श्लोक होते हैं। सम्पूर्ण द्वादशाग ही इस प्रथमानुयोग का अभिधेय विपय है, क्योंकि इसके बाहर न तो कोई विपय है और न शब्द है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, पुरुपार्थ, इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि तिरेसठशलाकापुरुप व १६० प्रधानपुरुपों का वर्णन है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो सर्व द्वादशाग इसमें गर्भित है। स्थूल दृष्टि से ज्ञातृकधाग, अनुत्तरोपपादिकदशाग, अन्तकृद्दशांग, प्रश्नव्याकरणाग, दृष्टिवाद का तीसरा भेद प्रथमानुयोग, कल्याणप्रवादपूर्व, प्रथमानुयोग में गर्भित हो जाते हैं।

चरणानुयोग

गृहमेध्यनगाराणा चारित्रोत्पत्ति वृद्धिरक्षागम्।
चरणानुयोगसमय सम्यग्ज्ञान विजानाति ॥र श्रा ४५ ॥

अर्थात्—सम्यग्ज्ञान ही गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि, रक्षा के अंगभूत चरणानुयोग शास्त्र को विशेष प्रकार से जानता है। "उपासकाध्ययनादौ श्रावकधर्म आचाराराधनौ यतिधर्म च यत्र मुख्यत्वेन कथयति स चरणानुयोग भण्यते।" (द्र टी ४२)।

उपासकाध्ययनादि में श्रावकधर्म और आचार तथा आराधनादि ग्रन्थों में जो यतिधर्म का वर्णन किया है वह चरणानुयोग है। जिनमें मुनि और श्रावकों की चारित्रशुद्धि का निरूपण होता है वह चरणानुयोग है। आचारांग, उपासकाध्ययनांग, सूत्रकृताग, अंग-बाह्य के १४ भेद, कल्याणप्रवाद का तपोऽनुष्ठान आदि का वर्णन, सत्यप्रवाद, दशवैकालिक ये सब चरणानुयोग में गर्भित हैं।

करणानुयोग

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीना च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोग च ॥ र श्रा ४४ ॥

अर्थात्—लोक-अलोक के विभाग को, युगों के परिवर्तन को तथा चारों गतियों को दर्पण के समान प्रकट करने वाले करणानुयोग को सम्यग्ज्ञान जानता है। त्रिलोकसार में तीर्थकरों के अन्तराल और लोक-विभाग आदि का व्याख्यान है। इसमें तीनों लोकों का वर्णन उस प्रकार लिखा होता है जिस प्रकार किसी ताम्रपत्र पर किसी की वंशावली लिखी होती है। दृष्टिवाद का पाँच परिकर्म, कल्याणवाद के सूर्य-चन्द्रमा के क्षेत्र, समवायांग, त्रिलोक बिन्दुसार, चूलिका का समावेश करणानुयोग में है।

द्रव्यानुयोग

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बध मोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीप श्रुतविद्या लोकमातनुते ॥ र श्रा ४६ ॥

अर्थात्—जीव, अजीव, पुण्य-पाप, बन्ध और सवर-निर्जरा और मोक्ष रूप सात तत्त्वों का तथा नौ पदार्थों का प्रकाशन द्रव्यानुयोग रूपी दीप करता है। अथवा जिसमें सात तत्त्वो का वर्णन है वह द्रव्यानुयोग है।

"जिसमें प्रमाण, नय, निक्षेप तथा सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व, निर्देश, स्वामित्व, माधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदि से द्रव्यों का निर्णय किया जाता है, वह द्रव्यानुयोग है।"

इस द्रव्यानुयोग में स्थानाग, आक्षेपिणी, विक्षेपिणी कथा, विपाक सूत्राग, दृष्टिवाद के मिथ्यावाद का प्रकरण, सूत्र, कल्याणप्रवाद के पोडश कारण भावना आदि का चिंतन, समवायाग का कुछ विभाग, उत्पाद पूर्व, अग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आदि गर्भित है।

इस प्रकार सारे द्वादशाग का अन्तर्भाव चार अनुयोगों में हो जाता है। अत इस युग में चार अनुयोगों का वर्णन है। इस पचम काल में बारह अंग की उपलब्धि नहीं है। अगों का ज्ञान नहीं है, अग उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु अगों का विषय नष्ट नहीं हुआ है। षट्खण्डागम में कहा है—षट्खण्डागम की उत्पत्ति कैसे हुई है, यह किस अग का विषय है। यह षट्-खण्डागम दृष्टिवाद नामक १२वें अग का चतुर्थ भेद, चौदहपूर्व का दूसरा भेद, अग्रायणीय के १४ वस्तुओं में से उसकी जो च्यवन नामक पॉचवी वस्तु है, उस वस्तु में २० प्राभृत हैं, एक-एक प्राभृत में २४ अनुयोग हैं। उसमें कर्म प्रकाश नामक चतुर्थ प्राभृत है। उसका विषय है, षट्खण्डागम। पूज्यपाद स्वामी ने षट्खण्डागम की स्तुति के प्रकरण में श्रुतभक्ति की रचना की है।

कषायपाहुड़ में लिखा है—"णाणप्पवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तदियस्स पाहुडस्स" ज्ञानप्रवाद नामक पांचवें पूर्व की दसवें वस्तु अधिकार के अन्तर्गत २० पाहुडों में तीसरा कषायप्राभृत का विषय होने से यह कषायप्राभृत है।

महापुराण में लिखा है—"श्रुतस्कन्ध को चार महा-अधिकारों में विभाजित किया है। महाधिकाराश्चत्वार श्रुतस्कन्धस्य वर्णिता। श्रुतस्कन्ध के चार महाधिकार कहे गये हैं। (—महापुराण सर्ग २ श्लो. ९८) अत इन चार अनुयोग में १२ अंग गर्भित हैं।

अथवा अकलंकदेव ने राजवार्तिक में कहा है—

"अंगप्रविष्टमाचारादि द्वादशभेदं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्त-गणधरानुस्मृत-ग्रन्थरचनम्।" बुद्धि आदि अतिशय वाले गणधरों के द्वारा रचित अग-प्रविष्ट १२ प्रकार का है। भगवान अर्हन्त सर्वज्ञ देवरूपी हिमाचल से निकली हुई वचनरूपी गंगा के अर्थरूपी निर्मल जल से प्रक्षालित है अन्तःकरण जिनका ऐसे बुद्धि आदि ऋद्धियों के धनी गणधरों के द्वारा ग्रन्थ रूप से रचित आचारादि बारह अगों को अगप्रविष्ट कहते हैं।

"आरातीयाचार्यकृताङ्गार्थ-प्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्यम्"—आरातीय आचार्य कृत अंग अर्थ के आधार से रचे गये ग्रन्थ अगबाह्य हैं। श्रुत अर्थ के ज्ञाता गणधरदेव के शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा काल-दोष से अल्प आयु-बुद्धि वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गये सक्षिप्त ग्रन्थ अंगबाह्य है।

इस काल में साक्षात् गणधर रचित ग्रन्थ प्राप्त नहीं है इसीलिए अंगों का उच्छेद हो गया ऐसा कहा जाता है।

आरातीय आचार्यों के द्वारा रचित ग्रन्थ प्राप्य हैं अत वे अंग बाह्य कहे जाते हैं।

सर्वथा अग का अभाव नहीं है—जैसे सरोवर के जल से भरा हुआ घट-जल कथंचित् सरोवर है और कथचित् सरोवर नहीं भी है, सरोवर का अश है उसी प्रकार इस काल में अंग का अश प्राप्य है, पूर्ण अग नहीं। पर वह अग का अश चार अनुयोगों में गर्भित है अत चार अनुयोग की रचना करना समन्तभद्र ने उपयुक्त समझा।

जिन अक्षर-पदों के प्रमाण में अंग गूँथे गये उन अक्षर और पदों के प्रमाणरूप से अग इस काल में प्राप्य नहीं हैं, न गणधरदेव द्वारा गूँथित ही हैं। इस समय मानवों की बुद्धि अल्प है, आयु भी कम है अत उनका अनुग्रह करने के लिए आरातीय आचार्यों के द्वारा १२ अंग १४ पूर्व के सारभूत चार अनुयोग प्राप्य हैं।

यदि एक दृष्टि से देखा जाय तो उपासकाध्ययन आदि ग्रन्थ प्राप्य तो हैं परन्तु गणधर के द्वारा गूँथित न होने से वह अंग-प्रविष्ट नहीं हैं।

संघर्षो का नवनीत : प्रथमानुयोग

❑ *मुनि श्री अमितसागरजी*

जैनधर्म के प्रवर्तक तीर्थंकरों और पारम्परिक आचार्यों ने हमेशा समय से संघर्ष किया है। भगवान् आदिनाथ को छह माह तक आहार प्राप्त नहीं हुआ—अन्तराय कर्म से सघर्ष तथा भरत-बाहुबली का युद्ध इतिहास के पन्नों में एक अपूर्व छाप छोड गया। भगवान् महावीर को केवलज्ञान हो जाने के बाद—अपना ज्ञान किसे दें? यहाँ कोई पात्र नहीं जो उसे ग्रहण कर सके, अत छियासठ दिन का समय सघर्षमय ही तो रहा सबके लिए। सघर्षों के बीच जीत भी तो सत्य धर्म की ही होती है। तभी तो वह भगवान महावीर का भी गुरु बनने की इच्छा रखने वाला इन्द्रभूति गौतम दौडा-दौडा समवसरण की ओर चला आया ज्ञान मद से भरा, परन्तु क्या कभी सूर्य-प्रकाश के सामने अधकार अपना अस्तित्व दिखा सकता है। वह अधकार भी प्रकाशमय हो गया, गुरुत्व की भावना भी लघुता में बदल गयी तभी तो वह भगवान को देखते ही सम्यक्त्व पा गया, और पा गया उस भाव को कि निर्ग्रन्थ हुए बिना मेरा उद्धार कहाँ? अत उसने भी भगवान् महावीर की स्तुति करने के बाद उनके समक्ष शिष्य भाव से दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा ग्रहण करते ही उन्हें हो गया मनपर्यय ज्ञान और महावीर स्वामी की दिव्य ध्वनि खिरने लगी। ॐकार रूप धारण कर अठारह महाभाषाओं और सात सौ लघु भाषाओं में तत्त्वों का, द्रव्यों का तथा अनुयोग विवक्षा से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग का प्रतिपादन हुआ जिसे भव्य जीव अपनी-अपनी भाषाओं में समझ लेते थे। फिर भी गौतम गणधर उस दिव्य ध्वनि को सूत्रों में निबद्ध करके अपने स्मृतिपटल पर बिठा लेते थे और भव्य प्राणियों को उन सबका विश्लेषण करके समझाते थे।

समय अपनी गति से धीरे-धीरे आगे बढा। महावीर स्वामी, गौतमादि गणधर एव अन्य केवलज्ञानियों के मोक्ष जाने के बाद उस ज्ञान-प्रवाह के मुख्य सूत्र धरसेनाचार्य तक स्मृति एव धारणा में बसे रहे। श्रुतज्ञान का आगे विच्छेद होने का भय उन्हे हो गया अत वे अपना ज्ञान किसे दें, इसकी चिन्ता उनके मानस में आ गयी परन्तु "जहाँ चाह है वहाँ राह है", उन्होंने समाचार भेजा अर्हद्बलि आचार्य के पास। वहाँ से कुशाग्रबुद्धि आचार्य अर्हद्बलि ने दो प्रज्ञाश्रमणों को भेजा जो कि श्रुतज्ञान के सूत्रों को अपनी बुद्धि में धारण कर उसे लिपिबद्ध करने में समर्थ थे। धरसेनाचार्य ने उन शिष्यों की परीक्षा ली क्योंकि अपात्र के हाथ में दिया गया ज्ञान पूर्णत. फलीभूत नहीं होता बल्कि उसका प्रभाव उल्टा भी हो सकता है। अत परीक्षा में सफल शिष्यों का नाम भूतबलि एव पुष्पदन्त रखा और अपना समस्त ज्ञान उन दोनों शिष्यों

की बुद्धि में बिठा दिया। दोनों शिष्यों ने उन सूत्रों को लिपिबद्ध करके उन सूत्रों के संग्रह का नाम 'षट्खण्डागम' रखा। इस षट्खण्डागम के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य वीरसेन स्वामी ने इसे द्रव्यानुयोग का ग्रन्थ सिद्ध किया है। ऐसे प्रारम्भ हुई श्रुतज्ञान को सुरक्षित रखने की प्रथम यात्रा।

आगे चलकर जैन धर्म को श्वेताम्बर-दिगम्बर के सघभेद से गुजरना पडा, यह भी संघर्ष कम नहीं था। तदुपरान्त आज भारत ही नहीं, समस्त विश्व जिनके अध्यात्म वचनों से प्रभावित है, ऐसे महान् आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' आदि ग्रन्थ भी समय के संघर्षों से नि सृत हुए। कुन्दकुन्दाचार्य ने ही बौद्ध, साख्य, वैशेपिक, वेदान्तादिक के मत को मानने वाले लोगों के द्वारा प्रतिपादित आत्मतत्त्व का खण्डन/निरसन करके आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिचय कराया है। उन्होंने समयसारादिक ग्रन्थों में एकान्त से कभी कोई बात प्रतिपादन नहीं की, अनेकान्त रूप से ही शुद्धात्म तत्त्व की प्ररूपणा की है। क्या समयसारादिक ग्रन्थ मात्र शुद्धात्म तत्त्व को ही पूज्य मानते हैं? परन्तु आत्मा जिसके आश्रित है क्या उस शरीर में पूज्यपना नहीं आता? इस प्रकार की शका समयसार ग्रन्थ में ही किसी शिष्य ने की थी। वह इस प्रकार है—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरिय सथुदि चेव।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो॥३१॥

हे भगवन्। यदि जीव और शरीर एक रूप नहीं है तो भक्तगणों द्वारा की गयी तीर्थंकर और आचार्यों की स्तुति सब व्यर्थ ठहरती है अत आत्मा और शरीर एक है ऐसा मानना ही चाहिए।

इसी गाथा की टीका जयसेनाचार्य ने निम्नशब्दों में की है जो कि मननीय है। हे भगवन्। "यदि जीवो ण सरीरं" यदि जीव शरीर रूप नहीं है "तित्थयरायरिय सथुदि चेव" तो "द्वौ कुन्देन्दुतुपारहार धवलौ" इत्यादि शरीर को आधार लेकर की गयी तीर्थंकरों की स्तुति और "देस-कुल-जाइ सुद्धा" इत्यादिक आचार्यों की स्तुति "सव्वावि हवदि मिच्छा" सब ही मिथ्या ठहरती हैं। "तेण दु आदा हवदि देहो" इसीलिए आत्मा ही शरीर है ऐसा मेरा विश्वास है। इस प्रकार यह शका रूप गाथा हुई। अब आचार्य देव इसका समाधान करते हुए गाथा कहते हैं—

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो। ॥३२॥

अर्थात्—व्यवहार नय कहता है कि जीव और देह एक है किन्तु निश्चय नय से जीव और देह किसी भी काल में एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न है।

इस गाथा के हृदय को जयसेनाचार्य ने अपने शब्दो में खोला है—"ववहारणयो भासदि" व्यवहार नय कहता है कि "जीवो देहो य हवदि खलु इक्को" जीव और देह अवश्य ही एक

हैं "ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो" किन्तु निश्चय नय के अभिप्राय से जीव और देह दोनों परस्पर कभी किसी काल में भी एक नहीं होते हैं जैसे चाँदी और सोना मिली हुई दशा में व्यवहार नय से परस्पर एक हैं फिर भी निश्चय नय से वे अपने रूप रग को लिये हुए भिन्न-भिन्न ही हैं वैसे ही जीव और देह का व्यापार है। अत व्यवहार नय से देह के स्तवन से आत्मा का स्तवन मान लेना दोषकारक नहीं है। देखें, इन्हीं दो गाथाओं द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य का कथन निश्चय-व्यवहार के समन्वय का रहस्य उद्‌घाटन कर रहा है। उनके समस्त शास्त्रों में इसी प्रकार अनेकान्त विवक्षा से कथन मिलेगा, एकान्त से नहीं।

क्या समयसार में वर्णित शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति सहज है? इसीलिए उस समयसार (शुद्धात्म) की प्राप्ति की इच्छा करने वाले मुमुक्षुजनों को चरणानुयोगपरक मूलाचारादिक ग्रन्थों का संयोजन हुआ। चरणानुयोग में दो प्रकार से भेद हो गया—पहला मुनियों के करने योग्य धर्म (क्रिया) और दूसरा श्रावक के योग्य धर्म (क्रिया)। यह चरणानुयोग भी जीवों की पात्रता की अपेक्षा रखता है अत इसकी विस्तार चर्चा चरणानुयोग ग्रन्थों में की गयी है कि कौन-सा जीव किस चारित्र की अपेक्षा रखता है।

मुनियों के चरणानुयोगमूलक ग्रन्थों में आचार्यों ने मुनियों की चारित्रिक शिथिलता पर कटु शब्दों तक का प्रयोग किया है जिससे कुछ विद्वान् कहते हैं कि यहाँ आचार्य भाषा समिति से च्युत हो गये। परन्तु ऐसा कहना लोगों की भूल है। क्योंकि आचार्यों को अधिकार है—शिष्य के दोष निकालने के लिए भीषण गर्जना करने का। जैसे सिह की दहाड सुनकर गीदड अपने मुख में दबा हुआ मास का टुकडा उगल देता है उसी प्रकार आचार्यों की शब्द-प्रताडणाओं से शिष्य अपने अपराध को कबूल कर लेता है। तभी तो साधु की पूर्ण चारित्र शुद्धि की साधना बन सकेगी, अन्यथा एक शिथिलाचारी साधु की चर्या देखकर अन्य साधना करने वाले साधु भी शिथिलाचारी हुए बिना नहीं रहेंगे।

श्रावकों के श्रावकाचारों में आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मूलतत्त्व तो वही है परन्तु समयानुसार कहीं कुछ परिवर्तन दिखा है जैसे कि समन्तभद्राचार्य ने मूलगुणों की परिभाषा मद्य, मास, मधु और पाँच उदुम्बर फल के त्याग से की है। जब श्रावकों में रात्रिभोजन, बिना छना जल, बिना देव दर्शन आदि की प्रथायें चलीं तब आचार्यों ने रात्रि भोजन त्याग, छना जल, देवदर्शन आदि की क्रिया उसी में जोडकर अष्ट मूलगुण को परिभाषित किया। वस्तुत हमारे आचार्यों का लक्ष्य व्यक्ति के त्याग की ओर ही रहा है। वर्तमानाचार्यों ने भी श्रावकों को शूद्र-जल-त्याग करने की क्रिया से जोडा है क्योंकि श्रावक अपने खानपान की शुद्धि का विवेक दिनोंदिन खोता जा रहा है। अस्तु हमें इस वाद-विवाद में नहीं पडना चाहिए कि आचार्यों ने इसकी भेदपरक प्ररूपणा क्यों की? परन्तु हमारा लक्ष्य त्यागवृत्ति की ओर ही बना रहे और यदि त्याग नहीं बनता तो उसकी श्रद्धा कीजिये, त्यागियों की निन्दा मत करिये। आचार्यों के लक्ष्य की ओर हमारा ध्यान होना चाहिए।

करणानुयोग अपने आप में विशेष महत्त्व रखता है। यह किसी ईश्वर आदि को सृष्टि आदि का कर्ता या उसके द्वारा सुख-दुख फल देने की अपेक्षा नहीं रखता है। "स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फल त्वदीयं लभते शुभाशुभं" यह जीव स्वय अपने किये गये शुभाशुभ कर्म का फल प्राप्त करता है। ऐसे ही यह जीव किन-किन परिणामों से चतुर्गति रूप ससार में परिभ्रमण करता है, यह लोक क्या है? आदि इन सभी का वर्णन करने वाले करुणानुयोग के ग्रन्थ कहे जाते हैं। द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, करुणानुयोग के ग्रन्थ प्राय पूर्वाचार्यों ने गाथासूत्रों में निबद्ध किये हैं।

प्रथमानुयोग ग्रन्थों की रचना बाद में हुई हो ऐसी बात नहीं। क्योंकि समन्तभद्र स्वामी ने प्रथमानुयोग को परिभाषित करते हुए निम्न श्लोक कहा है—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यान चरित पुराणमपि पुण्यम्।
बोधि-समाधि-निधान बोधति बोध समीचीन ॥

अर्थात्—यह प्रथमानुयोग पुण्य के प्रसाधन रूप तथा बोधि कहिये, सम्यग्ज्ञान समाधि कहिये, समता रूप परिणामों का निधान कहिये, खजाना/भडार स्वरूप, चरित्र कहिये, किसी एक महापुरुष का जीवनचरित्र और पुराण कहिये समस्त पुराण पुरुषों के जीवनचरित्र का वर्णन अर्थाख्यान अर्थात् जो कथानक प्रकल्पित (झूठे) नहीं होते हुए परमार्थ रूप सत् विषय का ही प्रतिपादन करते हैं वे शास्त्र प्रथमानुयोग कहे जाते हैं।

मूलत जैन धर्म में महापुरुषों का सस्मरण ही प्रचलित रहा है। तीर्थंकर महावीर के उपदेशों की जो रचना द्वादशाग आगम में की गयी उसके बारहवें अग दृष्टिवाद के अवान्तर भेद अनुयोग या प्रथमानुयोग का विषय तीर्थंकर आदि [illegible] यों के चरित्र व अन्य आख्यान थे। षट्खण्डागम की धवला टीका के अनुसार यहां 'बारह' प्रकार के 'पुराणों' का वर्णन किया गया था जिसमें तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, विद्याधरों, वासुदेवों, चारणों, प्रज्ञाश्रमणों, कौरवों, इक्ष्वाकुओं, काशियों और वादियों के वशों का एव हरिवश [illegible] नाथवशों का वर्णन सम्मिलित था। यद्यपि यह रचना अब अप्राप्य है तथापि पांचवीं शती में जो वल्लभी वाचना के समय देवर्द्धिगणी के नायकत्व में अगों का संकलन किया गया उसमें बहुत कुछ इस अनुयोग खण्ड में समाविष्ट पाये जाते हैं। विशेषत चतुर्थ आगम समवायाग के २७५ सूत्रों में से अन्तिम ३० सूत्रों में कुलकर, तीर्थंकर, चक्रवर्तियों तथा बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों का, उनके माता-पिता, जन्म-स्थान, दीक्षा-स्थान आदि का क्रम से परिचय कराया गया है। इन्हीं तिरेसठ शलाकापुरुषों की और भी सुविस्तृत नामावलियाँ यतिवृषभाचार्यकृत तिलोयपण्णत्ति के चतुर्थ अधिकार में पायी जाती है। इसके अतिरिक्त ग्यारह रुद्र, नौ नारद और चौबीस कामदेवों का भी विवरण दिया गया है। ऐसे महापुरुषों के जीवनचरित्र हमारे इस जीवन को महान् बनाने की प्रेरणा देते हैं, परन्तु कुछ महापुरुषों का जीवनचरित्र विशेष रूप से मन को आकर्षित, रुचिकर लगते हैं क्योंकि "जिन्होंने अपने जीवन में देश, धर्म,

जाति एवं कुल की मर्यादाओं का उल्लघन न करते हुए अति कठिनाइयों से गुजरने के बाद सफलताओं के चिह्न प्राप्त किये हैं, उन पुरुषों का जीवनचरित्र अजर-अमर होते हुए भी दूसरों के लिए प्रेरणास्पद बन जाता है।

जैन संस्कृति की महती विशेषता है कि वह किसी अवतारवाद को स्वीकार नहीं करता, परन्तु प्रत्येक भव्य प्राणी को ईश्वर, परमात्मा, पूज्य एवं महान बनने की शिक्षा देता है , क्योंकि जैनदर्शन प्रत्येक आत्मा को शक्ति रूप से परमात्मा स्वीकार करता है। प्रत्येक आत्मा में मोक्षप्राप्ति की शक्ति विद्यमान है। उस शक्ति को व्यक्त करने के लिए सम्यक्श्रद्धा ज्ञानानुचरण की साधना अति आवश्यक है। आप कह सकते हैं कि वैदिक सस्कृति में भी तो मोक्षतत्त्व की परिपाटी है जिसके कारण भक्तजन मोक्ष प्राप्त करते हैं। परन्तु यह बात ध्यान रहे कि इस मोक्ष की मर्यादा है एक कल्पकाल की सीमा। इतने समय के बाद जीव वापिस ससार में आकर परिभ्रमण करेगा। ऐसे मोक्ष को हम मोक्ष की सज्ञा कभी नहीं दे सकते क्योंकि जो हमारा उत्थान से पतन करे क्या उसे हम मोक्ष मान सकते हैं? अत जैन तत्त्व के मोक्ष एव अन्य मतावलम्बियों के मोक्ष में यही अन्तर है कि उनका मोक्ष कल्पकालादिक की मर्यादाओं में सीमित है परन्तु जैन तत्त्वदृष्टि इससे भिन्न है। इस ससार के कारणभूत राग-द्वेप, मोह, कपायों को सर्वथा नष्ट कर दिया है अत वह मुक्त जीव कभी भी किसी भी अवस्था में लौटकर ससार में नहीं आते। इस मोक्ष की साधना एक-दो भव मे लेकर अनेक भवों द्वारा पूर्ण होती है। इसी साधना को पूर्ण करने की कहानी ही तो प्रथमानुयोग में वर्णित है कि हमारी धर्म यात्रा कहॉ मे प्रारम्भ हुई, क्या-क्या बाधायें आयीं और उन सघर्षों में हार-जीत किसकी हुई, जीत का क्या पुरस्कार तथा हार का क्या तिरस्कार जीवन में मिला। उन महापुरुषों के भूत, भविष्यत, वर्तमान सबधी भवों का वर्णन करते हुए पुण्य-पाप के स्वरूप का दिग्दर्शन उन्हीं के जीवनचरित्र से दर्शाया गया है जिसके पढने-सुनने व श्रद्धान करने मात्र से मनुष्य अपनी पाप-प्रवृत्तियों को छोडकर, पुण्य को वृद्धिगत होते हुए, बोधि सम्यग्ज्ञान समाधि समता रूप परिणाम को प्राप्त करते हैं।

इस कालचक्र का प्रभाव हम अपने जीवन पर स्पष्ट अनुभव कर रहे हैं। यद्यपि सस्कृति का पूर्व इतिहास हमारे हृदय पर आज अधिक स्पष्ट नहीं है फिर भी कुछ प्रचलित श्रुतियाँ, रीति-रिवाज, कुछ त्यौहार आदि उन रेखाओं को सजीव रखने का यथाशक्ति प्रयास करते ही रहते हैं। साम्प्रदायिक मान्यताओं के रूप में सही, पर जो कुछ भी इस धरा पर आज भिन्न-भिन्न रूप लिये धार्मिक भावनाओं को बल मिला वे सर्वथा काल्पनिक ही हों यह असम्भव है, क्योंकि शून्य की पृष्ठभूमि पर कोई कल्पना पनपना अत्यन्त कठिन है, गधे के सींग की कल्पना होना ही असम्भव है। और विशेपत जहॉ इस प्रकार की कल्पनाओं व रूढियों में व्यक्तिगत स्वार्थ दृष्टिगत न होता हो वहॉ तो यह मानना ही पडेगा कि उन मान्यताओं के पीछे अवश्य ही कोई इतिहास छिपा हुआ है, भले ही आज वह याद न रहा हो।

इतिहास इतीप्टं तद् इति हासीदिति श्रुत ।

इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नायं चामनन्ति तत्॥ (आदिपुराण)

इतिहास, इतिवृत्त, ऐतिह्य और आम्नाय समानार्थक शब्द हैं। इति-इह-आसीत् (ऐसा निश्चय ही था), इतिवृत्तं (ऐसा घटित हुआ) तथा परम्परा से ऐसी ही आम्नाय है इन अर्थों में इतिहास है। इतिहास दीपकतुल्य है। वस्तु के कृष्ण श्वेतादि यथार्थ रूप को जैसे दीपक प्रकाशित करता है वैसे इतिहास मोह के आवरण का नाशकर भ्रान्तियों को दूर करके सत्य सर्वलोक द्वारा धारण की जाने वाली यथार्थता का प्रकाशन करता है अर्थात् जैसे दीपक के प्रकाश से पूर्व कक्ष में स्थित वस्तुएँ विद्यमान रहते हुए भी प्रकाशित नहीं होतीं वैसे ही सम्पूर्ण लोक द्वारा धारण किया गया गर्भभूत सत्य इतिहास के बिना सुव्यक्त नहीं होता है।

इतिहास में महापुरुषों की प्रसिद्धि भी निष्कारण हो गयी हो, ऐसा नहीं है। बिना किसी असाधारण घटनाओं के किसी की भी प्रसिद्धि होना असम्भव है। अत यह मानना ही पडेगा कि आज इस पृथ्वीमण्डल पर जितने भी नाम महापुरुषो के रूप में कुछ विनय, पूज्यपने व शक्ति की दृष्टि से लिये जाते हैं उन नाम के धारी कोई असाधारण व्यक्ति अवश्य ही कभी इस धरा पर विद्यमान थे, जिन्होंने अपने समय में समय से सघर्ष करके देश, धर्म, जाति, कुलों पर आयी हुई विपत्तियों से नीति व चतुराई के द्वारा मुक्त कराया है। किन्हीं महामनों ने ज्ञान का प्रकाश देश और विदेश में फैलाया और किन्हीं ने जीवन के सार की प्राप्ति के अर्थ अपना सारा जीवन अर्पण करके मानवसमाज में शान्ति उत्पन्न की है। इसी प्रकार किन्हीं ने अन्य-अन्य अनेकों ऐसे असाधारण कार्य किये हैं जिसके कारण ही तत्समयवर्ति मानवसमाज का मस्तक स्वत ही उनके चरणों में झुके बिना न रह सका तथा इस सस्कार की छाप इतनी गहरी पडी कि आज तक के मानवसमाज के हृदय-पटल से उन महान आत्माओं के नाम का स्मरण व उनके प्रति की हुई भक्ति धुल नहीं पाई है बल्कि दिनोंदिन भक्ति का वह प्रवाह उन आत्माओं के प्रति बढता ही जा रहा है।

अग्रेजी में सुप्रसिद्ध कहावत है कि—"The proper study of mankind is Man" अर्थात् मानवता के अध्ययन का उपयुक्त विषय मनुष्य ही है। जब से हमें मानवीय सभ्यता का इतिहास मिलता है तभी से हमें इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि मनुष्य अपने अनुभवों का लाभ अपने समकालीन अन्य जनो को एव भावी सन्तान को देने का प्रयत्न करता रहा है और अपने पूर्वजों एवं समसामयिकों से बहुत कुछ सीखता रहा है जिसे हम साहित्य कह सकते हैं। साहित्य के अर्थ को भी खोजना होगा अन्यथा बिना अर्थ वाले मात्र शब्दजाल को लोग साहित्य समझ लेते हैं। अत जो शब्द आत्महित के निमित्त होते हुए सही अर्थ को परिभाषित करते हैं और जिसके पठन-पाठन व मनन से सुख का समुद्भव सम्पादन हो वही सही साहित्य है। कहानियाँ, चरित्र या पुराण साहित्य का प्राण हैं। पूर्वजों के अनुभव कहकर दूसरों का मनोरंजन करना बडी प्राचीन कला है। सभवत उतनी ही प्राचीन जितनी चित्रकला और भाषा, किन्तु कथाओं द्वारा नैतिक उपदेश देने की कला का उद्गम और विकास धर्म के साथ-साथ ही हुआ है।

प्राचीन पुराणों में यही तत्त्व मौलिक रूप से अन्तर्निहित है। इनके अधिकांश पात्र प्रथमत आत्मान्वेषी हैं, आत्मालोचक हैं, आत्मज्ञान के जिज्ञासु और खोजी है। उन्हें प्रथमत स्वयं अपनी आत्मा की तलाश है। उनमें उत्कटपृच्छा है कि उनके भीतर कोई ऐसी अखण्ड अस्मिता या इयत्ता है जो क्षण-क्षण परिवर्तनशील मानसिक अवस्थाओं से परे कोई ध्रुव शाश्वत समरस सत्ता रखती हो, जो तमाम बाहरी हालातों, उतार-चढावों, सघर्षो, यन्त्रणाओं से गुजरती हुई भी कहीं उन सबसे अस्पृष्ट रहकर उत्तीर्ण होकर अपने साक्षी और दृष्टाभाव में अविचल रह सकती हो, जो देह-मानसिक स्तर की अज्ञानी भूमिका पर गलत या विसवादी हो गयी जीवन व्यवस्था में अपने भीतर से, इस अखण्ड चैतन्य में से, पहल करके संवादिता ला सकती हो, नयी कल्याणी सृष्टि रच सकती हो। जैन धर्म में ऐसी ही उपोद्घाती या पहल करने वाली व्यक्तिसत्ताओं को शलाकापुरुष कहा है। ऐसे पुरुष जो पहले स्वय स्वभाव को उपलब्ध होकर लोक में अपने को अचूक मानदण्ड अथवा शलाका के रूप में उपस्थित करते हैं जो कि उनके सयुक्त व्यक्तित्व, विचार-व्यवहार आचार से ही लोक में स्वय एक अन्तर्गामी अतिक्रान्त या रूपान्तर घटित होता चला जाये और व्यक्ति स्वंय वैसा बनने की भावना से ओत-प्रोत हो उठे, उसे पाने के लिए लालायित हो उठे।

यद्यपि जैनधर्म बहुत गूढ है, पर हम जैन धर्म को कहानियों के माध्यम से भी समझ सकते हैं। हमारे देश में कहानियों के माध्यम से भी सिद्धान्त को समझाने की परिपाटी बहुत पुरानी है। अनेकों विद्वानों ने सिद्ध किया है कि दुनियों में कहानी कहने की लिखने की परिपाटी जैनों ने, जैन सन्तों ने चलायी। पुण्यास्रव कथाकोश, सम्यक्त्व कौमुदी, धर्म परीक्षा, धर्मामृत, णमोकार ग्रन्थ आदि कथाकोषों में सत्सगति का महत्त्व बतलाने वाली छोटी-छोटी बहुत सी कहानियों के सग्रह हैं। गोली छोटी होती है परन्तु निगलते ही बुखार को उतार देती है वैसे ही कहानिया छोटी होने पर भी उनमें सारभूत तत्त्व अधिक भरा रहता है। नीतिकारों ने कहा है "जो भव्यजीव क्षणमात्र भी साधुओं की एक बार सगति करता है वह भव सागर में तरने के समान लाभकारी है।" एक उदाहरण दृष्टव्य है—

एक शिवभूति नाम के सेठ थे। उन्होनें एक बार अपने गाव में मुनिसघ का चातुर्मास कराया। परन्तु वह सेठ पढे लिखे नहीं थे पर व्यापारी अवश्य थे। चातुर्मास भर आहार दानादि देकर मुनिसघ की खूब मन लगाकर सेवा की। चातुर्मास पूर्ण हो गया। एक दिन शिवभूति सेठ ने विचार ही कर लिया कि क्या रखा है इस संसार में? चलो महाराज के साथ चलकर ही आत्मकल्याण कर लें। जो कुछ ससार में देखना था देख लिया अब बाकी क्या रह गया देखने को? ऐसा विचार कर उसने बच्चों के हाथ में सभी प्रकार की व्यवस्था सौंप दी और उदास होकर मुनिश्री के पास बैठ गये। मुनिराज ने सेठ का उदास चेहरा देखकर पूछा—क्या बात है सेठ जी। उदासीन क्यों? सेठ जी ने कहा—महाराजश्री, मैं भी आप जैसा बनना चाहता हूँ। परन्तु एक बात है, मैं पैसे कमाने में तो पण्डित हूँ, पर धर्म का कोई ज्ञान मुझे नहीं है।

मुनिराज ने कहा—कोई बात नहीं, सघ में रहो ज्ञान हो जाएगा। मुनिराज ने दिगम्बरी दीक्षा देकर पाँच व्रत, तीन गुप्ति (अष्ट प्रवचन मात्रिका) का ज्ञान कराया, साथ में अन्य तत्त्वों का भी ज्ञान दिया। परन्तु शिवभूति मुनि उसे शीघ्र ही भूल जाते। एक दिन गुरु ने उनसे कहा—तुम एक साधारण-सी बात ध्यान में रखो, कि "तुषमाष भिन्न" तुष अलग और माष अलग अर्थात् जिस प्रकार उडद की दाल अलग रहती है और उसके ऊपर लगा छिलका उस दल से भिन्न रहता है उसी तरह इस आत्मा और शरीर का सबंध भिन्न-भिन्न है। बहुत दिन तक शिवभूति मुनि इस "तुषमाष भिन्नं" पाठ को ही याद करते रहे और एक दिन आहार करके लौट रहे थे कि वे उस पाठ को भी भूल गये। तब बार-बार विचार करने लगे कि उनके गुरु ने क्या बताया था। बहुत बार ध्यान करने पर भी याद नहीं आया परन्तु एकाएक उनकी दृष्टि वहाँ जा पडी जहाँ एक महिला उडद की दाल के छिलकों को पानी से गलाकर अलग कर रही थी। उन्होंने पूछा—बहिन, क्या कर रही हो? उत्तर मिला—महाराजश्री, दाल अलग और छिलका अलग.. । बस, इतने में ही शिवभूति मुनि की स्मृति जाग गयी कि यही पाठ तो उनके गुरुजी ने सिखलाया था। वे रास्ते भर उसे भूलने के भय से रटते आये। आकर ध्यान में बैठे और परिणामों की विशुद्धि जागी और हो गया उन्हें केवलज्ञान। इसीलिए उनकी इतनी प्रसिद्धि हो गई कि आचार्यों ने उनके नाम मे ही गाथा का निर्माण कर दिया

> तुस मास घोमतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
> णामेण सिवभूई केवलणाणी फुड जाओ।।

ऐसे प्रसग पर मूलाचार ग्रन्थ के समयसार अधिकार में उद्धृत एक गाथा सहज ही याद आ जाती है

> धीरो वैरग्गपरो थोवं पिय सिक्ख दूण सिज्झदि हू।
> ण वि सिज्झदि वैग्गवि हीणो पढिदूण सव्व सत्थाइ।।

अर्थात्—भव्य जीव अपने चित्त में धैर्य को धारण करके वैराग्य में तत्पर होते हुए थोडे से ज्ञान की शिक्षा पाकर निर्वाण की प्राप्ति कर सकते हैं परन्तु जो वैराग्य से रहित है और समस्त आगमशास्त्रों के ज्ञाता है तो भी उन्हे निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। जो प्राणी संसार-सागर से तिरना चाहता है, अपना कल्याण करना चाहता है उसके लिए कितनी सुन्दर बात है। तभी तो इतिहास में ख्याति प्राप्त सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार आदि श्रेष्ठिपुत्रों एवं राजकुमारों ने बिना किसी तत्त्वों की शिक्षा लिये, बिना कोई शास्त्र पढे ही अपनी आत्मा का कल्याण वैराग्य के माध्यम से कर लिया। यही सब व्याख्या तो हमें प्रथमानुयोग में पढने के लिए मिलती है।

कई बार दुखी होकर लोग पूछते हैं कि महाराज जी। कुछ शाति का उपाय बतलाइये, हम बहुत परेशानी में है। तब मैं प्रथमानुयोग का इन्जेक्शन, जो तुरन्त लाभप्रद होता है, उसी का इस्तेमाल करता हूँ और उन्हें समझाता हू कि देखो श्रीराम, पाण्डव, सीता, अंजना, द्रौपदी,

अनन्तमती, चन्दनबाला आदि के समान तो तुम्हारा दुख नहीं है। आप अपने घर में अनेक सुख-सुविधाओं के साथ रह रहे हैं। क्या कमी है? कुछ थोडी-बहुत परेशानी या सकट आ गया तो घबडा गये, दुखी हो गये। थोडा धैर्य से विचार करके देखो कि आपको कहीं राम-पाण्डव जैसा वनवास तो नहीं भुगतना पड रहा है। सीता, अंजना, द्रौपदी, अनन्तमती, चन्दनबाला आदि जैसी सतियों के ऊपर कितने कष्ट/मुसीबत के दिन आये फिर भी उन्होंने अपना धैर्य नहीं खोया, धर्म से आस्था नहीं डिगायी, किसी को गालियाँ नहीं दी, किसी को बुरा नहीं बताया। मात्र अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को चितारा-धिक्कारा और आत्मबल को जीवन्त रखा। इतिहास की बात गौण कर थोडी अपनी निगाह अपने आस-पास पडोस या सडक पर गुजरते भिखारियों की ओर डालिये जो हमसे ज्यादा दुखी है। जरा विचारिये कि हमारे पास रहने को मकान, पहनने को सही कपडे हैं और खाने के लिए अच्छा भोजन प्रतिदिन मिल रहा है। परन्तु इनके पास तो ये सब न के बराबर है फिर भी इनका काम चल रहा है और ये लोग प्रसन्न नजर आ रहे हैं। फिर तो हम इनसे ज्यादा अच्छे हैं। बस इतना विचार करते ही मन का तनाव या दुख हल्का हो जाता है और शान्ति का अनुभव हो जाता है। जब महापुरुषों के जीवन में कई प्रकार के दुखद प्रसग आते हैं, परिस्थितियाँ आती हैं, तब हम और आप तो सामान्य मनुष्य हैं। हमारे आपके दुखों का अन्त दिखता ही नहीं-है और न ही उन दुखों का वर्णन किया जा सकता है।

एक साधु से एक युवक आकर बोला—महाराज जी। मैं बहुत दुखी हूँ। साधु ने पूछा—क्यों भाई, किस बात से दुखी हो? वह बोला—पता नहीं महाराज, मैंने क्या पाप किये? मैं माँ-बाप की इकलौती सतान हूँ, मेरे कोई भाई होता तो मेरा कार्यभार आधा हो जाता। वह भी दुकानादिक के कार्यभार को सभालता तो मैं कुछ धर्मध्यान कर सकता। पर क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता। इतने में ही एक दूसरे युवक ने महाराज के पास आकर कहा—महाराज जी। मैं बहुत दुखी हूँ। मेरा भाई मुझे बहुत सताता है, कभी मारता है, पीटता है, गालियाँ देता है, जरा-जरा-सी बात पर झगडा करता है इसीलिए मैं बहुत दुखी हूँ। देखो, एक के भाई नहीं है इसलिए दुखी है और एक के भाई है इसलिए दुखी है। इसी तरह सारा विश्व ऐसी प्रपचनाओं से दुखी है। सत्य तो यह है कि मनुष्य स्वय दुख को बुलाता है, दुख स्वय नहीं आता।

अथर्ववेद में लिखा है कि नाना धर्म इस पृथ्वी पर हैं और नाना भाषायें, नाना तरह की आशायें, नाना तरह के सम्प्रदायों को लेकर पृथ्वी खडी है। "इसमें निवृत्तिप्रधान धर्म जैन धर्म है"। एक कथानक मैंने इस प्रकार पढा था—महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर नाम के एक हिन्दू सन्त हुए हैं। वे उम्र में छोटे थे, पर विद्वान् थे। उनके समय में एक वृद्ध साधु था चागदेव नाम का, उसका भी प्रभाव था। जब बालक ज्ञानेश्वर ने लोगों को लोकोपयोगी आत्मज्ञान की कुछ बातें बताई तो इसका प्रभाव भी बहुत हो गया। चागदेव के पास आने वाले लोगों की संख्या कम

हो गयी, इससे वे बडे दुखी हो गए। एक विचार उनके मन में आया कि यदि यह बालक ज्ञानेश्वर मुझे आकर नमस्कार कर ले तो मेरी प्रतिष्ठा बहुत बढ जाएगी। क्या करें? किस प्रकार इसको कहे? कुछ सोचकर वे उसके लिए एक चिट्ठी लिखने बैठे, परन्तु सोचने लगे कि यदि मैं उसे आशीर्वाद लिखूँगा तो उसके पक्ष के लोग मुझसे नाराज हो जायेंगे और नमस्कार लिखूँगा तो वह मेरा गुरु बन जाएगा। तब उन्होंने एक खाली कागज ज्यों का त्यों भेज दिया। ज्ञानेश्वर ने देखा कि यह चिट्ठी कैसी है इसमें कुछ लिखा ही नहीं है? उन्होंने उसे अपने भाई को दिया कि तुम इसे समझो। वह बोला—भैया। मुझे तो कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है। उसने दूसरे भाई से पूछा तो उसने भी यही उत्तर दिया। वे तीनों सगे भाई थे, और उनकी एक छोटी वहिन थी। छोटी बहिन को वह कागज दिया और पूछा कि इसमें क्या लिखा है? वह बोली—जैसे यह कागज निर्मल है, साफ है वैसे ही लिखने वाले का दिल स्वच्छ, निर्मल है, चित्त साफ है, इसमें अच्छे-अच्छे नीतिवाक्य लिखे जा सकते हैं। इतने में चांगदेव एक जिन्दा शेर को पकडकर लगाम लगाकर, उस पर बैठकर वहाँ आ पहुँचा। लोगों ने देखा आर कहा—अरे। देखो, यह तो शेर पर बैठे हैं। चमत्कार देखकर लोग चागदेव के पास दौडने लगे, उनकी भक्ति करने लगे। जब सत ज्ञानेश्वर ने इस चमत्कार की बात सुनी तो आप अपनी विद्या-शक्ति के बल पर आकाश में अधर चले आये। लोग यह देख कहने लगे कि अरे। शेर पर आना तो कोई बडी बात नहीं, पर ये तो आकाश में अधर चले आये। यह है सही चमत्कार और सभी लोग चागदेव को छोडकर ज्ञानेश्वर सत की भक्ति-पूजा करने लगे। तब वृद्ध चागदेव ने उनके विद्याबल से प्रभावित होकर ज्ञानेश्वर से कहा कि आप तो यह बताइये कि मुक्ति कैसे मिलेगी? मैं सत्तर साल की उम्र में इस शका को लेकर आपके पास आया हूँ। मुक्ति का उपाय मैं अब तक नहीं समझ पाया उसे आप समझा दें। ज्ञानेश्वर ने कहा—हमारी बहिन तुम्हें मुक्ति का उपाय बतलायेगी। चागदेव ने उनकी छोटी बहिन से पूछा कि मुझे मुक्ति कैसे मिलेगी? वह बोली कि 'ज्ञान' ही जिसका ईश्वर है, 'निवृत्ति' जिसका 'सोपान' है, उसी को 'मुक्ति' मिलेगी। उसने इस वाक्य में तीनों भाई व स्वय का नाम ले लिया। 'ज्ञानेश्वर' बडे भाई थे, 'निवृत्ति' दूसरे नम्बर के और 'सोपान' तीसरे नम्बर के भाई थे। 'मुक्ति' स्वय का नाम था। अत उसने कहा कि ज्ञान ही जिसका ईश्वर है, निवृत्ति ही जिसका सोपान है उसी को मुक्ति मिलेगी। बस, यही सब तो सिखाता है हमें हमारा प्रथमानुयोग कि 'ज्ञान के ईश्वर' कैसे बनते हैं, निवृत्ति किस-किस जीव ने ली। अत यह निवृत्तिप्रधान धर्म ससार बढाने के लिए नहीं है इसे भोगोपभोग सामग्री जुटाने का साधन न बनायें बल्कि उन सबसे उदासीन होकर अशुभ से निवृत्ति का लक्ष्य हमारे मानस में बना रहे। इसीलिए हमारे आचार्यों ने जीवों द्वारा अनुभूत मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को प्रथमानुयोग में वर्णित किया है कि किस-किसने किस प्रकार त्याग, त्याग की परीक्षा एव त्याग का फल प्राप्त किया है।

चारों अनुयोगों की भाषा एव भक्तों को एक रूपक के माध्यम से समझ सकते हैं। एक

महिला अपने एक बच्चे एवं एक बच्ची को पैदल लेकर बाजार की ओर जा रही थी। तभी बच्ची थोडा आगे निकल गई परन्तु बच्चा ठोकर खाकर गिर गया। गिरते ही वह बच्चा रोने लगा तब उसकी माँ ने उसे उठाया और उसे समझाने लगी—अरे । इतनी सी लगी और कितना रोते हो, देखो उस दिन गुडिया गिरी थी वह नहीं रोयी थी और तू पागल है जो रोता है। चल उठ, चुप हो जा। माँ के समझाने पर भी जब वह बालक चुप नहीं होता तब वह माँ कहती है—ठीक लगी, अच्छी लगी चोट, तू भी तो गुडिया को मारता था, उसे चिढाता था, उससे झगडता था, उसी का फल तो तुझे मिला है। बच्चा फिर भी चुप नहीं होता तो माँ कहती है—देखभाल करके तो चलता नहीं और फिर गिर जाने पर रोता है। और कर शैतानी, ऐसे ही गिरेगा। अब देखभाल कर चला कर। बच्चा फिर भी चुप नहीं होता तो माँ कहती है—अरे। यह कैसी गधों जैसी रों-पों मचा रखी है, तू गधा थोडा ही है, तू तो राजा बेटा है राजा बेटा, तुझे चोट कैसे लग सकती है, वह तो घोडा कूदा था। बस, इतना सुनते ही बच्चा चुप हो जाता है। गुडिया भी गिरी थी रोयी नहीं, दूसरों की पुरानी बात याद करके धैर्य बाँधना—प्रथमानुयोग। गुडिया को चिढाता था, पीटता था। दूसरों के प्रति खोटे भाव या क्रिया करना—करणानुयोग। देखभाल कर चलना—चरणानुयोग। मेरा बेटा राजा है उसे चोट नहीं लग सकती यह है द्रव्यानुयोग के भाव प्रदर्शित करने वाला वाक्य। इस तरह से हम चारों अनुयोगों की भाषा समझ सकते हैं।

वर्तमान भौतिक युग के किसी जिज्ञासु ने एक मनीषी से पूछा कि वर्तमान समय में सरकार नये-नये कानून बनाती है और सरकार भी भिन्न-भिन्न प्रकार से बदलती रहती है, ऐसी स्थिति में आपका यह निवृत्तिप्रधान धर्म कैसे चलेगा? तब उन्होंने पूर्वाचार्यों के वाक्यों को आगे रख दिया—

सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधि ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्नो, यत्र नो व्रतदूषणम्॥

सभी जैनियों को वह लौकिक विधि प्रमाण है जहाँ सम्यक्त्व की हानि नहीं होती और न जहाँ व्रतो में दूषण लगता है। उन्होंने कहा सारी दुनियाँ बदल जाये पहनावे से, गति से, भौतिकता से परन्तु इसमे धर्म का कुछ भी बिगाड नहीं होने वाला। क्योंकि यदि हमें भक्ष्याभक्ष्य के खान-पान का विवेक है, अपनी जाति-कुल की मर्यादाओं का ख्याल है तो आप अपने परिणामों को मलिन मत होने दो। यदि हम धर्म की श्रद्धा से भ्रष्ट हो गये, खान-पान से भ्रष्ट हो गये तो हमारे अन्दर बसा धर्म भी डूब गया। एक दार्शनिक ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि भारत में उद्‌भूत बौद्ध धर्म भारत से क्यों उठ गया और जैन धर्म अभी क्यों जीवित है? इसका कारण उसने अपने ही शब्दों में लिखा है कि बौद्ध धर्म ने सामाजिक, धार्मिक एवं खान-पान के सिद्धान्तों पर दूसरो से समझौता कर लिया था इसीलिए वह धर्म यहाँ से विदा हो गया। परन्तु जैन धर्म ने कभी भी सामाजिक, राजनीतिक या खानपान या अन्य किसी धार्मिक

सिद्धान्त के साथ किसी से समझौता नहीं किया इसीलिए यह जीवित है और आगे भी जीवित रहेगा। रहेगा भी क्यों नहीं? जैन तीर्थंकरों की परम्परा में चलने वाले एवं श्री कुन्दकुन्द आचार्य, समन्तभद्राचार्य, अकलक देव, वीरसेन, जिनसेन, जयसेन आदि अनेक आचार्यों की परम्परा में होने वाले चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज के तृतीय पट्टाधीश आचार्य शिरोमणि श्री धर्मसागर जी महाराज ने दिल्ली में होने वाले भगवान महावीर के२५०० वें निर्वाण महोत्सव पर निर्भीक होकर डके की चोट कहा था—"जैनों के मूल सिद्धान्त के साथ कभी समझौता नहीं होगा" ऐसे ही निर्भीक आचार्य इस परम्परा में होते रहे तो धर्म का मूल सुरक्षित बना रहेगा। और यही इतिहास बनकर हमें हमारी अगली पीढियों को मार्ग दर्शन देते रहेंगे कि किस प्रकार हमारे आचार्यों ने धर्म के मूल को सुरक्षित रखा है सामाजिक, राजनीतिक, भौतिक परिवर्तनों के बीच से गुजरते हुए। अभी और न जाने कितने परिवर्तन होने बाकी हैं जिनसे संघर्षों के लिए तैयार रहना होगा। और इन सब सघर्षों को दर्शाने वाला ही तो प्रथमानुयोग है, सघर्षों का नवनीत—प्रथमानुयोग।
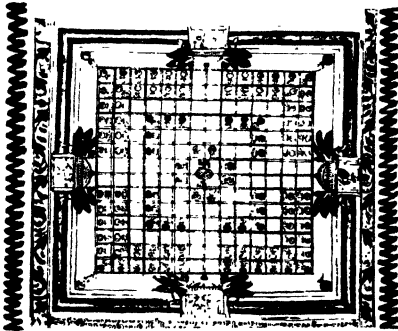
तत्त्वनि

❑ स्व. प्रो. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, वाराणसी

विश्वव्यवस्था का निरूपण और तत्त्वनिरूपण के जुदा जुदा प्रयोजन हैं। विश्वव्यवस्था का ज्ञान न होने पर भी तत्त्वज्ञान से मुक्तिसाधनापथ में पहुँचा जा सकता है। तत्त्वज्ञान न होने पर विश्वव्यवस्था का समग्र ज्ञान निरर्थक और अनर्थक हो सकता है। मुमुक्षु के लिए अवश्य ज्ञातव्य पदार्थ तत्त्वश्रेणी में लिये जाते हैं। साधारणतया भारतीय परम्परा हेय-उपादेय और उनके कारणभूत पदार्थ इस चतुर्व्यू हका ज्ञान आवश्यक मानती रही है। आयुर्वेदशास्त्र रोग, रोगनिदान, रोगनिवृत्ति और चिकित्सा इन चार भागों में विभक्त है। रोगी के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि वह अपने रोग को समझे। जब तक उसे अपने रोग का भान नहीं होता तब तक वह चिकित्सा के लिए प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। रोग का ज्ञान होने के बाद रोगी को यह विश्वास भी आवश्यक है कि उसका यह रोग छूट सकता है। रोग की साध्यता का ज्ञान ही उसे चिकित्सा में प्रवर्तन कराता है। रोगी को यह जानना भी आवश्यक है कि यह रोग अमुक कारणों से उत्पन्न हुआ है जिससे वह भविष्य में उन अपथ्य आहार-विहारों से बचा रहकर अपने को नीरोग रख सके। जब वह भविष्य में रोग के कारणों से दूर रहता है तथा मौजूदा रोग का औषधोपचार से समूल उच्छेद कर देता है तभी वह अपने स्वरूपभूत स्थिर-आरोग्य को पा सकता है। अत जैसे रोगमुक्ति के लिए रोग, रोगनिदान, आरोग्य और चिकित्सा इस चतुर्व्यूह का ज्ञान अत्यावश्यक है उसी तरह भवरोग की निवृत्ति के लिए ससार के कारण मोक्ष और उसके कारण इन चार मूलतत्त्वों का यथार्थज्ञान नितान्त अपेक्षणीय है। बुद्ध ने कर्तव्यमार्ग के लिए चिकित्साशास्त्र की तरह चार आर्यसत्यों का उपदेश दिया। वे कभी भी, आत्मा क्या है? परलोक क्या है? आदि के दार्शनिक विवाद में न तो स्वय गये और न शिष्यों को ही जाने दिया। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक बहुत उपयुक्त उदाहरण दिया है कि जैसे किसी व्यक्ति को विष से बुझा तीर लगा हो और बन्धुजन जब उसके तीर को निकालने के लिए विषवैद्य को बुलाते हों, उस समय रोगी की यह मीमासा कि 'यह तीर किस लोहे से बना है? किसने बनाया है? कब बनाया आदि निरर्थक है, तथैव मुमुक्षु के लिए आत्मा आदि का चिन्तन व्यर्थ बताकर चार आर्यसत्यों का उपदेश दिया—दु ख, दु खसमुदाय, दु खनिरोध, और दु खनिरोधमार्ग।

दु खसत्य की व्याख्या बुद्ध ने इस प्रकार की है—जन्म भी दु ख है, जरा भी दु ख है, मरण भी दु ख है, शोक, परिवेदन, मन की विकलता भी दु ख है, इष्ट वियोग, अनिष्टसंयोग, इष्टाप्राप्ति सभी दु ख हैं। सक्षेप में पाँचो उपादान स्कन्ध ही दु खरूप हैं।

दु खसमुदाय—काम की तृष्णा,भव की तृष्णा और विभव की तृष्णा दु ख का कारण हैं। जितने इंद्रियों के प्रिय विषय हैं, प्रिय रूपादि हैं वे सदा बने रहें, उनका वियोग न हो इस तरह उनके संयोग के लिए चित्त की अभिनन्दिनी वृत्ति को तृष्णा कहते हैं और यही तृष्णा समस्त दु खों का कारण है।

दु खनिरोध— इस तृष्णा के अत्यत निरोध या विनाश को निरोध आर्यसत्य कहते हैं।

दु खनिरोध मार्ग है अष्टागिकमार्ग—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक्वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। नैरात्म्यभावना मुख्य रूप से मार्ग है। बुद्ध ने आत्मदृष्टि या सत्त्वदृष्टि को मिथ्यादर्शन कहा है। उनका कहना है एक आत्मा को शाश्वत या स्थायी समझकर ही व्यक्ति उसे स्व और अन्य को पर समझता है। स्व-पर विभाग से परिग्रह और द्वेप होते हैं और ये रागद्वेप ही समस्त ससार परम्परा के मूलस्रोत हैं। अत इस सर्वानर्थमूलिका आत्मदृष्टि को नाशकर नैरात्म्यभावना से दु खनिरोध होता है।

बुद्ध का दृष्टिकोण— उपनिषद् का तत्त्वज्ञान जहाँ आत्मदर्शन पर जोर देता था और आत्मदर्शन को ही तत्त्वज्ञान और मोक्ष का परमसाधन मानता था और मुमुक्षु के लिए आत्मज्ञान को ही जीवन का सर्वोच्च साध्य समझता था वहाँ बुद्ध ने इस आत्मदर्शन को ही सर्वानर्थमूल माना। आत्मदृष्टि या सत्त्वदृष्टि को ही बुद्ध ने मिथ्यादृष्टि कहा और नैरात्म्यदर्शन को दु खनिरोध का प्रधान हेतु बताया। यह औपनिषद तत्त्वज्ञान की ओट में जो याज्ञिक क्रियाकाण्ड को प्रश्रय दिया जा रहा था उसी की प्रतिक्रिया थी जो बुद्ध को 'आत्म' शब्द से ही चिढ हो गयी थी। स्थिरात्मवाद को उन्होंने राग और द्वेप का कारण समझा, जब कि औपनिषदवादी आत्मदर्शन को विराग का कारण मानते थे। बुद्ध और औपनिषदवादी दोनों ही राग-द्वेप और मोह का अभावकर वीतरागता और वासनानिर्मुक्ति को ही अपना लक्ष्य मानते थे पर साधन दोनों के जुदा थे और यह कि एक जिसे मोक्ष का कारण मानता था दूसरा उसे ससार का मूल कारण। इसका एक कारण और भी था और वह था बुद्ध का दार्शनिक मानस न होना। बुद्ध ऐसे गोलमोल शब्दों को बिलकुल हटा देना चाहते थे जिनका निर्णय न हो सके या जिनकी ओट में भ्रान्त धारणाओं की सृष्टि होती हो। 'आत्मा' उन्हे ऐसा ही मालूम हुआ। पर वेदवादियों का तो यही मूल आधार था। बुद्ध की नैरात्म्यभावना का उद्देश्य बोधिचर्यावतार में इस प्रकार बताया है-

> "यतस्ततो वाऽस्तु भय यच्चह नाम किञ्चन।
> अहमेव यदा न स्या कुतो भीतिर्भविष्यति॥"

अर्थात्—यदि 'मैं' नाम का कोई पदार्थ होता तो उसे इससे या उससे भय हो सकता था पर जब 'मैं' ही नहीं है तब भय किसे होगा?

बुद्ध जिस प्रकार भौतिकवादरूपी एक अन्त को खतरा समझते थे तो इस शाश्वत आत्मवाद रूपी दूसरे अन्त को भी उसी तरह खतरा मानते थे और इसलिए उन्होंने इस आत्मवाद को

अव्याकृत अर्थात् अनेकाशिक प्रश्न कहा तथा भिक्षुओं को स्पष्ट रूप से कह दिया कि इस आत्मवाद के विषय में कुछ भी कहना या सुनना न बोधि के लिए, न ब्रह्मचर्य के लिए और न निर्वाण के लिए ही उपयोगी है।

निग्गठनाथपुत्त महावीर भी वैदिक क्रियाकाण्ड को उतना ही निरर्थक और श्रेयप्रतिरोधी मानते थे जितना कि बुद्ध, और आचार अर्थात् चारित्र को ही वे मोक्ष का अन्तिम साधन मानते थे। पर उन्होंने यह साक्षात् अनुभव किया कि जब तक विश्वव्यवस्था और खासकर उस आत्मा के संबध में शिष्य निश्चित विचार नहीं बना लेता है कि जिस आत्मा को दुःख होता है और जिसे दुःख की निवृत्ति करके निर्वाण पाना है तबतक वह मानव विचिकित्सा से मुक्त होकर साधना कर ही नहीं सकता। जब बाह्यजगत के प्रत्येक झोंके में यह आवाज गूंज रही हो कि "आत्मा देहरूप है या देह से भिन्न? परलोक क्या है? निर्वाण क्या है?" और अन्यतीर्थिक अपना मत प्रचारित कर रहे हों, इसी को लेकर वाद रोपे जाते हों उस समय शिष्यों को यह कहकर तत्काल चुप तो किया जा सकता है कि 'क्या रखा है विवाद से कि आत्मा क्या है, हमें तो दुःख निवृत्ति के लिए प्रयास करना चाहिए' परन्तु उनकी मानमशल्य और बुद्धिविचिकित्सा नहीं निकल सकती और वे इस बौद्धिकहीनता और विचारदीनता के हीनतर भावों से अपने चित्त की रक्षा नहीं कर सकते। सघ में इन्हीं अन्यतीर्थिकों के शिष्य और खासकर वैदिक ब्राह्मण भी दीक्षित होते थे। जब ये सब पचमेल व्यक्ति जो मूल आत्मा के विषय में विभिन्न मत रखते हों और चर्चा भी करते हों, तो मानस अहिंसक कैसे रह सकते हैं? जब तक उनका समाधान वस्तुस्थितिमूलक न हो जाय तब तक वे कैसे परस्पर समता और अहिंसा का वातावरण बना सकते होंगे?

महावीर ने तत्त्व का साक्षात्कार किया और उन्होंने धर्म की परिभाषा बतायी वस्तु का स्वरूपस्थित होना—"वस्तुस्वभावो धम्मो" अर्थात् जिस वस्तु का जो स्वरूप है उसका उस पूर्ण स्वरूप में स्थिर होना ही धर्म है। अग्नि यदि अपनी उष्णता को लिये हुए है तो वह धर्मस्थित है। यदि वह वायु के झोंकों से स्पन्दित हो रही है तो कहना होगा कि वह चचल है। अत अपने निश्चलस्वरूप से च्युत होने के कारण उतने अश में धर्मस्थित नहीं है। जल जब तक अपने स्वाभाविक शीतस्पर्श में है तब तक वह धर्मस्थित है। यदि वह अग्नि के ससर्ग से स्वरूपच्युत हो जाता है तो वह अधर्मरूप हो जाता है और इस परसयोगजन्य विभावपरिणति को हटा देना ही जल की मुक्ति है उसकी धर्मप्राप्ति है। रोगी को यदि अपने आरोग्यस्वरूप का भान न कराया जाय तो वह रोग को विकार क्यों मानेगा और क्यों उसकी निवृत्ति के लिए चिकित्सा में प्रवृत्ति करेगा? जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि मेरा तो स्वरूप आरोग्य है। इस अपथ्य आदि से मेरा स्वाभाविक आरोग्य विकृत हो गया है, तभी वह उस आरोग्य प्राप्ति के लिए चिकित्सा कराता है। भारत की राष्ट्रीय काग्रेस ने प्रत्येक भारतवासी को जब यह स्वरूपबोध कराया कि "तुम्हें भी अपने देश में स्वतत्र रहने का अधिकार है, परदेशियों ने तुम्हारी स्वतंत्रता

विकृत कर दी है, तुम्हारा इस प्रकार शोपण करके पददलित कर रहे हैं। भारत की सन्तानो, उठो, स्वातंत्र्यस्वरूप का भान करो" तभी भारत ने अगडाई ली और परतत्रता का बंधन तोड़ स्वातंत्र्य प्राप्त किया।स्वातंत्र्यस्वरूप का भान किये बिना, उसके सुखदरूप की झांकी पाये बिना, केवल परतंत्रता तोडने के लिए वह उत्साह और सन्नद्धता नहीं आ सकती थी।अत उस आधारभूत आत्मा के मूलस्वरूप का ज्ञान प्रत्येक मुमुक्षु को सर्वप्रथम होना ही चाहिए जिसे बन्धनमुक्त होना है।

भगवान महावीर ने मुमुक्षु के लिए दु ख अर्थात् बन्ध, दु ख कारण अर्थात् मिथ्यात्व आदि आस्रव, मोक्ष अर्थात् दु खनिवृत्तिपूर्वक स्वरूपप्राप्ति और मोक्ष के कारण सवर अर्थात् नूतन बन्ध के कारणों का अभाव और निर्जरा अर्थात् पूर्वसचित दु खकारणों का क्रमश विनाश, इस तरह बुद्ध के चतुरार्य सत्य की तरह बन्ध, मोक्ष, आस्रव, सवर और निर्जरा इन पांच तत्त्वों के ज्ञान के साथ ही साथ जिस जीव को यह बन्ध मोक्ष होता है उस जीव का ज्ञान भी आवश्यक बताया। शुद्ध जीव को बन्ध नहीं हो सकता। बन्ध दो में होता है। अत जिस कर्मपुद्गल से यह जीव बँधता है उस अजीव तत्त्व को भी जानना चाहिए जिससे उसमें रागद्वेप आदि की धारा आगे न चले। अत मुमुक्षु के लिए जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है।

जीव—स्वतत्र द्रव्य है। अनन्त है। अमूर्त है। चैतन्यशक्तिवाला है। ज्ञानादि पर्यायों का कर्ता है। कर्मफल का भोक्ता है। स्वयप्रभु है। अपने शरीर के आकारवाला है। मुक्त होते ही ऊर्ध्वगमन कर लोकान्त में पहुँच जाता है।

भारतीय दर्शनों में प्रत्येक ने कोई न कोई पदार्थ अनादि माने हैं। परम नास्तिक चार्वाक भी पृथ्वी आदि महाभूतों को अनादि मानता है। ऐसे किसी क्षण की कल्पना नहीं आती जिसके पहले क्षण न रहा हो। समय कब से प्रारभ हुआ इसका निर्देश असभव है। इसी तरह समय कब तक रहेगा यह उत्तरावधि बताना भी असभव है। जिस प्रकार काल अनादि, अनन्त है,उसकी पूर्वावधि और उत्तरावधि निश्चित नहीं की जा सकती, उसी तरह आकाश की कोई क्षेत्रकृत मर्यादा नहीं बतायी जा सकती। 'सर्वतो ह्यनन्त तत्' सभी ओर से वह अनन्त है। आकाश और काल की तरह हम प्रत्येक सत् के विषय में कह सकते हैं कि उसका न किसी खास क्षण में नूतन उत्पाद हुआ है और न किसी समय उसका समूल विनाश ही होगा। "नाऽसतो विद्यते भाव नाभावो विद्यते सत" अर्थात् किसी असत् का सत् रूप उत्पाद नहीं होता और न किसी सत् का समूल विनाश ही हो सकता है। जितने गिने हुए सत् हैं उनकी संख्या में वृद्धि नहीं हो सकती और न उनकी संख्या में से किसी एक की भी हानि ही हो सकती है। रूपान्तर प्रत्येक का होता रहता है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा एक स्वतत्र सत् है तथा पुद्गल परमाणु स्वतत्र सत्। अनादि से यह आत्मा पुद्गल से सम्बद्ध ही मिलता आया है।

अनादिबद्ध मानने का कारण—आज आत्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म कर्मशरीर से बद्ध मिलता है। आज इसका ज्ञान और सुख यहाँ तक कि जीवन भी शरीराधीन है। शरीर में विकार होने से ज्ञानतन्तुओं में क्षीणता आते ही स्मृतिभ्रंश आदि देखे ही जाते हैं। अत आज संसारी शरीरबद्ध होकर ही अपनी गतिविधि करता है। यदि आत्मा शुद्ध होता तो शरीरसम्बन्ध का कोई हेतु ही नहीं था। शरीरसम्बन्ध या पुनर्जन्म के कारण हैं—राग, द्वेष, मोह और कषायादि भाव। शुद्ध आत्मा में ये विभावभाव हो ही नहीं सकते। चूँकि आज ये विभाव और उनका फल शरीरसम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है अत मानना होगा कि आज तक इनकी अशुद्ध परपरा चली आयी है।

भारतीय दर्शनों में यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर विधिमुख से नहीं दिया जा सकता। ब्रह्म में अविद्या कब उत्पन्न हुई? प्रकृति और पुरुष का सयोग कब हुआ? आत्मा से शरीर का सम्बन्ध कब हुआ? इसका एक मात्र उत्तर है—अनादि से। दूसरा प्रकार है कि—यदि ये शुद्ध होते तो इनका सयोग हो ही नहीं सकता था। शुद्ध होने के बाद कोई ऐसा हेतु नहीं रह जाता जो प्रकृतिससर्ग या अविद्योत्पत्ति होने दे। उसी तरह आत्मा यदि शुद्ध हो जाता है तो कोई कारण उसके अशुद्ध होने का या पुद्गलसयोग का नहीं रह जाता। जब दो स्वतंत्र सत्ताक द्रव्य हैं तब उनका सयोग, चाहे जितना भी पुराना क्यों न हो, नष्ट किया जा सकता है और दोनों को पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—खानि से सर्वप्रथम निकाले गये सोने में कीट असख्यकाल से लगी होगी पर प्रयोग से चूकि वह पृथक् की जाती है, अत यह निश्चय किया जाता है कि सुवर्ण अपने शुद्धरूप में इस प्रकार है तथा कीट इस प्रकार। सारांश यह कि जीव और पुद्गल का बन्ध अनादि है। चूकि वह दो द्रव्यों का बन्ध है अत स्वरूपबोध हो जाने पर वह पृथक् किया जा सकता है।

आज जीव का ज्ञान-दर्शन-सुख, राग-द्वेष आदि सभी भाव बहुत कुछ इस जीवन पर्याय के अधीन हैं। एक मनुष्य जीवन भर अपने ज्ञान का उपयोग विज्ञान या धर्म के अध्ययन में लगाता है। जवानी में उसके मस्तिष्क में भौतिक उपादान अच्छे थे, प्रचुर मात्रा में थे, तो वे ज्ञानतन्तु चैतन्य को जगाये रखते थे। बुढापा आने पर उसका मस्तिष्क शिथिल पड जाता है। विचारशक्ति लुप्त होने लगती है। स्मरण नहीं रहता। वही व्यक्ति अपनी जवानी में लिखे गये लेख को बुढापे में पढता है तो उसे स्वय आश्चर्य होता है। वह विश्वास नहीं करता कि यह उसी ने लिखा होगा। मस्तिष्क की यदि कोई भौतिक ग्रन्थि बिगड जाती है तो मनुष्य पागल हो जाता है। दिमाग का यदि कोई पेंच कस गया या ढीला हो गया तो उन्माद, सन्देह आदि अनेक प्रकार की धाराएँ जीवन को ही बदल देती है। मुझे एक ऐसे योगी का प्रत्यक्ष अनुभव है जिसे शरीर की नसों का विशिष्ट ज्ञान था। वह मस्तिष्क की एक किसी खास नस को दबाता था तो मनुष्य को हिंसा और क्रोध के भाव उत्पन्न हो जाते थे। दूसरे ही क्षण दूसरी नस के दबाते ही अत्यन्त दया और करुणा के भाव होते थे और वह रोने लगता था।

एक तीसरी नस के दबाते ही लोभ का तीव्र उदय होता था और यह ईच्छा होती थी कि चोरी कर ले। अन्य नस के दबाते ही परमात्मभक्ति की ओर मन की गति होने लगती थी। इन सब घटनाओं से एक इस निश्चित परिणाम पर तो पहुँच ही सकते हैं कि हमारी सारी शक्तियाँ जिनमें ज्ञान-दर्शन-सुख, राग-द्वेष, कषाय आदि हैं, इस शरीरपर्याय के अधीन हैं। शरीर के नष्ट होते ही जीवन भर में उपासित ज्ञान आदि पर्यायशक्तियाँ बहुत कुछ नष्ट हो जाती हैं। परलोक तक इनके कुछ सूक्ष्म सस्कार जाते हैं।

आज इस अशुद्ध आत्मा की दशा अर्धभौतिक जैसी हो रही है। इन्द्रियाँ यदि न हों तो ज्ञान की शक्ति बनी रहने पर भी ज्ञान नहीं हो सकता। आत्मा में सुनने की और देखने की शक्ति मौजूद है पर यदि ऑखें फूट जाएँ और कान फट जाएं तो वह शक्ति रखी रह जाएगी और देखना, सुनना नहीं हो सकेगा। विचारशक्ति विद्यमान है पर मन यदि ठीक नहीं है तो विचार नहीं किये जा सकते। पक्षाघात यदि हो जाय तो शरीर देखने में वैसा ही मालूम होता है पर सब शून्य। निष्कर्ष यह कि अशुद्ध आत्मा की दशा और इसका सारा विकास पुद्गल के अधीन हो रहा है। जीवननिमित्त खान-पान, श्वासोच्छ्वास आदि सभी साधन भौतिक ही अपेक्षित होते हैं। इस समय यह जीव जो भी विचार करता है, देखता है, जानता है या क्रिया करता है उसका एक जाति का सस्कार आत्मा पर पडता है और उस सस्कार की प्रतीक एक भौतिक रेखा मस्तिष्क में खिच जाती है। दूसरे, तीसरे, चौथे जो भी विचार या क्रियाएँ होती हैं उन सब के सस्कारों को यह आत्मा धारण करता है और उनकी प्रतीक टेढी-सीधी, गहरी-उथली, छोटी-बडी नाना प्रकार की रेखाएं मस्तिष्क में भरे हुए मक्खन जैसे भौतिक पदार्थ पर खिंचती चली जाती हैं। जो रेखा जितनी गहरी होगी वह उतने ही अधिक दिनों तक उस विचार या क्रिया की स्मृति करा देती है। तात्पर्य यह कि जीव की ज्ञानशक्ति और सुख आदि सभी पर्यायशक्तियाँ हैं जो इस शरीर-पर्याय तक ही रहती हैं।

व्यवहारनय से जीव को मूर्तिक मानने का अर्थ यही है कि अनादि से यह जीव शरीरसम्बद्ध ही मिलता आया है। स्थूल शरीर छोडने पर भी सूक्ष्म कर्मशरीर सदा इसके साथ रहता है। इसी सूक्ष्म कर्मशरीर के नाश को ही मुक्ति कहते हैं। जीव और पुद्गल दो द्रव्य ही ऐसे हैं जिनमें क्रिया होती है तथा विभाव या अशुद्ध परिणमन होता है। पुद्गल का अशुद्ध परिणमन पुद्गल और जीव दोनों के निमित्त से होता है जब कि जीव का अशुद्ध परिणमन यदि होगा तो पुद्गल के ही निमित्त से। शुद्ध जीव में अशुद्ध परिणमन न तो जीव के निमित्त से हो सकता है और न पुद्गल के निमित्त से। अशुद्ध जीव के अशुद्ध परिणमन की धारा में पुद्गल या पुद्गलसम्बद्ध जीव निमित्त होता है। जैन सिद्धान्त ने जीव को देहप्रमाण माना है। यह अनुभव सिद्ध भी है। शरीर के बाहर उस आत्मा के अस्तित्व मानने का कोई खास प्रयोजन नहीं रह जाता और न यह तर्कगम्य ही है। जीव के ज्ञानदर्शन आदि गुण उसके शरीर में ही उपलब्ध होते हैं, शरीर के बाहर नहीं। छोटे बडे शरीर के अनुसार असंख्यातप्रदेशी आत्मा सकोच-विकोच करता

रहता है। चार्वाक का देहात्मवाद तो देह को ही आत्मा मानता है तथा देह की परिस्थिति के साथ आत्मा का भी विनाश आदि स्वीकार करता है। जैन का देहपरिमाण-आत्मवाद पुद्गल देह से आत्मद्रव्य की अपनी स्वतत्र सत्ता स्वीकार करता है। न तो देह की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति होती है और न देह के विनाश से आत्मविनाश। जब कर्म शरीर की श्रृंखला से यह आत्मा मुक्त हो जाता है तब अपनी शुद्ध चैतन्य दशा में अनन्तकाल तक स्थिर रहता है। प्रत्येक द्रव्य में एक अगुरुलघु गुण होता है जिसके कारण उसमें प्रतिक्षण परिणमन होते रहने पर भी न तो उसमें गुरुत्व ही आता है और न लघुत्व ही। द्रव्य अपने स्वरूप में सदा परिवर्तन करते रहने पर भी अपनी अखण्ड मौलिकता को भी नहीं खोता।

आज का विज्ञान भी हमें बताता है कि जीव जो भी विचार करता है उसकी टेढी-सीधी, उथली-गहरी रेखाएँ मस्तिष्क में भरे हुए मक्खन जैसे श्वेत पदार्थ में खिचती जाती हैं और उन्हीं के अनुसार स्मृति तथा वासनाएँ उद्बुद्ध होती है। जैन कर्मसिद्धान्त भी यही है कि— रागद्वेष प्रवृत्ति के कारण केवल संस्कार ही आत्मा पर नहीं पडता किन्तु उस सस्कार को यथासमय उद्बुद्ध कराने वाले कर्मद्रव्य का सम्बन्ध भी होता जाता है। यह कर्मद्रव्य पुद्गल द्रव्य ही है। मन-वचन-काय की प्रत्येक क्रिया के अनुसार शुक्ल या कृष्ण कर्मपुद्गल आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। ये विशेष प्रकार के कर्मपुद्गल बहुत कुछ तो स्थूल शरीर के भीतर ही पडे रहते हैं जो मनोभावों के अनुसार आत्मा के सूक्ष्म कर्मशरीर में शामिल होते जाते हैं, कुछ बाहर से भी आते हैं। जैसे तपे हुए लोहे के गोले को पानी से भरे हुए बर्तन में छोडिये तो वह गोला जल के भरे हुए बहुत से परमाणुओं को जिस तरह अपने भीतर सोख लेता है उसी तरह अपनी गर्मी और भाप से बाहर के परमाणुओं को भी खींचता है। लोहे का गोला जब तक गर्म रहता है पानी में उथल-पुथल पैदा करता रहता है, कुछ परमाणुओं को लेगा, कुछ को निकालेगा, कुछ को भाप बनाएगा। एक अजीब-सी परिस्थिति समस्त वातावरण में उपस्थित कर देता है। उसी तरह जब यह आत्मा रागद्वेषादि से उत्तप्त होता है तब शरीर में एक अद्भुत हलचलन उपस्थित करता है। क्रोध आते ही आँखें लाल हो जाती हैं, खून की गति बढ जाती है, मुँह सूखने लगता है, नथुने फडकने लगते हैं। कामवासना का उदय होते ही सारे शरीर में एक विलक्षण प्रकार का मन्थन शुरू होता है। और जब तक वह कषाय या वासना शात नहीं हो लेती यह चहल-पहल-मन्थन आदि नहीं रुकता। आत्मा के परिणामों के अनुसार, पुद्गल द्रव्यों में परिणमन होता है और विचारों के उत्तेजक पुद्गल द्रव्य आत्मा के वासनामय सूक्ष्म कर्मशरीर में शामिल होते जाते हैं। जब-जब उन कर्मपुद्गलों पर दबाव पडता है तब-तब वे कर्मपुद्गल फिर उन्हीं रागादि भावों को आत्मा में उत्पन्न कर देते हैं। इसी तरह रागादि भावों से नये कर्मपुद्गल कर्मशरीर में शामिल होते हैं तथा उन कर्मपुद्गलों के परिपाक के अनुसार नूतन रागादि भावों की सृष्टि होती है। फिर नये कर्मपुद्गल बंधते हैं फिर उनके परिपाक के समय रागादिभाव होते हैं। इस तरह रागादिभाव और कर्म पुद्गलबन्ध का चक्र बराबर

चलता रहता है जब तक कि चारित्र के द्वारा रागादि भावों को रोक नहीं दिया जाता। इस बन्ध-परम्परा का वर्णन आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इस प्रकार किया है—

"जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ॥१२॥

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै स्वयमपि स्वकैर्भावै।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥"

अर्थात् जीव के द्वारा किये गये राग-द्वेप-मोह आदि परिणामों को निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्वत ही कर्मरूप में परिणत हो जाते हैं। आत्मा अपने चिदात्मक भावों से स्वयं परिणत होता है, पुद्गल कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। जीव और पुद्गल एक-दूसरे के परिणमन में परस्पर निमित्त होते हैं।

सारांश यह कि जीव की वासनाओं-राग-द्वेप-मोह आदि की और पुद्गल कर्मबन्ध की धारा बीजवृक्षसन्तति की तरह अनादि से चालू है। पूर्वबद्ध कर्म के उदय से इस समय राग-द्वेष आदि उत्पन्न हुए हैं, इनमें जो जीव की आसक्ति और लगन होती है वह नूतन कर्मबन्धन करती है। उस बद्धकर्म के परिपाक के समय फिर राग-द्वेप होते हैं, फिर उनमें आसक्ति और मोह होने से नया कर्म बँधता है। यहाँ इस शका को कोई स्थान नहीं है कि—'जब पूर्वकर्म से रागद्वेपादि तथा रागद्वेपादि से नूतन कर्मबन्ध होता है तब इस चक्र का उच्छेद ही नहीं हो सकता, क्योंकि हर एक कर्म रागद्वेप आदि उत्पन्न करेगा और हर एक राग-द्वेप कर्मबन्धन करेंगे।' कारण यह है कि पूर्वकर्म के उदय से होने वाले कर्मफलभूत रागद्वेप वासना आदि का भोगना कर्मबन्धक नहीं होता किन्तु भोगकाल में जो नूतन राग-द्वेपरूप अध्यवसान भाव होते हैं, वे बन्धक होते हैं। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि का कर्मभोग निर्जरा का कारण होता है और मिथ्यादृष्टि का बन्ध का कारण। सम्यग्दृष्टि जीव कर्म के उदयकाल में होने वाले राग-द्वेप आदि को विवेकपूर्वक शान्त तो करता है, पर उनमें नूतन अध्यवसाय नहीं करता, अत पुराने कर्म तो अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जाते हैं और नूतन आसक्ति न होने के कारण नवीन बन्ध होता नहीं। अत सम्यग्दृष्टि तो दोनों तरफ से हलका हो चलता है जब कि मिथ्यादृष्टि कर्मफल के समय होने वाले राग-द्वेप वासना आदि के समय उनमें की गयी नित नई आसक्ति और लगन के परिणामस्वरूप नूतन कर्मों को और भी दृढता से बाँधता है और इस तरह मिथ्यादृष्टि का कर्मचक्र और भी तेजी से चालू रहता है। जिस प्रकार हमारे भौतिक मस्तिष्क पर अनुभव की असख्य सीधी-टेढी, गहरी-उथली रेखाएँ पडती रहती हैं, एक प्रबल रेखा आयी तो उसने पहले की निर्बल रेखा को साफ कर दिया और अपना गहरा प्रभाव कायम कर दिया, दूसरी रेखा पहले की रेखा को या तो गहरा कर देती है या साफ कर देती है और इस तरह अन्त में कुछ ही अनुभव रेखाएँ अपना अस्तित्व कायम रखती हैं, उसी तरह आज कुछ राग-द्वेपादि जन्य सस्कार उत्पन्न हुए,

कर्मबन्धन हुआ, पर दूसरे ही क्षण शीलव्रत, संयम और श्रुत आदि की पूत भावनाओं का निमित्त मिला तो पुराने संस्कार धुल जाएगे या क्षीण हो जाएगे, यदि दोबारा और भी तीव्र रागादि भाव हुए तो प्रथमबद्ध कर्म पुद्गल में और भी तीव्र फलदात्री अनुभागशक्ति पड जायेगी। इस तरह जीवन के अन्त में कर्मों का बन्ध, निर्जरा, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि होते-होते जो रोकड बाकी रहती है वही सूक्ष्म कर्मशरीर के रूप में परलोक तक जाती है। जैसे तेज अग्नि पर उबलती हुई बटलोई में दाल चावल शाक जो भी डालिए उसका ऊपर-नीचे जाकर उफान लेकर नीचे बैठकर अन्त में एक पाक बन जाता है, उसी तरह प्रतिक्षण बँधनेवाले अच्छे या बुरे कर्मों में शुभभावों से शुभकर्मों में रसप्रकर्ष और स्थितिवृद्धि होकर अशुभकर्मों में रसापकर्ष और स्थितिहानि होकर अनेक प्रकार के ऊँच-नीच परिवर्तन होते-होते अन्त में एक जाति का पाकयोग्य स्कन्ध रह जाता है, जिसके कर्मोदय से रागादि सुखदुखादि भाव उत्पन्न होते हैं। अथवा, जैसे उदर में जाकर आहार का मल-मूत्र स्वेद आदि रूप से कुछ भाग बाहर निकल जाता है, कुछ वहीं हजम होकर रक्तादि धातु रूप में परिणत होता है और आगे जाकर वीर्यादिरूप बन जाता है। बीच में चूरन चटनी आदि के योग से लघुपाक दीर्घपाक आदि अवस्थाऐं भी होती हैं पर अन्त में होने वाले परिपाक के अनुसार ही भोजन में सुपाकी-दुष्पाकी आदि व्यवहार होता है, उसी तरह कर्म का भी प्रतिसमय होने वाले शुभ-अशुभ विचारों के अनुसार तीव्र, मन्द, मध्यम, मृदु, मृदुतर आदि रूप से परिवर्तन बराबर होता रहता है। कुछ कर्म सस्कार ऐसे हैं जिनमें परिवर्तन नहीं होता और उनका फल भोगना ही पडता है, पर ऐसे कर्म बहुत कम हैं जिनमें किसी जाति का परिवर्तन न हो। अधिकाश कर्मों से अच्छे-बुरे विचारों के अनुसार उत्कर्षण (स्थिति और अनुभाग की वृद्धि), अपकर्षण (स्थिति और अनुभाग की हानि), सक्रमण (एक का दूसरे रूप में परिवर्तन), उदीरणा (नियत समय से पहले उदय में ले आना) आदि होते रहते हैं और अन्त में शेष कर्मबन्ध का एक नियत परिपाकक्रम बनता है। उसमें भी प्रतिसमय परिवर्तनादि होते हैं। तात्पर्य यह कि यह आत्मा अपने भले-बुरे विचारों और आचारों से स्वय बन्धन में पडता है और ऐसे सस्कारों को अपने में डाल लेता है जिनसे छुटकारा पाना सहज नहीं होता। जैन सिद्धान्त ने उन विचारों के प्रतिनिधिभूत कर्मद्रव्य का इस आत्मा से बन्ध माना है जिससे उस कर्मद्रव्य पर भार पडते ही या उसका उदय आते ही वे भाव आत्मा में उदित होते हैं।

जगत भौतिक है। वह पुद्गल और आत्मा दोनों से प्रभावित होता है। जब कर्म का एक भौतिक पिण्ड, जो विशिष्ट शक्ति का केन्द्र है, आत्मा से सम्बद्ध हो गया तब उसकी सूक्ष्म पर तीव्र शक्ति के अनुसार बाह्य पदार्थ भी प्रभावित होते हैं। बाह्य पदार्थों के समवधान के अनुसार कर्मों का यथासभव प्रदेशोदय या फलोदय रूप से परिपाक होता रहता है। उदयकाल में होने वाले तीव्र, मन्द, मध्यम, शुभ, अशुभ भावों के अनुसार आगे उदय में आने वाले कर्मों के रसदान में अन्तर पड जाता है। तात्पर्य यह कि बहुत कुछ कर्मों का फल देना या अन्य

रूप में देना या न देना हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर है।

इस तरह जैन दर्शन में यह आत्मा अनादि से अशुद्ध माना गया है और वह प्रयोग से शुद्ध हो सकता है। शुद्ध होने के बाद फिर कोई कारण अशुद्ध होने का नहीं रह जाता। आत्मा के प्रदेशों में संकोच-विस्तार भी कर्म के निमित्त मे ही होता है। अत कर्म-निमित्त के हट जाने पर आत्मा अपने अन्तिम आकार में रह जाता है और ऊर्ध्व लोक में लोकाग्रभाग में स्थिर हो अपने अनन्त चैतन्य में प्रतिष्ठित हो जाता है।

इस आत्मा का स्वरूप उपयोग है। आत्मा की चैतन्य शक्ति को उपयोग कहते हैं। यह चैतन्य शक्ति बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से यथासभव ज्ञानाकार और दर्शनाकार पर्याय को धारण करती है। जिस ममय वह चैतन्यशक्ति ज्ञेय को जानती है उस समय साकार होकर ज्ञान कहलाती है तथा जिस समय मात्र चैतन्याकार रहकर निराधार रहती है तब दर्शन कहलाती है। ज्ञान और दर्शन क्रम से होने वाली पर्यायें हैं। निरावरण दशा में चैतन्य अपने शुद्ध चैतन्य रूप में लीन रहता है। इस अनिर्वचनीय स्वरूपमात्र प्रतिष्ठित आत्म दशा को ही निर्वाण कहते हैं। निर्वाण अर्थात् वासनाओं का निर्वाण। स्वरूप से अमूर्तिक होकर भी यह आत्मा अनादि से कर्मबन्धन होने के कारण मूर्तिक हो रहा है और कर्मबन्धन हटते ही फिर अपनी शुद्ध अमूर्तिक दशा में पहुँच जाता है। यह आत्मा अपनी शुभ-अशुभ परिणतियों का कर्ता है और उनके फलों का भोक्ता है। उसमें स्वय परिणमन होता है। उपादान रूप से यही आत्मा राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, क्रोध आदि विकार परिणामों को धारण करता है और उसके फलों को भोगता है। ससार दशा में कर्म के अनुसार नानाविध योनियों में शरीरों को धारण करता है पर मुक्त होते ही स्वभावत ऊर्ध्वगमन करता है और लोकाग्रभाग में, मिद्ध लोक में, स्वरूपप्रतिष्ठित हो जाता है।

अत महावीर ने बन्ध, मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वों के सिवाय इस आत्मा का भी ज्ञान आवश्यक बताया जिमे शुद्ध होना है तथा जो अशुद्ध हो रहा है। आत्मा की अशुद्ध दशा स्वरूपप्रच्युतिरूप है और यह स्वस्वरूप को भूलकर परपदार्थों में ममकार और अहकार करने के कारण हुई है। अत इस अशुद्ध दशा का अन्त भी स्वरूपज्ञान से ही हो सकता है। जब इस आत्मा को यह तत्त्वज्ञान होता है कि—"मेरा स्वरूप तो अनन्त चैतन्यमय, वीतराग, निर्मोह, निष्कषाय, शान्त, निश्चल, अप्रमत्त ज्ञानरूप है। इस स्वरूप को भूलकर पर पदार्थों में ममकार तथा शरीर को अपना मानने के कारण राग, द्वेप, मोह, कपाय, प्रमाद, मिथ्यात्व आदि विकाररूप मेरा परिणमन हो गया है और इन कपायों की ज्वाला में मेरा रूप समल और चंचल हो रहा है। यदि पर-पदार्थों से ममकार और रागादिभावों मे अहकार हट जाय तथा आत्मविवेक हो जाय तो यह अशुद्ध दशा, ये वासनायें अपने आप क्षीण हो जाएगी।" तो यह विकारों को क्षीण करता हुआ निर्विकार चैतन्यरूप होता जाता है। इसी शुद्धिकरण को मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष जब तक शुद्ध आत्मस्वरूप का बोध न हो तब तक कैसे हो सकता है?

बुद्ध के तत्त्वज्ञान का प्रारम्भ दुःख से होता है और उसकी समाप्ति दुःखनिवृत्ति में होती है। पर महावीर बन्ध और मोक्ष के आधारभूत आत्मा को ही मूलतः तत्त्वज्ञान का आधार बनाते हैं। बुद्ध को आत्मा शब्द से ही चिढ़ है। वे समझते हैं कि आत्मा अर्थात् उपनिषद्वादियों का नित्य आत्मा। नित्य आत्मा में स्नेह होने के कारण स्वबुद्धि और दूसरे पदार्थों में परबुद्धि होने लगती है। स्व-पर विभाग से रागद्वेष और रागद्वेष से यह संसार बन जाता है। अतः सर्वानर्थमूल यह आत्मदृष्टि है। पर वे इस ओर ध्यान नहीं देते कि 'आत्मा' की नित्यता या अनित्यता राग और विराग का कारण नहीं है। राग और विराग तो स्वरूपानवबोध और स्वरूपबोध से होते हैं। राग का कारण पर-पदार्थों में ममकार करना है। जब इस आत्मा को समझाया जायगा कि "मूर्ख, तेरा स्वरूप तो निर्विकार, अखण्ड चैतन्य है। तेरा इन स्त्री, पुत्र, शरीरादि में ममत्व करना स्वभाव नहीं।" तब यह सहज ही अपने निर्विकार सहज स्वभाव की ओर दृष्टि डालेगा और इसी विवेकदृष्टि या सम्यग्दर्शन से पर पदार्थों से रागद्वेष हटाकर स्वरूप में लीन होने लगेगा। इसी के कारण आस्रव रुकते हैं और चित्त निरास्रव होता है।

आत्मदृष्टि ही बन्धोच्छेदिका—विश्व का प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्यायों का स्वामी है। जिस तरह अनन्त चेतन अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं उसी तरह अनन्त पुद्गल परमाणु, एक धर्म द्रव्य (गति सहायक), एक अधर्म द्रव्य (स्थिति सहकारी), एक आकाशद्रव्य (क्षेत्र), असंख्य कालाणु अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिवर्तित होता है। परिवर्तन का अर्थ विलक्षण परिणमन ही नहीं होता। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल द्रव्य इनका विभाव परिणमन नहीं होता, ये सदा सदृश परिणमन ही करते हैं। प्रतिक्षण परिवर्तन होने पर भी एक जैसे बने रहते हैं। इनका शुद्ध परिणमन ही रहता है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले पुद्गल परमाणु प्रतिक्षण शुद्ध परिणमन भी करते हैं। इनका अशुद्ध परिणमन है स्कन्ध बनना। जिस समय ये शुद्ध परमाणु की दशा में रहते हैं उस समय इनका शुद्ध परिणमन होता है और जब ये दो या अधिक मिलकर स्कन्ध बन जाते हैं तब अशुद्ध परिणमन होता है। जीव जब तक संसार दशा में है और अनेकविध सूक्ष्म कर्मशरीर से बद्ध होने के कारण अनेक स्थूल शरीरों को धारण करता है तब तक इसका विभाव या विकारी परिणमन है। जब स्वरूप-बोध के द्वारा पर पदार्थों से मोह हटाकर स्वरूपमात्र-मग्न होता है तब स्थूल शरीर के साथ ही सूक्ष्म कर्मशरीर का भी उच्छेद होने पर निर्विकार शुद्ध चैतन्य मात्र रह जाता है और अनन्त काल तक अपनी शुद्ध चिन्मात्र दशा में बना रहता है। फिर इसका विभाव या अशुद्ध परिणमन नहीं होता क्योंकि विभाव परिणमन की उपादानभूत रागादि सन्तति उच्छिन्न हो चुकी होती है। इस प्रकार द्रव्य स्थिति है। जो पर्याय प्रथम क्षण में है वह दूसरे क्षण में नहीं रहती है। कोई भी पर्याय दो क्षण ठहरने वाली नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का उपादान है। दूसरा द्रव्य, चाहे वह सजातीय हो या विजातीय, निमित्त ही हो सकता है, उपादान नहीं। पुद्गल में अपनी योग्यता ऐसी है जो दूसरे परमाणु से सम्बन्ध करके स्वभावतः अशुद्ध बन जाता है पर आत्मा स्वभाव

से अशुद्ध नहीं बनता। एक बार शुद्ध होने पर वह कभी भी फिर अशुद्ध नहीं होगा।

इस तरह इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील अनन्तद्रव्यमय लोक में मैं एक आत्मा हूँ। मेरा किसी दूसरे आत्मा या पुद्गल आदि द्रव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं अपने चैतन्य का स्वामी हूँ, मात्र चैतन्यरूप हूँ। यह शरीर अनन्त पुद्गल परमाणुओं का एक पिण्ड है, इसका मैं स्वामी नहीं हूँ। यह सब पर-द्रव्य हैं। इनके लिए पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करना ही संसार है। मैं एक व्यक्ति हूँ। आज तक मैंने पर पदार्थों को अपने अनुकूल परिणमन कराने की अनधिकार चेष्टा की। मैंने यह भी अनधिकार चेष्टा की कि ससार के अधिक से अधिक पदार्थ मेरे अधीन हों, जैसा मैं चाहूँ वैसा परिणमन करें, उनकी वृत्ति मेरे अनुकूल हो। पर मूर्ख, तू तो एक व्यक्ति है। अपने परिणमन पर अर्थात् अपने विचारों पर और अपनी क्रिया पर ही अधिकार रख सकता है, पर पदार्थों पर तेरा वास्तविक अधिकार क्या है? यह अनधिकार चेष्टा ही राग-द्वेष को उत्पन्न करती है। तू चाहता है कि—शरीर प्रकृति स्त्री पुत्र परिजन आदि सब तेरे इशारे पर चलें, ससार के समस्त पदार्थ तेरे अधीन हों, तू त्रैलोक्य को इशारे पर नचाने वाला एकमात्र ईश्वर बन जाए। पर यह सब तेरी निरधिकार चेष्टाएँ हैं। तू जिस तरह संसार के अधिकतम पदार्थों को अपने अनुकूल परिणमन कराके अपने अधीन करना चाहता है उसी तरह तेरे जैसे अनन्त मूढ चेतन भी यही दुर्वासना लिये हैं और दूसरे द्रव्यों को अपने अधीन करना चाहते हैं। इसी छीनाझपटी में सघर्ष होता है, हिंसा होती है, राग-द्वेष होता है और अन्तत दुख। सुख और दुख की स्थूल परिभाषा यह है कि 'जो चाहे सो होवे' इसे कहते हैं सुख और 'चाहे कुछ और होवे कुछ, या जो चाहे सो न हो' यही है दुख। मनुष्य की चाह सदा यही रहती है कि मुझे सदा इष्ट का सयोग रहे, अनिष्ट का सयोग न हो, चाह के अनुसार समस्त भौतिक जगत् और चेतन परिणत होते रहे, शरीर चिर यौवन रहे, स्त्री स्थिरयौवना हो, मृत्यु न हो, अमरत्व प्राप्त हो, धन-धान्य हो, प्रकृति अनुकूल रहे, और न जाने कितनी प्रकार की 'चाह' इस शेखचिल्ली मानव को होती रहती है। उन सबका निचोड यह है कि जिन्हें हम चाहें उनका परिणमन हमारे इशारे पर हो, तब इस मूढ मानव को क्षणिक सुख का आभास हो सकता है, पर ऐसा हो नहीं पाता। बुद्ध ने जिस दुख को सर्वानुभूत बताया वह सब अभावकृत ही तो है। महावीर ने इस तृष्णा का कारण बताया—स्वरूप की मर्यादा का अज्ञान। यदि मनुष्य को यह पता हो कि जिनकी मैं चाह करता हूँ, जिनकी तृष्णा करता हूँ वे पदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं तो एक चिन्मात्र हूँ, तो उसे अनुचित तृष्णा ही उत्पन्न न होगी। कवि युगवीर ने बहुत सुन्दर लिखा है —

"जग के पदार्थ सारे वर्तें इच्छानुकूल जो तेरी।
तो तुझको सुख होवे, पर ऐसा हो नहीं सकता॥
क्योंकि परिणमन उनका शाश्वत उनके अधीन रहता है।
जो निज अधीन चाहे वह व्याकुल व्यर्थ होता है॥

इससे उपाय सुख का सच्चा स्वाधीन वृत्ति है अपनी।
रागद्वेषविहीना क्षण में सब दुख हरती जो॥"

सारांश यह कि दुख का कारण तृष्णा है और तृष्णा की उद्‌भूति स्वाधिकार एवं स्वस्वरूप के अज्ञान के कारण होती है, पर-पदार्थों को अपना मानने के कारण होती है। अत उसका उच्छेद भी स्वस्वरूप के यथार्थ ज्ञान से या स्वपरविवेक से ही हो सकता है। इस मानव ने अपने आत्मा के स्वरूप और उसके अधिकार की सीमा को न जानकर सदा मिथ्या आचरण किया और पर-पदार्थों के निमित्त से जगत में अनेक कल्पित ऊँच-नीच भावों की सृष्टि कर मिथ्या अहकार का पोषण किया। शरीराश्रित या जीविकाश्रित ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णों को लेकर ऊँच-नीच व्यवहार की भेदक भित्ति खडी कर मानव को मानव से इतना जुदा कर दिया कि एक उच्चाभिमानी मासपिड दूसरे की छाया से या दूसरे को छूने से अपने को अपवित्र मानने लगा। बाह्य परपदार्थों के सग्रही और परिग्रही को सम्राट् राजा आदि संज्ञाएँ देकर तृष्णा की पूजा की।

इस जगत् में जितने सघर्ष और हिसाएँ हुईं हैं वे सब पर-पदार्थों की छीनाझपटी के कारण ही हुई हैं। अत जब तक मुमुक्षु अपने वास्तविक रूप को तथा तृष्णा के मूल कारण 'परत्र आत्मबुद्धि' को नहीं समझ लेता तब तक दुखनिवृत्ति की समुचित भूमिका ही तैयार नहीं हो सकती। बुद्ध ने सक्षेप में पच स्कन्धों को दुख कहा है, पर महावीर ने उसके भीतरी तत्त्वज्ञान को बताया—चूँकि ये स्कन्ध आत्मरूप नहीं है अत इनका संसर्ग ही अनेक रागादिभावों का सर्जक है, अत ये दुखस्वरूप हैं। अत निराकुल सुख का उपाय आत्ममात्रनिष्ठा और पर-पदार्थों से ममत्व का हटाना ही है। इसके लिए आत्मदृष्टि ही आवश्यक है। आत्मदर्शन का उपर्युक्त प्रकार परपदार्थों में द्वेष करना नहीं सिखाता किन्तु यह बताता है कि इनमें जो तुम्हारी तृष्णा फैल रही है वह अनधिकार चेष्टा है। वास्तविक अधिकार तो तुम्हारा अपने विचार और अपनी प्रवृत्ति पर ही है। इस तरह आत्मा के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान हुए बिना दुखनिवृत्ति या मुक्ति की संभावना ही नहीं की जा सकती। अत धर्मकीर्ति की यह आशका भी निर्मूल है कि—

"आत्मनि सति परसज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयो सप्रतिबद्धा सर्वे दोषा प्रजायन्ते॥" प्रमाण वा. १।२२१

अर्थात् आत्मा को स्व मानने पर दूसरों को पर मानना होगा। स्व और पर विभाग होते ही स्व का परिग्रह और पर से द्वेष होगा। परिग्रह और द्वेष होने से रागद्वेषमूलक सैकडों अन्य दोष उत्पन्न होते हैं।

यहाँ तक तो ठीक है कि कोई व्यक्ति आत्मा को स्व और आत्मेतर को पर मानेगा। पर स्व-परविभाग से परिग्रह और द्वेष कैसे होंगे? आत्मस्वरूप का परिग्रह कैसा? परिग्रह तो शरीर

आदि पर-पदार्थों का और उसके सुखसाधनों का होता है जिन्हें आत्मदर्शी व्यक्ति छोडेगा ही, ग्रहण नहीं करेगा। उसे तो जैसे स्त्री आदि सुखसाधन पर हैं वैसे शरीर भी। राग और द्वेष भी शरीरादि के सुखसाधनों और असाधनों में होते हैं सो आत्मदर्शी को क्यों होंगे? उल्टे आत्मदृष्टा शरीरादिनिमित्तक यावत् रागद्वेष द्वन्द्वों के त्याग का ही स्थिर प्रयत्न करेगा। हाँ, जिसने शरीरस्कन्ध को ही आत्मा माना है उसे अवश्य आत्मदर्शन से शरीरदर्शन प्राप्त होगा और शरीर के इष्टानिष्टनिमित्तक पदार्थों में परिग्रह और द्वेष हो सकते हैं, किन्तु जो शरीर को भी पर ही मान रहा है तथा दुख का कारण समझ रहा है वह क्यों उसमें तथा उसके इष्टानिष्ट साधनों में रागद्वेष करेगा? अत शरीरादि से भिन्न—आत्मस्वरूप का परिज्ञान ही रागद्वेष की जड को काट सकता है और वीतरागता को प्राप्त करा सकता है। अत धर्मकीर्ति का आत्मदर्शन की बुराइयों का यह वर्णन भी नितान्त भ्रमपूर्ण है—

"य पश्यत्यात्मान तत्रास्याहमिति शाश्वत स्नेह।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषास्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स ससारे॥" प्रमाण वा १।२१९-२०

अर्थात् जो आत्मा को देखता है उसे यह मेरा आत्मा है ऐसा नित्य स्नेह होता है। स्नेह से आत्मसुख में तृष्णा होती है। तृष्णा से आत्मा के अन्य दोषों पर दृष्टि नहीं जाती, गुण ही गुण दिखाई देते हैं। आत्मसुख में गुण देखने से उसके साधनों में ममकार उत्पन्न होता है, उन्हें वह ग्रहण करता है। इस तरह जब तक आत्मा का अभिनिवेश है तब तक ससार ही है। क्योंकि—

आत्मदर्शी व्यक्ति जहाँ अपने आत्मस्वरूप को उपादेय समझता है वहाँ यह भी तो समझता है कि शरीरादि पर-पदार्थ आत्मा के हितकारक नहीं है। इनमें रागद्वेष करना ही आत्मा को बन्ध में डालनेवाला है। आत्मा को स्वरूपमात्र प्रतिष्ठारूप सुख के लिए किसी साधन के ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जिन शरीरादि परपदार्थों में सुखसाधनत्व की मिथ्याबुद्धि कर रखी है वह मिथ्याबुद्धि ही छोडना है। आत्मगुण का दर्शन आत्ममात्र में लीनता का कारण होगा न कि बन्धनकारक पर पदार्थों के ग्रहण का। शरीरादि पर पदार्थों में होने वाला आत्माभिनिवेश अवश्य रागादि का सर्जक हो सकता है किन्तु शरीरादि से भिन्न आत्मतत्त्व का दर्शन क्यों शरीरादि में रागादि उत्पन्न करेगा? यह तो धर्मकीर्ति तथा उनके अनुयायियों का आत्मतत्त्व के अव्याकृत होने के कारण दृष्टिव्यामोह है जो वे अधेरे में उसका शरीरस्कन्धरूप ही स्वरूप टटोल रहे हैं और आत्मदृष्टि को मिथ्यादृष्टि कहने का दुसाहस कर रहे हैं। एक ओर वे पृथ्वी आदि भूतों से आत्मा की उत्पत्ति का खडन भी करते हैं दूसरी ओर रूप, वेदना, संज्ञा, सस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों से व्यतिरिक्त किसी आत्मा को मानना भी नहीं चाहते। इनमें वेदना,

संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध चेतनात्मक हो सकते हैं पर रूपस्कन्ध को चेतन कहना चार्वाक के भूतात्मवाद से कोई विशेषता नहीं रखता। जब बुद्ध स्वयं आत्मा को अव्याकृत कोटि में डाल गये तो उनके शिष्यों का युक्तिमूलक दार्शनिक क्षेत्रों में भी आत्मा के विषय में परस्पर विरोधी दो विचारों में दोलित रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आज राहुल सांकृत्यायन बुद्ध के इन विचारों को 'अभौतिक अनात्मवाद' जैसे उभयप्रतिषेधक नाम से पुकारते हैं। वे यह नहीं बता सकते कि आखिर फिर आत्मा का स्वरूप है क्या? क्या उसकी रूपस्कन्ध की तरह स्वतन्त्र सत्ता है? क्या वेदना, सज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये स्कन्ध भी रूपस्कन्ध की तरह स्वतन्त्रसत् हैं? और यदि गिर्वाण में चित्त-सन्तति निरुद्ध हो जाती है तो चार्वाक के एकजन्म तक सीमित देहात्मवाद से इस अनेकजन्म-सीमित देहात्मवाद में क्या मौलिक विशेषता रहती है? अन्त में तो उसका निरोध हुआ ही।

महावीर इस असगतिजाल में न तो स्वय पडे और न शिष्यो को ही उन्होंने इसमें डाला। यही कारण है कि उन्होंने आत्मा का पूरा-पूरा निरूपण किया और उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना। जैसा कि मैं पहले लिख आया हूँ कि धर्म का लक्षण है वस्तु का स्व-स्वभाव में स्थिर होना। आत्मा का खालिस आत्मरूप में लीन होना ही धर्म है और मोक्ष है। यह मोक्ष आत्मतत्त्व की जिज्ञासा के बिना हो ही नहीं सकता।

आत्मा तीन प्रकार के हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो आत्माएँ शरीरादि को ही अपना रूप मानकर उनकी ही प्रिय साधना में लगे रहते हैं वे बहिर्मुख बहिरात्मा हैं। जिन्हें स्वपरविवेक या भेद-विज्ञान उत्पन्न हो गया है, शरीरादि बहि पदार्थों से आत्मदृष्टि हट गयी है वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं। जो समस्त कर्ममल कलकों से रहित होकर शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप में मग्न हैं वे परमात्मा हैं। एक ही आत्मा अपने स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान कर अन्तर्दृष्टि हो क्रमश परमात्मा बन जाता है। अत आत्मधर्म की प्राप्ति के लिए या बन्धमोक्ष के लिए आत्मतत्त्व का परिज्ञान नितान्त आवश्यक है।

जिस प्रकार आत्मतत्त्व का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार जिन अजीवों के सम्बन्ध से आत्मा विकृत होता है उसमें विभावपरिणति होती है उस अजीवतत्त्व के ज्ञान की भी आवश्यकता है। जब तक इस अजीवतत्त्व को नहीं जानेंगे तब तक किन दो में बन्ध हुआ यह मूल बात ही अज्ञात रह जाती है। अत अजीवतत्त्व का ज्ञान जरूरी है। अजीवतत्त्व में चाहे धर्म, अधर्म, आकाश और काल का सामान्य ज्ञान ही हो पर पुद्गल का किंचित् विशेष ज्ञान अपेक्षित है। शरीर स्वय पुद्गलपिड है। यह चेतन के ससर्ग मे चेतनायमान हो रहा है। जगत् में रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले यावत् पदार्थ पौद्गलिक हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सभी पौद्गलिक हैं। इनमें किसी में कोई गुण उद्भूत रहता है किसी में कोई गुण। अग्नि मे रस अनुद्भूत है, वायु में रूप अनुद्भूत है, जल में गन्ध अनुद्भूत है। पर, ये सब विभिन्न जातीय द्रव्य नहीं है किन्तु एक पुद्गलद्रव्य ही हैं। शब्द, प्रकाश, छाया, अन्धकार आदि पुद्गल स्कन्ध की पर्यायें हैं। विशेषत

मुमुक्षु के लिए यह जानना जरूरी है कि शरीर पुद्गल है और आत्मा इससे पृथक् है। यद्यपि आज अशुद्ध दशा में आत्मा का ९९ प्रतिशत विकास और प्रकाश शरीराधीन है। शरीर के पुर्जों के बिगडते ही वर्तमान ज्ञानविकास रुक जाता है और शरीर के नाश होने पर वर्तमान शक्तियाँ प्राय समाप्त हो जाती हैं फिर भी आत्मा स्वतन्त्र और शरीर के अतिरिक्त भी उसका अस्तित्व परलोक के कारण सिद्ध है। आत्मा अपने सूक्ष्म कार्मण शरीर के अनुसार वर्तमान स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर भी दूसरे स्थूल शरीर को धारण कर लेता है। आज आत्मा के सात्त्विक, राजस या तामस सभी प्रकार के विचार या सस्कार शरीर की स्थिति के अनुसार विकसित होते हैं। अत मुमुक्षु के लिए इस शरीर पुद्गल की प्रकृति का परिज्ञान नितान्त आवश्यक है जिससे वह इसका उपयोग आत्मविकास में कर सके, ह्रास में नहीं। यदि उत्तेजक या अपथ्य आहार-विहार होता है तो कितना ही पवित्र विचार करने का प्रयत्न किया जाय, पर सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए बुरे सस्कार और विचारों का शमन करने के लिए या क्षीण करने के लिए उनके प्रबल निमित्तभूत शरीर की स्थिति आदि का परिज्ञान करना ही होगा। जिन पर-पदार्थों से आत्मा को विरक्त होना है या उन्हें पर समझ कर उनके परिणमन पर जो अनधिकृत स्वामित्व के दुर्भाव आरोपित हैं उन्हें नष्ट करना है उस 'पर' का कुछ विशेष ज्ञान तो होना ही चाहिए, अन्यथा विरक्ति किससे होगी? साराश यह कि जिसे बधन होता है और जिससे बँधता है उन दोनों तत्त्वों का यथार्थ दर्शन हुए बिना बन्ध-परम्परा कट नहीं सकती। इस तत्त्वज्ञान के बिना चारित्र की ओर उत्साह ही नहीं हो सकता। चारित्र की प्रेरणा विचारों से ही मिलती है।

बन्ध—बन्ध दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध को कहते हैं। यह दो प्रकार का है—एक भावबन्ध और दूसरा द्रव्यबन्ध। जिन राग, द्वेष, मोह आदि विभावों से कर्मवर्गणाओं का बन्ध होता है उन रागादि भावों को भावबन्ध कहते हैं और कर्मवर्गणाओं का आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गल का है। यह निश्चित है कि दो द्रव्यों का सयोग ही हो सकता है तादात्म्य नहीं। पुद्गलद्रव्य परस्पर बन्ध को प्राप्त होते हैं तो एक विशेष प्रकार के सयोग को ही प्राप्त करते हैं। उनमें स्निग्धता और रूक्षता के कारण एक रासायनिक मिश्रण होता है जिससे उस स्कन्ध के अन्तर्गत सभी परमाणुओं की पर्याय बदलती है और वे ऐसी स्थिति में आ जाते हैं कि अमुक समय तक उन सबकी एक जैसी ही पर्यायें होती रहती हैं। स्कन्ध के रूप रसादि का व्यवहार तदन्तर्गत परमाणुओं के रूपरसादिपरिणमन की औसत से होता है। कभी-कभी एक ही स्कन्ध के अमुक अश में रूप रसादि अमुक प्रकार के हो जाते हैं और दूसरी ओर दूसरी प्रकार के। एक ही आम स्कन्ध एक ओर पककर पीला, मीठा और सुगन्धित हो जाता है तो दूसरी ओर हरा, खट्टा और विलक्षण गन्धवाला बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि स्कन्ध में शिथिल या दृढ बन्ध के अनुसार तदन्तर्गत परमाणुओं के परिणमन की औसत से रूपरसादि व्यवहार होते हैं। स्कन्ध अपने में स्वतन्त्र कोई द्रव्य नहीं है। किन्तु वह

अमुक परमाणुओं की विशेष अवस्था ही है। और अपने आधारभूत परमाणुओं के अधीन ही उसकी दशा रहती है। पुद्गलों के बन्ध में यही रासायनिकता है कि उस अवस्था में उनका स्वतन्त्र विलक्षण परिणमन नहीं हो सकता किन्तु एक जैसा परिणमन होता रहता है। परन्तु आत्मा और कर्मपुद्गलों का ऐसा रासायनिक मिश्रण हो ही नहीं सकता। यह बात जुदा है कि कर्मस्कन्ध के आ जाने से आत्मा के परिणमन में विलक्षणता आ जाय और आत्मा के निमित्त से कर्मस्कन्ध की परिणति विलक्षण हो जाय, पर इससे आत्मा और पुद्गलकर्म के बन्ध को रासायनिक मिश्रण नहीं कह सकते। क्योंकि जीव और कर्म के बन्ध में दोनों की एक जैसी पर्याय नहीं होती। जीवन की पर्याय चेतन रूप होगी, पुद्गल की अचेतनरूप। पुद्गल परिणमन रूप, रस, गन्धादिरूप होगा, जीव का चैतन्य के विकार रूप। हाँ, यह वास्तविक स्थिति है कि नूतन कर्मपुद्गलों का पुराने बँधे हुए कर्मशरीर के साथ रासायनिक मिश्रण हो और वह उस पुराने कर्मपुद्गल के साथ बँधकर उस स्कन्ध में शामिल हो जाय। होता भी यही है। पुराने कर्मशरीर से प्रतिक्षण अमुक परमाणु झरते हैं और दूसरे कुछ नये शामिल होते हैं। परन्तु आत्मप्रदेशों से उनका बन्ध रासायनिक बिलकुल नही है। वह तो मात्र सयोग है। प्रदेशबन्ध की व्याख्या तत्त्वार्थसूत्रकार ने यही की है—"नामप्रत्यया सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा।" (तत्त्वार्थसूत्र ८।२४) अर्थात् योग के कारण समस्त आत्मप्रदेशों पर सूक्ष्म पुद्गल आकर एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं। इसी का नाम प्रदेशबन्ध है। द्रव्यबन्ध भी यही है। अत आत्मा और कर्मशरीर का एकक्षेत्रावगाह के सिवाय अन्य कोई रासायनिक मिश्रण नहीं होता। रासायनिक मिश्रण नवीन कर्मपुद्गलों का प्राचीन कर्मपुद्गलों से ही हो सकता है, आत्मप्रदेशों से नहीं।

जीव के रागादिभावों से जो योगक्रिया अर्थात् आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द होता है उससे कर्मवर्गणाएँ खिंचती हैं। वे शरीर के भीतर से भी खिचती हैं बाहर से भी। खिचकर आत्मप्रदेशों पर या प्राक्बद्ध कर्मशरीर से बन्ध को प्राप्त होती हैं। इस योग से उन कर्मवर्गणाओं में प्रकृति अर्थात् स्वभाव पडता है। यदि वे कर्मपुद्गल किसी के ज्ञान में बाधा डालने रूप क्रिया से खिचे हैं तो उनमें ज्ञानावरण का स्वभाव पडेगा और यदि रागादि कषाय से तो उनमें चारित्रावरण का आदि। तात्पर्य यह कि आये हुए कर्म-पुद्गलों को आत्मप्रदेशों से एकक्षेत्रावगाही कर देना और उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि स्वभावों का पड जाना योग से होता है। इन्हें प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कषायों की तीव्रता और मन्दता के अनुसार उस कर्मपुद्गल में स्थिति और फल देने की शक्ति पडती है यह स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कहलाता है। ये दोनों बन्ध कषाय से होते हैं। केवली अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्ति को रागादि कषाय नहीं होतीं अत उनके द्वारा जो कर्मपुद्गल आते हैं वे द्वितीय समय में झड जाते हैं, उनका स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता। बन्ध प्रतिक्षण होना रहता है और जैसा कि मैं पहले लिख आया हूँ कि उसमें अनेक प्रकार का परिवर्तन प्रतिक्षणभावी कषायादि के अनुसार होता रहता है।

अन्त में कर्मशरीर की जो स्थिति रहती है उसके अनुसार फल मिलता है। उन कर्मनिषेकों के उदय से बाह्य वातावरण पर वैसा वैसा असर पडता है। अन्तरंग में वैस-वैसे भाव होते हैं। आयुबन्ध के अनुसार स्थूल शरीर छोडने पर उन-उन योनियों में जीव को नया स्थूल शरीर धारण करना पडता है। इस तरह यह बन्धचक्र जब तक राग-द्वेष, मोह, वासनाएँ आदि विभाव भाव हैं, बराबर चलता रहता है।

बन्धहेतु आस्रव—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्ध के कारण हैं। इन्हें आस्रव-प्रत्यय भी कहते हैं। जिन भावों के द्वारा कर्मों का आस्रव होता है उन्हें भावास्रव कहते हैं और कर्मद्रव्य का आना द्रव्यास्रव कहलाता है। पुद्गलों में कर्मत्व प्राप्त हो जाना भी द्रव्यास्रव कहलाता है। आत्मप्रदेश तक उनका आना द्रव्यास्रव है। जिन भावों से वे कर्म खिचते हैं उन्हें भावास्रव कहते हैं। प्रथमक्षणभावी भावों को भावास्रव कहते हैं और अग्रिम क्षणभावी भावों को भाव-बन्ध। भावास्रव जैसा तीव्र मन्द मध्यमात्मक होगा तज्जन्य आत्मप्रदेश परिस्पन्द से वैसे कर्म आयेंगे और आत्मप्रदेशों से बँधेंगे। भावबन्ध के अनुसार उस स्कन्ध में स्थिति और अनुभाग पडेगा। इन आस्रवों में मुख्य अनन्तकर्मबन्धक आस्रव है मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादृष्टि। यह जीव अपने आत्मस्वरूप को भूलकर शरीरादि पर-द्रव्यों में आत्मबुद्धि करता है और इसके समस्त विचार और क्रियाएँ उन्हीं शरीराश्रित व्यवहारों में उलझी रहती हैं। लौकिक यशोलाभ आदि की दृष्टि से ही यह धर्म जैसी क्रियाओं का आचरण करता है। स्व-पर विवेक नहीं रहता। पदार्थों के स्वरूप में भ्रान्ति बनी रहती है। तात्पर्य यह कि लक्ष्यभूत कल्याणमार्ग में इसकी सम्यक् श्रद्धा ही नहीं होती। वह सहज और गृहीत दोनों प्रकार की मिथ्यादृष्टियों के कारण तत्त्वरुचि नहीं कर पाता। अनेक प्रकार की देव-गुरु तथा लोकमूढताओ को धर्म समझता है। शरीर और शरीराश्रित स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादि के मोह में उचित-अनुचित का विवेक किये बिना भीषण अनर्थ परम्पराओं का सृजन करता है। तुच्छ स्वार्थ के लिए मनुष्य जीवन को व्यर्थ ही खा देता है। अनेक प्रकार के ऊँच-नीच भेदो की सृष्टि करके मिथ्या अहंकार का पोषण करता है। जिस किसी भी देव को, जिस किसी भी वेशधारी गुरु को, जिस किसी भी शास्त्र को भय, आशा, स्नेह और लोभ से मानने को तैयार हो जाता है। न उसका अपना कोई सिद्धान्त है और न व्यवहार। थोडे से प्रलोभन से वह सब अनर्थ करने को प्रस्तुत हो जाता है। जाति, ज्ञान, पूजा, कुल, बल, ऋद्धि, तप और शरीर आदि के कारण मदमत्त होता है और अन्यों को तुच्छ समझकर उनका तिरस्कार करता है। भय, आकाङ्क्षा, घृणा, अन्यदोषप्रकाशन आदि दुर्गुणों का केन्द्र होता है। इसकी प्रवृत्ति के मूल में एक ही बात है और वह है स्व-स्वरूपविभ्रम। उसे आत्मस्वरूप का कोई श्रद्धान नहीं। अत वह बाह्य पदार्थों में लुभाया रहता है। यही मिथ्या दृष्टि सब दोषों की जननी है, इसी से अनन्त ससार का बन्ध होता है। दर्शनमोहनीय नामक कर्म के उदय में यह दृष्टिमूढता होती है।

अविरति-चारित्रमोह नामक कर्म के उदय से मनुष्य को चारित्र धारण करने के परिणाम

नहीं हो पाते। वह चाहता भी है तो भी कषायों का ऐसा तीव्र उदय रहता है जिससे न तो सकलचारित्र धारण कर पाता है और न देशचारित्र। कषाएँ चार प्रकार की हैं—

(१) अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ—अनन्त संसार का बन्ध करानेवाली, स्वरूपाचरण चारित्र का प्रतिबन्ध करनेवाली, प्राय मिथ्यात्वसहचारिणी कषाय। पत्थर की रेखा के समान।

(२) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ—देशचारित्र-अणुव्रतों को धारण करने के भावों को न होने देने वाली कपाय। इसके उदय से जीव श्रावक के व्रतों को भी ग्रहण नहीं कर पाता। मिट्टी के रेखा के समान।

(३) प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ—संपूर्ण चारित्र की प्रतिबन्धिका कषाय। इसके उदय से जीव सकल त्याग करके संपूर्ण व्रतों को धारण नही कर पाता। धूलि रेखा के समान।

(4) संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ-पूर्ण चरित्र मे किचिन्मात्र दोप उत्पन्न करनेवाली कषाय। यथाख्यात चरित्र की प्रतिबन्धिका। जलरेखा के समान।

इस तरह इन्द्रियों के विषयो में तथा प्राणिसयम में निरर्गल प्रवृत्ति होने से कर्मों का आस्रव होता है। अविरति का निरोध कर विरतिभाव आने पर कर्मो का आस्रव नहीं होता।

प्रमाद—असावधानी को प्रमाद कहते हैं। कुशल कर्मो में अनादर का भाव होना प्रमाद है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों में लीन होने के कारण राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजनकथा इन चार विकथाओं में रस लेने के कारण, क्रोध-मान-माया-लोभ इन चार कषायों में लिप्त रहने के कारण, निद्रा और प्रणयमग्न होने के कारण कर्त्तव्य-पथ में अनादर भाव होता है। इस असावधानी से कुशल कर्म के प्रति अनास्था तो होती ही है, साथ ही साथ हिसा की भूमिका भी तैयार होने लगती है। हिसा के मुख्य हेतुओं में प्रमाद का स्थान ही प्रमुख है। बाह्य में जीव का घात हो या न हो किन्तु असावधान और प्रमादी व्यक्ति को हिंसा का दोष सुनिश्चित है। प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले अप्रमत्त साधक के द्वारा बाह्य हिंसा होने पर भी वह अहिसक है। अत प्रमाद आस्रव का मुख्य द्वार है। इसीलिए भ महावीर ने बार-बार गौतम गणधर को चेताया है कि "समय गोयम मा पमायए।" अर्थात् गौतम, किसी भी समय प्रमाद न करो।

कपाय—आत्मा का स्वरूप स्वभावत शान्त और निर्विकारी है। परन्तु क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाएँ आत्मा को कस देती हैं और इसे स्वरूपच्युत कर देती हैं। ये चारों आत्मा की विभाव दशाएँ हैं। क्रोधकषाय द्वेष रूप है, यह द्वेष का कार्य और द्वेष को उत्पन्न करती है। मान यदि क्रोध को उत्पन्न करता है तो द्वेष रूप है। लोभ रागरूप है। माया यदि लोभ को जागृत करती है तो रागरूप है। तात्पर्य यह कि राग-द्वेप-मोह की दोषत्रिपुटी में कपाय का भाग ही मुख्य है। मोहरूप मिथ्यात्व दूर हो जाने पर भी सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष रूप कपायें बनी रहती हैं। जिसमें लोभ कपाय तो पदप्रतिष्ठा और यशोलिप्सा के रूप में बडे-बडे मुनियों को भी स्वरूपस्थित नहीं होने देती। यह राग-द्वेष रूप द्वन्द्व ही समस्त अनर्थों का मूल

हेतू है। यही प्रमुख आस्रव है। न्यायसूत्र, गीता और पालिपिटकों में भी इसी द्वन्द्व को ही पापमूल बताया है। जैनशास्त्रों का प्रत्येक वाक्य कषायशमन का ही उपदेश देता है। इसीलिए जैनमूर्तियाँ वीतरागता और अकिञ्चनता की प्रतीक होती हैं। उसमें न द्वेष का साधन आयुध है और न राग का आधार स्त्री आदि का साहचर्य ही। वे तो परम वीतरागता और अकिंचनता का पावन सन्देश देती हैं।

इन कषायों के सिवाय—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (ग्लानि), स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसक वेद ये ९ नोकषायें हैं। इनके कारण भी आत्मा में विकार परिणति उत्पन्न होती है। अत ये भी आस्रव हैं।

योग—मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्द अर्थात् क्रिया होती है उसे योग कहते हैं। योग की साधारण प्रसिद्धि चित्तवृत्तिनिरोध रूप ध्यान के अर्थ में है पर जैन परम्परा में चूँकि मन, वचन और काय से होने वाली आत्मा की क्रिया कर्मपरमाणुओं से योग अर्थात् सम्बन्ध कराने में कारण होती है अत इसे योग कहते हैं और योगनिरोध को ध्यान कहते हैं। आत्मा सक्रिय है। उसके प्रदेशों में परिस्पन्द होता है। मन, वचन और काय के निमित्त से सदा उसमें क्रिया होती रहती है। यह क्रिया जीवन्मुक्त को भी बराबर होती है। पर मुक्ति से कुछ समय पहले अयोगकेवली अवस्था में मन-वचन-काय की क्रिया का निरोध होता है और आत्मा निर्मल और निश्चल बन जाता है। सिद्ध अवस्था में आत्मा के पूर्ण शुद्धरूप का आविर्भाव होता है। न उसमें कर्मजन्य मलिनता रहती है और न योगजन्य चचलता ही। प्रधानरूप से आस्रव तो योग ही है। इसी के द्वारा कर्मों का आगमन होता है। शुभ योग पुण्यकर्म का आस्रव कराता है तथा अशुभ योग पापकर्म के आस्रव का कारण होता है। सबका शुभचिन्तन तथा अहिसक विचारधारा शुभ मनोयोग है। हित-मित-प्रिय सम्भाषण शुभ वचनयोग है। पर को बाधा न देनेवाली यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति शुभ काय-योग है। इस तरह इस आस्रव तत्त्व का ज्ञान मुमुक्षु को अवश्य ही होना चाहिए। साधारण रूप से यह तो उसे ज्ञात कर ही लेना चाहिए कि हमारी अमुक प्रवृत्तियों से शुभास्रव होता है और अमुक प्रवृत्तियों से अशुभास्रव, तभी वह अनिष्ट प्रवृत्तियों से अपनी रक्षा कर सकेगा।

सामान्यतया आस्रव दो प्रकार का होता है—एक तो कषायानुरञ्जित योग से होने वाला साम्परायिक आस्रव जो बन्ध का हेतु होकर संसार की वृद्धि करता है तथा दूसरा केवल योग से होने वाला ईर्यापथ आस्रव जो कषाय न होने से आगे बन्धन का कारण नहीं होता। यह आस्रव जीवनमुक्त महात्माओं के वर्तमान शरीरसम्बन्ध तक होता रहता है। यह जीवस्वरूप का विघातक नहीं होता।

प्रथम साम्परायिक आस्रव कषायानुरंजित योग से होने के कारण बन्धक होता है। कषाय और योगप्रवृत्ति शुभरूप भी होती है और अशुभरूप भी। अत शुभ और अशुभ योग के अनुसार

आस्रव भी शुभास्रव या पुण्यास्रव और अशुभास्रव अर्थात् पापास्रव के भेद से दो प्रकार का हो जाता है। साधारणतया सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य कर्म हैं और शेष ज्ञानावरण आदि घातिया और अघातिया कर्मप्रकृतियाँ पापरूप हैं। इस आस्रव में कषायों के तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, आधार और शक्ति आदि की दृष्टि से तारतम्य होता है। संरम्भ (सकल्प), समारम्भ (सामग्री जुटाना), आरम्भ (कार्य की शुरूआत), कृत (स्वयं करना), कारित (दूसरों से कराना), अनुमत (कार्य की अनुमोदना करना)—मन, वचन, काय, योग और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाएँ परस्पर मिलकर ३ × ३ × ३ × ४ × १०८ प्रकार के हो जाते हैं। इनसे आस्रव होता है। आगे ज्ञानावरण आदि कर्मों में प्रत्येक के आस्रव कारण बताते हैं—

ज्ञानावरण-दर्शनावरण—ज्ञानी और दर्शनयुक्त पुरुष की या ज्ञान और दर्शन की प्रशसा सुनकर भीतरी द्वेषवश उनकी प्रशसा नहीं करना तथा मन में दुष्टभावों का लाना, (प्रदोष) ज्ञान का और ज्ञान के साधनों का अपलाप करना (निह्नव), योग्य पात्र को भी मात्सर्यवश ज्ञान नहीं देना, ज्ञान में विघ्न डालना, दूसरे के द्वारा प्रकाशित ज्ञान की अविनय करना, ज्ञान का गुण-कीर्तन न करना, सम्यग्ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहकर ज्ञान के नाश का अभिप्राय रखना आदि यदि ज्ञान के सम्बन्ध में हैं तो ज्ञानावरण के आस्रव के कारण होते हैं और यदि दर्शन के सम्बन्ध में हैं तो दर्शनावरण के आस्रव के कारण हो जाते हैं। इसी तरह आचार्य और उपाध्याय से शत्रुता रखना, अकाल अध्ययन, अरुचिपूर्वक पढना, पढने में आलस करना, व्याख्यान को अनादर पूर्वक सुनना, तीर्थोपरोध, बहुश्रुत के समक्ष भी ज्ञान का गर्व करना, मिथ्या उपदेश देकर दूसरे के मिथ्या ज्ञान में कारण बनना, बहुश्रुत का अपमान करना, लोभादिवश तत्त्वज्ञान के पक्ष का त्याग करके अतत्त्वज्ञानीय पक्ष को ग्रहण करना, असम्बद्ध प्रलाप, सूत्रविरुद्ध व्याख्यान, कपट से ज्ञानार्जन करना, शास्त्र विक्रय आदि जितने ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों में विघ्न और द्वेपोत्पादक भाव और क्रियाएँ होती है उन सबसे आत्मा पर ऐसा सस्कार पडता है जो ज्ञानावरण कर्म के आस्रव का हेतु होता है।

देव-गुरु आदि के दर्शन में मात्सर्य करना, दर्शन में अन्तराय करना, किसी की आँख फोड देना, इन्द्रियों का अभिमान करना, नेत्रों का अहकार करना, दीर्घनिद्रा, अतिनिद्रा, आलस्य, सम्यग्दृष्टि में दोपोद्भावन, कुशास्त्र-प्रशसा, गुरुजुगुप्सा आदि दर्शन के विघातक भाव और क्रियाएँ दर्शनावरण का आस्रव कराती हैं।

असातावेदनीय—अपने में, पर में और दोनों में दुख शोक आदि उत्पन्न करने से असातावेदनीय का आस्रव होता है। स्व पर या उभय में दुख उत्पन्न करना, इष्टवियोग में अत्यधिक विकलता और शोक करना, निन्दा, मानभंग या कर्कशवचन आदि से भीतर ही भीतर जलना, परिताप के कारण अश्रुपातपूर्वक बहु विलाप करना, छाती कूटकर या सिर फोडकर आक्रन्दन करना, दुख से आँखे फोड लेना या आत्महत्या कर लेना, इस प्रकार रोना चिल्लाना कि सुननेवाले भी

रो पड़ें, शोक आदि से लंघन करना, अशुभ प्रयोग, परनिन्दा, पिशुनता, अदया, अंग-उपागों का छेदन-भेदन ताडन, त्रास, अंगुली आदि से तर्जन करना, वचनों से भर्त्सना करना, रोधन, बंधन, दमन, आत्मप्रशंसा, क्लेशोत्पादन, बहुपरिग्रह, आकुलता, मन-वचन-काय की कुटिलता, पाप कार्यों से आजीविका करना, अनर्थदण्ड, विषमिश्रण, बाण जाल पिजरा आदि का बनाना इत्यादि जितने कार्य स्वयं में, पर में या दोनों में दुख आदि के उत्पादक हैं वे सब असातावेदनीय कर्म के आस्रव में कारण होते हैं।

सातावेदनीय—प्राणिमात्र पर दया का भाव, मुनि और श्रावक के व्रत धारण करनेवाले व्रतियों पर अनुकम्पा के भाव, परोपकारार्थ दान देना, प्राणिरक्षा, इन्द्रियजय, क्षान्ति अर्थात् क्रोध मान माया का त्याग, शौच अर्थात् लोभ का त्याग, रागपूर्वक संयम धारण करना, अकामनिर्जरा अर्थात् शान्ति से कर्मों के फल का भोगना, कायक्लेश रूप कठिन बाह्यतप, अर्हत्पूजा आदि शुभ राग, मुनि आदि की सेवा, आदि स्व-पर तथा उभय में निराकुलता, सुख के उत्पादक विचार और क्रियाएँ सातावेदनीय के आस्रव का कारण होती हैं।

दर्शनमोहनीय—जीवनमुक्त केवली, शास्त्र, सघ, धर्म और देवो की निन्दा करना, इनमें अवर्णवाद अर्थात् अविद्यमान दोषों का कथन करना दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व कर्म का आस्रव करता है। केवली रोगी होते हैं, कवलाहारी होते हैं, नग्न रहते हैं पर वस्त्रयुक्त दिखाई देते हैं, इत्यादि केवली का अवर्णवाद है। शास्त्र में मासाहार आदि का समर्थन करना श्रुत का अवर्णवाद है। मुनि आदि मलिन हैं, स्नान नहीं करते, कलिकाल के साधु हैं इत्यादि सघ का अवर्णवाद हैं। धर्म करना व्यर्थ है, अहिसा कायरता है आदि धर्म का अवर्णवाद है। देव मद्यपायी और मासभक्षी होते हैं आदि देवों का अवर्णवाद है। साराश यह कि देव, गुरु, धर्म, संघ और श्रुत के सम्बन्ध में अन्यथा विचार आर मिथ्या धारणाएं मिथ्यात्व का पोषण करती हैं और इससे दर्शनमोह का आस्रव होना है जिसमे यथार्थ तत्त्वरुचि नहीं हो पाती।

चारित्रमोहनीय—स्वय और पर मे कषाय उत्पन्न करना, व्रतशीलवान् पुरुषों में दूषण लगाना, धर्म का नाश करना, धर्म में अन्तराय करना, देश-सयमियों से व्रत और शील का त्याग कराना, मात्सर्यादि से रहित सज्जन पुरुषों में मतिविभ्रम उत्पन्न करना, आर्त और रौद्र परिणाम आदि कषाय की तीव्रता के साधन कषाय चारित्रमोहनीय के आस्रव के कारण हैं। समीचीन धार्मिकों की हँसी करना, दीनजनों को देखकर हँसना, काम विकार के भावों पूर्वक हँसना, बहु प्रलाप तथा निरन्तर भाडों जैसी हँसोड प्रवृत्ति से हास्य नोकषाय का आस्रव होता है। नाना प्रकार क्रीडा, विचित्र क्रीडा, देशादि सयम के प्रति अनौत्सुक्य, व्रत शील आदि में अरुचि आदि रति नोकषाय के आस्रव के हेतु हैं। दूसरो में अरति उत्पन्न करना, रति का विनाश करना, पापशील जनों का संसर्ग, पाप क्रियाओं को प्रोत्साहन देना आदि अरति नोकषाय के आस्रव के कारण हैं। अपने और दूसरे में शोक उत्पन्न करना, शोकयुक्त का अभिनन्दन, शोक के वातावरण में रुचि आदि शोक नोकषाय के आस्रव के कारण हैं। स्व और पर को भय उत्पन्न करना, निर्दयता,

दूसरों को त्रास देना आदि भय के आस्रव के कारण हैं। पुण्यक्रियाओं में जुगुप्सा करना, पर-निन्दा आदि जुगुप्सा के आस्रव के कारण हैं। परस्त्रीगमन, स्त्री के स्वरूप को धारण करना, असत्य वचन, परवञ्चना, परदोष-दर्शन, वृद्ध होकर भी युवकों जैसी प्रवृत्ति करना आदि स्त्रीवेद के आस्रव के हेतु हैं। अल्पक्रोध, माया का अभाव, गर्व का अभाव, स्त्रियों में अल्प आसक्ति, ईर्ष्या का न होना, रागवर्धक वस्तुओं में अनादर, स्वदार सन्तोष, परस्त्रीत्याग आदि पुवेद के आस्रव के कारण हैं। प्रचुर कषाय, गुह्येन्द्रियों का विनाश, परागना का अपमान, स्त्री या पुरुषों में अनंग क्रीडा, व्रतशीलयुक्त पुरुषों को कष्ट उत्पन्न करना, तीव्रराग आदि नपुंसक वेदनीय नोकषाय के आस्रव के हेतु हैं।

नरकायु—बहुत आरम्भ और बहुपरिग्रह नरकायु का आस्रव कराते हैं। मिथ्यादर्शन, तीव्रराग, मिथ्याभाषण, परद्रव्यहरण, निशीलता, तीव्र वैर, परोपकार न करना, यतिविरोध, शास्त्रविरोध, कृष्णलेश्या रूप अति तामसपरिणाम, विषयों में अतितृष्णा, रौद्र ध्यान, हिंसादि क्रूर कार्यों में प्रवृत्ति, बाल-वृद्ध-स्त्री हत्या आदि क्रूरकर्म नरकायु के आस्रव के कारण होते हैं।

तिर्यंचायु—छल कपट आदि मायाचार, मिथ्या अभिप्राय से धर्मोपदेश देना, अधिक आरम्भ, अधिक परिग्रह, निशीलता, परवञ्चकता, नील लेश्या और कापोत लेश्या रूप तामस परिणाम, मरणकाल में आर्तध्यान, क्रूरकर्म, भेदन करना, अनर्थोद्भावन, सोना चांदी आदि को खोटा करना, कृत्रिम चन्दनादि बनाना, जाति कुल शील में दूषण लगाना, सद्गुणों का लोप, दोषदर्शन आदि पाशविक भाव तिर्यंचायु के आस्रव के कारण होते हैं।

मनुष्यायु—अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह, विनय, भद्र स्वभाव, निष्कपट व्यवहार, अल्पकषाय, मरण काल में संक्लेश न होना, मिथ्यात्वी व्यक्ति में भी नम्रभाव, सुखबोध्यता, अहिंसकभाव, अल्पक्रोध, दोष-रहितता, क्रूरकर्मों में अरुचि, अतिथिस्वागततत्परता, मधुर वचन, जगत् में अल्प आसक्ति, अनसूया, अल्प-संक्लेश, गुरु आदि की पूजा, कापोत और पीतलेश्या के राजस और अल्प सात्त्विक भाव, निराकुलता आदि मानवभाव मनुष्यायु के आस्रव के कारण होते हैं। स्वाभाविक मृदुता और निरभिमान वृत्ति मनुष्यायु के आस्रव के असाधारण हेतु हैं।

देवायु—सराग सयम अर्थात् अभ्युदय की कामना रहते हुए सयम धारण करना, श्रावक व्रत, समतापूर्वक कर्मों का फल भोगनारूप अकामनिर्जरा, सन्यासी एकदण्डी त्रिदण्डी परमहंस आदि तापसों का बालतप और सम्यक्त्व आदि सात्त्विक परिणाम देवायु के आस्रव के कारण होते हैं।

नामकर्म—मन-वचन-काय की कुटिलता, विसवादन अर्थात् श्रेयोमार्ग में अश्रद्धा उत्पन्न करके उससे च्युत करना, मिथ्यादर्शन, पैशुन्य, अस्थिरचित्तता, झूठे बांट, तराजू, गज आदि रखना, मिथ्या साक्षी देना, परनिन्दा, आत्मप्रशसा, परद्रव्य ग्रहण, असत्यभाषण, अधिक परिग्रह, सदा विलासीवेश धारण करना, रूपमद, कठोरभाषण, असभ्य भाषण, आक्रोश, जान बूझकर छैल-छबीला वेश धारण करना, वशीकरण चूर्ण आदि का प्रयोग, मन्त्र आदि के प्रयोग से दूसरों में कुतूहल उत्पन्न

करना, देवगुरु पूजा के बहाने गन्ध माला धूप आदि लाकर अपने राग की पुष्टि करना, पर-विडम्बना, परोपहास, ईंटों के भट्टे लगाना, दावानल प्रज्वलित कराना, प्रतिमा तोड़ना, मन्दिर ध्वंस करना, उद्यान उजाडना, तीव्र क्रोध-मान-माया-लोभ, पापजीविका आदि कार्यों से अशुभ शरीर आदि के उत्पादक अशुभ नाम कर्म का आस्रव होता है।

इनसे विपरीत मन-वचन-काय की सरलता, ऋजु प्रवृत्ति आदि से सुन्दर शरीरोत्पादक शुभनाम कर्म का आस्रव होता है।

तीर्थंकर नामकर्म—निर्मल सम्यग्दर्शन, जगद्धितैषिता, जगत के तारने की प्रकृष्ट भावना, विनयसम्पन्नता, निरतिचार शीलव्रतपालन, निरन्तर ज्ञानोपयोग, ससार दुःखभीरुता, यथाशक्ति तप, यथाशक्ति त्याग, समाधि, साधु सेवा, अर्हन्त आचार्य बहुश्रुत और प्रवचन में भक्ति, आवश्यक क्रियाओं में सश्रद्धा, निरालस्य प्रवृत्ति, शासन प्रभावना, प्रवचन वात्सल्य आदि सोलह भावनाएँ जगदुद्धारक तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव का कारण होती हैं। इनमें सम्यग्दर्शन के साथ होने वाली जगदुद्धार की तीव्र भावना ही मुख्य है।

नीचगोत्र—परनिन्दा, आत्मप्रशसा, परगुणविलोप, अपने में अविद्यमान गुणों का प्रख्यापन, जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, श्रुतमद, ज्ञानमद, ऐश्वर्यमद, तपोमद, परापमान, परहास्यकरण, परपरिवादन, गुरुतिरस्कार, गुरुओं से टकराकर चलना, गुरु दोषोद्भावन, गुरु विभेदन, गुरुओं को स्थान न देना, भर्त्सना करना, स्तुति न करना, विनय न करना, उनका अपमान करना, आदि नीचगोत्र के आस्रव के कारण हैं।

उच्चगोत्र—पर-प्रशसा, आत्मनिन्दा, पर-सद्गुणोद्भावन, स्वसद्गुणाच्छादन, नीचैर्वृत्ति—नम्रभाव, निर्मद भाव रूप अनुत्सेक, पर का अपमान हास परिहास न करना, मृदुभाषण आदि उच्चगोत्र के आस्रव के कारण होते हैं।

अन्तराय—दूसरों के दान-लाभ-भोग-उपभोग और वीर्य में विघ्न करना, दान की निन्दा करना, देवद्रव्य का भक्षण, परवीर्यापहरण, धर्मोच्छेद, अधर्माचरण, परनिरोध, बन्धन, कर्णछेदन, गुह्यछेदन, इन्द्रिय विनाश आदि विघ्नकारक विचार और क्रियाएँ अन्तराय कर्म का आस्रव कराती हैं।

सारांश यह कि इन भावों मे उन उन कर्मों का स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध विशेष रूप से होता है। वैसे आयु के सिवाय अन्य सात कर्मों का आस्रव न्यूनाधिक भाव से प्रतिसमय होता रहता है। आयु का आस्रव आयु के त्रिभाग में होता है।

मोक्ष—बन्धनमुक्ति को मोक्ष कहते हैं। बन्ध के कारणों का अभाव होने पर तथा संचित कर्मों की निर्जरा होने पर समस्त कर्मों का समूल उच्छेद होना मोक्ष है। आत्मा की वैभाविकी शक्ति का संसार अवस्था में विभाव परिणमन हो रहा था। विभाव परिणमन के निमित्त हट जाने से मोक्ष दशा में उसका स्वभाव परिणमन हो जाता है। जो आत्मा के गुण विकृत हो

रहे थे वे ही स्वाभाविक दशा में आ जाते हैं। मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है, अज्ञान ज्ञान और अचारित्र चारित्र। तात्पर्य यह कि आत्मा का सारा नक्शा ही बदल जाता है। जो आत्मा मिथ्यादर्शनादि रूप से अनादिकाल से अशुद्धि का पुज बना हुआ था वही निर्मल, निश्चल और अनन्त चैतन्यमय हो जाता है। उसका आगे सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। वह चैतन्य निर्विकल्प है। वह निस्तरग समुद्र की तरह निर्विकल्प, निश्चल और निर्मल है। न तो निर्वाण दशा में आत्मा का अभाव होता है और न वह अचेतन ही हो जाता है। जब आत्मा एक स्वतन्त्र मौलिक द्रव्य है तब उसका अभाव हो ही नहीं सकता। उसमें परिवर्तन कितने ही हो जायें पर अभाव नहीं हो सकता। किसी की भी यह सामर्थ्य नहीं जो जगत् के किसी भी एक सत् का समूल उच्छेद कर सके।

बुद्ध से जब प्रश्न किया गया कि—'मरने के बाद तथागत होते हैं या नहीं' तो उन्होंने इस प्रश्न को अव्याकृत कोटि में डाल दिया था। यही कारण हुआ कि बुद्ध के शिष्यों ने निर्वाण के विषय में दो तरह की कल्पनाएँ कर डालीं। एक निर्वाण वह जिसमें चित्त सन्तति निरास्रव हो जाती है और दूसरा निर्वाण वह जिसमें दीपक के समान चित्त सन्तति भी बुझ जाती है अर्थात् उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और संस्कार इन पाँच स्कन्ध रूप ही आत्मा को मानने का यह सहज परिणाम था कि निर्वाण दशा में उसका अस्तित्व न रहे। आश्चर्य है कि बुद्ध निर्वाण और आत्मा के परलोकगामित्व का निर्णय बताये बिना ही दुःख निवृत्ति के उपदेश के सर्वांगीण औचित्य का समर्थन करते रहे। यदि निर्वाण में चित्तसन्तति का निरोध हो जाता है, वह दीपक की तरह बुझ जाती है अर्थात् अस्तित्वशून्य हो जाती है तो उच्छेदवाद के दोष से बुद्ध कैसे बचे? आत्मा के नास्तित्व से इन्कार तो इसी भय से करते थे कि यदि आत्मा को नास्ति कहते हैं तो उच्छेदवाद का प्रसग आता है और अस्ति कहते हैं तो शाश्वतवाद का प्रसंग आता है। निर्वाणावस्था में उच्छेद मानने और मरण के बाद उच्छेद मानने में तत्त्वदृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। बल्कि चार्वाक का सहज उच्छेद सबको सुकर तथा अयत्नसाध्य होने से सहजग्राह्य होगा और बुद्ध का निर्वाणोत्तर उच्छेद अनेक प्रकार के ब्रह्मचर्यवास ध्यान आदि से साध्य होने के कारण दुर्ग्राह्य होगा। अत मोक्ष अवस्था में शुद्ध चित्त सन्तति की सत्ता मानना ही उचित है। तत्त्वसग्रह पजिका (पृ १०४) में आचार्य कमलशील ने ससार और निर्वाण का प्रतिपादक यह प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

> "चित्तमेव हि ससारो रागादिक्लेशवासितम्।
> तदेव तैर्विनिर्मुक्त भवान्त इति कथ्यत॥"

अर्थात् रागादिक्लेश-वासनामय चित्त को संसार कहते हैं और जब वही चित्त रागादि क्लेश वासनाओं से मुक्त हो जाता है तब उसे भवान्त अर्थात् निर्वाण कहते हैं। यह जीवनमुक्ति का वर्णन नहीं है निर्वाण का है। इस श्लोक में प्रतिपादित संसार और मोक्ष का स्वरूप ही युक्तिसिद्ध और अनुभवगम्य है। चित्त की रागादि अवस्था संसार है और उसकी रागादिरहितता
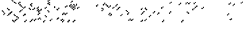
मोक्ष। अत सर्वकर्मक्षय से प्राप्त होने वाला स्वात्मलाभ ही मोक्ष है। आत्मा का अभाव या चैतन्य के अभाव को मोक्ष नहीं कह सकते। रोग की निवृत्ति का नाम आरोग्य है न कि रोगी की ही निवृत्ति या समाप्ति। स्वास्थ्यलाभ ही आरोग्य है न कि मृत्यु।

मोक्ष के कारण

सवर सवर रोकने को कहते हैं। सुरक्षा का नाम सवर है। जिन द्वारों से कर्मो का आस्रव होता था उन द्वारों का निरोध कर देना सवर कहलाता है। आस्रव का मूल कारण योग है। अत योगनिवृत्ति ही मूलत संवर के पद पर प्रतिष्ठित हो सकती है। पर मन, वचन काय की प्रवृत्ति को सर्वथा रोकना सभव नहीं है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आहार करना, मलमूत्र का विसर्जन करना, चलना, फिरना, बोलना, रखना, उठाना आदि क्रियाएँ करना ही पडती हैं। अत जितने अशों में मन-वचन-काय की क्रियाओं का निरोध है उतने अश को गुप्ति कहते हैं। गुप्ति अर्थात् रक्षा। मन, वचन और काय की अकुशल प्रवृत्तियों से रक्षा करना। यह गुप्ति ही सवर का प्रमुख कारण है। गुप्ति के अतिरिक्त समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आदि से सवर होता है। समिति आदि में जितना निवृत्ति का भाग है उतना संवर का कारण होता है और प्रवृत्ति का अश शुभबन्ध का हेतु होता है।

समिति—सम्यक् प्रवृत्ति, सावधानी से कार्य करना। ईर्या समिति—अर्थात् देखकर चलना। भाषा समिति—अर्थात् हित मित प्रिय वचन बोलना। एपणा समिति—अर्थात् विधिपूर्वक निर्दोप आहार लेना। आदान-निक्षेपण समिति—अर्थात् देख-शोधकर किसी भी वस्तु का रखना उठाना। उत्सर्ग समिति—अर्थात् निर्जन्तु स्थान पर मल-मूत्र का विसर्जन करना।

धर्म—आत्मस्वरूप में धारण कराने वाले विचार और प्रवृत्तियॉ धर्म हैं। उत्तम क्षमा—क्रोध का त्याग करना। क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी विवेकवारि से उन्हे शान्त करना। कायरता दोप है और क्षमा गुण। जो क्षमा आत्मा में दीनता उत्पन्न करे वह धर्म नहीं। उत्तम मार्दव—मृदुता, कोमलता, विनयभाव, मान का त्याग। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर आदि की किंचित् विशिष्टता के कारण आत्मस्वरूप को न भूलना, इनका अहंकार न करना। अहंकार दोष है, स्वाभिमान गुण है। उत्तम आर्जव—ऋजुता, सरलता, मन-वचन-काय में कुटिलता न होकर सरलभाव होना। जो मन में हो, तदनुसारी ही वचन और जीवन-व्यवहार का होना। माया का त्याग—सरलता गुण है, भोंदूपन दोष है। उत्तम शौच—शुचिता, पवित्रता, निर्लोभ वृत्ति, प्रलोभन में नहीं फॅसना। लोभ कषाय का त्याग कर मन में पवित्रता लाना। शौच गुण आत्म शुद्धि है। उत्तम सत्य—प्रामाणिकता, विश्वास परिपालन, तथ्य स्पष्ट भाषण। सच बोलना धर्म है परन्तु परनिन्दा के लिए दूसरे के दोषों का ढिढोरा पीटना दोष है। पर-बाधाकारी सत्य भी दोप हो सकता है। उत्तम संयम—इन्द्रिय-विजय, प्राणी-रक्षण। पॉचों इन्द्रियों की विषय-प्रवृत्ति

पर अंकुश रखना, निरर्गल प्रवृत्ति को रोकना, वश्येन्द्रिय होना। प्राणियों की रक्षा का ध्यान रखते हुए खान-पान जीवन व्यवहार को अहिंसा की भूमिका पर चलाना संयम गुण है। पर भावशून्य बाह्य क्रियाकाण्ड का अत्यधिक आग्रह दोष है। उत्तम तप—इच्छानिरोध। मन की आशा तृष्णाओं को रोककर प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य (सेवाभाव) स्वाध्याय और व्युत्सर्ग (परिग्रहत्याग) में चित्तवृत्ति लगाना। ध्यान-चित्त की एकाग्रता। उपवास, एकाशन, रसत्याग, एकान्तसेवन, मौन, शरीर को सुकुमार न होने देना आदि बाह्यतप हैं। इच्छानिवृत्ति रूप तप गुण है और मात्र बाह्य कायक्लेश, पचाग्नि तपना, हठ योग की कठिन क्रियाएँ बालतप हैं। उत्तमत्याग—दान देना, त्याग की भूमिका पर आना। शक्त्यनुसार भूखों को भोजन, रोगी को औषधि, अज्ञाननिवृत्ति के लिए ज्ञान के साधन जुटाना और प्राणिमात्र को अभय देना। समाज और देश के निर्माण के लिए तन धन आदि साधनों का त्याग। लाभ पूजा नाम आदि के लिए किया जाने वाला दान उत्तम दान नहीं है। उत्तम आकिञ्चन्य—अकिञ्चनभाव, बाह्य पदार्थों में ममत्व भाव का त्याग। धन-धान्य आदि बाह्यपरिग्रह तथा शरीर में 'यह मेरा स्वरूप नहीं है, आत्मा का धन तो उसका शुद्ध चैतन्यरूप है' 'नास्ति मे किञ्चन'—मेरा कुछ नहीं है आदि भावनाएँ आकिञ्चन्य हैं। कर्त्तव्यनिष्ठ रहकर भौतिकता से दृष्टि हटाकर विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करना। उत्तम ब्रह्मचर्य—ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूप में विचरण करना। स्त्रीसुख से विरक्त होकर समस्त शारीरिक, मानसिक, आत्मिक शक्तियों को आत्मविकासोन्मुख करना। मनशुद्धि के बिना केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य न तो शरीर को ही लाभ पहुँचाता है और न मन और आत्मा में ही पवित्रता लाता है।

अनुप्रेक्षा—सद्भावनाएँ या आत्मविचार। जगत में प्रत्येक पदार्थ क्षणभंगुर है, स्त्री पुत्र आदि पर-पदार्थ स्वभावत अनित्य हैं अत इनके बिछुडने पर क्लेश नहीं होना चाहिए। ससार में मृत्युमुख से बचाने वाला कोई नहीं। बडे-बडे सम्राट् और साधनसम्पन्न व्यक्तियों को आयु की परिसमाप्ति होते ही इस नश्वर शरीर को छोड देना होता है। अत इस ध्रुवमृत्यु से घबडाना नहीं चाहिए। इस जगत् में कोई किसी को शरण नहीं है। इस संसार में यह जीव नाना योनियों में परिभ्रमण करते हुए भी आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं करने के कारण अनेक दुर्वासनाओं से वासित रहकर रागद्वेष आदि द्वन्द में उलझा रहा। मैं अकेला हूँ, मैं स्वय एक स्वतत्र हूँ। स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, मकान यहाँ तक कि शरीर भी मेरा नहीं है, हमारे स्वरूप से जुदा है। यह शरीर माँस रुधिर आदि सात धातुओं से बना हुआ है। इसमें नव द्वारों से मल बहता रहता है। इसकी सेवा करते-करते जीवन बीत गया। यह जब तक है तब तक अपना और जगत का जो उपकार हो सकता हो, कर लेना चाहिए। जितने रागादि भाव और वासनाएँ हैं उनसे फिर दुर्भावों की सृष्टि होती है, कर्मों का आस्रव होता है और उससे आत्मा को बन्धन में पडना पडता है। अत इन रागद्वेष आदि कषायों को छोड देना चाहिए। सद्विचार, अहिंसकवृत्ति, समताभाव आदि आध्यात्मिक वृत्तियों से रागादि कषायों का शमन होता है, आगे होने वाले

कुभाव रोके जा सकते हैं, सद्विचारों की सृष्टि की जा सकती है, पुराने दुर्विचारों से और खोटी आदतों से धीरे-धीरे उद्धार हो सकता है। यह अनन्तलोक अनन्त विचित्रताओं से भरा है। इसमें लिप्त होना मूर्खता है। व्यक्ति का उद्धार ही मुख्य है। लोक के प्राकृतिक रूप का तटस्थ भाव से चिन्तन करने से रागादि वृत्तियाँ अपने आप सकुचित होने लगती हैं। साक्षी बनने में जो आनन्द है वह लिप्त होने में नहीं। संसार में सब पदार्थ सुलभ हैं, बूढे से जवान बनने के साधन भी विज्ञान ने उपस्थित कर दिये हैं, पर बोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञान-तत्त्वनिर्णय होना कठिन है। जिससे आत्मा शान्ति और निराकुलता का लाभ करे वह बोधि अत्यंत दुर्लभ है। यह अहिंसा की भावना, मानवमात्र के ही नहीं, प्राणिमात्र के सुख की आकांक्षा, जगत के हित की पुण्यभावना ही धर्म है। प्राणिमात्र में मैत्रीभाव, गुणियों के गुण में प्रमोदभाव, दुखी जीवों के दुख में सहानुभूति और संवेदना के विचार तथा जिनसे हमारी चित्तवृत्ति का मेल नहीं खाता उन विपरीत पुरुषों से द्वेष न होकर तटस्थ भाव ही हमारी आत्मा को तथा मानवसमाज को अहिंसक तथा उच्च भूमिका पर ले जा सकते हैं। ऐसी भावनाओं को सदा चित्त में भाते रहना चाहिये। इन विचारों से सुसस्कृत चित्त समय आने पर विचलित नहीं हो सकता, सभी द्वन्दों में समताभाव रख सकता है और कर्मों के आस्रव को रोककर सवर की ओर ले जा सकता है।

परीषहजय—साधक को भूख-प्यास, ठड, गरमी, बरसात, डास, मच्छर, चलने-फिरने सोने में आनेवाली कंकड आदि बाधाओं एव वध, आक्रोश, मल, रोग आदि की बाधाओं को शान्ति से सहना चाहिए। नग्न रहते हुए भी स्त्री आदि को देखकर अविकृत बने रहना चाहिए। चिरतपस्या करने पर भी यदि कोई ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त न हो तो भी तपस्या के प्रति अनादर नहीं होना चाहिए। कोई सत्कार पुरस्कार करे तो हर्ष, न करे तो खेद नहीं करना चाहिए। यदि तपस्या से कोई विशेष ज्ञान प्राप्त हो गया हो तो अहकार और प्राप्त न हुआ हो तो खेद नहीं करना चाहिए। भिक्षावृत्ति से भोजन करते हुए भी दीनता का भाव आत्मा में नहीं आने देना चाहिए। इस तरह परीषहजय से चारित्र में दृढ निष्ठा होती है और इससे आस्रव रुककर संवर होता है।

चारित्र—चारित्र अनेक प्रकार का है। इसमें पूर्ण चारित्र मुनियों का होता है तथा देश-चारित्र श्रावकों का। मुनि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन व्रतों का पूर्णरूप में पालन करते है तथा श्रावक इनको एक अश में। मुनियों के महाव्रत होते हैं तथा श्रावकों के अणुव्रत। इनके सिवाय सामायिक आदि चारित्र भी होते हैं। सामायिक—समस्त पापक्रियाओं का त्याग, समताभाव की आराधना। छेदोपस्थापना—यदि व्रतों में दूषण आ गया हो तो फिर से उसमें स्थिर होना। परिहारविशुद्धि—इस चारित्रवाले व्यक्ति के शरीर में इतना हलकापन आ जाता है कि सर्वत्र गमन करते हुए भी इसके शरीर से हिंसा नहीं होती। सूक्ष्म साम्पराय—अन्य सब कषायों का उपशम या क्षय होने पर जिसके मात्र सूक्ष्म लोभकषाय रह जाती है उसके सूक्ष्मसाम्पराय

चारित्र होता है। यथाख्यातचारित्र—जीवनमुक्त व्यक्ति के समस्त कषायों के क्षय होने पर होता है। जैसा आत्मा का स्वरूप है वैसा ही उसका प्राप्त हो जाना यथाख्यात-चारित्र है। इस तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आदि की किलेबन्दी होने पर कर्मशत्रु के प्रवेश का कोई अवसर नहीं रहता और पूर्णसंवर हो जाता है।

निर्जरा—गुप्ति आदि से सर्वत संवृत व्यक्ति आगामी कर्मों के आस्रव को तो रोक ही देता है, साथ ही साथ पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करके क्रमश मोक्ष को प्राप्त करता है। निर्जरा झडने को कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है— (१) औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा और (२) अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा। तप आदि साधनाओं के द्वारा कर्मों को बलात् उदय में लाकर बिना फल दिये ही झडा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक क्रम से प्रति समय कर्मो का फल देकर झड जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रति समय हर एक प्राणी के होती ही रहती है और नूतन कर्म बँधते जाते हैं। गुप्ति, समिति और खासकर तपरूपी अग्नि के द्वारा कर्मों को उदयकाल के पहले ही भस्म कर देना अविपाक निर्जरा या औपक्रमिक निर्जरा है। सम्यग्दृष्टि, श्रावक, मुनि, अनन्तानुबन्धी का विसयोजन करने वाले, दर्शनमोह का क्षय करने वाले, उपशान्तमोह गुणस्थानवाले. क्षपक श्रेणी वाले. क्षीणमोही और जीवनमुक्त व्यक्ति क्रमश असख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा करते हैं। 'कर्मों की गति टल नहीं सकती' यह एकान्त नहीं है। यदि आत्मा में पुरुषार्थ हो और वह साधना करे तो समस्त कर्मों को अन्तर्मुहूर्त में ही नष्ट कर सकता है। "नाभुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।" अर्थात् सैकडों कल्पकाल बीत जाने पर भी बिना भोगे कर्मों का क्षय नहीं हो सकता—यह मत जैनों को मान्य नहीं। जैन तो यह कहते हैं कि "ध्यानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते क्षणात्।" अर्थात् ध्यानरूपी अग्नि सभी कर्मों को क्षण भर में भस्म कर सकती है। ऐसे अनेक दृष्टान्त मौजूद हैं—जिन्होने अपनी प्राक्साधना का इतना बल प्राप्त कर लिया था कि साधुदीक्षा लेते ही उन्हे कैवल्य-लाभ हो गया। पुरानी वासनाओं को और रागद्वेष आदि कुसंस्कारों को नष्ट करने का एकमात्र मुख्य साधन है ध्यान अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध करके उसे एकाग्र करना।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने बन्ध (दुःख), बन्ध के कारण (आस्रव), मोक्ष और मोक्ष के कारण सवर और निर्जरा—इन पाँच तत्त्वों के साथ ही साथ आत्मतत्त्व के ज्ञान की भी खास आवश्यकता बतायी जिससे बन्धन और मोक्ष होता है तथा उस अजीव तत्त्व के ज्ञान की जिसके कारण अनादि से यह जीव बन्धनबद्ध हो रहा है।

रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है
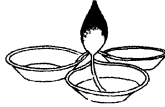
❑ *उपाध्याय श्री भरतसागरजी*

ससार की प्रत्येक वस्तु का जो अपना स्वभाव है वह धर्म है। धर्म प्राणी मात्र के लिए है। आज मानव-मस्तिष्क में प्रश्न है कि धर्म क्या चीज है? कार्ल मार्क्स ने धर्म को अफीम की गोली बताया, किसी ने इसे पाखण्ड माना, अनेक लोगों ने अपने-अपने विचारानुसार धर्म की अनेक व्याख्याएं की है।

धर्म शब्द अत्यन्त व्यापक है। इसको हम किसी सीमित दायरे में नहीं रख सकते। धर्म का व्यावहारिक अर्थ है कर्त्तव्यपालन। इस पर महान् ऋषि, मुनि, तपस्वियों, विद्वानों, चिन्तकों व आत्मानुभवियों ने अपने चिन्तन के आधार पर जो कुछ उपलब्ध हुआ, उसे ग्रन्थों में लिखा। सर्वज्ञ जिनदेव ने इसे आत्मधर्म कहा, किसी ने इसे राष्ट्रधर्म कहा, किसी ने पारिवारिकधर्म कहा, किसी ने गृहस्थधर्म कहा और किसी ने साधुधर्म कहा। धर्म शब्द व्यावहारिक जीवन की प्रत्येक स्थिति व वस्तु के साथ सम्बन्धित है। जीवन के विभिन्न अगो व कार्यों के साथ धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। चिन्तन की धारा से प्राप्त सार रूप में कहा गया है कि—

धम्मो वत्थु सहावो, खमादि भावेहि दशविहो धम्मो।
रयणत्तय च धम्मो, जीवाण रक्खण धम्मो॥ का अ ॥

जैन शासन अपेक्षा दृष्टि पर टिका हुआ है। जिनागम चार अनुयोगों में विभाजित है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

प्रथमानुयोग की अपेक्षा—जीवो की रक्षा करना धर्म है या जीवों पर दया करना धर्म है।

करणानुयोग की अपेक्षा—रत्नत्रय धर्म है।

चरणानुयोग की अपेक्षा—उत्तम क्षमादि रूप दस प्रकार का धर्म है। और

द्रव्यानुयोग की अपेक्षा—वस्तु का स्वभाव धर्म है।

इनमें रत्नत्रय धर्म सब धर्मों का शिरोमणि है। अन्य धर्म कारणरूप हैं और रत्नत्रय धर्म कार्यरूप है। आचार्य श्री समतभद्र स्वामी ने जब धर्मोपदेश करने की प्रतिज्ञा की तब उन्होंने कहा—मैं समन्तभद्र उस धर्म का उपदेश दे रहा हूं जो कर्मो का क्षय करने के साथ जीवों को ससार के दुखों से छुडाकर अनन्त सुखमय मोक्ष अवस्था में पहुंचा देता है वह धर्म कौन-सा है—

"सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि, धर्म धर्मेश्वरा विदु ।
यदीय प्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धति" (३ र श्रा)

संसार के दुखों से छुडाकर संतप्त जीवों को मोक्षसुख में पहुचाने के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तो धर्म कहलाते हैं तथा संसार में परिभ्रमण कराने के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र अधर्म कहे जाते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थराज में उमास्वामी आचार्य ने सर्वप्रथम पहले सूत्र में इसका कथन किया है—

"सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग" (१त सू)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो मिलकर मोक्ष के मार्ग अर्थात् मोक्षप्राप्ति के उपाय हैं।

'मोक्षमार्ग" इस पद में व्याकरण के नियमानुसार बहुवचन होना चाहिए पर आचार्य श्री ने एकवचन ही रखा जिसका तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र तीनों की एकता ही मोक्ष का मार्ग है—Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct lead us to Salvation

आगमदृष्टि में सम्यक्दर्शन, ज्ञान व चारित्र

"प्रणिधान विशेपाहितद्वैविध्यजीवव्यापार तत्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्।" (राजवार्तिक १९१९)

अर्थात् प्रणिधान विशेष से आत्मसात्कृत दो प्रकार के कारणों से जनित है व्यापार जिसके ऐसे तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

"नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगम सम्यग्ज्ञानम्"।।रा वा १।२१।। अर्थात् नय-प्रमाण विकल्पपूर्वक जीवादि पदार्थों को जैसे का तैसा जानना सम्यक्ज्ञान है।

ससारकारणविनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवता बाह्याभ्यन्तरक्रिया विशेपोपरम सम्यक्चारित्रम्।। अर्थात् ससार के कारणभूत रागद्वेपादि की निवृत्ति के लिए कृतसकल्प विवेकी पुरुष की बाह्य एव आभ्यनर क्रियाओं (शारीरिक और वाचनिक क्रियाओं को बाह्य क्रिया कहते हैं और मानसिक क्रिया को आभ्यतर क्रिया कहते हैं) का रुक जाना ही सम्यक्चारित्र है।

अध्यात्म भाषा में रत्नत्रय

जैन सिद्धान्त में आगमदृष्टि व अध्यात्मदृष्टि दोनो अपेक्षाओं से वस्तु का अविरोध विवेचन पाया जाता है। अथवा द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक दोनों नयों की अपेक्षा से वस्तु का विवेचन

किया जाता है।

शंका—अज्ञान से बंध व ज्ञान से मोक्ष होता है, यह सभी को जब निर्विवाद रूप से स्वीकृत है तो सम्यग्दर्शनादि तीनों से मोक्ष की कल्पना युक्त नहीं है।

समाधान—आचार्य अकलंकदेव कहते हैं—रसायन के समान सम्यग्दर्शनादि तीनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। तीनों की समग्रता के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जैसे रसायन के ज्ञान मात्र से रसायनफल व रोगनिवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि रसायन श्रद्धान और रसायन क्रिया का अभाव है। यदि किसी ने रसायन के ज्ञान मात्र से रसायनफल अर्थात् आरोग्य देखा हो तो बताये। परन्तु रसायन के ज्ञान मात्र से आरोग्य फल नहीं मिलता है, न रसायन का क्रिया (अपथ्यत्यागादि) मात्र से रोगनिवृत्ति होती है। क्योंकि इसमें रसायन के आरोग्यता गुण का श्रद्धान और ज्ञान का अभाव है तथा ज्ञानपूर्वक क्रिया से रसायन का सेवन किये बिना केवल श्रद्धान से ही आरोग्यता नहीं मिल सकती है। जिस प्रकार पूर्णफल (स्वास्थ्य) की प्राप्ति के लिए रसायन का विश्वास, ज्ञान और उसका सेवन आवश्यक ही है उसी प्रकार यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि दर्शन और चारित्र के अभाव में सिर्फ ज्ञान मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्षमार्ग के ज्ञान और तदनुरूप क्रिया के अभाव में सिर्फ श्रद्धान मात्र से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता और न ज्ञान श्रद्धाशून्य क्रिया मात्र से मुक्ति प्राप्त हो सकती है क्योंकि ज्ञान-श्रद्धान रहित क्रिया निष्फल है।

द्रव्यार्थिक दृष्टि से ज्ञान, दर्शन व चारित्र में एकत्व है तथा पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से ज्ञानादि में नानात्व है।

शंका—लक्षण भेद होने से एकमार्गत्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती है?

समाधान—सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र में परस्पर संसर्ग होने पर एक मार्ग की उत्पत्ति होती है। दीपक के समान।

शंका—भिन्न-भिन्न लक्षण वालों के एकत्व नहीं हो सकती इसलिए तीन मोक्षमार्ग हैं तीनों का समुदाय मोक्षमार्ग एक नहीं है?

उत्तर में आचार्यदेव लिखते हैं—जैसे परस्पर विलक्षण बत्ती, तेल, अग्नि आदि पदार्थों की बाह्याभ्यन्तर परिणाम कारण से प्राप्त संयोग पर्यायों का समुदाय एक दीपक होता है, तेल, बत्ती और अग्नि ये तीनों पृथक्-पृथक् दीपक नहीं है। उसी प्रकार परस्पर विलक्षण सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनों का समुदाय मोक्षमार्ग होता है। सम्यग्दर्शनादि पृथक-पृथक् मोक्षमार्ग नहीं हैं। अर्थात् तेल, बत्ती और अग्नि तीनों मिलकर एक ऐसी ज्योति उत्पन्न करते हैं जिससे अज्ञानान्धकार नाशक एक दीपक बन जाता है, उसी प्रकार विभिन्न लक्षण वाले सम्यग्दर्शनादि भी तीनों मिलकर एक ऐसी आत्मज्योति उत्पन्न करते हैं जो अखड भाव से एक मोक्षमार्ग बन जाता है।

केवल दर्शन या ज्ञानमात्र से तथा अकेले चारित्र से भी अर्थ की सिद्धि दृष्टिगोचर नहीं होती है। अत मोक्षमार्ग की कल्पना "रत्नत्रय" से करना ही श्रेष्ठ है। कहा भी है—

"हत ज्ञान क्रियाहीन, हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्ध, पश्यन्नापि च पगुल"॥१॥

"सयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा, न ह्येकचक्रेण रथ प्रयाति।
अन्धश्च पदगुश्च वने प्रविष्टौ, तौ सप्रयुक्तौ नगर प्रविष्टौ"॥२॥

अर्थात् क्रियाहीन ज्ञान नष्ट हो जाता है और अज्ञानियों की क्रिया निष्फल होती है। दावानल से व्याप्त वन में जिस प्रकार अन्धा इधर-उधर भाग कर भी जल जाता है उसी प्रकार लंगडा देखता हुआ भी जल जाता है। अथवा एक चक्र से रथ नहीं चल सकता है। अत ज्ञान और क्रिया का सयोग ही कार्यकारी है। एक अन्धा और एक लगडा दोनों वन में प्रविष्ट थे। दोनों मिल गये तो नगर में आ गये। यदि अन्धा और लगडा मिल जायें और अन्धे पर लगडा बैठ जाये तो दोनों का ही उद्धार हो जाय।

इन सम्यग्दर्शनादि में पूर्व की प्राप्ति होने पर उत्तर की प्राप्ति भजनीय होती है। परन्तु उत्तर की प्राप्ति हो जाने पर पूर्व का लाभ निश्चय से होगा ही। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पाठ के प्रति पूर्व उत्तरपना है। पूर्व सम्यग्दर्शन का लाभ हो जाने पर सम्यग्ज्ञान वहा भजनीय है पर जहॉ ज्ञान की पूर्णता है वहा दर्शन की पूर्णता तो है ही। उसी प्रकार पूर्व ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर भी उत्तरचारित्र की प्राप्ति हो भी और न भी हो परन्तु सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाने पर सम्यक्दर्शन ओर ज्ञान का लाभ अवश्य होगा। क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अभाव में सम्यक्चारित्र बन नहीं सकता है।

यहॉ इतनी बात ध्यान रखने योग्य है कि—दर्शन के साथ ज्ञान को भजनीय कहा है, यह कथन पूर्ण केवलज्ञान की अपेक्षा है, यहा सर्व कथन नय सापेक्ष है। यहा पूर्ण ज्ञान को भजनीय कहा है न कि सामान्य ज्ञान को।

अर्थात् सम्यग्दर्शन की पूर्णता क्षायिक सम्यक्त्व अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थान में ही हो जाती है पर सम्यग्दर्शन होने पर पूर्ण द्वादशाग और चतुर्दश पूर्व रूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान हो ही जायेगा, ऐसा नियम नहीं है। इसी प्रकार पूर्व सम्यग्दर्शन के लाभ होने पर सम्यक्चारित्र—देशचारित्र, संयतासयतचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र भजनीय है क्योंकि दर्शन की पूर्णता हो जाने पर सम्पूर्ण चारित्र हो जायेगा, ऐसा नियम नहीं है, परन्तु सम्यक्चारित्र सहित के सम्यक् दर्शन अवश्य होगा।

तात्पर्य यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चतुर्थ गुणस्थान में हो गई पर मुक्ति नहीं मिलती। क्षायिकज्ञान, केवलज्ञान की प्राप्ति तेरहवें गुणस्थान में हो जाती है फिर भी जीव आठ वर्ष कम पूर्व कोटि काल तक ससार में बना रहता है। इससे सिद्ध होता है कि अकेला दर्शन

व अकेला ज्ञान, अथवा दर्शन व ज्ञान उभय भी मुक्ति के कारण नहीं हैं जैसे ही चौदहवें गुणस्थान के चरम समय में चारित्र की पूर्णता कर जीव रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त होता है तभी मुक्तावस्था को प्राप्त हो पाता है।

रयणत्तयं ण वट्टइ, अप्पाणं मुयत्तु अण्णदवियम्हि।
तम्हा तत्तियमइयो, होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा॥द्र स ॥

यह रत्नत्रय आत्मा को छोडकर अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता है इसलिए तीनों से युक्त आत्मा ही मुक्ति का कारण है।

सम्यक् दर्शन-ज्ञान-व्रत इन बिन मकति न होय।
अन्ध पगु अरु आलसी, जुदैं जलैं दव-लोय॥र त्र पू ॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की एकता मोक्ष है अन्यथा जैसे अन्धा, लंगडा व आलसी अलग-अलग हैं तो जलते हुए वन में जलकर भस्म हो जायेंगे और यदि तीनों मिल जायेंगें तो जलने से बच जायेंगे। इसी प्रकार रत्नत्रय की एकता प्राप्त जीव ससार के दु ख दावानल से बचकर मुक्ति को प्राप्त होता है।

रत्नत्रय प्राप्ति का उपाय

प्रथम देव अरहन्त, सुश्रुत सिद्धान्त जू,
गुरु निर्ग्रन्थ महन्त, मुकतिपुर पन्थ जू।
तीन रतन जग माहि, सो ये भवि ध्याइये,
तिनकी भक्ति प्रसाद, परम-पद पाइये। दे शा गु पूजा॥

आम से ही आम मिलना है—बोय पेड बबूल के आम कहा से होय। इसी प्रकार कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र की उपासना करने वाले को कभी रत्नत्रय निधि उपलब्ध नहीं हो सकती है। रत्नों की उपासना ही रत्नों को प्रदान करती है।

ससारी प्राणी पत्थर को रत्न माने बैठा है। हीरा-माणिक-पन्ना आदि मिट्टी-पत्थर के जड टुकडों को अज्ञानी जीव ने आज तक रत्न मानकर इन्हीं की सभाल की, सच्चे जौहरी बनकर रत्नों की परख कभी नहीं की। सच्चे रत्न (१) सच्चे देव, (२) सच्चे गुरु (निर्ग्रन्थ) और (३) जिनागम ये वास्तव में रत्न हैं। जो भव्यात्मा इन तीनों रत्नों की भक्ति में जीवन को समर्पण कर देता है वह स्वय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय का स्वामी बन शाश्वत, अमरपद को प्राप्त करता है। रत्नत्रय प्राप्ति के लिए भव्यात्मा के प्रतिदिन भाने योग्य भावना—

जिने भक्तिर्जिने भक्ति र्जिने भक्ति सदास्तु मे।
सम्यक्त्वमेव ससार-वारण मोक्षकारण ॥२१॥

मेरी जिनेन्द्र देव में सदा बार बार भक्ति हो क्योंकि उनकी भक्ति से होन वाला सम्यग्दर्शन ही ससार का निवारण कर मोक्ष का कारण होता है।

श्रुते भक्ति श्रुते भक्ति श्रुते भक्ति सदास्तु मे।
सज्ज्ञानमेव ससार वारण मोक्ष कारणम् ॥२२॥

मेरी द्वादशाग श्रुत में सदा बार बार भक्ति हो क्योंकि इसके निमित्त से होनेवाला सम्यग्ज्ञान ही ससार का निवारण कर मोक्ष का दाता होता है।

गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्ति सदास्तु मे।
चारित्रमेव ससार वारण मोक्ष कारणम्॥२३॥

मेरी गुरु में सदा बार बार भक्ति हो क्योंकि इनके निमित्त से प्रकट होने वाला चारित्र ही ससार का विनाशकर मोक्ष का कारण होता है।

निश्चय और व्यवहार मोक्ष-मार्ग

❑ पं. बशीधर व्याकरणाचार्य, बीना

जैनागम की व्यवस्था यह है कि प्रत्येक जीव अनादिकाल से ससारी बनकर ही रहता आया है। परन्तु संसार-प्राप्त संपूर्ण जीवों में बहुत से ऐसे भी जीव हो गये हैं, जिन्होंने अनादिकालीन अपने उस संसार को समाप्त कर दिया है और उनमें आज भी बहुत से ऐसे जीव हैं जो अपने अन्दर उस अनादिकालीन ससार को समाप्त करने की सामर्थ्य[१] छिपाये हुए हैं।

ससार की परिसमाप्ति जीव के साथ अनादिकाल से ही सम्बद्ध ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों, शरीरादि नोकर्मों और इनके निमित्त से जीव में उत्पन्न होने वाले भावकर्मों का समूल क्षय हो जाने पर हुआ करती है। इस तरह कहना चाहिए कि उक्त सपूर्ण कर्मों के समूल क्षय हो जाने अथवा यों कहिए कि उक्त सपूर्ण कर्मों से जीव द्वारा सर्वथा छुटकारा पा जाने का नाम मोक्ष है।[२]

जैनागम में यह भी बतलाया गया है कि जीवों को मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उपलब्धि हो जाने पर ही सभव है[३]। अत वहाँ पर यह और बतलाया गया है कि उक्त सम्यग्दर्शन आदि तीनों का समाहार ही मोक्ष का मार्ग है।[४] चूँकि मोक्षमार्गस्वरूप उक्त सम्यग्दर्शनादिक तीनों निश्चय तथा व्यवहार के भेद से दो-दो भेद रूप होते हैं। अत इस आधार पर मोक्षमार्ग को भी निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्ष-मार्ग के रूप में दो भेद रूप जान लेना चाहिए।[५]

इससे यह सिद्धान्त फलित होता है कि जीव को मोक्ष की प्राप्ति व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्ररूप व्यवहारमोक्षमार्ग तथा निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्ररूप निश्चयमोक्षमार्ग दोनों का अवलम्बन प्राप्त होने पर ही होती है।[६] इतना अवश्य है कि निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चयमोक्षमार्ग तो मोक्ष का साक्षात् कारण होता है और व्यवहारसम्यग्दर्शनादिरूप व्यवहारमोक्षमार्ग उसका परपरया अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग का कारण होकर कारण होता है।[७]

पडितप्रवर दौलतरामजी ने छहढाला की तीसरी ढाल के प्रारम्भ में इस विषय पर सक्षेप से बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला है। वह इस प्रकार है—

> 'आतमको हित है सुख सो सुख आकुलता-विन कहिये।
> आकुलता शिव माहि न तातें शिवमग लाग्यौ चहिये।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग, सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो ववहारो ॥१॥

इस पद्य में श्रद्धेय पंडित जी ने कहा है कि आत्मा का हित सुख है और वह सुख जीव में आकुलता का अभाव होने पर उत्पन्न होता है। उस आकुलता का अभाव ही मोक्ष है। अत जीवों को मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिए। मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है। यह सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्षमार्ग निश्चय तथा व्यवहार के भेद से दो प्रकार का होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों व्यवहाररूप भी होते हैं और निश्चयरूप भी होते हैं। इस तरह कहना चाहिए कि जो सम्यग्दर्शनादिक निश्चयरूप होते हैं वे निश्चय-मोक्षमार्ग में गर्भित होते हैं और जो सम्यग्दर्शनादिक व्यवहाररूप होते हैं वे व्यवहार-मोक्षमार्ग में गर्भित होते हैं। इनमें से जो मोक्षमार्ग मोक्ष का साक्षात् कारण होता है वह निश्चय-मोक्षमार्ग है और जो मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का कारण होता है वह व्यवहारमोक्षमार्ग है।

यहाँ हम मुख्यतया इसी विषय को स्पष्ट करना चाहते हैं इसलिए यहाँ पर हम सर्वप्रथम निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चय-मोक्षमार्ग तथा व्यवहारसम्यग्दर्शनादिरूप व्यवहार-मोक्षमार्ग के स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे हैं।

निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चयमोक्षमार्ग का स्वरूप

निश्चयसम्यग्दर्शनादिरूप निश्चयमोक्षमार्ग का स्वरूप प्रतिपादन करने के लिए श्री प दौलतरामजी के छहढाला की तीसरी ढाल का निम्नलिखित पद्य पर्याप्त है—

'परद्रव्यनतें भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है।
आप रूपका जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है।
आप रूपमें लीन रहे थिर सम्यक्चारित सोई।
अब ववहार मोक्ख मग सुनिये हेतु नियत को होई॥२॥

इस पद्य का आशय यह है कि समस्त चेतन-अचेतनरूप परपदार्थों की ओर से मुड़कर अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति की ओर जीव की अभिरुचि (उन्मुखता या झुकाव) हो जाने का नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है। जीव को अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाने का नाम निश्चयसम्यग्ज्ञान है और बुद्धिपूर्वक तथा अबुद्धिपूर्वक होने वाली कषायजन्य पाप व पुण्यरूप समस्त प्रकार की प्रवृत्तियों से निवृत्ति पाकर जीव का अपने आत्मस्वरूप में लीन हो जाना ही निश्चयसम्यक्चारित्र है।

इस पद्य के अन्तिम चरण में श्रद्धेय पंडित जी ने संकेत किया है कि आगे सम्पूर्ण छहढाला में निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्ररूप निश्चयमोक्षमार्ग के

कारणभूत व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और र
का विवेचन किया जायेगा। इस तरह पंडित
विवेचन के अनुसार व्यवहारमोक्षमार्गरूप व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्र का स्वरूप निर्धारित होता है। उसी का यहाँ पर विशेष कथन किया जाता है।

व्यवहारसम्यग्दर्शन का स्वरूप

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष नाम के सात तत्त्वो के प्रति जीव के अन्तकरण में श्रद्धा अर्थात् इनके स्वरूपादि की वास्तविकता के सम्बन्ध में ज्ञान की दृढता (आस्तिक्य भाव) जागृत हो जाने का नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है। इसके आधार पर ही जीवों को उपर्युक्त निश्चयसम्यग्दर्शन की उपलब्धि हुआ करती है।

आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र में व स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार में सम्यग्दर्शन का जो स्वरूप उपलब्ध होता है वह व्यवहारसम्यग्दर्शन का ही स्वरूप है। यद्यपि उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र में उपर्युक्त सात तत्त्वों के श्रद्धान का नाम ही सम्यग्दर्शन कहा है[८]। लेकिन स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्डकश्रावकाचार मे सम्यग्दर्शन का लक्षण इस रूप में बतलाया है कि परमार्थ अर्थात् वीतरागता के आदर्श देवों, परमार्थ अर्थात् वीतरागता के पोषक शास्त्रों और परमार्थ अर्थात् वीतरागता के मार्ग में प्रवृत्त गुरुओं के प्रति जीव के अन्तकरण में भक्ति का जागरण हो जाना सम्यग्दर्शन है[९]। अत तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डकश्रावकाचार में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन के इन लक्षणों मे उपर्युक्त प्रकार से यद्यपि भेद दिखाई देता है। परन्तु गहराई से विचार करने पर मालूम हो जाता है कि रत्नकरण्डकश्रावकाचार में प्रतिपादित लक्षण से भी निष्कर्ष के रूप में जीव के अन्तकरण में उपर्युक्त सात तत्त्वों के प्रति आस्तिक्यभाव की जागृति हो जाना ही सम्यग्दर्शन का स्वरूप निश्चित होता है।

व्यवहारसम्यग्ज्ञान का स्वरूप

वीतरागता के पोषक अथवा सप्ततत्त्वों के यथावस्थित स्वरूप के प्रतिपादक आगम का श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन और मनन का नाम व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। इस प्रकार के व्यवहारसम्यग्ज्ञान के आधार पर ही जीवों को समस्त वस्तुओं के और विशेष कर आत्मा के स्वतसिद्ध स्वरूप का बोध होता है। जैसे आत्मा का स्वतसिद्ध स्वरूप ज्ञायकपना[१०] अर्थात् समस्त पदार्थों को देखने-जानने की शक्ति रूप है। चूंकि यह स्वरूप स्वतसिद्ध है। अत यह आत्मा के अनादि, अनिधन, स्वाश्रित और अखण्ड (स्वरूप के साथ तादात्म्य को लिये हुए) अस्तित्व को सिद्ध करता है। हमें आत्मा के इस तरह के स्वरूप को समझने में उपर्युक्त प्रकार के आगम का श्रवण, पठन, पाठन, अभ्यास, चिन्तन और मनन सहायक होता है।

विचार कर देखा जाय तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पूर्व ही इस प्रकार के सम्यक् अर्थात् वीतरागता के पोषक ज्ञान को प्राप्त करने की प्रत्येक जीव के लिए आवश्यकता है। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की गाथा १८ से भी यही सकेत प्राप्त होता है क्योंकि उसमें बतलाया है कि पहले आत्मारूपी राजा की पहिचान करो, फिर उसका श्रद्धान अर्थात् आश्रयण करो और तत्पश्चात् उसके अनुकूल आचरण करो तो मोक्ष की प्राप्ति होगी। इस तरह मोक्षमार्ग में यद्यपि सम्यग्दर्शन से पूर्व ही सम्यग्ज्ञान को स्थान देना चाहिए। परन्तु वहाँ पर इसको जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के मध्य में स्थान दिया गया है, इसका एक कारण तो यह है कि जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाने पर ही उसके उक्त प्रकार के ज्ञान की सम्यक्रूपता अर्थात् सार्थकता सिद्ध होती है और दूसरा कारण यह है कि जीव को उसकी (उक्त प्रकार के ज्ञान की) उपयोगिता मध्यदीपक न्याय से सम्यग्दर्शन की तरह सम्यक्चारित्र पर आरूढ होने के लिए भी सिद्ध होती है।[१२] इसके अतिरिक्त एक तीसरा कारण यह भी है कि मोक्षमार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन की पूर्ति सर्वप्रथम अर्थात् चतुर्थगुणस्थान से लेकर अधिक-से-अधिक सप्तमगुणस्थान तक नियम से हो जाती है, सम्यग्ज्ञान की पूर्ति उसके बाद तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में होती है और सम्यक्चारित्र की पूर्ति सम्यग्ज्ञान की पूर्ति के अनन्तर चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय में ही होती है। इस विषय को आगे स्पष्ट किया जायेगा।

व्यवहारसम्यक्चारित्र का स्वरूप

बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होने वाली समस्त कषायजन्य पाप और पुण्यरूप प्रवृत्तियों से निवृत्ति पाकर अपने आत्मस्वरूप में लीन (स्थिर) होने रूप निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिए यथाशक्ति अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्तिधर्म और तप आदि क्रियाओं में जीव की प्रवृत्ति होने लग जाना व्यवहारसम्यक्चारित्र है।

उक्त प्रकार के निश्चयसम्यक्चारित्र का अपर नाम यथाख्यातचारित्र है तथा उसे वीतरागचारित्र भी कहते हैं।[१३] उसकी प्राप्ति जीव को यद्यपि उपशमश्रेणी पर आरूढ होकर ११वें गुणस्थान में पहुँचने पर भी होती है और क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर १२वें गुणस्थान में पहुँचने पर भी होती है। परन्तु ११वें गुणस्थान और १२वें गुणस्थान के निश्चयसम्यक्चारित्र में परस्पर अन्तर पाया जाता है। अर्थात् उपशमश्रेणी पर आरूढ होकर ११वें गुणस्थान में पहुँचने वाला जीव अन्तर्मुहूर्त के अल्पकाल में ही पतन की ओर उन्मुख हो जाता है और तब उसका वह निश्चयसम्यक्चारित्र भी उसी समय समाप्त हो जाता है। इसके विपरीत क्षपकश्रेणी पर आरूढ होकर १२वें गुणस्थान में पहुँचने वाला जीव कदापि पतन की ओर उन्मुख नहीं होता। इसलिए उसका वह निश्चयसम्यक्चारित्र स्थायी रहा करता है। साथ ही वह जीव अन्तर्मुहूर्त के अल्पकाल में ही १२वें गुणस्थान से १३वें गुणस्थान में पहुँचकर नियम से सर्वज्ञता को प्राप्त

कर लेता है। मोक्ष-मार्ग के प्रकरण से १२वें गुणस्थान में प्राप्त होने वाले स्थायी निश्चयचारित्र को ही ग्रहण किया गया है।

यहाँ पर एक बात हम यह कह देना चाहते हैं कि उपर्युक्त निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिए ही चतुर्थ गुणस्थान का अविरतसम्यग्दृष्टि जीव मुमुक्षु होकर पुरुषार्थ करके पाँचवें गुणस्थान में अणुव्रत धारण करता है तथा इससे भी आगे बढकर छठे गुणस्थान में वह महाव्रत धारण करता है। इतना ही नहीं, घोर तपश्चरण करके आगे बढता हुआ वह सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त होकर आत्मपरिणामों की उत्तरोत्तर बढती हुई यथायोग्य विशुद्धि के अनुसार उपशमश्रेणी पर आरूढ होता है या क्षपक श्रेणी पर आरूढ होता है। इस तरह कहना चाहिए कि जब तक उस जीव को उक्त निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं हो जाती है तब तक वह पाँचवें और छठे गुणस्थानों में बुद्धिपूर्वक और सातवें से लेकर दशवें तक के गुणस्थानों में अबुद्धिपूर्वक उपर्युक्त व्यवहारसम्यक्चारित्र में ही प्रवृत्त रहता है। इस व्यवहारसम्यक्चारित्र का भी अपर नाम सक्षेप से सरागचारित्र और विस्तार से सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसापरायरूप चारित्र है।

यद्यपि अणुव्रत और महाव्रत तथा समिति, गुप्ति, धर्म एव तपश्चरण आदि बाह्यक्रियायें उस-उस कषाय के उदय और अनुदय के अनुसार पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन से रहित कोई-कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी करने लगते हैं। इतना ही नहीं, इन क्रियाओं को सलग्नतापूर्वक करने पर उनमें से कोई-कोई जीव यथासभव स्वर्ग में नौवें ग्रैवेयक तक जन्म भी धारण कर लेते हैं। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि इन क्रियाओं की निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्तिपूर्वक मोक्षप्राप्तिरूप सार्थकता उक्त सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर ही हुआ करती है अन्यथा नहीं, क्योंकि जीव जब तक मिथ्यादृष्टि बना रहता है तब तक उसके अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न हो सकने के कारण यथायोग्य अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषायों का क्षयोपशम होना असम्भव ही रहा करता है जब कि अणुव्रत और महाव्रतरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र यथायोग्य इन कषायों का क्षयोपशम होने पर ही जीव को प्राप्त हुआ करता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जब जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय समाप्त होकर प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय कार्यरत हो जाता है तब वह जीव व्यवहारसम्यक्चारित्र के रूप में अणुव्रतों को धारण करता है और जब जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय के साथ-साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय भी समाप्त होकर मात्र सज्वलन कषाय व नोकषाय का उदय कार्यरत हो जाता है तब वह जीव व्यवहारसम्यक्चारित्र के रूप में महाव्रत धारण करता है।[१४] यह स्थिति अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के अभाव में मिथ्यादृष्टि जीव के कदापि संभव नहीं है। अत उसके (मिथ्यादृष्टि जीव के) यथायोग्य कषाय के अनुदय के साथ-साथ यथायोग्य कषाय के उदय में बाह्यक्रिया के रूप में अणुव्रत, महाव्रत आदि की

स्थिति का होना तो सभव है, लेकिन जब तक उस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो जाता है तब तक अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम न हो सकने के कारण यथायोग्य अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों की उदय-समाप्ति असंभव होने से अणुव्रत, महाव्रत आदि की स्थिति को व्यवहारसम्यक्चारित्र का रूप प्राप्त होना सभव नहीं है।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर नियम से अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाने पर भी सामान्यतया यह नियम नहीं है कि उसके अणुव्रत अथवा महाव्रतरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र अथवा अप्रत्याख्यानावरण कषायों की उदय-समाप्ति हो ही जाना चाहिए। किन्तु नियम यह है कि जिस सम्यग्दृष्टि जीव के अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय समाप्त हो जाता है उसके ही यथायोग्य अणुव्रत व महाव्रतरूप व्यवहारसम्यक्चारित्र की स्थिति उत्पन्न होती है, शेष सम्यग्दृष्टि जीव तब तक अव्रती ही रहा करते हैं, जब तक उनके अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय समाप्त नहीं हो जाता है।

निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शनादिक का यह सम्पूर्ण विवेचन हमने चरणानुयोग की दृष्टि से ही किया है। इस तरह इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चरणानुयोग में सम्यग्दर्शनादि रूप निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग के रूप में जो दो प्रकार के मोक्षमार्ग का कथन किया गया है उसका आशय निश्चयमोक्षमार्ग को तो मोक्ष का साक्षात् कारण बतलाना है और व्यवहारमोक्षमार्ग को उसका (मोक्ष का) परम्परा अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग का कारण होकर कारण बतलाना है। इसी प्रकार उसका आशय निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र को तो कार्यरूप तथा व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र को क्रमश उन निश्चयसम्यग्दर्शनादिक का कारण रूप बतलाना ही है।

इससे हमें यह शिक्षा प्राप्त होती है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रत्येक जीव को मोक्ष के साक्षात् कारणभूत निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र की तथा इन निश्चयसम्यग्दर्शनादिक की प्राप्ति के लिए व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र की अनिवार्य आवश्यकता है। इस तरह दो प्रकार के मोक्षमार्ग की मान्यता उचित ही है।

अब यदि कोई व्यक्ति निश्चयमोक्षमार्गरूप निश्चयसम्यग्दर्शन क की प्राप्ति के बिना ही केवल व्यवहारमोक्षमार्गरूप व्यवहारसम्यग्दर्शनादि के आधार पर ही मोक्ष-प्राप्ति की मान्यता रखते हैं तो वे गलती पर हैं, कारण कि फिर तो व्यवहारसम्यग्द दिक को व्यवहारमोक्षमार्ग कहना ही असंगत होगा, क्योंकि इस मान्यता में वे व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक मोक्ष के साक्षात् कारण हो जाने से निश्चयमोक्षमार्गरूप ही हो जायेंगे।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिक में पठित 'निश्चय' शब्द हमें निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिक में मोक्ष की साक्षात् कारणता का बोध कराता है और व्यवहार मोक्षमार्ग अथवा व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक में पठित 'व्यवहार' शब्द हमें व्यवहारमोक्षमार्ग अथवा व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक में मोक्ष की परंपरा की कारणता का अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग अथवा निश्चयसम्यग्दर्शनादि की कारणतापूर्वक मोक्ष की कारणता का बोध कराता है। हमारे इस कथन की पुष्टि, आगम में जो पूर्वोक्त प्रकार निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिक को साध्यरूप या कार्यरूप तथा व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक को साधनरूप या कारणरूप प्रतिपादित किया गया है, उससे हो जाती है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि जीव को मोक्ष की प्राप्ति तो निश्चय-मोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिक की उपलब्धि हो जाने पर ही होती है। अत हमें व्यवहारमोक्ष-मार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक पर लक्ष्य न देकर निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिक पर ही लक्ष्य देना चाहिए, तो ऐसे व्यक्ति भी गलती पर हैं, क्योंकि वे इस बात को नहीं समझ पा रहे हैं कि जीव जब तक व्यवहारमोक्षमार्ग पर आरूढ नहीं होगा तब तक उसे निश्चय-मोक्षमार्ग की उपलब्धि होना सभव नहीं है क्योंकि यह बात पूर्व में स्पष्ट की जा चुकी है कि मोक्षमार्ग के अगभूत निश्चय-सम्यक्चारित्र की उपलब्धि जीव को उपशमश्रेणी पर आरूढ होने के अनन्तर अस्थायी रूप में तो ११वे गुणस्थान मे पहुचने पर होती है तथा स्थायीरूप में क्षपकश्रेणी पर आरूढ होने के अनन्तर १२वे गुणस्थान में पहुचने पर होती है। इस प्रकार कहना चाहिए कि जीव पचम गुणस्थान से लेकर जब तक उपशम या क्षपक श्रेणी माडकर ११वें या १२वें गुणस्थान में नहीं पहुच जाता तब तक अर्थात् १०वें गुणस्थान तक उसके पूर्वोक्त व्यवहारसम्यक्चारित्र ही रहा करता है। इससे एक यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि व्यवहारमोक्ष-मार्ग पर आरूढ हुए बिना ही निश्चयमोक्षमार्ग की प्राप्ति जीव को हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक जीव जब यथायोग्य गुणस्थानक्रम से आगे बढता हुआ ही ११वे गुणस्थान में अथवा १२वें गुणस्थान में पहुँच सकता है जहा कि निश्चयसम्यक्चारित्र की उपलब्धि उसे होती है तो इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि व्यवहारमोक्षमार्ग पर आरूढ हुए बिना निश्चयमोक्षमार्ग की उपलब्धि कदापि जीव को सभव नहीं है।

हमारे इस कथन से एक मान्यता यह भी खण्डित हो जाती है कि जिस जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारसम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है, उसे उसकी प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ नहीं करना पडता है। हमारे उपर्युक्त कथन से इस मान्यता के खण्डित होने में एक आधार यह भी है कि आगम में व्यवहारसम्यक्चारित्र को कारण बतलाया गया है, इस तरह कारण होने की वजह से जब जीव में व्यवहारसम्यक्चारित्र का निश्चयसम्यक्चारित्ररूप कार्य के पूर्व सद्भाव रहना आवश्यक है तो इस स्थिति में फिर यह बात कैसे सगत कही जा सकती है "कि जिस जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती

है उसको व्यवहारसम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है—उसे उसकी प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ नहीं करना पडता है ?" इस विषय में दूसरा आधार यह भी है कि जो व्यक्ति व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक पर लक्ष्य न देकर केवल निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिक पर लक्ष्य देने की बात कहते हैं वे भी निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यक्दर्शनादिक की उपलब्धि के लिए पुरुषार्थ करने का उपदेश जीवों को देते हैं तो इसका आशय यही होता है कि प्रत्येक जीव को निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिक की उपलब्धि के लिए व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिक की प्राप्ति का ही प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिक की उपलब्धि के लिए जो भी प्रयत्न किया जायगा वह प्रयत्न व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक के अलावा और कुछ नहीं होगा। अर्थात् उस प्रयत्न (पुरुषार्थ) का नाम ही व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक है जो निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शनादिक की उपलब्धि के लिए किया जाता है।

एक बात और है कि हमारे पूर्व प्रतिपादन के अनुसार व्यवहारसम्यक्चारित्र का अपर नाम सरागचारित्र है जैसा कि निश्चयसम्यक्चारित्र का अपर नाम वीतरागचारित्र है और यह बात निर्विवाद है कि दशवें गुणस्थान तक जीव में सरागचारित्र ही रहा करता है,
नहीं तथा यों भी कहिये कि दशवें गुणस्थान तक ही सरागचारित्र रहा करता है, आगे के ग
में नहीं। इस तरह इसका अभिप्राय यह होता है कि सरागचारित्र का अभाव हो जाने पर ही वीतरागचारित्र की उपलब्धि जीव को हुआ करती है और इसका अभिप्राय भी यह हुआ कि व्यवहारसम्यक्चारित्र का अभाव हो जाने पर ही निश्चयसम्यक्चारित्र की उपलब्धि जीव को हुआ करती है अथवा यों कहिये कि जिस जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की उपलब्धि हो जाती है उसके फिर व्यवहारचारित्र का अभाव ही हो जाया करता है। इस तरह तब इस बात को कैसे सगत माना जा सकता है कि "जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की उपलब्धि हो जाने पर व्यवहारसम्यक्चारित्र की उपलब्धि अनायास हो जाती है ?" और यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा ३०५ की टीका में व्यवहाराचारसूत्र[१५] का उद्धरण देकर व्यवहारसम्यक्चारित्र को तब तक अमृत-कुम्भ कहा है जब तक जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की उपलब्धि नहीं हो जाती है तथा आचार्य कुन्दकुन्द[१६] ने उसी व्यवहारसम्यक्चारित्र को तब विषकुंभ की उपमा दे दी है जब जीव को निश्चय-सम्यक्चारित्र की उपलब्धि हो जाती है।

इस तरह यह बात निर्णीत हो जाती है कि जब तक जीव को निश्चय-सम्यक्चारित्र की उपलब्धि नहीं हो जाती है तब तक उसके लिए मोक्षप्राप्ति के उद्देश्य से परम्परया कारण के रूप में अथवा निश्चयसम्यक्चारित्र के साधन के रूप में व्यवहारसम्यक्चारित्र नियम से उपयोगी सिद्ध होता है। इसलिए मोक्षप्राप्ति के उद्देश्य से निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिए प्रत्येक जीव को व्यवहारसम्यक्चारित्र को धारण करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। इतनी बात अवश्य है कि कोई भी चारित्र तब तक 'व्यवहारसम्यक्चारित्र' नाम नहीं पा सकता है जब

तक कि वह चारित्र सम्यग्दर्शन के सद्भाव में न हो, जैसा कि पूर्व में हम स्पष्ट कर आये हैं।

इस प्रकार आगमप्रमाण के आधार पर किये गये उपर्युक्त विवेचन से यह मान्यता, कि 'जिस जीव को निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है उसके व्यवहारसम्यक्चारित्र अनायास ही हो जाता है, उसे उसकी प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ नहीं करना पडता है,' निश्चित रूप में खण्डित हो जाती है।

इतना स्पष्ट विवेचन करने पर भी अब यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि व्यवहारमोक्षमार्ग तो संसार का ही कारण है, मोक्ष का नहीं, तो उसका ऐसा कहना भी दुराग्रहपूर्ण ही माना जाएगा।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि यदि व्यवहारमोक्षमार्ग संसार का ही कारण है मोक्ष का नहीं, तो फिर उसे आगम में 'मोक्षमार्ग' शब्द से पुकारना ही असंगत है। दूसरी बात यह है कि ससार का मुख्य कारण तो मोहनीयकर्म के उदय से होने वाले जीव के मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणाम ही है। यद्यपि यह बात सत्य है कि व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र को प्राप्त करके भी जीव जब तक निश्चय-सम्यग्दर्शन, निश्चय-सम्यग्ज्ञान और निश्चय-सम्यक्चारित्र को प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक उसे मोक्ष का प्राप्त होना असभव है। अर्थात् वह तब तक ससार में ही रहा करता है। परन्तु इस आधार पर उन व्यवहारसम्यग्दर्शनादि को सर्वथा ससार का ही कारण मान लेना असगत बात है। फिर भी इतना तो माना जा सकता है कि चूँकि व्यवहार-सम्यग्दर्शनादिक निश्चय-सम्यग्दर्शनादिक की उत्पत्ति में कारण होते हैं अत इस रूप में वे कथंचित् मोक्ष के भी कारण हैं और चूंकि व्यवहारसम्यग्दर्शनादिक के सद्भाव में भी जीव को जब तक निश्चय-सम्यग्दर्शनादिक की उपलब्धि नहीं हो जाती तब तक मोक्ष की प्राप्ति असंभव है। अत उनमें कथंचित् ससार की कारणता स्वीकार करना भी असगत नहीं है। इस स्पष्टीकरण में कही हुई इन सब बातों को समझने के लिए यहां पर थोडा करणानुयोग की दृष्टि से भी सम्यग्दर्शनादिक के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है।

करणानुयोग की दृष्टि से निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप

इसके पूर्व कि हम करणानुयोग की दृष्टि से निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शनादिक का विवेचन करें, आवश्यक जानकर करणानुयोग के सम्बन्ध में ही कुछ विवेचन कर देना चाहते हैं।

करणानुयोग में पठित 'अनुयोग' शब्द का अर्थ आगम होता है। इस तरह सम्पूर्ण जैनागम को यदि विभक्त किया जाय तो वह चार भागों में विभक्त हो जाता है—प्रथमानुयोग, चरणानुयोग,

करणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

इनमें से प्रथमानुयोग वह है जिसमें अध्यात्म को लक्ष्य में रखकर महापुरुषों के -
के आधार पर पाप, पुण्य और धर्म के फल का दिग्दर्शन कराया गया है। चरणानुयोग वह है जिसमें अध्यात्म को लक्ष्य में रखकर पाप, पुण्य और धर्म की व्यवस्थाओं का निर्देश किया गया है। करणानुयोग वह है जिसमें जीवों की पाप, पुण्य और धर्ममय परिणतियों तथा उनके कारणों का विश्लेषण किया गया है और द्रव्यानुयोग वह है जिसमें विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं के पृथक् अस्तित्व को बतलाने वाले स्वतसिद्ध स्वरूप एव उनके परिणमनों का निर्धारण किया गया है। यहाँ पर हम इन सब अनुयोगों के आधार पर वस्तुस्वरूप पर प्रकाश न डाल कर प्रकरण के लिए उपयोगी प्रतिज्ञात करणानुयोग के आधार पर ही वस्तुस्वरूप पर प्रकाश डाल रहे हैं।

आत्मा का स्वरूप ज्ञायकपना अर्थात् विश्व के समस्त पदार्थों को देखने-जानने की शक्ति रूप है। यह कथन हम पूर्व में भी कर आये हैं। इसमें निर्दिष्ट ज्ञायकपना आत्मा का स्वतसिद्ध स्वभाव है, इसलिए इस आधार पर एक तो आत्मा का स्वतन्त्र और अनादि तथा अनिधन अस्तित्व सिद्ध होता है। दूसरे, जिस प्रकार आकाश अपने स्वतसिद्ध अवगाहक स्वभाव के आधार पर विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को अपने अन्दर एक साथ हमेशा समाये हुए है उसी प्रकार आत्मा को भी अपने स्वतसिद्ध ज्ञायक स्वभाव के आधार पर विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को एक साथ हमेशा देखते-जानते रहना चाहिए। परन्तु हम देख रहे हैं कि जो जीव अनादिकाल से संसार-परिभ्रमण करते हुए इसी चक्र में फँसे हुए हैं उन्होंने अनादिकाल से अभी तक न तो कभी विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को एक साथ देखा व जाना है और न वे अभी भी उन्हें एक साथ देख-जान पा रहे हैं। इतना ही नहीं, इन संसारी जीवों में एक तो तरतमभाव से ज्ञान की मात्रा अल्प ही पायी जाती है। दूसरे, जितनी मात्रा में इनमें ज्ञान होता हुआ देखा जाता है वह भी इन्द्रियादिक अन्य साधनों की सहायता से ही हुआ करता है। एक बात और है कि ये ससारी पदार्थों को देखने-जानने के पश्चात् उन जाने हुए पदार्थों में इष्टपने या अनिष्टपने की कल्पनारूप मोह किया करते हैं और तब वे इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों में प्रीतिरूप राग तथा अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों में अप्रीति (घृणा) रूप द्वेष सतत किया करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उन्हें सतत इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की प्राप्ति में और अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की अप्राप्ति में हर्ष हुआ करता है तथा अनिष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की प्राप्ति में और इष्ट कल्पना के विषयभूत पदार्थों की अप्राप्ति में विषाद हुआ करता है। यद्यपि ऐसा भी सम्भव है कि किन्हीं-किन्हीं (सम्यग्दृष्टि) संसारी जीवों को इस प्रकार से हर्ष-विषाद नहीं होते, फिर भी वे जीव जब शरीर की अधीनता में ही रह रहे हैं और उनका अपना-अपना शरीर अपनी स्थिरता के लिए अन्य भोजनादिक की अधीनता का स्वीकार किये हुए हैं तो ऐसी स्थिति में शरीर के लिए उपयोगी (आवश्यक) उन

पदार्थों की प्राप्ति व अप्राप्ति में उन्हें भी यथायोग्य सुख या दु ख का संवेदन तो हुआ करता है और तब उन्हें अपने दु ख-संवेदन को समाप्त करने व सुख-सवेदन को प्राप्त करने के लिए उन पदार्थों की प्राप्ति व उपभोग में प्रवृत्त होना पडता है। इसके भी अतिरिक्त जिनका संसार अभी चालू है ऐसे ससारी जीव अनादिकाल से कभी देव, कभी मनुष्य, कभी तिर्यंच और कभी नारकी होते आये हैं, वे कभी एकेन्द्रिय, कभी द्वीन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय, कभी चतुरिन्द्रिय और कभी पञ्चेन्द्रिय भी होते आये हैं। इतना ही नहीं, इन्होंने कभी पृथ्वी का, कभी जल का, कभी तेज का, कभी वायु का और कभी वनस्पति का भी शरीर धारण किया है। हम यह भी देखते हैं कि एक ही श्रेणी के जीवों के शरीरों में भी परस्पर विलक्षणता पायी जाती है। साथ ही कोई तो लोक में प्रभावशाली देखे जाते हैं व कोई प्रभावहीन देखे जाते हैं। और भी देखा जाये तो लोक के एक जीव में उच्चता का तथा दूसरे जीव में नीचता का भी व्यवहार किया करता है। इसी प्रकार प्राय किसी को यह पता नहीं कि कौन जीव कब अपने वर्तमान शरीर को छोडकर चला जायेगा और दूसरा शरीर धारण कर लेगा।

जीवों में ये सब विलक्षणताएँ क्यों हो रही हैं? इसका समाधान आगमग्रथों में इस तरह किया गया है कि प्रत्येक ससारी जीव अपने स्वतसिद्ध देखने-जाननेरूप स्वभाव वाला होकर के भी अनादिकाल से स्वर्ण-पाषाण की तरह पौद्गलिक कर्मों के साथ सम्बद्ध (मिश्रित यानी एक क्षेत्रावगाही रूप से एकमेकपने को प्राप्त) हो रहा है।[१७] ये कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के भेद से मूल रूप में आठ प्रकार के हैं। इनमें से ज्ञानावरण कर्म का कार्य जीव की जानने की शक्ति को आवृत करना है। दर्शनावरण कर्म का कार्य जीव की देखने की शक्ति को आवृत करना है, वेदनीय कर्म का कार्य जीव को शरीरादिक परपदार्थों के आधार पर यथायोग्य सुख अथवा दु ख का सवेदन कराना है, मोहनीय कर्म का कार्य जीव को पर-पदार्थों के आधार पर ही यथायोग्य मोही, रागी और द्वेषी बनाकर उचित-अनुचित रूप विविध प्रकार की प्रवृत्तियों में व्यावृत करने का है, आयुकर्म का कार्य जीव को उसके अपने शरीर में सीमित काल तक रोक रखने का है, नामकर्म का कार्य जीव को मनुष्यादिरूपता प्राप्त कराने का है, गोत्रकर्म का कार्य कुल, शरीर तथा आचरण आदि के आधार पर जीव में उच्चता तथा नीचता का व्यवहार कराने का है और अन्तरायकर्म का कार्य जीव की स्वतसिद्ध स्वावलम्बन शक्ति का घात करना है।[१८]

करणानुयोग की व्यवस्था यह है कि इन सब प्रकार के कर्मों को जीव हमेशा अपने विकारी भावों (परिणामों) द्वारा बाँधता है और जीव के विकारी परिणाम पूर्व में बद्ध पुद्गल कर्म के उदय में हुआ करते हैं।[१९] इस तरह जीव के साथ बँधे हुए ये कर्म उसमें अपनी सत्ता बना लेते हैं तथा अन्त में उदय में आकर अर्थात् जीव को अपना फलानुभव कराकर ये निर्जरित हो जाते हैं।[२०] लेकिन इतनी बात अवश्य है कि उस फलानुभव से प्रभावित होकर यह जीव इसी प्रकार के दूसरे कर्मों से पुन बध को प्राप्त हो जाता है।

ये कर्म जीव को जिस रूप में अपना फलानुभव कराते हैं वह जीव का औदयिक भाव है क्योंकि जीव का उस प्रकार का भाव उस कर्म के उदय होने पर ही होता है।[२१] कदाचित् कोई जीव अपने में सत्ता को प्राप्त यथायोग्य कर्म को अपने पुरुषार्थ द्वारा इस तरह शक्तिहीन बना देता है कि वह कर्म अपनी फलदानशक्ति को सुरक्षित रखते हुए भी जीव को एक अन्तर्मुहूर्त के लिए फल देने में असमर्थ हो जाता है। कर्म की इस अवस्था का नाम उपशम है। इस तरह कर्म का उपशम होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे उस जीव का औपशमिक भाव कहते हैं। कदाचित् कोई जीव अपने पुरुपार्थ द्वारा कर्म को सर्वथा शक्तिहीन बना देता है जिससे वह कर्म उस जीव से अपना सम्बन्ध समूल विच्छिन्न कर लेता है। कर्म की इस अवस्था का नाम क्षय है और इसके होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे जीव का क्षायिकभाव कहते हैं। इसी प्रकार कदाचित् कोई जीव अपना पुरुपार्थ इस तरह करता है कि जिसके होने पर कर्म के कुछ निश्चित अंश तो उदयरूपता को प्राप्त रहते हैं, कुछ निश्चित अश उपशमरूपता को प्राप्त रहते हैं और कुछ निश्चित अश क्षयरूपता को प्राप्त रहते हैं। कर्म की इस प्रकार की अवस्था का नाम क्षयोपशम है। कर्म का इस प्रकार का क्षयोपशम होने पर जीव की जो अवस्था होती है उसे जीव का क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।[२२] इस क्षायोपशमिक भाव का अपर नाम मिश्रभाव[२३] भी आगम में बतलाया गया है। इस प्रकार कहना चाहिए कि यथायोग्य कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के होने पर जीव की भी क्रमश औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक अवस्थायें हो जाया करती हैं।

उपर्युक्त आठ कर्मों मे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों की प्रत्येक संसारी जीव में अनादिकाल से क्षयोपशमरूप अवस्था ही रही है क्योंकि कभी इनकी सर्वथा उदय रूप अवस्था नहीं होती। इतना अवश्य है कि अनन्त ससारी जीवों ने अपने पुरुषार्थ द्वारा इन तीनों कर्मों का सर्वथा क्षय कर डाला है और यदि कोई ससारी जीव अब भी पुरुपार्थ करे तो वह भी इनका सर्वथा क्षय कर सकता है। इस तरह ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के यथायोग्य निमित्त से सामान्यरूप में जीव की क्षायोपशमिक और क्षायिक दो ही प्रकार की अवस्थायें होना संभव है, औदयिक और औपशमिक अवस्थायें इनमें सभव नहीं है। इतना अवश्य है कि यदि इन कर्मों के यथायोग्य अन्तर्भेदों की अपेक्षा विचार किया जाय तो उनके निमित्त से फिर जीव की औदयिक अवस्था भी सभव है। जैसे जीव में केवलज्ञान और केवलदर्शन का जब तक सर्वथा अभाव विद्यमान है तब तक इनके घातक केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण कर्मों का उदय विद्यमान रहने के कारण जीव की केवलज्ञान और केवलदर्शन के अभावरूप औदयिक अवस्थायें भी मानी जा सकती हैं।

इसी प्रकार वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मों की प्रत्येक जीव में अनादिकाल से तो उदयरूप अवस्थाए ही रही हैं। कभी इनकी उपशम या क्षयोपशम रूप अवस्था न तो हुई और न होगी, लेकिन इनके सम्बन्ध में भी यह बात है कि अनन्त संसारी जीवों ने अपने

पुरुषार्थ द्वारा इन चारों कर्मों का सर्वथा क्षय अवश्य कर डाला है और यदि कोई संसारी जीव अभी भी पुरुषार्थ करे तो इनका सर्वथा क्षय कर सकता है। इस तरह कहना चाहिए कि इन कर्मों के निमित्त से जीव की औदयिक और क्षायिक दो अवस्थायें ही संभव हैं। परन्तु यहाँ पर इतना ध्यान रखना चाहिए कि इनके क्षय के निमित्त से होने वाले क्षायिक भावों की गणना आगमोक्त क्षायिक भावों में करना उपयोगी न होने के कारण आवश्यक नहीं समझा गया है। इनके क्षय के निमित्त से होने वाले जीव के क्षायिक भावों को या तो अव्याबाध, अवगाहना, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्व गुणों के रूप में प्रतिजीवी भाव आगम में कहा गया है या फिर सामान्यतया संपूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला सिद्धत्व भाव इन्हें कह दिया गया है।

इन सात कर्मों के अतिरिक्त जो मोहनीय कर्म शेष रह जाता है उसकी प्रत्येक संसारी जीव में अनादिकाल से तो उदयरूप अवस्था ही विद्यमान रहती है। लेकिन भूतकाल में अनन्त संसारी जीवों ने अपने पुरुषार्थ द्वारा अनेक बार यथायोग्य उपशम या क्षयोपशम करके अन्त में उसका सर्वथा क्षयकर मुक्ति को प्राप्त कर लिया है। अनेक ससारी जीवों में वह अभी भी यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूप में बना हुआ है तथा जिन जीवों में वह अभी भी उदय रूप में बना हुआ है वे भी अगर पुरुषार्थ करें तो उसकी इस उदयरूप हालत को परिवर्तित करके उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अवस्था बना सकते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मोहनीय कर्म का यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर जीव की क्रमश औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये चारों प्रकार की अवस्थाए सभव होती हैं।

इस प्रकार जिन संसारी जीवों ने अनादिकाल से अभी तक अपने पुरुषार्थ द्वारा समस्त कर्मों का क्षय कर डाला है वे तो मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं और जो ससारी जीव आगे जब इन सभी कर्मों का सर्वथा क्षय कर लेंगे वे भी तब मोक्ष को प्राप्त हो जायेंगे।

ऊपर बतलाये गये ढग से उपर्युक्त आठ कर्मों के यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के आधार पर होने वाली जीवों की अवस्थाओं की उपयोगी कुल सख्या आगम में सक्षेप से पचास बतलायी गयी है तथा इनमें तीन पारिणामिक भावों को भी मिला देने पर जीव की अवस्थाओं की संख्या तिरेपन हो जाती है। इन तिरेपन भावों की आगम में जो गणना की गयी है वह इस प्रकार है—सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के रूप में दो भाव औपशमिक हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ये नौ भाव क्षायिक रूप हैं। मति, श्रुति, अवधि, मनपर्यय के रूप में चार सम्यग्ज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कु-अवधि के रूप में तीन मिथ्याज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन के रूप में तीन दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य के रूप में पाँच लब्धियाँ (शक्तियाँ) तथा सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सयमासयम ये अठारह भाव क्षायोपशमिक रूप हैं। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव के रूप में चार गतियॉ, क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप में चार कषाय, पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग के रूप में तीन लिंग, पर-पदार्थों में अहंकार और

ममकाररूप मिथ्यादर्शन, ज्ञानविशेष का अभावरूप अज्ञान, चारित्र का अभावरूप असंयतत्व, संसारी अवस्थारूप असिद्धत्व तथा कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल के रूप में छह लेश्यायें ये इक्कीस भाव औदयिक रूप हैं। इसी प्रकार जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन भाव पारिणामिक रूप हैं।[२४]

आगम में आठ कर्मों के भेदों की गणना इस प्रकार की गयी है कि ज्ञानावरणकर्म मतिज्ञानावरण आदि के रूप में पाँच प्रकार का, दर्शनावरणकर्म चक्षुर्दर्शनावरण आदि के रूप में नौ प्रकार का, वेदनीयकर्म साता तथा असाता रूप में दो प्रकार का, मोहनीयकर्म मिथ्यात्व आदि के रूप में अट्ठाईस प्रकार का, आयुकर्म नरकायु आदि के रूप में चार प्रकार का, नामकर्म गति, जाति आदि के रूप में तिरानवे प्रकार का, गोत्रकर्म उच्च तथा नीच के रूप में दो प्रकार का और अन्तरायकर्म दानान्तराय आदि के रूप में पाँच प्रकार का होता है।[२५]

आगम में यह भी बतलाया गया है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चारों कर्म जीव के यथायोग्य अनुजीवी गुणों का घात करने में समर्थ होने के कारण घाती कहलाते हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चारों कर्म जीव के अनुजीवी गुणों का घात करने में असमर्थ होने के कारण अघाती कहलाते हैं। इतना ही नहीं, आगम में यह भी बतला दिया गया है कि सपूर्ण घाती कर्म तथा अघाती कर्मों की कुछ प्रकृतियां मिलकर पाप प्रकृतियाँ कहलाती हैं[२६] और अघाती कर्मों की शेष प्रकृतियाँ पुण्य प्रकृतियाँ कहलाती हैं।[२७]

ऊपर जो जीव के तिरेपन भावों की गणना की गयी है उनमें से तीन पारिणामिक भावों को छोडकर शेष पचास भाव उक्त कर्मों में से उस कर्म के यथायोग्य उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम के आधार पर उत्पन्न होने के कारण ही पूर्वोक्त प्रकार क्रमश औदयिक, औपशमिक, क्षायिक या क्षायोपशमिक नाम से पुकारे जाते हैं। इन औदयिकादिरूप पचास भावों में से मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्ररूप जो औदयिक भाव हैं वे संसार के कारण हैं[२८] तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप जो औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव हैं वे मोक्ष के कारण हैं।[२९] यद्यपि मिथ्याज्ञानरूप क्षायोपशमिक भाव को भी बन्ध का कारण तथा सम्यग्ज्ञानरूप क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव को भी मोक्ष का कारण आगम में स्वीकार किया गया है। परन्तु इसके विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ज्ञान की ससारकारणता और मोक्षकारणता यथायोग्य मोहनीयकर्म के उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशम से सम्बद्ध होकर ही मानी गयी है। यही कारण है कि चतुर्दश गुणस्थान-व्यवस्था में केवल मोहनीय कर्म को ही उदय, उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम के आधार पर आगम में प्रमुखता दी गयी है।[३०]

उक्त कथन का विस्तार यह है कि उक्त औदयिक भाव मोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होने के कारण जीव के संसार के कारण होते हैं। औपशमिक भाव मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने के कारण यद्यपि संसार के कारण नहीं होते, परन्तु ये जीव में अन्तर्मुहूर्त तक

ही ठहरते हैं अर्थात् मुहूर्त के अन्दर-अन्दर ही ये नष्ट हो जाते हैं, इसलिए मोक्ष के कारण होकर भी इनसे जीव को साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। इन्हें छोडकर मोहनीयकर्म की उस-उस प्रकृति के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होने वाले क्षायिक भाव ही जीव की मोक्ष-प्राप्ति में साक्षात् कारण हुआ करते हैं। अर्थात् उक्त क्षायिक भावों को प्राप्त कर लेने पर जीव नियम से मुक्ति को प्राप्त करता है। कारण कि ये भाव जीव को एक बार प्राप्त हो जाने पर फिर कभी नष्ट नहीं होते हैं। क्षायोपशमिक भावों के विषय में व्यवस्था यह है कि इनमें सर्वघाती प्रकृति के वर्तमान समय में उदय में आने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय और उसी सर्वघाती प्रकृति के आगामी काल में उदय आने वाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती प्रकृति का उदय विद्यमान रहा करता है अत इनमें देशघाती प्रकृति का उदय कार्यकारी रहने के कारण तो ससार की कारणता व सर्वघाती प्रकृति का उदयाभावीक्षय तथा सदवस्थारूप उपशम भी कार्यकारी रहने के कारण मोक्ष की कारणता इस तरह दोनों ही प्रकार की कारणताएँ विद्यमान रहा करती हैं। यही कारण है कि आगम में यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि जीव में जिस काल में जितना दर्शन, ज्ञान और चारित्र का अश प्रकट रहता है उतने रूप में उसके कर्मबन्ध नहीं होता है और उसी काल में जितना दर्शन, ज्ञान और चारित्र का अपना-अपना विरोधी रागाश प्रकट रहता है उतने रूप में उसका कर्मबन्ध भी होता है।[31]

इस प्रकार क्षायोपशमिक भावों में यद्यपि ससार और मुक्ति उभय की कारणता विद्यमान रहा करती है फिर भी उन्हें आगम में मोक्ष का ही कारण बतलाया गया है, ससार का नहीं,[32] यह बात हम पूर्व में भी कह चुके हैं। इसको यों भी स्पष्ट किया जा सकता है कि आगम में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक का भेद न करके सामान्यरूप से ही मोक्ष का कारण प्रतिपादित किया गया है[33] व औदयिक भावरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को ससार का कारण प्रतिपादित किया गया है। इतनी बात अवश्य आगम में स्पष्ट कर दी गयी है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग पर आरूढ हुआ जीव यदि शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त करके क्षपकश्रेणी पर आरूढ हो जाये तो वह मोक्ष सुख को ही प्राप्त करता है।[34] लेकिन यदि कोई जीव शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त होकर भी क्षपक श्रेणी पर आरूढ न होकर उपशमश्रेणी पर आरूढ हुआ अथवा शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त न होकर शुभोपयोग की भूमिका में ही प्रवर्तमान रहा और ऐसी हालत में उसका यदि मरण हो गया तो वह जीव स्वर्ग-सुख को प्राप्त करता हुआ[35] परंपरया मोक्षसुख को प्राप्त करता है। इसके साथ ही आगम में यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी है कि यदि कोई जीव अपने को भूलकर स्वर्गसुख में रम जाय तो फिर इसमें भी सदेह नहीं कि वह मारीच की तरह यथायोग्य अनेक भवों तक सासारिक विभिन्न प्रकार की कुयोनियों में भी भ्रमण करता है।[36]

इस कथन से इतनी बात स्थिर हो जाती है कि अशुभोपयोग और अशुभ प्रवृत्तिरूप मिथ्यादर्शन,

मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ससार के कारण हैं, शुभोपयोग और शुभ प्रवृत्तिरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र स्वर्गादिसुखपूर्वक परंपरया मोक्ष के कारण हैं। तथा शुद्धोपयोग व शुद्धप्रवृत्तिरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र साक्षात् मोक्ष के कारण हैं।

इस प्रकार करणानुयोग के आधार पर किये गये उपर्युक्त विवेचन और इसके पूर्व चरणानुयोग के आधार पर किये गये विवेचन से हमारा प्रयोजन यह है कि चरणानुयोग की दृष्टि से जो निश्चय और व्यवहाररूप मोक्षमार्गद्वय का अथवा निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यग्ज्ञान तथा निश्चयसम्यक्‌चारित्र और व्यवहारसम्यक्‌चारित्र का विवेचन किया गया है एवं करणानुयोग की दृष्टि से जो औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान तथा औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्‌चारित्र का विवेचन किया गया है—इन दोनों प्रकार के विवेचनों का यदि समन्वय किया जाय तो यह निर्णीत हो जाता है कि जिसे चरणानुयोग की दृष्टि से निश्चय सम्यग्दर्शन कहा गया है उसे करणानुयोग की दृष्टि से औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन समझना चाहिए तथा जिसे चरणानुयोग की दृष्टि से व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा गया है उसे करणानुयोग की दृष्टि से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन समझना चाहिए। इसी प्रकार जिसे चरणानुयोग की दृष्टि से निश्चयसम्यग्ज्ञान कहा गया है उसे करणानुयोग की दृष्टि से क्षायिकसम्यग्ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान समझना चाहिए और जिसे चरणानुयोग की दृष्टि से व्यवहारसम्यग्ज्ञान कहा गया है उसे करणानुयोग की दृष्टि से क्षायोपशमिक सम्यक्ज्ञान समझना चाहिए। इसी प्रकार जिसे चरणानुयोग की दृष्टि से निश्चयसम्यक्‌चारित्र यथाख्यातचारित्र या वीतरागचारित्र कहा गया है उसे करणानुयोग की दृष्टि से औपशमिक व क्षायिक सम्यक्‌चारित्र समझना चाहिए और जिसे चरणानुयोग की दृष्टि से अणुव्रत, महाव्रत आदिरूप व्यवहारसम्यक्‌चारित्र, सरागचारित्र या सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसापरायचारित्र कहा गया है उसे करणानुयोग की दृष्टि से क्षायोपशमिक चारित्र समझना चाहिये।

उपर्युक्त कथन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचा देता है कि व्यवहार और निश्चय दोनों ही प्रकार के मोक्षमार्ग का प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थान से ही होता है, चतुर्थ गुणस्थान से पूर्व किसी भी तरह के मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं होता। आगे इसी बात को स्पष्ट किया जा रहा है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के विषय में यह बात कही गयी है कि वह दर्शनमोह की मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्‌प्रकृतिरूप तीन तथा चारित्रमोह की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इस तरह सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर ही उत्पन्न हुआ करता है। अर्थात् आगम में कहा गया है कि उक्त सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व और उक्त सात ही प्रकृतियों के क्षय से[१७] क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इसी प्रकार उक्त सात प्रकृतियों में से ही मिथ्यात्व व सम्यक्‌मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान समय में उदय आने वाले

निषेकों का उदयाभावी क्षय व आगामी काल में उदय आने वाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम एवं सम्यक्प्रकृतिरूप देशघातिप्रकृति का उदय होने पर[38] क्षायोपशमिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

आगम में यह बात भी कही गयी है कि उक्त औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक तीनों ही प्रकार के सम्यग्दर्शन जीव को क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि पूर्वक ही उत्पन्न हुआ करते हैं। साथ में इन लब्धियों के सम्बन्ध में वहीं पर यह विशेषता भी बतला दी गयी है कि पाँचों लब्धियो में से पूर्व की चार लब्धियां तो भव्य तथा अभव्य दोनों ही प्रकार के जीवों के सभव हैं। परन्तु करणलब्धि ऐसी लब्धि है कि वह भव्य जीव के ही सभव है, अभव्य के नहीं।[39] इसका आशय यह हुआ कि जो भव्य जीव पूर्व की चार लब्धियों के साथ-साथ करणलब्धि में प्रवृत्त होकर उक्त सात पकृतियों की पूर्वोक्त प्रकार उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमरूप जैसी स्थिति बना लेता है उसी के अनुरूप वह अपने में औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक कोई भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर लेता है।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनो सम्यग्दर्शनों में से कोई भी सम्यग्दर्शन ऐसा नहीं है जो चतुर्थ गुणस्थान से पूर्व के किसी भी गुणस्थान में उत्पन्न हो सकता हो, क्योंकि प्रथम गुणस्थान में तो सम्यग्दर्शन की घातक सर्वघाती मिथ्यात्वप्रकृति का उदय विद्यमान रहता है, द्वितीय गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की घातक सर्वघाती अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय विद्यमान रहता है और तृतीय गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की घातक सर्वघाती सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृति का उदय विद्यमान रहता है।[40] चूँकि यह बात हम पूर्व में कह चुके हैं कि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का ही अपर नाम व्यवहारसम्यग्दर्शन है और औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनों सम्यग्दर्शनों का ही अपर नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है। अत यह बात निर्णीत हो जाती है कि व्यवहार और निश्चय दोनों ही प्रकार के सम्यग्दर्शनों में से कोई भी सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से पूर्व के किसी भी गुणस्थान में उत्पन्न नहीं होता है। इतना अवश्य है कि चतर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक के जीवो में उक्त तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों में से कोई भी एक सम्यग्दर्शन सभव है। इसलिए चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक के जीव या तो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की अपेक्षा व्यवहारसम्यग्दृष्टि रह सकते हैं या फिर औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यग्दर्शन की अपेक्षा निश्चयसम्यग्दृष्टि रह सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि सातवें गुणस्थान का जो जीव उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी पर आरूढ होने के लिए अधःकरण परिणामों में प्रवृत्त होता है उसके व्यवहाररूप क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन न रहकर नियम से निश्चयरूप औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दर्शन ही रहा करता है। इसमें भी इतनी विशेषता है कि उपशमश्रेणी पर आरूढ होने वाले जीव के निश्चयरूप औपशमिक और क्षायिक दोनों सम्यग्दर्शनो में से कोई एक सम्यग्दर्शन रह सकता है। लेकिन क्षपकश्रेणी पर आरूढ होने वाले जीव के निश्चयरूप क्षायिक सम्यग्दर्शन

ही रहता है, औपशमिक सम्यग्दर्शन नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आठवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीव या तो औपशमिकसम्यग्दृष्टि के रूप में निश्चयसम्यग्दृष्टि रहा करते हैं या फिर क्षायिकसम्यग्दृष्टि के रूप में निश्चयसम्यग्दृष्टि रहा करते हैं। इन गुणस्थानों में रहने वाला कोई भी जीव कभी भी क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के रूप में व्यवहारसम्यग्दृष्टि नहीं रहता है। इसी प्रकार बारहवें गुणस्थान में और इससे आगे के गुणस्थानों में रहने वाला कोई भी जीव केवल क्षायिकसम्यग्दृष्टि के रूप में ही निश्चयसम्यग्दृष्टि रहा करता है।

इसी प्रकार मोक्षमार्ग के अंगभूत सम्यग्ज्ञान का प्रारम्भ भी—चतुर्थ गुणस्थान से ही होता है। इससे भी चतुर्थगुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक तो प्रत्येक जीव में क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान के रूप में व्यवहार-सम्यग्ज्ञान ही रहा करता है निश्चयसम्यग्ज्ञान नहीं, तथा इसके आगे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानो में क्षायिकज्ञान के रूप में निश्चयसम्यग्ज्ञान ही रहा करता है, व्यवहार सम्यग्ज्ञान नहीं। कारण कि तेरहवें गुणस्थान से पूर्व बारहवें गुणस्थान के अन्त समय में मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण इन पाँचों ही ज्ञानावरणों का एक साथ सर्वथा क्षय हो जाने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञानों का तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय मे सर्वथा अभाव हो जाता है। यद्यपि भव्य तथा अभव्य के भेद से सहित एकेन्द्रियादिक समस्त संसारी जीवों में अनादिकाल से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के रूप मे क्षायोपशमिक ज्ञानों का नियम से सद्भाव पाया जाता है परन्तु उन ज्ञानों में व्यवहारसम्यग्ज्ञान का रूप तब तक नहीं आता जब तक जीव मे सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव नहीं हो जाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि एक तो संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव का क्षायोपशमिक ज्ञान ही व्यवहारसम्यग्ज्ञान का रूप धारण कर सकता है, एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों का क्षायोपशमिक ज्ञान कदापि व्यवहारसम्यग्ज्ञान का रूप नहीं धारण करता है। दूसरे, भव्यजीवों का क्षायोपशमिक ज्ञान ही व्यवहारसम्यग्ज्ञान का रूप धारण कर सकता है, अभव्य जीवों का नहीं। और तीसरे संज्ञीपंचेन्द्रिय भव्य जीवों का क्षायोपशमिक ज्ञान भी सम्यग्दर्शन की तरह चतुर्थगुणस्थान में ही व्यवहारसम्यग्ज्ञान का रूप धारण करता है, इससे पूर्व के गुणस्थानों में नहीं, क्योंकि वह सम्यग्दर्शन के सद्भाव मे सम्यग्ज्ञानरूपता को प्राप्त होता है।

मोक्षमार्ग के अंगभूत व्यवहार तथा निश्चय दोनों ही प्रकार के सम्यक्चारित्रों के विषय में आगम की व्यवस्था यह है कि एकदेश क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्र के रूप में व्यवहारसम्यक्चारित्र का प्रारम्भ पंचम गुणस्थान से ही होता है, इससे पूर्व के चारों गुणस्थानों में तो असंयत भाव ही रहा करता है। कारण कि इन चारों गुणस्थानों में अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव नहीं होता है। यही क्षायोपशमिकरूपता को प्राप्त व्यवहारसम्यक्चारित्र संज्वलनकषाय के उदय के सद्भाव तथा प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय के अभाव में षष्ठमगुणस्थान में सर्वदेशात्मक महाव्रत का रूप धारण कर लेता है तथा आगे संज्वलन कषाय व नोकषाय धीरे-धीरे कृश होकर जब दशवें गुणस्थान में केवल सूक्ष्म लोभ का उदय कार्यकारी

रह जाता है तब वही क्षायोपाशमिक-रूपता को प्राप्त व्यवहारसम्यक्चारित्र सूक्ष्मसापरायचारित्र के रूप में अपनी चरम सीमा में पहुँच जाता है। और इस तरह दशवें गुणस्थान के अन्त में समस्त कषायों का यदि उपशम होता है तो ग्यारहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में औपशमिकचारित्र के रूप में निश्चयसम्यक्चारित्र पकट हो जाता है तथा दशवें गुणस्थान के अन्त में यदि समस्त कषायों का क्षय होता है तो १२वें गुणस्थान के प्रारम्भ मे क्षायिकचारित्र के रूप में निश्चयसम्यक्चारित्र प्रकट हो जाता है और यह क्षायिकचारित्र रूप निश्चयचारित्र १३वें तथा १४वें गुणस्थानों में भी बना रहता है।" जीव को जब औपशमिक अथवा क्षायिक रूप में निश्चयचारित्र की प्राप्ति हो जाती है तब क्षायोपशमिकरूपता को प्राप्त व्यवहारसम्यक्चारित्र की समाप्ति नियम से हो जाती है। कारण कि जीव में प्रत्येक कर्म का यथासम्भव उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षायोपशम में से एक काल मे एक ही अवस्था रह सकती है, दो आदि अवस्थायें कभी एक साथ नहीं होतीं। इसलिए एक कर्म के उदयादिक की निमित्तता के आधार पर होने वाले औदयिकादि भावों का सद्भाव भी जीव में एक साथ नहीं रह सकता है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि औपशमिकचारित्ररूप निश्चयसम्यक्चारित्र केवल ११वें गुणस्थान में ही रहता है, कारण कि जीव अन्तर्मुहूर्त के अल्पकाल मे ही उसमे पतित होकर यथायोग्य कषाय का उदय हो जाने से फिर क्षायोपशमिकचारित्ररूप व्यवहारचारित्र मे आ जाता है। इस तरह क्षायिकचारित्ररूप निश्चयचारित्र ही ऐसा है जो १२वें मे उत्पन्न होकर १३वें और १४वें गुणस्थानों मे भी अपना सद्भाव कायम रखता है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि जब जीव को पूर्वोक्त प्रकार अधिक-से-अधिक सप्तम गुणस्थान मे क्षायिकसम्यग्दर्शनरूप निश्चयसम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है और १२वें गुणस्थान के प्रारम्भ मे क्षायिकचारित्ररूप निश्चयसम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है तो फिर १२वें गुणस्थान में ही जीव मुक्त क्यों नहीं हो जाता है? इसका समाधान निम्न प्रकार है—

१२वें गुणस्थान में क्षायिकचारित्र की उपलब्धि हो जाने पर भी जीव के मुक्त न होने का एक कारण तो यह है कि उस समय तक उस ज्ञानावरण कर्म का पूर्णतः क्षय न होने से क्षायिकज्ञानरूप निश्चयसम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती है। दूसरा कारण यह है कि १२वें गुणस्थानवर्ती क्षायिकचारित्ररूप निश्चयचारित्र में जीव यद्यपि भावात्मक चारित्र के रूप में पूर्ण स्वावलम्बी हो जाता है परन्तु तब भी उसमे परावलम्बनपूर्ण योगात्मक क्रिया तो होती ही रहती है क्योंकि उसके भी मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से प्रदेशपरिस्पन्दन होता है। अतः उसके स्वावलम्बन के रूप में निश्चयचारित्र की पूर्णता नहीं हो पाती है। यह योगात्मक क्रिया केवलज्ञानरूप क्षायिकनिश्चयसम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के अनन्तर ही जीव के हुआ करती है। अतः केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय मे जीव मुक्त नहीं हो पाता है। इसी प्रकार केवलज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर जब जीव की योगात्मक क्रिया भी समाप्त हो जाती है तब भी जीव को मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। इसका कारण यह है

कि जीव द्रव्यात्मकदृष्टि से उस समय भी परावलम्बी रहा करता है क्योंकि अघाती कर्मों का उदय उस समय भी उसे प्रभावित किये रहता है। इस तरह यह निर्णीत होता है कि १४वें गुणस्थान के अन्त समय में अघाती कर्मों का भी पूर्णतया क्षय हो जाने से जब जीव द्रव्यात्मकदृष्टि से भी पूर्ण स्वावलम्बी हो जाता है तभी उसके निश्चयसम्यक्चारित्र की पूर्णता समझनी चाहिए। इस तरह मोक्षमार्ग की पूर्णता १४वें गुणस्थान के अन्त समय में होने से उससे पूर्व जीव मुक्ति नहीं पा सकता है। दूसरे, उस समय निश्चयचारित्र की पूर्णता हो जाने से मोक्षमार्ग की भी पूर्णता हो जाने पर यह जीव फिर एक क्षण के लिए भी संसार में नहीं ठहरता है।[५]

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्र को व्यवहारमोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र इसलिए कहा जाता है कि इनमें मोक्ष की साक्षात् कारणता नहीं है, परपरया अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र का कारण होकर ही मोक्ष की कारणता विद्यमान है जैसा कि पूर्व में हम विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं। इसी प्रकार क्षायिकसम्यग्दर्शन, क्षायिकसम्यग्ज्ञान और क्षायिकसम्यक्चारित्र को निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्-चारित्र इसलिए कहा जाता है कि इनमें मोक्ष की साक्षात् कारणता रहा करती है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्र को व्यवहार मोक्षमार्ग या व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र नाम से पुकारने में तथा औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्ज्ञान और औपशमिक व क्षायिकचारित्र को निश्चयमोक्षमार्ग या निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्-चारित्र नाम से पुकारने में प्रकारान्तर से यह युक्ति भी दी जा सकती है कि आगम में स्वाश्रितपने को वस्तु का निश्चयधर्म व पराश्रितपने को वस्तु का व्यवहारधर्म माना गया है।[६] इस तरह औपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यक्ज्ञान और औपशमिक व क्षायिक सम्यक्चारित्र ये सभी चूँकि यथायोग्य अपने-अपने प्रतिपक्षी कर्मों के सर्वथा उपशम या सर्वथा क्षय हो जाने पर ही जीव में उद्‌भूत होते हैं। अत पूर्णरूप से स्वाश्रयता पायी जाने के कारण इन्हें निश्चय नाम से पुकारना योग्य है तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्र ये सभी चूंकि अपने-अपने प्रतिपक्षी कर्मों के सर्वघाती अंशों के यथायोग्य उदयाभावीक्षय तथा सदवस्थारूप उपशम एवं देशघाती अंशों के उदय के सद्‌भाव में ही जीव में उद्‌भूत होते हैं, अत पूर्णरूप से स्वाश्रयता नहीं पायी जाने अथवा कथंचित् पराश्रयता पायी जाने के कारण इन्हें व्यवहार नाम से पुकारना योग्य है।

यहाँ पर कोई कह सकता है कि द्रव्यलिंग और भावलिंग के रूप में भी दर्शन, ज्ञान और चारित्र का वर्णन आगम में पाया जाता है। इनमें से तद्रूपता का अर्थ भाव-लिंग होता है और अतद्रूपता का अर्थ द्रव्यलिंग होता है। इस तरह जो जीव यथायोग्य मोहनीयकर्म का उपशम,

क्षय अथवा क्षयोपशम न रहने के कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र की भावरूपता को प्राप्त न होते हुए भी तद्रूप के समान बाह्याचरण करते हैं उनमें तो द्रव्यलिंग के रूप में ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र रहा करते हैं, लेकिन जो जीव यथायोग्य मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाने के कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र की भावरूपता को प्राप्त होकर तदनुकूल बाह्याचरण करते हैं उनमें भावलिंग के रूप में दर्शन, ज्ञान और चारित्र रहा करते हैं। इनमें से जो जीव द्रव्यलिंग के रूप में दर्शन, ज्ञान और चारित्र के धारक हैं, वे व्यवहार मोक्ष-मार्गी और जो जीव भावलिंग के रूप में दर्शन, ज्ञान और चारित्र के धारक हैं वे निश्चयमोक्षमार्गी आगम में स्वीकार किये गये हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञानी और क्षायोपशमिक सम्यक्चारित्री जीव हैं उन्हे भी निश्चयमोक्षमार्गी या निश्चयसम्यग्दृष्टि, निश्चयसम्यग्ज्ञानी और निश्चयसम्यक्चारित्री ही कहना उचित है, उन्हें व्यवहारमोक्षमार्गी या व्यवहारसम्यग्दृष्टि, व्यवहारसम्यग्ज्ञानी और व्यवहारसम्यक्-चारित्री कहना उचित नहीं है।

उपर्युक्त समस्या का समाधान यह है कि व्यवहार और निश्चय इन दोनों शब्दों के प्रकरणानुसार विविध अर्थ आगम में स्वीकार किए गये हैं। जैसे कहीं भेदरूपता व्यवहार है और अभेदरूपता निश्चय है, कहीं नानारूपता व्यवहार है और एकरूपता निश्चय है, कहीं पर्यायरूपता व्यवहार है और द्रव्यरूपता निश्चय है, कहीं विशेषरूपता व्यवहार है और सामान्यरूपता निश्चय है, कहीं व्यतिरेकरूपता व्यवहार है और अन्वयरूपता निश्चय है, कहीं विभावरूपता व्यवहार है, और स्वभावरूपता निश्चय है, कहीं अभावरूपता व्यवहार है और भावरूपता निश्चय है, कहीं अनित्यरूपता व्यवहार है और नित्यरूपता निश्चय है, कहीं असद्रूपता व्यवहार है और सद्रूपता निश्चय है, कहीं विस्ताररूपता व्यवहार है और संक्षेप या संग्रहरूपता निश्चय है, कहीं पराश्रयरूपता व्यवहार है और स्वाश्रयरूपता निश्चय है, कहीं विधेयरूपता, साधनरूपता व कारणरूपता व्यवहार है और उद्देश्यरूपता, साध्यरूपता व कार्यरूपता निश्चय है कहीं परम्परारूपता व्यवहार है और साक्षात्रूपता निश्चय है, कहीं निमित्तरूपता व्यवहार है और उपादानरूपता निश्चय है, कहीं बहिरंगरूपता व्यवहार है और अंतरंगरूपता निश्चय है, कहीं उपचार, अभूतार्थ, असद्भूतरूपता व्यवहार है और परमार्थ, भूतार्थ सद्भूतरूपता निश्चय है। इन या इसी प्रकार के और भी व्यवहार और निश्चय शब्द के संभव अर्थों में से जहाँ जिस प्रकार का अर्थ ग्रहण करने में प्रकरण की सुसंगति होती हो वहां पर उसी प्रकार का अर्थ व्यवहार और निश्चय शब्दों का ग्रहण कर लेना चाहिए। इस प्रकार द्रव्यलिंग के रूप में जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र किसी जीव में रहा करते हैं उन्हें बाह्यरूपता के आधार पर व्यवहारदर्शन, ज्ञान और चारित्र कहना तथा भावलिंग के रूप में जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र किसी जीव में रहा करते हैं उन्हे अन्तरंगरूपता के आधार पर निश्चयदर्शन, ज्ञान और चारित्र कहना भी संगत है एवं क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान और क्षायोपशमिक

चारित्र को पराश्रयता के आधार पर व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहार-सम्यग्ज्ञान और व्यवहारसम्यक्चारित्र नामों से पुकारना तथा औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक ज्ञान व औपशमिक और क्षायिक चारित्र को स्वाश्रयता के आधार पर निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयसम्यक्चारित्र नाम से पुकारना भी सगत है।

जैनागम में जो नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के रूप में चार निक्षेपों का वर्णन पाया जाता है उनमें से नाम, स्थापना और द्रव्य इन तीन को तो व्यवहारनिक्षेपरूप जानना चाहिए तथा भाव को निश्चयनिक्षेपरूप जानना चाहिए। जैसे वास्तव में अर्थात् निश्चयरूप में तो वही जीव जैनी कहा जा सकता है जो भाव से जैनी हो अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो। लेकिन जो जीव सम्यग्दृष्टि बनने की क्षमता को प्राप्त है उस जीव को भी द्रव्यरूप से व्यवहार में जैनी कहा जा सकता है। इसी प्रकार जो जीव न तो सम्यग्दृष्टि है, न सम्यग्दृष्टि बनने की क्षमता को प्राप्त है लेकिन चूकि जैन कुल में उत्पन्न हुआ है अत उसे भी व्यवहार में नामरूप से जैनी कहा जाता है तथा जो जीव न तो सम्यग्दृष्टि है, न वह सम्यग्दृष्टि बनने की क्षमता को प्राप्त है लेकिन गृहस्थ के छह[४९] आवश्यक कृत्यों का अवश्य कर रहा है उसे स्थापनारूप से व्यवहार में जैनी माना जाता है। इस तरह सर्वत्र हमें व्यवहार और निश्चय की प्रक्रिया को सुसगत कर लेना चाहिए। पंडितप्रवर आशाधर जी ने सागारधर्मामृत (अध्याय २, श्लोक ५४) में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के रूप में विभक्त सभी जैनों की जो तरतमभाव से महत्ता बतलायी है उससे व्यवहार की महत्ता प्रस्फुटित होती है।

मैं समझता हूँ कि अब तक के विवेचन से आगम द्वारा स्वीकृत निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्षमार्गों की निर्विवाद स्थिति एवं सार्थकता अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है।

१ आप्तमीमांसा, श्लोक १००। जीवभव्याभव्यत्वानि च।—तत्त्वार्थसूत्र २-७।

२ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष।—तत्त्वार्थसूत्र १०-२।

३ समयसार, गाथा १७, १८।

४ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग।—तत्त्वार्थसूत्र १-१। पचास्तिकाय, गाथा १०६।

५ पचास्तिकाय, गाथा १६०,१६१।

६ निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं सम्भवति।—पचा का गा १०६ की टीका, आ जयसेन।

७ निश्चयव्यवहारयो साध्यसाधनभावत्वात्। —पचास्तिकाय, गाथा १६०, टीका, आचार्य अमृतचन्द्र। निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्।

—पंचास्तिकाय, गा १६२, टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।

व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम्।

—पचास्तिकाय, गाथा १६३ की टीका, आचार्य अमृतचन्द्र।

साधको व्यवहारमोक्षमार्ग साध्यो निश्चयमोक्षमार्ग। —परमात्मप्रकाश-टीका, पृ १४२।

८ तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्। त सू १-२।

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।—तत्त्वार्थसूत्र १-४।

९ रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ४।

१० समयसार, गाथा ६।

११ पचाध्यायी, श्लोक ८।

१२ रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ९७।

१३ प्रवचनसार, गाथा ७।

१४ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३०, ३१।

१५ समयसार, गाथा ३०५ आचार्य अमृतचन्द्र टीका।

१६ समयसार, गाथा ३०६, ३०७।

१७ गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ८।

१८ प्रत्येक कर्म के कार्य को जानने के लिए गो कर्मकाण्ड की गाथा १० से गाथा ३३ तक का अवलोकन करना चाहिए।

१९ समयसार, गाथा ८०।

२० विपाकोऽनुभव। स यथानाम। ततश्च निर्जरा।—तत्त्वार्थसूत्र ८-२१, २२, २३।

२१ पचाध्यायी, अध्याय २, श्लोक ९६७।

२२ पचाध्यायी अध्याय २, श्लोक ९६४, ९६५, ९६६।

२३ औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च। —तत्त्वार्थसूत्र २-१।

२४ तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २ सूत्र २, ३, ४, ५, ६ ७।

२५ वही, अध्याय ८ सूत्र, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ३८।

२६ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ४३, ४४।

२७ वही, गाथा ४१, ४२।

२८ रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।

२९ तत्त्वार्थसूत्र, १-१।

३० गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४।

३१ पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक २१२, २१३, २१४।

३२ वही, श्लोक २११।

३३ तत्त्वार्थसूत्र, १-१।

३४ रत्नकरण्डकश्रावकाचार श्लोक २३।

३५ प्रवचनसार, गाथा ११।

३६ प्रवचनसार, गाथा १२।

३७ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा २६ पूर्वा।

३८ वही, गा २५ का उत्तरार्ध।

३९ वही, गाथा, ६५०।

४० वही, गाथा १५, १९, २१।

४१ छहढाला, ४-१।

४२ तदियकसायुदयेण य विरदाविरदो गुणो हवे जुगवं।
विदियकसायुदयेण य असजमो होदि णियमेण॥ —गो जी ४६८।

४३ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ४६५।

४४ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ४७३, ४६७, ४७४।

४५ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ ७१, पंक्ति १५। तत्त्वा श्लो वा, पृ ७१, पंक्ति २७।
तत्त्वार्थश्लोक वा, पृष्ठ ७१, वार्तिक ९३, ९४।

४६ आत्माश्रितो निश्चयनय, पराश्रितो व्यवहारनय। —समयसार, गाथा २७२ की आत्मख्याति टीका।

४७ देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय सयमस्तप।
दान चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने॥ —यशस्तिलकचम्पू, आश्वास ८, प्रकीर्ण विधिकल्प।

मोक्ष मार्ग में व्यवहारनय और निश्चयनय की उपयोगिता

❑ *मुनि श्री देवनन्दीजी*

"य स्मर्यते सर्व मुनीन्द्र वृन्दे
य स्तूयते सर्व नरामरेन्द्रै।
यो गीयते वेद पुराण शास्त्रै -
स देव देवो हृदये ममस्ताम्"॥सा द्वात्रि, १२॥

भारतीय चिन्तन पद्धति में विचार स्वातन्त्र्य का सदा प्राधान्य रहा है। विचार-स्वातन्त्र्य की यह प्रवृत्ति हमें इस देश के इतिहास में बहुत आरम्भ से देखने को मिलती हैं। ऋग्वेद में ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इन्द्र की सभा को न मानने वाले लोग भी उस समय विद्यमान थे। वैदिक लोगों के स्वतन्त्र विचारक होने का यह एक अच्छा प्रमाण है। उत्तर वैदिक काल में भी यह प्रवृत्ति समान रूप से हमें देखने को मिलती है। वहाँ वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में एक निश्चित भावना दिखाई देती है। आख्यायिकों में कर्म काण्ड की श्रृंखलाएं शिथिल होती दिखाई देती हैं एवं ज्ञान काण्ड के प्रति केवल आस्था परिलक्षित होने लगती है। कर्म काण्ड की विरोध की भावना हमें गीता में देखने को मिलती है। इस भावना के प्रवर्तक हम बुद्ध और महावीर को भी पाते हैं। बुद्ध महावीर ने अपने ढग से वैदिक कर्म काण्ड का विरोध एवं अहिंसा धर्म का प्रवर्तन किया तथा भारतीय जीवन पद्धति को नयी दिशा दी। जैनधर्म एवं जैनदर्शन भारतीय प्रक्रिया में अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। जैन दर्शन भारतीय चिंतन पद्धति की एक विशिष्ट दिशा है। जिसमे अनेकान्तवाद, स्याद्वाद दर्शन (नयवाद, अपेक्षावाद) का उसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैन दर्शन एवं जिनागम के मर्म को समझने के लिए नयों का स्वरूप समझना अत्यन्त अनिवार्य है। क्योंकि जैनागम नयों की भाषा में ही निबद्ध है। नयों का समझे बिना जिनागम के मर्म को समझ पाना तो बहुत दूर, उसमें प्रवेश भी सभव नहीं है।

धवला टीका में कहा है—

"णत्थि णएहिं विहूण सुत्त अत्थोव्व जिनवर-मदम्हि।
तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धतिया होंति॥ ध १/ ६१/१२६

अर्थात् जिनेन्द्र के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता समझने चाहिए।" दव्य

स्वभाव प्रकाशक नयचक्र' में भी कहा है—

"जे णयदिट्ठि विहीणा ताण ण वत्थू सहाव उवलद्धि।
वत्थुसहाव विहूणा सम्मादिट्ठि कहं हुंति"॥

जो व्यक्ति नयदृष्टि से विहीन है, उन्हें वस्तु का सही ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तु स्वरूप को नहीं जानने वाले सम्यगदृष्टि कैसे हो सकते हैं?"

वीतरागी जिनधर्म के मर्म को समझने के लिए नयों का सही स्वरूप समझने के साथ-साथ उनकी प्रयोग-विधि से भी परिचित होना जरूरी है। जिस प्रकार अत्यत तीक्ष्ण धारवाली तलवार से बालक की तरह खेलना खतरे से खाली नही है, उसी प्रकार अत्यत तीक्ष्ण धार वाले धार का यद्धा-तद्धा प्रयोग भी कम खतरे से खाली नहीं है। जिस प्रकार यदि तलवार चलाना सीखना है तो सुयोग्य गुरू के निर्देशन में विधिपूर्वक सावधानी से सीखना चाहिए, उसी प्रकार नयो की प्रयोग विधि में कुशलता प्राप्त करने के लिए नयचक्र के सचालन में चतुर गुरू की शरण आवश्यक है। कहा भी है—"गुरुवो भवन्ति शरण, प्रवुद्ध नयचक्र समारा।" क्योंकि—

"मुख्योपचारविवरण, निरस्तदुस्तर विनेयदुर्बोधा।
व्यवहारनिश्चयज्ञा प्रर्वत्तयन्ते जगतितीर्थम्"॥४॥ (पुरूपार्थ सिद्ध्युपाय)

अर्थात्—मुख्य व उपचार कथन से शिष्यों के दुर्निवार अज्ञान के भाव को नष्ट कर दिया है जिन्होंने और जो निश्चय व्यवहार नय के विशेपज्ञ हैं वे गुरू ही जगत में धर्म नीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

नयों के प्रयोग से अनेकातस्वरूप वस्तु का अच्छी तरह से निर्णय हो जाता है। जैसे— नमक सब व्यजनों को शुद्ध कर देता है। सुस्वाद बना देता है। वैसे ही समस्त शास्त्रों की शुद्धि का कर्त्ता नयवाद होता है। सुनय के ज्ञान से रहित जीवों के लिए सम्यक् श्रुत भी मिथ्या हो जाता है।

अनत धर्मात्मक वस्तुस्वरूप को क्रमपूर्वक एक-एक धर्म की विवक्षा से कथन करने वाला नय होता है। कहा है—

"इत्युक्तलक्षणोस्मिन्न, विरूद्ध धर्म द्वयात्मके तत्वे।
तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकस्य नया"। (५०४ पचाध्यायी पूर्वार्ध)

जिसका लक्षण कहा गया है ऐसे दो विरूद्ध धर्म वाले तत्व में किसी एक धर्म का वाचक नय होता है। नयों के लक्षण का स्पष्टीकरण करते हुए धवलाकार ने कहा है—"को नयो नाम? ज्ञातुरभिप्रायो नय। अभिप्राय इत्यस्य कोऽर्थ? प्रमाणपरिग्रहीतार्थैकदेशवस्तवध्यवसाय अभिप्राय। युक्तित अर्थ परिग्रह द्रव्यपर्याययोरन्तरस्य अर्थ इति परिग्रहो वा नय प्रमाणेन परिच्छिन्नस्य वस्तुन द्रव्ये पयार्य वा वस्तवध्यसायो नय इति यावत्।

प्रश्न—नय किसे कहते हैं?

उत्तर—ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

प्रश्न—अभिप्राय का क्या अर्थ है?

उत्तर—प्रमाण से गृहीत वस्तु का निश्चय ही अभिप्राय है। युक्ति अर्थात् प्रमाण से अर्थ ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्यायों में से किसी एक को ग्रहण करने का नाम नय है। अथवा प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पयार्य में अर्थात् सामान्य से विशेष में वस्तु के निश्चय को नय कहते हैं, ऐसा अभिप्राय है।"

नयों का कथन सापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष नहीं, क्योंकि वे वस्तु के अशनिरूपक हैं। नयों के साथ यदि अपेक्षा न लगायी जाये तो जो बात वस्तु के अश के बारे में कही जा रही है, उसे सम्पूर्ण वस्तु के बारे में समझ लिया जा सकता है जो कि सत्य नहीं होगा। जैसे हम कहें 'आत्मा अनित्य' है, कथन पयार्य की अपेक्षा तो सत्य है पर यदि इसे द्रव्य-पर्यायात्मक आत्म वस्तु के बारे में समझ लिया जाय तो सत्य नहीं होगा, क्योंकि द्रव्य-पर्यायात्मक आत्मवस्तु तो नित्यानित्यात्मक है।

इसीलिए कहा है—'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्' (आत्ममीमांसा)। अर्थात् निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक् वा सार्थक होते हैं।"

और भी—"ते सावेक्खा सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति। वे नय सापेक्ष हों तो सुनय होते है और निरपेक्ष हों तो दुर्नय होते हैं। और भी अनेक शास्त्रों में नयों की विभिन्न परिभाषाएँ प्राप्त होती है जिनका तात्पर्य उक्त कथनानुसार ही है।

जैन दर्शन में विभिन्न अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर नय के भेद का वर्गीकरण विस्तार से किया गया है। यदि एक स्थान पर दो नयों की चर्चा है तो दूसरी जगह तीन प्रकार के नयों का उल्लेख मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र में सात नयों की बात आती है तो प्रवचनसार में ४७ नय बताये हैं। गोम्मटसार में लिखा है—

'जावादियावयणवहा तावदियाचेव होंति णयवादा'। (गो क ८९४)

अर्थात् जितने वचन विकल्प हैं उतने ही नयवाद हैं। श्लोकवार्तिक में विद्यानन्द स्वामी ने सामान्य सनय एक व विशेष की अपेक्षा से सक्षेप में दो विस्तार से सात व अति विस्तार से संख्यात भेद वाले कहे हैं।

धवलाकार ने नयों के अवान्तर भेदों को असख्यात प्रकार का कहा है।—"एवमेते सक्षेपेण नया सप्तविधा अवान्तर भेदेन पुनर्रसख्येया।

जैनसिद्धान्त के अन्दर मोक्षमार्ग के उपयोगीभूत मूल में दो नय हैं—जैसा कि कहा भी है—

"णिच्छयववहारणया मूलमभेयाणयाण सव्वाणं।

णिच्छय साहण हेउ दव्वय पज्जत्थिया मुणह।।" (अलापपद्धति. ४)

सपूर्ण नयों के निश्चयनय व व्यवहार नय दो मूल भेद हैं। निश्चयन का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और साधन अर्थात् व्यवहार नय का हेतु पर्यायार्थिक नय है। निश्चयनय द्रव्य में स्थित है और व्यवहारनय पर्याय में स्थित है। इसी बात को श्री अमृतचन्द्र सूरि भी कहते हैं—व्यवहारनय किल पर्यायाश्रित्वात् निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रित्वात्" (समयसार, गाथा, ५६ अमृतचंद्रसूरि कृत टीका)

जिनेन्द्र भगवान के वचन किसी एक नय के आश्रित नहीं हो करके द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय के आश्रित है। यदि दोनों नयों में से व्यवहार नय को अलग कर दिया जाता है तो धर्मतीर्थ की व्युच्छित्ति हो जाती है और निश्चयनय को अलग कर दिया जाता है तो परमतत्व का लोप हो जाता है।

"जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण उण तच्च।।"

यदि जिनधर्म का प्रचार-प्रसार करना है तथा आत्म-उद्धार करना है तो केवल एकात व्यवहार का पक्षपाती मत बनो। इसी प्रकार केवल एकात निश्चय का भी पक्षपाती मत बनो। यदि व्यवहार को नहीं मानेंग तब ससार से उत्तीर्ण होने रूप जो व्यवहार-तीर्थ है उसका लोप हो जायेगा और आत्मोपलब्धि रूप निश्चयधर्म की भी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। यदि निश्चय को नहीं मानेंगे तो व्यवहारधर्म के माध्यम से जिस परम तत्त्व को प्राप्त करना है उस परम तत्त्व का लोप हो जायेगा फिर उस व्यवहारधर्म के द्वारा किस तत्त्व को प्राप्त करेगे?

समयसार के गुप्त रहस्य को उद्घाटित करने वाले कुंदकुंद साहित्य रूपी सागर में अवगाहन करने वाले समयसार के आद्य टीकाकार आध्यात्मिक सत अमृतचद सूरि तत्त्वार्थसार में कहते हैं—

"निश्चयव्यवहाराभ्या मोक्षमार्गो द्विधा स्थित।
तत्राद्य साध्यरूप स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्।।" २।।उप।।

मोक्षमार्ग दो प्रकार का हैं १ निश्चयमोक्षमार्ग आर २ व्यवहारमोक्षमार्ग। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य रूप है। जिसे प्राप्त करना है, जो कार्य रूप है। द्वितीय व्यवहार मोक्षमार्ग साधन रूप है जिसके द्वारा साध्यरूप निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। समर्थ कारण से कार्य होता है। अर्थात् साधन से साध्य की सिद्धि होती है। इस न्यायानुसार व्यवहार के द्वारा निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। व्यवहार मोक्षमार्ग बिना निश्चय मोक्षमार्ग अनुपलब्ध ही रहेगा।

प आशाधर जी अनगार धर्मामृत में लिखते हैं—

"व्यवहार पराचीन निश्चय य चिकीर्षति।
बीजादिना बिना मूढ स शस्यानि सिसृक्षति।।" १।।१००।।

व्यवहार से विमुख होकर निश्चय को चाहते हैं। जैसे एक मूढ बीज के बिना वृक्ष को चाहता है उसी प्रकार व्यवहार के बिना निश्चय की प्राप्ति नही हो सकती। अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहते हैं—

"व्यवहारनिश्चयौ य प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थ ।
प्राप्नोति देशनाया स एव फलमविकल शिष्य ॥" ८॥

जो व्यवहार और निश्चय दोनो में ज्ञानी होकर अर्थात् दोनों नयो को अच्छी तरह समझकर कोई भी नयों का पक्षपाती न होकर मध्यस्थ होते हैं वही उपदेश प्राप्त करने के लिए योग्य है। अन्य हठग्राही, पक्षपाती जैन उपदेश के पात्र नहीं हैं।

इस प्रकार सुनिश्चित हो जाता है कि दोनों नयों में से एक भी नय को हम मोक्षमार्ग में अप्रयोजनीय नहीं कह सकते। यह तथ्य है कि दोनों नय परस्पर में विरोधी हैं, लेकिन यह भी सच है कि दोनो से ही आत्मतत्त्व निर्मित होता है। मन तो कहता है कि दोनों नयों में से किसी एक का चयन कर लें लेकिन किसी एक के चुनाव से जीवन निर्मित नहीं होता। मोक्षमार्ग निश्चय व व्यवहार की विरोधी ईंटों से निर्मित होता है। अगर हमने एक पक्ष को पकडकर एक-सी ईंटे लगा दी तो मोक्षमार्ग नहीं बनेगा।

मोक्ष के प्रयोजनभूत व्रत, नियम, उपवास आदि का व्याख्यान व्यवहार नय के आश्रय से ही किया जाता है। जब तक शुद्धात्म तत्त्व में लीन नहीं होते हैं तब तक व्यवहारनय का आश्रय लेना आवश्यक है। निश्चय रत्नत्रय साध्य है, व्यवहार रत्नत्रय उसका साधन है। साधन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती यह निर्विवाद सत्य है।

"निश्चय-मोक्षमार्ग-साधन-भावेन पूर्वोपदिष्ट निर्देशोऽयम्"—निश्चय मोक्षमार्ग के साधनभाव से पूर्व उपदिष्ट यह व्यवहार मोक्षमार्ग है। यह निश्चय साधन है। अब यदि जिनेन्द्र भगवान के बताये हुए मार्ग में कोई व्यवहार नय को एकातत माने तो सर्वत्र अराजकता फैल जायेगी, व्यवस्था छिन्न -भिन्न हो जायेगी एव सभ्यता एव मानवता का नाश हो जायेगा, इतना ही नहीं, यदि व्यवहार को अवाञ्छित मानें तो अध्यात्म की सपूर्ण व्यवस्था डगमगा जायेगी। पंच परमेष्ठियों का मानना व्यवहार से ही होता है। माँ, बहिन, बेटी, पिता, पुत्र, पत्नी आदि की मान्यताएं व्यवहार द्वारा ही सुख शाति की धात्री बनी हुई है। मेरा मकान, मेरी दुकान, मेरा द्रव्य, मेरा घर कुटम्ब, मेरी समाज, मेरी शैक्षणिक योग्यता, मेरा गाव, मेरा प्रान्त, मेरा देश यह यद्यपि व्यवहार से ही कथन किया जाता है, परन्तु यह यदि अवास्तविक ठहरा दिया जाये तो लोक-व्यवस्था का उच्छेद हो जाता है इसलिए उक्त व्यवहार जहाँ तादात्म्य सबध की अपेक्षा अवास्तविक है वही सयोगादि सबधों के अपेक्षा से वास्तविक भी है। सम्यग्दृष्टि श्रावक व मुनि जो भी मोक्षरूप लक्ष्य को पाना चाहते हैं उन्हें व्यवहार की सम्यक् व्यवस्था और भूमिका उतनी ही आवश्यक है जितनी कि प्राण सधारण के लिए अन्न व पानी की। लक्ष्य में निश्चय का वास

हो परन्तु भूमिकानुसार व्यवहार का ग्रहण सर्वत्र हितकारी है।

व्यवहारनय की उपयोगिता को समझते हुए स्वयं गौतम गणधर ने २४ अनुयोगद्वारों के आदि में "णमो जिणाणं" इत्यादि रूप से मंगल किया है।

"ववहारणयं पडुच्च तुण गोदम सामिणा चउवीसह-मणियोगद्दाराणमादीए मंगल कदं। ण च ववहारणओ चप्पलओ; तत्तौ (ववहारणुसारि) सिस्साण पउत्तिदंसणादो। जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मगल त कयं।"

व्यवहारनय असत्य भी नहीं है, क्योंकि उसमें व्यवहार का अनुसरण करने वाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अत जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है, उसी का आश्रय करना चाहिए ऐसा निश्चय करके गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोगकाद्वारों आदि में मंगल किया है।

धवलाकार का अभिमत भी दृष्टव्य है—

एवं दव्वट्ठियजणाणुग्गहट्ठं णमोक्कारं गोदामभडारओ महाकम्मपयडिपास्स आदिम्हि काऊण पज्जवट्ठिययाणग्गहट्ठमत्तर-सुत्तरसुत्ताणि भणदि णमो ओहिजिणाण।

इस प्रकार द्रव्यार्थिक जनों के अनुग्रहार्थ गौतम भट्टारक महाकर्म प्रकृति के प्रभात के आदि में नमस्कार करके पर्यायार्थिक नय शिष्यों के अनुग्रहार्थ उत्तर सूत्रों को कहते हैं।

अवधि जिनों को नमस्कार हो—

श्री गौतम स्वामी ने महाकर्मप्रकृतिप्राभृत की आदि में "णमो जिणाण" (जिनों को नमस्कार हो) यह पहला मंगलसूत्र द्रव्यार्थिक नय वाले शिष्यों के अनुग्रहार्थ रचा है। आगे पुन 'णमो ओहि जिणाणं' से लेकर 'णमो वढ्ढमाणरिसिस्स' यहा तक जो नमस्कार सूत्र बनाये है वे पर्यायार्थिकनय वाले शिष्यों के अनुग्रहार्थ बनाये हैं, ऐसा अभिप्राय है।

जब मुनि शुद्ध आत्मतत्व में लीन रहते हैं तब उनके द्वारा शुद्धनय का आलंबन होता है किन्तु जो शुद्ध स्वभाव से च्युत हैं उनके लिए व्यवहारनय के द्वारा उपदेश एव आश्रय ग्रहण करने योग्य है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जब तक निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं कर लिया जाता है तब तक व्यवहार रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को नहीं छोडना चाहिए। इन दोनों नयों में साध्य-साधन भाव है। निश्चय रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग की आराधना मात्र से मोक्षमार्ग की उपलब्धि नहीं हो सकती। दोनों का यथार्थ रूप समझ कर ही उस पर चलना श्रेयस्कर है।

व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है—

"धम्मादिसद्धहणं, सम्मत्तं णाणमगपुव्वगद।

चेट्ठातवम्हि्चरिया, ववहारोमोक्खमग्गोति॥" (पचास्तिकाय गाथा १६०)

अर्थात् धर्मादि द्रव्यों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, अगपूर्व सबधी ज्ञान सो ज्ञान है और तप में प्रवृत्ति करना सो चारित्र है। इस प्रकार यह व्यवहार मोक्षमार्ग है। श्री अमृतचन्द्रसूरि इस गाथा की टीका में कहते हैं—

"आचारादि सूत्रों द्वारा भेदरूप से कहे गये अनेकविध मुनि आचारों के समस्त समुदाय रूप तप में प्रवर्तन करना चारित्र है-----यह व्यवहारनय के आश्रय से किया जाने वाला निश्चय मोक्षमार्ग के साधन भाव को प्राप्त होता है। अर्थात् इस व्यवहार मोक्षमार्ग से ही निश्चयाश्रित मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।"

इसलिए निश्चय मोक्षमार्ग व व्यवहार में साध्य-साधन भाव सुनिश्चित रूप से घटित हो जाता है। इन प्रमाणों को देखकर ही जो विद्वान् व्यवहार चारित्र को हेय कहते हैं अथवा व्यवहार के बिना निश्चय चारित्र की कोरी बातें करते हैं वे आकाशपुष्प की सुगधि चाहते हैं। यदि फूलों की रक्षा करना है तो उनकी जडों की भी रक्षा भलीभाति करनी होगी। फूल की रक्षा तो स्वत ही हो जाती है। व्यवहार जीवन का जड है तथा अध्यात्म निश्चय धर्म उसका फूल है। यदि कोई ऐसा कहे कि हम जडों को पानी नहीं देंगे क्योंकि वे कुरूप हैं, हेय है तो ऐसा व्यक्ति फूलों को कभी सुरक्षित नहीं रख पायेगा। तात्पर्य यह है व्यवहार धर्म का पालक ही निश्चय धर्म को प्राप्त करता है। कुन्दकुन्द आचार्य ने रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को कथंचित् (दशवें गुणस्थान तक बन्ध का हेतु) पुन बारहवें गुणस्थान तक साक्षात् मोक्ष का हेतु कहा हैं। इसका खुलासा करते हुए आत्मख्याति टीका में लिखा है—

ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र यदि अल्प भी परसमय प्रवृत्ति के साथ मिलित हों तो बन्ध के कारण भी हैं और जब समस्त परसमय प्रवृत्ति से निवृत्तिरूप प्रवृत्ति के साथ से युक्त होते हैं तब साक्षात् मोक्ष के कारण ही हैं।

वीतराग सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे हुए जीवादि पदार्थों के संबंध में सम्यक् श्रद्धान करना व जानना ये दोनों सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान गृहस्थ व मुनियों में समान होते है परन्तु साधु तपस्वियों का चारित्र आचारसार आदि ग्रन्थों में कहे गये मार्ग के अनुसार प्रमत्त व अप्रमत्त छठवें सातवें गुणस्थान के योग्य पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति, छह आवश्यक आदि रूप होता है। गृहस्थों का चारित्र उपासकाध्ययन शास्त्रों में कही गई रीति के अनुसार पचमगुणस्थान के योग्य दान, शील, पूजा, उपवास आदि रूप अथवा दर्शन, व्रत आदि ग्यारह प्रतिमा स्थानरूप होता है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग का लक्षण है। जैसे—अग्नि सुवर्ण पापाण को सुवर्ण बनाने में निमित्त है वैसे ही यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का निमित्त है।

निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है—

"णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहि समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं, ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति॥"१६१॥प. काया॥

जो आत्मा इन तीनों द्वारा समाहित होता हुआ अन्य कुछ न करता है और न छोडता ही है वह निश्चय से मोक्षमार्ग कहा गया है। इसी टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि पुन कहते हैं—

"अतो निश्चयव्यवहार मोक्षमार्गयो साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्न इति।"

इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनि भी परसमयरत होते हैं तथा जहॉ तक बन्ध होता है वहॉं तक कथचित् परसमय प्रवृति मानना चाहिये। उसके ऊपर उत्कृष्ट अतरात्मा मुनि बारहवें गुणस्थान में पूर्णतया स्वसमयरत है वहीं पर बन्ध का अभाव होकर साक्षात् निश्चयरत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

भेद-रत्नत्रय अभेद-रत्नत्रय का साधन है—

भेद रत्नत्रयात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग नामक व्यवहार कारण समयसार के द्वारा अभेद रत्नत्रयात्मक निश्चय मोक्षमार्ग नामक निश्चय कारण समयसार साध्य है। इस निश्चय कारण समयसार से केवलज्ञान की अभिव्यक्ति रूप कार्य समयसार प्रकट होता है।

व्यवहारनय तो मोक्षमार्ग में श्रावक व मुनि इन दोनों ही प्रकार के लिगों को कहता है, किन्तु निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग में स्वीकार नहीं करता। ऐसा क्यों? क्योंकि निश्चयनय आत्माश्रित है और व्यवहार नय शरीर आदि का आश्रय लेने से पर्यायाश्रित है। ऐसा होने पर भी व्यवहार को सर्वथा असत्य नहीं कह सकते क्योंकि व्यवहारनय के आश्रय से ही मोक्षमार्ग साध्य है। जो साधन के बिना साध्य की सिद्धि करना चाहते हैं अथवा व्यवहार चारित्र की उपेक्षा करके निश्चय की अपेक्षा करते हैं उनके बारे में आचार्य कहते हैं—

णिच्छयमालबता णिच्छयदो णिच्छय अयाणता।
णासति चरणकरणं बाहरिचरणालसा केई॥

निश्चय का आलबन लेते हुए परन्तु निश्चय से निश्चय को न जानते हुए कोई मुनि बाह्य आचरण में आलसी होते हुए तेरह प्रकार के चारित्र और तेरह प्रकार की क्रियाओं का नाश कर देते हैं। अत वे उभय रूप से नष्ट हो जाते है।

यही बात श्री अमृतचन्द्र सूरि भी कहते हैं—

"निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरण स बहि करणालसो बाल॥" ५०॥ (पु. सि)

इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रावकों के व्यवहार-रत्नत्रय ही होता है, निश्चय नहीं। मुनियों का आचरण कहकर आचार्य श्री कुंदकुद देव मोक्षपाहुड ग्रन्थ में श्रावकों के लिये कहते हैं—

"एवं जिणेहि कहिय सवणाण सावयाण पुण पुणसु।
संसार विणासयर सिद्धियर कारण परम॥" ८५॥

पूर्वोक्त प्रकार से जिनेन्द्र देव ने श्रमणों के लिए उपदेश दिया है, अब श्रावकों के लिए कहते हैं, उसे सुनो। वह उपदेश ससार का विनाश करने वाला है और सिद्धपद को प्राप्त कराने में उत्कृष्ट कारण है।

आगे श्रावको के लिए सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं—

"हिसारहिये धम्मे, अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गथे पावयणे सद्दहण होइ सम्मत्त॥" ९०॥

अर्थात हिसारहित धर्म, अठारह दोषरहित अर्हन्तदेव, निर्ग्रन्थ, प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग तथा गुरु का श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है। आगे और कहते है—

"सम्माइट्ठी सावय, धम्म जिणदेवदसिद कुणदि।
विवरीय कुव्वतो, मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो॥" ९४॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जिनदेव कथित धर्म का पालन करता है और मिथ्यादृष्टि इसके विपरीत आचरण करता है।

मोक्षपाहुड की इन गाथाओं से यह स्पष्ट झलकता है कि श्रावक व्यवहार-धर्म का पालन करता है। इसी प्रकार से कुंदकुंददेव ने चारित्तपाहुड में श्रावकों के सयमाचरण को बताते हुए कहा है—

"दसण वय सामाइय पोसह सच्चित रायभत्ते य।
बभारम्भपरिग्गह अणुमण उदिदट्ठ देसविरदो य॥" २१॥

"पचेवणुव्वयाइ गुणव्वयाइ हवति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि सजमचरण च सायार॥" २२॥

अर्थात् दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ऐसे ग्यारह प्रकार के देशविरत हैं। पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ये बारह पकार का चारित्र सागार अर्थात् श्रावकों का सयमाचरण है।

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक को शक्ति के अनुसार इन ग्यारह प्रतिमाओं में से चारित्र को ग्रहण करना ही चाहिए। तभी वह श्रावक कहला सकता है, अन्यथा

नहीं। यहाँ पर कहने का अभिप्राय यही है कि छठें गुणस्थान तक की चर्या व्यवहार मोक्षमार्ग है। इससे आगे निश्चय मोक्षमार्ग होता है अत अविरत सम्यग्दृष्टि या श्रावक मात्र शुद्धात्मतत्त्व का श्रद्धान ही कर सकता है वह निश्चय सम्यक्त्व आदि को प्राप्त करने की क्षमता नहीं रखता।

चारित्र की सार्थकता

मुनि और श्रावकों का महाव्रत-अणुव्रत रूप आचरण कितना महत्त्वशाली है—

गौतमस्वामी भगवान् महावीर के प्रथम गणधर हुए है। ये मति, श्रुत, अवधि और मन पर्याय इन चार ज्ञान से सहित थे, सपूर्ण ऋद्धियों से समन्वित थे। उनके अनतर के ग्रन्थकर्त्ता कोई भी आचार्य उनकी समानता नहीं कर सकते हैं। अहो। उन्होंने साक्षात् भगवान् की दिव्यध्वनि को लगभग ३० वर्ष तक आद्यन्त सुना है। ऐसे महान् गुरु श्री गौतमस्वामी कितने मधुर शब्दों में भव्य जीवों को सबोधन करते हुए पांच महावत आदि मुनियों के आचरण एवं उनमें लगे हुए दोषों के निराकरण हेतु प्रतिक्रमण दडक का उच्चारण करते हैं। आगे चलकर श्रावकों के अणुव्रत आदि व्रतों का भी उच्चारण करते हैं। अमृत की निर्झरणी के समान उनके ये वचन पढने वाले के हृदय में अतिशय आनन्द उत्पन्न करते हैं।

इस प्रकरण को पढकर ऐसा लगता है कि वास्तव में ये अणुव्रत-महाव्रत कितने विशेष हैं। ये अकिंचित्कर नहीं हैं। निश्चित रूप से इनके बिना मोक्ष प्राप्ति त्रिकाल में असभव है। इससे चारित्र की सार्थकता जानी जाती है।

गौतम गणधर के मुखारविद से निकले हुए अमृतकण दृष्टव्य हैं—

"सुद मे आउस्सन्तो। इह खलु भयवदा महदिमहावीरेण महाकस्सवेण सव्वण्हुणा सव्वलोग दरिसिणा सदेवासुरमाणुसस्स

लोयस्स सव्वजीवे सव्व सम जाणता पस्सता विहरमाणेण समणाण पचमहव्वदाणि राइभोयवण वेरमणछट्ठाणि सभावणाणि

समाउग पदाणि सउत्तरपदामि सम्म धम्म उवदेसिदाणि।"

हे आयुष्मान् भव्यो। मैंने भगवान महावीर स्वामी की दिव्यध्वनिसे पाच महाव्रत आदि को सुना है। इस भरतक्षेत्र में देव, असुर और मनुष्यों सहित प्राणीगण की अगति, गति, च्यवनडुपपाद, बंध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, द्युति, अनुभाग, तर्क, कला, मन, मानसिक, भूत, कृत, प्रतिसेवित आदिकर्म, असहकर्म इनको, तीन सौ तैंतालीस रज्जूप्रमाण और लोक में सर्व जीवों को सर्व भावो को और सर्व पर्यायों को एक साथ जानते हुए, देखते हुए तथा विहार करते हुए, कश्यप गोत्रीय श्रमण भगवान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महति महावीर नामक अतिम तीर्थंकर देव ने पच्चीस भावनाओं मातृकापदों सहित और उत्तरापदों सहित, रात्रि भोजन विरमण छठा अणुव्रत जिनमें ऐसे पांच महाव्रत रूप

समीचीन धर्मों का उपदेश दिया है।

इसी प्रकार आगे श्रावक और श्राविका और क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं के लिए उनका कथन है—

"पढम ताव सुदं मे आउस्सन्तो। इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण महाकस्सवेण सव्वण्हणाणेण सव्वलोयदरसिणा, सावयण सोवियाणं खुड्डयाणं खुड्डीयाणं कारणेण पचाणुव्विदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि वारसविहगिहत्थधम्मं सम्म उवदेसियाणि।

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंच्छा, अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण—ट्ठिदिकरणं वच्छल्लपहावणा य ते अट्ठ॥पा पू.॥

दसण-वय-सामाइय-पोसह सचित्त राइभत्ते य।
बभारभपरिग्गह अणुमणमुदिट्ठ देसविरदो य॥

महुमंसमज्जजूआ वेसादि-विवज्जणासीलो।
पंचाऽणुव्वयजुत्तो सत्तेहि सिक्खावयेहि सपुण्णो॥

हे आयुष्मानो। मैंने (गौतम ने) महाकाश्यप गोत्रीय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर से श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं के कारण से पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत यह बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म सुना है। निशकित, निकाक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अग हैं।

जो इन पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म का अनुपालन करते हैं एवं दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोपध, सचित्त-विरमण, रात्रि भक्तविरमण, ब्रह्मचर्य, आरभनिवृत्ति, परिग्रहनिवृत्ति, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग देशविरत के इन ग्यारह स्थानों को धारण करते हैं वे श्रावक होते हैं।

मधु, मास, मद्य, जुआ, वेश्यादि सेवन इन व्यसनों का त्यागी पाच अणुव्रतों से और सात शीलों से परिपूर्ण होकर श्रावक होते हैं। जो श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका इन व्रतों को धारण करते हैं वे भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिपी और सौधर्म, ईशान स्वर्ग की देवियों का व्यतिक्रम कर उपरिम अन्यतर महर्द्धिक देवों में उत्पन्न होते है।

वे उत्कृष्ट से दो-तीन भवों को ग्रहण करते हैं। जघन्य से सात-आठ भव ग्रहण करते हैं। पश्चात् वे सुमनुष्यत्व से सुदेवत्व और सुदेवत्व से सुमनुष्यत्व को प्राप्त कर उसके पश्चात् निर्ग्रन्थ मुनि होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं और सर्व दुखों का अत करते हैं।"

इस प्रकार से श्री गौतमस्वामी की साक्षात् वाणी में मुनि के महाव्रत आदि को तथा गृहस्थ के मधु,-मांस-मद्यत्याग से लेकर अतिम सल्लेखना तक धर्म कहा है और मोक्ष के लिए कारण कहा है।

गौतम स्वामी ने मुनियों के प्रतिक्रमण क्रिया के विषय में बहुत जोर दिया है—

"एसो पडिकमणविही, पण्णत्तो जिणवरेहिं सव्वेहिं।
सजमतवट्ठिदाणं णिग्गंथाणं महरिसीण॥" ५॥ पा. प्र ॥

अर्थात् यह द्रव्य-भावरूप प्रतिक्रमण विधि सयम और तप में आरूढ निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए सर्व तीर्थंकरों ने कहा है, न केवल वर्धमान स्वामी ने ही।

पाच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का वर्णन करते हुए अत में श्री गौतम स्वामी ने मुनियों के लिए ध्यान के विषय में भी कहा है—

"जो सारो सव्वसारेसु सो सारो एस गोयम।
सार झाणति णामेण सव्व बुद्देहि देसिद॥" ८ ॥ —(मुनि पा प्रतिक्रमण)

जगत की सर्ववस्तुओं में सार व्रत है। हे गौतम। उन सभी में सार ध्यान है क्योंकि सार ध्यान इस नाम से सर्व सर्वज्ञों ने कहा है।

श्रावक के लिए भक्ति मार्ग की प्रधानता

गौतम स्वामी ने श्रावकों की तीसरी प्रतिमा "सामायिक" का लक्षण करते हुए भक्ति की प्रेरणा दी है—

"जिणवयणधम्मचेइयपरमेट्ठिजिणयालयाण णिच्चपि।
ज वदण तिआल कीरइ सामाइय त खु॥" ३॥ श्रा प्रति ॥

अर्थात् जिनवचन, जिनधर्म, जिनचैत्य, अरहन, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु और जिनालय इन नवो की जो नित्य ही त्रिकाल वदना करता है, उसके यह सामायिक नाम का व्रत होता है।

यहा समझने की बात यह भी है कि श्री गौतम स्वामी ने श्रावक की तीसरी प्रतिमा में आत्म ध्यान का उपदेश न देकर पचपरमेष्ठी, जिनधर्म, जिनवाणी, जिनचैत्य और चैत्यालय इनकी वदना करने का विधान किया है। इससे यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि श्रावक का आत्मध्यान असंभव है वह पचपरमेष्ठी आदि के अवलबनरूप भक्ति वदना को ही करता है।

स्वामी समतभद्राचार्य ने भी सामायिक व्रत में अशरण अशुभ आदि रूप ससार के चिंतवन का उपदेश दिया है। तथा सामायिक प्रतिमा में विधिवत् कृतिकर्मपूर्वक चैत्य भक्ति आदि करने का संकेत किया है कि बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह की चिन्ता से रहित होकर, वह श्रावक खडा होकर चार बार तीन-तीन आवर्त और चार प्रणाम करता है। प्रारम्भ और समाप्ति में बैठकर प्रणाम करता है, त्रियोग में शुद्ध होता हुआ तीनों सध्याओं में देववन्दना करता है।

इस देववंदना की विधि क्रिया-कलाप में वर्णित है।

क्या आगम में व्यवहार चारित्र को हेय कहा है?

शंका—इस व्यवहार चारित्र का आश्रय अभव्य भी लेते हैं इसलिये हेय है? कहा भी है—"पराश्रित व्यवहारनय- स्यैकातेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च॥" (समयसार गाथा २७२ आत्मख्याति टीका)

समाधान—पहली बात तो यह भी है कि यह व्यवहारनयाश्रितचारित्र निश्चयचारित्र के लिए कारण है जैसा कि बहुत बार बताया जा चुका है। फिर भी इसके होने पर नियम से निश्चय चारित्र हो ही जाये ऐसी व्याप्ति नहीं है, किन्तु यदि निश्चयचारित्र होगा तो इस व्यवहार के बिना कभी नहीं होगा।

दूसरी बात यह है कि अभव्य भी इस व्यवहार चारित्र के बल से ही अतिम ग्रैवेयक तक जा सकते हैं, इसके बिना नहीं। तीसरी बात यह भी है कि अभव्य का वह व्यवहारचारित्र वास्तविक न होकर व्यवहाराभास या साव्यवहारिक भी माना जा सकता है जैसा कि सागार धर्मामृत में उल्लेख है—

"शलाकयेवाप्तगिराऽप्त सूत्र प्रवेशमार्गो मणिवच्च य स्यात्।
हीनोऽपि रुच्या रुचिमत्सु तद्वद्, भायादसौ साव्यवहारिकाणाम्॥" १०॥

जिस प्रकार सूची द्वारा छिद्र को प्राप्त कातिहीन मणि डोरे की सहायता से कातियुक्त मणियों में प्रवेश करके उनकी सगति से सच्ची मणि के समान मालूम पडती है उसी प्रकार श्रद्धान से हीन मनुष्य भी सम्यग्दृष्टियो के मध्य साव्यवहारिक जीवों को सम्यग्दृष्टि सदृश मालूम पडता है। ऐसे ही चारित्र के विषय में समझ लेना चाहिए। चौथी बात यह है कि अभव्य को मुनि अवस्था मे ग्यारह अग तक ज्ञान हो सकता है। यथा—"ज्ञानमश्रद्धानश्चाचाराद्येकादशाग श्रुतमधीयानोऽपिश्रुताध्ययन गुणाभावान्नज्ञानीस्यात्।" (समयसार गाथा २७४)

ज्ञान का श्रद्धान न करने वाला अभव्य आचाराग को आदि लेकर ग्यारह अग रूप श्रुत को पढता हुआ भी शास्त्र पढने के काल के अभाव से ज्ञानी नहीं होता।

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ग्यारह अग के ज्ञानी मुनि यदि अभव्य या मिथ्यादृष्टि हैं तो क्या वे समयसार आदि अध्यात्म ज्ञान से शून्य है? नहीं।

अत ज्ञान होना अलग बात है और श्रद्धान होना अलग बात ही है। उस मुनि को किस रूप में मिथ्यात्व रहता है वह केवली गम्य ही है।

निष्कर्ष यह है कि व्यवहार चारित्र हेय नहीं है। हा, ध्यान में लीन होने पर स्वयमेव छूट जाता है इस दृष्टि से कथचित् हेय है—छठे गुणस्थान तक तो उपादेय ही है क्योंकि इसके बिना निश्चयचारित्र हो ही नहीं सकता।

शंका—वीतराग चारित्र ही उपादेय है क्योंकि वह साक्षात् मोक्ष का कारण है।

समाधान—ऐसा भी एकात नहीं पकडना। यदि कोई मुनि उपशम श्रेणी में आरोहण करता है तो उसके अध्यात्म दृष्टि से ८, ९, १0वें गुणस्थान में भी वीतराग चारित्र है, और सिद्धान्त की दृष्टि से ग्यारहवें में तो पूर्णरूप से यथाख्यात नामक वीतरागचारित्र हो ही गया है। पुन वह मुनि ऊपर चढकर उसी भव में मोक्ष जाये यह भी नियम नहीं है।

शका—आठ मध्यम कषायों का जघन्य प्रदेश सक्रमण किसके होता है?

समाधान—जो जीव एकेन्द्रियों के योग्य जघन्य सत्कर्म के साथ त्रसों से आया। वहां पर सयमासयम और सयम को बहुत बार प्राप्त किया। चार बार कषायों का उपशमन करके तदनतर एकेन्द्रियों में गया। वहाँ पर जितने समय में उपशामक काल में बधे हुए समयप्रबद्ध गलते हैं, उतने असख्यात वर्षों तक एकेन्द्रियों में रहा। तदनन्तर त्रस-पर्यायों में आया और सर्वलघु काल से सयम को प्राप्त हुआ।

पुन कषायों की क्षपणा के लिए प्रयत्नशील हुआ। ऐसे जीव के अध प्रवृत्तकरण के चरम समय में आठों मध्यम कषायों का जघन्य प्रदेश सक्रमण होता है।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक्त्व सहित सयमासयम और सयम को बहुत बार प्राप्त कर सकते हैं तथा उपशम श्रेणी पर चार बार चढकर वहा पर वीतरागी शुद्धोपयोगी हो सकते हैं। फिर कदाचित् एकेन्द्रियों में जाकर असख्यात वर्षों तक पुन भ्रमण कर सकते हैं। इसलिए वह वीतरागचारित्र या शुद्धोपयोग कथचित मोक्ष का कारण है। कथचित नहीं भी है। हा, जो मुनि क्षपक श्रेणी में आरोहण करते हैं वे नियम से घातिया कर्मों का क्षय करते ही है इसलिए उपशम श्रेणी वालों के लिए कारण है फिर भी घातिया कर्मों के नाश के लिए कारण नहीं है किन्तु क्षपकश्रेणी का शुद्धोपयोग घातिया कर्म के नाश के लिए भी कारण है।

इसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति का बध अधिक से अधिक नियम से तृतीय भव में मोक्ष प्राप्ति करायेगा ही करायेगा। अत तीर्थंकर रूप पुण्य प्रकृति भी मोक्ष का कारण ही है तथा क्षायिक सम्यकत्व भी चतुर्थभव का उल्लघन नहीं कर सकता, इसलिए यह भी महत्त्वशाली है।

तत्त्वार्थ राजवर्तिक में श्री भट्टाकलक देव ने तो गुप्ति आदि को सवर के लिए "कारण" कहा है। यथा

> "सवृण्वतो गुप्तादय करणम्सवरितु सवरण क्रियाया साधकतमत्वविवक्षाय गुत्यादीना करण भाव प्रत्येतव्य ॥" ९।८॥

अर्थात् सवर करने वाले मुनि के संवर क्रिया की साधकतम विवक्षा में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषहजय ये करण भावरूप हैं ऐसा जानना चाहिए।

यहा पर अभिप्राय यही समझना चाहिए कि व्यवहार नयाश्रित रत्नत्रय साधन है और निश्चय

नयाश्रित रत्नत्रय साध्य है। तथा व्यवहार के बिना वह होता नहीं अत वर्तमान में व्यवहार रत्नत्रय उपादेय ही है और उसका आश्रय लेने वाले मुनिगण सर्वदा वद्य है। अत चारित्र की सार्थकता स्पष्ट है।

इस प्रकार नय व्यवस्था का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन मनन कर वस्तु स्वरूप को अङ्गीकार करना ही श्रेयस्कर है जिससे यथार्थ मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति वृद्धिगत हो।
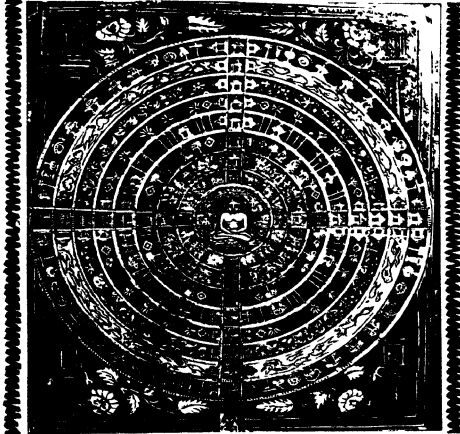
आत्मसाधना का प्रथम सोपान-सम्यग्दर्शन

❑ *आचार्य श्री वर्धमानसागरजी*

लक्ष्य-प्राप्ति के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति को साधना कहते हैं। हम अनादिकाल से ससार परिभ्रमण करते हुए चतुर्गति में दुखों का अनुभव कर रहे हैं, कर्मों के बन्धन से बधे हुए हैं। हमारा चरम लक्ष्य भी यही है कि कर्म बन्धन से मुक्त होकर चतुर्गति रूप समार के दुखों से छूटे और अविनाशी सुख को प्राप्त हों। अनन्त व अविनाशी सुख कहीं बाहर से प्रकट नहीं होता है वह हमारी आत्मा में ही विद्यमान है, किन्तु ससारावस्था में ज्ञानावरणादि कर्मों का आवरण हमारी आत्मा के उस अनन्त अव्याबाध सुख को प्रकट नहीं होने देता।

जिस प्रकार अणुरूप बीज में विराट वृक्ष होने की शक्ति है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति तभी हो सकती है जब उसे अनुकूल पानी, प्रकाश व पवन की उपलब्धि होती है। उसी प्रकार आत्मा में अनादिकाल से शक्ति रूप से विद्यमान अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय को अभिव्यक्त करने के लिए रत्नत्रयी साधनापथ जैनागम में बताया गया है। आचार्यों की सूत्र रूप घोषणा है—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्ग" अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की एकात्मकता ही मोक्ष का मार्ग है। मार्ग से यहाँ अभिप्राय है, मोक्ष शाश्वत-अविनाशी सुख है। मोक्ष प्राप्ति में रत्नत्रय प्रधान कारण है और रत्नत्रय में भी सम्यग्दर्शन प्रधान है। अत यहा सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में ही आगम के परिप्रेक्ष्य में विचार सक्षेप में प्रस्तुत है।

सम्यग्दर्शन की प्रधानता

नगर में जिस प्रकार द्वार प्रधान है, मुख में जिस प्रकार चक्षु प्रधान तथा वृक्ष में जिस प्रकार मूल (जड) प्रधान है, उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, तप व वीर्य में सम्यग्दर्शन प्रधान है, क्योंकि दर्शन भ्रष्ट ही वास्तव में भ्रष्ट है और दर्शन भ्रष्ट को निर्वाण नहीं होता। क्योंकि जिसका सम्यक्त्व नहीं छूटा है ऐसा चारित्रभ्रष्ट पुन चारित्र प्राप्त कर लेता है। अत वह ससार में पतन नहीं करता। जिस प्रकार ताराओं में चद्र और पशुओं में सिह प्रधान है उसी प्रकार मुनि व श्रावक धर्मों में सम्यक्त्व प्रधान है, क्योंकि सम्यक्त्व के बिना ज्ञान व चारित्र भी सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते। अत रत्नत्रय में सम्यक्त्व ही प्रधान है। अधिक कहने से क्या। जो प्रधान पुरुष अतीतकाल में सिद्ध हुए हैं या आगे सिद्ध होंगे वह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य ही जानो।

सम्यग्दर्शन का अधिकारी

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है और सर्वप्रथम उपशम सम्यग्दर्शन ही प्राप्त करता है। चारों गति के सञ्ज्ञी, पर्याप्त, भव्य, जागृत, साकारोपयोगी जीव ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के अधिकारी हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए अन्य भी कुछ योग्यताएँ आगम में कही गयी हैं। वे इस प्रकार हैं—

एक पुद्गलपरिवर्तन का आधा काल व्यतीत होकर अर्द्धपुद्गल परिवर्तन नामक काल शेष रहने पर इस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता आती है। यदि इस योग्यता के प्राप्त होने पर वह सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सका तो पुन दूसरे पुद्गल परिवर्तन का आधा काल व्यतीत होने पर शेष अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल में सम्यग्दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है। यह बात दृष्टान्त से इस प्रकार कही जा सकती है कि एक कर्मभूमि की बालस्त्री में १३ वर्ष की अवस्था के अनन्तर ही सन्तानोत्पत्ति की योग्यता आती है, किन्तु यदि वह उस अवस्था मे सन्तान की उत्पत्ति नहीं कर सकी तो पुन कर्मभूमि में स्त्रीपर्याय होने पर उसे १३ वर्ष की अवस्था के अनन्तर ही सन्तानोत्पत्ति की योग्यता प्राप्त होगी उससे पूर्व नहीं। यही बात अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन काल के सम्बन्ध में भी जाननी चाहिए। "भवभ्रमण का अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन प्रमाणकाल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है" इस मान्यता का समाधान धवल टीका के इन शब्दों से होता है —"एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि कादूण उवसमसम्मत्त पडिवण्णपढमसमए अणतो ससारोछिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो" (ध. पु ५, पृ ११) "एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि करिय उवसमसम्मत्त सजम च अक्कमेण पडिवण्ण, पढमसमए अणतसमार छिदिय अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्त कदेण अप्पमद्धा अतोमुहुत्तमेत्ता अणुपालिदा (ध पु ५, पृ ११) इत्यादि उल्लेखो से यह भाव प्रकट होता है कि सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए, भवभ्रमण का अर्द्धपुद्गल प्रमाणकाल शेष रहने का नियम नहीं है। हा। सम्यक्त्व हो जाने पर वह उसके भाव से अनन्त ससार को छेदकर अर्द्धपुद्गल प्रमाण कर लेता है। महर्षि पूज्यपाद आचार्य एव अकलक देव के जिन वचनो को लेकर ससार परिभ्रमण का काल अर्द्धपुद्गल परावर्तन शेष रहने की जो मान्यता चल पडी है वह उभय आचार्यों के निम्न वचनों में है ही नहीं, वहां भव या ससार शब्द ही नहीं दिया गया है। वे मूल शब्द इस प्रकार हैं—

अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादित कालुष्ये सति कुतस्तदुपशम ? काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्। तत्र काललब्धिस्तावत्—कर्माविष्ट आत्मा भव्य कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके काले इति। इयमेका काललब्धि। (सर्वार्थसिद्धि अ २, सूत्र ३)। काललब्ध्याद्यपेक्षा तदुपशम ॥२॥ काललब्ध्यादीन् प्रत्ययानपेक्ष्य तासा प्रकृतीनामुपशमो भवति। तत्र काललब्धिस्तावत्कर्माविष्ट आत्मा भव्य कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके, इतीय काललब्धिरेका। (तत्त्वार्थ राजवार्तिक अ २, सूत्र ३) आचार्यद्वय के इन शब्दों के अनुसार ही इस बात को हम ऊपर लिख ही चुके हैं।

दूसरी बात यह है कि बध्यमान कर्मों की स्थिति अन्तकोडाकोडी सागर प्रमाण हो तथा सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति सख्यात हजार सागर कम अन्तकोडाकोडीसागर प्रमाण रह गई हो वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। इससे अधिक स्थित बन्ध पडनेपर सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। तथैव जिसके अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानगत और प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग चतुस्थानगत होता है वही औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। मनुष्य व तिर्यंच तो तीन शुभ लेश्याओं में से किसी भी लेश्या मे और देव-नारकी के जहाँ जो लेश्या बतलाई गई है उसी में औपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए गोत्र का कोई प्रतिबन्ध नहीं, जहाँ उच्च व नीच गोत्र में से जो भी सम्भव हो उसी गोत्र में सम्यग्दर्शन हो सकता है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

जैनागम में चारों अनुयोगों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षण प्रतिपादित किये गये हैं। यदि हम प्रथमानुपयोग और चरणानयोग की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के स्वरूप पर विचार करेंगे तो आर्षवाणी में परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु का शकादि पच्चीस दोष रहित श्रद्धान करना, दृढ प्रतीति करना सम्यग्दर्शन कहा है। द्रव्यानुयोग की दृष्टि से 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् जीवादि सप्त पदार्थों का जैसा स्वरूप कहा गया है, वैसा ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है अथवा परमार्थ से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं। अर्थात् इन नौ पदार्थों का परमार्थ रूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसी द्रव्यानुयोग में स्व-पर के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है तथा आत्मश्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा गया। करणानुयोग की अपेक्षादर्शन मोहनीय की तीन तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ इन सात प्रकृतियों की उपशम, क्षयोपशम व क्षय से उत्पन्न होने वाली श्रद्धागुण की निर्मल परिणति को सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

वस्तु अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड है। इसके स्वरूप का परिज्ञान अनेकान्तात्मक वस्तु के स्वरूपज्ञान से होता है। चारित्ररूप धर्म रत्नत्रय का ही रूपान्तर है। इस धर्म का मूल स्तम्भ सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान व चारित्र सम्यक्-समीचीन नहीं कहे जा सकते। सम्यग्दर्शन आत्मसत्ता की आस्था है और है स्वरूपरूप का दृढ निश्चय। सम्यग्दर्शन के अनुयोग चतुष्टयापेक्षा उपर्युक्त लक्षणों मे परस्पर विरोध नहीं है। करणानुयोग सम्बन्धी जो सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा गया है वह साध्य तथा अन्य लक्षण उसके साधन हैं। अत कारण में कार्य का उपचार करके उन्हें भी सम्यग्दर्शन कहा गया है। अन्तरग मे जिसके दर्शनमोहनीय की तीन एव अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चार इन सात प्रकृतियो का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने से श्रद्धागुण की प्रकटता हो चुकी हो उसको परमार्थ देव-शास्त्र गुरु की श्रद्धा, सप्ततत्त्वों का

स्वरूप श्रद्धान, स्व-पर का भेद-विज्ञान और आत्म-श्रद्धान निश्चित ही होगा।

सम्यग्दर्शन के भेद

सामान्य से सम्यग्दर्शन का एक ही भेद है। निसर्गज और अधिगमज, निश्चय व व्यवहार, सराग व वीतराग के भेद से दो प्रकार का सम्यग्दर्शन है। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से तीन प्रकार का कहा जा सकता है। आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, सक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ तथा परमावगाढ के भेद से १० प्रकार का, शब्दों की अपेक्षा संख्यात, श्रद्धान करने वालों की अपेक्षा असख्यात और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों व अध्यवसायों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का सम्यगदर्शन होता है। प्रस्तुत लेख में प्रधानतया औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन का विचार किया जा रहा है।

औपशमिक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान माया व लोभ के उपशम से औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। जिसप्रकार कीचड़युक्त पानी में निर्मली डालने से कीचड नीचे बैठ जाता है और पानी निर्मल हो जाता है उसी प्रकार उपर्युक्त सप्त प्रकृतियों के उपशम से पदार्थों का निर्मल श्रद्धान होता है। यह उपशम सम्यक्त्व असंयतगुणस्थान से उपशान्तकषाय नामक ११वें गुणस्थान तक होता है। औपशमिकसम्यग्दर्शन के प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम के भेद से दो भेद हैं।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता रखने वाला संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, विशुद्धियुक्त, जागृत, साकारोपयोगी, चारों गति में स्थित अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व धारण करने के सम्मुख होता है तब वह क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण लब्धियों को प्राप्त होता है। इन पांच लब्धियों में से आदि की चार लब्धियां तो भव्य और अभव्य दोनों को होती है, किन्तु करण लब्धि भव्यजीव के ही होती है। तथा नियम से सम्यग्दर्शन को प्राप्त होती है।

पंचलब्धि का स्वरूप

क्षायोपशमिक लब्धि-पूर्वसंचित कर्मपटल से अनुभागस्पर्धकों का विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणित हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धि के द्वारा

जीव के परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं।

विशुद्धिलब्धि-सातावेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत परिणामों की प्राप्ति विशुद्धिलब्धि है।

देशानलब्धि-छहों दव्य और नौ पदार्थों को देशना कहते हैं। उक्त देशना के दाता आचार्य आदि की प्राप्ति होना और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारणा की शक्ति की प्राप्ति देशनालब्धि है।

प्रायोग्यलब्धि-आयुकर्म के बिना शेष कर्मों की स्थिति को अन्त कोडाकोडीसागर प्रमाण कर देना और अशुभ कर्मों में से घातियाकर्मों के अनुभाग को लता और दारू इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मो के अनुभाग को नीम व काजी रूप दो स्थानगत कर देना प्रायोग्यलब्धि है।

करणलब्धि-करण परिणामों को कहते हैं। सम्यग्दर्शन को प्राप्त कराने वाले परिणामों की प्राप्ति को करणलब्धि कहते हैं। इसके अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप तीन भेद हैं। अध करण में आगामी समय में रहनेवाले जीवों के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवों के परिणामों से मिलते-जुलते होते हैं। इसमें समसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान व असमान दोनों प्रकार के होते हैं। परिणामों की समानता और असमानता नाना जीवों की अपेक्षा घटित होती है। इस करण का काल अन्तर्मुहूर्त है और उसमें उत्तरोत्तर समानवृद्धि को लिए हुए असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते है।

जिसमें प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व (नये-नये) परिणाम हों उसे अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण में समसमयवर्ती जीवों के परिणाम समान और असमान दोनों प्रकार के होते हैं, किन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम समान भी हो सकते हैं और असमान भी। यह कथन भी नाना जीवों की अपेक्षा से है। इस करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, किन्तु यह अन्तर्मुहूर्त अध प्रवृत्तकरण के अन्तर्मुहूर्त से छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकाल में भी उत्तरोत्तर वृद्धि को लिए असंख्यातलोकप्रमाण परिणाम होते हैं।

जहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस करण में मध्यवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं और विषम समयवर्ती जीवों के परिणाम असमान ही होते हैं। इसका कारण यह है कि यहाँ एक समय में एक ही परिणाम होता है। अत उस समय में जितने जीव होंगे उन सबके समान ही परिणाम होंगे और भिन्न समयों में जो जीव होंगे उनके परिणाम भिन्न ही होंगे। इस करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। किन्तु अपूर्वकरण की अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त है। इन तीनों करणों में परिणामों की विशुद्धता उत्तरोत्तर बढती जाती है।

अध करण और अपूर्वकरण में चार-चार आवश्यकों में प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धता, प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में नवीनबन्ध की स्थिति घटती जाती है, प्रतिसमय प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग

अनन्तगुणा बढ़ता जाता है और प्रतिसमय अप्रशस्तप्रकृतियों का अनुभाग अनन्तवाँ भाग घटता जाता है। ये चार आवश्यक अधःकरण सम्बन्धी है। अपूर्वकरण में अधःकरण में होने वाले चार आवश्यकों के साथ ये चार कार्य और होते हैं—सत्ता में स्थित पूर्वकर्मों की स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में उत्तरोत्तर घटती जाती है। इसे स्थितिकाण्डकघात कहते हैं। प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में उत्तरोत्तर पूर्वकर्म का अनुभाग घटता जाता है, यह अनुभागकाण्डक घात है। गुण श्रेणी के काल में क्रम से असख्यात गुणित कर्म, निर्जरा के योग्य होते हैं अत गुणश्रेणी निर्जरा होती है। प्रतिसमय मिथ्यात्व के असख्यातगुणे-असख्यातगुणे द्रव्य को सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्वरूप सक्रमित करना, यह गुणसक्रमण है। इस प्रकार अपूर्वकरण में स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, गुणश्रेणी निर्जरा और गुणसक्रमण ये चार आवश्यक होते हैं। अपूर्वकरण के पश्चात् अनिवृत्तिकरण होता है, इसका काल अपूर्वकरणकाल के सख्यातवें भाग प्रमाण है। अनिवृत्तिकरण में पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल व्यतीत होने पर अन्तरकरण होता है अर्थात् अनिवृत्तिकरण के काल के पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्म के निषेकों का अन्तर्मुहूर्त के लिए अभाव होता है। विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियों के निषेकों का परिणामविशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं। अन्तरकरण के पीछे उपशमकरण होता है अर्थात् अन्तरकरण में अभावरूप किये हुए निषेकों के ऊपर जो मिथ्यात्व के निषेक उदय में आने वाले थे उन्हें उदीरणा के अयोग्य किया जाता है, साथ ही अनन्तानुबन्धी चतुष्क को भी उदय के अयोग्य किया जाता है। इस प्रकार उदय योग्य प्रकृतियों का अभाव होने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय में मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड करता है, किन्तु राजवार्तिककार अकलकदेव का मत है कि अनिवृत्तिकरण के चरम समय में मिथ्यात्व के तीन खण्ड करता है। इसी का समर्थन धवल पु ६ के निम्न सूत्रों से भी होता है।

"ओहट्टेदूण मिच्छत्त तिण्णि भाग करेदि सम्मत्त मिच्छत्त सम्मामिच्छत्त॥७॥ दसणमोहणीयं कम्म उवसामेदि॥८॥" अर्थात् अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्म के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वरूप तीन खण्ड करता है। पश्चात् दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करता है।

इस प्रकार सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया व लोभ इन सप्त-प्रकृतियों के उपशम से उपर्युक्त विधि से प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व

प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अस्तित्व चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक ही रहता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान पर्यन्त के जीव को द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इसका अभिप्राय

है कि छठे-सातवें गुणस्थान में असख्यात बार आरोहण-अवरोहण करने वाला जीव परिणाम गिरने से चतुर्थगुणस्थान में पहुँचता है तो वहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्टय की विसयोजना और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशमन करके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता हुआ अन्तर्मुहुर्तकाल में सप्तम गुणस्थान में पहुँच जाता है ओर वहाँ से आगे फिर उपशम श्रेणी पर आरोहण करता है तथा उपशम श्रेणी से ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है। यदि ११वें गुणस्थान में आयु क्षय हो जाने के कारण मरण करता है तो मरकर सवार्थसिद्धि नामक अनुत्तर विमान तक के वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है। कालक्षय के निमित्त से ११वें गुणस्थान से पतन कर नीचे आता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामीकाल में उदय आने वाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम एव सम्यक्त्व प्रकृति के उदय रहने पर जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यक्त्व में सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहने से चल, मल और अगाढ दोष उत्पन्न होते रहते हैं। छह सर्वघाती प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम को प्रधानता देकर जब इसका वर्णन होता है तब इसे क्षायोपशमिक कहते हैं और जब सम्यक्त्व प्रकृति के उदय की अपेक्षा वर्णन होता है तब इसे वेदक-सम्यग्दर्शन कहते हैं। ये दोनों पर्यायवाची हैं।

इस सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति सादिमिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों के हो सकती है। सादिमिथ्यादृष्टियों में जो वेदककाल के भीतर रहता है उसे वेदक-सम्यग्दर्शन ही होता है। प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि जीव को चतुर्थ से लेकर सप्तमगुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में इसकी प्राप्ति हो सकती है। यह सम्यग्दर्शन चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह क्षायिकसम्यक्त्व कहलाता है। क्षायिकसम्यग्दर्शन मेरु की भाँति निष्प्रकम्प होता है। निर्मल, अक्षय व अनन्त होता है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव चारों गतियों में पाए जाते हैं।

दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में करता है, किन्तु इसका निष्ठापन चारों गतियों में हो सकता है। क्षायिकसम्यग्दर्शन वेदकसम्यग्दर्शन वेदकसम्यक्त्व पूर्वक ही होता है एव चतुर्थगुणस्थान से सप्तगुणस्थान तक किसी

भी गुणस्थान में हो सकता है। एक बार होकर छूटता नहीं, इस अपेक्षा से यह सादि-अनन्त हैं। क्षायिकसम्यग्दृष्टि या तो उसी भव में मोक्ष चला जाता है या तीसरे भव में या चौथे भव में, चौथे भव से अधिक संसार में नहीं रहता। जो क्षायिकसम्यग्दृष्टि बद्धायुष्क होने से नरक में जाता है अथवा देवगति में उत्पन्न होता है वह वहां से मनुष्य होकर मोक्ष जाता है। इसलिए वह तीसरे भव में मोक्ष जाता है और जो भोगभूमि में मनुष्य या तिर्यञ्च होता है वह वहाँ से देवगति में जाता है तथा वहां से आकर मनुष्य हो मोक्ष जाता है, इस प्रकार चतुर्थभव में उसका मोक्ष जाना घटित होता है। चारों गति की आयु में से किसी भी एक आयु का बन्ध होने पर सम्यक्त्व हो सकता है इसलिए बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि का चारों गतियों में जाना सम्भव है। यह तो निश्चित नियम है कि जब सम्यक्त्व सहित मनुष्य या तिर्यंच यदि आयु का बन्ध करते हैं तो देवायु का ही बन्ध होता है और यदि देव या नारकी सम्यक्त्व सहित आयु का बन्ध करते हैं तो नियम से मनुष्यायु का ही करते हैं। उपशमसम्यक्त्व में आयु का बन्ध नहीं होता है।

इस प्रकार प्रधानतया औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक सम्यग्दर्शन के स्वरूप का वर्णन किया। अब सम्यग्दर्शन के अन्य भेदों के सम्बन्ध में भी संक्षेप से आगे विचार किया जाता है-

निर्सगज और अधिगमज भेद

उत्पत्ति की अपेक्षा उमास्वामी आचार्य ने "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" इत्यादि सूत्र के द्वारा सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमजरूप दो भेद किये हैं। पूर्व संस्कार की प्रबलता से अन्य की देशना के बिना जो स्वत ही उत्पन्न होता है वह निसर्गज और परोपदेशपूर्वक होने से अधिगमज कहलाता है। इन दोनो ही सम्यग्दर्शनों में अन्तरंग कारण से मिथ्यात्वादि तीन दर्शनमोहनीय की और अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चार प्रकृतियों का उपशमादि होना समान ही है।

निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन

मोक्षरूपी वृक्ष का मूल और सब रत्नों में सारभूत सम्यग्दर्शन रत्न निश्चय व व्यवहार के भेद से भी दो प्रकार का है। हिंसादि रहित धर्म अठारह दोषरहित देव, निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग व गुरु इनमे श्रद्धा होना, आप्त-आगम और तत्त्वों का श्रद्धान अथवा जीवादि सप्ततत्त्वों का, षड्द्रव्यों का, नौ पदार्थों का, पञ्च अस्तिकाय का जैसा स्वरूप है वैसा ही जिनेन्द्र भगवान की आज्ञानुसार अधिगम कर श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। यह व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शन का साधन है।

जीवादिसात तत्त्वों के विकल्प से रहित शुद्ध आत्मा के श्रद्धान को निश्चयसम्यग्दर्शन कहते

हैं। विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावरूप निज परमात्मा में रुचि या निज शुद्धजीवास्तिकाय की रुचि को निश्चय रस का आस्वादन ही उपादेय है, इन्द्रियजन्य सुखादि हेय हैं ऐसी प्रतीति, रुचि होना तथा वीतरागचारित्र का अविनाभावी ऐसा जो वीतरागसम्यग्दर्शन है वही निश्चयसम्यक्त्व है।

सराग और वीतराग भेद

सम्यग्दर्शन के सराग व वीतरागरूप दो भेद भी कहे गये हैं। प्रथम—सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की अभिव्यक्ति लक्षणवाला सम्यग्दर्शन सराग तथा आत्मा की विशुद्धि मात्र, वीतराग सम्यग्दर्शन है। प्रशस्तराग सहित जीवों का सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्व तथा प्रशस्त-अप्रशस्त राग से रहित क्षीणमोही वीतरागियो का सम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व है। चतुर्थ गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक स्थूल-सराग-सम्यग्दृष्टि, सप्त गुणस्थान से दशम गुणस्थानतक सूक्ष्म-सराग-सम्यग्दृष्टि हैं। ११वें से १४वें गुणस्थान तक वीतराग सम्यग्दृष्टि हैं। सकल मोह का उदयाभाव तथा सत्ता के नाश हो जाने से वास्तव में वे वीतराग हैं या वीतराग चारित्र के धारक हैं। वीतराग सम्यग्दर्शन वीतराग चारित्र का अविनाभावी है।

आज्ञादि दश भेद

ज्ञानप्रधान निमित्तादि की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के आज्ञा, मार्ग आदि दश भेद किये हैं। दर्शनमोह के उपशान्त होने से ग्रन्थश्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान् की आज्ञा से ही जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है वह आज्ञा-सम्यक्त्व है। दर्शनमोह का उपशम होने से ग्रन्थश्रवण के बिना जो कल्याणकारी मोक्षमार्ग का श्रद्धान होता है उसे मार्ग-सम्यग्दर्शन कहते हैं। तिरेसठ शलाकापुरुषों के पुराण (वृत्तान्त) के उपदेशो के सूत्र सुनकर जो तत्त्व-श्रद्धान होता है उसे सूत्र सम्यग्दर्शन कहा है। जिन जीवादि पदार्थों के समूह का अथवा गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है उनका किन्हीं बीजपदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले भव्य जीवों के दर्शन मोहनीय के असाधारण उपशम वश जो तत्त्व श्रद्धान होता है वह बीज-सम्यक्त्व है। जो भव्यजीव पदार्थों के स्वरूप को सक्षेप से ही जानकर तत्त्वश्रद्धान को प्राप्त हुआ उसका वह सम्यग्दर्शन सक्षेप-सम्यग्दर्शन है। अग-पूर्व के विषय, प्रमाण-नय आदि के द्वारा जिन्हें तत्त्वश्रद्धान होता है उनका वह सम्यग्दर्शन विस्तार-सम्यग्दर्शन है। अगबाह्य आगमों के पढ़ने के बिना उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त से जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह अर्थ सम्यग्दर्शन है। अग व अगबाह्यरूप श्रुत का अवगाहन कर जो सम्यक्त्व होता है वह अवगाढ सम्यग्दर्शन है। केवलज्ञान के द्वारा देखे गये पदार्थों में जो रुचि होती है वह परमावगाढ सम्यक्त्व है।

सम्यग्दर्शन के ज्ञापक लक्षण

आत्मा के श्रद्धागुण की अभिव्यक्ति सम्यग्दर्शन है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति हुई या नहीं इसका बाह्य ज्ञान करने वाले प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार लक्षण हैं। इन्हें ज्ञापक लक्षण कहा गया है।

प्रशम—अनादिकाल से आत्मा के साथ सम्बद्ध अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ रूप कषायों का उपशम होने पर तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के मन्द उदय में प्रशमगुण अभिव्यक्त होता है। प्रशमगुण आत्मा को निर्मल बनाता है, मानसिक विकारों को दूर करता है। राग-द्वेष विकारों के उपशम से होने वाले प्रशमगुण से जीव की विकृति अवस्था दूर होती है, निर्मल प्रवृत्ति जागृत होती है। इस प्रकार सम्यक्त्व का अविनाभावी प्रशमभाव सम्यग्दृष्टि का परमगुण है।

सवेग—ससार के दुखों से भयभीत होना संवेग है। इस गुण के उत्पन्न होने से आत्मा में शुद्धि उत्पन्न होती है। व्यक्ति इस ससार में रहते हुए विचार करता है कि "यह आत्मा अकेला ही राग-द्वेष-मोह के कारण आत्मा के साथ बद्ध कर्मों के फल का भोक्ता है। यह ससारचक्र अनादिकाल से चल रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। मुझे यहाँ आयु पूर्ण होने पर अन्य नरकादि दुखमय गतियों में बार-बार जन्म लेना पडेगा। इस प्रकार जब तक संसार से सवेग उत्पन्न नहीं होगा तब तक अहंकार-ममकार रूप परिणति दूर नहीं होगी।" सक्षेप में इतना ही है कि आत्मा की ओर उन्मुखता रखते हुए और आत्मातिव्यतिरक्त पदार्थों से अनासक्त भाव होना, ससार के दुखों से छूटने की भावना होना सवेग है।

अनुकम्पा—'जिस प्रकार हमें अपनी आत्मा प्रिय है उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी प्रिय है, जो व्यवहार हमें अरुचिकर प्रतीत होता है वह दूसरे प्राणियों को भी अरुचिकर प्रतीत होता होगा' इस प्रकार चिन्तन कर ससार के प्राणियों में दृश्यमान दुखों व वेदनाओं से द्रवित हो उठना और उन दुखो के निराकरण के लिए प्रयत्न करना अनुकम्पा है। इस प्रकार समस्त जीवों में दया का भाव अनुकम्पा गुण है। अनुकम्पा आठ प्रकार की होती है—

द्रव्यानुकम्पा—अपने समान अन्य प्राणियों का पूरा ध्यान रखना और उनके साथ अहिसक व्यवहार करना।

भावानुकम्पा—अन्य प्राणियों को अशुभ कार्य करते हुए देखकर अनुकम्पा-बुद्धि से उपदेश देना।

स्वानुकम्पा—आत्मालोचन करना एव सम्यग्दर्शन धारण करने मे प्रयत्नशील रहना तथा अन्तरग में रागादि विकार उत्पन्न नहीं होने देना।

परानुकम्पा—षट्काय जीवों की रक्षा करना।

स्वरूपानुकम्पा—सूक्ष्म विवेक द्वारा अपने स्वरूप का विचार करना, आत्मा पर कर्मों का जो आवरण आ गया है उसे दूर करने का उपाय सोचना।

अनुबन्धानुकम्पा—मित्रों, शिष्यों या अन्य प्राणियों को हित की दृष्टि से उपदेश देना तथा कुमार्ग से सुमार्ग पर लाना।

व्यवहारानुकम्पा—उपयोग और विधिपूर्वक अन्य प्राणियों की सुख-सुविधाओं का पूरा-पूरा ध्यान रखना।

निश्चयानुकम्पा—शुद्धोपयोग में एकताभाव और अभेदोपयोग का होना, समस्त पर-पदार्थों से उपयोग हटाकर आत्म-परिणति में लीन होना निश्चयानुकम्पा है।

आस्तिक्य—जीवादि पदार्थों को स्वीकार करने रूप बुद्धि का होना आस्तिक्य भाव है। आत्मा स्वतत्र द्रव्य है, अनन्त है, अमूर्त है, ज्ञान-दर्शनयुक्त है, चेतन है और है ज्ञानादिपर्यायों का कर्ता। इस आत्मस्वरूप के साथ अजीवादि तत्त्वों के सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए आत्मा की विकृत परिणति को दूर करने हेतु सप्ततत्त्वों के स्वरूप पर दृढ आस्था रखना आस्तिक्यभाव है। उपर्युक्त चारों भावों में से प्रशम सवेग और अनुकम्पा तो कदाचित् अन्य लोगों के अनुमानगम्य भी हो सकता है, किन्तु आस्तिक्य भाव स्वय गम्य हो सकता है। यदि जीवन में आस्तिक्यभाव है तो समग्र विश्व का कोई भी प्रलोभन या दुख व्यक्ति को अपने स्थान से च्युत नहीं कर सकता है।

सम्यग्दर्शन के अग

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर जिन आठ अगों का होना अनिवार्य है उनका विवेचन यहा किया जाता है। जिस प्रकार मानव-शरीर में दो पैर, दो हाथ, पृष्ठ, उरस्थल और मस्तक ये आठ अग होते हैं और इन आठ अगों के परिपूर्ण रहने पर ही मनुष्य कार्य करने में समर्थ होता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के निशकितत्व, निकाक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, अमूढदृष्टित्व, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अग हैं। इन आठ अगों के मिलने से ही सम्यग्दर्शन की पूर्णता होती है। जिस प्रकार कम अक्षरोंवाला मन्त्र विपवेदना को नष्ट करने में असमर्थ रहता है उसी प्रकार हीन अग वाला सम्यग्दर्शन ससार परम्परा का नाश नहीं कर सकता है। निशकितादि आठ अगों में वैयक्तिक उन्नति के लिए प्रारम्भिक चार अग तथा शेष चार अग वैयक्तिक व सामुदायिक दोनों ही उन्नति के लिए आवश्यक हैं।

निशकित—वीतरागी, हितोपदेशी और सर्वज्ञ भगवान के वचन कदापि मिथ्या नहीं हो सकते। मिथ्याभाषा के प्रयोग में कारण अज्ञान और कषाय हैं, किन्तु जिनेन्द्रदेव वीतरागी और सर्वज्ञ है, रागद्वेष-मोह से रहित, निष्कषाय हैं। अत उनके वचनों पर दृढ आस्था रखते हुए उनके द्वारा कथित सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों में भी शंका नहीं करना निशकित अग है।

निकाक्षित—सासारिक सुख सान्त, बाधासहित, आकुलता उत्पन्न करनेवाला है और उसका फल अन्त में दुख रूप ही है अत कर्मों के अधीन उस सुख की कांक्षा नहीं करना निकाक्षित अग है। सम्यग्दृष्टि सासारिक सुख की या भोगों की आकांक्षा नहीं करता है।

निर्विचिकित्सा—वस्तुत मनुष्य की देह अपवित्र है, तथापि रत्नत्रय के द्वारा पूज्यता को प्राप्त हो जाता है। इसी कारण मुनिगण, देह सम्बन्धी संस्कारों से अतीत होते हैं, उनके मलिन शरीर को देख कर मन में ग्लानि नहीं करना अथवा जुगुप्सेय (निदित) वस्तु को देखकर मन में ग्लानि का प्रादुर्भाव नहीं होना निर्विचिकित्सा अग है।

अमूढदृष्टि—जीवन में विवेक स्थिर करने के लिए मूढता का परित्याग करना परमावश्यक है। सम्यग्दृष्टि की प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्ण होती है। अत वह मिथ्यामार्ग एव उसको धारण करनेवाले की प्रशसा नहीं करता और न उसे उपादेय ही मानता है। वह श्रद्धालु तो होता है, किन्तु अन्धश्रद्धालु नहीं। अन्धश्रद्धा का त्याग ही अमूढदृष्टित्व है।

उपगूहन-अग—रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग स्वभावत निर्मल है। उपगूहन का अर्थ है 'छिपाना'। यदि अज्ञानी अथवा शिथिलाचारियों द्वारा निर्मल रत्नत्रय में कोई दोष उत्पन्न हो जाये, लोकोपवाद का प्रसग प्राप्त हो जाये तो सम्यग्दृष्टि जीव उसको छिपाता है, उसका निराकरण करता है। यह उपगूहन कहलाता है। इसका दूसरा नाम उपबृहण भी है जिसका अर्थ वृद्धि करना, बढाना या पोषण करना। अर्थात् उत्तम क्षमादि भावनाओं के द्वारा आत्मा के धर्म की वृद्धि करना उपबृहण अग है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणों को एव अन्य के दोषों को ढॉकता हुआ आत्मधर्म की वृद्धि करना है।

स्थितिकरण—साधर्मी बन्धु को धर्म श्रद्धा और आचरण से गिरते हुए देखकर उन्हे धर्म व आचरण से गिरने न देकर हित-मित-प्रिय वचनों के द्वारा पुन धर्म में स्थित करना स्थितिकरण अग है।

वात्सल्य—वात्सल्य के पर्यायवाची शब्द स्नेह व पेम भी हैं, किन्तु वात्सल्य शब्द में जितनी विशालता-महानता है वह स्नेह व प्रेम में नहीं है, क्योंकि धर्म का सम्बन्ध ससार के अन्य सभी सम्बन्धों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। अत साधर्मी बन्धुओं के प्रति गाय-बछडे के समान निश्छल वात्सल्य करना यह सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य अग है।

प्रभावना—जिनधर्म विषयक अज्ञान को दूर कर धर्म का वास्तविक ज्ञान कराते हुए जगत् जनों का भ्रम दूर करना तथा विश्व में वीतराग-मार्ग का विस्तार करना, उसकी महत्ता स्थापित करना प्रभावना अग है।

उपर्युक्त आठ अगों में से उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन चारों का पालन स्व और पर दोनों में हुआ करता है। अन्य साधर्मी बन्धुओं के समान स्वय को भी धर्म में स्थित करना चाहिए। ये निशकितादि अग सम्यग्दर्शन को विशुद्ध करते हैं।

सम्यग्दर्शन के अतिचार

प्रमाद या अज्ञानदशा में जब कभी दोष लगता है, अतिचार लगता है तब व्रतधारी के द्वारा उस अतिचार के लिए मन में पश्चात्ताप का अनुभव किया जाता है। सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार आचार्यों ने इस प्रकार बताये हैं—"शकाकाक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा सम्यग्दृष्टेरतिचारा" अर्थात् शका, काक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशसा और अन्यदृष्टिसस्तव ये सम्यग्दृष्टि के अतिचार हैं।

स्थूलतत्त्व में श्रद्धान की दृढता होने पर भी सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों में श्रद्धान की चञ्चलता होना शका है। अथवा इहलोक, परलोक, वेदना, मरण, आकस्मिक, अगुप्ति, और अत्राण इन सप्तभयों में प्रवृत्ति होना शका है। सम्यग्दर्शन धारणकर उसके फलस्वरूप लौकिक फलों की इच्छा रखना काक्षा है। मुनियों के शरीर सम्बन्धी मलिनता में ग्लानिभाव रखना विचिकित्सा है। मन से मिथ्यादृष्टि जीवों के ज्ञानादिगुण को अच्छा समझना अन्यदृष्टि प्रशसा है और वचन से उसकी श्लाघा करना अन्यदृष्टिसस्तव है। सम्यग्दृष्टि जीव में जब तत्त्व-अतत्त्व के निर्णय की क्षमता होती है तभी वह अन्यदृष्टियों के सम्पर्क में आता है। क्षमता के अभाव में उनके सम्पर्क से दूर रहता है, अन्यथा उनके कुचक्र में फंस जाता है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बहिरंग कारण

कारण दो प्रकार के हैं एक अन्तरगकारण और दूसरा बहिरगकारण। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अन्तरंगकारण मिथ्यात्वादि सप्तप्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम है तथा बहिरंग कारण सद्गुरु आदि हैं। अन्तरग निमित्त (कारण) के मिलने पर सम्यग्दर्शन नियमत होता है, परन्तु बहिरंग निमित्त के मिलने पर सम्यग्दर्शन होता भी, नहीं भी होता। यहा सम्यग्दर्शन के बहिरग कारणों का चारों गतियों में कथन किया गया है। तद्यथा—

नरकगति में तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और तीव्रवेदना अनुभव ये तीन तथा चतुर्थ से सप्तम नरक तक जातिस्मरण और तीव्रवेदनानुभव ये दो कारण हैं। तिर्यञ्च और मनुष्यगति में जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्ब दर्शन ये तीन कारण पाये जाते हैं। देवगति में १२वें स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनकल्याणदर्शन और देवऋद्धिदर्शन ये चार कारण पाये जाते हैं। १३वें स्वर्ग से १६वें स्वर्ग तक देवऋद्धिदर्शन को छोड़कर जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनकल्याणकदर्शन (जिनमहिमादर्शन) ये तीन कारण होते हैं। नवग्रैवेयक तक जातिस्मरण तथा धर्मश्रवण ये दो बहिरगकारण हैं। ग्रैवेयक के ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं।

सम्यग्दर्शन का स्थितिकाल

औपशमिकसम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है। क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्टस्थिति छियासठ सागरप्रमाण है। क्षायिकसम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होता अत इस अपेक्षा से उसकी स्थिति सादि-अनन्त है, किन्तु ससार में रहने की अपेक्षा जघन्यस्थिति अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहुर्त सहित आठ वर्ष कम, दो करोड वर्ष पूर्व ३३ सागर प्रमाण है।

सम्यग्दर्शन की महिमा

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि मोक्षमार्ग में रत्नत्रय प्रधान है और रत्नत्रय में भी सम्यग्दर्शन प्रधान है। भगवद्कुन्दकुन्द देव ने 'चारित्त खलु धम्मो' चारित्र ही धर्म है यह घोषणा प्रवचनसार में की है और उस चारित्ररूप धर्म वृक्ष का मूल (जड) 'दसण मूलो धम्मो' सम्यग्दर्शन कहा है। समन्तभद्राचार्य ने "सम्यग्दर्शन के समान त्रिकाल में और त्रिलोक में अन्य श्रेयस्कर (कल्याणकारी) नहीं है" ऐसा कहा है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र समीचीन नहीं होते। सम्यक्त्व से युक्त प्राणी सख्यात-असख्यातगुणी कर्म निर्जरा करते हैं। सम्यक्त्व अतुल सुख-निधान है, कल्पतरु चिन्तामणिरत्न, कामधेनु और रसायन के समान मनोवाछित सुख अर्थात् मोक्ष प्रदान कराने वाला है। सम्यग्दर्शन सब रत्नों में महारत्न, सब योगों में उत्तमयोग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है और सभी प्रकार की सिद्धि करने वाला है। सम्यक्त्व गुण से युक्त प्राणी इन्द्र, चक्रवर्ती आदि से वन्दनीय पद को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन मोक्ष का कर्णधार है।

सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने वाला जीव उसी भव में अथवा तीन-चार भव में या ७-८ भव में मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यदि अधिक से अधिक ससार परिभ्रमण करेगा तो अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल तक। सम्यग्दर्शन प्राप्ति की सबसे बडी महिमा तो यही है कि वह अनन्तससार को उच्छेद करके अर्द्धपुद्गलपरावर्तनप्रमाण कर देता है। अत सर्व दु खों का नाश करने वाले समस्त सुखों के बीजस्वरूप सम्यक्त्व को प्राप्त करने में प्रमादी मत बनो ऐसी जिनेन्द्रदेव की आज्ञा है।

सम्यग्दृष्टि कौन ?

❑ *आर्यिका सर्वज्ञश्री*

'समीचीन दृष्टि श्रद्धा यस्यासौ स सम्यग्दृष्टि ।' (१/१/१, १२/१६९/१) जिनकी दृष्टि याने श्रद्धा समीचीन है वह सम्यग्दृष्टि है—ऐसा सम्यग्दृष्टि शब्द का अर्थ करने पर सवाल खडा होता है, यह कैसे जाना जाए कि श्रध्दा समीचीन है या नहीं? इसके लिए तो सम्यक् श्रध्दान का लक्षण जानना आवश्यक है। प्रथमानुयोग के ग्रंथ हमारे सामने सम्यग्दृष्टि के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इन उदाहरणों से अपने को मिला-जुला के परख लेना होगा कि सम्यक्त्व है या नहीं? चरणानुयोग के ग्रथ हमारे बाह्य आचरण की परीक्षा करते हैं और कहते हैं सच्चे देव-गुरु-शास्त्र तथा धर्म की आराधना सम्यग्दर्शन है। इतना आचरण करने पर भी करुणानुयोग के ग्रथ उसे सम्यग्दृष्टि कहने के लिए तैयार नहीं है, वे थर्मामीटर रखते हैं कर्मो का, और उसी आधार पर सम्यक्त्व की जाँच करते हैं—उनके अनुसार, जिस जीव के मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम हो गया है उसे सम्यक्दर्शन प्रकट हो गया है—वह सम्यग्दृष्टि है। अब यह देखना है जो करणानुयोग की परिभाषा से सम्यग्दृष्टि है वह चरणानुयोग की परिभाषा से है ही, लेकिन चरणानुयोग की अपेक्षा वर्तन करने वाला वास्तव में सम्यग्दृष्टि हो भी या न भी, फिर भी चरणानुयोग यद्यपि प्रधान है, क्योंकि जो भी सम्यग्दर्शन प्राप्त होने वाले हैं वे सभी सच्चे देव शास्त्र गुरु की आराधनापूर्वक ही होंगे।

द्रव्यानुयोग स्वानुभव की बात कहता है "तत्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' यह उसकी परिभाषा है। सप्त तत्त्व और नौ पदार्थ का जैसा स्वरूप जिनेन्द्रदेव ने कहा है उसी तरह श्रद्धान करने वाला सम्यग्दृष्टि है। आत्मतत्व की रुचि करने वाला सम्यग्दृष्टि है।

तो द्रव्यानुयोग पद्धति से सम्यग्दृष्टि का हम अतर्निरीक्षण कर सकते हैं। चरणानुयोग पद्धति से बाह्य। सम्यग्दृष्टि की आन्तरिक विशुद्धता के विषय में श्लोकवार्तिककार का कथन है "तत्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दशन" सम्यग्दृष्टि की सभी अवस्थाओं में घटित होता है, चाहे वह सविकल्प दशा में हो (सराग अवस्था में) या निर्विकल्प आत्मानुभव में (वातराग अवस्था में) क्योंकि आत्मतत्व का दर्शन सप्ततत्वों के श्रद्धान विना नहीं होता। दर्शनपाहुड में कुंदकुंद देव कहते हैं—

> "छद्दव्व णवपयत्था पचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
> सद्दहइ ताणुरूव सो सिद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥१९॥"

अर्थात् छ द्रव्य, नौ पदार्थ, पॉच अस्तिकाय और सप्त तत्व इनका जैसा स्वरूप जिनेन्द्र देव

ने कहा है वैसा श्रद्धान करने वाला सम्यग्दृष्टि है।

सूत्र पाहुड में आचार्य देव कहते हैं–

"सुत्तत्थं जिणभणिय जीवाजीवादिबहुविह अत्थ।
हेयाहेय च तहा जो जाणइ सो हु सिद्दिट्ठी॥" ५॥

अर्थात् सूत्र में जिनेन्द्रदेव ने अनेक पदार्थ कहे हैं उनमें जो हेय-अहेय रूप से जानता है वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि का स्व-पर-विवेक, जो सप्त तत्वो को हेयाहेय रूप से विवेचन करता है उसे इन सप्त-तत्वों में स्व क्या है और पर क्या है इनका यथार्थ निर्णय होता है।

आत्मख्याति टीका में कहा गया है–

"स्वपरयोर्विभाग दर्शनेन दर्शक भवति (स सा/३१४-१५) अर्थात् स्वपर विभाग दर्शक होने से दर्शक (सम्यग्दृष्टि) होता है। आचार्य देव कहते हैं "शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धान सम्यक्त्वम्।" (स सा/३८/७२'९)

प्रवचनसार गाथा ५ की तात्पर्यवृत्ति में कहा है "रागादिभ्यो भिन्नोऽय स्वात्मोत्थसुख स्वभाव परमात्मेति भेदज्ञान, तथा स एव सर्व-प्रकारोपादेय इति रुचिरूप सम्यक्त्वम्।" रागादि से भिन्न यह जो स्वात्मा स उत्पन्न सुखरूप स्वभाव है, वही परमात्म तत्त्व है, वही परमात्मतत्त्व सर्वप्रकार उपादेय है ऐसी रुचि सम्यक्त्व है।

सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति कैसी होती है–"इसका उत्तर (अ १ सू २ में) आचार्य देव देते हैं, "प्रथम सवेगानुकंपास्तिक्येभ्य सरागेषु सद्धर्शनस्य वीतरागेष्वात्मविशुद्धिमात्रमाचक्षते।" सराग अवस्था में प्रशम, सवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य इनके द्वारा अभिव्यक्ति होती है। वीतराग अवस्था में केवल आत्मविशुद्धि मात्र अभिव्यक्ति है।

११वें गुणस्थान से आगे प्रशमादि के द्वारा अभिव्यक्ति होती नहीं है। क्योंकि व्यवहार लिग नही है। सातवें से दसवें गुणस्थान तक भी तदनुरूप कामचेष्टा-व्यवहार नहीं है इसीलिए आचार्य देव कहते हैं, "यथासभव सरागेषु, वीतरागेषु च तदनुमयत्व आत्मविशुद्धि मात्रत्व।" वीतरागियों में और यथासभव सरागियों में सम्यग्दर्शन का अनुमान आत्मविशुद्धि मात्र से करना।

अब प्रश्न है कि चौथे से छठे गुणस्थान में सभी काल में प्रशमादि से ही अभिव्यक्ति होती है, क्या उसकी शुद्धात्मा-भावना व्यक्त नहीं होती? मोक्ष पाहुड की ५वीं गाथा के दूसरे चरण में कहा है, "अतरप्पा हु अप्पसकप्पो।" अर्थात् आत्मसंकल्प अतरात्मा होता है और आगम में अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य अतरात्मा कहा है। अत शुद्धात्मभावना उसे जरूर होती है।

समयसार गाथा १३०/३९ की तात्पर्यवृत्ति तथा पंचास्तिकाय गाथा १७० की तात्पर्यवृत्ति में कहा है–चतुर्थ गुणस्थान योग्य शुद्धात्मभावना अपरित्यजन्। तात्पर्यवृत्ति ४ से ६ तक की आत्म-भावना और अप्रमत्तादि गुणस्थानो में होने वाली आत्मभावना में क्या फर्क है–यह तो

जाति अपेक्षा से एक ही है लेकिन स्थिरता की अपेक्षा से फर्क है। जैसे कि प्र. सा. गा २४८ की तात्पर्यवृत्ति में कहा है—"ननु शुभोपयोगि नामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते श्रावकाणामपि सामायिकादि काले शुद्धभावना दृश्यते, तेषा कथ विशेषोभेदो ज्ञायत इति। परिहारमाह "युक्तमुक्त भवता, परं किंतु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्तन्ते ते यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोग भावना कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते। येऽपि शुद्धोपयोगिन सो यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव। कस्मात्? बहुपदस्य प्रधानत्वादाम्रनिम्बवनवदिति।" शंकाकार पूछता है शुद्धोपयोगी (मुनि) को भी कभी-कभी शुभोपयोग भावना दिखायी देती है शुभोपयोगी (श्रावक) को भी कभी-कभी सामायिकादि काल में शुद्धोपयोग भावना दिखाई देती है तो दोनों में भेद क्या है? उसका उत्तर देते हैं—आम्रवन, निबवन की तरह। मतलब आम्रवन में नीम का वृक्ष हो भी लेकिन प्राचुर्यता से आम्र हैं इसीलिये आम्रवन कहा है। इसी कारण मुनियों में शुद्धोपयोग का प्राधान्य है इसीलिये उन्हे शुद्धोपयोगी कहा है। श्रावक अवस्था में शुद्धात्मभावना होते हुए भी शुभोपयोग प्रधान है, इसीलिए शुभोपयोगी कहलाता है। मतलब चौथे से छठे गुणस्थान तक शुद्धात्मा भावना में स्थिरता नहीं है, लेकिन यह शुद्धात्मा भावना ही उसकी आगे की विशुद्धि का कारण है, स्थिरता रूप निश्चयसम्यक्त्व का कारण है अत उसे भी निश्चय सम्यक्त्व कहा जाता है।

प्रभाकर भट्ट शंका उठाते है शुद्धात्मा उपादेय रुचि स्वरूप सम्यग्दर्शन को आपने निश्चय सम्यक्त्व कहा है—वह तो गृहस्थों को भी होता है परन्तु निश्चय सम्यक्त्व तो वीतराग चारित्र का अविनाभावी है वीतराग चारित्र तो गृहस्थों को होता नहीं, क्योंकि वह तो असयत होता है तब आचार्य समाधान करते हैं—

"शुद्धात्मोपादेय भावनारूप निश्चय सम्यक्त्व विद्यते पर किंतु चरित्र मोहोदयेन स्थिरता नास्ति, व्रतप्रतिज्ञाभङ्गो भवति तेन कारणेनासंयता वा भण्यन्ते।"

गृहस्थावस्था में शुद्धात्मोपादेय भावना रूप निश्चय सम्यक्त्व होता है, किन्तु चारित्र मोह के उदय में स्थिरता नहीं है। व्रतप्रतिज्ञा है, इसी कारण से असयत कहे जाते हैं। इसका मतलब ही है कि चारित्र मोह की तीन चौकडियों के अभाव में और सज्वलन के भेद के उदय में आत्मानुभव में जो विशुद्धना निर्मलता है वह चौथे-पॉचवें गुणस्थान में नहीं है अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण के मद उदय से आत्मभावना परिणत होते हुये भी असयमरूप ही कषाय बंधाध्यवस्थान है। इन गुणस्थानों में चाहे उसका उपयोग आत्मभावना में हो चाहे अशुभराग से युक्त हो या चाहे शुभ वह चौथे गुणस्थान में ४३ प्रकृतियों का और पॉचवें में ५१ प्रकृतियों का ही अबन्धक रहता है। छठे में ५५ का अवन्धक होता है तब शुभोपयोग रूप परिणत होता है जब आत्मभावनारूप परिणत होता है तब विशुद्धि बढ जाती है। गुणस्थान बढ जाता है ६१ प्रकृतियों का अबधक हो जाता है। मतलब अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण के तीव्र उदय में अशुभ प्रवृत होता है। मद उदय में शुभप्रवृत्त होता है। और मन्दतर उदय में आत्मप्रवृत्त

होता है। इन तीनों अवस्थाओं में समान ही प्रकृतियों का अबन्धक है अतएव जैसा कि ब्रह्मदेवसूरि ने कहा है—आत्मभावना परिणत होते हुये भी "वस्तुवृत्या तत्सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेव।" वह सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्व नाम का व्यवहार सम्यक्त्व ही है। फिर भी उसे निश्चय सम्यक्त्व नाम दिया है। क्योंकि यदि कोई कहे चाहे अशुभ प्रवृत्त हो चाहे शुभ प्रवृत्त हो या चाहे आत्म प्रवृत्त समान ही प्रकृतियों का अबधक है तो निरर्गल बन जाये? तो उसे आचार्य कहते हैं—

गृहस्थावस्था में ध्येय तो आत्मभावना का ही है किन्तु इसमें स्थिरता नहीं अतएव स्थिरता प्राप्त करने के लिए रत्नत्रय प्राप्त पंचपरमेष्ठी आदि की आराधना करता है क्योंकि अशुभ करते समय कभी शुद्ध-आत्मा की प्राप्ति कर ही नहीं सकता। अशुभ से शुभ में बाधे जाने वाले कर्मों के स्थिति अनुभाग कम हैं लेकिन केवल शुभ भी उसे आत्म-निश्चलता की ओर लेने जाने वाला नहीं, उसके साथ होने वाली शुद्धात्मरुचि उसे निश्चलता की ओर ले जाती है। इसीलिए आचार्य कहते हैं—"या पुनस्तेषा सम्यक्त्वस्य निश्चयसज्ञा वीतराग चारित्राविनाभूतस्य निश्चय सम्यक्त्वस्य परम्परया साधकत्वादिति" अर्थात् गृहस्थों की आत्मभावना को निश्चय सम्यक्त्व वह सज्ञा दी है। इसका प्रयोजन है और यही भावना निश्चलतारूप निश्चय सम्यक्त्व ही साधन है।

अतएव शुद्धात्मोपादेयरुचि यही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है स सा गाथा क्र/१४५ की तात्पर्यवृत्ति में कहा है—

"अध्यात्म भाषया शुद्धात्मभावना विना, आगमभाषया तु वीतरागसम्यक्त्व विना व्रतदानादिकंपुण्यबन्धकारणमेव न च मुक्ति कारणम्।" अध्यात्मभाषा से शुद्धात्म भावना बिना और—आगमभाषा से वीतराग सम्यक्त्व बिना व्रतदानादि पुण्यबध का कारण है तथा प्र सा २५४ की टीका में अमृतचन्द्र सूरी कहते हैं "गृहिणा तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्म पकाशनस्याभावात् कषाय सद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिक संपर्केणार्कतेजस् इवैंधसा राग-सयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात् क्रमत परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च' मुख्य।" गृहस्थियों को समस्त विरति का अभाव होने से शुद्धात्म प्रकाशन का अभाव है तथापि स्फटिक के माध्यम से सूर्य का तेज ईंधन में आग को प्राप्त होता है—उसी तरह रागसयोग से शुद्धात्मा का अनुभव करते समय क्रम से परमनिर्वाण का कारण होता है। अत एकान्त से जघन्य सम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मानुभव नहीं होता है ऐसा कहना भी उचित नहीं है और उसका अनुभव अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्तियों जैसा मानना भी उचित नहीं है। ध्यान और भावना में फर्क करते हुये धवला में कहा है—

जं थिरमज्झवसाण त ज्झाण ज चलंतय चित्तं।
तं होई भावना वा अणुपेहा वा अहवचिन्ता॥

अर्थात् स्थिर अध्यवसाय ध्यान है चित्त की चंचलता-भावना वा अनुप्रेक्षा है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को शुद्धात्मा में स्थिरता नहीं है उसको पचपरमेष्ठी का पदस्थ, पिडस्थ, रूपस्थ रूप से

ध्यान होता है। अपनी शुद्धात्मा की भावना भी करता है लेकिन उस भावना में स्थिर नहीं होता अत नियमसार गाथा १४३ की टीका में कहा है—"जघन्यरत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्य स्वात्माश्रय निश्चयधर्मध्यानलक्षण परमावश्यककर्म न भवेदिति।" जघन्य र । परिणत जीव को निश्चय धर्मध्यान लक्षण-परमावश्यक कर्म नहीं होता।

मोक्ष पाहुड टीका ३४/९६ में कहा है—'मुनीनामेव परमात्मध्यानं घटते। तप्तलोहगोलकसमानगृहीणां परमात्मध्यान न सगच्छन्ते। ये गृहस्थोपि सन्तो मनागात्मभावनामसाद्य वय ध्यानिन इति ब्रुवते ते जिनधर्मविराधको मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्या।' मुनि को ही परमात्म ध्यान होता है तथा तप्त लोहगोले के समान गृही को परमात्म ध्यान नहीं होता। जो गृहस्थ, अल्प आत्मभावना को प्राप्त होकर हम ध्यानी हैं ऐसा कहते हैं वे जिनधर्म की विराधना करने वाले मिथ्यादृष्टि हैं। यही अभिप्राय भावपाहुड, भावसंग्रह, तत्त्वार्थसार, परमात्मप्रकाश आदि ग्रंथों में व्यक्त है।

सम्यग्दृष्टि की बाह्य क्रिया

शुद्धात्मप्रतीति यह सम्यग्दर्शन का व्यवच्छेक लक्षण है फिर भी प्राथमिक अवस्था में चारित्रमोह के उदय में वह उसमें स्थिर नहीं हो पाता, उसका उपयोग भी पर में भटक जाता है। लेकिन अन्तरग में शुद्धात्मा उपादेयरूप ज्योति सदैव प्रज्वलित है इसी कारण सम्यग्दृष्टि की मिथ्यादृष्टि की तरह ही शुभ-अशुभ क्रिया में प्रवर्तित प्रवृत्ति होते हुये उसकी बाह्य क्रिया इसमें महद् अन्तर है।

ब्रह्मदेवसूरि कहते हैं—शुद्धात्मभावना से च्युत ऐसे भरतादिजन पचपरमेष्ठियों का पूजन स्तवन आदिक करते हैं, दानादि करते हैं। ऐसे शुभरागयोग से सरागसम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं इसका कारण स्पष्ट करते हुए जयसेनाचार्य कहते हैं कि जैसे देशान्तर में रहनेवाले का स्त्री-प्रीति कारणरूप संदेश लेकर आने वाले पुरुप का सम्मान किया जाता है उसी तरह जघन्य अवस्था में शुद्धात्मा की अत्यत रुचि जागृत होकर भी उसमें स्थिर नहीं हो सकता है अतएव शुद्धात्म प्राप्त अर्हत्सिद्ध तथा तदाराधक आचार्य, उपाध्याय, साधुओं की आराधना करता है। कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में कहा है जो वीतराग अर्हन्तदेव को देव, दया को उत्कृष्ट धर्म और निर्ग्रन्थ को गुरु मानता है वही सम्यग्दृष्टि है।

नियमसार में कहा है 'अत्तागमतच्चाण सद्दहणादो हवइ सम्मत'॥५॥

इतना ही नहीं कार्तिकेय स्वामी कहते हैं कि द्रव्य-तत्वादि का विशेप स्वरूप जानने का क्षयोपशम न भी हो लेकिन जो जिनवचन पर श्रद्धान करते हैं वह सम्यग्दृष्टि हैं।

> जो ण विजाणादि तच्चं सो जिणवयणे करदि सद्दहण।
> ज जिणवरेहि भविय तं सव्वमह समिच्छामि।

स्वामी समतभद्र देवागम स्तोत्र में कहते हैं—

अज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाज्ञानाद् वीतमोहत ।
ज्ञान स्तोकाच्च मोक्ष स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥९८॥

अर्थात् मोह सहित अज्ञान से बध है, मोह रहित अज्ञान से नहीं। थोडा ज्ञान यदि मोह रहित हो तो मोक्ष है। मोहसहित हो तो नहीं। मतलब दर्शन मोह का क्षय, उपशम, क्षयोपशम हो तो तत्वज्ञान के बिना स्वपर भेदविज्ञान करता है और इसकी अभिव्यक्ति तो प्राथमिक अवस्था में देव-गुरु शास्त्र के श्रद्धान से ही होती है।

सराग अवस्था में सम्यग्दृष्टि

प्रशम-सवेग-आस्तिक्य-अनुकम्पा—ये सराग अवस्था में सम्यग्दृष्टि के चार लक्षण कहे गये हैं। श्लोकवार्तिक में आचार्य विद्यानदि कहते हैं—यद्यपि चारों वीतराग अवस्था में भी हैं तथापि ज्ञापक लिग का अभाव है सराग सम्यग्दृष्टि में कायादि चेष्टा से जाने जाते हैं।

प्रशम—अनंतानुबधी कषायों के उदय के अभाव में होने वाली आत्मपरिणाम की विशुद्धि प्रशमभाव है। तब शका उठती है कि अनन्तानुबन्धी के मन्द उदय से मिथ्यादृष्टि में भी बाह्यत प्रशम भाव दिखाई देता है तब आचार्य विद्यानदि कहते हैं—' 'सर्वथैकांतेऽनंतानुबंधिनो मानस्योदयात्" अर्थात् उनमें सर्वथा एकान्त होने से अनंतानुबधी मान का परम उदय होता है।

इसी आशय की गाथाए गोम्मटसार लब्धिसार, पचसग्रह, त्रिलोकसार भगवती-आराधना आदि में प्राप्त होती है।

समाइट्ठी जीवों उवइट्ठ पवयण तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भाव अजाणमाणो गुरुणियोगा॥२७॥ जी का॥

सुत्तादो त सम्म दरसिज्जत जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदि॥२८॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव उपदिष्ट पवचनसार का श्रद्धान करता है किन्तु अज्ञानवश विपरीत अर्थ भी ग्रहण करता है। लेकिन सूत्रों द्वारा भले-प्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह समीचीन श्रद्धा न करे, तो उस क्षण में वह मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि उसके अनतानुबन्धी मान का उदय है।

संवेग—"द्रव्यक्षेत्रकालभाव परिवर्तनरूपात् ससाराद्भीरुता सवेग ।" पचपरिवर्तनरूप संसार से भीरुता होने का नाम संवेग है। सम्यग्दृष्टि कर्मबन्ध से हमेशा भयभीत रहता है। वह अधर्म में निरर्गल प्रवृत्ति नहीं करता है। चारित्रमोह वश परिणति हो भी लेकिन उससे सावधान रहता है और प्रयत्नपूर्वक भेदाभेद रत्नत्रय की साधना करता है।

राजवार्तिक के प्रथम अध्याय में एक शका उठाई है—"भव्यस्य कालेन निश्रेयसोपपत्ते अधिगम सम्यक्त्वाभाव"—भव्य जीव अपने समय पर ही मोक्ष जायेगा, तो अधिगम सम्यक्त्व का अभाव हुआ ? तब आचार्य कहते हे—"यदि सम्यग्दर्शनादेव केवलानिसर्गजादधिगमजाद्वा ज्ञानचारित्ररहितान्मोक्ष इष्ट स्यात् तत् इदम् युक्त स्यात्" भवस्य कालेन नि श्रेयसोपयत्ते। यदि केवलज्ञान चारित्र रहित सम्यग्दर्शन से मोक्ष इष्ट होता तो ऐसा कह सकते थे। लेकिन ऐसा नहीं कह सकते।

सम्यग्दृष्टि हमेशा रत्नत्रय आराधना में प्रयत्नशील रहता है उसमें प्रीति रखता है, अत अस्तिरूप से संवेगभाव का लक्षण कहा है—हरिसो सतो सवेगोणाम्। हर्प और सात्विक भाव को सवेग कहते हैं कहा भी है—

"धम्मे य धम्मफलम्हि दंसणे य हरिसो य हुति सवेगो।" अर्थात् धर्म, धर्मफल और दर्शन में हर्ष भाव का होना संवेग है।

कार्तिकेय-अनुप्रेक्षा में कहा है "उत्तमगुण गणहरओ उत्तम साहूण विपय सजुत्तो। साहम्मिय अणुराइं सो सद्दिट्ठि हवे धरमो"॥३१५॥ जो उत्तम गुणों के ग्रहण करने में तत्पर रहता है साधर्मियों पर अनुराग करता है तथा उत्तम साधु का विनय करता है वह सम्यग्दृष्टि है।

मिथ्यादृष्टि में भी सवेग भाव दिखाई देता है ऐसी शका करने पर विद्यानदि महर्षि कहते हैं—"स्वात्मनि चानेकातात्मनि द्वेपोदयस्यावश्यभावात्।" मिथ्यादृष्टि को अपनी आत्मा से और अनेकान्तमयी धर्म से विरोध होने के कारण सवेगभाव नहीं है।

"सहजुप्पण्ण रूव दट्ठु जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो सजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठि हवइ एसो॥२४॥

अर्थात् जो सहज पूर्व रूप देखकर मानता नहीं, उसकी विनय सत्कार नहीं करता और मत्सरभाव करता है। वह सयम सपन्न होकर भी मिथ्यादृष्टि है। जो असयत होकर नग्न दिगम्बर से द्वेष करते हैं, उनके मिथ्यात्व की तो क्या कथा ?

आस्तिक्य—जो सम्यग्दृष्टि जीव, सर्वज्ञदेव, व्रत, शास्त्र, तत्त्व, आदि के सम्बन्ध में 'ऐसा ही है' ऐसा निर्णय करे यह आस्तिक्य गुण है। मिथ्यादृष्टि में होने वाला आस्तिक्यभाव आस्तिक्याभास है, क्योंकि उसका तत्त्वनिर्णय प्रत्यक्ष और अनुमान से बाधित है।

"त्वन्मतामृतबाह्याना सर्वथैकात वादिनाम्।
आत्माभिमानदग्धाना स्वेष्ट दृष्टेन बाध्यते॥"

अर्थात् जिनमत से दूर ऐसे जो एकातवादी हैं वे आत्माभिमान से दग्ध हैं। उनका इष्ट मत प्रत्यक्ष से बाधित है।

अनुकम्पा—"सर्वप्राणिपु मैत्री-अनुकंपा"—सब प्राणियों में मैत्री करना अनुकम्पा है ऐसी अनुकम्पा शब्द की परिभाषा राजवार्तिक में (२/३०२२/९) श्लोकवार्तिकार कहते हैं 'त्रस स्थावरेपु

प्राणिषु दयानुकम्पा।' त्रस जीवों से विरत है, न कि स्थावर जीवों से यह विवेचन करणानुयोग की अपेक्षा है। फिर प्रश्न उठता है कि अविरत सम्यग्दृष्टि में यह लक्षण कहाँ दिखाई देता है? आगम में तो कहा है कि वह त्रस जीवों से विरत है, न कि स्थावर जीवों से?

यह विवेचन करणानुयोग की अपेक्षा है। अव्रती भी बिना हेतु स्थावर जीवों का घात नहीं करता। चारित्रसार में कहा है, असि-मसि-कृषि वाणिज्य आदि से गृहस्थों को हिसा संभव है तथापि फिर भी वह अहिसारूप धर्म का ही पक्ष लेता है। (४०/४)।

मद्य-मास-मधु और पॅचउदुबर फलों का उसे त्याग होता है पंचाणुव्रत अभ्यासरूप से पालता है। रात्रिभोजन नहीं करता है लेकिन प्रसगवश इलायची आदि का ग्रहण करता है। व्रत-खण्डित होने पर प्रायश्चित लेता है और सबसे मुख्य वह त्रस स्थावर जीवों का सकल्प से घात नहीं करता, सकल्पी हिंसा का त्यागी है, करुणाबुद्धि को भी अनुकम्पा कहा है।

तिसिद बुभुक्खिद वा दुहिद दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि त किवया तस्सेसा होदि अणुकम्पा॥ (प का १३७)

अर्थात् तृष्णातुर, क्षुधातुर अथवा दुखियों को देखकर जो जीव मन में दुख पाता हुआ उसके प्रति करुणा से वर्तता है उसका भाव अनुकम्पा है। इसी अनुकम्पा भाव से प्रेरित होकर आचार्य गणपोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि महान् उपकार करते हैं, उपाध्याय परमेष्ठी शिक्षादि कार्य करते हैं ओर साधु परमेष्ठी भी अनुकंपा वश जीव रक्षण की प्रेरणा देते हैं। यह न जानकर जो साधुओं की करुणाबुद्धि का निषेध करते हैं या ऐसे कारूण्य को देखकर उनके साधुत्व का निषेध करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि कैसे कहे जायेंगे?

जीवदयारूप दया तो अहिसा ही है। ऐसी करुणा को तो धवला में 'करुणाए जीवसहावस्स।' करुणा जीवस्वभाव है ऐसा कहा है—लेकिन दूसरों के दुखों के प्रति आत्मौपम्य बुद्धि भी विकल्प अवस्था में सम्यग्दृष्टि की होती है, होनी ही चाहिए। यदि नहीं होती तो वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। प्र सा ता वृ में कहा है—"शुद्धात्मोपलब्धिलक्षण-परमोपेक्षा सयमाद्विपरित करुणाभावो दया परिणामश्च अथवा व्यवहारेण करुणाया अभाव —इति दर्शनमोहचिहन। अर्थात् शुद्धात्मोपलब्धि विलक्षण परम उपेक्षा से रहित करुणाभाव दया परिणाम अथवा व्यवहारनय से करुणा का अभाव दर्शनमोह का चिन्ह है। मतलब यह कि विकल्प अवस्था में होते हुये, करुणाजनक परिस्थिति उत्पन्न होकर भी यदि करुणा उत्पन्न नहीं होती तो वह मिथ्यात्व का लक्षण हैं।

छठें गुणस्थान में साधु विकल्प में ही होते हैं अतएव उनके लिए करुणाभाव अनिवार्य हैं। इतना ही नहीं करुणाभाव की प्रकृष्टता सयमियों में ही दिखाई देगी। हाँ, इसको ही सब कुछ समझकर इसमें ही फंस जाये, आत्मभावना की साधना ही न करे तो मिथ्यादृष्टि है। इस अपेक्षाकृत कथन पर ध्यान देना ही सम्यक्त्व का चिह्न है।

सम्यग्दृष्टि के २५ गुण—

सम्यग्दृष्टि पुरुष चाहे विकल्प में हो या निर्विकल्प अवस्था में, सराग हो या वीतराग उसमें आठ अंग का सद्भाव, तीन मूढ़ता का अभाव, षट्अनायतन का त्याग और आठ मदों से रहितता ये २५ गुण दिखाई देते ही हैं।

सम्यग्दृष्टि के आठ अंग—निशंकित अग—तीव्र उपसर्ग को प्राप्त होते हुए भी शुद्धोपयोगरूप में धर्म से च्युत नहीं होना, इसे निश्चय से सम्यग्दर्शन कहते है (स सा २२८, द टीं. ४१)। और व्यवहार से अर्हद् वचन और तत्त्व में दृढ श्रद्धान होना निशकित अग है। सम्यग्दृष्टि सप्त भयों से रहित होता है इसका मतलब कितना भी उपसर्ग प्राप्त हो वह शुद्धात्मा से चलायमान नहीं होता, जिनधर्म से विचलित नहीं होता।

निकाक्षित अग—सांसारिक प्रलोभन से धर्मादिक न करना या कितना भी प्रलोभन आये धर्म से च्युत नहीं होना—यह निकाक्षित गुण है। सांसारिक भोगों के प्रति उदासीनता भी निकाक्षित गुण है। निज शुद्धात्मारस से तृप्त होने के कारण सभी इन्द्रियजनित सुखों का त्याग होना यह निश्चय से निकाक्षित अग है।

निर्विचिकित्सा अग—समस्त राग-द्वेष मिटाकर स्वय में विश्राम करने वाला निर्विचिकित्सा अग का धारी है। अथवा व्यवहार से क्षुधादि परिषहों में सक्लेश भाव न करना और शरीरादि की अशुचिता के कारण रत्नत्रयधारी से घृणा न करना यह व्यवहार निर्विचिकित्सा है।

अमूढदृष्टि अंग—सर्व परभावों से अमूढ (निर्मोह) होकर अपने आप में निश्चल होना यह निश्चय से अमूढ़दृष्टि है कुमार्ग व कुमार्गस्थ जनों के चमत्कारों में भूलकर रत्नत्रयाराधन न छोडना अमूढता का व्यवहार लक्षण है।

उपगूहन अग—'सद्वृत्तानां गुणगणकथा, दोपवादे च मौनम्।' यह उपगूहन अगधारी का लक्षण करता है। सम्यग्दृष्टि दूसरों के दोषों के प्रति तो मौन रहता ही है, लेकिन सज्जनों के गुणों की प्रशसा करता है— अपनी गुणवृद्धि के प्रयोजन से। कुछ लोग आजकल मान बैठे हैं कि शिथिलता को अपनी पत्रिका द्वारा या अन्य तरह प्रकट किये बिना समाज जागृत कैसे होगी? लेकिन दोष ग्रहण से समाज जागृत नहीं होता बल्कि धर्मपालन के प्रति भयभीत होता है। र.-श्रा-में कहा है—"स्वयशुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्। वाच्यता यत्प्रमार्जन्ति तद्वन्त्युपगूहनम्"॥१५॥—मार्ग स्वय शुद्ध है लेकिन बाल और असमर्थ जनों के कारण निंदित होता है। ऐसी निंदा न हो इसी कारण दोपों को छिपाना उपगूहन अग है। जो रत्नत्रयधारियों में दोप देखते हैं या न होने वाले दोषों का भी आरोप करते हैं—उनकी कर्मगति क्या होगी? लेकिन दोष को छिपाने का मतलब दोपों को पुष्ट करना नहीं है, सम्यग्दृष्टि इसको समूल नष्ट करने की भावना करता है।

स्थितिकरण अग—स्व या पर को धर्ममार्ग में स्थिर करना स्थितिकरण अग है। आलोचना

स्थितिकरण का उत्तम उदाहरण है।

वात्सल्य अग—अनुकम्पा और वात्सल्य, सवेग और वात्सल्य, प्रमोद और वात्सल्य—अत्यन्त निकटवर्ती सहचारिणी भावनाएँ है। निजस्वरूप, रत्नत्रयधर्म तथा धार्मिक जनों के प्रति रूचि होना यह वात्सल्य गुण है। कुरल काव्य में कहा है—"अस्थि हीन यथा कीटं सूर्यो दहति तेजसा, तथा दहति धर्मश्च प्रेम शून्य नृकीटम्॥" सूर्य की उष्णता जिस तरह अस्थि रहित कीडो को जला देती है। उसी तरह प्रेम (वात्सल्य) रहित धर्म भी मनुष्य को जला देता है। मतलब जहाँ वात्सल्य नहीं है, वहाँ धर्म नहीं धर्माभास है।

गणपोषण करना आचार्यों का वात्सल्य अंग है—जो आचार्यों के गणपोषण को दोष लगाते हैं, वे वात्सल्य भाव को दूषित करते हैं। आचार्य अपने संघस्थ साधुओं की ही क्या, देश संयत और असयत जनों की भी वात्सल्यभाव से पूछताछ कर सकते हैं। क्योंकि धवला में कहा है, "यवयण सिद्धतो वारहगाइ, तत्थभवा देसमहव्वइणो असजदसमाइट्ठिणो च यवयणा। तेसु अणुरागो आकंखा ममेद भावो पवयणवच्छलदा णाम।" (८।३।४१।९०।१)

प्रभावना अग—निश्चय से शुद्धात्म प्रकाश ही प्रभावना है। व्यवहार से उसके लिए जो तपश्चरण, पूजा, दान, मन्त्र, अष्टाग निमित्त आदि किये जाते हैं उसे प्रभावना कहते (मू आ २६४ टीका) हैं। यह न समझ कर जो उपवासादि, तप, पूजा, मन्त्र या निमित्त ज्ञान का विरोध करते हैं वे प्रभावना के विरोधी है। भगवती-आराधना की विजयोदया टीका (३०६) में कहा है—स्तेनैरूपद्रूयमाणा तथा श्वापदै दुष्टैर्वा भूमिपालै नदि रोधकै तदुपद्रवनिरास विद्यादिभि वैयावृत्तमुक्तम्। चोर, पशु-पूजा, दुष्टरोग आदि का उपद्रव को या नदी से रुद्ध हो तो उपद्रव का निरास करने के लिए विद्यादि का प्रयोग करना वैयावृत्त कहा है। हो गौरव आदि के लिए मन्त्र का उपयोग दूषण है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—जैसे मन्त्र में एक भी अक्षर कम हो तो वह मन्त्र विष की वेदना दूर नहीं कर सकता उसी प्रकार एक भी अग में न्यूनता हो तो वह श्रद्धा जन्म सन्तति को दूर करने वाली नहीं। अर्थात् वह समीचीन श्रद्धा नहीं है। अत इन आठ अंगों पर ही हम परखेंगे—"सम्यग्दृष्टि कौन?"

सम्यग्दृष्टि मे मूढ़ता का अभाव—

दर्शन मोह के क्षय के कारण सम्यग्दृष्टि मूढ नहीं होता। सामान्यत मूढता के तीन प्रकार शास्त्रों में गिनाए गए हैं।

(१) देव मूढता—

"वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेषमलीमसा।

देवता यदुपासीत् देवतामूढमुच्यते॥२३॥"—र

अर्थात्—वर प्राप्ति की अपेक्षा से रागी द्वेषी देवताओं की उपासना करना देव मूढता है। र. श्रा. की उपरोक्त श्लोक की टीका में प्रश्न उपस्थित किया है—तो फिर शासन-देवताओं की पूजाविधान करना भी मूढता होगी? आचार्य प्रभाचन्द्र इसका समाधान करते हैं—यदि वरोपलिप्सा से किया जाये तो मूढता होगी, लेकिन वीतराग देव की निर्विघ्न पूजा के लिए उनका सत्कारादि करना मूढता नहीं है। शासन-देवता का मतलब ही है कि जिनशासन में पालन एव रक्षण करने में तत्पर देवता। अतएव उनका सत्कार वात्सल्य भाव से किया जाता है। 'वीतराग देव देते नहीं हैं, शासन देव देते है' ऐसी भावना से यदि शासन देवताओं की आराधना की जाये तो वह कडी मूढता का निदर्शक है। दूसरी बात यह है कि व्रती सम्यग्दृष्टि तो कभी भी असयत शासन देवताओं की पूजा नहीं कर सकता, उसी तरह अव्रती भी देवगुरूशास्त्र की तरह उनकी वदना नहीं कर सकता।

(२) लोकमूढता—लौकिक कार्य की सिद्धि अपेक्षा या अन्य लोग कहते हैं ऐसा समझकर जो प्रवाह-पतित हो कर मिथ्या देव-शास्त्र-गुरू और मिथ्याधर्म का आश्रय लेते हैं वे लोकमूढ सम्यग्दृष्टि नहीं है। अथवा केवल परम्परा के कारण, जिसमें धर्म का तनिक भी अश नहीं है ऐसी क्रियाओं को धर्म मान बैठना लोकमूढता है। फिर भी सोमदेव सूरी उपासकाध्ययन में स्पष्ट करते हैं कि जो लोक-व्यवहार सम्यग्दर्शन के विरोधी नहीं हैं उसके करने में कोई बाधा नहीं है। सम्यग्दृष्टि लोक-व्यवहार का विरोधी तो होता नहीं है।

(३) पाखण्डी मूढता—सग्रन्थ और आरभसहित साधुओं के चक्कर मे फंसकर उनकी भक्ति सत्कार करना पाखण्डी मूढता है। धवला में कहा है कि मिथ्यादृष्टि पाखण्डी क्या, असंयत सम्यग्दृष्टि भी वद्य नहीं। यद्यपि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान पूज्य है तथापि बिना चारित्र वद्य नही है क्योंकि अहंकार से भरे हुए जीव असंयत अवस्था में ही तुष्ट रहेगे। इतना जानकर भी जो असयत को गुरू मानकर पूजा करते हैं और सयमी जनों की उपेक्षा करते हैं, उन्हें क्या कहें?

सम्यग्दृष्टि मद रहित होता है

मान कषाय का तीव्र उदय, जिससे श्रेष्ठ रत्नत्रय धर्म, आप्त, आगम, गुरू, और साधर्मी बांधव अपमानित किये जाते हैं, उसे मद कहते हैं। ऐसा मद सम्यग्दृष्टि को कभी नहीं होता। उस मद की छटाए यद्यपि अनेक होती हैं तथापि इसे आठ प्रकारों में उपवर्णित किया है।

ज्ञान पूजा कुल जाति बलमृद्धि तपो वपु।
अष्टावाश्रित्य मानित्व स्मयमाहुर्गतस्मया॥ र.श्रा २५

अर्थात्—ज्ञान, पूजा, कूल, जाति ,बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठों का आश्रय करके

मान करना स्मय या मद है ऐसा गतस्मय जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। गर्व से अपने साधर्मी बान्धवों को अपमानित करना भी साक्षात् धर्म का अपमान है क्योंकि धर्म धार्मिकों के बिना रह नहीं सकता, ऐसी सम्यग्दृष्टि की धारणा होती है। उसके स्वाभिमान जरूर होता है लेकिन मद नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि का षट् अनायतनों का त्याग

सम्यग्दृष्टि कुदेव, कुगुरू और कुधर्म की न स्वयं आराधना करता है और न ही इनके आराधकों की। कहा भी है—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवांगमलिंगिनाम्।
प्रणाम विनय चैव न कुर्यु शुद्धदृष्टय ॥३०॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि पुरुष, भय, आशा, स्नेह या लोभ किसी के भी वश से कुदेव, कुआगम तथा कुगुरू को विनय नहीं करता तथा उनको प्रमाण नहीं मानता है। सवेग, निर्वेग, निदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकंपा, वात्सल्य, इस तरह भी सम्यक्त्व के आठ अग आर्ष आगम में गिनाये जाते हैं।

सवेओ णिव्वेओ णिदा गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छ्रल अनुकंपा गुणट्ठ समत्तजुत्तस्स॥ समयसार प्र गा १७७

सवेग और निर्वेग का तो सवेग भाव में ही समावेश होता है। भक्ति आस्तिक्य भाव में समाविष्ट है। उपशमभाव और प्रशमभाव एक ही हैं। निदा और गर्हा का उपबृहण भाव में समावेश हो जाता है। अपने दोषों की स्वत आलोचना करना निदा है औ गुरू साक्षीपूर्वक करना गर्हा है। ऐसे गुणों से सपन्न सम्यक्त्व अनत समार का विच्छेद करने वाला है और ज्ञान वैराग्य के साथ मोक्ष का कारण भी है।

सम्यग्दृष्टि का पुण्य

आगम में कहा है कि मिथ्यादृष्टि अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बध, इन तत्त्वों का कर्ता है। तथा सम्यग्दृष्टि जीव संवर, निर्जरा, मोक्ष इन तत्त्वों का कर्ता है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह पुण्य करता ही नहीं है बल्कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य तो सातिशय होता है। मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि जैसा उत्कृष्ट पुण्यबध नहीं कर सकता। ऊपर-ऊपर के गुणस्थान में पाप-प्रकृति पुण्यप्रवृत्ति रूप प्रवर्तित होती है। और आतरिक बल से (विशुद्धि से) पुण्य-प्रकृतियों को जला देती हैं। पाप का उदय होते हुए आत्मानुभव या सवर-निर्जरा मोक्ष नहीं हो सकते। अतएव शुभ क्रिया द्वारा पाप का पुण्य में सक्रमण आवश्यक है। अत जब तक शुद्धात्मा में स्थिरता

नहीं है, तब तक जीव बुद्धिपूर्वक पुण्य का आश्रय लेता है। जयसेनाचार्य कहते भी है, "सराग सम्यग्दृष्टि सन् शुभकर्तृत्व न मुञ्चति।" —सराग सम्यग्दृष्टि होकर शुभकर्तृत्व छोडता नहीं है। लेकिन उसका यह पुण्य पाप को रोकने वाला होता है तथा ससार की स्थिति छेद करने वाला भी होता है। (प.प्र २।१५)

आत्मानुशासन २२४ में भी कहा है— "विषयविरति संगत्याग, कषायविनिग्रह शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यम। नियमितमनोवृत्तिर्भक्तजिनेषु दयालुता, भवति कृतिन संसाराब्धेस्तटे भवति"—इन्द्रिय विषयों की विरक्ति, परिग्रह का त्याग, कषायों का शमन, शम, दम, यम आदि तत्त्वाभ्यास, तपश्चरण का उद्यम, मन की प्रवृत्ति पर नियत्रण, जिन भगवान में भक्ति और दयालुता ये सब गुण उसी पुण्यात्मा जीव के होते हैं जिसके संसाररूप समुद्र का किनारा निकट आ चुका है। फिर भी सम्यग्दृष्टि पुण्य की इच्छा नहीं करता, उसकी इच्छा तो शुद्धात्मानुभव की है, पुण्य की नहीं। और जो पुण्य की इच्छा करता है उसे पुण्य मिलता भी नहीं है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४१२ में कहा है—"पुण्णासाए न पुण्ण जदो णिरिहस्स पुण्ण सपती"—पुण्य की इच्छा करने वाला पुण्य को प्राप्त नहीं होता आर जो निरीह है उसी को पुण्य सपत्ति प्राप्त होती है। सम्यग्दृष्टि पुण्य को बध का कारण समझता है। इसीलिए उसे पुण्य-पाप दोनों समान हैं। लेकिन कब? पप्रटी २।५५ में कहा है—यदि समाधि में स्थित हैं तो पुण्य-पाप समान हैं यह कहना ठीक है, लेकिन जो समाधि को प्राप्त नहीं आर पुण्य छोड बैठे तो उभयभ्रष्ट है। अन्य पाप कार्य तो करता है आर पुण्य को जो बुद्धिपूर्वक करना टालता है उसको पुण्य ही नहीं है ऐसा कहा है।

पुण्यपरपरा से मोक्ष का कारण है—"सम्यग्दृष्टे पुण्य न भवति—ससारकारणम् नियमात्। मोक्षस्य भवति हेतु यदि च निदान न करोति। आवश्यकादि कर्म वैयावृत्य दानपूजादि यत्करोति सम्यग्दृष्टिस्तत्सर्व निर्जरा निमित्तम्।" सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से ससार का कारण नहीं होता। यदि निदान नहीं करता तो नियम से मोक्ष का कारण है। आवश्यक आदि या वैयावृति या दानपूजा जो भी सम्यग्दृष्टि करता है वह उसकी निर्जरा के निमित्त होती है। इसीलिए सम्यग्दृष्टि कर्म में रहकर भी मुक्त है। शास्त्रों में इसके लिए अरतिभाव से मदिरा पीने वाला (स सा १९६), कमलिनीपत्र (भा पा १५४), सुवर्ण (अ यो सा १।१९), जली हुई रज्जु (भा पा १५२) कोरे घडे पर की रज (द पा टी ७।७) आदि उपमाएँ दी गई है।

> पुण्णेण होइ विहवो, विहवेण मओ, मएण मइ मोहो।
> मइ मोहेण य पाव ता पुण्ण अह मा होउ॥६०॥अ २॥प प्र॥

अर्थात् पुण्य से वैभव होता है, वैभव से मद होता है, मद से मोह होता है, मोह से पाप होता है, इसीलिए वह पुण्य मुझे मत हो।

'वह पुण्य का वैभव मुझे न हो' ऐसा विचार करता है पर पुण्य का निषेध नहीं करता

है। टीका मे ब्रम्ह देवसूरि कहते हैं—जो पूर्वभव में उपार्जित कर्म है वह मद अहकार जनाता है, बुद्धि विनाश करता है। सम्यक्त्वादि गुण सहित पुण्य ऐसा नहीं करता। जैसा भरत, सागर, राम, पाण्डव आदि का पुण्य। यदि पुण्य सर्वथा मद उत्पन्न करता है ऐसा कहते हो तो वे पुण्यभाजन होकर मद अहंकारादि विकल्प छोडकर मोक्ष कैसे गये?

देह सत्थह मुणिवरह जो विद्वेसु करेइ।
णियमे पाव हवेइ तसु जे ससारू भमेइ॥६२॥पप्र ॥२॥

सम्यग्दृष्टि सर्वथा अबन्धक है ऐसा भी नहीं—समयसार गाथा १९३ की तात्पर्यवृत्ति में शका उठायी है। रागद्वेपादिक के अभाव में निर्जरा होती है सम्यग्दृष्टि के तो रागद्वेष होते हैं तो वह कैसे निर्जरा का कारण है? आचार्यदेव कहते हैं, जितनी चौकडीयों का अभाव है उतनी अपेक्षा अविरत या देशविरत की वीतरागता है और सवर निर्जरा है। स सा कलश १३५ में अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं "ज्ञानवैभव वीतरागता बलात् सेवकोऽपि तदसावसेवक ॥" सम्यग्दृष्टि को ज्ञान वैभव और वैराग्य, बल होने से वह विषयों का सेवक होते हुये भी उनका असेवक है। आचार्य कहते हैं—

"सम्यग्दृष्टेर्भवति नियत ज्ञानवैराग्य शक्ति ।"

सम्यग्दृष्टि की विपयों में निरर्गल प्रवृत्ति नहीं है—अतएव सम्यग्दृष्टि अपने को अबंधक मानकर विपयो में निरर्गल प्रवृत्ति नहीं कर सकता क्योंकि उसके पास नियम से ज्ञान वैराग्य शक्ति है। समयसार तात्पर्यवृत्ति १९४ में जयसेनाचार्य कहते है—जिस तरह कोई तस्कर मरण की इच्छा तो नहीं करता है तथापि कोतवाल के द्वारा पकडा जाने पर मरण को प्राप्त करता है उसी तरह सम्यग्दृष्टि आत्मोत्थ सुख को ही उपादेय मानता है। विषयसुख को हेय मानता है। तथापि चारित्र मोहरूप कोतवाल से ग्रसित होकर वैसे ही भावों को प्राप्त होता है। लेकिन जितने अश में सम्यक्त्व है उतने अश में विशुद्धि होने से उससे भाव सवर-निर्जरा के कारण हैं।

इस लेख के अन्त मे, अनुप्रेक्षा के उस उद्धरण का, जो सप्रति विवादास्पद है, उसका परामर्श लेना अनुचित नहीं होगा।

ज जस्स जम्मि देसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्हि।
णादं जिणेण णियद जम्म वा अहव मरण वा॥३२१॥

तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्हि।
को सक्केदि चालेदु इदो व अह जिणिदो वा ॥३२२॥

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्व पज्जाए।
सो सद्दिट्ठि सुद्धो जो संकदि सोदु कुद्दिट्ठी॥३२३॥

उक्त गाथाओं का अवतार तो सम्यग्दृष्टि का जिनेन्द्रदेव के प्रति नि शक आस्तिक्य भावना बतलाने के लिए हुआ है। सम्यग्दृष्टि को जिनेन्द्रदेव के वचन पर इतनी श्रद्धा होती है कि जिस जीव के जिस देश में जिस काल में जिस विधान से जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियत रूप से जाना है, उसी काल में उसी विधान से उसी देश में अवश्य होता है, इन्द्र और जिनेन्द्र भी इसे टालने में समर्थ नहीं हैं। इसी प्रकार जो निश्चय से सब द्रव्य और पर्याय (केवली प्रणीत) के प्रति श्रद्धा करता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो ऐसी श्रद्धा नहीं करता वह मिथ्यादृष्टि है—इसका मतलब केवलज्ञान में जो जाना है उसमें किसी काल में परिवर्तन नहीं होता इसीलिए केवली प्रणीत वस्तु व्यवस्था पर श्रद्धान करने वाला सम्यग्दृष्टि है और उसके विपरीत जो शंका करता वह मिथ्यादृष्टि है।

लेकिन इस गाथा का सबध-उपादान में जो जिस समय में होने वाली पर्याय वह उस समय में नियत होगी, ऐसा अर्थ करके ऐसी क्रमबद्धता पर विश्वास करना सम्यक्त्व का लक्षण कहा जाता है। यह तो सच है कि जो वस्तु का रूप है सो केवली ने जाना लेकिन वस्तु व्यवस्था में क्रम अन्तरग और बहिरंग साधन से नियमित हैं। केवली के ज्ञान में उपादान की तरह अन्य कारण कलाप भी झलकता है—इसीलिए वे क्रमनियमित पर्याय के ज्ञायक हैं। उपाधि निरपेक्ष क्रमबद्धता मानना उपादान-नियति एकान्त है।

सम्यग्दृष्टि भाव असख्यात है, उसकी महिमा अपार है और हमारी मति अल्प है—इसमें कोई दोप हो तो सद्‌गूरू कृपा से सुधार हो जाये—बस हमें तो आगम प्रमाण है, गुरू आज्ञा प्रमाण है।

सम्यग्दर्शन : विश्लेषणात्मक विवेचन

❑ डॉ. लालचन्द जैन, वैशाली

'सम्यग्दर्शन' का दर्शनशास्त्र और तर्क की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक निकाय की अपेक्षा अवैदिक निकाय में और उसमें भी जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन को मोक्ष की पहली सीढी कहा गया है। दौलतराम जी ने अपनी अनुपम कृति 'छहढाला' की तीसरी ढाल में कहा भी है—"मोक्षमहल की प्रथम सीढी या बिन ज्ञान चरित्रा, सम्यकता न लहै सो दर्शन धारौ भव्य पवित्रा।" आचार्य कुन्दकुन्द ने भी इसे धर्म का मूल कहा है। उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र (१.१) में मोक्ष प्राप्ति का जो मत्र बतलाया है उसमें सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन को रखा है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए सर्व प्रथम योग्यता सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का होना है। सम्यग्दर्शन के होने पर ही सम्यग्ज्ञान हो सकता है और सम्यग्ज्ञान के होने पर सम्यक्चारित्र के होने की सम्भावना होती है। इसलिए दर्शनपाहुड में कहा गया है कि "जो सम्यग्दर्शन से रहित है, वह वन्दना करने योग्य नहीं है।" जो दर्शन से भ्रष्ट है वे वास्तव में भ्रष्ट हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति को मोक्ष नहीं मिलता है। सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट सिद्ध हो सकते हैं लेकिन दर्शन से भ्रष्ट लोग सिद्ध नहीं हो सकते।[२] जो सम्यक्त्व रूपी रत्न से भ्रष्ट हैं वे अनेक शास्त्रों के जानकार होने पर भी आराधनाओं से रहित होने के कारण ससार में भ्रमण करते रहते हैं। सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति को हजारों-करोंडों वर्षों तक भली भातिपूर्वक उग्र तपस्या करने पर भी बोधिलाभ नहीं होता है। जिसके हृदय में निरन्तर सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह होता रहता है उसके बधी हुई कर्म रूपी बालु का आवरण नष्ट हो जाता है। जो दर्शन से भ्रष्ट है वे ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट हैं। वे भ्रष्टों के भ्रष्ट हैं और दूसरों को भी भ्रष्ट कर देते हैं। जैसे जड के नष्ट होने पर वृक्ष के परिवार की वृद्धि नहीं होती है, उसी प्रकार से सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति मूल धर्म से च्युत होने के कारण सिद्ध नहीं होते हैं। जैसे जड से शाखादि परिवार सहित अनेक गुणा स्कन्ध हो जाता है वैसे ही मोक्षमार्ग रूपी वृक्ष की जड सम्यग्दर्शन है[३]।

सम्यक्त्व के बिना व्रत आदि का होना सम्भव ही नहीं है। पं मेधावी ने कहा भी है— "जिस तरह मकान की मजबूती नीव पर और वृक्षों की सुदृढता जड पर निर्भर होती है, उसी प्रकार व्रत आदि का मूल कारण सम्यक्त्व है।" सम्यक्त्व के होने पर ही व्रत सफल होते हैं और सम्यक्त्व रहित जीव के व्रत आदि उसी प्रकार व्यर्थ हैं जिस प्रकार अंक (अर्थात् एक, दो आदि) के बिना बिन्दु (शून्य) व्यर्थ होता है।[४] अमितगति ने भी कहा है कि "सम्यक्त्व रूपी जल के सींचने से यम-संयम आदि उसी तरह बढते हैं जिस तरह निर्मल मेघ-जल से पौधों

के सिंचन से फलों की वृद्धि होती है।[५] सोमदेवसूरि ने गृहस्थ और मुनि दोनों को सम्यक्त्वी होना अनिवार्य बतलाया है। दूसरे शब्दों में, सम्यक्त्व के बिना जीव गृहस्थ और मुनि नहीं हो सकता है।[६] भावपाहुड में भी ताराओं में चन्द्रमा और पशुओं में सिंह के समान मुनि और गृहस्थ धर्म में सम्यक्त्व को प्रधान बतलाया गया है।[७] सम्यग्दर्शन से रहित जीव की मुक्ति कभी भी नहीं हो सकती चाहे वह व्रतों का कितना ही पालन करें।[८] दर्शनपाहुड[९] में सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति को जीवित मुर्दा कहा गया है।[10] यही कारण है कि सम्यक्त्व का विस्तृत विवेचन श्रावकाचारों और अनागार प्ररूपक ग्रथों में उपलब्ध है। अत इस महत्त्वपूर्ण सम्यक्त्व का स्वरूप विवेचन प्रस्तुत करना अनिवार्य है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

अन्य तत्त्वों की तरह सम्यक्त्व का भी वर्णन नय प्रणाली से करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चयनय से आत्मा को ही सम्यग्दर्शन कहा है।[११] अर्थात् शुद्ध आत्मा की उपलब्धि सम्यग्दर्शन है। पचाध्यायी में भी यही कहा गया है।[१२] कुछ आचार्यों ने आत्मा और पर अर्थात् आत्मा से भिन्न पदार्थों की यथार्थ प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है।[१३] इसी प्रकार शुद्धात्मा की रुचि होने को भी सम्यक्त्व कहा गया है।[१४] द्रव्यसग्रह टीका में अतीन्द्रिय सुख में श्रद्धान करने को सम्यक्त्व बतलाते हुए कहा गया है—"शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम हर्षस्वरूप सुख रूपी अमृत का स्वाद ही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है, इन्द्रियों से उत्पन्न सुख त्यागने योग्य है। इस प्रकार की रुचि और वीतराग चारित्र के होने पर ही होने वाला वीतराग सम्यक्त्व ही निश्चय सम्यक्त्व है।[१५] प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका[१६] में भी यही कथन उपलब्ध है। उपर्युक्त परिभाषाओं से जिनमें मात्र शाब्दिक भेद है, सिद्ध है कि शुद्ध आत्मा की उपादेय रूप भावना (श्रद्धान-रुचि) ही निश्चय सम्यक्त्व है।

व्यवहार नय की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का जो स्वरूप जैन वाङ्मय में उपलब्ध है उसका वर्गीकरण निम्नांकित भागों में किया जा सकता है—

(क) तत्त्वार्थ आदि के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है आचार्य कुन्दकुन्द एव उमास्वामी और उनके टीकाकारों ने जिनोपदिष्ट जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल इन छह द्रव्यो,[१७] जीव, अजीव, आस्रव, पुण्य, पाप, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन नौ पदार्थों,[१८] जीवास्तिकाय, पुद्गल-अस्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय[१९] इन पाच अस्तिकाय और जीव, अजीव, आस्रव, बध सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करने को व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन कहा है।[२०] उक्त कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप से भिन्न विपरीत स्वभाव रूप का श्रद्धान करना एवं जिनेन्द्र देव के अलावा अन्य के द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों का श्रद्धान

करना सम्यग्दर्शन नहीं है।[21]

(ख) तत्त्व-रुचि सम्यग्दर्शन है मोक्षपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द ने तत्वों में रुचि रखने को सम्यग्दर्शन कहा है।[22]

(ग) तत्त्वों में हेय-उपादेय बुद्धि रखना जिनोपदिष्ट तत्त्वों, द्रव्यों एव पदार्थों में ग्रहण और त्यागने योग्य रूप ज्ञान का होना सम्यग्दर्शन है।[23] यथा सात तत्त्वों में जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय और अजीव, आस्रव और बन्ध त्यागने योग्य (हेय) हैं।[24]

(घ) देव-शास्त्र-गुरु और धर्म का श्रद्धान करना आचार्य कुन्दकुन्द, कार्तिकेय, समन्तभद्र आदि आचार्यों ने परमार्थ स्वरूप देव, शास्त्र, गुरु और धर्म में श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहा है। मोक्षपाहुड में कहा गया है कि हिंसादि रहित धर्म, अठारह दोषो[25] (भूख, प्यास, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, बुढापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म और उद्वेग) से रहित देव, निर्ग्रन्थ और प्रवचन (मोक्ष मार्ग) में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।[26] नियमसार (गाथा ५) में भी कहा गया है कि आप्त, आगम और तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। कात्तिकियानुप्रेक्षा (गाथा ३१७) में भी कहा गया है कि अर्हन्त, निर्दोष देव, दया, उत्कृष्ट धर्म और निर्ग्रन्थ को गुरु मानने वाला सम्यग्दृष्टि है। रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में आठ अंग सहित, तीन मूढता रहित एवं आठ मद रहित पारमार्थिक आप्त, शास्त्र और गुरु का श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहा गया है। सम्यग्दर्शन की इन परिभाषाओं का विश्लेषण किये बिना सम्यग्दर्शन का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सकता है। अत उनका विवेचन प्रस्तुत है—

आप्त भूख, प्यास आदि अठारह दोषों से रहित, सर्वज्ञ और आगम का स्वामी आप्त कहलाता है।[27] आप्त, राग, द्वेष, मोह से रहित, केवलज्ञान से युक्त और हितोपदेशी होता है।[28] आप्त को परमात्मा, परमेष्ठी, परज्योति, विरागी, विमल, कृतकृत्य, सर्वज्ञ आदि भी कहा जाता है।[29] आप्तमीमासा, अष्टसहस्री आदि में इसका विशद विवेचन उपलब्ध है।

शास्त्र (आगम) परोपकारार्थ वीतराग आप्त का वचन शास्त्र या आगम कहलाता है। आगम अनुल्लघनीय (खण्डन), प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से अविरोधी तत्त्वों का उपदेश करने वाला, सबका हितकारी और मिथ्यामार्ग का निराकरण करने वाला होता है।[30]

गुरु गुरु का अर्थ महान् होता है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा गया है कि जो विषयों की आकाक्षा से रहित हैं अर्थात् इन्द्रियों के स्पर्श आदि विषयों के भोगने की जिनकी आकाक्षा नहीं है, जो आरम्भ[31] रहित है अर्थात् प्राणियों को दु ख पहुँचाने वाली प्रवृत्ति (कृषि आदि करना) नहीं करते हैं, बाह्य और आन्तरिक परिग्रह से रहित और ज्ञान, ध्यान एवं तप रूपी रत्नों से जो युक्त है वह गुरु कहलाता है।[32]

तीन मूढताएँ

मूर्खतावश प्रवृत्ति आदि करना मूढता कहलाती है। मूलाचार में सम्यग्दर्शन का घात (विनाश) करने वाले कार्य को मूढता कहा गया है।[33] आचार्य समन्तभद्र ने तीन प्रकार की मूढता बतलाई है—१ लोकमूढता, २. देवमूढता और ३. पाखण्डि मूढता।

१. लोकमूढता मूर्खतावश लौकिक कार्यों में प्रवृत्ति करना लोकमूढता है। कुटिलतावश दिये गये उपदेश (चार्वाक, चाणक्यनीति आदि), हिसक यज्ञादि प्ररूपक शास्त्रों में धर्म समझने को लोकमूढता कहा गया है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि धर्म समझ कर नदियों और समुद्र में प्रातकाल स्नान करना, बालू और पर्वत के ढेर लगाना, पर्वत से गिरना और अग्नि में प्रवेश करना लोकमूढ़ता है।[34] इसी प्रकार जल में प्रवेश करके मरना, गाय की पूछ पकड कर मरना, पृथ्वी, अग्नि, वटवृक्ष आदि की पूजा आदि को पुण्य समझ कर करना भी लोकमूढता है।[35]

२. देवमूढता इस लोक सम्बन्धी वरदान पाने की आशा से दूषित देवों की आराधना करना देवमूढ़ता है।[36] ब्रह्मदेव ने कहा भी है कि वीतराग सर्वज्ञ देव के स्वरूप को न समझ कर प्रसिद्धि, सम्मान, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री, राज्य आदि सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए राग-द्वेष युक्त आर्त्त और रौद्र ध्यान का परिणमन करने वाले चण्डिका आदि मिथ्या देवों की आराधना करना देवमूढता है।"[37]

३ पाखण्डि मूढता इसे समय-मूढता भी कहा गया है।[38] पाखण्डि का अर्थ गुरु होना है। अत गुरु सम्बन्धी विवेकहीनता पाखण्डि मूढता कहलाती है। दासी-दास आदि परिग्रह, आरम्भ और प्राणी आदि हिंसा से युक्त और ससार के कारणभूत कार्यों में सलग्न कुसाधुओं को सम्मानित आदि करना पाखण्डि मूढता है।[39] द्रव्यसग्रह की टीका में भी कहा है "अज्ञानी मनुष्यों को चमत्कार (आश्चर्य) उत्पन्न करने वाले ज्योतिप, मन्त्रवाद आदि से युक्त देख कर वीतराग धर्म को छोड कर, मिथ्यादृष्टि देव के आराधक मिथ्याशास्त्र को मानने वाले, खोटा तप करने वाले, कुलिंगी (कुसाधु) का भय आशा, स्नेह, और लोभ के वशीभूत होकर प्रणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदि करना समय-मूढता है।

उपर्युक्त तीन मूढताओं के अतिरिक्त मूलाचार में वैदिक मूढता भी बतलाई गयी है। हिसा के प्रतिपादक ऋग्वेद आदि में श्रद्धा रख कर उसे धर्मयुक्त मानना वैदिक मूढता है।

सम्यग्दर्शन लोकमूढता आदि मूढताओं से रहित होने पर ही होता है। मूढताओं के रहने पर सम्यग्दर्शन दूषित हो जाता है। इसलिए इन मूढताओं को हेय बतलाया गया है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र आदि ने सम्यग्दर्शन के आठ अग अथवा गुण निम्नाकित बतलाये हैं—१ नि शकित, २ नि कांक्षित, ३ निर्विचिकित्सा, ४ अमूढदृष्टि, ५ उपगूहन, ६ स्थितिकरण, ७ वात्सल्य और ८ प्रभावना।

१ नि शकित नि शकित का अर्थ है शका रहित होना। जिनोपदिष्ट तत्त्वों के स्वरूप में शका करना सम्यग्दर्शन का दोष है और उनमें शका न करना नि शकित अग है। यदि पारमार्थिक दृष्टि से विचार किया जाय तो सम्यग्दृष्टि जीव उद्वेग रहित अर्थात् इस लोक सम्बन्धी एव परलोक सम्बन्धी अरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना आदि इन सात भयों से रहित (निर्भीक) होते हैं।[४०] लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से नि शकित गुण का स्वरूप बतलाते हुए आचार्यों ने कहा है कि जिनोपदिष्ट तत्त्वों, पदार्थों के स्वरूप में यह ऐसा है या अन्य प्रकार है इस प्रकार की शंका न करके ऐसा ही है इस प्रकार से दृढ श्रद्धा रखना नि शकित गुण है।[४१]

२ नि काक्षित नि + काक्षा का अर्थ है आशा या इच्छा (अभिलाषा) से रहित होना। राजा, चक्रवर्ती, सेठ आदि बनने की इच्छा इस लोक सम्बन्धी अभिलाषा है, देव आदि बनने और उनके सुखो को भोगने की अभिलाषा परलोक सम्बन्धी अभिलाषा है और जैनेतर धर्म (बौद्ध, चार्वाक, तापस आदि) की इच्छा कुधर्माभिलाषा कहलाती है। इन तीन प्रकार की अभिलाषाओं की पूर्ति कर्मों के अधीन होती है। अत इन अभिलाषाओं से रहित होना नि काक्षित गुण है।[४२] सम्यग्दृष्टि इन अभिलाषाओं से रहित होता है क्योंकि उपर्युक्त अभिलाषाओं की पूर्ति से उत्पन्न सुख या पद अनित्य, दु खदायक और पाप के कारण होते हैं। स्वामी कार्तिकेय ने कहा भी है कि मोक्ष का इच्छुक जो व्यक्ति कठोर तपश्चरण (ज्ञान, पूजा आदि) के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति के लिए धर्म का आचरण नहीं करता है उसके नि काक्षित गुण होता है।[४३] पारमार्थिक रूप से इन्द्रिय विषयों को छोड कर आत्मा से उत्पन्न सुखरूपी अमृतरस के पान करने में सन्तुष्ट होना नि कांक्षित गुण है।[४४]

३ निर्विचिकित्सा निर्विचिकित्सा का शाब्दिक अर्थ होता है घृणा से रहित होना। तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह शरीर अशुभ पदार्थो से युक्त होने के कारण अपवित्र है, लेकिन सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय से जो शरीर शुद्ध है उसमें घृणा न करके उन गुणों में प्रेम करना निर्विचिकित्सता है।[४५] मूलाचार में कहा गया है कि साधुओं के शरीर से निकले विष्ठा मल, मूत्र, कफ नाक का मल, चाम, हाड, पीव, मांस, खून, वमन, लार आदि को देख कर ग्लानि न करना निर्विचिकित्सता है।

४ अमूढदृष्टि मूढ का अर्थ अविवेक है। अत अमूढ का अर्थ विवेक है। अमूढदृष्टि का अर्थ हुआ विवेकपूर्ण दृष्टि। सम्यग्दृष्टि जीव अन्धविश्वासी नहीं होता है। किसी कुमार्ग या कुमार्ग में स्थित जीव की मन, वचन और काय से प्रशसा न करना अमूढदृष्टि अग कहलाता

है। मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र कुमार्ग कहलाता है और उसका पालन करने वाला मिथ्यादृष्टि कहलाता है। निश्चय नय की दृष्टि से समस्त भावों में अमूढ होना अर्थात् विवेक (परीक्षा) के द्वारा तत्त्वों एव भावों का निर्णय कर रागादि भावों को छोडकर शुद्ध चैतन्य स्वरूप निश्छल रहना अमूढदृष्टि है।[४६]

५. उपगूहन उपगूहन का अर्थ होता है छिपाना। जो धर्मात्मा जीव बाल्यावस्था, वृद्धावस्था, अथवा रुग्णावस्था में निर्मल धर्म (जैन धर्म) में अभिमत व्रतों का या रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग का निरतिचारपूर्वक पालन करने में असमर्थ है, यदि उसकी कोई निन्दा करे तो उसका निराकरण करना (दोषों को छिपाना) उपगूहन गुण है।[४७]

स्वामी कार्तिकेय ने कहा है कि जो दूसरे के दोषों को गुप्त रखता है और अपने सुकृत गुणों को प्रकट नहीं करता और भवितव्य की भावना में लीन है उसे उपगूहन गुण वाला कहा जाता है। समयसार में पारमार्थिक दृष्टि से उपगूहन की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सिद्धभक्ति से युक्त न होकर अन्य धर्मों (जैनेतर धर्मों से अथवा रागादि व्यवहार धर्मों) से अपनी आत्मा को बचाना उपगूहन अग है।[४८]

इस अंग को उपबृंहण भी कहते हैं, जिसका अर्थ होता है बढाना। अत उत्तम क्षमादि भावनाओं के द्वारा आत्म धर्म की वृद्धि करने को अकलकदेव ने उपबृहण गुण कहा है।[४९] पचाध्यायी (२.७७८) में आत्मशुद्धि में कमी न आने देने को उपबृहण अग कहा गया है।

६ स्थितिकरण स्थितिकरण का अर्थ है स्थिर करना या स्थापित करना। तात्पर्य यह है कि यदि कोई जीव किसी प्रमाद या कर्मोदय के कारण सम्यग्दर्शन अथवा चारित्र मे या दोनों से भ्रष्ट हो गया हो तो उसके दोषों को दूर कर दयाभाव, आगम के उपदेश द्वारा पुन उसे उसी सम्यक्मार्ग में स्थिर करना स्थितिकरण अग कहलाता है।[५०] पारमार्थिक दृष्टि से क्रोधादि कषायों के कारण उन्मार्ग (कुमार्ग) में जाती हुई आत्मा को धर्म के मार्ग में स्थापित करना या धर्म से च्युत न होने देना स्थितिकरण कहलाता है।[५१]

७ वात्सल्यअग—वात्सल्य का अर्थ होता है बच्चे के समान स्नेह रखना। जिस प्रकार सद्य प्रसूता गाय अपने नवजात बच्चे से प्रेम करती है उसी प्रकार अपने सधर्मी बन्धुओं में निष्कपटपूर्वक, सद्भावपूर्वक आदर, सत्कार आदि के द्वारा यथायोग्य स्नेह करने को समन्तभद्र ने वात्सल्य गुण कहा है। मूलाचार में भी यही कहा गया है। पचाध्यायी में कहा गया है कि जिस प्रकार उत्तम सेवक मालिक के कार्य करने में स्नेह और सम्मान भाव रखता है उसी प्रकार सिद्ध, जिनबिम्ब, जिनमन्दिर और मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप सघ और शास्त्रों में दासत्व भाव रखना वात्सल्य अग है।[५२] पारमार्थिक दृष्टि से जिनोपदिष्ट मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन रत्नत्रय में अनुराग रखने को कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने वात्सल्य अंग कहा है।[५३]

८. प्रभावना अंग प्रभावना का अर्थ है प्रकाशित करना। आगम के अनुसार उपदेश देकर जिनोपदिष्ट धर्म को प्रकाशित करना प्रभावना है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि जैनेतर लोगों में जैन धर्म के प्रति फैल रहे अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर अपनी शक्ति के अनुसार जैन धर्म के माहात्म्य को प्रकाशित करना प्रभावना है। मूलाचार में कहा है कि कथादि कह कर, निर्दोष तप कर, जीवों पर दया और अनुकम्पा कर (जैन) धर्म की प्रभावना करना चाहिए। पारमार्थिक दृष्टि से सम्यग्दर्शनादि के द्वारा आत्मा की शुद्धता को प्रगट करना, प्रकाशित करना या अनुभव करना प्रभावना है।[५४]

सम्यग्दर्शन के उपर्युक्त अगों को आचार्यों ने गुण भी कहा है। पंचाध्यायी में लक्षण, गुण और अंग को एकार्थक कहा गया है।[५५] सम्यग्दर्शन के इन अगों में से किसी अंग के अभाव में सम्यग्दर्शन यह ससार नष्ट करने में उसी प्रकार समर्थ नहीं है, जिस प्रकार कुछ अक्षरों से रहित अशुद्ध मन्त्र विष की वेदना नष्ट करने में असमर्थ होता है।[५६]

आठ मद—मद का अर्थ नशा होता है। जिस प्रकार नशा करने से उन्मादकता आ जाती है और उन्मादी व्यक्ति विवेकहीन हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर (की क्लान्ति) के घमण्ड से उन्मादित होकर विवेकहीन हो जाना अर्थात् अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मानना मद है।[५७] मूलाचार अनगार आदि आचार विषयक ग्रन्थों में कुछ शब्दों के हेर-फेर के साथ विज्ञान, ऐश्वर्य, आज्ञा, कला, बल, तप, रूप और जाति को मद कहा गया है। इन आठ मदों का स्वरूप परिचय निम्नांकित है

ज्ञानमद—मैं ज्ञानवान् हूँ, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता हूँ ऐसा मानना ज्ञानमद है।

पूजामद—राजा-महाराजा मेरे सेवक हैं, मैं सम्माननीय हूँ, इस प्रकार सोचना पूजा या प्रतिष्ठामद है।

कुलमद—मेरा कुल (पिता का पक्ष) श्रेष्ठ है, वह ब्रह्म हत्या और ऋषि हत्या के दोष से दूषित कभी नहीं हुआ है, इस प्रकार सोचना या कहना कुलमद है।

जातिमद—मेरी माता का पक्ष श्रेष्ठ ऊँचा है, वह सघपति की पुत्री है, शील में सीता, सुलोचना आदि के समान है, यह जातिमद है।

ऋद्धिमद या ऐश्वर्यमद—धन-सम्पत्ति का गर्व करना।

बलमद—मैं बहुत बलशाली हूं, मेरी करोड़ों सेना है, यह बलमद है।

तपमद—मैं बहुत उपवास आदि तपों को करता हूं, मैंने अनेकों वर्ष तप किया है, यह तपमद है।

शरीरमद स्वस्थ, सुन्दर और बलिष्ठ शरीर का घमण्ड करना शरीरमद है।

इन आठ मदों के अभाव में ही सच्चा सम्यग्दर्शन सम्भव है। जो ज्ञान आदि मदों से घमडित

होकर रत्नत्रय रूप धर्मस्थित लोगों को अपमानित या तिरस्कृत करता है वह जिनोपदिष्ट धर्म का तिरस्कार करता है। क्योंकि धर्मी के बिना धर्म सम्भव नहीं है। धर्मी का अपमान करने से धर्म का अपमान हो जाता है। इसलिए सम्यक्त्व के इच्छुक प्राणी को यह सोचना चाहिए कि यदि पाप कर्मों का आना रुक गया है तो कुल, जाति आदि रूप सम्पत्ति व्यर्थ है और पापकर्म का आस्रव हो रहा है तो भी अन्य उपर्युक्त आठ प्रकार की मद रूप सम्पत्ति व्यर्थ है। क्योंकि पाप कर्मों का फल भोगना पडेगा। इस प्रकार चिन्तन करने से आठ मदों का अभाव हो जाता है।

सम्यग्दर्शन के दोष—जो सम्यग्दर्शन निर्दोष होता है वही फल प्रदान करने वाला होता है। आचार्य उमास्वामी ने शका, काक्षा, विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशसा[५८] (मिथ्यादृष्टि के ज्ञान और चारित्र गुणों का मन से कथन (उद्‌भावन) करना और अन्यदृष्टि-सस्तव (मिथ्यादृष्टि में जो गुण हैं या जो गुण नहीं है उनके होने का कथन करते हुए प्रशसा करना) ये पाच दोष बतलाये हैं। इन्हें आगमिक शब्दावली में अतिचार कहते हैं।

इसके अलावा यशस्तिलकचम्पू आदि मे तीन मूढताओं, आठ मद, छह अनायतन और शका, काक्षा आदि (आठ गुणों से विपरीत) सम्यग्दर्शन के २५ दोष बतलाये गये हैं।[५९] मूढताओं, मद और आठ शकादि (गुण से उल्टे) का स्वरूप विवेचन किया जा चुका है। यहाँ छह अनायतन पर विचार कर लेना भी आवश्यक है।

छह अनायतन सम्यक्त्वादि गुणों का निमित्त आयतन है और जो सम्यग्दर्शन का निमित्तभूत आधार नहीं है, वह अनायतन है। अनायतन छह हैं—(१) मिथ्यादेव, (२) मिथ्या देवों के आराधक, (३) मिथ्यातप, (४) मिथ्या तपस्वी, (५) मिथ्या शास्त्र और (६) मिथ्याशास्त्रों के धारक। चारित्तपाहुड की टीका[६०] में श्रुतसागर ने कहा है "कुदेव, कुगुरु एव कुशास्त्र ओर इनके उपासकों के यहो आने-जाने को आगमकारों ने षडअनायतन कहा है। प्रभाचन्द्र कहते हैं कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और इन तीनों के धारक षडअनायतन हैं। अथवा १-असर्वज्ञ, २- असर्वज्ञ का मन्दिर, ३- असर्वज्ञ ज्ञान, ४-असर्वज्ञ ज्ञान के धारक, ५-असर्वज्ञानुष्ठान और ६- असर्वज्ञ-ज्ञान अनुसार आचरण करने वाले पुरुष—ये छह अनायतन हैं।

उपर्युक्त दोषों से रहित और गुण सहित सम्यग्दर्शन ही कल्याणकारी है। इससे उत्कृष्ट कल्याण करने वाला इस ससार मे अन्य कुछ नहीं है। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्र ने सम्यक्त्व सहित गृहस्थ को सम्यक्त्व रहित मुनि मे उत्कृष्ट कहा है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति

सम्यग्दर्शन कैसे होता है अर्थात् उसकी उत्पत्ति किन-किन साधनों से होती है, इसका जैन वाड्मय में गम्भीर विवेचन हुआ है। यहाँ उन पर संक्षिप्त विचार कर लेना आवश्यक है।

जिसके बिना कार्य सम्पन्न नहीं होता है वह कारण कहलाता है। कारण दो प्रकार का होता है—१. उपादान कारण और २ निमित्त कारण।

१. उपादान कारण स्वय कार्य रूप में परिणमित होने वाला उपादान कारण कहलाता है। जैसे घडे का उपादान कारण मिट्टी है। मिट्टी घडे के रूप में बदल जाती है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में उपादान कारण वह आत्मा है जो भव्य हो, विशुद्ध परिणामी हो, जागता हुआ हो, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि इन तीन निद्राओं से रहित हो, पर्याप्तक और ज्ञानी हो।[६१] इस कथन से स्पष्ट है कि भव्य जीव को ही सम्यग्दर्शन हो सकता है चाहे वह किसी गति का हो। अभव्य जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार संज्ञी जीव ही सम्यक्त्व प्राप्त करने का अधिकारी है, असज्ञी जीव कभी भी सम्यक्त्व नहीं प्राप्त कर सकता है। सम्यक्त्व वही भव्य, सज्ञी जीव प्राप्त कर सकता है जो प्रति समय कर्महानि होने से विशुद्ध परिणामी हो, शुभ लेश्यामयी हो, जागृत हो, पर्याप्तक हो क्योंकि अपर्याप्तक जीव के सम्यग्दर्शन नहीं होता है। सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए ज्ञानी होना आवश्यक है अर्थात् साकार (ज्ञान) उपयोग होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है, दर्शनोपयोग में कभी भी इसकी प्राप्ति नहीं होती है। अन्तिम योग्यता यह है कि वही भव्य, सज्ञी, विशुद्ध परिणामी, पर्याप्तक, ज्ञानी जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है, जिसका संसार का अन्त शीघ्र होने वाला है।[६२]

२ निमित्त कारण सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में जो सहायक हैं वे उसके निमित्त कारण हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के निमित्त कारण दो प्रकार के हैं (क) अन्तरग कारण, और (२) बहिरंग या बाह्य कारण।

(क) अन्तरग कारण सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अन्तरग निमित्त कारण प्रधान माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम और उपशम को अन्तरंग कारण बतलाया है।[६३] पूज्यपाद, भट्ट अकलकदेव ने भी यही कहा है।[६४] मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और चार प्रकार की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन मोहनीय कर्म की इन सात प्रकृतियों के उदय के कारण सम्यक्त्व की उत्पत्ति में बाधा होती है। इसलिए आचार्यों ने इनके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति बतलाई है।

लब्धि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए बतलाए गये अन्तरग कारणों में करण लब्धि को आचार्यों ने महत्वपूर्ण माना है।[६५] इसलिए यहाँ पर लब्धि पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

'लब्धि' का अर्थ प्राप्त करना है। अत लब्धि वह शक्ति है जिस के द्वारा सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। लब्धि पाँच प्रकार की है—१ क्षयोपशम, २ विशुद्धि, ३. देशना, ४. प्रायोग्य और ५. करणलब्धि।

१ क्षयोपशम-लब्धि पूर्वसचित कर्मों के मल रूप पटल के अनुभाग स्पर्धकों की विशुद्धि

के द्वारा प्रतिसमय अनन्त गुणे हीन होते हुए उदीरणा होने पर प्राप्त होने वाली शक्ति क्षयोपशम लब्धि कहलाती है।[६६]

२ विशुद्धि-लब्धि क्षयोपशम लब्धि से होने वाला आत्मा का शुभ कर्म ग्रहण रूप और अशुभ कर्मों का विरोधी परिणाम विशुद्धि है और उसका प्राप्त होना विशुद्धि लब्धि है।[६७]

३. प्रायोग्यलब्धि समस्त कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को नष्ट (घात) करके अन्तकोडा-कोडी स्थिति में रखना (अपस्थान) प्रायोग्य लब्धि है।

४ देशनालब्धि तत्त्वों का उपदेश देना देशना है। उस देशना के देने वाले आचार्य आदि की उपलब्धि और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण और विचारने की शक्ति के प्राप्त होने को देशनालब्धि कहते हैं।

५ करणलब्धि यहाँ करण का अर्थ भाव या परिणाम है। जिन निर्मल भावों से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है वह करणलब्धि कहलाती है। यह करण-लब्धि अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप होती है।

उपर्युक्त पाँचों लब्धियों में से प्रारम्भ की चार सामान्य हैं क्योंकि वे सभी जीवों के होती हैं। करणलब्धि विशिष्ट है। यह केवल भव्य जीव के होती है और इसी के होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

(ख) बाह्यनिमित्त कारण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में अन्तरंग कारणों से भिन्न सहायक कारण बाह्यनिमित्त कारण कहलाते हैं। तीर्थंकर, केवली, श्रमण, पूर्वजन्म की स्मृति, शास्त्र, देव, महिमादि सम्यग्दर्शन प्राप्ति के बाह्य कारण हैं। पूज्यपाद ने कहा भी है कि पहले से लेकर तीसरे नरक तक के जीवों में किसी को जातिस्मरण, किसी को धर्मश्रवण तो किसी को वेदना के अभिभव (अनुभव) से (अर्थात् वेदना का यह अनुभव कि अमुक वेदना अमुक मिथ्यात्व के कारण है, इससे) होता है। तिर्यंचों एवं मनुष्यों को जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन से होता है। पहले स्वर्ग से बारहवें स्वर्ग तक देवों के जातिस्मरण, धर्मश्रवण, [illegible]-दर्शन और देवर्द्धि-दर्शन से, तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक देवों के देवर्द्धि दर्शन के अलावा शेष तीन कारणों से सम्यग्दर्शन होता है। नौग्रैवेयक वासी देवों के जातिस्मरण और धर्मश्रवण से सम्यग्दर्शन होता है। शेष अनुदिश और अनुत्तर विमानों में सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं इसलिए वहाँ कारणों की अपेक्षा नहीं है।[६८] वीरसेन ने षट्खण्डागम की टीका धवला में इन कारणों का विशेष विवेचन किया है।[६९]

उपर्युक्त बाह्य और आभ्यन्तर कारणों में आभ्यन्तर कारण प्रमुख हैं। बाह्य कारणों से सम्यग्दर्शन हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है, लेकिन आभ्यन्तर कारण से निश्चित रूप से होगा।

निसर्ग और अधिगम कारण

दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम से युक्त[७०] एवं देशना लब्धि (जन्मान्तरों में कभी भी प्राप्त हुई हो) से सम्पन्न जीव के सम्यक्त्व प्राप्ति में उमास्वामी ने दो कारणों का उल्लेख किया है—(१) निसर्ग एव (२) अधिगम।

(१) निसर्ग निसर्ग का अर्थ स्वभाव होता है। जिस सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में स्वभाव के अतिरिक्त अन्य परोपदेशादि निमित्त कारण नहीं होते हैं, उस सम्यग्दर्शन का कारण निसर्ग होता है और निसर्ग से उत्पन्न होने वाला सम्यक्त्व निसर्गज सम्यक्त्व है।[७१] भट्ट अकलंक देव ने उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहा भी है कि जिस प्रकार कुरुक्षेत्र में बाह्य पुरुषार्थ आदि प्रयत्न के बिना कभी सुवर्ण की प्राप्ति हो जाती है उसी प्रकार उपदेश आदि के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति में निसर्ग कारण होता है।[७२] अर्थात् स्वत सम्यक्त्व होता है।

२ अधिगम कारण अधिगम शब्द का अर्थ है पदार्थ का ज्ञान। अत जिस सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में परोपदेशपूर्वक होने वाला पदार्थ-ज्ञान कारण होता है वह अधिगम कारण कहलाता है। जिस प्रकार सुवर्ण पत्थर से तपाना, कूटना, आदि प्रयत्नों से सोना निकाला जाता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञों से भलीभातिपूर्वक तत्त्वों का उपदेश प्राप्त होने पर जो सम्यग्दर्शन होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है।[७३]

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के विविध कारणों का विवेचन करने का उद्देश्य यही प्रकट होता है कि सम्यक्त्व के अभिलाषी जीव इन कारणों को जानकर उनको प्राप्त करे और सम्यक्त्वी होकर निरन्तर कर्मक्षय के लिए प्रयत्न करे। क्योंकि कर्मों का सवर और उनकी निर्जरा सम्यग्दर्शन के बिना सम्भव नहीं है। विभिन्न कारणों से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन विभिन्न प्रकार का होता है। अत यहाँ सम्यग्दर्शन के भेदों का विश्लेषणात्मक विवेचन करना प्रासगिक है।

सम्यग्दर्शन के भेद

सम्यग्दर्शन के भेदों का सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि जैन वाङ्मय में सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध है। वहाँ एक से लेकर अनन्त भेदों का उल्लेख किया गया है। सामान्य से सम्यग्दर्शन के भेद नहीं हो सकते हैं, इसलिए इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार का है। निसर्गज ओर अधिगमज की अपेक्षा दो प्रकार का, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक की अपेक्षा तीन प्रकार का, शब्दों की अपेक्षा सख्यात प्रकार का और श्रद्धान योग्य पदार्थों एव अध्यवसायों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है।[७४] यहाँ सम्यग्दर्शन के प्रमुख भेदों का विवेचन प्रस्तुत करना आवश्यक है।

अध्यात्म की अपेक्षा दो भेद—अध्यात्म की अपेक्षा सम्यग्दर्शन दो प्रकार का होता है (१) सराग सम्यग्दर्शन और (२) वीतराग सम्यग्दर्शन।

(१) सराग सम्यग्दर्शन जो सम्यक्त्व प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य से युक्त होता है, वह सराग सम्यग्दर्शन कहलाता है। सराग सम्यग्दर्शन को भलीभाति समझने के लिए प्रशम आदि को समझना आवश्यक है—

प्रशम—'प्र' का अर्थ उत्कृष्ट होता है और 'शम' का अर्थ है शान्त होना। अत विकारों का अच्छी तरह से शान्त होना प्रशम है। तात्पर्य यह है कि अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि कषायों के अभाव होने से और अन्य कपायों के मन्दोदय होने से जो भाव होता है वह प्रशम भाव कहलाता है।[७५] इस प्रकार का भाव होने से कपायों और विषयों में मन शिथिल हो जाता है और अपराधी जीव को भी मारने की प्रवृत्ति नहीं होती है। प राजमल्ल ने कहा भी है, "पचेन्द्रियों के विपयों में और असख्यात लोकप्रमाण क्रोध आदि भावों के स्वभाव मे मन का शिथिल होना, तत्काल अपराधी जीवों का मारने आदि विकारों का न होना प्रशम है।[७६] सोमदेव ने रागादि दोपों के न होने को प्रशम भाव कहा है।[७७] इसकी निम्नाकित विशेपताए हैं—

(क) प्रशमभाव अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कपायों के अभाव में होता है।

(ख) सम्यक्त्व का अविनाभावी होता है।[७८]

(ग) सभी व्रतों का आभूपण होता है।[७९]

सवेग—सवेग का अर्थ डरना होता है। अत शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक दुखों से युक्त चंचल ससार से भयभीत होना संवेग कहलाता है।[८०] प. राजमल्ल ने जीव में धर्म और धर्म-फल में उत्साह होने, अथवा सधर्मी जनो के प्रति अनुराग होने अथवा परमपद में स्थित रहने वाले अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाच परमेष्ठियों[८१] में प्रीति होने को संवेग कहा है। यद्यपि सवेग का अर्थ निर्वेद होता है, लेकिन सवेग और निर्वेद में अन्तर यह है कि सवेग विधि रूप होता है और निर्वेद निपेध रूप होता है अर्थात् सभी प्रकार की इच्छाओं से रहित भाव निर्वेद है।

अनुकम्पा—अनुकम्पा का सामान्य अर्थ दया या कृपा होता है। अत सभी जीवों के प्रति दया होना अनुकम्पा है। पचाध्यायी में द्वेप (दुश्मनी) रहित हो कर सभी प्राणियों पर अनुग्रह करने, मैत्री भाव, माध्यस्थ भाव रखने और निशल्य युक्त होने को अनुकम्पा कहा गया है।[८२] दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से जीवों में एक दूसरे के प्रति बदले की भावना होती है। अत अहभाव से रहित होकर भूख-प्यास से व्याकुल अथवा दुख से दुखित (पीडित) जीवों को देखकर उनको उस दुख से बचाने के भाव होने को आचार्यों ने अनुकम्पा कहा है।[८३]

अनुकम्पा के भेद स्व और पर की अपेक्षा अनुकम्पा दो प्रकार की है। मिथ्यात्व, माया और निदान काँटे के समान कष्ट देने के कारण शल्य कहलाते हैं। अत मिथ्यात्व शल्य से रहित होना स्वानुकम्पा है, और समस्त प्राणियों के प्रति शम भाव रखना परानुकम्पा है। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में अनुकम्पा के तीन भेद बतलाये गये हैं—(क) धर्मानुकम्पा, (ख) मिश्रानुकम्पा

और (ग) सर्वानुकम्पा।

(क) धर्मानुकम्पा संयम से युक्त और क्षमादि दश धर्मों के धारक जीवों के प्रति दया करना।

(ख) मिश्रानुकम्पा सयतासंयत जीव के प्रति दया भाव रखना।

(ग) सर्वानुकम्पा सम्यग्दृष्टियों और मिथ्यादृष्टियों सभी पर दया भाव रखना।

अनुकम्पा को आचार्यों ने धर्म का मूल कहा है।[८४]

आस्तिक्य स्वत सिद्ध आत्मा, धर्म, धर्म के फल में 'ये है' इस तरह की बुद्धि होना अथवा आप्त, आगम, व्रत और जीवादि तत्त्वों का अस्तित्व है ऐसा भाव होना आस्तिक्य भाव है।[८५]

वीतराग सम्यक्त्व राग से रहित सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व कहलाता है। सभी प्रकार से आत्मा की शुद्धिमात्र वीतराग सम्यक्त्व है।[८६] यह सम्यक्त्व मिथ्यात्व आदि सातों प्रकृतियों का पूर्ण रूप से क्षय होने पर होता है।[८७]

दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा दर्शन मोहनीय कर्म की अपेक्षा सम्यक्त्व तीन प्रकार का है (क) औपशमिक सम्यक्त्व, (ख) क्षायिक सम्यक्त्व और (ग) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व।[८८]

(क) औपशमिक सम्यक्त्व मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम से होने वाला सम्यक्त्व औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। जिस प्रकार गन्दे पानी में फिटकरी डालने से उसकी गन्दगी नीचे बैठ जाती है उसी प्रकार दर्शन मोहनीय के उपशम से निर्मल जल के समान पदार्थों का निर्मल श्रद्धान होने लगता है। यह सम्यक्त्व असयत सम्यग्दृष्टि से लेकर उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ के होता है।

औपशमिक सम्यक्त्व के भेद

औपशमिक सम्यक्त्व दो प्रकार का है—(१) प्रथमोपशम सम्यक्त्व और (२) द्वितीयोपशम सम्यक्त्व।

(१) प्रथमोपशम सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी क्रोधादि, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के उदय न होने से अर्थात् उपशम हाने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।[८९] यह सम्यक्त्व अनादि मिथ्यादृष्टि के काल लब्धि के प्राप्त होने पर होता है। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि जीव के प्रथमोपशम सम्यक्त्व नहीं होता है।[९०] आठों कर्मों की अन्त कोडाकोडी (एक कोडाकोडी सागपरोगम को सख्यात कोटियों से खंडित करने पर उसका एक खण्ड-भाग) स्थिति बाँधने वाले जीव के यह सम्यक्त्व होता है। इन्हीं कर्मों की सख्यात हजार सागरोपमों से हीन अन्त कोडा कोडी सागरोपम प्रमाण होने पर भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।[९१] प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त जीव के तीन प्रकार की विशुद्धियाँ होती हैं—(१) अध प्रवृत्तकरण, (२) अपूर्वकरण,

(३) अनिवृत्तिकरण। प्रथमोपशम सम्यक्त्व का जीव पहली बार च्युत होकर मिथ्यात्व को प्राप्त करता है। सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वह मिथ्यात्वी हो भी सकता है और नहीं भी। गोम्मटसार जीवकांड की टीका में कहा भी है "प्रथमोपशम सम्यक्त्वी जीव च्युत होने के पश्चात् चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक जा सकता है। अप्रमत्तसंयत को छोड कर शेष तीन गुणस्थानवर्ती (४-६ तक) जीव प्रथमोपशम के अन्तर्मुहूर्तमात्र काल में कम से कम एक समय और उत्कृष्ट छह आवली शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी चारों में से किसी एक के उदय से सासादन को प्राप्त होते हैं। सम्यक्त्व की विराधना न होने पर सम्यक्त्व के उदय से वेदक, मिश्र प्रकृति के उदय से सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि होते हैं।[९२]

(२) द्वितीयोपशम सम्यक्त्व—जब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से युक्त जीव उपशम श्रेणी के सम्मुख होते हैं, उस समय उसके अप्रमत्त नामक गुणस्थान में होने वाला उपशम सम्यक्त्व द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है।[९३] द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चार की विसयोजना अर्थात् अप्रत्याख्यानादि क्रोध, मान, माया, लोभ रूप से परप्रकृतिरूप परिणमन और दर्शन मोहनीय कर्म की तीनों प्रकृतियों का उपशम होता है।[९४] द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सातवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है।[९५] वहाँ से गिर कर छठे, पाँचवें और चौथे गुण स्थान तक पहुँच सकता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व पर्याप्त मनुष्य और निर्वृत्यपर्याप्त वैमानिक देवों के ही होना है।[९६]

(३) क्षायिक सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय कर्म की तीनों प्रकृतियो और अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चार कषायों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है।[९७] इसकी निम्नांकित विशेषताएँ हैं—

(क)उपर्युक्त प्रकृतियों के पूर्ण क्षय हो जाने पर जीव का पदार्थों में निर्मल श्रद्धान होता है।

(ख)यह सम्यक्त्व एक बार प्राप्त होने के पश्चात् कभी नष्ट नहीं होता, इसलिए यह नित्य कहा गया है।

(ग)यह सम्यक्त्व भ्रष्ट वचनों से, तर्कों से इन्द्रियों को भयभीत करने वाले रूपों से, वीभत्स और जुगुप्सित पदार्थों से भी विचलित नहीं होता है। मेरु पर्वत की तरह निष्कम्प होता है।

(घ)क्षायिक सम्यक्त्व युक्त जीव गम्भीर बुद्धि सम्पन्न होता है। वह किसी भी चमत्कारी घटनाओं को देखकर विस्मित या शोकाकुल नहीं होता है।

(ड)क्षायिक सम्यग्दृष्टि के कभी मिथ्यात्व की प्राप्ति नहीं होती है।

(च)क्षायिक सम्यग्दर्शन धर्मा नामक प्रथम भूमि के नारकियों के, भोगभूमिज तिर्यंचों के, कर्म एवं भोगभूमिज मनुष्यों के एवं वैमानिक पर्याप्त और अपर्याप्त देवों के होता है। पंचसग्रह, धवला, गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में इसका विशेष विवेचन उपलब्ध है।[९८]

(छ)यह सम्यक्त्वकेवली और श्रुतकेवली के पादमूल के निकट मनुष्य को होना प्रारम्भ होता

है।[९९]

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व क्षय + उपशम के मिलने पर क्षयोपशम बना है। क्षयोपशम से होने वाला सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। अत अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व मोहनीय एवं सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय इन छह प्रकृतियों के उदय का अभाव होने से और समान जातीय प्रकृतियों और सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने से जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।[१००]

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का दूसरा नाम वेदक सम्यक्त्व है। क्योंकि दर्शन मोहनीय की सम्यक्त्व नामक प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व रूप से वेदन होता है।[१०१] कहा भी है "देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से पदार्थों का चल, मलिन और अगाढ रूप श्रद्धा के होने को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।"[१०२] इस सम्यक्त्व की निम्नांकित विशेषताएं हैं[१०३]—

(क)वेदक सम्यक्त्व के होने पर जीव की बुद्धि सुखानुबन्धी अथवा शुभानुबन्धी हो जाती है।

(ख)श्रुत में प्रीति होती है।

(ग)तत्त्वार्थ में शिथिल श्रद्धान होता है।

(घ)धर्म में अनुराग और संसार से निर्वेद हो जाता है।

(ङ)कुहेतु और कुदृष्टान्त से सम्यक्त्व की विराधना हो जाती है।

(च)असंयत सम्यग्दृष्टि से अप्रमत्त संयत गुणस्थान तक होता है[१०४]।

नय दृष्टि से भेद नय की अपेक्षा सम्यक्त्व तीन प्रकार का है—(क) निश्चय सम्यक्त्व, (ख) सद्भूत व्यवहार सम्यक्त्व और (ग) असद्भूत व्यवहार सम्यक्त्व[१०५]।

विभिन्न कारणों की अपेक्षा १० भेद तत्त्वार्थवार्तिक, यशस्तिलकचम्पू, आत्मानुशासन आदि में सम्यक्त्व के १० भेद उपलब्ध होते हैं[१०६]—

(क)आज्ञा-सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम से भगवान् की आज्ञा मात्र से तत्त्वश्रद्धान होना आज्ञा-सम्यक्त्व है।

(ख)मार्ग-सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय के उपशम से मोक्षमार्ग में श्रद्धान होना मार्ग-सम्यक्त्व है।

(ग)उपदेश-सम्यक्त्व तीर्थंकर बलदेव आदि शलाका[१०७] पुरुषों के पुराण (चारित्र) को सुनने रूप उपदेश से होने वाला सम्यक्त्व उपदेश-सम्यक्त्व है।

(घ)सूत्र-सम्यक्त्व आचारांगादि चारित्रप्रतिपादक सूत्रों के सुनने मात्र से होने वाला सम्यक्त्व सूत्र-सम्यक्त्व है।

(ङ)बीज-सम्यक्त्व बीजपदों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने से होने वाला तत्त्वार्थश्रद्धान बीज-सम्यक्त्व है।

(च)संक्षेप-सम्यक्त्व जीवादि पदार्थों के संक्षिप्त स्वरूप से होने वाला सम्यक्त्व संक्षेप-सम्यक्त्व है।

(छ)विस्तार-सम्यक्त्व जीवादि तत्त्वों का विस्तार से स्वरूप जानकर होने वाला सम्यक्त्व।

(ज)अर्थ-सम्यक्त्व वचन विस्तार के बिना अर्थ ग्रहण से होने वाला सम्यक्त्व अर्थ-सम्यक्त्व है।

(झ)अवगाढ-सम्यक्त्व आचारागादि द्वादशाग में अत्यधिक दृढ श्रद्धान से होने वाला सम्यक्त्व अवगाढ-सम्यक्त्व है। आत्मानुशासन में अंग और अगबाह्य के ज्ञान (अवगाहन) से होने वाले सम्यक्त्व को अवगाढ-सम्यक्त्व कहा गया है।

(ञ)परमावगाढ-सम्यक्त्व परमावधि अथवा केवलज्ञान के द्वारा देखे गये पदार्थों के प्रकाश से प्रकाशित आत्मा के विशुद्ध होने को परमावगाढ-सम्यक्त्व कहते हैं। आत्मानुशासन में कहा गया है कि केवलज्ञान से देखे गये पदार्थों में रुचि होना परमावगाढ-सम्यक्त्व है।[१०८]

सम्यक्त्व के उपर्युक्त विश्लेषणात्मक विवेचन से स्पष्ट है कि सम्यक्त्व मोक्षमहल की पहली सीढी है। इसको प्राप्त किए बिना जीव के विकास का आरम्भ भी नहीं हो सकता है। अणुव्रत और महाव्रत रूप सयमचारित्र सम्यक्त्व के होने पर निर्भर है।

१ दसणमूलो धम्मो—१ दर्शन पाहुड, गा २

२ दसणभट्टा भट्टा दसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाण। सिज्झति चरिय भट्टा दसण भट्टा ण सिज्झति॥ (द पा ३)

३ दर्शनापाहुड, गा ४-११

४ मन्दिराणामधिष्ठाना तरूणा सुदृढजडम्।
यथा मूल प्रतादीना सम्यक्त्वमुदित तथा।
सम्यक्ते सति सर्वाणि फलवन्ति व्रतानि च।
शून्यानि च बहून्यादौ यथैकाङ्के सति ध्रुवम्॥ (धर्मसग्रह, १।७६-७७)
(ख) सम्यक्त्वमूलानि पंचाणुव्रतानि गुणास्त्रय।
शिक्षापदानि चत्वारि, व्रतानि गृहमेधिनाम्॥ (योगशास्त्र, २।१)

५ विवर्धमाना यमसंयमादय पवित्रसम्यक्त्वगुणेन सर्वदा।

फलानि हृद्यानि फलानि पादपा महोदकेनेव मलापहारिणा। (अमितगति श्रावकाचार, २।७२)

६ गृहस्थो वा यति वपि सम्यक्त्वस्य समाक्षय। (यशस्तिलकचम्पू ६/२२०/५)

७ अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावाय दुविहधम्माण। गा १४४

८ अवतस्थोऽपि मुक्तिस्थो न व्रतस्थोऽप्यदर्शन। (यशस्तिलक चम्पू, ६।२२७)

९ दसणमूलो धम्मो --------॥

दसणभट्टा भट्टा दसणभट्टस्य णत्थि णिव्वाण।

सम्मितिविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तव चरताण।

ण लहति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहि। (दर्शन पाहुड, गा २-५)

१० भावपाहुड, गा १४१

११ णिच्छमदो अप्पाण हवइ सम्मत्त॥ (दर्शनपाहुड, गाथा, २०)

१२ न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शन-लक्षणम्।

चेदस्ति सम्यक्त्व न चेच्छ्रद्धा न सा सुदृक ॥ (उत्तरार्द्ध, २१५)

१३ (क) पवचनसार, तत्वप्रदीपिका, गा ३।४२ (ख) समयसार आत्मख्याति ३१८ (ग) समयसार तात्पर्यवृ गा १५५

१४ (क) समयसार, तात्पर्यवृत्ति, गा ३८ (ख) पचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गा १०७

१५ गा ४१

१६ रागादिभ्यो भिन्नोऽय स्वात्मोत्थसुखस्वभाव परमात्मेति भेदज्ञान, तथा स एव सर्वप्रकारोपादेय इति रुचिरूप सम्यक्त्व।—प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, गा ५१७ गुण और पर्यायों से युक्त द्रव्य कहलाता है। यह सत्रूप होता है।

१७ गुण ओर पर्यायों से युक्त द्रव्य कहलाता है । यह सत् स्वरूप होता है।

१८ जो शब्द का विषय होता है अथवा जिनका शब्द से बोध होता है वह पदार्थ कहलाता है।

१९ अस्ति का अर्थ सत्ता होता है और काय का अर्थ बहुत प्रदेशों का समूह। अत जो बहुत प्रदेशों से युक्त है वह अस्तिकाय है।

२० (क) छद्दव्व णव पयत्था पचत्थी सत्त तच्चणिद्दिट्ठा।

सद्दहइ ताण रूव सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥

जीवादि सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्तं। (दर्शनपाहुड, गा १९-२०)

(ख) पचास्तिकाय, गाथा १०७

(ग) समयसार, १३

(घ) मूलाचार, गा २०३

(ङ) तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्। तत्त्वार्थसूत्र, १।२, और भी द्रष्टव्य १।३

(च) द्रव्यसग्रह, गा ४१,

(छ) पंचसंग्रह, प्राकृत १।१५९

२१ मिथ्यात्वोदयजनितविपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान। (पचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति गा १०७)

२२ तच्चरुई सम्मतं। गाथा ३८, और भी देखें—धवला, पु १, खड १।भा१ सूत्र ४

२३ सूत्रपाहुड, गा ५

२४ दृष्टव्य—तत्त्वानुशासन, का ४-५

२५ नियमसार, गा ६

२६ मोक्षपाहुड, गा, ९०

२७ रत्नकरण्डश्रावकाचार १।५-६, द्रव्यसग्रह टीका, गा५०

२८ नियमसार, गा ७

२९ रत्नकरण्डश्रावकाचार, गा १।७, अनगार धर्मामृत, २।१४

३० नियमसार, गा ८, रत्नकरण्डश्रावकाचार, का १।८-९

३१ आरम्भ प्राणपीडाहेतु व्यापार। (सवार्थसिद्धि, ६।१५)

३२ रत्नकरण्डश्रावकाचार, १।१०

३३ णच्चा दसणघादी ण य कादव्व ममत्तीए। गा २५६

३४ १।२२ और उसकी टीका

३५ द्रव्यसंग्रह टीका, गा ४१

३६ वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसा।

देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते॥ (रत्नकरण्डश्रावकाचार, १।२३ (ख) मूलाचार, गा २६०)

३७ द्रव्यसंग्रह, टीका, गा ४१

३८ मूलाचार, २५९

३९ रत्नकरण्डश्रावकाचार, १।२४

४० समयसार, गा २२८, तत्त्वार्थवार्तिक, ६।२४।१

४१ मूलाचार, गा २४८, रत्नकरण्डश्रावकाचार १।११, कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा गा ४१५-१६, तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४।१, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, कारिका २३

४२ मूलाचार, गा २४९-२५१

जो दुण करेदि कंखं कम्मफलेपु सव्वधम्मेसु।

सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥ (समयसार, गा २३०, तत्त्ववार्थवार्तिक, ५।२४।१)

४३ जो सग्गसुहणिमित्त धम्मं णायरदि दूसहतवेहि।

मोक्खंसमीहमाणो णिक्खख जायदे तस्स॥ गा ४१६

४४ द्रव्यसंग्रह टीका, गा ४१

४५ रत्नकरण्डश्रावकाचार १।१३, कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ४१७

४६ (क) जो हवइ अम्मूढो चेदा सद्दिट्ठी सव्वभावेसु।

सो खलु अमूढदिटठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो। (समयसार, गा २३२)

(ख) द्रव्यसंग्रह टीका, गा ४१

४७ (क) रत्नकरण्डश्रावककाचार, १।१५

(ख) द्रव्यसंग्रह टीका, गा ४१

४८ जो सिद्धभत्तिजुत्तो उपगूहणगोदु सव्वधम्माण।

सो उवगूहणकारी सम्मादिटठो मुणेयव्वो॥ (समयसार, गा २३३, समयसार तात्पर्यवृत्ति, २३३, गा ४१) द्रव्यसंग्रह टीका,

गा ४१)

४९ उत्तमक्षमादिभावनया आत्मनो धर्मपरिवृद्धिकरणमुपबृहणम्। (तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४।१ (ख) पुरुषार्थसिद्धयुपाय, का २७)

५० (क) मूलाचार, २६२, (ख) रत्नकरण्डश्रावकाचार, १।१६, (ग) मूलाचार गा ४२०, (घ) द्रव्यसंग्रह टीका, गा ४१

५१ (क) उम्मग्ग गच्छंते सग चि सग्गे ठवेदि जो चेदा।

सो ठिदिकरणजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो। (समयसार, गा २३४)

(ख) कषायोद्मादिपु धर्मपरिभ्रंशकारणेषु उपस्थितेष्वात्मनो धर्मप्रच्यवन परिपालणं स्थितिकारणम्। (तत्त्वार्थवार्तिक, ६।२४।१)

(ग) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, का २८

५२ २।८०६

५३ (क) समयसार, गा २३५, (ख) जिनप्रणीतधर्मामृते नित्यानुरागता वात्सल्यम्। (तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४।१)

५४ (क) समयसार, गा २३६, (ख) तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४।१, (ग) पचाध्यायी २।८।६

५५ लक्षण च गुणश्चांगं शब्दाश्चैकार्थवाचका।२।४७८

५६ रत्नकरण्डश्रावकाचार, १।२१

५७ वही, १।२५

५८ मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशसा। (सर्वार्थसिद्धि, ७।२३)

५९ (क) ६।२२६, (ख) द्रव्यसंग्रह टीका, ४१

६० चारित्तपाहुड, टीका, गा ६

६१ (क) चदुगदि भव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण पज्जतो।

ससारतडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत्त॥ (कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ३०७)

(ख) आसन्नभव्यताकर्महानि सज्ञित्वशुद्धिभाक् ॥ (सागार धर्मामृत, १।६)

६२ कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, गा ३०७

६३ नियमसार, गा ५३, (ख) सर्वार्थसिद्धि, १।७, पृ १९

६४ सम्यग्दर्शने, अन्तरगो हेतुस्तुल्यो दर्शनमोहस्योपशम क्षय क्षयोपशमो वा। (सर्वार्थसिद्धि, २।३, पृ ९)

(ख) तत्त्वार्थवार्तिक, २।३।५, (ग) गोम्मटसार (जीवकाड) ६५२

६५ (क) काऊण करणलद्धो सम्मग्गभावस्स कुणइ ज गहण।

उवसमखयसिस्सादो पयडीण त पि णियहेऊ॥ (नयचक्र, गा ३१५)

(ख) देशनाकाललब्ध्यादिबाह्यकारणसपदि।

अन्त करण सामग्रया भव्यात्मा स्याद् विशुद्धदृक्। (महापुराण ९।११६)

६६ धवला, पु ६, ख १ भाग ६-८, सूत्र ३

६७ धवला, पु ६, खं १, भाग ६-८, सूत्र ३

६८ (क) सर्वार्थसिद्धि, १।७, (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, १।७

६९ धवला पु ६, खड १, भाग ६-९, सूत्र ८, पृ ४२२-४३६

७० उभयत्र सम्यग्दर्शने अन्तरगो हेतुस्तुल्यो दर्शनमोहस्योपशम क्षय क्षयोपशमो वा। (सर्वार्थसिद्धि, १।३)

७१ यद्बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्। (क) सर्वार्थसिद्धि, १।३, (ख)तत्त्वार्थवार्तिक, १।३।५

७२. तत्त्वार्थवार्तिक, १।३।९

७३ सर्वार्थसिद्धि, १।३

७४ तत्त्वार्थसूत्र, १।३

७५ पचाध्यायी, २।४२८

७६ पचाध्यायी, उत्तरार्ध, २।४२६-४३०

७७ यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिबर्हणम्।

प्राहु प्रथम प्राज्ञा -------॥ (यशस्तिलकचम्पू, ६।२१३)

७८ सम्यक्त्वेनाविनाभूत प्रशम परमो गुण।

अन्यत्र प्रशमं मन्येऽप्याभास स्यात्तदत्ययात्। (पंचाध्यायी, २।४३०)

७९ प्रशम समस्तव्रतभूषणम्॥ (यशस्तिलकचम्पू। ६।२१३)

८० यशस्तिलक चम्पू, ६।२१४

८१ परमे इन्द्रचन्द्रधरणेन्द्रवन्दिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी। (समाधिशतक टीका, ६)

(ख) भावपाहुड टीका, गा १४९

(ग) मोक्षपाहुड, गा १०४

८२ पचाध्यायी, २।४४६

८३ तिसिद बुभुक्खिद वा दुहिद दट्ठूण जो दुहिदमणो।

पडिवज्जदि त किवया तस्सेसा होदि अणुकपा॥ (पंचास्तिकाय, गा १३७,एव (ख) सर्वार्थसिद्धि, ६।१२)

८४ धर्मस्य परम मूलमनुकम्पा प्रचक्षते। (यशस्तिलकचम्पू, ६।२१५)

८५ यशस्तिलकचम्पू, ६।२१९

८६ सर्वार्थसिद्धि १।२, (ख) तत्वार्थश्लोकवार्तिक २।१।२, श्लोक १२, (ग) आत्मन शुद्धिमात्र स्यादितरच्च समन्तत। (ज्ञानार्णव, ६।४)

८७ सप्ताना कर्मप्रकृतीनाम् आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्र---। (तत्त्ववार्थवार्तिक, १।२।३१)

८८ मिश्रौपशमिकं नाम क्षायिक चेति तत्त्रिधा।

स्थितिबन्धकृतो भेदो न भेदो रसबन्धसात्॥ (पचाध्यायी, २।९३१)

८९ (क) एतासां तिसृणा प्रकृतीनाम् अनन्तानुबन्धि---चोदप्राभावेन्तर्मुहूर्तकाल प्रथमसम्यक्त्वं भवति। (तत्त्वार्थवार्तिक, ९।१।१३)

(ख) मायालोभ----अनुदयरुपातप्रथमसम्यक्त्व---। (कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, टी गा ३०८)

९० धवला, पु ६ खण्ड १, भा ९, सू ४।

९१ षट्खण्डागम, ६,१, ६, सूत्र ३, ५

९२ जीवप्रबोधिनीटीका, गा ७०४

९३ मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ ३३३-३३४

९४ (क) उपसमाचरियाहिमुहावेदगसम्मो अण विजोयिता। (लाटीसहिता, गा २०५)

(ख) गोम्मटसार (कर्म), जीवप्रबोधिनी टीका, गा ५५०

(ग) जीवकाण्ड, जीवप्रबोधिनी टीका, गा ७०४

९५ गोम्मटसार जीवकाण्ड, गा ६९६

९६ द्वितीय पर्याप्तिमनुष्यनिर्वृत्यपर्याप्तवैमानिकयोर्देव। (गोम्मटसार जीव , जीव प्रबोधिनी टीका, गा ५५०)

९७ सर्वार्थसिद्धि, २।४, (ख) तत्त्वार्थवार्तिक २।४।७ (ग) लाटीसहिता, १६४

९८ (क) पंचसग्रह (पाकृत) १।१६०-१६२, (ख) धवला, पु १, ख १, भाग १, सूत्र ४४, गा २१३-२१४, (ग) गोम्मटसार (जीव), गा ६४६-६४७, (घ) गोम्मटसार (कर्म), जीवप्रबोधिनी टीका, गा ५५०

९९ केवलिश्रुतकेवलिद्वयश्रीपादोपान्ते सप्तप्रकृतिनिरवशेषक्षये भवति। (गोम्मटसार (जीव), जीव प्रबोधिनी टीका, गा ७०४)

१०० अण उदयादो छण्ह सजाइ-रुवेण उदयमाणाणा। सम्मत्त-कम्म-उदये खयउवसमिय हवे सम्म॥ (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा ३०९। (ख) वही, टीका)

१०१ सम्मत्तदेसथाइ वेदयसम्मत्तुदण्णुप्पण्णवेदय सम्मत्त खओवसमिय। (धवला, पु १, ख १, भा १, सूत्र १२, पृ १७१-७२)

१०२ (क) गोम्मटसार (जीव) गा ६४९, (ख) धवला, पु १, ख १, भा १, सूत्र ११८, गा २१५

१०३ पचसग्रह, गा १।१६३-१६४

१०४ षट्खण्डागम, पु १, ख १, भा १, सूत्र १४६

१०५ नयचक्र, गा ३१८

१०६ (क) तत्त्वार्थवार्तिक, ३।३६।२, (ख) आत्मानुशासन, ११-१४, (ग) अनगार धर्मामृत, २।६२, (घ) यशस्तिलकचम्पू, ६।२१९-२२०

१०७ २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रतिनारायण इन लोकप्रसिद्ध पुरुषों को शलाकापुरुष कहते हैं।

१०८ कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा॥ (भदत गुणभद्र सूरि आत्मानुशासन, पद्य, १४)

सम्यग्ज्ञान : एक विवेचन

❑ पं पवनकुमार शास्त्री 'दीवान', मुरैना

पंच-परावर्तन रूप इस संसार में अनन्तानन्त जीवराशि है। अनादिकाल से परिभ्रमण करती हुई जन्म-मरण के अनेकानेक दुखों की भाजनपात्र यह जीवराशि सुख की चाह हेतु प्रयासरत है। फिर भी यथार्थ सुख से वचित है। यथार्थ सुख की प्राप्ति केवल रत्नत्रय से ही संभव है। उसी रत्नत्रय में दर्शन के साथ ही उत्पन्न होने वाला ज्ञान मोक्ष-सुख के अभिलाषी को चारित्र रथ पर आरूढ करता है जिससे कि सहज ही मुक्त्यंगना का वरण हो जाता है। अतएव चारित्र के पूर्व सम्यग्ज्ञान को समझना आवश्यक है। ज्ञान क्या है? जिस शक्ति के द्वारा आत्मा पदार्थो को जानता है वह ज्ञान है।

ज्ञान शब्द को परिभाषित करते हुए गोम्मटसार जीवकाड के कर्ता श्री नेमिचन्द्राचार्य कहते हैं—

जाणइ तिकाल विसए दव्वगुणे पज्जए य बहु भेयं।
पच्चक्ख च परोक्खं अणेण णाणे त्ति ण वेंति॥२९९॥

अर्थात्—जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषयक समस्त द्रव्य, उनके गुण और उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को पत्यक्ष व परोक्ष रूप मे जानता है उसे ज्ञान कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान क्या है? ज्ञान के साथ जो सम्यक् शब्द जोडा गया है उसके निरूपणार्थ सम्यक् शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— "सम्यगित्यव्युत्पन्न शब्दो व्युत्पन्नो वा। अञ्चते क्वौ समञ्चतीति सम्यगिति। अस्यार्थ प्रशसा॥"—सम्यक् शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढिक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरण सिद्ध है। जब यह व्याकरण से सिद्ध किया जाता है। तब सम् उपसर्गपूर्वक अञ्च धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर सम्यक् शब्द बनता है। सस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति "समञ्चति इति सम्यक्" इस प्रकार होती है। प्रकृत में इसका अर्थ प्रशसा है।

"येन येन प्रकारेण जीवादय पदार्था व्यवस्थितास्तेन तेनावगम सम्यग्ज्ञानम्।
विमोहसशयविपर्यय निवृत्यर्थम् सम्यग्विशेषणम्॥"

—सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपादाचार्य अ १, सूत्र-१ (वृत्ति)

जिस-जिस प्रकार से जीवादिक पदार्थ अवस्थित हैं उस-उस प्रकार से उनका जानना सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान के पहले सम्यक् विशेषण विमोह (अनध्यवसाय), सशय और विपर्यय ज्ञानों का निराकरण करने के लिए दिया है।

सम्यग्ज्ञान क्यों?

णाणब्भास विहीणो सपरं तच्च ण जाणए किंपि।
णाणं तस्स ण होइ दु ताव ण कम्मं खवेइ ण हु मोक्खो॥९४॥

—रयणसार, कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थात्—सम्यग्ज्ञान के अभ्यास बिना यह जीव भेदविज्ञान को प्राप्त नहीं होता है, आत्मतत्त्व और परतत्त्व को सर्वथा नहीं जानता है। स्व और पर के ज्ञान बिना ध्यान नहीं होता है और सम्यक् ध्यान के बिना कर्मों का क्षय और मोक्ष कदापि नहीं होता है, इसलिए सम्यग्ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। और भी—

पावारंभ णिवित्ती पुण्णारभे पउत्ति करण पि।
णाण धम्मज्झाण जिण भणियं सव्व जीवाण॥९१॥ —रयणसार, कुन्दाकुन्दाचार्य

अर्थात्—पापकर्म की निवृत्ति और पुण्यों में प्रवृत्ति का मूल कारण एक सम्यग्ज्ञान है। इसलिए मुमुक्षु जीवों को सम्यग्ज्ञान ही जिनेन्द्रदेव ने धर्मध्यान कहा है। इसी सम्यग्ज्ञान रूप जिनवाणी के प्रति श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने दर्शनपाहुड में लिखा है—

जिणवयण मोसहमिण विसयसुह विरेयण अमिदभूद।
जरमरणबाहिहरण खयकरण सव्वदुक्खाण॥१७॥

अर्थात्—सर्वज्ञ जिनेश्वर की दिव्यवाणी औषधिरूप है। वह विषय-सुखों का परित्याग कराती है। वह अमृतमय, मरणरहित अवस्था को प्रदान करती है, अमृत सदृश मधुर भी है। वह जन्ममरण तथा व्याधि का विनाश करती है। जिनवाणी के द्वारा सर्व दुखों का क्षय होना है।

अल्पज्ञान भी कार्यकारी

बीज सदृश अल्पज्ञान भी वैराग्ययुक्त हो सिद्धि प्राप्त कराने में समर्थ होता है। भावपाहुड में कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं—

तुसमामं घोमंतो, भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ॥५३॥

अर्थात्—निर्मलभाव वाले महान् प्रभावयुक्त शिवभूति मुनि तुस-माष-भिन्न (दाल-छिलका जैसे जुदे हैं इसी प्रकार मेरी आत्मा भी शरीरादि से भिन्न है) इतने ज्ञानमात्र से केवलज्ञानी हुए।

श्रुतज्ञान की आराधना हेतु मुनियों को प्रेरित करते हुए भावपाहुड में भी आचार्य कहते हैं—

तित्थयर भामियत्थ गणहर देवेहि गंथिय सम्मं।
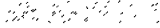
भावहि अणुदिणु अतुल, विसुद्धभावेण सुयणाण॥९०॥

अर्थात्—तीर्थंकर के द्वारा अर्थ रूप से प्रतिपादित, गणधरदेव द्वारा सम्यक्रूप से ग्रन्थरूप में निर्मित अनुपम श्रुतज्ञान की निर्मल भावपूर्वक प्रतिदिन भावना करो अर्थात् समस्त श्रुत को प्रणाम करते हुए यह भावना करो कि वह श्रुतज्ञान हमें प्राप्त हो।

ज्ञानीपुरुष की कार्यकारी क्षणिक निर्जरा

ज अण्णाणी कम्म, खवेदि भवसय सहस्सकोडीहि।
त णाणी तिहि गुत्तो, खवेई उस्मासमेत्तेण ॥२३८॥ (प्रवचनसार)

अर्थात्—अज्ञानी कोटि सहस्रभवों में जितनी कर्मों की निर्जरा करता है, उतनी निर्जरा ज्ञानी त्रिगुप्ति द्वारा एक श्वासमात्र काल में कर लेता है। यही बात छहढाला ग्रन्थकार कविवर दौलतराम जी ने भी कही है—

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरे जे।
ज्ञानी के छिन माहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते॥

विना ज्ञान के (अज्ञान दशा में) जिन कर्मों की निर्जरा करोड़ों जन्मों की तपस्या से होती है, सम्यग्ज्ञानी के उन कर्मों की निर्जरा त्रिगुप्तियों से क्षणमात्र में हो जाती है।

आचार्यों की दृष्टि में सम्यग्ज्ञान

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

कर्तव्योध्यवसाय सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
सशय-विपर्ययानध्वसाय-विविक्तमात्मरूप तत्॥३५॥

अर्थात्—प्रशस्त अनेकान्तात्मक अनेक स्वभाव वाले तत्त्वों व पदार्थों में जानना करना योग्य है और वह सम्यग्ज्ञान सशय, विपर्यय और विमोह रहित आत्मा का निज स्वरूप है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्री समन्तभद्राचार्य) का कथन इस प्रकार है—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्य बिना च विपरीतात्।
निसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन ॥४२॥

अर्थात्—जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता, अधिकता, विपरीतता और सन्देह रहित जैसा का तैसा जानता है वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। द्रव्यसग्रह में श्री नेमिचन्द्राचार्य कहते हैं—

सशय-विमोह-विब्भम, विवज्जिय अप्प परसरुवस्स।

गहणं सम्मं णाणं, सायार मणेयभेयं च॥४२॥

अर्थात्—आत्मा और परवस्तुओं के स्वरूप का सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित तथा आकार सहित यह घट है, यह पट है, इत्यादि विकल्प सहित जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सिद्धान्तसार के रचयिता आचार्य नरेन्द्रसेन के अनुसार,

सम्यग्ज्ञानं परंज्योति स्वपरार्थविभासकम्।
आत्मस्वभावमाभाव्यं भावयन्ति भवातिगा॥
बोधो बुद्धिस्तथा ज्ञानं प्रमाण प्रमिति प्रमा।
प्रकाशश्चेति नामानि मन्यन्ते मुनयोऽन्वयात्॥" (अ २/१-२)

अर्थात्—सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। यह उत्कृष्ट प्रकाशस्वरूप है अर्थात् इससे अपना स्वरूप जानता है तथा परपदार्थ का स्वरूप जानता है। जिन्होंने ससार का नाश किया है ऐसे सिद्धपरमेष्ठी अनुभवन योग्य इस ज्ञान की भावना करते हैं। सम्यग्ज्ञान को बोधबुद्धि, ज्ञान, प्रमाण, प्रमिति, प्रमा, प्रकाश ऐसे नाम मुनिजन मानते हैं। क्योंकि सब में अर्थ की अन्वयता (सार्थकता) है। अर्थात् ये सब नाम ज्ञान के एकार्थवाचक हैं, ज्ञान के ही ये नाम हैं। दीपक जैसा अपने को और घटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसा ज्ञान भी स्व और पर स्वरूप जानता है। इस प्रकार अनेक आचार्यों ने सम्यग्ज्ञान को परिभाषित किया है।

सम्यग्ज्ञान के भेद

इसी सम्यग्ज्ञान को प्रमाणस्वरूप माना गया है। अथवा यही सम्यग्ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान रूप से पाच प्रकार का है। प्रमाण के स्वरूप को परिभाषित करते हुए श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—"प्रमिणोति, प्रमीयतेऽनेन, प्रमितिमात्रं वा प्रमाण" अर्थात् जो अच्छी तरह मान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है या प्रमिति मात्र प्रमाण है। यही प्रमाण जीवादि पदार्थों का ज्ञान कराता है। जीवादि पदार्थों के ज्ञान में प्रमाण को कारण मानने पर अनवस्था दोप भी नहीं आता, क्योंकि जैसे दीपक, घटादि पदार्थों के प्रकाश करने में हेतु है और अपने स्वरूप के प्रकाश करने में भी वही हेतु है, इसके लिए प्रकाशान्तर नहीं ढूँढना पडता। उसी प्रकार प्रमाण है यह बात मानने योग्य है। यदि प्रमेय के समान प्रमाण के लिए अन्य प्रमाण माना जाता है तो स्व का ज्ञान नहीं होने से स्मृति का अभाव हो जाता है। और स्मृति का अभाव हो जाने से व्यवहार का लोप हो जाता है। अतएव यह मानने योग्य ही है कि प्रमाण से जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है। प्रमाण की अपेक्षा से मति श्रुतादि पच ज्ञान द्विविध रूप है।

अब प्रथम ही इन पाँच ज्ञानों का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ निम्न प्रकार जानना चाहिए।

सम्यक्ज्ञान
(प्रमाण)

परोक्ष प्रमाण
प्रत्यक्ष प्रमाण

मतिज्ञान
श्रुतज्ञान

एकदेश प्रत्यक्षप्रमाण
सकलदेश प्रत्यक्ष प्रमाण

अवधिज्ञान
मनःपर्ययज्ञान
केवलज्ञान
(कोई भेद नहीं)

अवग्रह ७२
ईहा भेद
अवाय ७२
धारणा ७२

अंगबाह्य
(अनेक भेद)

अंगप्रविष्ट

व्यञ्जनावग्रह
बहु विधादि से ४८ भेद
(चक्षु व मन को छोड़कर)

अर्थावग्रह
पाँचइन्द्रिया और
मन से बहुविधादि
के द्वारा भेद।
कुल ३३६ भेद

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
आ सू स्था स व्या ज्ञा उ अ अ प्र वि दृष्टिप्रवाद

१ २ ३ ४ ५
परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत चूलिका

व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि ५ भेद
जलगतादि ५ भेद
उत्पादादि १४ भेद

ऋजुमती
विपुलमती

भवप्रत्यय
क्षायोपशमिक अथवा गुणप्रत्यय

१ २ ३ ४ ५ ६
अनुगामी अननुगामी वर्धमान हीयमान अवस्थित अनवस्थित

मतिज्ञान—"इन्द्रियैर्मनसा च यथा स्वमर्थो मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मतिः॥" इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, जो मनन करता है, या मननमात्र मतिज्ञान कहलाता है।

श्रुतज्ञान—"तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्॥" श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनता है या सुनना मात्र श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञान—"अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधि।" अधिकतर नीचे के विषय को जानने वाला होने से या परिमित विषयवाला होने से अवधि कहलाता है।

मनःपर्ययज्ञान—"परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते। साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्यय।" दूसरे के मनोगत अर्थ को मन कहते हैं। सम्बन्ध से उसका पर्ययण अर्थात् परिगमन करने वाला ज्ञान मनःपर्यय कहलाता है।

केवलज्ञान—"बाह्येनाभ्यंतरेण च तपसा यदर्थमर्थिनो मार्गं केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्। असहायमिति वा।" तात्पर्य यह कि मोक्षार्थीजन जिसके लिए बाह्य और आभ्यन्तर तप के द्वारा मार्ग का केवन अर्थात् सेवन करते हैं वह केवलज्ञान कहलाता है। अथवा केवल शब्द असहायवाची है। इसलिए असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

पंचज्ञानों के क्रमशः रखने का स्पष्टीकरण—मतिज्ञान के बाद श्रुत एवं उसके बाद ही अवधि और मनःपर्यय ज्ञान को क्यों रखा है, इसका निराकरण यह कि चूंकि मतिश्रुतपद्धति श्रुतपरिचित और अनुभूत होने से प्रायः सब प्राणियों के द्वारा प्राप्त करने योग्य है, अतः सुगम होने से प्रथम ही मतिज्ञान एवं उसके समीप श्रुतज्ञान को रखा है। इन दोनों ज्ञानों को प्रथम रखने का एक कारण यह भी है कि इनमें कार्यकरण भाव पाया जाता है। अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान से दूर है इसलिए उसे मनःपर्यय के पूर्व रखा है। मनःपर्यय एवं केवलज्ञान इन दोनों का आधार केवल संयम है अतएव मनःपर्यय-ज्ञान केवलज्ञान के समीप का है और इसलिए केवलज्ञान के पूर्व रखा है और केवलज्ञान की प्राप्ति सबके अंत में होती है इसलिए उसे बाद में रखा है।

द्विविध प्रमाण स्वरूप पंचज्ञान

यह मतिश्रुतादि पंचविध सम्यग्ज्ञान द्विविध प्रमाणस्वरूप है। इनमें जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि मति एवं श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान हैं। अवधि व मनःपर्यय एवं केवलज्ञान प्रत्यक्ष हैं। परोक्ष शब्द को पारिभाषित करते हुए श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं।"परायत्तत्वात् मतिज्ञानं इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्॥ श्रुतमनिन्द्रियस्य" इति च। अतः पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुत उत्पद्यमानं परोक्षमित्याख्यायते। अतः उपमानागमादीनामत्रैवान्तर्भाव।"

अर्थात्—ये दोनों ज्ञान पराधीन हैं। मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से होता है। अनिन्द्रिय का विषय श्रुत है अत पर से यहाँ इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य निमित्त लेने चाहिए। तात्पर्य यह कि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश और उपदेशादिक बाह्य निमित्तों की अपेक्षा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न होते हैं। अत ये परोक्ष कहलाते हैं।

प्रत्यक्षज्ञान—प्रत्यक्ष शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ निम्न प्रकार बनता है—"अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। तमेव प्राप्तक्षयोपशम प्रक्षीणावरण वा प्रतिनियत प्रत्यक्षम्॥" अक्ष, व्याप और ज्ञा ये धातुयें एकार्थक हैं इसलिए अक्ष का अर्थ आत्मा होता है। क्षयोपशम वाले या आवरणरहित केवल आत्मा के प्रति जो नियत है अर्थात् जो ज्ञान बाह्य इन्द्रियादिक की अपेक्षा से न होकर केवल क्षयोपशम वाले या आवरण रहित आत्मा से होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

द्विविध प्रमाण स्वरूप पचज्ञानों के भेद-प्रभेद—द्विविध प्रमाणस्वरूप पचज्ञानों के भेद-प्रभेद आचार्यों ने निम्न प्रकार दर्शाये हैं। प्रथम ही मतिज्ञान रूप परोक्ष प्रमाण के पर्यायवाची भी कहे हैं। आचार्य उमास्वामीकृत मोक्षशास्त्र में "मति-स्मृति-सज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्॥" सूत्र में उल्लिखित शब्द पर्यायवाची क्यों? क्योंकि यह मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमरूप अन्तरग निमित्त से उत्पन्न हुए उपयोग को विषय करते हैं और इनकी श्रुतादिक में प्रवृत्ति नहीं होती। इनकी सक्षिप्त व्युत्पत्ति यह है कि "मनन मति, स्मरण स्मृति, सज्ञान सज्ञा, चिन्तन चिन्ता, अभिनिबोधनमभिनिबोध" इन शब्दों की प्रकृति पृथक् पृथक् है तथा अलग अलग धातु से बने हैं। तो भी रूढि से पर्यायवाची हैं। उदाहरणार्थ इन्द्र, शक्र व पुरन्दर, इनमें यद्यपि इन्दन आदि क्रिया से अपेक्षाकत भेद है तो भी ये सब एक शचीपति की वाचक सज्ञायें हैं। प्रकृत में मति शब्द अभिधेय वाची है जिसका अर्थ यह होता है कि मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इनके द्वारा जो अर्थ कहा जाता है वह एक ही है। मतिज्ञान क्या है— "तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।" इन्द्रिय और मन के द्वारा होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है।

इन्द्र शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है "इन्दतीति इन्द्र" जो आज्ञा व ऐश्वर्य वाला है वह इन्द्र है। इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा है जो यद्यपि ज्ञानभाव है तो भी मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के रहते हुए स्वय पदार्थों को जानने में असमर्थ है अत उसको पदार्थ के जानने में जो लिग (निमित्त) होता है वह इन्द्र का लिग इन्द्रिय कही जाती है। अथवा जो लीन अर्थात् गूढपदार्थों का ज्ञान कराता है उसे लिग कहते हैं। अतएव इस कथनानुसार इन्द्रिय शब्द का अर्थ यह हुआ कि जो सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने में लिग अर्थात् कारण है उसे इन्द्रिय कहते हैं। जैसे लोक में धूम अग्नि का ज्ञान कराने में कारण होता है उसी प्रकार ये स्पर्शनादिक करणकर्त्ता आत्मा के अभाव में नहीं हो सकते हैं अत उनसे ज्ञाता का अस्तित्व जाना जाता है।

मतिज्ञान के भेद—मतिज्ञान के मूल में ४ भेद हैं जैसा कि सूत्र से स्पष्ट है "अवग्रहहावायधारणा" अर्थात् अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणा। इसके उत्तर भेद ३३६ होते हैं।

अवग्रह—"विषयविषयिसनिपातसमन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रह । विषयविषयिसंनिपाते सति दर्शनं भवति तदनन्तरमर्थ- ग्रहणमवग्रह ।" विषय और विषयी के सम्बधोपरात होने वाले प्रथम ग्रहण को अवग्रह कहते हैं। विषय और विषयी का सन्निपात होने पर दर्शन होता है। उसके पश्चात् जो पदार्थ का ग्रहण होता है वह अवग्रह कहलाता है। यथा—"चक्षुषा शुक्ल रूपमिति ग्रहणमवग्रह ।" जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा यह शुक्ल रूप है ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है।

ईहा—"अवग्रहग्रहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा। यथा शुक्ल रूप किं बलाका पताका वेति॥" अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों में उसके विशेष जानने की इच्छा ईहा कहलाती है। जैसे जो शुक्ल रूप देखा है वह क्या बकपक्ति है या पताका है इस प्रकार विशेष जानने की इच्छा ईहा है।

अवाय—"विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवाय । उत्पतननिपतन-पक्षविक्षेपादिभिर्वलाकैवेय न पताकेति।" विशेष के निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे आवाय कहते है। जैसे उत्पतन, निपतन और पक्षविक्षेपादि के द्वारा 'यह बकपक्ति ही है, ध्वजा नहीं है' ऐसा निश्चय होना अवाय है।

धारणा—"अवेतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारण धारणा। यथा सैवेय बलाका पूर्वाह्णे यामहमद्राक्षमिति।" जानी हुई जिस वस्तु का जिस कारण कालान्तर में विस्मरण नहीं होता उसे धारणा कहते हैं। जैसे 'यह वही बकपंक्ति है जिसे प्रात काल मैंने देखा था' ऐसा जानना धारणा है।

यह चारों प्रकार का ज्ञान बहुविधादि विशेषण रूप भी होता है यथा "बहुबहुविधक्षिप्रानि सृतानुक्तध्रुवाणा सेतराणाम्॥" अर्थात् सेतर (प्रतिपक्षसहित) बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि सृत, अनुक्त और ध्रुव के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणारूप मतिज्ञान होता है।

उपर्युक्त भेदों में अवग्रहादि क्रिया विशेषों का प्रकरण हे उनकी अपेक्षा 'बह्वादीना सेतराणाम् इस प्रकार कर्म कारक का निर्देश है। बहुशब्द सख्यावाची व वैपुल्य वाची दोनों प्रकार से है यथा सख्यावाची में एक-दो बहुत तथा वैपुल्यवाची में बहुत भात, बहुत दालादि।

विधशब्द प्रकारवाची है। क्षिप्र शब्द का ग्रहण सूत्र में जल्दी होने वाले ज्ञान के जताने के लिए किया है। जब पूरी वस्तु प्रकट न होकर कुछ प्रकट रहती है और कुछ अप्रकट तब वह अनि सृत कही जाती है और जो कही या बिना कही वस्तु अभिप्राय से जानी जाती है उसके ग्रहण हेतु अनुक्तपद है। और जो यथार्थ ग्रहण निरन्तर होता है उसके ज्ञान के लिए ध्रुव पद दिया है। इनसे प्रतिपक्षभूत पदार्थों का सग्रह करने के लिए 'सेतर' पद दिया है। बहुत

का अवग्रह, अल्प का अवग्रह, बहुविध एकविध का अवग्रह, क्षिप्रावग्रह-अक्षिप्रावग्रह, अनिसृतावग्रह-निसृतावग्रह, अनुक्त-उक्तावग्रह, तथा ध्रुव-अध्रुवावग्रह ये अवग्रह के १२ भेद हैं। इसी प्रकार ईहादिक में से प्रत्येक के १२-१२ भेद हैं। ये सब पृथक्-पृथक् पाँच इन्द्रिय व मन के द्वारा उत्पन्न जानना चाहिए।

अव्यक्त शब्दादि के समूह को व्यजन कहते है। उसका अवग्रह ही होता है, ईहादिक नहीं। चक्षु इन्द्रिय और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता कारण कि चक्षु व मन अप्राप्यकारी हैं चूकि नेत्र अप्राप्त, योग्य दिशा में अव्यवस्थित, युक्त, सन्निकर्ष के योग्य देश में अवस्थित और बाह्य प्रकाश आदि से व्यक्त हुए पदार्थ को ग्रहण करता है। और मन भी अप्राप्त अर्थ को ग्रहण करता है। अत इन दोनों के द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता। चक्षुइन्द्रिय व मन अप्राप्यकारी है यह आगम व युक्ति से सिद्ध है। यथा आगम से-श्रोत्र (कर्ण) स्पष्ट शब्द को सुनता है, नेत्र अस्पृष्ट रूप को ही देखता है तथा घ्राण रसना व स्पर्शेन्द्रियाँ क्रम से स्पष्ट गध, रस, व स्पर्श को ही जानती है।

युक्ति से—चक्षुइन्द्रिय अप्राप्यकारी है क्योंकि वह स्पृष्ट पदार्थ को नही ग्रहण करती, यदि चक्षुइन्द्रिय प्राप्यकारी होती तो वह त्वचा इन्द्रिय के समान स्पृष्ट हुए अजन को ग्रहण करती, किन्तु वह स्पृष्ट अजन को ग्रहण नहीं करती, अत सिद्ध है कि मन के समान चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। चक्षु और मन को छोड़कर शेष इन्द्रियों के व्यञ्जनावग्रह होता है। तथा सब इन्द्रिय व मन के अर्थावग्रह होता है।
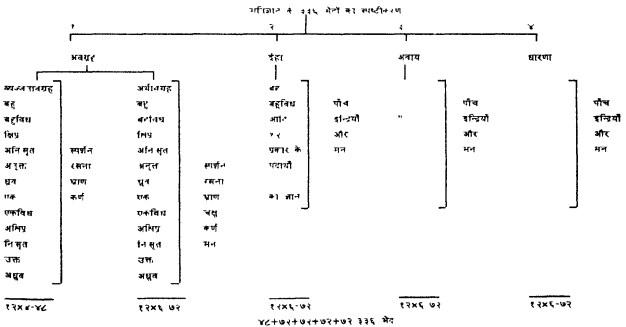
श्रुतज्ञान के भेद—श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। वह दो प्रकार, अनेक प्रकार एवं १२ प्रकार का होता है।
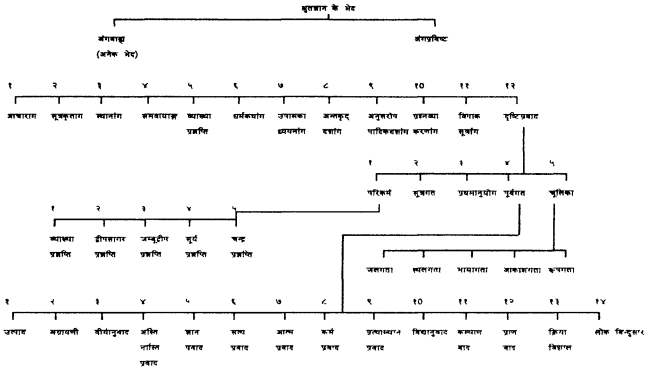
जैसा कि पूर्वोक्त विदित है श्रुतज्ञान मूलत अग बाह्य और अग प्रविष्ट के भेद से द्विप्रकार है। उसमें अंगबाह्य आचारागादि के भेद से बारह प्रकार का है। भगवान महावीर रूपी हिमाचल से निकली हुई वाग्गगा के अर्थ रूप जल से जिनका अन्त करण अत्यन्त निर्मल है उन बुद्धि-ऋद्धि के धनी गणधरों द्वारा ग्रन्थरूप में रचे गये आचाराग आदि बारह अग है।

आचाराग में भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भिक्षा, प्रतिष्ठापन, शयनासन और वाक्य इन आठ शुद्धियों का, ईर्या, भाषण आदि ५ समितियों का, मन वचन काय रूप त्रिगुप्तियों का विशद वर्णन है।

सूत्रकृताग—द्वितीय अग में ज्ञान विनय, क्या कल्प्य है क्या अकल्प्य है, छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्म की क्रियाओं का वर्णन है।

स्थानाग—तृतीयाग में एक एक दो दो आदि के रूप से अर्थों का वर्णन है।

समवायांग—चतुर्थांग में सर्व पदार्थों की समानता रूप से समवाय का विचार किया गया है। वह समवाय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है। जैसे धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के तुल्य, असंख्यात प्रदेश होने से इन्हें द्रव्यरूप समवाय कहा जाता

है। जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि, अप्रतिष्ठान नरक, नदीश्वर द्वीप की वावडी ये सब एक लाख योजन विस्तार होने से इनका क्षेत्र की दृष्टि से समवाय है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दोनों दसकोडाकोडी सागर प्रमाण होने से इनका काल की दृष्टि से समवाय है। क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यातचारित्र ये सब अनंत विशुद्धि रूप से भाव समवाय वाले हैं।

व्याख्याप्रज्ञप्ति अग—इसमें जीव है कि नहीं आदि साठ हजार प्रश्नों के उत्तर हैं।

ज्ञातृधर्मकथाग—इसमें अनेक आख्यान और उपाख्यानों का निरूपण है।

उपासकाध्ययनाग—इसमें श्रावक धर्म का विशेष विवेचन किया गया है।

अन्त कृद्दशाग—ससार का जिन्होंने अन्त कर दिया है वे अन्त कृत हैं। जैसे वर्द्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में नमि, मतंग, सोमिल, सुदर्शन, यमलीक, वलील, निष्कम्बल, पाल, रामपुत्र और अम्बष्ठपुत्र ये १० मुनि घोर उपसर्ग सहन करके सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर अन्त कृत केवली हुए हैं। उसी प्रकार ऋषभादि तीर्थंकरों के समय में भी दस-दस मुनि घोर उपसर्ग सहन करके अन्तकृत केवली हुए हैं। उन दस-दस मुनियों का वर्णन जिसमें है उसको अन्तकृद्दशांग कहते हैं। अथवा अन्त कृतों की दशा अन्तकृत्-दशा इसमें अर्हद् आचार्य होने की विधि तथा सिद्ध होने की अन्तिम विधि का वर्णन है।

अनुत्तरौपपादिकदशाग—उपपाद जन्म ही जिसका प्रयोजन है वे औपपादिक हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाच अनुत्तरों में उत्पन्न होने वाले को अनुत्तरौपादिक कहते हैं। भ महावीर के समय में ऋपिदास, वान्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नद, नंदन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये १० मुनि दारुण उपसर्ग सहनकर पचानुत्तरों में उत्पन्न हुए। इसी तरह अन्य २३ तीर्थंकरों के समय में भी १०-१० मुनि अनुत्तरवासी हुए, अतएव अनुत्तरौपपादिकों की दशा का वर्णन वाला ग्रन्थ अनुत्तरौपपादिकांग है।

प्रश्नव्याकरणाग—इसमें युक्ति और नयों के द्वारा अनेक आक्षेप विक्षेप रूप प्रश्नों का उत्तर है तथा इसमें सभी लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया गया है।

विपाकसूत्राग—इसमें पुण्य और पाप के विपाक का विचार कथन है।

दृष्टिवादाग—इसमें कौत्कल, कौशिक आदि क्रियावादियों के १८०, मरीचि कुमार, कपिल, उलूकादि अक्रियावादियों के ८४, साकल्य, वल्कल, कुथुमि आदि अज्ञानवादियों के ६७, वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण आदि वैज्ञानिकों के ३२ कुल मिलाकर मिथ्यादृष्टियों के ३६३ भेदों का वर्णन हैं। इस दृष्टिवाद के ५ भेद हैं। परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इनमें पूर्वगत १४ प्रकार का है।

१-उत्पादपूर्व—काल, पुद्गल, जीव आदि की जिसकाल में, जिस क्षेत्र में, जिस पर्याय से उत्पत्ति होती है। उसका वर्णन करने वाला उत्पादपूर्व है।

२-अग्रायणीपूर्व—जिसमें क्रियावादियों की प्रक्रिया, अग्रणी के समान अंगादि तथा स्वसमय के विषय का विवेचन किया गया है वह अग्रायणी पूर्व है।

३-वीर्यप्रवादपूर्व—छद्मस्थ और केवलियों की शक्ति, सुरेन्द्र, असुरेन्द्रादि की ऋद्धि व नरेन्द्र चक्रवर्ती बलदेव आदि के सामर्थ्य और द्रव्यों के समीचीन लक्षण आदि का कथन करने वाला वीर्यप्रवाद पूर्व है।

४-अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व—जिसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश इन पाच अस्तिकायों का नयों का, अस्तिनास्ति आदि अनेक पर्यायों द्वारा विवेचन है अथवा जीवादि छहों द्रव्यों का उभयनय के द्वारा वशीकृत, अर्पित, अनर्पित, स्वपर पर्याय के कारणभाव, अभाव से जो वर्णन करता है वह स्व द्रव्य-क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अस्तिरूप तथा पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा नास्तिरूप है ऐसा नयापेक्षया वर्णन करने वाला अस्ति-नास्ति प्रवाद है।

५-ज्ञानप्रवाद पूर्व—जिसमें प्रादुर्भाव विपयों के आयतन स्वरूप ज्ञानियों के ५ ज्ञानों एव अज्ञानियों के विपयों के आयतन इन्द्रियों का विभाग कारक कथन है वह ज्ञानप्रवादपूर्व है।

६-सत्यप्रवादपूर्व—जिसमें वाग्गुप्ति, वचनसस्कार के कारण, वचनप्रयोग, द्वादश विध भाषा, वक्ताओं के प्रकार, मृषाभिधान, और दसविध सत्य के सद्भाव का वर्णन है वह सत्यप्रवाद पूर्व है। वचनवर्गणा को रोकना वाग्गुप्ति है। वचनसस्कार के कारण सिर, कंठ, ओष्ठ, जिह्वा, मूर्धा, तालु, दत, नासिकादि अष्टस्थान हैं। वचन प्रयोग शुभाशुभ द्विविध है। अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, असम्बद्धप्रलाप, रतिवाक्, अरतिवाक्, उपधिवाक्, निकृतिवाक्, अपणतिवाक्, मोपवाक् सम्यग्दर्शनवाक् एव मिथ्यादर्शनवाक् यह द्वादशविध भाषा है। आविष्कृत वक्तृत्व पर्यायवाले द्वीन्द्रियादि जीव वक्ता हैं अर्थात् जो शब्दोच्चारण कर सकते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के आश्रय से, मृषाभिधान भी अनेक प्रकार का है। नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीतिसत्य, सवृत्तिसत्य, सयोगसत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य और समयसत्य ये दसविध सत्यसद्भाव है।

७-आत्मप्रवादपूर्व—जिसमें आत्मा का अस्तित्व, नास्तित्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आदि धर्म और पट्जीव निकाय के भेदों का युक्ति से निरूपण वर्णित है वह आत्मप्रवाद पूर्व है।

८-कर्मप्रवादपूर्व—जिसमें कर्मों के बध, उदय, उदीरणा, उपशमन आदि दशाओं का तथा जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टादि स्थितियों व प्रदेशों के समूह का वर्णन वर्णित है वह कर्मप्रवादपूर्व है।

९-प्रत्याख्यानपूर्व—जिसमें व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, तप, कल्प, उपसर्ग, आचार, आराधना, विशुद्धि का उपक्रमादि व मुनियों के आचरणभूत कारण तथा परिमित, अपरिमित द्रव्य के प्रत्याख्यानादि का वर्णन है वह प्रत्याख्यानपूर्व है।

१० विद्यानुवादपूर्व—जिसमें समस्त विद्याओं, अष्टागनिमित्त, उनका विपय, रज्जु, राशिविध,

क्षेत्र, श्रेणी, लोक-प्रतिष्ठा, समुद्घातादि का विवेचन है, वह विद्यानुवादपूर्व है।

११. कल्याणपूर्व—जिसमें सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारागणों का गमनक्षेत्र, उपपाद क्षेत्र, शकुनादि का तथा अर्हत् बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि का गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण, पंचकल्याणकों का वर्णन है वह कल्याणपूर्व है।

१२. प्राणावायपूर्व—कायचिकित्सादि आठ अग, आयुर्वेद, भूतिकर्म, जागुलिप्रक्रम, प्राणापान के विभाग का जिसमें सविस्तार वर्णन है वह प्राणावायपूर्व है।

१३. क्रियाविशालपूर्व—लेखनक्रियादि, पुरुषों की ७२ कलाओं का, स्त्रियों की ६४ कलाओं का तथा शिल्प, काव्यगुणदोष, छन्द, क्रिया, क्रिया का फल व उसके भोक्ता आदि का सविस्तार वर्णन जिसमें वर्णित है वह क्रियाविशालपूर्व है।

१४ लोकबिन्दुसार—अष्ठविध व्यवहार, चतुर्विध बीजराशि, परिकर्मादि गणित तथा सकल श्रुतसम्पत्ति का वर्णन जिसमें है वह लोकबिन्दुसार पूर्व है।

आरातीय आचार्यकृत अगअर्थ के आधार से रचे गये ग्रन्थ अगबाह्य है। अथवा श्रुतार्थ ज्ञाता, गणधरदेव के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा कालकोप के वशीभूत छद्मस्थ प्राणियों के अनुगहार्थ अगाधार से रचित सक्षिप्त ग्रन्थ अगबाह्य है।

अवधिज्ञान के भेद

अवधिज्ञान दो प्रकार का है—भव्यप्रत्यय और गुणप्रत्यय।

अवधिज्ञान—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लेकर जो रूपी पदार्थों को विषय करता
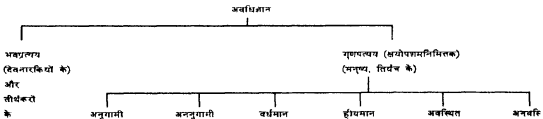
है वह अवधिज्ञान है। जैसा कि सूत्र में कहा है "रूपिष्ववधे" अर्थात् रूपी पदार्थों में ही अवधिज्ञान का विषय सम्बन्ध है, अरूपी पदार्थों में नहीं— यह नियम किया गया है। रूपी पदार्थों में होता हुआ भी उनकी सब पर्यायों में नहीं होता किन्तु स्वयोग्य पर्यायों में ही होता है।

भवप्रत्ययावधिज्ञान—आयुनामकर्म के उदय का निमित्त पाकर जो जीव की पर्याय होती है उसे भव कहते हैं प्रत्यय, कारण, निमित्त, ये एकार्थवाची नाम है। अतएव जिस अवधिज्ञान के होने में भव निमित्त है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है तथा देव व नारकियों के होता है। भव के आश्रय से क्षयोपशम की सिद्धि हो जाती है ऐसा समझकर भवप्रधान कारण उपदिष्ट किया गया है, जैसे पक्षियों का आकाश में गमन करना भवनिमित्तक होता है। शिक्षागुण की अपेक्षा से नहीं होता है वैसे ही देव और नारकियों के व्रतनियमादिक के अभाव में भी अवधिज्ञान होता है। इसलिए उसे भवनिमित्तक कहते हैं।

क्षयोपशम निमित्तक (गुणप्रत्यय) अवधिज्ञान—"क्षयोपशम निमित्त षड्विकल्प शेषाणाम्" (अ १, सू २२) अवधिज्ञानावरण कर्म के देशघातिस्पर्धकों का उदय रहते हुए सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और अनुदयप्राप्त इन्हीं का सदवस्थारूप उपशम इन दोनो के निमित्त से जो होता है वह क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान है। तथा शेष जीवों के अर्थात् मनुष्य व तिर्यञ्च के होता है उनमें भी सज्ञी व पर्याप्तकों के तथा उनमें भी जिन्हें यथोक्त सम्यग्दर्शनादि निमित्तों के मिलने पर जिनके अवधिज्ञानावरण कर्म शान्त व क्षीण हो गया है उनके यह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान होता है तथा अनुगामी, अननुगामी आदि के भेद से ६ प्रकार का होता है।

अनुगामी—स्वामी का अनुसरण करने वाला, जैसे सूर्य का प्रकाश उसके साथ जाता है, अनुगामीगुणप्रत्ययावधिज्ञान है।

अननुगामी—कोई अवधिज्ञान स्वामी का अनुसरण नहीं करता, किन्तु जैसे विमुख हुए पुरुष के प्रश्न के उत्तर स्वरूप दूसरा पुरुष जो वचन कहता है वह वहीं छूट जाता है, विमुख पुरुष उसे ग्रहण नहीं करता वैसे ही यह अवधिज्ञान भी वहीं छूट जाता है।

वर्द्धमान—जंगल के निर्मन्थन से उत्पन्न हुई और सूखे पत्तो से उपचीयमान ईंधन के समुदाय से वृद्धि को प्राप्त हुई अग्नि के समान सम्यग्दर्शनादि गुणों की विशुद्धिरूप परिणामों के सन्निधानवश जितने परिमाण में उत्पन्न होता है उससे असख्यात लोक जानने की योग्यता होने तक वढने वाला वर्द्धमान गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है।

हीयमान—परिमित उपादानसन्तति वाली अग्निशिखा के समान सम्यग्दर्शनादि गुणों की हानि से हुए सक्लेश परिणामो के बढने से जितने परिमाण में उत्पन्न होता है उससे मात्र अगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जानने की योग्यता होने तक घटने वाला हीयमान गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है।

अवस्थित—सम्यग्दर्शनादि गुणों के समानरूप से स्थिर रहने के कारण जितने परिमाण में

उत्पन्न होता है उतना ही बना रहता है, पर्याय के समान न घटता है और न बढता है— यह अवस्थित गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है।

अनवस्थित—वायु के वेग से प्रेरित होकर जल की तरंगों के समान सम्यग्दर्शनादि गुणों की कभी वृद्धि और कभी हानि होने से जितने परिमाण में उत्पन्न होता है, उससे बढता है जहाँ तक उसे बढना चाहिए और घटता है जहाँ तक उसे घटना चाहिए—यह अनवस्थित गुणप्रत्ययावधिज्ञान है। इस प्रकार क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान ६ भेद वाला है।

मनःपर्ययज्ञान व भेद

वीर्यान्तराय और मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम ओर अगोपाग नामकर्म के आलम्बन से आत्मा में जो दूसरे के मन के सबध से उपयोग जन्म लेता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। इसके केवल दो भेद हैं—ऋजुमति एव विपुलमति।

ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान—यह ज्ञान उसी के द्वारा विचारे गये पदार्थ को जानता है जिसका मन सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित है अथवा ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान तीनों काल के विषय को जानता हुआ भी अतीत और अनागत मन के विषय को नहीं जानता किन्तु जो जीव विद्यमान है और वर्तमानकाल में विचार कर रहा है उसी के मन से सम्बन्ध रखने वाले तीनों काल के विषय को जानता है।

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान—यह ज्ञान उन सभी विषयों को जानता है जिनका चितवन किया जा चुका है, चिन्तवन किया जा रहा है, या चिन्तवन किया जायेगा, ऐसा विषयभूत विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान है।

विशेष—ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य जीवों के २-३ भवो को ग्रहण करता है, उत्कृष्ट से गति और अगति की अपेक्षा ७-८ भवों को ग्रहण करता है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से गव्यूतिपृथक्त्व और उत्कृष्ट से योजन- पृथक्त्व के भीतर की बात जानता है, इससे बाहर की नहीं। विपुलमति काल की अपेक्षा जघन्य से ७-८ भवों को ग्रहण करता है, उत्कृष्ट से गति और अगति की अपेक्षा असख्यात भवों का कथन करता है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से योजन- पृथक्त्व और उत्कृष्ट से मानुषोत्तर पर्वत के भीतर की बात जानता है इससे बाहर की नहीं। विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा भी इन दोनों में अन्तर है। मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जो आत्मा में निर्मलता आती है उसे विशुद्धि कहते हैं। अशान्तकषाय जीव का चारित्रमोहनीय के उदय से संयम शिखर छूट जाता है जिससे प्रतिपात होता है और क्षीणकषाय जीव का पतन का कारण न होने से प्रतिपात नहीं होता। यह अप्रतिपात की अपेक्षा अन्तर है। ऋजुमति स्थूल ज्ञान है और विपुलमति सूक्ष्मज्ञान। दानों ज्ञानों के अन्तर का एक कारण और है जो कि प्रतिपात-अप्रतिपात रूप है। ऐसा नियम है कि विपुलमति मनःपर्ययज्ञान

उसी के होता है जो तद्भव मोक्षगामी होते हुए भी क्षपक श्रेणी पर चढता है किन्तु ऋजुमति मनपर्ययज्ञान के लिए ऐसा नहीं है। वह तद्भव मोक्षगामी के भी हो सकता है और अन्य के भी हो सकता है। इसी प्रकार जो क्षपक श्रेणी पर चढता है उसके भी होता है और अन्य के भी हो सकता है। और जो उसपर नहीं चढकर उपशम की श्रेणी पर चढता है या नहीं भी चढता है उसके भी हो सकता है। इसी से ऋजुमति प्रतिपाती और विपुलमति अप्रतिपाती माना गया है। यह विशेषता योग्यता-जन्य है। सर्वावधिज्ञान जिस रूपी द्रव्य को जानता है उसके अनन्तवें भाग सूक्ष्म को यह मनपर्ययज्ञान जानता है। अर्थात् मनपर्ययज्ञान अवधिज्ञान से अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य को जानने की शक्ति रखता है।

केवलज्ञान

"सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" अर्थात् केवलज्ञान सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों को विषय करता है। जीवद्रव्य अनन्तानन्त हैं। पुद्गल द्रव्य इनसे भी अनन्तानन्त गुणे हैं जिनके अणु और स्कन्ध ये भेद हैं। धर्म, अधर्म, व आकाश तीन, तथा काल असख्यात हैं इन सब द्रव्यों की पृथक्-पृथक् तीनों कालों में होने वाली अनतानन्त पर्यायें हैं। इन सबमें केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है। ऐसा कोई भी द्रव्य और पर्यायसमूह नहीं जो केवलज्ञान के विषय के परे हो। अतएव इस केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है।

एक जीवात्मा की अपेक्षा एक साथ १ से लेकर ४ ज्ञान तक होते हैं। यदि एक ज्ञान होता है तो केवलज्ञान, इसके साथ अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते हैं। यदि २ ज्ञान होते हैं तो मति एव श्रुतज्ञान। तीन होते हैं तो मति, श्रुत, अवधि, या मति, श्रुत, मनपर्यय ज्ञान। और यदि ४ होते हैं तो मति, श्रुत, अवधि और मनपर्यय ज्ञान होते हैं। एक साथ पॉच ज्ञान नहीं होते क्योंकि केवलज्ञान असहाय है।

विशेष—ज्ञान एक है अत उसकी पर्याय भी एक काल में एक ही हो सकती है लेकिन एक आत्मा में एक साथ कई ज्ञान होने में कारण यह कि जब ज्ञान निरावरण होता है तब तो वह अभेद वाला होता है अतएव ऐसी अवस्था में एक केवलज्ञान पर्याय का ही प्रकाश माना गया है किन्तु ससारावस्था में ज्ञान सावरण होता है तब निमित्त भेद से उसी ज्ञान को विभक्त कर दिया जाता है। सावरणावस्था में होने वाल ज्ञान क्षायोपशमिक ही होते हैं। क्षयोपशम एक साथ कई प्रकार का हो सकता है इसलिए सावरण दशा में २-३-४ ज्ञान की सत्ता युगपत् मानी गयी है। लेकिन यह सभी ज्ञान युगपत् सत्ताधीन होने पर भी उपयोग रूप नहीं होते, उपयोग तो एक काल में एक ही ज्ञान का होता है, अन्य ज्ञान उस समय लब्धि रूप से रहते हैं। ज्ञान की उपयोगात्मक पर्याय प्रत्येक क्षण रहती है। एक जीवद्रव्य में युगपत् ४ ज्ञानों की सत्ता स्वीकारने में एकमात्र निमित्त भेद है। जब मति श्रुत दो पर्यायों के प्रकट होने का क्षयोपशम

विद्यमान रहता है तब युगपत् दो ज्ञानों का सद्भाव कहा जाता है। इसी प्रकार से ३ व ४ ज्ञानों के प्रकट होने का क्षयोपशम विद्यमान होने पर ३-४ ज्ञानो का सद्भाव माना जाता है।

उपसंहार रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि ज्ञानपिण्ड जीवद्रव्य में यह केवलज्ञान रूप पर्याय प्रकट हो जाये तो अनुपम, निराबाध, शाश्वत सुख को प्राप्त करना दुर्लभ नहीं है, कारण कि केवलज्ञान रूप अरहंतावस्था से ही सिद्धदशा प्राप्त होती है। लेकिन केवलज्ञान तक पहुँचाने का निमित्तभूत सम्यग्ज्ञान ही ससारी प्राणियों के लिए कार्यकारी है। कारण कि द्रव्यश्रुत ही भावश्रुत का अवलम्बन होता है।

अतएव प्रत्येक ससारी को जो पारमार्थिक सुख का इच्छुक है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करने का पुरुषार्थ कर मोक्षमार्ग पर आरूढ हो जाना चाहिए।

ज्ञानदर्शन ही आत्मा है

❑ प्रो. खुशालचन्द गोरावाला, वाराणसी

वेदों में श्रमण (व्रात्य) संस्कृति

वेद (ऋक्) विश्व की प्राचीनतम पुस्तक रूप से मान्य है। इसे 'आर्य' जन एव सस्कृति के साहित्यिक आद्यस्रोत रूप से पाश्चात्य मनीपियों ने भी मान कर इसका गभीर मन्थन किया है। भापा, परम्परा, परिसर, सस्कृति आदि साधनो की जन्मजात सुविधाऐं न होने पर भी उनकी शारदा-साधना सर्वथा स्तुत्य है। किन्तु जन्मना भापा, परम्परा, परिसर, सस्कृति तथा परिवर्तित या परिवर्द्धित उत्तररूपों के उत्तराधिकारी भारतीय मनीपियों की पतीक्षा मे आज भी वेद हैं। क्योंकि सस्कृत को साहित्यिक (क्लासीकल) विशुद्धरूप देने वालों में सुविख्यात पाणिनीय के वृत्तिकार पतञ्जलि के समय तक, वेद द्वारा सकेतित या उल्लिखित प्राग्वैदिक जनों एव सस्कृति मे 'शाश्वतिक विरोध' था। फलत वेद के प्रमुख टीकाकार महीधर या सायण भी पातञ्जलि की आद्य परम्परा को सकेतित करने वाली परम्पराओ को न पा सकने के कारण, पातञ्जलियुग में सुस्पष्ट परम्परा द्योतक शब्दों या उद्धरणो की स्वकालीन चमत्कारपरक व्याख्याऐं करने को विवश हुए होंगे। क्योंकि उपनिपद्काल के बाद या अथर्ववेद के सकलन या लिखे जाने के बाद ही प्राग्वैदिक एव वैदिक जनों में ऐसा सास्कृतिक आदान-प्रदान हुआ था कि दोनों का 'शाश्वतिक समन्वय' हो गया था, जैसा कि अथर्ववेद के सूक्त की देवजिज्ञासा से स्पष्ट है। क्योंकि कर्मकाण्ड प्रधान आर्यजन के अग्नि-वरुण-इन्द्र-सोम ही देव थे।ये वानप्रस्थ आश्रम को ही चरम साधना स्वीकारते थे। इसी तरह पुत्रसूय, राजसूय आदि के बाद स्वर्गकाम ही होते थे।

आर्यो में दार्शनिक विकास

'अरण्यक' एव उपनिपद् काल में अथर्ववेदीय देव-जिज्ञासा आत्मा, परलोक, सन्यास, मोक्ष आदि के साथ कर्म या चारित्र की प्रधानता में बदल जाती है। जबकि यूरेशिया में पहुचे आर्य (पारसी) ध्रुववास वाले देवो तथा उत्तरकाल में इस्लामी होकर भी पशुबलि प्रधान ही रह जाते हैं। ख्रीस्त धर्म ने इस्लाम की पशुबलि के स्थान पर अन्नबलि और दया तथा सेवा को ही अपनाया। पाश्चात्य मनीपियों को ऐसी आशका है कि महात्मा ईसा द्रविड या प्राग्वैदिक जन के सम्पर्क में आये होंगे जो मोक्षगामी होने के कारण गृहस्थ-यति साधना, परलोक, कर्मप्रधानता को मानते थे। तथा पशुबलि तो क्या, अनावश्यक वनस्पति-विनाश को भी असयम समझकर उसे भी सीमित

करते थे। तथा आर्यों के सम्पर्क में आकर वे भी अहिंसक-कर्मकाण्ड या बलि को करने पर भी आत्मज्ञान, त्याग एव सयम को ही मोक्ष का मार्ग मानते थे।

प्राग्वैदिक तत्त्वज्ञान स्रोत

सस्कृत शब्द ही अपने विकास की गाथा है क्योंकि वैदिक-सस्कृत प्राग्वैदिक भाषा (प्राकृत) का सम्हलता रूप है। भारत में प्राग्वैदिक युग में १८ प्राकृत थीं। इनमें से शौरसेनी, मागधी आदि प्राकृतों में आज भी विपुल आध्यात्मिक एव दार्शनिक साहित्य उपलब्ध है। यह उस ज्ञान का भंडार है जिसे वेदों ने दासों-व्रात्यों-पणियों का धर्म या भिन्न सस्कृति कह करके उल्लेख किया है। वर्तमान कालचक्र में व्रात्य-साहित्य मान्य आदिपुरुष को "जीव अजीव दव्वं जिणवर वसहेण जेण णिद्दिट्ठ। देविदविद वन्द वन्दे त सव्वदा सिरसा" रूप में स्मरण किया है। तात्पर्य यह है कि व्रात्यों या प्राग्वैदिक जनों में वृषभ को जीव-अजीव तथा इनके निमित्त नैमित्तक रूप से आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा तथा मोक्ष तत्त्वों का आद्य-उपदेशक माना है। लोक में सुज्ञात पुण्य-पाप को आस्रव रूप होने से पृथक् तत्त्व-मान्यता नहीं है। लोक को आत्मभूत, रक्षित-विनष्ट मानते हुए ऋषभदेव ने जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश एव काल को कहा है (जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयास। तच्चत्था इदि भणिदा, णाणागुण पज्जएहि सजुत्ता।।) तथा प्रकृत्या परप्रभावहीन जीव का लक्ष्य स्व-स्वरूप प्राप्ति या मोक्ष कहते हुए जीव आदि का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उनका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा आस्रव-बध के कारण राग-द्वेषादि का त्याग ही सम्यक्चारित्र है (जीवादि सद्दहण समत्त, तेसिमधिगमा णाण। रायादि परिहरण, चारित्त एसो दु मोक्ख पहो।।स मा) तथा यही तीनों अनादि काल से ससार मे पडे जीव के लिए मोक्ष या अपने शाश्वत निजरूप की प्राप्ति के कारण हैं।

दार्शनिक समता

जैसाकि ऊपर सकेत किया है कि वैदिकजन कर्मकाण्डी थे और अरण्यक तथा उपनिषद् काल में आत्मधर्म या जीवधर्म जिज्ञासा होने पर वैदिक-साख्य यागादि षड्दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ है। यह दार्शनिक विकास प्राग्वैदिक 'व्रात्य' वृषभ की दार्शनिक मान्यता के निकट है। जैसा कि साख्य पुरुष (चेतन) और प्रकृति (अचेतन) दो मुख्य तत्त्व मानता है तथा पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति ही महत् (बुद्धि), अह, मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय तन्मात्राएँ, सत्त्वादि तीन गुण तथा व्यक्त-अव्यक्त होते हैं तथा सृष्टिचक्र चलता है। योग—मन और इन्द्रियों का विग्रह ही योग है जिसके द्वारा पुरुष या आत्मा परमात्मा बनता है। राजयोग और हठयोग रूप से दो रूप योग ही ज्ञान-कर्म-भक्ति-मत्र-लय-हठ-राजयोग भेद से सात प्रकार का होता है। उपनिषदों ने योग का आद्यप्रवर्त्तक 'हिरण्यगर्भ-स्वयभू' को माना है। मीमांसा का आद्यसूत्र 'अथातो

धर्म जिज्ञासा' ही स्पष्ट करता है कि कर्मकाण्ड प्रारम्भ है। प्रगति के लिए कर्म या पूर्व मीमांसा ज्ञान तथा यज्ञादि द्वारा बाह्य पदार्थों से विरत करती है। मध्य या देवी मीमासा भक्तिभाव द्वारा अहंकार से उभारती है तथा उत्तर या ज्ञानमीमांसा ज्ञेय-ज्ञाता-ज्ञान के विकल्पों को पार करा के चिदानन्द स्वरूप में स्थापित करती है। ज्ञानमीमांसा को ही वेदान्त कहा है क्योंकि स्वरूपस्थिति ही तो ज्ञेय तथा परमज्ञप्ति है। वैशेपिक—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव ये सात पदार्थ मानते हैं। तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन ये नौ द्रव्य मान कर सृष्टिरचयिता रूप से ईश्वर की प्रतिष्ठा करते हैं। नैयायिक तर्क के द्वारा वैशेषिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा करते हैं। दोनों ही वेद तथा ईश्वर को मानते हैं। किन्तु उत्तरकाल में वैशेषिक आत्मा, अनात्मा, परमाणुस्वरूप के विशेष चिन्तक हो गये और प्रत्यक्ष तथा अनुमान को ही ज्ञेय-प्रकाशक प्रमाण मानने लगे तथा नैयायिक तर्क-प्रधान होकर उपमान एव शब्द प्रमाणवादी हो गये।

इस भारतीय या वेदोत्तरकालीन वैदिक दर्शनों की विकासकथा स्पष्ट सकेत करती है कि आर्यजन भारत में बसने के बाद ही कर्मकाण्ड से आगे बढकर आत्म, परलोक, आचरण या कर्मवादी होकर परमात्मतत्व आर्यों की ओर बढे थे। तथा आर्यों के इस दार्शनिक विकास का स्रोत वे प्राग्वैदिक जन थे जिनकी व्रत-प्रधान सस्कृति प्रारम्भ से थी। तथा जो पत्येक जीव या आत्मा को अपना कर्ता-रक्षक-विनाशक मानते थे कर्म के आधार पर जीव का उत्थान-पतन ही नहीं, मोक्ष भी मानते थे तथा गृही और गृहत्यागी या जातरूप (दिगम्बरत्व) को त्याग की पराकाष्ठा मानते थे। वे परकर्तृत्व से विमुख थे। उनके यहाँ परमात्मा (जीवन्मुक्त केवली या सिद्ध) आदर्श थे, जिनसे प्रेरित होकर प्रत्येक जीव उनके ही समान हो सकता था। वे उस स्वयभू हिरण्यगर्भ प्रजापति वृषभ को अपना आदिपुरुष मानते थे जिसने जीव-अजीव आदि छह द्रव्यो, सात तत्त्वों का उपदेश देने के पहले प्रजा को असि-मसि, कृषि आजीविकाओं को सिखाने के बाद समुद्रान्त भारत की मान्यता को छोडकर, त्याग-तप की आराधना करके केवलज्ञानी (आत्मरूपी) होकर ही किया था। उन्होंने सृष्टि के प्रधान दो (जीव-अजीव) तत्त्वों के हार्द को समझ लिया था। उनके अनुसार जीव का असाधारण परद्रव्यावर्तक धर्म ज्ञान था तथा रूप-रस-गध-स्पर्शमयता अजीव या पुद्गल के असाधारण धर्म थे।

ज्ञाता-द्रष्टा जीव या आत्मा

उनके अनुसार 'विविध सद्भावमय पर्यायों को जो द्रवित (प्राप्त) होता है वह द्रव्य है, वह सत्तारूप से अभिन्न है (दवियदि गच्छदि ताइं ताइ सब्भावपज्जयाइ ज दविय त भणंति अण्णभूद तु सत्तादो।) इसे ही स्पष्ट करते हुए कहा है— 'उत्पाद-व्यय-ध्रुव सयुक्त सामान्य सद्रूप द्रव्य है (दव्व सल्लखणयं उप्पादव्वयधुवत्तसजुत्त।) वह गुणों का समुदाय है (गुणसमुदायो

दव्व।) तथा पर्यायों वाला है। द्रव्य के जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल छह भेद हैं। ये विविध गुण-पर्यायों से युक्त है। ज्ञानरूप आत्म या निजद्रव्य को जानने के लिए द्रव्यविस्तार का विवेचन है (णियदव्व जाणणट्ठ इयर कहिय जिणेहि छद्दब्ब।) तम्हा पर छद्दब्वे जाणग भावो ण होई सण्णाण।) फलत परम या स्वद्रव्य जीव को यथार्थ में जानो क्यों कि यह सब द्रव्यों से उत्तम होते हुए उत्तम गुण (ज्ञान) का धाम है और तत्त्वों में परम तत्त्व है (उत्तमगुणधामं सव्वदव्वाण उत्तमं दव्व। तच्चाण परमतच्च जीव जाणेहि णिच्चयदो।) वह उत्तम तत्त्व जीव उपयोगमय है। उपयोग ज्ञान दर्शन रूप से दो प्रकार का है (जीवो उपओगमयो उपओगो णाण दसणो होई।) ज्ञानोपयोग स्वभाव-विभावरूप से दो प्रकार का है। स्वभाव ज्ञानोपयोग केवलज्ञान है। यह मन तथा इन्द्रियों की सहायता बिना ज्ञानस्वरूप आत्मा का अपना विशुद्ध रूप है। विभाव ज्ञानोपयोग सज्ञान और अज्ञान भेद से दो प्रकार का है। प्रथम मति-श्रुत-अवधि-मनपर्यय के भेद से चार प्रकार का है तथा अज्ञान कुमति-कुश्रुत-कुअवधि भेद से तीन प्रकार का है। दर्शनोपयोग-केवल, चक्षु, अचक्षु तथा अवधि के भेद से चार प्रकार का है। ज्ञान और दर्शन उपयोग में भेद साकार और अनाकारता के कारण है। अर्थात् जीव का लक्षण ही ज्ञान है। क्योंकि 'चेतना ही जीव का लक्षण (चेयणा लक्खणो जीवो) है। वह तीन प्रकार की है शुद्ध ज्ञानचेतना, जिसमें चैतन्य राग-द्वेष रहित होकर ज्ञाता-द्रष्टा रूप में अपने स्वरूप केवल या पूर्ण ज्ञानमय रहना है। हम ससारी जीवों में वह नहीं रहती किन्तु जीव का ज्ञानस्वरूप अक्षुण्ण रहने के कारण कर्म तथा कर्मफल चेतना रूप में पायी जाती है। अर्थात् हम इष्ट-अनिष्ट रूप से पदार्थों को जानकर या सचय करके कर्मचेतक होते हैं और इन पदार्थों से सुखी-दुःखी, रागी-विरागी होकर कर्मफल-चेतक होते हैं।

जीव और ज्ञान पर्यायवाची हैं

षट्खडागम मे जीव के कर्त्ता, भोक्ता, वक्ता, प्राणी आदि अष्टादश पर्यायवाची या रूप कहे हैं। इनमें जीव का ससारी रूप में जो पुद्गल द्रव्य निर्मित कम से कम चार (इन्द्रिय, आयु, काय, श्वासोच्छ्वास) प्राणों से जीता था, जीता है और जियेगा, (पाणेहि चदुहि जीवदि, जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्व। सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहि णिव्वत्ता) वह जीव है किन्तु इस स्थिति में जब जीव सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक हो जाता है तब भी अक्षर का अनन्तवा भाग ज्ञान उसको रहता है। यद्यपि वह एक श्वासकाल में अठारह बार जनम मरण करता है। इसीलिए अक्षर को श्रमण वाङ्मय में केवलज्ञान कहा है क्योंकि इसका क्षरण (विनाश) नहीं होता (खरणाभाव अक्खरं च केवलणाण) है। जीव की ज्ञान-प्रधानता को स्पष्ट करने के लिए ही धवला में कहा है कि 'द्वादशाग ज्ञान ही आत्मा है परिणाम होने के कारण।' और परिणाम, परिणामी से अभिन्न होता है। इसे ही कुन्दकुन्दाचार्य ने इस प्रकार कहा है—'क्योंकि जीव ही जानता है इसलिए ज्ञाता या ज्ञानी है। एव ज्ञान ज्ञायक से भिन्न नहीं होता अत जीव और ज्ञानी पर्यायवाची

हैं (जम्हा जाणई णिच्च तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी। णाण च जाणआदो अव्विदरित्तं मणेयव्वं॥ ४०३)।

अनादिकाल से जीव या आत्माज्ञान स्वरूप ही है तब मोह या माया उसे अज्ञानी क्यों कैसे करते हैं? इसका समाधान श्रमण वाड्मय की कर्मव्यवस्था इस प्रकार करती है। मादक द्रव्य के सेवन से लोक में भी चेतन मत्त हो जाता है। उसी प्रकार जीव भी अजीव (पुद्गल) से बंध द्वारा एकमेक होकर अपने रूप से भ्रष्ट हो जाता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय उसके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग को ढक कर उसकी अनन्तशक्तियों को सीमित या न्यूनतम कर देते हैं। क्योंकि ये चारों आत्मा के पूर्ण रूप से रोधक हैं। तथा शेष वेदनीय (अनुभव), आयु, नाम (शरीर) और गोत्र (परिसर) आशिक रूप से आत्मरूप का आवरण करते हैं। सर्वघाती मोहादि के नाश होने पर यह आत्मा अर्धनारीश्वर (अर्ध-ना-अरि-ईश्वर=समर्थ) अर्थात् केवली या जीवन्मुक्त होकर अर्हन्त या पूज्य हो जाता है। तथा देशघाती चतुष्क से मुक्त होकर सिद्ध या परमात्मा हो जाता है। जीवन्मुक्तों में जो व्यापक रूप से उपदेश देकर आत्महित और परहित करते हैं वे तीर्थंकर (ससार-सरिता से पार जाने के घाट निर्माता) होते हैं और वे ही हिरण्यगर्भ (जिनके गर्भ में आते ही सृष्टि में स्वर्णयुग (सम्पन्नता) होते हैं। इस प्रकार ऋषभ इस कालचक्र में प्रथम हिरण्यगर्भ और स्वयभृ थे क्योंकि असि-मसि-कृषि आजीविकाओं और सत् = सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय जीवउद्धार कला को उन्होंने बिना पूर्व आदर्श के स्वय प्रवर्तित किया था।

अज्ञानज ही अनित्यत्वादि है

यद्यपि दर्शन-ज्ञान जीव का शाश्वत रूप है तथापि पर (पुद्गल) के सम्बन्ध से वे ज्ञान ही कुज्ञान हो जाते हैं। अत पर के सम्बन्ध मे पहले जीव की सामान्य समझ या रुचि ही विकृत हो जाती है फलत उसका ज्ञान कुज्ञान और चारित्र कुचारित्र रह जाते हैं, क्योंकि वे उसी तरह अविश्वसनीय होते हैं जिस तरह मत्त व्यक्ति का मा को पुत्री कहना या मां भी कहना होता है। फलत आर्हत् मान्यता में दृष्टि या अन्तरग रुचि-रुझान की समीचीनता या स्वाभाविकता पर बल दिया है। ज्ञान और उसके अनुरूप कर्मचेतनाए तो रहती हैं क्योंकि वे जीव का स्वरूप हैं तथा दृष्टि या रुझान के प्रशस्त होते ही ज्ञानकर्म सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र हो जाते हैं और इस दृष्टि या रुझान के विकृत होने से आत्मा का स्वतत्त्व ज्ञान भी विकृत होकर कुज्ञान हो जाता है।

ज्ञान-वितान

जिसके द्वारा द्रव्य-गुण-पर्यायों को जाना जाये वह ज्ञान है अथवा जानना (ज्ञप्ति) ज्ञान

है और तत्त्वों या पदार्थों का उनके शुद्धरूप में जानना सज्ज्ञान है। फलत इसके पूर्वोक्त पाँच भेद होते हैं।

मतिज्ञान-पाँच इन्द्रियों और नोइन्द्री (मन) के द्वारा शब्द, रूप, रस गन्धादि का अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा बहुविध आदि बारह रूप में होना मतिज्ञान है। (इंदिय णोइंदियहि सद्द-रस-परिसरूव-गधादि विसएसु ओग्गह ईहावाय-धारणओ मदिणाणं।) मिथ्यात्व के सद्भाव में यही मतिज्ञान कुमति हो जाता है। और प्राणी विप, यत्र, कूटकपट, पिजरादि बन्धक-बाधक-विनाशकादि कार्यों में अपने क्षयोपशम का उपयोग करता है। (विसजंत कूडपजरबधादिसु विणुवदेशकरणेण, जा खलु पव्वत्तई मइ मइअण्णाण त्ति त विति)। इसका विषय द्रव्यों की कुछ पर्याय ही होती हैं। इसमें भी जीव और पुद्गल के स्वरूप को जान लेने पर अपने आत्मा को द्रव्यदृष्टि से शुद्ध या परद्रव्य पुद्गलादि से भिन्न स्वरूप की ज्ञप्ति ही उपादेय है। इसलिए इसे मति, स्मृति, चिन्ता, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदि नामों से कहा है।

श्रुतज्ञान—जो मतिज्ञान से जाने पदार्थ को आलम्बन बनाकर उससे सम्बद्ध अन्य पदार्थों में प्रवृत्त होता है वह श्रुतज्ञान है। इसका अन्तरंग कारण श्रुतज्ञानावरण कर्म का उपशम, क्षयोपशम-क्षय होते हैं। (सुदणाण णाम मदिपुव्व मदिणाण पडिगहियमत्थ। मोत्तूणणत्थम्हि बावदं सुदणाणावरणीयक्खयोवसम जणिद।) वह शब्दज और अर्थज भेद से दो प्रकार का है। शब्दज भी लौकिक-अलौकिक भेदों में बंटा है। प्रथम हमारा बोलचाल है। दूसरा सत्याणुव्रती के मुख से निकला शब्दज ज्ञान अलौकिक होता है तथा अनुमानादि अर्थज श्रुतज्ञान है। आचाराग आदि द्वादशाग, उत्पादादि चौदह पूर्व तथा सामायिकादि चौदह प्रकीर्णकों को द्रव्यश्रुत कहा है। इनके वाचनादि से हुआ ज्ञप्तिमय आत्मा भावश्रुत है। इसके मतिपूर्वक होने पर भी यह नियम नहीं है कि मतिज्ञान होने पर श्रुत होता ही है। अपितु मति निमित्त मात्र होता है और उत्तम या बहुत क्षयोपशम होने पर श्रुतज्ञान होता है। श्रुतज्ञानी केवली प्रणीत केवलज्ञेय पदार्थों को मन के द्वारा (परोक्ष रूप से) जानता है। मति श्रुत परोक्ष है श्रमण विद्या में, जबकि अन्य दर्शन इन्हे प्रत्यक्ष मानते हैं। क्योंकि उनके लिए इन्द्रियज्ञान पत्यक्ष है। और जैनधर्म में इन्द्रिय-मन अक्ष है, पर है। अत स्पर्शनादि इन्द्रियज ज्ञान परोक्ष है।

अवधिज्ञान—महास्कन्ध से लेकर परमाणु पर्यन्त पुद्गलों को असख्यात लोकप्रमाण क्षेत्र काल में द्रव्यों को जो जानता है वह अवधिज्ञान है। यह कर्मयोग से पुद्गलरूप जीवों का भी ज्ञाता है (परमाणुपज्जंतासेस पोग्गलभावमुवगय जावजीव दव्वाण पच्चक्खेण परिच्छिदत्त कुणई ओहिणाण)। इसके देशावधि, परमावधि और सर्वावधि भेद है। तथा वर्द्धमान-हीयमान, अवस्थित-अनवस्थित, अनुगामी-अननुगामी आदि अवस्थाएँ हैं। स्वर्ग-नरक में यह जन्मना होता है और मानवादि में क्षयोपशमक होता है। मिथ्यात्व के उदय में क्षयोपशम होने से कुअवधि या विभग ज्ञान हो जाता है। तथा सम्यक्त्वपूर्वक अणुव्रत-महाव्रत पालन से हुआ अवधिज्ञान गुणप्रत्यय रूप से कहा है। ऐसा अवधिज्ञान बहुधा अप्रतिपाती अर्थात् आकेवलज्ञान चलता है तथा प्रतिपाती सर्वथा लुप्त

हो जाता है। श्रुत को देश या विकल प्रत्यक्ष कहा है क्योंकि यह मति-श्रुत के समान इन्द्रियाधीन नहीं है। विकल प्रत्यक्ष होने पर भी इसके स्वामित्व आदि का विवेचन पृथक् प्रबन्ध के बिना संभव नहीं है। यही अवस्था मनपर्यय तथा केवलज्ञान की है।

मनपर्ययज्ञान—जो ज्ञान मर्त्यलोक में चिन्तित, पूर्वचिन्तित तथा अचिन्तित पदार्थ को विविधरूपों से जानता है वह मनपर्ययज्ञान है। (चिंताऍं अचिन्ताएँ अद्धचिताएँ पुव्वचिंताएँ विविहभेय गयं ज जाणइ णरलोए त चिय मणपज्जव णाण।) ज्ञेय के मनोगत होने के कारण इसे यह संज्ञा मिली है। यह द्रव्य की अपेक्षा औदारिक शरीर के एक समय में निर्जीर्ण होने वाले द्रव्य से लेकर आठों कर्मों के एक समय में बधे समय प्रबद्धों के अनन्तवें भाग को जानता है। क्षेत्र की अपेक्षा दो-तीन कोस से लेकर पूरे मनुष्यलोकस्थों को जानता है तथा असंख्यात भवों को जानने में समर्थ है। इसके मुख्य भेद ऋजुमति-विपुलमति है (विउलमदि णाण पुण अज्जव मदि दुविह मणणाण।) सशय-विपर्यय और अनिश्चितता रहित मन को व्यक्त मन कहते हैं। इसके विषय सरल मन वचन तथा काय होते हैं। विपुलमति की विपुलता सत्य, असत्य एव उभयगत मन-वचन-काय को विपय बनाने के कारण हैं तथा सरल-कुटिल त्रियोगगत विपय भी इसके परे नहीं हैं। इसके स्वामी वर्द्धमान विशुद्धचारित्रधारी होते हैं अत यह विशुद्धतर और अप्रतिपाती है। जब कि ऋजुमति की विशुद्धि इससे हीन तथा प्रतिपाती है। इन्द्रिय-मन सापेक्ष है। किन्तु विपुलमति नहीं है। इसके स्वामी ऋद्धिधारी वर्द्धमान चारित्रधारी अप्रमत्तादि गुण-स्थानगत साधक होते हैं।

केवलज्ञान—मोहनीय कर्म के क्षयपूर्वक ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय होने पर आत्मा का परिशुद्ध परिपूर्ण रूप ही केवलज्ञान है। किसी कारण के न हाने से ओर अनुपम होने के कारण इसको केवल विशेपणयुक्त कहा है। इसमें त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायों सहित वस्तुएँ प्रतिबिम्बित होती हैं (केवलमसहायमिंदियालोय णिरवेक्ख तिकालगोयराण तप्पज्जायसमवेदाण तवत्थुपरिम- संकुडियमसवत्त केवलणाण।) यह पर्याय रूप है। केवलज्ञान पर्याय होने पर त्रिकाल में त्रिलोक में कुछ भी अज्ञात नहीं रहता है तथा सर्वांग से होता है तथापि मोहक्षय के कारण वहाँ आकुलतादि का सर्वथा अभाव है। जीव-आत्मा का अपना स्वरूप होने से यह विकल प्रत्यक्षों से भी विलक्षण है क्योंकि यह स्व (ज्ञान) परक है। लौकिक ज्ञानों की तरह ज्ञेयपरक नहीं है। अपितु विशुद्धतम आत्मरूप होने के कारण समस्त ज्ञेय उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं अत यह सर्वज्ञता का रूप है। अज्ञान ही भयादि का कारण होता है। किन्तु अनन्तज्ञान विश्व के समस्त भयों का निरसन करके अनन्तदर्शन के समान अनन्त वीर्य-सुखादि का समवेत रूप होता है।

इस प्रकार समस्त दर्शनों का स्रोत आर्हत दर्शन आत्मा को अपने पूर्ण ज्ञान में प्रतिष्ठित करके ससार-परिभ्रमण का अन्तक है (णाण पयासय)।

सम्यक्चारित्र

❑ डॉ. प्रमिला शास्त्री

भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर प्रभु तक की परम्परा एव उनके सदुपदेशों का विशेष महत्त्व है। जिस प्रकार बिना नींव के भवन एव बिना जड के वृक्ष का महत्त्व नहीं, उसी प्रकार सदाचरण, सद्चरित्र एवम् सम्यक्चारित्र की प्राप्ति की भावना के बिना दर्शन में और ज्ञान में सम्यक्पना आ नहीं सकता। कोई भी साधक सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के बिना चिरन्तन लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सका।

भौतिकता के इस युग में अध्यात्मवाद को लोग विस्मृत से कर गये हैं। मानव-चेतना सन्निपातग्रस्त होती प्रतीत होती है। मनुष्य इतना अधिक भोगों में लिप्त है कि वह जीवन के अन्तिम पडाव तक पहुँच चुका है, फिर भी आत्मा के प्रति, धर्म के प्रति और चारित्र के प्रति उसका किंचित् झुकाव नहीं है। किंचित् धर्म की अनुभूति होती भी है तो मात्र ज्ञान-चर्चा में उलझ कर रह जाती है और वास्तविक धर्म के मर्म से साक्षात्कार नहीं हो पाता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि अभी तक जीव ने सम्यक्चारित्र को नहीं जाना, जिसे नहीं जाना उसे धारण या ग्रहण क्या करेगा। अध्यात्मवादी दर्शन का एवम् ज्ञान की दिव्यता का आधार सम्यक्चारित्र ही है। सम्यक्चारित्र में अनन्त शक्ति एवम् बल है। अनादिकालीन जन्म-मरण की परम्परा का उल्लेख करने वाला यही है। सम्यक्चारित्र के अभाव में बुद्धि और क्षमता का विकास नहीं होता। इस चेतन आत्मा ने अनन्त बार साधनायें की हैं, किन्तु सम्यक्चारित्र के अभाव में वे फलवती नहीं हो सकीं।

सम्यक्चारित्र क्या है? इसकी जीवन में क्या सार्थकता है? इसे समझना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसे समझे बिना हमारे मूल लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव है। अध्यात्म की साधना करने वाला अन्य विषय समझे या ना समझे किन्तु सम्यक्चारित्र के महत्त्व को समझना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिसने सम्यक्चारित्र को प्राप्त कर लिया है उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया। कृति में पवित्रता का प्रवेश हुए बिना परधाम की प्राप्ति नहीं होती।

जैसे रेल का इंजन वाष्प के बिना अवरुद्ध गति हो जाता है, अपने इष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकता, उसी प्रकार सम्यक्चारित्र के बिना मोक्षमार्ग अवरुद्ध हो जाता, आत्मा अपने इष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकता अर्थात् सम्यक्चारित्र रूपी इजन के अभाव में जीवन की रेल भी मुक्ति के पथ पर नहीं बढती।

सामान्यत जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाता है वा आचरण करना मात्र चारित्र है। यह चारित्र आत्मा की परिणति/परिणाम है, अनादिकाल से बनता चला आ रहा है, परन्तु वह परिणति जब तक समीचीन न हो तब तक आत्मोत्थान नहीं होता।

इस आत्मा की मिथ्या परिणति अनादिकाल से चली आ रही है, मानव कितना भी प्रयत्न करे, कितनी ही सच्चाई को जान ले, परन्तु जब तक अपने अतीत के सस्कारों का परिमार्जन नहीं करता तब तक जानते हुए भी अनजान बना रहता है। हमारे साथ अतीत के सस्कारों का भण्डार है। उसका हम भार ढो रहे हैं और इसी कारण ससार-समुद्र में डूबे हुए हैं।

अतीत के सस्कारों के कारण प्राणी की परिणति अनेक विभागो में विभाजित हो जाती है। उनमें मुख्य है तीन—रागात्मक, द्वेषात्मक और मोहात्मक।

जो प्राणी रागात्मक परिणति वाला होता है। उसकी पचेन्द्रिय विषयो में आसक्ति होती है। वह अपनी विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिए अनेक पाप-वृत्तियों में प्रवृत्ति करता है। यह रागात्मक परिणति समस्त दोषों की जननी है, जो प्राणी के जीवन में पनपकर उसे नाना प्रकार की बुराइयों का पात्र बना देती है। इस राग के प्रभाव से रजित हो पचेन्द्रिय विषयों का लोलुपी प्राणी दानव, राक्षस, चोर, लुटेरा, अनाचारी, लोभी, प्रपची, मिथ्या-भावी और न जाने किन-किन बुराइयों का घर बन जाता है। यह विषयों की अभिलाषा रूप राग-परिणति ही आत्मा के उत्थान-मार्ग में चट्टान की भाति आडे आती है। इसी कारण यह विषयों को अमृत की धार समझता है। जब प्राणी इस रागात्मक परिणति पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर लेता है तो उसे महात्मा और परमात्मा बनने में क्षण भर का विलम्ब नहीं लगता।

एक व्यक्ति द्वेषात्मक चारित्र वाला होता है। वह जहाँ जाता है वहा द्वेष ही द्वेष फैलाता है। द्वेष, ईर्ष्या, घृणा और सघर्ष के कीटाणुओं को साथ लिये चलता है और जहाँ अवसर देखता है उनको बिखेरता जाता है। नारकीय जीवों के समान निरतर द्वेषात्मक परिणतियों क्रियाओं में मग्न रहता है। नेत्रों के अभाव में जैसे कुपथ पर जा चढता है उसी प्रकार जीव, राग-द्वेष से अन्धा होकर कुमार्ग का अनुसरण करता है।

एक व्यक्ति मोहात्मक चारित्र वाला होता है। वह अकर्मण्यता, आलस्य-मूढता में मग्न रहता है, निरन्तर आराम, विश्राम, खाना-पीना आदि क्रियाओं में लीन रहता है। वह मूढ अज्ञानी चैतन्य चमत्कारयुक्त अमूर्तिक जीवतत्त्व को न मान कर शरीर को ही जीव-रूप मानता है। वह निरंतर सात भयों से भयभीत रहता है। वह मूढ तत्त्व-कुतत्त्व, देव-कुदेव, सुख-दुख की परिभाषा नहीं जानता। इन राग-द्वेष-मोहात्मक विकारी परिणतियों का जिससे विनाश होता है वही सम्यक्चारित्र है।

इन अनादिकालीन विकारों का अभाव सम्यक्चारित्र से ही होता है। मोह रूपी अन्धकार के नाश हो जाने से जिसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गयी है तथा जिसका ज्ञान समीचीन

बन गया है ऐसा साधु राग-द्वेष को नाश करने के लिए चारित्र को स्वीकार करता है।[३] राग-द्वेष तथा मोहात्मक परिणति का परिमार्जक है सम्यक्चारित्र।

अनादिकालीन रागद्वेष मोहात्मक कुसंस्कारों का परिमार्जन करना ही सम्यक्चारित्र है। कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है—

चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥७॥

अर्थात्—मोह-क्षोभ (रागद्वेषात्मक) परिणति से रहित जो साम्य भाव रूप आत्मा का परिणाम है वही चारित्र श्रेष्ठ धर्म है। शुद्ध चैतन्य स्वरूप में आचरण करना चारित्र है। यही चारित्र मिथ्यात्व रागद्वेषादि द्वारा ससरण रूप भावससार में पडे हुए प्राणियो का उद्धार करने वाला है।

मन-वचन-काय से शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति करना चारित्र है।

जानना ज्ञान है, देखना वा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन और ज्ञान और दर्शन का समायोग (एकता) होना चारित्र है[४]।

ज्ञान और दर्शन पर्याय का स्थिर होना तथा सुख-दुख में समभाव होना चारित्र है।[५]

"ससारकारणनिवृत्ति पत्यागूर्णस्य ज्ञानवत कर्मादानक्रियोपरम सम्यक्चारित्र।"[६]

वह सम्यक्चारित्र सामान्य सर्वसावद्य योग निवृत्तिरूप एक प्रकार का है। सराग वीतराग या निश्चय व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। उपशम, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन पकार का है। चतुर्यम के भेद से चार प्रकार का है। ऋषि, यति, मुनि और अनगार के भेद से चार पकार का है। तथा छद्मस्थों का सराग वीतराग और सर्वज्ञों का सयोग और अयोग के भेद से भी चार प्रकार का है।

सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात के भेद से सम्यक्चारित्र पाच प्रकार का है। पाच महाव्रत, पाच समिति और तीन गुप्ति के भेद से चारित्र तेरह प्रकार का भी है।

सम्यक्चारित्र के इन सभी भेद-प्रभेदों का जिनमें ग्रहण होता है, सबका सग्रह होता है वह चारित्र दो प्रकार का है—सम्यक्त्वाचरण और दूसरा सयमाचरण।

सम्यग्दर्शन के होने पर आत्मा की ओर झुकाव होता है। स्वसवेदन के कारण पचेन्द्रियजन्य विषयों में अरुचि होती है। ससार से भय होने से अनर्गल प्रवृत्तिया रुक जाती हैं—अत वह सम्यक्त्वाचरण कहलाता है। वह सयमाचरण नहीं, क्योंकि सयम की घातक अप्रत्याख्यान कषाय का उदय है अत सम्यग्दर्शन के सासारिक भोगों में अपीति होने पर भी उनका त्याग करने के लिए समर्थ नहीं है। कहा भी है—"अविरद-ठाणेपु णत्थि चारित्त"। प्रथम, द्वितीय, तृतीय

और चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र नहीं है अर्थात् सयमाचरण नहीं है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन जीव के भाव हैं, निजी तत्त्व है, अक्षय और अनन्त हैं। ये अनादिकाल से विपरीत हो रहे है—स्वस्वभाव को छोडकर विपरीत स्वरूप से परिणति कर रहे हैं। इनकी विशुद्धि करने के लिए जिनेन्द्रदेव ने दो प्रकार का चारित्र कहा है।

सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण

मिथ्यात्व नामक मोहनीय कर्मप्रकृति के उदय के अभाव में तथा मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति अनन्तानुबंधी क्रोध मान, माया और लोभ—इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय व क्षयोपशम होने पर जो जीव की आत्माभिमुखी श्रद्धारूप वृत्ति होती है वह सम्यक्त्वाचरण है।

आत्माभिमुख प्रवृत्ति का प्रधान कारण सम्यक्त्वाचरण है। सम्यक्त्वाचरण के बिना न तो स्वपर का भेद-ज्ञान होता है और न परमार्थ सत्य देव-शास्त्र-गुरु के प्रति दृढ आस्था होती है, न वह मूढ जीवादि सात तत्त्वों पर अटल विश्वास रख पाता है। वह मूढ मिथ्यात्वी कहलाता है।

मिथ्यात्व के कारण वह न तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझता है और न उस पर विश्वास करता है।

सम्यक्त्वाचरण के अभावरूप मिथ्यात्व के उदय से विपुल और सूक्ष्म ज्ञान भी अज्ञान रहता है और उग्र से उग्र तपश्चरण अनुष्ठान भी मिथ्या कहलाते हैं। ज्ञानानुभूति के पीछे यदि अटूट विश्वास, श्रद्धा या दृढ़ प्रतीति न हुई तो ज्ञान कदापि हितावह नही हो सकता।

शास्त्र के ठीक अभिप्राय को न समझने के कारण अथवा कुशास्त्र के स्वाध्याय से शास्त्रीय मिथ्यात्व होता है। सम्यक्त्वाचरण से विपरीत मिथ्यात्व के उदय के कारण भ्रान्त धारणाओं से ग्रस्त मिथ्यादृष्टि सम्यक्श्रुत को भी विपरीत का एकान्त अभिप्राय ग्रहण कर उसे मिथ्याश्रुत बना डालता है।

मिथ्यात्व के उदय से सम्यक्त्वाचरण से च्युत हुआ मानव गुरु के वास्तविक स्वरूप को समझे बिना ही वेश चमत्कार वाक्कौशल को देखकर किसी को भी गुरु मान लेता है। धर्म के यथार्थ स्वरूप को न समझकर यद्वा तद्वा क्रिया करता है।

मुक्ति की साधना का मूल सम्यक्त्वाचरण है। इसी से ही आध्यात्मिक विकास का प्रारम्भ होता है। यह स्वाभाविक है कि जब तक लक्ष्य शुद्ध न हो, और दृष्टि निर्दोष न बन जाय, तब तक मनुष्य की सारी जानकारी और उसके आधार पर किया जाने वाला प्रयास सफल वा सम्यक् नहीं होता। इसीलिए सम्यक्त्वाचरण को मुक्ति का प्रथम सोपान माना गया है।

सराग और वीतराग के भेद से सम्यक्त्वाचरण दो प्रकार का है। यद्यपि इन दोनों प्रकार के सम्यक्त्वाचरण के दर्शनमोहनीय उपशम, क्षय व क्षायोपशम समान है तथापि इनमें कुछ लक्षण भेद अवश्य है। अत प्रशम, सवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य चतुर्पुटी भाव से जो व्यक्त (प्रकट) होता है—वह सराग है तथा आत्मविशुद्धि मात्र वीतराग सम्यक्त्व है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियों तथा मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन सात प्रकृतियों का अनुद्रेक (उदय उदीरणा होना) प्रशम भाव है। अथवा पचेन्द्रियों के विषयों में और असख्यात लोकप्रमाण क्रोधादि भावों में स्वभाव से मन का शिथिल हो जाना प्रशमभाव है। अथवा अपराध करने वाले जीवों के विषय में कभी भी उनको मारने या बदला लेने के भाव नहीं होना, रागादिक से चित्त को हटाना प्रशमभाव है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप पॉच परिवर्तनमय ससार से भयभीत होना संवेग है या शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक वेदानाओं से व्याप्त समार से विरक्त होना सवेग है।

धर्म और धर्म के फल में आत्मा का परम उत्साह होना, अथवा समान धर्म वालों में अनुराग होना और पचपरमेष्ठियों के प्रति प्रीति या भक्ति होना सवेग है।

सर्वजीवो पर अनुग्रह करना, मैत्रीभाव रखना, मध्यस्थ भाव रखना, शत्रुता का त्याग कर नि शल्य होना, त्रस-स्थावर जीवों पर दयाभाव होना अनुकम्पा है।

युक्ति और आगम से सिद्ध जीवादि सात तत्त्वों के सद्भाव में निश्चयभाव रखना, धर्म के हेतु और धर्मफल में आत्मा की अस्ति आदि रूप बुद्धि का होना आस्तिक्य है।

इन चारों पकार के भावों मे सम्यग्दर्शन की पहचान होती है तथा सम्यग्दर्शन निर्मल होता है।

सम्यग्दर्शन को निर्मल करने के उपाय

आठ मद, तीन मूढता, छह अनायतन, आठ शकादि दोष, सप्त व्यसन, सात प्रकार के भय और पाच प्रकार के अतिचार ये चवालीस दूषण सम्यग्दर्शन को मलिन करते हैं।

आठ मद—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, शारीरिक शक्ति, ऐश्वर्य, तप और सौन्दर्य का अभिमान करना आठ मद है। इन आठ बातों का मद मानव को आत्मस्वरूप से च्युत कर देता है क्योंकि मानी मानव अपने स्वरूप को विस्मृत कर बैठता है। छद्मस्थ जीवो का ज्ञान क्षणिक है, शरीर ऐश्वर्य आदि पौद्गलिक है, आत्मस्वरूप से भिन्न है, व्यर्थ में इन बातों का अभिमान कर सम्यग्दर्शन मलिन नहीं करना चाहिए।

छद्मस्थों का ज्ञान एक क्षण में नष्ट हो जाता है, बडे-बडे ज्ञानी पागल बन जाते हैं। आज जो पूजनीय है, कल ठोकरें खाने लग जाता है। अत्यन्त सुन्दर शरीर भी पापोदय के कारण

कुरूप बन जाता है। षट्खण्ड का वैभव क्षण में विलीन हो जाता है। आज का कुलीन मानव कल मरकर विष्टा का कीडा बन जाता है। ऐसी क्षणध्वसी वस्तुओं का अभिमान कर कौन चतुर प्राणी अपने सम्यग्दर्शन को मलिन कर भवाटवी में भ्रमण करेगा?

जिस प्रकार मद करने से सम्यग्दर्शन मलिन होता है, नष्ट होता है उसी प्रकार मूढता से भी सम्यग्दर्शन मलिन होता है। मूढता का अर्थ है अज्ञानता व हेयोपादेय ज्ञान की शून्यता। मूढता के कारण मानव का हृदय विवेकशून्य हो जाता है और कर्तव्य-अकर्तव्य के विचार से रहित हो जाता है।

मूढता के अनेक भेद है तथापि सक्षेप में समझाने के लिए तीन या पॉच मूढता कही है।

लोकमूढता —तत्त्व-अतत्त्व का विचार न करके लौकिक जनों की देखा-देखी करना। प्राय सर्व प्राणी लोकमूढता ग्रसित हैं। तत्त्व-अतत्त्व के विचार से शून्य रहते हैं। वे नदी में स्नान करने, पर्वत से गिरकर मरने आदि में धर्म मानते हैं।

देवमूढता —अज्ञानी वस्तुस्वरूप को न समझकर मिथ्यादृष्टियों के द्वारा उपदिष्ट मिथ्यात्व के चक्कर में फसकर कुदेवों की आराधना करने लग जाता है। जो रागीद्वेषी है, स्त्री तथा शस्त्रास्त्र से सयुक्त है ऐसे कुदेवों का सत्कार-पूजा-प्रशसा करना देव-मूढता है।

प्रश्न —पद्मावती, धरणेन्द्र, चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, क्षेत्रपालादि देवों की जो पूजा करते हैं वह देवमूढता है कि नहीं? क्योंकि ये देव भी रागद्वेष, वनिता, शस्त्रास्त्र आदि से युक्त होते हैं।

उत्तर—यदि कोई मूढ जीव इनको सर्वज्ञ वीतराग देव समझ कर सत्कार आदि करता है तो वस्तुस्वरूप का ज्ञाता न होने से वह देवमूढता का दोषी है। यदि वह उनको अपना सहधर्मी बन्धु समझकर उनके योग्य सत्कार करता है तो वह मूढतायुक्त नहीं है। जैसे अपने कार्य में सहायक मत्री राजकीय कर्मचारी आदि को बुलाया जाता है और उनका योग्य सत्कार किया जाता है, उसी प्रकार यदि जिन शासन के रक्षक इन देवताओं को कार्य में आने वाले विघ्नों के निवारणार्थ बुलाया जाता है तो देवमूढता नहीं है। जैन शास्त्रों के प्रतिष्ठादि कार्यों में उनके आह्वानन का विधान है तथा आचार-ग्रन्थों में भी किसी साधु का समाधि (सल्लेखना) लेने के समय "यहा के रक्षक देव। तुम हमारी समाधि में सहायक होना" इत्यादि वचनों के उच्चारण का उल्लेख पाया जाता है। पद्मपुराण में लक्ष्मण ने अर्घ्य देकर यक्षेन्द्र का सत्कार किया ऐसा कथन है। इससे प्रकट होता है कि साधर्मी होने के नाते इन देवों का सत्कार करना देवमूढता नहीं है।

गुरुमूढता —जो पच महाव्रत, पच समिति, तीन गुप्ति के धारक है, जो विषयों की आकांक्षाओं से रहित, आरम्भ और परिग्रह से दूर है, ज्ञान-ध्यान और तप में लीन है, निर्ग्रन्थ पद के धारी है, वे ही सच्चे गुरु हैं। ऐसे गुरुओं की भक्ति को छोडकर रागी-द्वेषी आरम्भी गुरुओं की उपासना

करना गुरुमूढता है। यह मूढता मोह मिथ्यात्व की वर्द्धक है सम्यक्त्व को मलिन करने वाली है।

कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और इन तीनों के भक्तों की स्तुति प्रशसा करना छह अनायतन है।

जुआ खेलना, मास भक्षण करना, मदिरापान करना, वेश्या-सेवन, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्रीसेवन करना ये सात व्यसन है। इन कुप्रवृत्तियों के कारण प्राणी अपने कर्त्तव्य या धर्म से च्युत हो जाता है। कहा भी है—"जुआ आमिष मदिरा दारी, आखेटक चोरी परनारी। ये ही सात व्यसन दु ख दाई, दुरित मूल दुर्गति के भाई।" सम्यग्दर्शन के घातक ये सप्तव्यसन साधक के सम्यक्त्वाचरण को मलिन करते हैं।

सात प्रकार के भय इस प्रकार हैं—

इहलोक-भय -इस भव में मेरा क्या होगा? मेरा जीवन कैसे व्यतीत होगा? इत्यादि चितन से मन का आकुलित होना।

परलोक-भय —परभव में मेरी क्या गति होगी, आदि का चिन्तन करना।

वेदनाभय —शारीरिक वेदनाओ से भयभीत रहना।

मरणभय —मरण से भयभीत रहना। अनाश्रित मेरा कोई रक्षक नहीं है ऐसा विचार कर भयभीत होना। अरक्षाभय है।

अगुप्तिभय —मेरे रहने का कोई गुप्त सुरक्षित स्थान नहीं है, इस चिता से आकुलित होना।

मृत्युभय — मैं सदा जीवित रहूं, मेरी मौत न हो—आकस्मिक दुर्घटना आदि से चित्त में आकुलता होना।

अकस्मात्भय —निरतर चिंतन करना कि अकस्मात् आपत्ति न आ जाय।

सम्यग्दर्शन को एक देश मलिन करने वाली क्रियाओं को अतिचार कहते हैं। ये अतिचार अनेक प्रकार के होते हुए भी मुख्यतया पाच है—

शका —वीतराग देव के वचनों में सशय रखना, दृढ आस्था नहीं रखना।

काक्षा —सासारिक विषय-भोगों के लिए मिथ्याधर्म की वाछा करना।

विचिकित्सा —जिनधर्म और जिनधर्मावलम्बियों से ग्लानि करना।

मिथ्यादृष्टि-प्रशसा —मिथ्यादृष्टियों के प्रति मानसिक अनुराग रखना।

मिथ्यादृष्टि-सस्तवन — मिथ्यादृष्टियों की वचन से स्तुति करना, काय से सेवा करना। इस प्रकार ये सब मिलाकर सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले ४४ दोष हैं।[७] इनका परित्याग या इनसे रहित परिणति होने पर सम्यग्दर्शन निर्मल होता है। अत इन चवालीस दोषों का

परित्याग करना चाहिए। इस प्रकार मिथ्यात्व शका आदि सम्यग्दर्शन के सर्व दोषों का तथा सम्यग्दर्शन के अतिचारों का मन-वचन-काय से परिहार कर सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाना चाहिए।

जैसे शरीर अपने अंगोपांगों से समाहित है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी अपने अंगों से समाहित है। सम्यक्त्वाचरण के आठ अंग हैं— नि शकित, नि काक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

निःशंकित —वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी के वचनों पर अटल श्रद्धा करना। निशंकित गुणवाला सम्यग्दृष्टि तीन लोक को भयभीत करने वाली आपत्ति आने पर भी अपने निश्चय से च्युत नहीं होता।

निकांक्षित —किसी प्रकार के प्रलोभन में आकर मिथ्या मति की या सांसारिक भोगों की अभिलाषा करना काक्षा है। इहलोक काक्षा, परलोक काक्षा और कुधर्म कांक्षा के भेद से कांक्षा तीन प्रकार की है। इस लोक में बलदेव चक्रवर्ती आदि के पद की अभिलाषा इहलोक काक्षा है। परभव के इन्द्रत्व, महर्द्धिकत्व, देवत्व आदि के पद की अभिलाषा परलोक काक्षा है। सासारिक भोगों के वशीभूत होकर रक्तपट साख्य आदिक कुधर्म की वाञ्छा करना कुधर्म काक्षा है। शरीर और आत्मा के भेद ज्ञान से उत्पन्न परम आनन्द का अनुभव करने वाले सम्यग्दृष्टि को सांसारिक भोगों में अभिरुचि नहीं होती। ससार के भोगों को कर्मों के अधीन नश्वर दु ख मिश्रित और पाप का बीज जान वह उनकी आकांक्षा नहीं करता। आत्मतत्त्व की उपलब्धि को देवेन्द्र या चक्रवर्ती आदि के वैभव से अधिक मूल्य की आकता है। अत वह तीनों प्रकार की काक्षाओं से रहित निःकाक्षित अग वाला होता है।

निर्विचिकित्सा —धर्म और धर्मात्माजनों में ग्लानि नहीं करना, तथा गुणवान वीतराग निस्पृही करुणामूर्ति मुनीन्द्रों के दुर्बल मलिन क्षीण शरीर को सौन्दर्य के पुंज मोही प्राणियों की देह की अपेक्षा अधिक आकर्षक और प्रिय मानकर उसका अभिवन्दन करता है, उनके गुणों के प्रति अडिग प्रतीति रखता है वह निर्विचिकित्सा अग है।

अमूढदृष्टि —सम्यग्दृष्टि अपने तत्त्वज्ञान रूप एक्सरे नामक किरणों को डालकर तत्त्व-कुतत्त्व देव-कुदेव को पहचान लेता है, अपनी पवित्र श्रद्धा की रक्षा के लिए भय प्रेम लालच या किसी सांसारिक आशा के वशीभूत हो स्वप्न में भी रागी, द्वेषी देव-हिंसादि के पोषक शास्त्रों तथा पापमय प्रवृत्ति करने वाले पाखण्डी तपस्वियों की प्रशसा, अनुनय, विनय नहीं करता है।

उपगूहन अग —धर्म की और धर्मान्माओं की अवज्ञा नहीं करना। अध्यात्म के प्रशस्त मार्ग में जिनके पाँव आत्मिक दुर्बलता के कारण डगमगा रहे हैं और कभी-कभी जिनका आदर्श मार्ग से स्खलन भी हो जाता है उनकी अपूर्णताओं को जगत् में प्रकाशित कर उनके आत्मिक उत्साह को नहीं गिराना, उनके दोषों को आच्छादन करना और अपने धर्म की वृद्धि करना, धर्मात्माओं की त्रुटियों की सार्वजनिक रूप में प्रदर्शित न करके उसके दोषों का एकान्त में परिमार्जन करने

का प्रशस्त प्रयत्न करना उपगूहन अग है।

स्थितिकरण —कुसंगति, अन्य अनुभव या अशुभ पापकर्म के उदय से श्रद्धान और सम्यक्चारित्र से डिगते हुए स्वकीय परिमाणों का तथा अन्य साधर्मी जनों को श्रुतज्ञान के द्वारा सम्बोधित करके सन्मार्ग में स्थापित करना स्थितिकरण अंग है।

वात्सल्य —वात्सल्य का अर्थ है प्रीति। अत जिस प्रकार गाय अपने बछड़े पर अत्यन्त प्रेम धारण कर उसकी विपत्ति का निवारण करती है, उससे अत्यन्त प्रीति करती है उसी प्रकार धर्म और धर्मात्माओं की विपत्ति को दूर करना, उनके प्रति अत्यन्त अनुराग रखना वात्सल्य अग है।

प्रभावना अंग —पवित्र विज्ञानज्योति जिनेन्द्र-वाणी के द्वारा अज्ञान अन्धकार को दूर कर जिनशासन को प्रकाशित करना तथा रत्नत्रय रूपी तेज (अग्नि) के द्वारा आत्मा को निर्मल करना प्रभावना अग है। यह सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने वाले गुण हैं।

वात्सल्य, भाव निष्कपट भावों से धर्म और धर्मात्माओं में अनुराग, विनय से गुण और गुणियों का सत्कार करना, दुखीजनों के प्रति करुणाभाव तथा शक्ति के अनुसार उनकी रक्षा करना आदि गुणों के द्वारा सम्यक्त्वाचरण निर्मल होता है।

इस सम्यक्त्वाचरण से विशुद्ध मानव ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यशवृद्धि, विजय, वैभव से युक्त हो उच्च कुलीन महान श्रेष्ठ मनुष्यों में जन्म लेता है। वासना की धूप, तृष्णा की अग्नि से क्लात तथा अज्ञान की यात्रा से थके राही को छाया और विश्रान्ति देने वाला सम्यक्त्वाचरण है। यही ससारसमुद्र मे प्राणी को पार करने के लिए खेवटिया है। जिस प्रकार बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार सम्यक्त्वाचरण के अभाव में सयमाचरण की उत्पत्ति, वृद्धि और मोक्षरूप फल की प्राप्ति नहीं होती।

मोहान्धकार में निमग्न आत्मा में निर्मल ज्ञानसूर्य के उदय को सूचित करने वाली विवेक-रश्मियों के द्वारा जीवन को आलोकित करने वाला सम्यक्त्वाचरण ही है। सम्यक्त्वाचरण का साधक व्यक्ति "दर्शन से देखता है, ज्ञान मे जानता है और सम्यक्त्वाचरण से श्रद्धान भी करता है तथा चारित्र में उत्पन्न दोषों का निराकरण भी करता है। सम्यक्त्वाचरण के अभाव में ही चारित्र में दोष उत्पन्न होते हैं।"[८]

सयमाचरण

अनन्त काल से लगी हुई दुर्वासना और विकृति को दूर करना सयमाचरण का सहयोग पाये बिना असंभव है। अत आगे साधना के विशिष्ट अगभूत सयमाचरण के विषय में विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

आज का भोग-प्रधान युग ज्ञान के गीत सुनकर आनन्दविभोर हो झूमने लगता है। परन्तु संयम की साधना के बिना ज्ञान भाव से यथार्थ आनन्द का निर्झर नहीं बनता।

आनन्दरूपी सुवास से युक्त सम्यक्त्वाचरण कमल पुष्प के नीचे पचेन्द्रिय-जनित विषय-वासनाओं के जाल को संयम के द्वारा विनाश किये बिना स्वात्मोपलब्धि रूप पकज की प्राप्ति और सौरभ का लाभ कैसे हो सकता है।

सम्यक्त्वाचरण के परिपुष्ट हो जाने पर सयमाचरण होता है। जैसे मूल के शुद्ध और पुष्ट होने पर वृक्ष भी सबल और सरस होता है उसी प्रकार सम्यक्त्वाचरण के द्वारा जीवन अलकृत हो जाने पर साधक मुक्तिपथ में प्रगति करना प्रारम्भ करता है और जीवन में सयम को स्वीकार करता है। वह सयमाचरण दो प्रकार का है—सागार सयमाचरण और निरागार सयमाचरण। इनका दूसरा नाम विकलचारित्र और सकलचारित्र है। सागार सयमाचरण सग्रन्थ (श्रावक) के होता है और निरागार (अनगार) सयमाचरण निर्ग्रन्थ मुनि के होता है।

सागार सयमाचरण —स्त्री घर आदि को आगार कहते हैं। जो आगार सहित है उसे सागार कहते हैं। सागार के सयम को सागारसयम, सयमासयम, देशसयम या विकलचारित्र कहते हैं।

पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक के भेद से सागार (श्रावक) तीन प्रकार के होते हैं। जिसे जिनधर्म का पक्ष है, जो मद्य मास, मधु और बड, पीपल, गूलर, अजीर एव पाकर इन पाच उदम्बर फल का त्यागी है, रात्रि में भोजन नहीं करता है, पानी छानकर पीता है और प्रतिदिन देवदर्शन करता है तथा जिसका हृदय अनुकम्पा से ओतप्रोत है वह पाक्षिक श्रावक है। इसका दूसरा नाम प्रारब्ध श्रावक भी है।

श्रावक शब्द में तीन अक्षर है श्रा-व-क। इनमें से 'श्रा' का अर्थ है श्रद्धान, जो तत्त्वों में श्रद्धान करता है, निष्ठा रखता है, विश्वास करता है वह 'श्रा' है। 'व' का अर्थ है बोना अर्थात् सप्त क्षेत्रों में धन रूपी बीज को बोता है या दान पूजा करता है। 'क' का अर्थ है क्लिष्ट कर्मरज का नाश करना और कर्मरज का नाशक चारित्र है अत 'क' चारित्र का सूचक है। अथवा जो इहलोक परलोक में हितकारी, दुष्कर्म के नाशक जिनवचन को सावधानीपूर्वक सुनता है वह श्रावक है। जिनधर्म का पक्ष रखने वाला श्रावक पाक्षिक कहलाता है।

जो श्रावकाचार में कथित श्रावकों के १२ व्रतों में निष्ठा रखता है, उनको धारण करता है वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है।

१२ व्रतों का स्वरूप एवं भेद —पांच अणुव्रत, चार शिक्षाव्रत और तीन गुण व्रत ये १२ व्रत है, इनको श्रावकों के १२ उत्तरगुण भी कहते हैं।

अहिसाणुव्रत —आध्यात्मिक भाषा में रागादिक विकारों की उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है और व्यावहारिक भाषा में मनसा वचसा कर्मणा संकल्पपूर्वक त्रस जीवों को न तो स्वयं घात

करता है और न अन्य के द्वारा घात कराता है तथा प्राणीघात को देखकर न आन्तरिक प्रशसा द्वारा अनुमोदन ही करता है, यह अहिंसाणुव्रत है। इसमें आध्यात्मिक दृष्टि से अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान कषाय का अभाव है और बाह्य में त्रस जीवों का संकल्पपूर्वक घात करने का त्याग है।

सत्याणुव्रत —रागद्वेष के वशीभूत होकर, प्राणियों के पीडाकारक, राजा के द्वारा दण्डनीय मर्मभेदी हिंसा के पोषक वचन बोलने का त्याग करना सत्याणुव्रत है।

अचौर्याणुव्रत —प्रमाद के वशीभूत हो किसी की गिरी, हुई भूली हुई, बिना दी हुई वस्तु को उठाकर न लेना और न दूसरों को देना तथा किसी वस्तु के प्रति संशय हो जाय—यह मेरी है कि नहीं है उसका निर्णय किये बिना ग्रहण नहीं करना अचौर्याणुव्रत है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत पापसचय की कारण, आत्म गुण की घातक एव निन्दास्पद परस्त्री के सेवन का त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

परिग्रहपरिमाणुव्रत —इच्छाओं को नियमित करने के लिए क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, और भाण्ड, इन दश प्रकार के परिग्रह का आवश्यकता अनुसार मर्यादा बाधकर उनसे अधिक वस्तुओं के प्रति ममत्व का त्याग करना परिग्रह परिमाणाणुव्रत है।

अणुव्रतों की वृद्धि में जो कारण होते हैं, जिनसे मूलव्रतों की पुष्टि होती है वे गुणव्रत कहलाते हैं। इनके तीन भेदहैं

निरकुश तृष्णा को नियत्रित करने के लिए सारी दिशाओं के गमनागमन की मर्यादा करना दिग्व्रत है।

एक बार भोग में आने वाले आहार आदि भोग और बार-बार भोग में आने वाले वस्त्राभूषणादि उपभोग कहलाते हैं। इच्छाओं को रोकने के लिए भोग एव उपभोग वस्तुओं का परिमाण करना भोगोपभोगपरिमाण है।

बिना प्रयोजन के पापवर्द्धक क्रियाओं में मन वचन और काय की प्रवृत्ति नहीं करना अनर्थदण्डविरति है।

जिन व्रतों से मुनिव्रत की शिक्षा मिलती है उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। इनके चार भेद हैं।

जिसमें प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समता, वन्दना, स्तुति, कायोत्सर्ग ये षट् आवश्यक होते हैं अथवा जिसके द्वारा सर्व सावद्य योग के त्याग के साथ आत्मस्वरूप में लीनता होती है वह सामायिक व्रत कहलाता है।

दिग्व्रत में जीवनपर्यन्त के लिए किये गये दिशाओं के परिमाण को एक दिन या न्यूनाधिक समय के लिए कम करना और उस परिमाण से बाहर सारे पापकार्यों का त्याग करना देशावकाशिक व्रत है।

जिससे आत्मिक गुणों का या धर्म का पोषण होता है उसे प्रोषध कहते हैं। अथवा प्रोषध का अर्थ एक बार भोजन करना है अत पर्व (अष्टमी, चतुर्दशी) के दिन उपवास करना, अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना, तत्त्वचितन, ध्यान-स्वाध्याय एवं आत्मस्वरूप में रमण करना प्रोषधव्रत कहलाता है।

जिनके आने का समय नियत नहीं है उन्हें अतिथि कहते हैं। निर्ग्रन्थ श्रमण सूचना दिये बिना आते हैं उनको सयम का उपयोगी आहार देना अतिथिसविभाग कहलाता है।

इन बारह व्रतों का पालन करने वाला नैष्ठिक कहलाता है। उस नैष्ठिक को भी ग्यारह श्रेणियों में विभाजित किया है।

> दंसणवय सामाइय पोसह सच्चित्त राय भत्ते य।
> बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥२॥

दर्शनप्रतिमा—जिसका सम्यग्दर्शन शुद्ध है, जो ससार, शरीर और भोगों से विरक्त है और पंचगुरु के चरण ही जिनके शरण हैं वह दार्शनिक श्रावक दर्शनप्रतिमा वाला कहलाता है।

इस व्रत में सम्यग्दर्शन की निर्मलता आवश्यक है। सम्यग्दर्शन की निर्मलता के बिना नैष्ठिक या दार्शनिक श्रावक नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन को निर्मल करने के लिए अष्ट मूलगुणों का निरतिचार पालन करना होता है।

व्रतप्रतिमा —पूर्व कथित दर्शनप्रतिमा के व्रतों का पालन करने वाला जब पाच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करता है वह व्रतिक या व्रतप्रतिमाधारी कहलाता है।

सामायिक प्रतिमा —उपरोक्त व्रतों का निरतिचार पालन करते हुए त्रिकाल देववन्दना विधिपूर्वक करता है और उस समय आने वाले परीषहोपसर्गादिक में अपने साम्यभावों से च्युत नहीं होता।

प्रोषधप्रतिमा —इस प्रतिमा वाले साधक को अष्टमी एव चतुर्दशी के दिन प्रोषध करना आवश्यक हो जाता है।

सचित्तविरत प्रतिमा —पूर्व की चार प्रतिमाओं में निष्ठ श्रावक अप्रासुक, हरित अंकुर बीज, नमक और अप्रासुक पानी आदि का त्याग करता है।

रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा —इस प्रतिमा में श्रावक सूर्यास्त के ४८ मिनट पहले सूर्य उदय के ४८ मिनट बाद तक भोजन नहीं कर सकता और रात्रि में कृत, कारित, अनुमोदना से रात्रिभोजन का त्याग करता है और दिवा-मैथुन का त्यागी होता है।

ब्रह्मचर्यव्रत प्रतिमा —पूर्व प्रतिमा में आचारित श्रावक मन से, वचन से, काय से देवी, मानवी, तिर्यंनी और चित्राम आदि सम्पूर्ण स्त्रियों के सेवन का त्याग कर ब्रह्म में अर्थात् आत्मा में ही रमण करता है।

आरम्भत्याग प्रतिमा —जो श्रावक पूर्व की सात प्रतिमा का निर्दोष पालन करता हुआ मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से कृषि सेवा वाणिज्यादि प्राणीघात के कारणभूत आरम्भ का त्याग करता है, वह आरम्भत्यागी है।

परिग्रहत्याग प्रतिमा —जो वस्त्र मात्र परिग्रह को छोडकर बाकी सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर देता है और वस्त्र में भी ममत्व छोडने का प्रयत्न करता है, वह नवमी प्रतिमाधारी है।

अनुमतित्याग प्रतिमा —जो धन-धान्यादिक परिग्रह, कृषि आदि का आरम्भ तथा विवाहादिक ऐहिक कर्म की मन-वचन-काय से अनुमनि नहीं देता है, उनकी अनुमोदना नहीं करता वह दसवी प्रतिमाधारी है।

उद्दिष्टत्याग प्रतिमा —जो अपने लिए बनाये हुए आहार को ग्रहण नहीं करता है, कोपीन और एक चादर रखता है एव केवल एक लगोटी मात्र रखता है। दिन में मुनिजनों के समान एक बार अतराय टालकर भोजन करता है। मुनियों के समीप रहता है वह ग्यारह प्रतिमाधारी है।

यह विकल-सयमाचरण है। इस सयम के परिपुष्ट होने से सकल-सयम पालन की शक्ति प्राप्त होनी है।

१ बिन जाने तो दोप गुणन को कैसे तजिये गहिये। (छ ढा, ३ ढा)

२ यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या। (कल्याणमन्दिर, ३७)

३ मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञान।
रागद्वेपनिवृत्यै चरण प्रतिपद्यते साधु।—(रत्न श्लो ४७)

४ जं जाणई तं णाण पिच्छई त दसण भणियं।
णाणस्स पिच्छयस्स समवण्णा होई चारित्त।—चारित्त पा गा ३

५ स्वरूपसबोधन।

६ सर्वार्थसिद्धि।

७ मद मूढ मणायदण सकादि वसण भय मदीयार।
जेसिं चउवालिसेण सति ते होंति सद्दिष्ठि॥ (रयणसार-७)

८ चारित्तपाहुड। गा १७/२

शुद्धोपयोग

❑ *उपाध्याय श्री भरतसागरजी*

उपयोग—"उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी— परिणाम — उपयोग" (स सि ।२।८।१६३।३)। जो अन्तरङ्ग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्तों से होता है और चैतन्य का अन्वयी है अर्थात् चैतन्य को छोडकर अन्यत्र नहीं रहता वह परिणाम उपयोग कहलाता है। अथवा—यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरण क्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते॥१॥तदुक्तं निमित्त प्रतीत्य उत्पद्यमान आत्मन परिणाम उपयोग इत्युपदिश्यते—(राजवार्तिक २।१८।१-२।१३०।२४)। अर्थात् जिनके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रियों की रचना के प्रति व्यापार करता है ऐसे ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। उस पूर्वोक्त निमित्त (लब्धि) के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं। प्रणिधान, परिणाम और उपयोग ये एकार्थवाची हैं।

"स्वपर-ग्रहणपरिणाम उपयोग।" (ध।२।१,१।४१३।६) अर्थात् स्व और पर को ग्रहण करने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। "आत्मनश्चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोग" अर्थात् आत्मा के चैतन्यानुविधायि परिणाम को उपयोग कहते हैं। अथवा—जो चैतन्य की आज्ञा के अनुसार चलता है या उसके अन्वयरूप से परिणमन करता है उसे उपयोग कहते हैं अथवा पदार्थ के परिच्छित्ति के समय "यह घट है", "यह पट है" इस प्रकार अर्थ ग्रहण रूप से व्यापार करता है वह चैतन्य का अनुविधायी है।

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदसण भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि॥१५५॥ प्र सा॥

वास्तव में आत्मा का पर-द्रव्य के सयोग का कारण उपयोग विशेष है। प्रथम तो उपयोग वास्तव में आत्मा का स्वभाव है क्योंकि वह चैतन्यानुविधायी परिणाम है और वह ज्ञान तथा दर्शन है, क्योंकि चैतन्य के साकार (विशेष) और निराकार (सामान्य) उभय रूपपना है।

उपयोग के भेद

अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन। तत्र शुद्धो निरुपराग, अशुद्ध सोपराग। स तु विशुद्धि-सक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविध शुभोऽशुभश्च। (प्र.सा।त।प्र. १५५)

इस (ज्ञानदर्शनात्मक) उपयोग के दो भेद हैं—शुद्ध और अशुद्ध। उनमें से शुद्ध निरुपराग

है और अशुद्ध सोपराग है। यह अशुद्धोपयोग शुभ और अशुभ दो प्रकार का है क्योंकि उपराग विशुद्धि रूप व सक्लेश रूप दो प्रकार का है।

शुद्धोपयोग का लक्षण

शुद्धोपयोग शुद्धात्मा से तन्मयता रूप होता है अत वह अप्रमत्त दशा में ही हो सकता है उससे पहले नहीं, जैसा कि प्रवचनसार में कहा है--

सुविदिदपयत्थसुत्तो सजमतवसजुदो विगदरागो।
समणो सम-सुहदुखो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति॥१४ (प्रवचनसार)

जिन्होंने पदार्थों और सूत्रों को भलीभाति जान लिया है, जो सयम और तपयुक्त हैं, जो वीतराग हैं और जिन्हें सुख-दुख समान हैं ऐसे श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा गया है। समता एव मध्यस्थता शुद्धभाव, तथा वीतराग चारित्र और धर्म ये सब स्वभाव की आराधना कहे गये हैं।

परभावों से रहित परमभाव स्वरूप सामान्य निजबोध में तथा तत्त्वों की आराधना में युक्त रहने वाला ही शुद्धचारित्री कहा गया है।

साम्य स्वास्थ्य समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचक ॥६४॥ प प एक सप्तति ॥
नाकृतिर्नाक्षरं वर्णो नो विकल्पश्च कश्चन।
शुद्ध चैतन्यमेवेकं यत्र तत्साम्यमुच्यते॥६५॥

अर्थात् साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं। जहा न कोई आकार है, न अकारादि अक्षर है, न कृष्ण-नीलादि वर्ण हैं और न कोई विकल्प ही है किन्तु जहा केवल एक चैतन्य स्वरूप ही प्रतिभासित होता है उसी को साम्य कहा जाता है॥६५॥

'निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोगेन परिणत शुद्धो ज्ञातव्य ।'

जैसे स्फटिक मणि का पत्थर निर्मल होने पर भी जपा पुष्प आदि लाल, काली, श्वेत उपाधि के वश से लाल, काला, सफेद रग रूप परिणम जाता है वैसे यह जीव भी स्वभाव से शुद्धबुद्ध होने पर भी व्यवहार करके गृहस्थ अपेक्षा यथासभव राग सहित सम्यक्त्वपूर्वक दान पूजा आदि शुभ कार्यों को करने से तथा मुनि अपेक्षा मूलोत्तर गुणों को अच्छी तरह पालन रूप वर्तन में परिणमन करने से शुभ है ऐसा जानने योग्य है।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद व कषाय तथा मन-वचन-काय योगों के हलन-चलन रूप भाव ऐसे पाच कारण रूप अशुभोपयोग में वर्तन करना अशुभ उपयोग है।

निश्चय रत्नत्रयमय-शुद्धोपयोग से परिणमन करता हुआ जीव शुद्ध जानना चाहिए। कहा भी है—

"मिथ्यात्व-सासादन-मिश्रगुणस्थानत्रये— तारतम्येनाशुभोपयोग, तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसयत-गुणस्थानत्रये— तारतम्येन— शुभोपयोग तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्त-गुणस्थानषट्के— तारतम्येन— शुद्धोपयोग,— तदनन्तर सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थ। (प्र सा.ता वृ. ९)

मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से घटता हुआ अशुभोपयोग है। इसके पीछे असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा प्रमत्तसयत ऐसे तीन गुणस्थानों में तारतम्य से शुभोपयोग है। इसके पीछे अप्रमत्त से लेकर क्षीणकषाय तक छ गुणस्थानों में तारतम्य से शुद्धोपयोग है। उसके पीछे सयोगिजिन और अयोगिजिन इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है ऐसा भाव है।

"निर्मोहशुद्धात्मसवित्तिलक्षणेन शुद्धोपयोगसज्ञेनागमभाषया पृथक्त्ववितर्कवीचारप्रथमशुक्लध्यानेन -----" (प्र सा.।ता वृ १५)। मोह रहित स्वशुद्धात्मा के अनुभव रूप लक्षण वाला शुद्धोपयोग है। आगम भाषा में पृथक्त्ववितर्क नाम का शुक्लध्यान इसे जानना चाहिए।

सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग प्रारम्भ होता है। फिर प्रत्येक पद में उसकी शुद्धता की शक्ति बढती चली जाती है जिससे दसवें गुणस्थान में मोह कर्म प्राय नष्ट हो जाता है। जब वह शुद्धोपयोग पूर्ण क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में पहुँचता है तो उस शुद्धता में शेष तीन घाति कर्मों को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। घाति कर्मों के नष्ट होने पर स्वभाव स्वय प्रकट हो जाता है और आत्मा सर्वज्ञ बनकर सब ज्ञेयों को जानने लगता है। (प्र.सा.पृ. ३५)

निश्चय रत्नत्रयात्मक तथा निर्मोह शुद्धात्मा का सवेदन ही है लक्षण जिसका तथा जिसे आगमभाषा में पृथक्त्ववितर्कविचार नाम का प्रथम शुक्लध्यान कहते हैं वह शुद्धोपयोग है। जीवन-मरण आदि में समता भाव रखना ही है लक्षण जिसका ऐसा परमोपेक्षासयम 'शुद्धोपयोग' है। शुद्धात्मा से अतिरिक्त अन्य बाह्य और आभ्यन्तर का परिग्रह त्याज्य है ऐसा उत्सर्ग मार्ग, अथवा निश्चयनय अथवा सर्व परित्याग, परमोपेक्षा सयम, वीतराग चारित्र, शुद्धोपयोग ये सब एकार्थवाची हैं।

शुद्धोपयोग में शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव का धारक जो स्व-आत्मा है वही ध्येय होता है, इस कारण शुद्ध ध्येय होने से, शुद्ध अवलम्बनपने से तथा शुद्धात्मस्वरूप का होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है।

अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त ज्ञानी जीव अपने समीचीन समाधिरूप ज्ञानभाव के द्वारा प्रथम तो उसी क्षण परमात्म दशा को प्राप्त कर लेता है, यदि ऐसा नहीं हुआ तो वह स्वर्ग में जाकर

लौकान्तिकादि पदविशेषों को प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर तीर्थंकरादिरूप नरोत्तम पद को प्राप्त होकर उसी भव से परम समाधि द्वारा निर्वाण को प्राप्त कर लेता है किन्तु वह जीव अज्ञानी दुराचारी व्यक्ति के समान नरक-निगोदादि-दुर्गतियों को कभी प्राप्त नहीं करता।

शुद्धात्मा की भावना का अर्थ कुछ महानुभाव शुद्धोपयोग से करते हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्धात्मा की भावना और शुद्धोपयोगी में इतना ही अन्तर है जितना कि विद्यार्थी और अध्यापक में है। शुद्धात्मा की भावना अलब्धोप्लिप्सा (नहीं प्राप्त हुई वस्तु के प्राप्त करने की उत्सुकता) रूप होने से अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के भी होती है। किन्तु शुद्धोपयोग तो शुद्धात्मा से तन्मयता रूप होता है अत वह अप्रमत्तदशा में ही हो सकता है उससे पहले नहीं, जैसा कि प्रवचनसार में कहा है—

"सुविदिदपयत्थसुत्तो सजमतवसजुदो विगदरागो।
समणो सम-सुहदुःखो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति।।" १४।।

जैसे गारुड आदि मन्त्र को सिद्ध करने वाला एकाग्रचित्त होकर उस मत्र को सिद्ध करता है तब उसके सिद्ध हो जाने पर विपापहार, बध, विध्वस या स्त्रीविडबना आदि जिस उद्देश्य से वह मत्र सिद्ध कर रहा था वह कार्य देशान्तर में उस मत्रसाधक के अन्य किसी प्रकार के व्यापार के बिना सिद्ध हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व और रागादि विभाव के विनाशकाल में निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोग परिणाम के होने पर पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म नीरस होकर अपने आप जीव से पृथक् होकर निर्जीर्ण हो जाते हैं।

शुद्धात्मा के स्वरूप का जो दर्शन है, अनुभवन है, अवलोकन है, उपलब्धि है, संवित्ति है, प्रतीति है, ख्याति है, अनुभूति है वही निश्चय सम्यक्त्व है और ये सब शुद्धोपयोग के अविनाभावी हैं।

परम समाधिकाल में तो नव पदार्थों के मध्य एक शुद्धात्मा ही झलकता है (शुद्धनिश्चयनय से)। अनुभूति, प्रतीति अथवा शुद्धात्मा की उपलब्धि ही निश्चय सम्यक्त्व है। वह अनुभूति ही गुण-गुणी में निश्चयनय से अभेद विवक्षा करने पर शुद्धात्मा का स्वरूप है। (ता. वृ. गा १५, स सा)

जैसे कोई ग्रामीण पुरुष तो कीचड सहित तालाब आदि का जल पी लेता है किन्तु नागरिक विवेकी पुरुष तो उसमें कतकफल निर्मली डालकर उसे निर्मल बनाकर ही पीता है। उसी प्रकार— "स्वसवेदनरूपभेदभावनाशून्यजनो मिथ्यात्वरागादि विभावपरिणामसहितमात्मानमनुभवति, सद्दृष्टिजन पुनरभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिबलेन कतकफलस्थानीय निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मानुभवतीत्यर्थ।। (१३ ता वृ स. सार)।

स्वसंवेदन ज्ञानरूप भेद भावना से रहित जो मनुष्य है वह तो मिथ्यात्व और रागादि रूप विभाव परिणाम सहित ही आत्मा का अनुभव करता है किन्तु जो सम्यग्दृष्टि (संयत) मनुष्य

होता है वह तो अभेदरत्नत्रय लक्षण निर्विकल्पसमाधि के बल से निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है।

सम्पूर्णरूप से विमल केवलज्ञान तथा दर्शन ये दोनों शुद्धोपयोग हैं। मतिज्ञान आदि रूप विकल अशुद्ध उपयोग है। मतिज्ञान से लेकर मनपर्यय पर्यन्त चारों ज्ञानरूप उपयोग अशुद्ध उपयोग हैं।

अध्यात्म भाषा से द्रव्यशक्ति रूप जो शुद्ध भाव है उसके विषय में भावना कहते हैं। अन्य नामों से इसी द्रव्यशक्ति रूप पारिणामिक भाव की भावना को निर्विकल्प ध्यान तथा शुद्ध उपयोग आदि कहते हैं।

भावना मुक्ति का कारण है। इसीलिए जो पारिणामिक भाव है वह ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं। ऐसा क्यों? उत्तर यह है कि ध्यानभाव पर्याय है सो तो विनाश का धारक है और ध्येयभावना पर्याय द्रव्यरूप होने से विनाशरहित है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व, रागादि जो विकल्पों के समूह, उनसे जो निज शुद्ध-आत्मा, उसकी भावना से उत्पन्न सहज (स्वभाव से उत्पन्न) आनन्दरूप एक मात्र सुख के ज्ञान को धारण करने वाली जो भावना है वही मुक्ति का कारण है। उसी भावना को कोई किसी (निर्विकल्प ध्यान शुद्धोपयोग आदिरूप) अन्य नामों के द्वारा कहता है (ब्र सू पृ ६७ टीका)। कवि भागचन्द जी ने लिखा है—

"परिणति सब जीवन की तीन भाति वरणी,
एक पुण्य एक पाप एक राग हरणी।"

परिणाम तीन प्रकार के हैं—(१) शुभ, (२) अशुभ और (३) शुद्ध।

"तामें शुभ अशुभ बन्ध दोउ करे करम बन्ध,
वीतराग परिणति भव समुद्र तरणी॥"

शुभ-अशुभ बन्ध रूप हैं, शुद्ध परिणति भवसागर से पार करने वाली नौका है। परन्तु—

"जावत शुद्धोपयोग पावत नाहीं मनोग,
तावत ही करन योग कही पुण्य करनी।"

जब तक शुद्धोपयोग निर्विकल्प समाधि, अभेदरत्नत्रय निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो जाता तब तक शुभ रूप पुण्य क्रिया अवश्य करनी चाहिए।

"ऊच ऊच दशा धार, चित प्रमाद को विडार,
ऊचली दशा से मत गिरो अधो धरणी।
भागचन्द या प्रकार जीव लहे सुख अपार,
यातैं निरधार स्याद्वाद की उचरनी।"

मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मन्दता से अशुभ उपयोग

रहता है। उसके आगे असयंत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्त नामक तीन गुणस्थानों में परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक शुभ उपयोग ऊपर-ऊपर तारतम्य से प्रवर्तता है। इनके पश्चात् अप्रमत्त आदि क्षीणकषायपर्यन्त छह गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एकदेश शुद्धनयरूप शुद्ध उपयोग वर्तता है।

शंका—ऐसे अशुद्ध निश्चयनय के मध्य में मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में अशुभ, शुभ और शुद्ध रूप तीनों उपयोगों का व्याख्यान किया। इस अशुद्ध निश्चय में शुद्ध उपयोग किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

शुद्ध उपयोग में शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव का धारक जो निज आत्मा है सो ध्येय होता है इस कारण शुद्ध ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) होने से, शुद्ध आलम्बन (आधार) पाने से तथा शुद्ध आत्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है। और वह 'सवर' इस शब्द से कहे जाने योग्य जो शुद्धोपयोग है सो संसार की कारणभूत जो मिथ्यात्व, राग आदि अशुद्ध पर्याय है उसकी भाति शुद्ध भी नहीं होता है, किन्तु उन अशुद्ध तथा शुद्ध दोनों पर्यायों से विलक्षण शुद्ध आत्मा के अनुभवस्वरूप निश्चयरत्नत्रयरूप, मोक्ष का कारण, एक देश में व्यक्तरूप (प्रकटरूप) और एक देश में आवरण रहित ऐसा तृतीय-अवस्थान्तररूप कहा जाता है।

शुद्धोपयोग का फल

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि पार णेयभूदाण॥ (प्र सा १५)

शुद्धोपयोगी आत्मा स्वय ही अपने पुरुषार्थ से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोह की रज से बिल्कुल छूटकर सर्व पदार्थों का ज्ञाता सर्वज्ञ हो जाता है।

शुद्धोपयोग साक्षात् मोक्ष का कारण है

असुहेण णिरतिरिय सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्ख।
सुद्धेण लहइ सिद्धि एव लोय विचिंतिज्जो॥४२॥ (बा अ)

निशेप क्लेश निर्मुक्त स्वभावजमनश्वरम्।
फल शुद्धोपयोगस्य ज्ञानराज्यं शरीरिणाम्॥३४॥ (ज्ञा ३)

जीवों के शुद्धोपयोग का फल समस्त दुखों से रहित, स्वभाव से उत्पन्न और अविनाशी ऐसा ज्ञान साम्राज्य है।

यह जीव अशुभ विचारों से नरक तिर्यञ्च गति पाता है, शुभ विचारों से देवों तथा मनुष्यों के सुख भोगता है और शुद्ध उपयोग से मोक्ष प्राप्त करता है।

कम्मबधो हि णाम सुहासुह परिणमेहितो जायदे।
सुद्ध परिणामे हिं सो तेसिं दोण्ण पि णिम्मूलक्खओ॥ (ध १२।४,२,८-३।२७९।६)

कर्म का बन्ध शुभ व अशुभ परिणामों से होता है और शुद्ध परिणामों से उन दोनों का ही निर्मूल क्षय होता है।

शुद्धोपयोग सहित ही शुभोपयोग कार्यकारी है

"शुभोपयोगिना— हि— शुद्धात्मानुरा गिचारित्रतया— समधिगतशुद्धात्मवृत्तिषु— श्रमणेषु - प्रतिपत्ति- प्रवृत्ति-शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता श्रमापनयनप्रवृत्तिश्च न दूष्येत"।(प्र. सा। त प्र. २४७)

शुभोपयोगियों के शुद्धात्मा के अनुरागयुक्त चरित्र होता है। इसलिए जिन्होंने शुद्धात्म परिणति प्राप्त की है ऐसे श्रमणों के प्रति जो वन्दन-नमस्कार-अभ्युत्थान-अनुगमनरूप विनीत वर्तन की प्रवृत्ति तथा शुद्धात्म परिणति की रक्षा की निमित्तभूत जो श्रम दूर करने की प्रवृत्ति है वह शुभोपयोगियों के लिए दूषित नहीं है॥२४७॥

जिनशासन में शुद्धोपयोग

❑ *गणिनी आर्यिका विजयमतीजी*

'उप' उपसर्गपूर्वक 'योग' उपयोग है। जिनशासन में योग आत्मा की अनन्तशक्तियों में से एक शक्ति-स्वभाव है। योगशक्ति आत्मा के नैकट्य अनन्य रूप है, 'उप' का अर्थ भी पास या निकटता है। शक्तियाँ या स्वभाव शक्तिवान या स्वभावी से अभिन्न होती हैं। द्रव्यदृष्टि से निज स्वभावरूप परिणमती हैं किन्तु व्यवहारदृष्टि से पर-संयोग के कारण अन्यरूप भी, विभावरूप भी, परिणमन करती हैं। द्रव्य स्वभाव ऐसा ही है। हाँ, जीव और पुद्गल द्रव्य ही उभय रूप (स्वभाव-विभाव) परिणमन करने वाले हैं, अन्य नहीं। उपयोग आत्मा का लक्षण है। आत्मा से यह अभिन्न होते हुए दो रूप से अभिव्यक्त होता है—ज्ञान और दर्शन। ज्ञान—जानने रूप परिणति ज्ञानोपयोग और देखने रूप परिणमन दर्शनोपयोग है। निमित्तवशात् यह आत्मशक्ति या स्वभाव ससारावस्था में विविध रूप से विभक्त हो जाता है। ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग ही चेतना है। चेतना ही जीव है। जीव ही आत्मा है। जिस समय अनादि कर्मबद्धता अशुभरूप परिणति करता है तो अशुभोपयोगी कहलाता है। वही ससारी शुभरूप परिणत होता है तो शुभोपयोगी कहा जाता है। वही जीव जिस समय भेद-ज्ञान स्वभाव से शुभाशुभ परिणमन से उपरम होता है तो शुद्धोपयोगी कहा जाता है। इस प्रकार उपयोग—अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग से तीन प्रकार का है। इनमें प्रथम दो उपयोगों का क्रमश परित्याग कर तीसरे शुद्धोपयोग में स्थिर हो आत्मा 'परमात्मा' व्यपदेश को पाता है।

प्रथम हम विवेचना करें कि यह निमित्तजन्य डक-दोष कब, कैसे और कहाँ लगा। क्योंकि ग्रन्थि को खोलने से पूर्व "यह किस प्रकार लगी है" यह ज्ञात कर लिया जाय तो सरलतापूर्वक शीघ्र ही उसे खोला जा सकता है। जैनागम में आत्मा और अनात्मा (जड कर्मों) का अनादि सम्बन्ध है। ये स्वभाव से स्वर्ण-पाषाण सदृश अनादिबद्ध है। चूकि मिथ्यात्व अनादिबद्ध है अत आत्मा अनादि से मिथ्यारूप ही परिणमन करती आ रही है। विकारी आत्मा स्वभाव से अशुभोपयोग से युक्त है यह कहा जा सकता है यद्यपि इस दशा में भी कुछ ज्ञानचेतना के जाग्रत होने अर्थात् क्षयोपशमविशेष होने पर शुभ कार्य करने में प्रवृत्त होता है, किन्तु मिथ्यात्वयुक्त होने से वह ज्ञान और क्रिया मिथ्यात्वरूप ही कहे जाते हैं और उन्हें अशुभोपयोग की श्रेणी में स्थान दिया जाता है। यह जीव की स्वय की भूल है। स्वय को भूला हुआ यह पर में रमता है, उसे ही अपना मानता है, दुखी होता है या इन्द्रिय-विषयजन्य सुख को जो क्षणभंगुर और दुख का कारण होने से सुखाभास है उसे ही सच्चा सुख मान लेना है। परिणाम विपरीत निकलता

है। खाज के खुजलाने के सदृश या कुष्ठी के तापके समान। इससे सिद्ध है कि संसारी आत्मा मूलत अशुभोपयोगी ही है। क्यों? क्योंकि—

अपनी सुध भूल आप आप दुख उठायो,
ज्यों शुक नभ-चाल विसरि नलिनी लटकायो।

अब उसी आत्मा के पुरुषार्थ पर उसकी शुभ या शुद्ध परिणति निर्भर है। इस विकास में क्रमबद्धता का ध्यान अनिवार्य है। आचार्य गुणभद्रस्वामी लिखते है—

अशुभाच्छुभयामायात शुद्ध स्यादयमागमात्।
रवेरप्राप्तसध्यस्य तमसो न समुद्गम ॥१२२॥ (आत्मा शा)

अर्थात् अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की प्राप्ति हो सकती है। यथा गन्दे नाले (गटर) को मोड दिया जाय और उसका अपेय अनुपयोगी जल इक्षु के क्षेत्र में पहुंचा दिया जाय तो हरे भरे रसीले गन्ने उत्पन्न कर देगा जो स्वय मधुर हो अन्य के भी आनन्ददायक होंगे, तृप्तिकारक होंगे। यह शुभरूप परिणमन हुआ। इसी प्रकार गटर के नीर समान अशुभपयोग को अर्थात् हिंसादि पञ्चपाप, सप्तव्यसन, अत्याचार, अनाचार, दुराचार रूप परिणति को शुभोपयोग कार्यों— अहिसादिरूप दयाधर्म, सदाचार, शीलाचार, जिनपूजा, दान, त्याग, सयमाचरण, व्रत, नियम जपादि रूप में मोडकर चारित्ररूपी खेती के अभिसिचन में प्रयुक्त करे तो क्रमश शुद्धोपयोगरूप पुण्य और मुक्ति रूपी फल की उपलब्धि अवश्य होगी। आचार्य श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है "शुभ पुण्यस्याशुभ पापस्य" अर्थात् शुभपरिणाम से रचित योग शुभोपयोग है, यह पुण्यसम्पादन का कारण है। अशुभपरिणमन द्वारा अशुभोपयोग होता है जो पापसचय का कारण है। पाप दुख का और पुण्य सुख का हेतु है। किन्तु निश्चयदृष्टि से ये दोनों क्षणिक हैं क्योंकि परनिमित्तक हैं, विभावरूप है। अत उभयरूपता से उठकर तीसरी अवस्था ही सच्चे स्थायी, अचल अविनाशी सुख, शान्ति और शुद्धात्मानन्दानुभूति की कारण है। अस्तु, कर्मापेक्षया पुण्य पाप दोनों ही त्याज्य हैं, परन्तु पाप को बलात्-पुरुषार्थ कर त्यागना पडता है जबकि पुण्य-या शुभोपयोग को बलात् सत्पुरुपार्थ द्वारा सचय किया जाता है और उसकी अन्तिम सातिशय दशा को प्राप्त कर उसके बल पर एक तीसरी शुद्धावस्था को प्राप्त किया जाता है जिसे पाते ही यह (पुण्य) स्वय वहीं ताकता रह जाता है। यथा नौकारोही सागर के तट तक खतरों से बचता हुआ नाव को खेता है, उसे सुरक्षित भी बनाये रखता है, उसकी सुदृढता का ध्यान रखता है किन्तु ज्यों ही तट पर चरण धरा कि वह नौका स्वय वहीं की वहीं छूट जाती है बिना किसी उपाय के, प्रयास के। इस प्रकार पुण्य से पाप का निरोध होता है, शुद्ध से पुण्य का। दोनों के निरोध से मुक्ति प्राप्त हो ही जाती है।

उपर्युक्त क्रम जितना कहने और लिखने में सरल है, उतना पाने में सुलभ नहीं है। इसके लिए कठोर साधना, उग्र तपश्चरण, बेजोड त्याग, असीम वैराग्य, महान् उदात्त स्थैर्य और दुष्कर

पुरुषार्थ अपेक्षित है। उपादान रहते हुए भी उसे जाग्रत करने, प्रकट करने को उतने ही शक्तिशाली, समर्थ निमित्तकारणों की आवश्यकता है। जैसा कि अकलङ्कदेव स्वामी ने लिखा है—"बिना निमित्तेन कुतो निवृत्ति ।" अर्थात् निमित्त के बिना नैमित्तिक की सिद्धि नहीं हो सकती।

अशुभ का परिहार किये बिना शुभ की प्राप्ति हो नहीं सकती। अशुभ-पापकर्म ही यथार्थ में हमारे उद्भट परम शत्रु हैं। आत्मा के अनुजीवी गुणों के ये ही घातक हैं। धान का छिलका दूर किये बिना चावल की लाली हटायी नहीं जा सकती। इसी प्रकार अशुभोपयोग के अभाव हुए बिना शुभोपयोग रूपी लाली प्रकट नहीं हो सकती। शुभोपयोग, शुद्धोपयोग का घातक नहीं है अपितु साधक है। रत्नत्रयात्मक आत्मस्वभाव का सर्वथा घातक अशुभ है। हम आगम के परिप्रेक्ष्य में देखें—"अरहतावस्था" कब होती है? चार घातिया कर्मों के नाश से। इन चारों कर्मों की समस्त ४७ प्रकृतियां हैं। जहां पाप प्रकृति और पुण्य प्रकृति रूप कर्म का विभाग किया गया है वहां ये ४७ सर्व ही पाप प्रकृतियों के खाते मे आती हैं। अब विचार करें, केवलज्ञान जो आत्मस्वभाव-अक्षय अनन्तरूप है उसका आवरक या घातक कौन है? अशुभ कर्म, पापकर्म न कि पुण्य। अत 'आर्हन्त्य' अवस्था पाने वाला क्रमश गुणस्थान-क्रमानुसार सकल पापकर्म को ही प्रथम सत्ता से आमूल-चूल नाश करता है। पुण्यरूप तो सारा द्रव्य सत्ता मे बैठा ही है। ८५ प्रकृतियां का सत्त्व केवली जिन को आगम में बताया है। क्या ये कर्म भवाङ्कुर के बीज हैं? नहीं। केवलज्ञान दशा से जीव ऊपर ही जाता है। नीचे आने का सवाल ही नहीं उठता। केवली प्रभु इनके नाश का कौन-सा उद्यम करते हैं? कोई त्याग, तपस्या, व्रतानुष्ठान, उपसर्ग-परीषह जय आदि क्रिया है क्या? कुछ भी नहीं है, फिर कैसे जाते हैं ये कर्म? स्वय उतर आ जाता है स्वय मे लीन प्रभु के शेष अघातिया कर्म अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर खिर जाते हैं, निकल भागते हैं। आयुकर्म के कम काल रहने पर तो और तेजी से समुद्घात क्रिया, जो बिना पुरुषार्थ के स्वय स्वभाव मे होती है, के द्वारा स्थिति पूर्ण होने के पहले ही अपना साम्राज्य समेट लेती हैं। यदि रहीं भी तो बस आयुकर्म की स्थिति तक ही अटकी रहती हैं। आयुकर्म की स्थिति पूर्ण होते ही सबका पत्ता साफ। शुद्ध स्फटिक समान निर्मल आत्मा रह जाता है। यही है समयसार या शुद्धोपयोग का फल। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि पुण्य न तो विष्टा के समान त्याज्य है और न वह संसार-बन्धन का कारण। हाँ, पुण्य में आसक्ति हो गयी तो वह अवश्य बन्धन का कारण हो सकती है। अर्थात् पापानुबन्धी पुण्य हेय है, त्याज्य है। यद्यपि पुण्य के रहते मुक्ति नहीं होती अपितु शुद्धोपयोग ही प्रत्यक्ष शिव का हेतु है क्योंकि आस्रव का निरोध और सवर-निर्जरा, मोक्ष तत्त्व की उपलब्धि ही निजस्वरूप की प्राप्ति का उपाय है। अशुभ और शुभ दोनों उपयोग आस्रव के हेतु हैं, दोनों का निरोध होना अनिवार्य है। जैसा कहा है—

> यस्य पुण्य चा पाप च निष्फल गलति स्वयम्।
> स योगी तस्य निर्वाण न तस्य पुनरास्रव ॥२४६॥ (आत्मा शा)

अर्थात् जिस वीतराग के पुण्य और पाप दोनों फलदान के बिना स्वयं अविपाक निर्जरा द्वारा गलते हैं—निकल जाते हैं वही योगी है। उसके पुन आस्रव नहीं होता। आस्रव के अभाव और निर्जरा के होते रहने से मुक्ति अवश्यभावी है। अत एक को रोकना पडता है, दूसरा रुक जाता है और तीसरा आ जाता है जो अचलावस्था में स्थित कर परमात्म दशा प्रकट करा देता है।

जिनागम में वीतरागता मुख्य है। कर्मों का क्षय ध्यान से होता है, ध्यान की सिद्धि सम्यग्ज्ञान से और ज्ञान की वृद्धि सक्लेश की हानि से होती है। सक्लेश परिणामों के ह्रास व नाश का हेतु है वीतराग परिणति। सम्यक्चारित्र का स्वरूप निरूपित करते हुए श्री तर्कशिरोमणि आ. समन्तभद्रस्वामी जी ने कहा है, "राग-द्वेषनिवृत्तिचरण प्रतिपद्यते साधु' अर्थात् राग-द्वेष का अभाव होना वीतरागता है। इस प्रकार मूल उपयोग की त्रिवेणी ससारी भव्य प्राणी की लोक और परलोक की लौकिक एव अलौकिक यात्रा की धारा स्रोतस्विनी है।

अब हम जरा इन तीनों उपयोगों की तह में देखें। इनका स्वरूप विचार करें। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने अशुभोपयोग का लक्षण करते हुए कहा है —

विसय कसाय ओगाढो दुस्सुदि दुच्चित्त दुट्ठगोट्ठि जुदो।
उग्गो उमग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥१५८॥ (प्र सा)

अर्थात् विषय (पञ्चेन्द्रियविषय) भोग, कषायों में प्रगाढ चित्तवृत्ति का लगना, खोटे-मिथ्यात्व पोषक कथापुराणों के श्रवण का विशेष अनुराग होना, चित्तवृत्ति सतत पर-वचना, कूटपञ्चर-रचना आदि में लगी रहना, चुगली-निन्दा, पर का पराभव करने का विचार बना रहना, हर क्षण उग्र स्वभाव रखना अर्थात् व्यग्र रहना, उन्मार्ग सेवन की अभिरुचि होना अर्थात् एकान्त पक्ष का पोषण करना-प्रचार करना, उसी के रक्षण का भाव रखना, जिनवाणी विरुद्ध अपनी मन-मानी पद्धति-मत या परम्परा चलाने में लीन होना, आर्ष परम्परा का उल्लघन करना, उसे दूषित करना अथवा उसमें आगमविरुद्ध, अनेकान्त सिद्धान्तविरुद्ध तत्त्व प्रतिपादन करना आदि अशुभ क्रियाएँ हैं। इनमें उपयुक्तचित्त होना अशुभोपयोग है। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति इन विषयों में जो लगाता है उसके अशुभोपयोग पापास्रव होता है जो ससारचक्र परिभ्रमण की कीली है, आधार है। मिथ्यादृष्टि जीव ही इसका प्रधान अधिकारी है। यद्यपि तारतम्य रूप से इसकी अनेक शाखाएँ, भेद-प्रभेद हैं किन्तु हैं सब मद्य के समान विविध प्रकार के नशों के उत्पादक ही। इन नशायुक्त मद्यों का पायी अनन्त ससार का परिभ्रमण करता ही रहता है क्योंकि इसका मूलाधार है मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति एव प्रमाद तथा कषाय। इस उपयोग से युक्त मानव भूताविष्ट पुरुष की भाँति विवेकशून्य, क्रियाहीन, हेयोपादेय विचार विमुक्त, आत्मा-अनात्मा के भेद से सर्वथा शून्य, विपरीत आचरण करता है और ससारसीमा को बढाता जाता है। अत यह सर्वथा हेय है, त्याज्य है, आत्मा का घातक, दु खों का पोषक है। मिथ्यात्व, सासादन एवं

मिश्रगुणस्थान में तरतम रूप से क्रमश हीन-हीन शक्ति रूप में रहता है। पापास्रव का कारण तो है, पुण्य का घातक भी है। इसके विपरीत क्रियोत्पन्न शुभोपयोग है यथा —

जो जाणादि जिणिदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उपओगो सो सुहो तस्स॥१५७॥ (प्र सा)

अर्थात्—जो भव्यात्मा जिनभगवान—अर्हंत परमेष्ठी के स्वरूप को द्रव्यश्रुत व भावश्रुत से जानता है, सिद्धस्वरूप की ओर जिसकी दृष्टि लगी हुई है, तथा उसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय एवं साधु स्वरूप को जानता है, उनकी भक्ति-पूजा, विनय, स्तुति आदि करता है, समस्त जीवों पर करुणाभाव रखता है, अनुकम्पा व रक्षा का भाव रखता है वह शुभोपयोगी है। यह परिणति शुभोपयोग है। सम्यग्दृष्टि को इस उपयोग का सौभाग्य प्राप्त होता है क्यों कि मिथ्यात्व का परदा फट जाने से उसका आत्मस्वरूप की ओर झुकाव हो जाता है। ज्ञान, वैराग्य की शक्तियाँ उसकी जाग्रत हो जाती हैं, स्व-पर का भेद अब उसके सम्मुख घूमने लगता है। मैं कौन हूँ? यह प्रश्न उसके कानों में गूँजने-सा लगता है। फलत स्व-स्वभाव की खोज में अनायास कदम बढने लगते है। सम्यग्दर्शन की विविध दशाओं के अनुसार लडखडाता है, इधर-उधर आता-जाता भी है, प्रमादवश कदम स्वपथ से च्युत भी होते हैं फिर भी रह-रह कर सभलता है, नन्हें बच्चे की भाति देव-पूजा, भक्ति, गुणगान में रम कर अपने को थामता है, गुरुभक्ति-सेवा-सुश्रूषा आदि, दानादि क्रियाओं में लगकर अशुभ की फौज से बचने का प्रयास करता है। शील, उपवास आदि द्वारा अपने शुभोपयोग में स्थिर रहने का प्रयत्न करता है। कुशल अश्वारोही अश्व को दौडाता है किन्तु लगाम को नहीं छोडता उसी प्रकार शुभोपयोगी आत्मा अशुभोपयोग से बचने के लिए सयम की लगाम को पकडता है, उसे अपने हाथ में ही रखता है। यह उपयोग चतुर्थगुणस्थान में परछाई-सा रहता है। पुन गहरा और बलिष्ठ होता हुआ क्रमश आठवें गुणस्थान तक पहुँच जाता है अर्थात् जहाँ से शुद्धोपयोग का प्रारम्भ होता है वहाँ इसका अन्तिम विकास क्षेत्र है। सप्तम गुणस्थान के सातिशय-परस्थान भाग में निर्विकल्प दशा प्रारम्भ हो जाती है, क्योंकि यहीं से श्रेणी आरोहण प्रारम्भ करता है, इस दृष्टि से शुद्धोपयोग का श्रीगणेश भी यहीं से कहा जा सकता है। फिर भी तारतम्यरूप से ८वें गुणस्थान तक धर्मध्यान विद्यमान रहता है, इसका अविनाभावी शुभोपयोग भी विद्यमान रहता है। पहले ही लिखा जा चुका है कि शुभोपयोग शुद्धोपयोग का साधक है, बाधक नहीं। इसकी परिपक्वता ही शुद्धोपयोग की जननी है। शुद्धोपयोग का लक्षण इस प्रकार किया है—

सम्म विदिद पदत्था चत्ता उवहि वहित्थ-मज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धा त्ति णिद्दिट्ठा॥२७३॥ (प्र सा)

अर्थात् सम्यक् प्रकार जो पदार्थों का स्वरूप-ज्ञात कर समभाव में स्थित हैं, समस्त बाह्य पदार्थों का त्याग कर चुके हैं, शरीर से भी ममत्व नहीं है, अपने स्वरूप में ही लीन हैं, किसी

प्रकार भी विषयों में अनुराग नहीं है, मात्र अपने स्वभाव में ही लीन हैं वे ही शुद्धोपयोगी हैं, उनका परिणमन शुद्धोपयोग है। इष्टानिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष रूप बुद्धि का परिणमन शुभाशुभ कर्मों के आस्रव का कारण है। शुद्धोपयोगी को यह इष्टानिष्ट कल्पना ही नहीं होती अत उससे आस्रव का निरोध स्वाभाविक है। जिस प्रकार बैल घूमता है तो लाट घूमती है और लाट के घूमने पर चक्र घूमता है, चक्रस्थ बाल्टियों में जल भर जाता है, आता है उसी प्रकार योगों की प्रवृत्ति शुभाशुभ होने पर उपयोग भी तदनुसार शुभाशुभरूप में परिणत होता है और पुण्य-पाप का आस्रव होता रहता है। बैल स्थिर होने पर सब स्थिर हो जायेगा, उसी प्रकार योगों के स्थिर होते ही आस्रव-द्वार बन्द हो जाता है, सचित स्टॉक खाली होने लगता है, योगी मुक्ति के द्वार पर पहुँचता है। जैसा कि कहा है—

> एव विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोस वा।
> उवओग विसुद्धो सो खवेदि देहुब्भव दुक्ख॥७८॥ (प्रसा)

इस प्रकार शुद्धोपयोग की दशा निर्ग्रन्थ दिगम्बर अवस्था में ही होती है। वस्त्रधारी और शुद्धात्मा में रमण यह कभी भी सभव नहीं हो सकता है। जहाँ तिलतुपमात्र भी बाह्य उपधि-परिग्रह है वहाँ शुद्धोपयोग हो ही नहीं सकता, क्योंकि मूर्च्छा और शुद्धोपयोग में दिन-रात, या अधकार-प्रकाश के सदृश विरोध है। क्योंकि इस दशा में बाह्य जगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कहा है—

> रागद्वेपौ प्रवृत्ति स्यान्निवृत्तिस्तन्निपेधनम्।
> तौ च बाह्यार्थ-सम्बद्धौ तस्मात्ताश्च परित्यजेत् ॥२३७॥ (आशा)

अर्थात् राग-द्वेप में प्रवृत्ति करना विधि है और उनका त्याग करना निपेध है। इन दोनों क्रियाओं में उपयोग का चञ्चल होना विकल्प है। वीतरागता विकल्प रहित होती है, क्योंकि चाञ्चल्य का निमित्त बाह्यपदार्थ हैं जबकि वीतरागता बाह्यालम्बन से उपरितन दशा है। अत राग-द्वेप के प्रति प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही त्याज्य हैं। यह सर्वसङ्ग त्यागी साधु का ही विषय हो सकता है।

जिस समय योगिराज, परम समाधिसाधक निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु अपने स्वभाव में स्थिर होता है उस काल में उसे अपने शरीर का भी भान नहीं रहता। वह एक अलौकिक दशा में पहुँच जाता है। आचार्य श्री पूज्यपादस्वामी का कथन दृष्टव्य है—

> ब्रुवन्नपि हिं न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
> स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति॥४१॥
>
> किमिद कीदृश कस्य कस्मात्क्वेत्य विशेपयन्।
> स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायण ॥४२॥ (इदे)

अर्थात् योगस्थ योगी बोलते हुए भी नहीं बोलता, जाता हुआ भी गमन नहीं करता, एवं देखता हुआ भी नहीं देखता, क्यों? क्यों कि उसने अपने उपयोग को समेटकर अपने आत्मतत्त्व में केन्द्रित कर लिया है। इसी का नाम है 'स्वरूपाचरण'। निज स्वभाव में रमण। भला गृहस्थ इस दशा को पा सकेगा? नहीं। हाँ, पाने के लिए प्रयत्नशील हो सकता है। स्वरूपाचरण-चारित्रधारी का लक्षण तो यह है कि "यह क्या है? यह कैसा है? यह किसका है? यह किससे जन्य है? किसको है? क्यों है? आदि विकल्पों से रहित होता है, और तो क्या अपने शरीर का भी उसे भान नहीं रहता। यह है योगपरिणत योगी का स्वरूप। भला गृहस्थ द्वारा यहाँ पहुँचना कैसे सम्भव हो सकता है? एक म्यान में दो तलवारें नहीं आ सकतीं। उसी प्रकार सरागता में वीतरागता नहीं टिक सकती। शुद्धोपयोग विशिष्ट रसायन है जो समस्त विकल्पजालों को अपने शुद्धध्यान द्वारा भस्म कर आत्मा को मणिवत् शुद्ध रूप प्रदान करता है। शुभोपयोग को भस्म नहीं करता अपितु उसे शुद्धदशा में परिवर्तित कर लेता है। उदाहरणार्थ, हम विष द्रव्य को लें। विष प्राणघातक है, हालाहल मद्य प्राणनाशक सर्वविदित है। किन्तु उसी भीषण विष को चतुर मतिमान, वैद्य योग्य रासायनिक प्रक्रिया द्वारा उसका शोधन कर उसकी प्राणघातक शक्ति को ही नष्ट नहीं करता, अपितु उसे उत्तम औषधिरूप देकर प्राणपोषक, रोगनाशक, पौष्टिक बना देता है।

जब तक रोग रहता है औषधि का प्रयोग देखा जाता है। रोग गया तो कौन बुद्धिमान् औषधि की अपेक्षा करेगा। उसी प्रकार पुण्य या शुभोपयोग शुद्धोपयोग की भूमिका तक ही उपादेय है, ग्राह्य है, शुद्धदशा में चरण पड़ते ही वह वहीं रह जाता है। आचार्य कहते हैं—

फलस्य कारणं पुण्यं, फलं पुण्यविनाशकम्।
पुण्यस्य कारणं पापं पुण्यं पाप-विनाशकम्।

धर्मस्य कारणं पुण्यं, धर्मं पुण्य-विनाशकं।
मोक्षस्य कारणं धर्मं, धर्मं मोक्षस्य साधकं॥

अर्थात् पुण्य फल का निमित्त-उत्पादक है किन्तु फल पुण्य का विघातक है। पाप पुण्योत्पत्ति का बीज है—कारण है, परन्तु पुण्य पाप का संहारक है। पुण्य धर्म की प्राप्ति का हेतु है, लेकिन धर्म-आत्मस्वभाव, या वस्तुस्वभावरूप धर्म पुण्य का नाश करने वाला है। धर्म मोक्ष का कारण है और यही मुक्ति का साधक भी है। अर्थात् स्वभावोत्पत्ति होने पर उसकी प्रच्युति नहीं होती, क्योंकि स्वभाव कहीं से आता नहीं है, अपितु आविर्भूत होता है जो स्वयं तद्रूप ही है। इसी कारण अशुभोपयोग से शुभोपयोग की प्राप्ति या उत्पत्ति होती है, परन्तु शुभोपयोग अशुभोपयोग का घात करता है। शुभोपयोग शुद्धोपयोग का प्रादुर्भाव करने वाला साधन है तो शुद्धोपयोग शुभोपयोग का संहारक। शुद्धोपयोग मोक्ष का हेतु है, और मोक्ष का साधक है। यह क्रम यथार्थ है और इसी क्रमानुसार प्रवृत्ति करने वाला मुमुक्षु निर्विघ्न, सुनिश्चित अपने साध्य की सिद्धि

कर लेता है। शुद्धोपयोग का मूल स्थान श्रेणी-आरोहण है अर्थात् आठवें गुणस्थान से या सातवें गुणस्थान के सातिशयभाग से इस उपयोग का प्रारम्भ आगम में वर्णित है जहाँ स्वरूपाचरण-चारित्र का प्रारम्भ होता है। चतुर्थगुणस्थान में मानने वाले मनीषियों को विवेकपूर्वक आगमाधार से विवेचन करना चाहिए। चौथे गुणस्थान में सम्यक् आचरण कह सकते हैं। दौलतराम जी ने भी छहढाला में लिखा है—

"यों है सकल संयम चारित, सुनिये स्वरूपाचरण अब"

साधु अपनी साधना की शुभोपयोग-भूमिका से ऊपर उठता है वहीं पर स्वरूपाचरण का प्रारम्भ होता है। शुद्धोपयोगी का लक्षण वे कहते हैं—

जह ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वच भेद न कहा।
चिद्‌भाव कर्म चिदेश करता, चेतना किरिया तहो॥

तीनों अभिन्न अखिन्न शुध उपयोग की निश्चल दशा।
प्रकटी जहाँ दृगज्ञान व्रत ये तीनधा एकहि लसा॥९॥

अर्थात् जिस समय ध्यान, ध्येय और ध्याता का विकल्प नहीं रहता—मैं ध्यान करने वाला हूँ, अमुक (आत्मस्वरूप) मेरा ध्येय है, मेरी क्रिया ध्यान है इत्यादि सम्पूर्ण विकल्पजाल जहा शान्त हो जाते हैं। केवल चित् चैतन्यमात्र स्वभाव में तल्लीनता हो जाती है, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अभेदरूप-एकरूपता को प्राप्त हो जाता है, वही शुद्धोपयोग है। यह यदि अन्तर्मुहूर्त रह गया तो उसी क्षण केवलज्ञान उत्पन्न हो जायेगा। इससे पहले का ध्यान क्रमश इसी का साधक है, निमित्त है। यह साधना का अन्तिम चरण है। इस दशा को पाने के लिए महान् त्याग, कठोर साधना, स्थायी वैराग्य, मोह, क्षोभ का नाश अत्यन्त अनिवार्य है। कुछ मुमुक्षु—आगमानुसार प्रवर्तित जनश्रुति कि "भरतचक्रवर्ती तो केवल अन्तर्मुहूर्त में ही शुद्धोपयोग पा गये, यही नहीं उसका फल केवलज्ञान भी प्राप्त कर लिया। फिर क्यों कठोर त्याग, साधना, उपसर्ग-परीषह जय आदि के जञ्जाल में पडना? व्रती बनो, एकदेश सयम, सकलसयम, यथाख्यातसयम आदि के बीहड-सतापकारक मार्ग को क्रमश पार करने में क्यों समय, शक्ति, उपयोग व्यर्थ खर्च करना"—ऐसा कहते हैं। किन्तु ये प्रश्न, यह धारणा नितान्त भ्रामक है, अज्ञान की द्योतक है, प्रमाद की पोषक है, मोह की कारण है। महाराजा भरतचक्रवर्ती ने "अन्तर्मुहूर्त में कैवल्य पाया" यह अक्षरश सत्य है, परन्तु उन्होंने आर्षोक्त क्रम का उल्लघन किया यह उतना ही असत्प्रलाप है। उन्होंने यथाविधि अशुभोपयोग का परिहार किया, शुभोपयोग द्वारा पुण्य सचय किया, पुन उस (पुण्य) के परिहारार्थ सयम धारण किया, केशलोंच किया, वस्त्रत्याग कर निर्ग्रन्थ अवस्था धारण की, बाह्याभ्यन्तर सकल परिग्रह-आरम्भ का पूर्णत त्याग किया। इस त्याग के अनन्तर ही उनमें एकाग्रचिन्तानिरोध ध्यान सिद्धि की योग्यता प्रकट हुई और उसका शीघ्र परिपाक हो जाने से तत्क्षण फल भी प्राप्त हो गया। एक सौ पानों को एक बार ही

सुई संभेदन करने वाला कहे कि "मैने एक साथ एकदम १०० पानों को छेद किया" तो क्या यह कथन सत्य है? नहीं, पानों के छेदने में सुई को क्रमश एक के बाद दूसरे पान में छेद करना पडा। फिर क्यों कहा—एक बार में छेद दिया? इसका कारण है कि इनके छेदन का क्रमिक काल इतना सूक्ष्म है कि साधारण-सामान्य जन की दृष्टि में नहीं आता। अत इसी प्रकार आत्मसिद्धि का भरत जी का काल है। जैनागम में कहीं भी कभी भी पूर्वापर विरोध मिल ही नहीं सकता है।

जीव का स्वय सचित भव-भव का पुरुषार्थ अन्तिम सीमा पाकर भी फलित होता है यह भी जिनवाणी का कथन है। अत पूर्व भव में भरत जी ने विविध प्रकार से पापक्षय और पुण्यसंचय का प्रयास किया था। इस भव में वही अपनी परिपक्व दशा प्राप्त कर शीघ्र सिद्धि का कारण हुआ। साराश यह है कि प्रत्येक भव्यात्मा को आगम का तलस्पर्शी अध्ययन कर तत्त्वस्वरूप को अवगत करना चाहिए। भेद-विज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति का सतत पुरुषार्थ-उद्योत करते रहना चाहिए। आत्मा उपयोग स्वरूप है, जो जिस रूप परिणमन करता है वह आत्मा उसी उपयोग का कर्त्ता-भोक्ता होता है क्योंकि तन्मय होने से वही पाता है। जैसा कि कहा है —

ज भाव सुहमसुह करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
त तस्स होदि कम्म सो तस्स दु वेदगो अप्पा॥३-३४-१०२ (समयसार)

जिस समय आत्मा शुद्धोपयोग की भूमिका में प्रवेश करता है, उस काल में वह निश्चय से शुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है। यथा —

सुद्ध तु वियाणतो सुद्धमेवप्पय लहदि जीवो।
जाणतो दु असुद्ध असुद्धमेवप्पयं लहदि॥६-६-१८६ (समयसार)

उपर्युक्त प्रकार उपयोग अशुभ, शुभ और शुद्ध के भेद से तीन प्रकार का ही है। अस्तु, परम वीतरागी भव्यात्मा प्रज्ञा द्वारा, भेदविज्ञान द्वारा, इन तीनों ही दशाओं को क्रमश पार करता हुआ गुणस्थान श्रेणी पर चढता जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि शुभोपयोग अवस्था में भी उसका लक्ष्य शुद्धोपयोग की ओर रहता है। इसीलिए वह सराग और वीतराग भावों में झूलता रहता है। पञ्चाध्यायीकार लिखते हैं —

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्य पदमाश्रित ।
चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणम्॥२६७ (प अ, अ २)

अर्थात् चारित्र मोहनीय कर्म की बलवद् वायु इस विकल्प रूप चलन की कारण है, किन्तु उसकी वीतराग दृष्टि को सर्वथा नहीं रोक सकती है। यथा—

नासिद्ध तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात्।
जगतोऽनिच्छतोऽप्यस्ति दारिद्रय मरणादि च॥२७० (प अ, अ.२)

शुभरूप क्रिया मात्र में प्रवर्तन करने वाले सम्यग्दृष्टि-भावलिङ्गी साधुसम्राट के वीतरागभाव का निषेध नहीं है। वह अपने वीतराग भाव से शुद्ध को पाने का सफल प्रयत्न करता है और अन्तत शुद्धोपयोग को पाकर पूर्ण निरास्रव होता हुआ अपने शुद्ध स्वभाव में स्थिर हो जाता है। जिनागम में मोक्षमार्ग का क्रम यही है। जो भव्य क्रमानुसार पुरुषार्थ करता है वह अपने निजानन्द रस का पान करता हुआ सदाशिव अर्थात् अक्षय अनन्तसुख का भोगी हो जाता है।
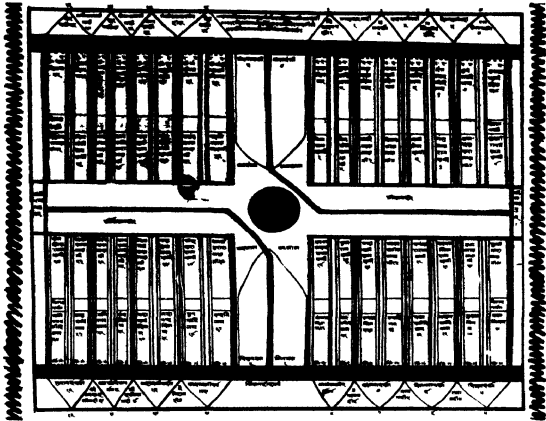
कर्मसिद्धान्त

❑ *आर्यिका आदिमतीजी*
(शिष्या आ. श्री शिवसागरजी)

सम्पूर्ण विश्व पर दृष्टिपात करने से यह अनुभव होता है कि प्रत्येक प्राणी अपनी स्वाभाविक परिणति को विकृत किये हुए है और जब यह अनुभवसिद्ध है तो उस विकृतावस्था का कोई कारण भी अवश्य होना चाहिए, क्योंकि विश्व में देखा जाता है कि कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता है। कारण की खोज करने पर 'कर्म' यह कारण प्राप्त होता है। अर्थात् संसार का प्रत्येक प्राणी कर्मश्रृखला से प्रतिबद्ध है और ससार-परिभ्रमण करते हुए जो उसकी विविध अवस्थाएँ हैं वे सभी कर्मप्रेरित हैं। यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त 'कर्मसिद्धान्त' नाम से अभिहित किया गया है। यही कर्म प्रत्येक प्राणी की स्वतन्त्र सृष्टि का विधाता है। 'कर्म' के वाचक अनेक शब्द हैं। यथा विधि, स्रष्टा, विधाता, देव, पुराकृतकर्म, ईश्वर आदि कर्मरूपी ब्रह्मा के वाचक शब्द हैं वैसे कर्म शब्द अन्य अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग के अनुसार, जीव के साथ बधने वाले विशेष जाति के पुद्गलस्कन्ध ही कर्म कहलाते हैं और उन्हीं कर्मों के कारण यह जीव अनादिकाल से परतन्त्र हो रहा है तथा अपनी वैभाविक परिणति के कारण स्वय की सृष्टि का सृजन करता है, अन्य कोई सृष्टिकर्ता ईश्वर या विधाता नहीं है।

हम प्रतिदिन देखते हैं कि मानवों में कोई अमीर है, कोई गरीब है, कोई सुन्दर है, कोई कुरूप, है, कोई बलवान् है, कोई कमजोर है, कोई बुद्धिमान तो कोई मूर्ख है। यहाँ तक कि तिर्यंचपर्याय में जन्म लेने वाले कुत्ते आदि भी इस विषमता से ग्रसित हैं। इन विषमताओं के कारणों की खोज के फलस्वरूप अस्तिवादी भारतीयदर्शनों ने आत्मवाद, परलोकवाद और कर्मवाद सिद्धांत स्वीकार किये। कर्मवाद सिद्धात को आत्मवादी दर्शनों ने तो स्वीकार किया ही है, किन्तु अनात्मवादी बौद्धदर्शन ने भी स्वीकार किया है।

कर्मस्वरूप · जैनेतर भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में

कर्मसिद्धान्त को एकमत से स्वीकार करते हुए भी, उसके स्वरूप में ऐक्य नहीं रहा। सभी जैनेतर भारतीय दर्शनों ने उसे भिन्न-भिन्न नामों से स्वीकार करते हुए उसका पृथक्-पृथक् स्वरूप प्रतिपादित किया है। जैनेतर भारतीय दर्शनों में कर्म के स्थान पर विभिन्न शब्दों का प्रयोग हुआ है। जैसे—माया, अविद्या, प्रकृति, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, सस्कार, भाग्य, अपूर्व,

शक्ति, लीला आदि।

वेदान्तवादियों ने माया, अविद्या और प्रकृति शब्दों को स्वीकार किया है। मीमांसकों ने अपूर्व शब्द कहा है, बौद्धों ने वासना कहा है। 'आशय' योगदर्शन में स्वीकृत है। 'धर्माधर्म', 'अदृष्ट', 'संस्कार' न्याय-वैशेषिक दर्शन में व्यवहृत हैं। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप प्राय सभी दर्शनों ने स्वीकार किये हैं।

विभिन्न दर्शनों में प्रतिपादित कर्मस्वरूप सम्बन्धी मन्तव्यों से यह प्रतिफलित होता है कि कर्म क्रिया अथवा प्रवृत्ति का नाम है। यद्यपि वह क्रिया या प्रवृत्ति क्षणिक है, किन्तु उसका संस्कार फल-काल तक स्थायी रहता है। संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की यह परम्परा अनादि है। विस्तारभय से यहाँ विशेष उल्लेख न करते हुए, अत्यन्त संक्षिप्त कथन किया है। विशेष जिज्ञासुओं को तत् तद् दर्शनसम्बन्धी ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए। मिलिन्दप्रश्न, व्यासभाष्य, साख्यकारिका, प्रशस्तपादभाष्य, न्यायमजरी आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं जिनमें विशेष कथन पाया जाता है।

जैनदर्शन में कर्मस्वरूप

"जो जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं अथवा मिथ्यादर्शनादि परिणामों से जो उपार्जित किये जाते हैं वे कर्म हैं।" यह कर्म पौद्गलिक है। अन्य दर्शनों के समान जैनदर्शन में कर्म मात्र सस्कार नहीं है, किन्तु वह एक वस्तुभूत पदार्थ है। तेईस प्रकार की पौद्गलिक वर्गणाओं में एक कार्मणवर्गणा भी है जो सर्वत्र आत्मप्रदेशों में विस्रसोपचयरूप से विद्यमान है। ये कार्मणवर्गणारूप पुद्गल परमाणु रागी-द्वेषी जीव की मानसिक; वाचिक और कायिक शुभ अथवा अशुभरूप क्रिया का निमित्त पाकर शुभ या अशुभरूप में विभाजित होते हुए दूध और पानी के संयोगवत् आत्मा के साथ बँध जाते हैं तथा यथाकाल अपना शुभ या अशुभरूप फल देते हैं।

जहाँ अन्यदर्शन राग-द्वेष से आविष्ट जीव की क्रिया को कर्म कहते हैं और इस कर्म के क्षणिक होने पर भी तज्जन्य सस्कार को स्थायी मानते हैं वहाँ जैनदर्शन मानता है कि राग-द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ एक प्रकार का द्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है और उसके राग-द्वेषरूप परिणामों का निमित्त पाकर, आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होता है तथा कालान्तर में वही द्रव्य आत्मा को अच्छा या बुरा फल मिलने में निमित्त होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय ग्रन्थ में स्पष्ट किया है कि "यह लोक सर्वत्र सब ओर से विविध प्रकार के अनन्तानन्त सूक्ष्म और बादर कर्मरूप होने योग्य पुद्गलों से ठसाठस भरा है। जहाँ आत्मा है वहाँ भी ये पुद्गलकाय विद्यमान रहते हैं। संसारावस्था में प्रत्येक आत्मा अपने स्वाभाविक चैतन्यस्वभाव को नहीं छोडते हुए भी अनादिकाल से कर्मबधन से बद्ध होने

से अनादि से मोह, रागद्वेष आदिरूप अशुद्ध परिणाम ही करता है। वह जब जहाँ मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भाव करता है तब वहां उसके मन भावों का निमित्त पाकर, जीवप्रदेशों में परस्पर अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए पुद्गल स्वभाव से ही कर्मरूपता को प्राप्त होते हैं।"

जीव की क्रिया के साथ इस प्रकार के पौद्गलिक कर्मबन्ध को अन्य किसी दर्शन ने स्वीकार नहीं किया। जैनदर्शन की अपनी यह मौलिक विशेषता है।

आत्मा और कर्म का अनादि सम्बन्ध है

शंका—आत्मा का और कर्म का सम्बन्ध कब से है और किसने किया तथा किस प्रकार होता है?

समाधान—आत्मा का और कर्म का सम्बन्ध अनादि से है। जिस प्रकार सोना खान से पाषाणरूप में किट्टकालिमा को लिये हुए ही निकलता है, उसी प्रकार संसार में अनादिकाल से जीव कर्मबन्धन को प्राप्त है तथा अपनी अशुद्ध दशा के कारण परिभ्रमण करता है। यदि जीव पहले शुद्ध हो और बाद में उसके साथ कर्मों का बन्ध हुआ हो, ऐसा मानें तो आन्तरिक अशुद्धता के बिना उसने कर्मों का बन्ध कैसे किया? यह आपत्ति आती है।

जैनदर्शन सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता और हर्त्ता किसी ईश्वर को नहीं मानता। यह विश्व (त्रिलोक) अनादि-अनन्त है। इसे न तो किसी ने बनाया है और न ही कोई इसे सर्वथा नष्ट करता है। अखिल विश्व में छह द्रव्य पाये जाते हैं। उनमें से जीव और पुद्गल द्रव्य के संयोग-वियोग का क्रम सदा चलता रहता है और इसी का नाम ससार है। छहों द्रव्य की व्यवस्था भी अनादि है अत जीव और पुद्गल भी अनादि सिद्ध हैं। जब दोनों द्रव्य अनादि हैं तो इनका सम्बन्ध भी अनादि ही है। कर्म जीव के अशुद्ध रागादि भावों का कारण और जीव के अशुद्ध रागादि भाव उस कर्म के कारण हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्व-बद्ध कर्म के उदय से, जीव के रागादिभाव होते हैं और रागादि भावों के कारण जीव के नवीन कर्मबन्ध होते हैं और जब ये कर्म यथाकाल उदय में आते हैं, तो उनका निमित्त पाकर जीव के पुन रागादि भाव होते हैं तथा उन भावों का निमित्त पाकर पुन नवीन कर्मबन्ध होता है। इस प्रकार जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध सिद्ध है।

जिस प्रकार गर्म लोहे का गोला जल में डुबा दिये जाने पर चारों ओर से शीतल जल के परमाणुओं को अपनी ओर खींचता है उसी प्रकार शरीरनामा नामकर्म के उदय से, जड-कर्मपरमाणु आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में एक साथ खिचकर प्रवेश करते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मपरिणामों में कषाय की अनादिकालीन अधिकता या मदता से सर्वात्मप्रदेशों में अधिक या कम समीपता है तदनुसार कम अथवा अधिक कर्मपरमाणुओं का आत्मा के साथ बन्ध होता है। आत्मा और जड़कर्मों का यह सम्बन्ध एकक्षेत्रावगाही है।

समान क्षेत्र में रहने वाले जीव के विकारी परिणाम के निमित्त को पाकर कार्मणवर्गणाएं स्वयमेव अपनी अंतरग शक्ति के कारण कर्मरूप में परिणमित हो जाती हैं और आत्मा के साथ बँध जाती हैं।

शंका—आत्मा अमूर्त है, तब उसका मूर्त कर्म से सम्बन्ध कैसे हो सकता है, क्योंकि मूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध तो सम्भव है, अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध कैसे हो सकता है?

समाधान—यथार्थत संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त है, क्योंकि स्वभावत (स्वरूपत) आत्मा अमूर्त होते हुए भी अनादिकाल से कर्मबद्ध होने के कारण विकारी अवस्था को प्राप्त है। अनादि से यह आत्मा अशुद्ध है अत व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा मूर्तिक है और उस पर कर्मों का प्रभाव पडता है।

कर्म के भेद

"कम्मत्तणेण एक्कं दव्व भावोत्ति होदि दुविह तु" कर्म कर्मत्व रूप सामान्यापेक्षा से एक प्रकार का है, किन्तु द्रव्य और भाव की अपेक्षा कर्म दो प्रकार का है। जीव से सम्बद्ध कर्मपुद्गलों को द्रव्यकर्म कहते हैं और द्रव्यकर्म के प्रभाव से होने वाले जीव के राग-द्वेपरूप भावो को भावकर्म कहते हैं। द्रव्यकर्म के मूल भेद आठ हैं और उत्तरभेद एक सौ अडतालीस हैं तथा उत्तरोत्तर भेद असख्यात हैं। ये सब पुद्गल के परिणाम स्वरूप हैं, और जीव की परतन्त्रता में निमित्त हैं। भावकर्म चैतन्य परिणामस्वरूप क्रोधादि भाव हैं, प्रत्येक जीव को उनका अनुभव होता है, जीव के साथ उनका सबध कथंचित् अभेद रूप है। इसी कारण वे पारतन्त्र्य स्वरूप हैं, परतन्त्रता में निमित्त नहीं हैं। द्रव्यकर्म परतन्त्रता में निमित्त होते है और भावकर्म चैतन्य परिणाम होने में पारतन्त्र्यरूप होते है। यही द्रव्यकर्म और भावकर्म में अन्तर है। द्रव्यकर्म पौद्गलिक हैं और भावकर्म आत्मा के चैतन्यपरिणामात्मक हैं, क्योंकि वे आत्मा से कथंचित् अभिन्नरूप प्रतीत होते हैं। वे क्रोधादि रूप हैं।

द्रव्यकर्म और भावकर्म में कारण-कार्य का सम्बन्ध है, द्रव्यकर्म कारण और भावकर्म कार्य। द्रव्यकर्म के बिना भावकर्म नहीं होते हैं और भावकर्म के बिना द्रव्यकर्म नहीं होते हैं। इन दोनों के सम्बन्ध में बीज-वृक्ष सन्तति के समान कार्य-कारण भाव विद्यमान है।

कर्मबन्ध के कारण

जब हम कर्मबन्ध के कारणों पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से कर्मों का बन्ध होता है। अन्यत्र बन्ध के चार कारण भी कहे हैं। कहीं-कहीं कषाय और योगरूप दो भेद भी माने हैं। बन्ध के कारणों की संख्या

पर हमें यहाँ विचार नहीं करना है। सख्या भेद तो मात्र सक्षिप्त और विस्तृत कथन की अपेक्षा है, किन्तु वस्तुत कषाय और योग ये दो ही कर्मबन्ध के कारण हैं। मन-वचन-कायरूप योगशक्ति से कर्म आकृष्ट होते हैं और कषाय-रागद्वेषरूप भावों के निमित्त से उनका बन्ध होता है।

योगरूप वायु से कर्मधूलि उडकर कपायरूप स्नेहयुक्त आत्मारूपी दीवार पर चिपक जाती है। कर्मधूलि का अधिक या कम चिपकन कपायरूप स्नेह की अधिकता या हीनता पर निर्भर करता है। यदि चिकनाई कम होगी तो कर्मधूलि प्रगाढरूप से बध को प्राप्त नहीं होगी और यदि कषाय रूप चिकनाई अधिक होगी तो कर्म-धूलि प्रगाढरूप से बधेगी। अतएव संक्षेप में योग और कपाय ही बन्ध के कारण हैं।

बन्ध के भेद

बन्ध चार प्रकार का होता है—१ प्रकृतिबन्ध, २ प्रदेशबन्ध, ३ स्थितिबन्ध, ४ अनुभागबन्ध। इनमें से प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग के निमित्त से तथा स्थिति और अनभागबन्ध कपाय के निमित्त से होता है।

प्रकृतिबन्ध ओर प्रदेशबन्ध—प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। कर्म का बन्ध होते ही उसमें ज्ञान ओर दर्शनादि को रोकने, सुख-दुख देने आदि का स्वभाव पडता है, वह प्रकृतिबन्ध है।

इयत्ता (सख्या) की अवधारणा करना प्रदेश है। अर्थात् कर्मरूप से परिणत पुद्गलस्कन्धों का परमाणुओं की जानकारी करके निश्चय करना प्रदेशबन्ध है। वस्तुत कर्मपरमाणुओं की संख्या का नियत होना प्रदेशबन्ध है।

स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध—स्थिति का अर्थ काल-मर्यादा है। योग के निमित्त कर्मस्वरूप से परिणत पुद्गलस्कन्धों का कपाय के वश जीव में एक स्वरूप से रहने के काल को स्थिति कहते हैं। प्रत्येक कर्म का बन्ध होते ही उसका सम्बन्ध आत्मा से कब तक रहेगा यह निश्चित हो जाता है।

अनुभाग का अर्थ फलदानशक्ति है। कर्मों के अपना कार्य करने की (फल देने की) शक्ति को अनुभाग कहते हैं। अत ज्ञानावरणादि कर्मों का कपायादि परिणामजन्य जो शुभ अथवा अशुभ रस है, वह अनुभागबन्ध कहलाता है। यह फलदानशक्ति अथवा अनुभाग कर्मबन्ध के समय ही, यथायोग्य रूप से तीव्र या मदरूप में पड जाता है।

कर्मों में विभिन्न प्रकार के स्वभावों का पडना और उनकी सख्या का हीनाधिक होना योग पर निर्भर करता है तथा जीव के साथ कम या अधिक समय तक स्थित रहने की शक्ति और तीव्र या मन्द फलदान-शक्ति का स्थिर होना कपाय पर निर्भर होता है।

उक्त चारों प्रकार के बन्ध में प्रकृतिबन्ध के भेद-प्रभेद का संक्षिप्त विवेचन उचित प्रतीत

होने से सर्व प्रथम उसका कथन किया है—

प्रकृतिबन्ध के भेद—आत्मा की योग्यता और अन्तरंग-बहिरंग निमित्तों के अनुसार नाना प्रकार परिणाम होते हैं। इन परिणामों से ही बँधनेवाले कर्मों का स्वभाव निर्मित होता है। बधनेवाले कर्मों को आठ भागों में विभक्त किया जा सकता है अत प्रकृतिबन्ध के मूल में आठ भेद हैं। तद्यथा—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४ मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय।

ज्ञानावरण कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को आवृत करता है। दर्शनावरण कर्म दर्शनगुण को ढकता है। वेदनीयकर्म बाह्य निमित्तवश सुख-दु ख का वेदन कराता है। राग-द्वेष और मिथ्या-असमीचीन दृष्टि मोहनीय कर्म के निमित्त से होती है। आयुकर्म आत्मा को नर-नारकादि पर्यायों को प्राप्त कराने में निमित्त होता है। जीव की गति, जाति आदि तथा पुद्गल की शरीर आदि विविध अवस्थाएँ नामकर्म के कारण होती हैं। आत्मा की ऊँच-नीच अवस्था में गोत्रकर्म निमित्त है। दानादिरूप आत्म-परिणामों में अन्तर-व्यवधान डालने वाला अन्तरायकर्म है।

कर्मों के उत्तरभेद

उपर्युक्त ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्मों के उत्तरभेद निम्नप्रकार हैं—

ज्ञानावरण—मतिज्ञानावरण,—श्रुतज्ञानावरण,—अवधिज्ञानावरण,—मन पर्ययज्ञानावरण—और केवलज्ञानावरण। ये पाच— ज्ञानावरणकर्म के उत्तरभेद हैं।

दर्शनावरण—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि इन ९ उत्तरभेदों से युक्त दर्शनावरण कर्म है।

वेदनीय—साता और असाता इन दो प्रकार का वेदनीयकर्म होता है।

मोहनीय—मोहनीय कर्म २८ भेद वाला है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से मोहनीयकर्म मूल में दो भेद वाला है। इनमें भी दर्शनमोहनीय के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वरूप तीन भेद हैं। चारित्रमोहनीय के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन ये चारों क्रोध-मान-माया व लोभ के भेद से चार-चार प्रकार की होने से कषायों के १६ भेद तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नौ नोकषाय इस प्रकार २५ भेद हैं।

आयु—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायुरूप चार भेद वाला आयुकर्म है।

नाम—अभेदविवक्षा में ४२ और भेदविवक्षा में इसके ९३ भेद कहे गये हैं। अभेदविवक्षा से ४२ भेद इस प्रकार हैं—

१. गति (४), २. जाति (५), ३. शरीर (५), ८ अगोपाग (३), ५. निर्माण, ६. बन्धन (५), ७. संघात (५), ८. संस्थान (६), ९. सहनन (६), १० स्पर्श (८), ११. रस (५), १२. गन्ध (२), १३. वर्ण (५), १४. आनुपूर्वी (४), १५ अगुरुलघु, १६ उपघात, १७ परघात, १८. आतप, १९. उद्योत, २०. उच्छ्वास, २१ विहायोगति (२), २२ साधारणशरीर, २३ प्रत्येकशरीर, २४. स्थावर, २५. त्रस, २६. दुर्भग, २७. सुभग, २८ दुस्वर, २९ सुस्वर, ३० अशुभ, ३१ शुभ, ३२.बादर, ३३. सूक्ष्म, ३४ अपर्याप्त, ३५ पर्याप्त, ३६ अस्थिर, ३७. स्थिर, ३८ अनादेय, ३९. आदेय, ४० अयश कीर्ति ,४१ यश कीर्ति और ४२. तीर्थंकरत्व।

गोत्र—उच्च और नीच के भेद से गोत्रकर्म दो प्रकार का है।

अन्तराय—दान अन्तराय, लाभ अन्तराय, भोग अन्तराय, उपभोग अन्तराय, और वीर्य अन्तरायरूप पांच भेदवाला अन्तरायकर्म है।

इस प्रकार ज्ञानावरणादि मूल भेदों के १४८ उत्तर भेद हैं। इनका विस्तारपूर्वक स्वरूप गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है।

कर्मों की स्थिति

कर्मों की स्थिति उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार की है। मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोडाकोडी सागरोपम, नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्टस्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम, आयुकर्म की उत्कृष्टस्थिति ३३ कोडाकोडी सागरोपम है। ज्ञानावरण-दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्टस्थिति ३० कोडाकोडी सागरोपम है। आठों ही मूलकर्मों की जघन्य स्थिति—वेदनीयकर्म की जघन्यस्थिति १२ मुहूर्त्त, नाम और गोत्र की जघन्यस्थिति आठ मुहूर्त और शेष ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-आयु तथा अन्तरायकर्म की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट और जघन्य स्थितियों के मध्य की जितनी भी तरतम स्थितियाँ हैं वे सभी कर्मों की मध्यम स्थितियाँ हैं। उत्कृष्ट और जघन्य स्थितियॉ तो नियत हैं उससे अधिक और हीन नहीं बँधेंगी। हॉं। आत्मा के राग-द्वेषादि रूप तरतम परिणामों के कारण मध्यम स्थितियाँ अनेक प्रकार तरतमरूप से युक्त होती है।

कर्मों का अनुभाग

कर्मों में विविधप्रकार के फल देने की शक्ति का पडना ही अनुभाग है यह पहले ही बताया जा चुका है। जिस कर्म का जैसा नाम है उसी के अनुसार फल प्राप्त होता है तथा फल प्राप्त हो जाने के पश्चात् कर्म की निर्जरा हो जाती है।

कर्मबन्ध के समय जिस जीव के कषाय की तीव्रता या मन्दता रहती है और द्रव्य, क्षेत्र,

काल, भव और भावरूप जैसा निमित्त मिलता है उसी के अनुसार कर्म में फल देने की शक्ति आती है। कर्मबन्ध के समय यदि शुभ परिणाम होते हैं तो पुण्यप्रकृतियों में हीन अनुभाग पड़ता है। यदि कर्मबन्ध के समय अशुभ परिणामों की तीव्रता होती है तो पापप्रकृतियों का अनुभाग अधिक और पुण्यप्रकृतियों का अनुभाग हीन होता है।

अनुभागानुसार तीव्र या मंद रूप फल कर्म अपनी स्थिति के काल के अनुरूप स्वय देते हैं, उसके लिए किसी ईश्वरीय शक्ति की कल्पना निरर्थक है, उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के साथ जो कर्मपरमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होकर राग-द्वेष का निमित्त पाकर बंध जाते हैं उनमें बन्ध के समय शुभ या अशुभ परिणामों के अनुसार जैसी अच्छी या बुरी फलदानशक्ति होती है विपाकसमय में उनका अच्छा या बुरा प्रभाव आत्मा पर पडता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मफल का नियामक ईश्वर नहीं है। वस्तुत कर्मपरमाणुओ में विचित्रशक्ति निहित है और उसके नियमन के विविध प्राकृतिक नियम भी विद्यमान हैं जो स्वत सिद्ध हैं। अत कर्मों का फल-अनुभाग स्वय प्राप्त होता है।

कर्म की विविध अवस्थाएँ

आत्मा के बँधने वाले कर्मों की विविध अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें जैनाचार्यों ने 'करण' नाम से अभिहित किया है। करण अथवा कर्मों की अवस्थाएँ १० प्रकार की होती है।

बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण, सत्त्व, उदय, उदीरणा, उपशामना, निधत्ति और निकाचना ये १० करण कर्मप्रकृतियों के होते हैं। इनका स्वरूपविचार निम्न प्रकार से आगम में किया गया है—

बन्ध—यह सर्वप्रथम करण है। इसके बिना अन्य करण सम्भव नहीं है। मिथ्यात्वादि जीवपरिणामों के निमित्त से कार्मणवर्गणाओं का ज्ञानावरणादिरूप से आत्मप्रदेशों के साथ सम्बद्ध होना बन्ध कहलाता है। जिस प्रकार एक साथ पिघलाये हुए स्वर्ण और चांदी का एक पिण्ड बनाये जाने पर परस्पर प्रदेशों के मिलने से दोनों में एकरूपता प्रतीत होती है उसी प्रकार बन्धदशा में जीव और कर्मप्रदेशों के परस्पर में एकीभाव को प्राप्त होने से अथवा कर्म और जीव के द्वित्व का त्याग कर एकत्वप्राप्ति होने से एकरूपता प्रतीत होती है।

उत्कर्षण—स्थिति और अनुभाग में वृद्धि होना उत्कर्षण कहलाता है। नवीन बन्ध के सम्बन्ध से पूर्व की स्थिति में कर्म-परमाणुओं की स्थिति का बढना उत्कर्षण है। अर्थात् जिस कर्म की स्थिति और अनुभाग में उत्कर्षण होता है उसका पुन बन्ध होने पर पिछले बँधे हुए कर्म का नवीन बन्ध के समय स्थिति-अनुभाग बढ सकता है।

अपकर्षण—कर्मों की स्थिति व अनुभाग में हानि का होना अपकर्षण है। अर्थात् कर्मप्रदेशों

की स्थितियों के अपवर्तन का नाम अपकर्पण है। शुभपरिणामों से अशुभ कर्मों की स्थिति और अनुभाग कम होता है तथा अशुभ परिणामों से शुभ कर्मों की स्थिति और अनुभाग कम होता है।

कर्मबन्ध के पश्चात् उत्कर्पण और अपकर्षण ये दो क्रियाएं सम्भव हैं। अशुभ कर्म का बन्ध करने के पश्चात् यदि जीव शुभकर्म का बन्ध करता है तो उसके पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों की स्थिति और फलदानशक्ति नवीन बँधे शुभ कर्मों के प्रभाव से घट जाती है। अशुभ कर्मों का बन्ध करने के पश्चात् यदि जीव के भाव और अधिक कलुषित हो जाते हैं और वह भी और अधिक अशुभ कर्म करने लगता है तो उसके पूर्ववद्ध अशुभ कर्मों की स्थिति और फलदान शक्ति नवीन बँधे हुए अशुभ कर्मों के प्रभाव से बढ जाती है। इसी तरह शुभ कर्म करने के पश्चात् यदि जीव स्व-पर हित-कार्य के द्वारा नवीन शुभकर्म का बन्ध करने लगता है तो शुभ-कर्मों के प्रभाव से पूर्वबद्ध शुभ कर्मों की स्थिति और फलदानशक्ति वृद्धिंगत हो जाती है। यही उत्कर्षण-अपकर्षण करण का कार्य है। यहां यह ध्यातव्य है कि उत्कर्पण-अपकर्षण प्रतिसमय बँधने वाले नवीनकर्मों के कारण होता ही हो ऐसा नियम नहीं है। जब भी किन्हीं विशेप परिणामों से होने वाले नवीन कर्म बन्ध के निमित्त से पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति में व अनुभाग में हानि-वृद्धि हो जाये उसी समय वह उत्कर्पण-अपकर्पण कहलाता है।

सक्रमण—बन्ध के द्वारा कर्मभाव को प्राप्त और मिथ्यात्वादि अनेक भेदरूप से कर्मों का यथाविधि स्वभावान्तर हो जाना सक्रमण करण है। अर्थात् सक्रमण करण में एक कर्म दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जाता है। यह सक्रमण ज्ञानावरणादि मूल कर्मप्रकृतियों में नहीं होता। उत्तरप्रकृतियों में ही होता है। आयुकर्म के उत्तरभेद का परस्पर सक्रमण नहीं होता और न दर्शनमोहनीय का चारित्रमोहनीय रूप से अथवा चारित्रमोहनीय का दर्शनमोहनीयरूप से सक्रमण होता है।

एक कर्म का अवान्तर भेद अपने सजातीय अन्य भेदरूप हो सकता है। जैसे वेदनीय कर्म के दो भेदों में से सातावेदनीय असातावेदनीय रूप हो सकता है और असातावेदनीय सातावेदनीयरूप हो सकता है। प्रकृतिसक्रमण, स्थितिसक्रमण, अनुभागसक्रमण और प्रदेशसक्रमण के भेद से सक्रमण चार प्रकार का है।

एक प्रकृति अन्यप्रकृतिस्वरूपता को प्राप्त करायी जाती या होती है। यह प्रकृतिसंक्रमण है। जैसे क्रोधप्रकृति का मानादि में सक्रमण होना। जो स्थिति अपकर्षित, उत्कर्षित और अन्यप्रकृतिरूप से सक्रमित होती है वह स्थितिसंक्रमण है। अपकर्षित हुआ अनुभाग, उत्कर्षित हुआ अनुभाग, तथा अन्यप्रकृति को प्राप्त हुआ अनुभाग अनुभागसंक्रमण कहलाता है। जो प्रदेशाग्र जिस प्रकृति से अन्यप्रकृति को ले जाया जाता है (वह प्रदेशाग्र चूंकि ले जाया जाता है) अत उस प्रकृति का वह प्रदेशसक्रमण है। इस वचन द्वारा परप्रकृतिसक्रमण लक्षण ही प्रदेशसंक्रमण है, अपकर्षण-उत्कर्पण लक्षण नहीं क्योंकि जिस प्रकार अपकर्पण-उत्कर्षण के द्वारा स्थिति और

अनुभाग अन्यरूप होता है उस प्रकार उनके द्वारा प्रदेशाग्र अन्यरूप नहीं होता है।

नवीन बन्ध होने पर ही बन्धप्रकृति में अन्य स्वजाति प्रकृतियों का सक्रमण होता है, क्योंकि जिस प्रकृति का बन्ध नहीं हो रहा है उसमें अर्थात् उस प्रकृतिरूप संक्रमण नहीं होता।

सत्त्व—बन्ध के पश्चात् कर्म का वेदन होकर जब तक वह कर्म अकर्मभाव को प्राप्त नहीं होता तब तक उस कर्म का आत्मप्रदेशों में स्थित रहना सत्त्व कहलाता है। तात्पर्य यह है कि बंधने के बाद कर्म तत्काल फल नहीं देता, कुछ समय पश्चात् ही उसका फल प्राप्त होता है। जब तक वह कर्म विपाकादिरूप अपना कार्य नहीं करता तब तक उसकी वह अवस्था ही सत्त्व कही गयी है। जिस प्रकार मदिरापान करने के तुरन्त पश्चात् उसका प्रभाव नहीं दिखाई देता कुछ समय पश्चात् ही उन्मत्तता का प्रभाव दिखाई देता है। इसी प्रकार कर्म भी बंधने के कुछ समय तक सत्त्व रूप से रहता है, इस काल को आबाधाकाल कहते हैं। यह आबाधाकाल कर्म की स्थिति के अनुसार होता है। जिस कर्म की जितनी अधिक स्थिति रहती है उसका आबाधाकाल भी उतना ही अधिक होता है। एक कोडाकोडी सागर की स्थितिवाले कर्म की उत्कृष्ट आबाधा १०० वर्ष होती है। अर्थात् अधिक से अधिक १०० वर्ष के पश्चात् वह कर्म अपना फल देना प्रारम्भ करता है और स्थिति पूर्ण होने तक फल देता रहता है। आयुकर्म को छोडकर शेष कर्मों के सम्बन्ध में यही बात जानना, क्योंकि आयुकर्म का आबाधाकाल उसकी स्थिति पर निर्भर नहीं है।

उदय—जीव से सम्बद्ध हुए कर्मस्कंधों का यथाकाल अपना फल देने की सामर्थ्यरूप अवस्था को प्राप्त होना उदय कहलाता है। उदयकाल में कर्मस्कंध अपकर्षण, उत्कर्षणादि प्रयोग बिना स्थिति-क्षय को प्राप्त होकर अपना-अपना फल देते हैं। प्रत्येक कर्म का फल-काल निश्चित रहता है। फल देने के पश्चात् उस कर्म की निर्जरा हो जाती है।

उदीरणा—जिनकर्मों का उदयकाल प्राप्त नहीं हुआ है उनको उपाय विशेष से पकाना अर्थात् असमय में ही उनको उदय में लाना उदीरणा कहलाता है। जिस प्रकार आम्र आदि फलों को शीघ्र पकाने हेतु पेड से तोडकर पाल में रख देते हैं जिससे वे आम जल्दी ही पक जाते हैं, उसी प्रकार उदय में आने के पहले ही कर्मों की उदीरणा कर दी जाती है।

उपशामना—कर्मस्कन्धों की उदीरणा के अयोग्य अवस्था उपशामना कहलाती है। उपशामना करण के द्वारा कर्मों को उदय में नहीं आ सकने योग्य कर दिया जाता है। उपशामना के प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के द्वारा मोहनीय कर्म की जो उपशामना होती है वह प्रशस्तोपशामना है। इसका यहाँ प्रकरण नहीं है, यहाँ तो अप्रशस्तोपशामना प्रकरण प्राप्त है। अप्रशस्तोपशामना के द्वारा उपशान्त किये गये कर्मप्रदेशाग्र का अपकर्षण-उत्कर्षण और अन्यप्रकृतिरूप संक्रमण तो हो सकता है, किन्तु वह उदयावली के अयोग्य है।

निधत्ति—कर्मस्कंधों की वह अवस्था, जो उदीरणा और संक्रमण के तो अयोग्य है अर्थात् निधत्ति अवस्था को प्राप्त कर्म की उदीरणा और संक्रमण तो नहीं हो सका, किन्तु उत्कर्षण और अपकर्षण हो सकता है।

निकाचना—कर्म की वह अवस्था, जो उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा और संक्रमण इन चार के अयोग्य, है निकाचना कहलाती है।

उपर्युक्त दश करणों में सक्रमणकरण के पाच अवान्तर भेद है जिनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

संक्रमणकरण पांच प्रकार का है—१ उद्वेलनसक्रमण, २ विध्यातसक्रमण, ३. अध प्रवृत्तकरण, ४ गुणसक्रमण और ५ सर्वसंक्रमण। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में इनका स्वरूप पंचभागाहारचूलिका में किया गया है।

उद्वेलनसंक्रमण—अध प्रवृत्तादि तीन करणों के बिना ही बटी रस्सी को उकेलने के समान कर्मप्रकृतियों के परमाणुओं का अन्य प्रकृतिरूप परिणमन होना उद्वेलनसक्रमण है।

विध्यातर ग—मदविशुद्धतावाले जीव की, स्थिति-अनुभाग घटानेरूप भूतकालीन स्थितिकाण्डक और अनुभागकाण्डक तथा गुणश्रेणी आदि में प्रवृत्ति होना विध्यातसक्रमण है।

अध प्रवृत्तसक्रमण—बधप्रकृतियों का अपने बन्ध के सम्भव विषय में जो प्रदेशसक्रम होता है उसे अध प्रवृत्तसक्रमण कहते हैं।

गुणसंक्रमण—प्रतिसमय, असख्यातगुणित श्रेणिरूप से जो प्रदेशसक्रमण होता है उसे गुणसंक्रमण कहते हैं।

सर्वसक्रमण—उद्वेलना, विसयोजना और क्षपणा में अन्तिमकाण्डक की अन्तिमफाली सम्बन्धी सर्वप्रदेशों में से जो प्रदेश अन्य रूप नहीं हुए हैं उनका अन्यरूप होना सर्वसंक्रमण कहलाता है।

(किन-किन कर्मप्रकृतियों में उक्त पांच सक्रमणों में से कौन-कौन-सा सक्रमण होता है उसको जानने के लिए नवम्बर १९८० में आचार्य श्री शिवसागर दि जैन ग्रन्थमाला, शांतिवीरनगर से २६वें पुष्परूप में प्रकाशित 'गोम्मटसार कर्मकाण्ड' की सिद्धान्तज्ञानदीपिका हिन्दी टीका के पृष्ठ ४४६ से ४५० तक की संदृष्टि देखना चाहिए।)

गुणस्थान और प्रकृतियों में करण

उपर्युक्त कर्मों की विविध दशाओं के अन्तर्गत जो १० करण कहे गये हैं उनमें से कौनसा करण किस गुणस्थान और कौन-कौन-सी प्रकृतियों में होता है इसका युगपत् कथन इस प्रकार है—

नरकादि चारों आयुकर्मों में सक्रमणकरण बिना ९ करण होते हैं। आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता—एक आयु अन्यरूप नहीं होती। शेष सर्व प्रकृतियों में दशों ही करण होते हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा विचार करने पर मिथ्यादृष्टि से अपूर्वकरण गुणस्थान तक दशों ही करण होते हैं। अपूर्वकरण से आगे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक उपशामना, निधत्ति और निकाचना करण को छोड शेष सात करण होते हैं। आगे उपशांतकषायगुणस्थान से सयोगकेवलीगुणस्थान तक संक्रमण, उपशामना, निधत्ति और निकाचनाकरण के बिना शेष ६ करण होते हैं, किन्तु उपशान्तकषाय गुणस्थान में कुछ विशेषता है। वहाँ मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का संक्रमण भी होता है, अर्थात् इन दोनों प्रकृतियों का सम्यक्त्व प्रकृतिरूप परिणमन हो जाता है, शेष प्रकृतियों का संक्रमण नहीं होने से छह करण होते हैं। अयोगकेवलीगुणस्थान में सत्त्व और उदय ये दो कारण होते हैं।

बन्ध और उत्कर्ष अपने-अपने बन्ध-स्थान तक ही सीमित होते हैं। अर्थात् जिस प्रकृति की जहां तक बन्धव्युच्छित्ति होती है वहीं तक होते हैं। संक्रमणकरण मूलप्रकृतियों में तो होता नहीं, उत्तरप्रकृतियों में ही होता है और वह भी अपनी-अपनी जाति की प्रकृतियों में। जैसे ज्ञानावरण कर्म की मतिज्ञानावरणादि पाचप्रकृतिया स्वजातीय प्रकृतिया हैं। इन्हीं में सक्रमण होता है।

अयोग केवली के जिन ८५ प्रकृतियों की सत्ता है उनका अपकर्षणकरण सयोगकेवली के अन्त समय तक होता है। क्षीणकपायगुणस्थान में जिनकी सत्त्व-व्युच्छत्ति होती है ऐसी १६ प्रकृतियों तथा सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में व्युच्छिन्न एक सूक्ष्मलोभ १७ गृण प्रकृतियों का अपकर्पण उनके क्षयदेश पर्यन्त होता है। क्षयदेश का काल यहा एक समय अधिक आवलिप्रमाण जानना चाहिए।

देवायु का अपकर्षण उपशान्तकपायगुणस्थान होता है। मिथ्यात्वादि तीन तथा अनिवृत्तिकरणगुणस्थान में क्षय होने वाली १६ प्रकृतियो का अपकर्पणकरण क्षयदेश-अन्तिमकाण्डक की चरमफालीपर्यन्त होता है। इसी प्रकार क्षपकश्रेणी के अनिवृत्तिकरणगुणस्थान में क्षय होने वाली आठ कषायादि २० प्रकृतियों का अपकर्षणकरण भी अपने-अपने क्षयदेश तक होता है। उपशमश्रेणी में दर्शनमोह की मिथ्यात्वादि तीन और नरकगति-नरकगत्यानुपर्वी आदि १६ प्रकृतियों का अपकर्षण उपशान्तकषायगुणस्थान तक होता है तथा आठ कपायादिकों का अपने-उपशमस्थान तक होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क का असयतादि चारगुणस्थानों में यथासम्भव विसंयोजन के स्थान तक ही अपकर्षणकरण होता है। नरकायु के असयतगुणस्थान तक और तिर्यञ्चायु के देशसंयतगुणस्थान तक उदीरणा, सत्त्व और उदय ये तीन करण होते हैं। मिथ्यात्वप्रकृति का उदीरणाकरण उपशमसम्यक्त्व के अभिमुखजीव के मिथ्यात्वगुणस्थान के अन्त में एक समय अधिक आवलिकाल होता है। सूक्ष्मलोभ का उदीरणाकरण सूक्ष्मसाम्परायणगुणस्थान तक ही होता है।

उपशान्तकरण, निधत्तिकरण, और निकाचितकरण अपूर्वकरणगुणस्थान तक ही होते हैं, आगे नहीं।

इस प्रकार कर्मों की दश अवस्थायें होती हैं। सक्षेप से तो बन्ध, उदय और सत्व ये तीन दशाएँ मानी गयी हैं। बन्ध की बन्ध, अबन्ध और बन्धव्युच्छित्ति रूप बन्धत्रिभंगी, उदय की उदय, अनुदय और उदयव्युच्छित्ति रूप उदयत्रिभंगी, सत्त्व की सत्त्व, असत्त्व और सत्त्वव्युच्छत्तिरूप सत्त्वत्रिभंगी से गुणस्थान और मार्गणाओं में चर्चा की गयी है।

समयप्रबद्धप्रमाण कर्मद्रव्य का मूलकर्मप्रकृतियों में विभाजन-क्रम

जैसे भुक्त भोजन का परिणमन सप्त धातु और उपधातुरूप से यथाविधि हो जाता है वैसे ही स्वकीय परिणामो से जीव प्रतिसमय समयप्रबद्धप्रमाण कर्मद्रव्य को ग्रहण करता है। उस द्रव्य का विभाजन विधिवत् ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में होता है। पुनश्च मूल प्रकृतियों में विभाजित द्रव्य का बंटवारा तत्-तत् कर्मो की उत्तरप्रकृतियों में ही होता है। जैसे शरीरयत्र में पहुंचा भोजन स्वयमेव धातु रूप से परिणमित हो जाता है उसी प्रकार समयबद्धप्रमाण कर्मद्रव्य का विभाजन भी मूल-उत्तर प्रकृतियों में स्वयमेव हो जाता है।

यदि आगामी आयु का बन्ध हो चुका है तो समयप्रबद्धप्रमाण कर्मद्रव्य में से सबसे कम द्रव्य आयु कर्म के हिस्से मैं, उससे अधिक नाम और गोत्र के हिस्से में (नाम-गोत्र कर्म का द्रव्य समान होता है), उससे अधिक द्रव्य अन्तराय, दर्शनावरण और ज्ञानावरण के हिस्से में (इन तीनों कर्मों का द्रव्य भी समानरूप से विभाजित होता है), उससे अधिक मोहनीय कर्म के हिस्से में तथा सबसे अधिक द्रव्य वेदनीयकर्म के हिस्से में जाता है, क्योकि जीव प्रतिसमय सुख या दुःख का अनुभव करते हैं, अत इसकी निर्जरा अधिक होती है। इस प्रकार मूल प्रकृतियों के विभाजित द्रव्यों का विभाजन यथासम्भव उत्तर प्रकृतियों में भी होता है। द्रव्य-विभाजन की पक्रिया गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि कर्मसिद्धान्तप्ररूपक ग्रन्थों में विस्तार से उपलब्ध है।

मूल कर्मप्रकृतियों में घाती-अघातीरूप विभाजन

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के घातिया-अघातिया के भेद से दो विभाग हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार प्रकृतिया घातक हैं क्योंकि ये जीव के देवत्वरूप गुणों का घात करने वाली हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र जीव के देवत्वरूपगुणों का घात नहीं करती हैं अत वे अघातियारूप हैं।

घातिया कर्मों की फलदानशक्ति (अनुभाग) लता, काष्ठ, हड्डी और पत्थर सदृश उत्तरोत्तर कठोरता लिये हुए है। घातिया कर्मों के भी देशघाती और सर्वघातीरूप दो भेद हैं। लताभाग

से काष्ठभाग के अनन्तवें भाग तक के शक्तिरूप स्पर्धक देशघातिरूप एवं काष्ठ के शेष बहुभाग से शैल (पत्थर) तक के स्पर्धक सर्वघातिरूप हैं। अघातिया कर्मों में भी प्रशस्त और अप्रशस्तरूप दो भेद हैं। प्रशस्तकर्मों की फलदानशक्ति गुड-खाड-मिश्री और अमृत के समान है तथा अप्रशस्तप्रकृतियों का अनुभाग नीम, काजी, विष और हलाहलरूप है। इस प्रकार सांसारिक सुख-दुख के कारणभूत पुण्य-पापरूप कर्मों की शक्तियों को उक्त चार-चार प्रकार से तरतमरूप समझना चाहिए।

उक्त आठ मूल कर्मप्रकृतियों में मोहनीयकर्म सम्राट स्थानीय है। सम्पूर्ण विश्व मोहनीयकर्म से मोहित हो रहा है। मोहनीयकर्म का एकछत्र शासन सभी प्राणियों पर है। युद्ध में राजा के मरने के बाद उसकी सेना भी शक्तिहीन होती हुई इधर-उधर बिखर जाती है, उसी प्रकार मोहनीयकर्म के नष्ट हो जाने पर अन्य कर्म भी शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि योगिराज सर्वप्रथम मोहनीयकर्म को नष्ट करने का उद्यम करते हैं। क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके १०वें गुणस्थान के अन्त में मोहनीय कर्म का पूर्णतया नाश हो जाने पर १२वें क्षीणकषायगुणस्थान में ज्ञानावरण और अन्तराय इन शेष तीन घातियाकर्मों का क्षय करके कैवल्यश्री को प्राप्त सयोगकेवली भगवान सर्वज्ञ अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। शेष जो चार अघातियाकर्म बचे हैं वे तो जली जेबडी के समान हैं। योगनिरोध होते ही १४वें गुणस्थान को प्राप्त अयोगकेवली भगवान शीघ्र ही उन कर्मों का नाश करके शाश्वत सुखधाम सिद्धालय में ज्ञानशरीर से युक्त होते हुए अनन्तकाल तक मात्र अपने आत्मानन्द में लीन रहते हैं। वहां कर्मों का किंचित् भी सम्बन्ध आत्मा से नहीं होता है। इसप्रकार कर्मसिद्धांत को समझकर और उसकी विविध दशाओं का परिज्ञानकर आत्मा के अहित करने वाले इन कर्मों से आत्मा को पृथक् करने का पुरुषार्थ करना ही हमारा चरम लक्ष्य होना चाहिए। जो भव्यजीव हैं वे नियम से अपने सम्यक्चारित्ररूप पुरुषार्थ से कर्मों का नाशकर मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं।

आधुनिक साम्यवाद और कर्मसिद्धान्त

विश्व की विषम सामाजिक स्थिति को देखकर, साम्यवाद या समाजवाद का नारा देकर सभी को समान बनाने की बात विश्व के तथाकथित नेतागण करते हैं, किन्तु यह सर्वथा असम्भव है। विषमता को या ऊँच-नीच, अमीर-गरीब भेद को मिटाकर सभी को समान करने से पूर्व यह भली-भँति विचार करना चाहिए कि विश्व में इस प्रकार की विषमता होने का कारण क्या है? जब हम विषमता के मूलकारण को भली-भॉति समझेंगे तो निश्चित ही आधुनिक समाजवाद या साम्यवाद की थोथी बातें करना छोड देंगे। समाजवाद को हमने मात्र अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति का माध्यम भर बना लिया है। जब तक कर्मसिद्धान्त है तब तक समाजवाद या साम्यवाद की स्थापना मात्र कल्पना अथवा स्वप्न ही सिद्ध होगी, क्योंकि यह

निर्बाध सिद्ध है कि पुण्य और पाप की व्यवस्था संसार में अनादिकालीन है और जब तक पुण्य-पाप की स्थिति है तब तक संसार में साम्यवाद स्थापित हो नहीं सकता। यदि जैनदर्शन के चिंतन की गहराई में उतरें तो हम कह सकते हैं कि ससारावस्था में साम्यवाद की बात करना बालू पेलकर तेल निकालने के समान है। हाँ। संसारातीत सिद्धावस्था में कर्ममल का आत्मा से सर्वथा नाश हो जाने से अनन्त सिद्ध भगवन्त आत्मानन्द में लीन होने से सभी समान होते हैं। वस्तुत समाजवाद या साम्यवाद तो वह है जहा सभी समानरूप बिना किसी बाधा के आत्मोत्थ शाश्वत सुख का अनुभव निरन्तर कर रहे हों।

संसारी प्राणी जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है, पुण्य या पाप का उपार्जन करता है उस कर्मफल के विपाक (उदय) समय में वह स्वय ही अपने द्वारा पूर्वकृत कर्मों का अच्छा या बुरा फल भोगता है। हमारी परोपकार की भावना तो होना ही चाहिए। कर्मसिद्धात यह नही कहता कि परोपकार मत करो। ससार के मानव ही नहीं अपितु एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीव सुखी हों इसी भावना के साथ प्रत्येक प्राणी मात्र के प्रति हम वैर-विरोध का परित्याग करें, सभी से मैत्रीभाव रखें। जीवत्व की दृष्टि से तो सभी जीव समान हैं और सभी में साक्षात् परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है, किन्तु परमात्मशक्ति की अभिव्यक्ति तो जब हम अनादिकालीन कर्मकालिमा को दूर करने का पुरुषार्थ करेंगे तभी हो सकेगी। परमात्मत्व की प्रकटता होने पर सभी समान रूप से कर्मकलक रहित होकर एक समान हैं। अत जिसने स्वय के पुरुषार्थ से अपने भीतर विद्यमान अनन्तचतुष्टय को प्रकट कर लिया वही सच्चा साम्यवादी है। ससार में रहकर ऊच-नीच, अमीर-गरीब, राजा-रक आदि का भेद बना रहेगा, क्योंकि प्रत्येक प्राणी के कर्म पृथक्-पृथक् हैं और भावनाओं की विभिन्नता ही पुण्य-पाप रूप कर्म की विषमता में कारण है तब हम तो क्या साक्षात् भगवान भी ससारी प्राणियों में समानता स्थापित करने में समर्थ नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध करता है कि एक ही मां से जन्मने वाली संतानें भी एक ही समान नहीं होतीं, उनमें भी अपने-अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार विभिन्नता है। कोई सुखी है, कोई दुखी है, कोई बुद्धिमान है, कोई मूर्ख है। अत जब हम अपने घर में ही समानता की स्थापना नहीं कर सकते हों तो सम्पूर्ण विश्व में हम साम्यवाद को कैसे स्थापित कर सकते हैं? इसलिए कर्मसिद्धान्त को भली-भाति समझकर हम स्वयं भी पापप्रवृत्ति को छोड़ें और पुण्यार्जन करें तथा क्रमश चारित्रसोपान के आरोहण से पुण्य का भी विर्सजन करते हुए परमशुद्ध अवस्था को प्राप्त करने का लक्ष्य रखते हुए उस दिशा में पुरुपार्थ करें तथा अन्य प्राणियों को भी इस सम्यग्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें। यही हमारा परम कर्त्तव्य है और कर्मसिद्धान्त की सार्थकता है।

साधारणतया कहा जाता है कि आत्मा कर्तृत्वकाल में स्वतंत्र और भोक्तृत्वकाल में परतन्त्र है। जैसे विष खा लेना हमारे हाथ की बात है, किन्तु मृत्यु से बच पाना हमारे हाथ में नहीं है। यह तो अत्यन्तस्थूल दृष्टांत है, क्योंकि विष से निर्विष किया जा सकता है, मृत्यु से बचा

जा सकता है। आत्मा भी कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्वकाल में परतन्त्र और स्वतन्त्र है।

सहजत आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह चाहे जैसे भाग्य का निर्माण कर सकती है, कर्मों पर विजय प्राप्तकर पूर्ण विशुद्ध बन सकती है, किन्तु कभी-कभी पूर्वजनित कर्म और बाह्य निमित्त पाकर परतन्त्र भी बन जाती है। चाहते हुए भी इच्छानुसार कार्य वह नहीं कर सकती है। सन्मार्ग पर बढना चाहते हुए भी नहीं बढ सकती। यह तो आत्मा का कर्त्तव्यकाल में स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य है।

कर्म करने के बाद आत्मा सर्वथा कर्माधीन ही हो जाती हो ऐसी बात नहीं है। वहा भी आत्मा का स्वातन्त्र्य सुरक्षित है। वह चाहे तो अशुभ को शुभ में संक्रमित कर सकती है। अशुभ प्रकृतियों के स्थिति-अनुभाग को कम कर सकती है और शुभकर्मों के स्थिति अनुभाग को वृद्धिंगत कर सकती है। उपशामना के द्वारा कर्मविपाक को अनुदय रूप भी कर सकती है और क्षपण के द्वारा उनका सर्वथा नाश भी कर सकती है। इस प्रकार अपकर्षण-उत्कर्षण-सक्रमण और उपशामना करण कर्मों की परिवर्तित अवस्थाए ही तो हैं, जिन्हें आत्मा का स्वातन्त्र्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। इतना अवश्य है कि तीव्रोदय में पुरुषार्थ कार्यकारी नहीं होता और मन्दोदय में पुरुषार्थ कार्यकारी होता है। वस्तुत कर्मसिद्धान्त आत्मस्वातन्त्र्य का प्रेरक है।
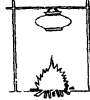
निमित्त और उपादान

❑ पं नाथूराम डोंगरीय, इन्दौर

जैनदर्शन में किसी भी कार्य की उत्पत्ति में निमित्त और उपादान इन दो कारणों को मुख्यता से स्वीकार किया गया है। इनमें उपादान कारण वह कहलाता है जो स्वय कार्यरूप परिणत होता है और कार्य के होने में जो सहायक हो जाता या बन जाता अथवा बनाया है वह निमित्त कारण कहलाता है। जैसे अग्नि के सयोग से पानी गर्म हुआ तो पानी की गर्म रूप परिणति में अग्नि के सहकारी कारण होने उसे निमित्त कहा जायगा और पानी स्वय गर्म हुआ है इसलिए उसे उपादान कारण। इस विषय में स्वामी समन्तभद्र ने जो नियम घोषित किया है वह ध्यान देने योग्य है—वे लिखते हैं—

बाह्येतरोपाधि समग्रतेय-
कार्येपु ते द्रव्यगत स्वभाव ।
नैवान्यथा कार्यविधिश्च पुंसा
तेनाभिवद्य त्वं ऋषिर्बुधानाम्।। (वृहत्स्वयम्भू स्तोत्र) ६0।।

अर्थात्—हे भगवन्। कार्यों के सम्पन्न होने में अतरग और बहिरग उभय उपाधियों (कारणों) की समग्रता (पूर्णता) का होना द्रव्यगत स्वभाव है—ऐसा नियम आपने स्वीकार किया है। क्योंकि अतरग (उपादान) और बाह्य निमित्त की पूर्णता होने पर ही कोई नवीन कार्य सम्पन्न होता है और देखा भी ऐसा ही जाता है कि—अग्नि या सूर्य अथवा बिजली आदि किसी उष्ण वस्तु के अभाव में पानी गर्म नहीं होता। ऐसा क्यों होता है? स्वामी समन्तभद्र कहते हैं ऐसा द्रव्यगत स्वभाव है और 'स्वभावोऽतर्कगोचर' स्वभाव में तर्क का प्रवेश नहीं है। यत केवल एक ही कारण—निमित्त या उपादान मात्र से कार्य की उत्पत्ति होती नहीं देखी जाती अत एक ही कारण से कार्य की उत्पत्ति न मान, उभय कारणों से ही कार्य का होना स्वीकार करने योग्य है। हे भगवन्। बुद्धिमानों द्वारा आप इसीलिए वन्द्य भी हैं, क्योंकि मुक्ति प्राप्त करने में आपका उपदेश या दर्शन ही सर्व प्रथम मुमुक्षु को देशनालब्धि स्वरूप निमित्त के रूप में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अनिवार्यत सहायक होता है।

तात्पर्य यह कि सभी कार्यों में निमित्त और उपादान दोनों कारणों की समग्रता का होना सुनिश्चित है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि अनेक बार बहुत लोग भगवान् की वाणी सुनते हैं, किन्तु सभी को सम्यग्दर्शन क्यों नहीं हो जाता। समाधान यह है कि भगवान् की वाणी

सुनने पर भी जिन्हें सम्यग्दर्शन नहीं हुआ वे समर्थ (उपादान) नहीं थे-अर्थात् उनको दर्शनमोह का क्षयोपशम नहीं हुआ था और न विशुद्धिलब्धि (परिणामों में कषायों की मन्दताजन्य भावों में विशुद्धि) ही प्राप्त हुई थी और न भव्यत्व भाव का विपाक ही हुआ था। साथ ही उन्हें कारणलब्धि भी प्राप्त नहीं थी जिसके बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। अत समर्थ उपादान कारण के रूप में उन लोगों में योग्यता का अभाव होने से, दूसरे शब्दों में उनके उपादान कारण न बन सकने से, सम्यग्दर्शन रूप कार्य की उत्पत्ति न हो सकी।

एक कार्य के होने में अनेक कारण हुआ करते हैं जिनमें उपर्युक्त अतरंग कारण व काललब्धि का होना भी एक निमित्त है। केवल बाह्य निमित्त से ही कार्य नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि कोई निमित्त या उपादान कारण तभी माना जाता और कहा जाता है या कहा जाना चाहिए जब कार्य सम्पन्न हो जाय। कार्य के उत्पन्न हो जाने पर ही यह देखा जाना चाहिए कि इसमें कौन निमित्त था और कौन उपादान। कार्य के हुए बिना न कोई उपादान कहलाता है और न निमित्त। सभी वस्तुएँ पूर्ण स्वतत्र सत्ता सम्पन्न अपने अपने ध्रुव स्वभाव में स्थित हैं, किन्तु वे सभी परिवर्तनशील भी हैं। अत उनमें परिवर्तन या पर्याय रूप कार्य जब जैसा जहाँ होता हुआ दिखाई देता है वहाँ उस कार्य या परिवर्तन के होने में वे स्वय उपादान कहलाती हैं और जिन अन्य द्रव्यों से वे स्वत या परत प्रभावित होती है या अन्य द्रव्य उन (कार्यों) में सहायक होते या माने जाते हैं वे निमित्त कहलाते हैं। जिनका आलबन लेने से कार्य सिद्ध होते हैं वे भी निमित्त की संज्ञा को प्राप्त होते हैं। जैसे किसी ग्रंथ के पठन में आँखों को चश्में का आलंबन होना। यहाँ यद्यपि आँखों में देखने की शक्ति है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति चश्में के द्वारा हुई दिखाई देती है अत चश्मा भी पढने में निमित्त बन गया। चश्में के सिवाय प्रकाश भी निमित्त होता है।

साधारणत कारणों का कार्य के साथ अविनाभाव सबध रहा करता है। जिन का कार्य के साथ अविनाभाव संबध हो अर्थात् जिन के बिना कार्य न हो वे ही वास्तव में उस कार्य के कारण माने और कहे जा सकते हैं और जिनके बिना भी कार्य हो जाय वे उसके कार्य के कारण नहीं माने जा सकते। तथा जिनके होने पर भी कार्य न हो वे भी कारण नहीं माने जाते। जैसे सुनार ने सोने का कडा बनाया तो सुनार ही कडे में निमित्त कहा जावेगा सुनारन या अन्य व्यक्ति नहीं।

पदार्थों में जो कार्य रूप स्वयं परिणत होता है उसे उपादान और बाह्य सहायक पदार्थ को निमित्त की संज्ञा प्रदान करना यह एक व्यवहार है। तथा जो उपादान है वह दूसरे के कार्य में सहायक बन कर उसी समय निमित्त भी कहला सकता है और जो निमित्त है वह अपने में जो नवीन पर्याय उत्पन्न हो रही है उसी समय उसका उपादान भी है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक पदार्थ एक ही समय में उपादान भी है और निमित्त भी है। जैसे मिट्टी से कुम्हार

ने जब घड़ा बनाया उस समय मिट्टी-घडे का उपादान और कुम्हार निमित्त कहलाता है। किन्तु जिस मिट्टी को देखकर कुम्हार के मन में घडा बनाने की भाव रूप परिणति हुई उसमें वही मिट्टी कुम्हार के घडा बनाने रूप भावों की उत्पत्ति में निमित्त भी स्वयमेव कहलावेगी तथा वह कुम्हार उन भावों का उपादान।

इस प्रकार मिट्टी और कुम्हार दोनों ही एक समय में परस्पर निमित्त और उपादान संज्ञा व्यवहार को प्राप्त हैं। न सदा सर्वथा कोई पदार्थ केवल किसी कार्य का निमित्त ही बना रहता है और न उपादान। अपने अपने कार्यो को स्वय में निष्पन्न करते हुए सभी पदार्थ उपादान सज्ञा को प्राप्त है और दूसरे पदार्थो के कार्य में सहायक बनकर या होकर वे ही निमित्त भी कहलाने लगते हैं। इस प्रकार एक ही समय में जब पदार्थ कथंचित् उपादान और कथंचित् निमित्त भी सिद्ध हो रहा है तब उसके सबध में सर्वथा उसे निमित्त या उपादान मानने का आग्रह करना भी आर्हत मत के अनेकांत के विरुद्ध ही कहलावेगा।

इसके सिवाय केवल उपादान से या केवल निमित्त से ही कार्य की उत्पत्ति मानना भी कोरा भ्रम है। जब कि न केवल मिट्टी रूप उपादान के बिना घडा बनता और न कुम्हार या अन्य जन के योग और उपयोग के बिना। इस सबध में केवल निमित्त या केवल उपादान को ही कारण मानने से विवाद होता है और जब तक दोनों कारणों में से एक का आग्रह किया जाता रहेगा तब तक विवाद भी होता ही रहेगा जो सर्वथा अनावश्यक है और लक्ष्य के अनुकूल भी प्रतीत नहीं होता। यदि कुम्हार के योग और उपयोग के बिना ही घडा बन जाता तब ही केवल उपादान से कार्य की उत्पत्ति मानते हुए कुम्हार को सर्वथा अकिचित्कर मानना न्यायसंगत होता। अथवा बिना मिट्टी के ही कुम्हार घडा बना देता तो घडे का उपादान मिट्टी को मानना भी अकिंचित्कर होता। किन्तु दोनों पक्षों के मानने में प्रत्यक्ष से ही बाधा आती है और वैसा होना सभव भी नहीं है अत यथायोग्य निमित्त और उपादान दोनों को कारण मानना न्यायसगत सिद्ध होता है।

निमित्त स्वय भी मिलते हैं और बुद्धिपूर्वक मिलाये भी जाते हैं, किन्तु वे सभी तभी निमित्त कहलावेंगे जब वे इष्ट कार्य के होने में सहायक सिद्ध होंगे। यदि वे इष्ट कार्य में सहायक नहीं हुए तो वे कार्य के निमित्त नहीं माने जावेंगे, प्रत्युत् यदि वे इष्ट कार्य के सम्पन्न होने में बाधक बने तो वे फिर बाधा में निमित्त कहे जावेंगे। जैसे कोई व्यक्ति धनार्जन हेतु परदेश जा रहा था और मार्ग में रात्रि हो जाने से वन में किसी वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा। उसी वृक्ष के पृष्ठ भाग में एक वीतराग साधु तपस्या कर रहे थे। प्रात उनके दर्शन करने तथा धर्मोपदेश श्रवण करने से पथिक का सांसारिक मोह भग हो गया और वह मुनि बन गया तथा फिर तपस्या कर मुक्ति को प्राप्त हुआ। इस में आत्मकल्याण करने का उसे निमित्त नहीं मिलाना पड़ा, स्वयं अकस्मात् ही मिल गया।

रही निमित्त मिलाने की बात— सो हम अपने कार्यों को सम्पन्न करने हेतु प्रतिदिन और प्रतिक्षण ही निमित्त मिलाने में प्रयत्नशील रहा करते हैं—आत्मकल्याण और शांतिप्राप्ति हेतु घर से देवदर्शन-पूजन-उपासना हेतु जिनमंदिर जाते हैं, ज्ञानार्जन हेतु गुरुजनों की सेवा करते हैं, धनार्जन हेतु व्यापार या दूसरों की सेवा करते हैं, निवास हेतु गृहनिर्माण करते हैं, आखिर कुछ न कुछ किया ही करते हैं। यह अपनी अपनी कार्यसिद्धि हेतु निमित्त मिलाने की बातें हैं। किन्तु यदि देव दर्शन या उपासना करने से शांति मिलती है या सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है तब ही देवदर्शन शांति या सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में निमित्त कहलावेगा, परन्तु हमें अपनी कमजोरी के कारण यह ज्ञात नहीं है कि देवदर्शन कब सम्यग्दर्शन का निमित्त बनेगा इसलिये हम सतत देवदर्शनादि क्रियाओं को रुचिपूर्वक करते रहने में प्रयत्नशील रहा करते हैं और रहना भी चाहिए।

नयों की दृष्टि से विचार करने पर

'स्वाश्रितो निश्चय पराश्रितो व्यवहार' अर्थात् निश्चय स्वद्रव्य के अश्रित और व्यवहार परद्रव्य के आश्रित होता है इस नियम के अनुसार निश्चयनय की दृष्टि से जो द्रव्य स्वय कार्यरूप परिणत होता है जिसमें उसकी परिणमनशीलता कारण है वह उपादान कारण है तथा परद्रव्य जो उसकी परिणति में सहकारी होता या दिखाई देता है वह निमित्त कहलाता है। किन्तु निमित्त कारण तो कहलाता है, पर वह कार्य का कर्त्ता नहीं होता क्योंकि जो द्रव्य कार्यरूप परिणमन करके रहा है निश्चय से उस परिणमन का वही कर्त्ता है। निमित्त को उसका कर्त्ता मानना केवल आरोपित व्यवहार है, जैसे कुम्हार को घट का कर्त्ता मानना। कुम्हार घट के बनने में केवल निमित्त ही है। यदि कुम्हार स्वय मिट्टी के बिना घट बन जाता तो ही वह घट का कर्त्ता कहा जा सकता है। पर ऐसा होना संभव नहीं है। जब कुम्हार घट बनाने में अपना योग और उपयोग लगा रहा हो तब वह स्वय के योग और उपयोग रूप परिणति का ही कर्त्ता निश्चय से होता है।

इस प्रकार कार्य की उत्पत्ति में उपादान और निमित्त का व्यवहार होता है, किन्तु निमित्त और उपादान की स्थिति और क्षमता अपनी मर्यादा को लिये हुए है। इस विषय में केवल निमित्त या उपादान का पक्ष लेकर विवाद करना न तो उचित है और न उससे काम ही हो सकता है। जिस दृष्टि से जो है उसको उसी रूप और सीमा में जानने और मानने से ही सम्यग्ज्ञान हो सकता है। अपनी सकुचित दृष्टि रखकर केवल पक्षपात करते हुए विवाद करने से कुछ भी होने वाला नहीं है।

यहाँ व्यवहार में यह देखने में आता है कि हम जब किसी के कार्य में सहायक बन जाते हैं तब हम उस कार्य के कर्त्ता होने का भ्रम पालने लगते हैं कि 'मैंने उसका यह कार्य किया'।

यह कर्तृत्व का भ्रम अनादि से हमें पर-वस्तुओं और उनकी परिणतियों का कर्त्ता-धर्त्ता मानने के कारण ससार-परिभ्रमण का कारण बना हुआ है। जब कि हम पर-वस्तुओं के परिणमन में यदि सहायक हों तो केवल निमित्त ही हो सकते हैं—उसके कर्त्ता नहीं। अपने अपने परिणमन स्वभाव के कारण सभी वस्तुएँ स्वय ही परिणमन करती रहती हैं—उनमें निमित्त केवल सहायक होता है—इस विषय में स्वामी अमृतचन्द्राचार्य का कथन बडा ही महत्त्वपूर्ण है। वे लिखते हैं—

जीवकृत परिणाम निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ॥१२॥

परिणममानस्य चित चिदात्मकै स्वयमपि स्वकैर्भावै।
भवति हि निमित्तमात्र पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय

अर्थात् जीव के रागादि भावों का मात्र निमित्त पाकर पुद्गल के परमाणु स्वय ही कर्मरूप परिणमन करते हैं और आत्मा अपने चैतन्यमयी भावों से (राग-द्वेषादि रूप) परिणमन करता है तब उदयागत कर्मपरमाणु उसमें निमित्त मात्र होते हैं।

इन कारिकाओ में निमित्त को उसकी कारणता से नकारा नहीं गया है। पूर्वबद्ध कर्मोदय का निमित्त पाकर ही ससारी जीव में रागद्वेषादि विकारी भाव उत्पन्न होते हैं और कर्मोदय के अभाव में मुक्तजीव में विकारी भाव नहीं होते। इसी प्रकार जीव के रागादि विकारी भावों का निमित्त पाकर पुद्गल के परमाणु कर्मभाव को प्राप्त होते हैं, बिना विकारी भावों के कर्म नहीं बँधते। इससे दोनों में परस्पर अविनाभाव सिद्ध हो जाता है जिससे वे एक दूसरे के परिणमन में निमित्त कारण कहलाते हैं, किन्तु जब तक कार्य न होगा तब तक उनमें परस्पर निमित्त कारणता नहीं मानी जावेगी और न उपादान ही।

इस प्रकार सक्षेप में निमित्त और उपादान की स्थिति है जिसके सबध में विवाद करना अनावश्यक और अनुचित है।

निमित्त-उपादान मीमांसा

❑ *उपाध्याय श्री कनकनन्दीजी*

तीन लोक में व तीन काल में अखिल चेतन-अचेतन, मूर्तिक-अमूर्तिक, शुद्ध-अशुद्ध द्रव्य में जो सूक्ष्म-महत् अथवा शुद्धाशुद्ध कार्य होता है उसे सम्पादन करने में अनेक कारणों का योगदान रहता है। भले कथञ्चित् एक कारण प्रधान हो तथा अन्य कारण गौण, तो भी गौण कारण का सर्वदा सर्वथा अभाव अथवा योगदान नहीं है, ऐसा कहना अतार्किक है। सम्पूर्ण विश्व के महत् कार्य कार्य-कारण सिद्धान्त से अनुप्रेरित एवं अभिव्यक्त होने के कारण, निमित्त-उपादान की मीमांसा सूक्ष्म विश्व की मीमांसा होने के कारण यह विषय अत्यन्त गूढ, दुरूह, महत्त्वपूर्ण एवं प्रमेय बहुल है।

निमित्त उपादान की भूमिका—महान् तार्किक, जिनशासन प्रभावक, आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र में भगवान वासुपूज्य की स्तुति करते हुए निमित्त-उपादान एवं कार्य-कारण व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। यह कि बाह्य और अन्तरंग कारण की पूर्णता के कार्यों के सपादन करने में द्रव्य में स्वत स्वभाव है। संसारी जीवों के लिए मोक्ष का उपाय भी बाहूय और अतरग दोनों साधनों के सिवाय अन्य रूप से नहीं हो सकता। इसलिए परमऋद्धि से सपन्न परम प्रभु गणधरदेव आदि बुद्धिमानों के लिए नमस्कार करने योग्य हैं।[1]

कार्य सम्पादन के पाँच कारण— सूक्ष्म, अखडित, अबाधित, वैज्ञानिक कार्य-कारण सिद्धान्त का वर्णन आचार्यप्रवर सिद्धसेन दिवाकर ने अपनी दार्शनिक एवं तार्किक वाङ्मय की अनुपम कृति सन्मतिसूत्र में किया है—

(i) काल, (ii) स्वभाव, (iii) नियति, (iv) पूर्वकृत, (v) पुरुषार्थ रूप कारण विषयक एकान्त मिथ्यात्व हैं किन्तु वे ही समस्त रूप में सापेक्ष रूप से मिलने पर यथार्थ (सम्यक्) होते हैं।[2] इस सिद्धान्त को स्वामीकार्तिकेय अपनी कृति 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में निम्न प्रकार से व्यक्त करते हैं—

सव्वाण पज्जयाणं आविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती।
कालाई-लद्धीए अणाई-णिहणम्मि दव्वम्मि॥२४४॥

—"सर्वेषां पर्यायाणा नरनरकादि पुद्गलादीना द्रव्ये जीवादि-वस्तूनि। किं भूते। अनादि-निधने अविनश्वरे पदार्थे कालादिलब्ध्या द्रव्यक्षेत्रकालभावलाभेन उत्पत्तिर्भवति उत्पाद स्यात्। किं भूतानाम्। अविद्यमानानाम् असतां द्रव्ये पर्यायाणामुत्पत्ति स्यात्। यथा विद्यमाने मृद्द्रव्ये

घटोत्पत्त्युचितकाले कुम्भकारादौ सत्येव घटादय पर्याया जायन्ते तथा।।"

अनादि निधन द्रव्य में काललब्धि आदि के मिलने पर अविद्यमान पर्यायों की ही उत्पत्ति होती है।

द्रव्य अविनश्वर शाश्वतिक होने के कारण अनादिनिधन है। उस अनादिनिधन द्रव्य में अपने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के मिलने (सयोग) पर जो पर्याय विद्यमान नहीं होती उसकी उत्पत्ति हो जाती है। सम्पूर्ण शुद्धाशुद्ध रूपी अरूपी द्रव्य में जो परिणमन होता है या नूतन पर्याय की उत्पत्ति होती है वह भी कालादि कारण को प्राप्त करके ही होती है। जीव द्रव्य में नरनारकादि अशुद्ध पर्याय अथवा शुद्ध पर्याय की उत्पत्ति होती है वह भी कालादि निमित्त को पाकर होती है। इसी प्रकार पुद्गल में स्कन्धरूप अशुद्ध परिणमन एव अणु रूप शुद्ध परिणमन भी कालादि को प्राप्त होने पर होता है। जैसे विद्यमान मिट्टी में घट रूप उत्पन्न होने का उचित काल प्राप्त होने पर तथा कुंभकारादि के सद्भाव में घटादि पर्याय उत्पन्न होती है।

कार्य-कारण सिद्धान्त (Law of cause and effect)

प्रत्येक कार्य का स्व-स्व योग्य उपादान तथा बहिरग कारणों के सद्भाव होने पर व विरोधी कारणों के अभाव होने पर सम्पादन होता है।

दीप-प्रज्वलन रूप कार्य के लिए तेल, बत्ती, दीया, अग्नि, प्राणवायु (ऑक्सीजन) आदि का योग्य संयोग होना चाहिए तथा तीव्र वायुसचालन, अग्नि-स्तम्भन रूप मणि, मंत्र-तत्र, लेप, औषधादि का अभाव होना चाहिए। एक कार्य पूर्ण करने के लिए जितने यथा-योग्य कारणों की आवश्यकता है उनमें से एक भी कारण का अभाव होने पर कार्य नहीं हो सकता। जिस प्रकार दीप-प्रज्वलन रूप कार्य के लिए अन्य अन्य कारणों के सद्भाव होने पर भी, अग्नि रूप अन्य कारण के अभाव से दीपक प्रज्वलित नहीं हो सकता। उसी प्रकार तेल, बत्ती, आक्सीजन आदि किसी एक कारण के अभाव होने पर भी दीप प्रज्वलन रूप कार्य नहीं हो सकता। तेल आदि के सद्भाव से भी तीव्र वायु सचलन आदि रूपी विरोधी कारणों के सद्भाव होने पर दीप-प्रज्वलन रूप कार्य नहीं हो सकता है। इस कार्य-कारण की व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी स्वयभूस्तोत्र में कहते हैं कि निमित्त के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

जो बाह्य वस्तु गुण-दोष या पुण्य पाप की उत्पत्ति का निमित्त होती है वह अन्तरंग में वर्त्तने वाले गुणदोषों की उत्पत्ति के अभ्यन्तर मूलहेतु की अंगभूत होती है (अर्थात् उपादान की सहकारी कारणभूत होती है)। उसकी अपेक्षा न करके केवल अभ्यन्तर कारण उस गुण-दोष की उत्पत्ति में समर्थ नहीं है।[1]

उपादान कारण—जो कारण बाह्य निमित्त की सहायता लेकर कार्यरूप में परिणमन करता

है उसको उपादान कारण कहते हैं। जैसे—योग्य मिट्टी योग्य कुम्भकार आदि बाह्य निमित्त की सहायता से स्वयं परिणमन करती हुई कुम्भादि रूप में परिणमन कर लेती है। इसको ही मुख्य कारण, आत्मभूत या अन्तरंग कारण आदि से अभिहित करते हैं।

निमित्त कारण—उपादान के सिवाय और जो दूसरे कारण कार्य के सम्पादन में सहायता करते हैं वे निमित्त कारण कहलाते हैं। इनको ही गौण कारण, अनात्मभूत कारण या सहकारी कारण कहते हैं।

विरोधी कारण—जो कारण कार्य-सम्पादन में बाधा डालता है उसे विरोधी कारण कहते हैं।

आचार्यप्रवर उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय के आठवें सूत्र का व्याख्यान करते हुए तार्किक चूडामणि भट्टारक अकलंकदेव स्वामी विभिन्न निमित्तों का वर्णन निम्न प्रकार करते हैं

"बाह्य एवं आभ्यन्तर के भेद से हेतु दो प्रकार का है। दो अवयव जिसके होते हैं वह 'द्वय' कहलाता है।

शका—स्वरूपनिर्देश से ही द्वित्व की प्राप्ति होती है। पुन 'द्वय' शब्द का प्रयोग व्यर्थ है?

समाधान—'द्वय' शब्द का प्रयोग निष्प्रयोजन नहीं है, क्योंकि बाह्य हेतु भी दो प्रकार का है और अन्तरंग हेतु भी दो प्रकार का है, इस बात को बताने के लिए 'द्वय' शब्द का प्रयोग किया है। जैसे—बाह्य हेतु दो प्रकार का है, आत्मभूत-अनात्मभूत। आत्मा के साथ संबध को प्राप्त शरीर में विशिष्ट नामकर्म के उदय से निर्मित अवस्थान-परिमाण—निर्माण युक्त चक्षु आदि इन्द्रियों का समूह आत्मभूत बाह्य हेतु है और प्रदीप आदि अनात्मभूत बाह्य हेतु हैं। अनात्मभूत और आत्मभूत के भेद से आभ्यन्तर हेतु भी दो प्रकार का है। उनमें मन, वचन, काय की वर्गणाओं के निमित्त से होने वाला आत्मप्रदेश-परिस्पदन रूप द्रव्ययोग अत प्रविष्ट होने से आभ्यन्तर हेतु कहलाता है तथा द्रव्ययोग निमित्तक ज्ञान रूप भावयोग एव वीर्यान्तर, ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मा की विशुद्धि आभ्यन्तर आत्मभूत हेतु कहलाती है। इन हेतुओं के विकल्पों का यथासभव आत्मा के सन्निधान होता है। यथासभव का तात्पर्य यह है कि इन सर्व हेतुओं का सन्निधान होने पर ही आत्मा का ज्ञानादि उपयोग हो ऐसा नियम नहीं है। जैसे किसी के प्रदीपादि के सन्निधान के बिना चक्षुरादि की विज्ञान में प्रवृत्ति होती है, इसलिए मनुष्यादि को बाह्य अनात्मभूत दीपकादि हेतु के सन्निधान की आवश्यकता है, परन्तु रात्रिचर बिल्ली आदि के, प्रकाश के बिना भी चक्षु आदि की विज्ञान में प्रवृत्ति हो जाती है, इसलिए अनियम हैं। चक्षुरादि का भी पचेन्द्रिय विकलेन्द्रिय के विषयत्व से सन्निधान एवं असन्निधान के प्रति अनियम हैं अर्थात् इन्द्रियाँ भी सभी के सब नहीं हैं, यथायोग्य ही रहती हैं। असज्ञी के मन नहीं होता है। एकेन्द्रिय, विग्रहगति प्राप्त जीव और समुद्घातगत सयोगकेवली के एक

काययोग ही होता है। क्षीणकपायपर्यन्त क्षयोपशमानुसार तन्निमित्तक एक ही भावयोग होता है। इसके आगे ज्ञानावरणादि का क्षय हो जाता है। इस प्रकार यथासभव बाह्यान्तर कारणों का सन्निधान होता है। चैतन्य आत्मा का अनादि स्वभाव है। उस चैतन्य को धारण करना स्वभाव होने से वह चैतन्यानुविधायी कहलाता है। जैसे सुवर्ण के अनुविधायी होने से कंकण कुंडलादि के विकार (पर्याय) भी सुवर्ण ही कहलाते हैं, उसी प्रकार आत्मा का परिणाम उपयोग कहलाता है।"

मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम जीव के सम्पूर्ण प्रदेश में होने पर भी छद्मस्थ जीव को इन्द्रियादि बाह्य उपकरण के बिना मतिज्ञान नहीं होता है। जैसे एक सज्ञी पचेन्द्रिय जीव की आखें फूट जाने के पश्चात् वह अन्तरग में क्षयोपशम रूप उपादान कारण होते हुए भी बाह्य निमित्त रूप उपकरण के अभाव से देखने में असमर्थ होता है। अतरग में क्षयोपशम एव इन्द्रिय उपकरण होने पर भी प्रकाश की सहायता से देखने वाले जीव प्रकाश का अभाव होने से देख नहीं सकते है। अन्तरग में क्षयोपशम एव इन्द्रियादि उपकरण एव प्रकाश होने पर भी यदि पलक बद है तो भी वह नहीं देख सकता है। क्षयोपशम, उपकरण, प्रकाशादि होते हुए भी मत्रादि विशिष्ट शक्ति से दृष्टि के स्तम्भित हो जाने पर वह नहीं देख सकता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य के लिए योग्य अन्तरग आर बहिरग कारणों के साथ, विरोधी कारणों का अभाव भी नितान्त आवश्यक है।

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो सर्वदा सभी कार्यों की उत्पत्ति अथवा अनुत्पत्ति का प्रसग प्राप्त होता है।[४]

यदि पदार्थ स्वय समर्थ होकर क्रिया करते हैं तो सदा कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए, क्योंकि, केवल सामान्य आदि कार्य करने में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते।[५]

जिससे कार्य सम्पादन होता है उसको प्रत्यय, कारण, निमित्त, साधन आदि नाम से अभिहित करते हैं। कारण अनेक प्रकार के होते हैं, यथा अन्तरग, बहिरग, प्रेरक, उदासीन, ज्ञापक आदि-आदि।

धर्मास्तिकाय गमन नहीं करता और न ही अन्य द्रव्य को गमन कराता है। वह जीवों तथा पुद्गलों की गति में सहायक होता है। जैसे—घोडा स्वय चलता हुआ अपने चढे हुए सवार के गमन का कारण होता है, ऐसा धर्मास्तिकाय नहीं है, क्योंकि वह कियारहित है, किन्तु जैसे जल स्वय ठहरा होता है तो भी स्वय अपनी इच्छा से चलती हुई मछलियों के गमन में उदासीनपने से निमित्त हो जाता है, वैसे धर्मद्रव्य भी स्वय अपने ही उपादान कारण से चलते हुए जीव और पुद्गलों को बिना प्रेरणा किये हुए उनके गमन में बाहरी निमित्त हो जाता है। यद्यपि धर्मास्तिकाय उदासीन है तो भी पुद्गलों की गति में हेतु है। जैसे जल उदासीन है तो भी वह मछलियों के अपने ही उपादान बल से गमन में सहकारी होता है। जैसे स्वय ठहरते हुए

घोडों को पृथ्वी या पथिकों को छाया सहायक है वैसे ही अधर्मास्तिकाय स्वयं ठहरा हुआ होता है। तो भी अपने उपादान कारण से ठहरे हुए जीव व पुद्गलों की स्थिति में बाहरी कारण होता है ऐसा आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव का अभिप्राय है।[६]

उपर्युक्त आगम प्रमाण से सिद्ध होता है कि प्रत्येक कारण जीव-पुद्गलों की गति में सहायक धर्म द्रव्यवत् केवल उदासीन नहीं है। कथञ्चित्-कदाचित् कुछ कारण प्रेरकादि भी होते हैं। जैसे रेलगाडी की गति के लिए पेट्रोल, ड्राइवर आदि प्रेरक है तथा रेलपटरी, धर्मद्रव्य (ईथर) आदि उदासीन निमित्त है। सिगनल (सकेत) रेलगाडी की गति, स्थिति के लिए ज्ञापक कारण है। रेल में बैठकर यात्रा करने वाले यात्रियों के लिए रेलगाडी प्रेरक कारण है तथा धर्मद्रव्य आकाश, काल उदासीन कारण है। ध्वजा की गति के लिए गतिशील वायु प्रेरक कारण है एवं धर्मद्रव्य उदासीन कारण हैं। विद्यार्थी को विद्या-अध्ययन करने के लिए ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अन्तरग कारण है, विद्यादाता प्रेरक कारण है। पुस्तक, प्रकाशादि उदासीन कारण हैं। संवाद को सम्प्रेषण करने के लिए रेडियो, टी. वी , न्यूजपेपरादि निमित्त कारण हैं।

विश्व-संरचना में निमित्त

अकृत्रिम अनादि-निधन शाश्वतिक विश्व स्वाभाविक अकृत्रिम होते हुए भी प्रत्येक समय में परिणमनशील भी है। इस विश्व के मूलभूत मौलिक द्रव्य छ हैं। यथा—(१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश, (६) काल द्रव्य हैं। ये द्रव्य स्वाभाविक रूप से उपकारी एवं उपस्कृत होते हैं। बिना सहकार, सहयोग, सबध एव सह-अस्तित्व के उनकी सत्ता ही असभव हो जायेगी। परस्पर सहकारादि कारणों से उनकी सत्ता है एव उनमें परिणमन भी होता है। जिससे कि विश्व की सत्ता एव विश्व का परिणमन होता है। छहों द्रव्य के परस्पर सहकार की स्थिति होती है, जिसे शास्त्रीय शब्दों में तद् तद् द्रव्यों के उपकार के रूप में अभिहित किया गया है।

गतिशील जीव एवं पुद्गल को धर्मद्रव्य गमन में उदासीन सहायक होता है। स्थितिशील जीव एवं पुद्गल को अधर्म द्रव्य स्थिति में सहायक होता है।[७]

गतिशील जीवों और पुद्गलों को गमन में सहकारी धर्म द्रव्य है। जैसे गतिपरिणत मछलियों को जल सहकारी है। परन्तु अगतिशील जीव-पुद्गलों के लिए धर्म द्रव्य सहकारी नहीं होता है। जैसे गमन नहीं करती हुई मछली को स्थिर जल उसे प्रेरणा देकर गमन नहीं कराता है उसी प्रकार स्थिर जीव व पुद्गल को प्रेरणा देकर धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता है इसलिए गमन कराने में धर्मद्रव्य उदासीन कारण है।[८]

आधुनिक वैज्ञानिक आइनस्टीन आदि भी प्रत्येक द्रव्य और शक्ति की गति के लिए माध्यम (medium) की नितान्त आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। जैसे ध्वनितरंगों की गति के लिए

धातु, जल, वायु, ईथर आदि यथायोग्य माध्यम की आवश्यकता होती है। प्रकाश की गति के लिए ईथर रूपी माध्यम की आवश्यकता होती है। बिना धर्म द्रव्य कोई भी स्थानान्तरित या गतिशील रूप क्रिया नहीं हो सकती। चलना, फिरना, बैठना, दौड़ना, श्वासोच्छ्वास क्रिया, वायु-संचालन, खाना, पीना, बोलना, लिखना, यहा तक कि रक्त-सचालन एव परमाणु की गति के लिए धर्मद्रव्य की आवश्यकता होती है। अर्थात् किसी प्रकार की भी परिस्पन्दनात्मक क्रिया धर्मद्रव्य के अभाव में नहीं हो सकती है। यहाँ तक कि अनत बलवीर्य के धनी स्वभावत ऊर्ध्वगमन शक्ति सहित सिद्ध भगवान एक समय में लोकाग्र में स्थिर हो जाते हैं। यहाँ स्वाभाविक प्रश्न होता है कि क्या सिद्ध भगवान की शक्ति लोकाग्र तक गमन योग्य थी? गमन करने योग्य क्षेत्र आकाश की सीमा वहाँ तक ही है? या गमन का काल उतना ही है? नहीं। सिद्ध भगवान की शक्ति अनत होने से तथा ऊर्ध्वगमनत्व स्वभाव होने से लोकाग्र तक गमन करने की शक्ति एव स्वभाव मानना सत्य एव आगमाविरुद्ध है। आकाश अनत होने के कारण आकाश की सीमा लोकाकाश के अग्र में समाप्त नहीं होती है परंतु उसके आगे आकाश अनंत है। भविष्यकाल भूतकाल की अपेक्षा अनत गुणित होने से काल भी समाप्त नहीं होता है । पुन प्रश्न होता है कि सिद्ध भगवान की ऊर्ध्वगमनत्व रूप क्रिया लोकाकाश के अग्रभाग में अवरुद्ध क्यों हो जाती है? धर्मास्तिकाय के अभाव में जीव की गति लोकान्त तक ही सम्भव है।[९]

गतिरूप उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नहीं है इसलिए अलोक-गमन नहीं होता। और यदि अलोक में गमन माना जाता है तो लोकालोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है।[१०]

'त्रैलोक्य के अत तक धर्मास्तिकाय होने से सिद्ध जीवों की गति लोकान्त तक ही होती है। अलोक में जीव और पुद्गल का गतिहेतु का अभाव होने से लोक के ऊपर गति नहीं होती'।[११]

उपरोक्त आगमोक्त प्रसिद्ध उदाहरण से सिद्ध होता है कि उपादानकारण होते हुए भी केवल उदासीन निमित्त कारण के अभाव से भी गमनरूप क्रिया नहीं होती।

अजीव-द्रव्य का उपकार

स्थिति सहित जो पुद्गल और जीव है उनकी स्थिति में कारण अधर्मद्रव्य है। जैसे पथिकों (बटोहियों) की स्थिति में छाया सहकारी है, और गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलों को वह अधर्म द्रव्य नहीं ठहराता है।[१२]

गति-परिणत जीव एव पुद्गल जब स्थिर होते हैं तब अधर्म द्रव्य स्थिर होने के लिए सहायक होता है। अधर्म द्रव्य के अभाव से कोई भी जड (पुद्गल) या चैतन्यात्मक द्रव्य कभी भी स्थिर नहीं हो सकते हैं। अधर्म द्रव्य के अभाव से गति क्रिया युक्त द्रव्य सतत अस्थिर ही रहेंगे, जिसके कारण गमन करने वाले जीव पशु-पक्षी आदि बैठने के लिए, स्थिर होने के लिए या

सोने की इच्छा करने पर भी तदनुकूल कार्य करने में असमर्थ रहेंगे। चलती हुई गाडी, वायुयान, मोटर, साइकिल आदि को भी स्थिर करने के लिए ब्रेक लगाने पर भी स्थिर नहीं होंगे।

धर्म-अधर्म के अभाव से विश्व की संरचना भी अस्त-व्यस्त हो जायेगी। क्योंकि धर्मद्रव्य के बिना यदि जीव-पुद्गल गति में समर्थ होंगे तो लोकाकाश का अतिक्रम करके अलोकाकाश में भी फैल जायेंगे जिससे लोकाकाश की सीमा अनत तक फैल जायेगी। सीमा अनन्त तक फैलने से पुद्गल-स्कन्धो के घनत्व का ह्रास हो जायेगा। फलस्वरूप विभिन्न स्कन्धों की सरचना विघटित हो जायेगी। सरचना विघटित होने से विश्व के जो अकृत्रिम सूर्य, चन्द्र, ग्रह, पृथ्वी आदि है उनका भी विघटन, क्षरण होना अनिवार्य हो जायेगा। दोनों द्रव्यों के अभाव से संपूर्ण विश्व की गतिविधियॉं अस्त-व्यस्त होने से लोकाकाश-अलोकाकाश का विभाग भी समाप्त हो जायेगा।

आकाश-द्रव्य का उपकार

जो जीव आदि द्रव्यों को अवकाश देने वाला है वह आकाश-द्रव्य है। वह लोकाकाश ओर अलोकाकाश इन भेदों से दो प्रकार का है।[१३] जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल द्रव्य को अवकाश देना आकाश का उपकार है।[१४]

प्रत्येक द्रव्य में प्रदेशत्व गुण के कारण एक निश्चित आकार-प्रकार होता है। इसलिए प्रत्येक द्रव्य को रहने के लिए अवकाश की आवश्यकता होती है। प्रत्येक द्रव्य को अवकाश देने वाला यह आकाश द्रव्य ही है।

द्रव्य, परिणमन निमित्तक हेतु कालद्रव्य

वर्तना कालद्रव्य का लक्षण है।[१५] वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार हैं।[१६]

प्रत्येक द्रव्य द्रव्यदृष्टि से ध्रुव होने पर भी पर्याय दृष्टि से परिणमनशील है। परिणमन करना प्रत्येक द्रव्य का स्वस्वभाव होने पर भी परिणमन के लिए काल-द्रव्य की सहायता नितान्त आवश्यक है। काल-द्रव्य के बिना कोई भी द्रव्य परिणमन नहीं कर सकता है। परिणमन के बिना द्रव्य ध्रुव नही रह सकता है। ध्रुवत्त्व बिना सत्ता का विनाश हो जायेगा तथा सत्ता के अभाव में सर्वशून्यता की प्राप्ति होगी। परन्तु यह प्रत्यक्षविरोध है।

जीव-द्रव्य का परस्पर में उपकार

"परस्परोपग्रहो जीवानाम्।"[१७] परस्पर निमित्त होना यह जीवों का उपकार है।

स्वामी और सेवक तथा आचार्य और शिष्य इत्यादि रूप से वर्तन करना परस्परोपग्रह है। स्वामी तो धन आदि देकर सेवक का उपकार करता है और सेवक हित का कथन करके तथा अहित का निषेध करके स्वामी का उपकार करता है। आचार्य दोनों लोक में सुखदायी उपदेश द्वारा तथा उस उपदेश के अनुसार क्रिया में लगाकर शिष्यों का उपकार करता है और शिष्य भी आचार्य के अनुकूल प्रवृत्ति करके आचार्य का उपकार करते हैं।

पुद्गल का उपकार

"सुख-दु ख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च।"[१८]

सुख, दु ख, जीवन और मरण ये भी पुद्गलो के उपकार हैं। व्यवहार नय से, ससारी जीव पुद्गल कर्म का कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है। ससारी जीव यथायोग्य मन, वचन, काय के परिस्पन्दन से कर्म को ग्रहण करता है एव मिथ्यात्वादि के कारण कर्मों को बाँधता है, इसलिए वह पुद्गल-कर्म का कर्त्ता है। जब वह कर्म उदय में आकर फल देता है तदनुकूल जीव का परिणमन भी होता है एवं सुख-दु ख का वेदन करता है। इसलिए वह पुद्गल-कर्म का भोक्ता है।

"शरीरवाड्मन प्राणापाना पुद्गलानाम्"[१९]

अर्थात् शरीर, वचन, मन और प्राणापान यह पुद्गलों का उपकार है। शरीर, इन्द्रिय, मन, श्वासोच्छ्वास, भाषा आदि के द्वारा पुद्गल-द्रव्य जीव का उपकार करता है। यही नहीं, किन्तु परस्पर में भी उपकार करते है। जैसे शास्त्र का उपकार गत्ता वेष्टन आदि करते हैं और कॉसे आदि के बर्तनों को शुद्ध करके भस्म उनका उपकार करती है इत्यादि। यहाँ पर चकार का ग्रहण किया है, इसलिए जिस तरह परस्पर में या एक-दूसरे का जीव पुद्गल उपकार करते हैं, उस तरह अपकार भी करते हैं क्योंकि द्रव्यों के फल-निर्देश में अच्छे या बुरे का भेद नहीं है।[२०]

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से प्रत्येक आत्मा स्वतत्र एव स्वय ही शुद्ध स्वभाव का कर्ता-भोक्ता होने पर भी व्यवहार दृष्टि से ससार-अवस्था में जीव पुद्गल-कर्म का कर्त्ता-भोक्ता भी है। योग एव उपयोग के कारण जो कर्मबन्ध होता है, उसके उदय स्वरूप शरीर, इन्द्रिय, मन आदि प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं, गर्भावस्था में माता द्वारा युक्त आहार का रस ग्रहण करके शरीर पुष्ट होता है। जन्म के पश्चात् शरीर की स्थिति, पुष्टि, वृद्धि के लिए पुद्गलरूपी आहार, जल, वायु को ग्रहण करता है। प्राकृतिक प्रकोप से शरीर की रक्षा के लिए पुद्गल से निर्मित गृह आदि का आश्रय लेता है। गमनागमन के लिए पौद्गलिक यान-वाहन का आश्रय लेता है। मनोरंजन के लिए रेडियो, टी.वी आदि पौद्गलिक उपकरणों का उपयोग करता है। शरीर की सुरक्षा के लिए, सौन्दर्य वृद्धि के लिए वस्त्र परिधान, प्रसाधन द्रव्यों का उपयोग करता है। इसी

प्रकार संसार-अवस्था में संसारी जीवों के अनेक उपकार पुद्गल के अवदान से होते हैं। इतना ही नहीं, पौद्गलिक आयुकर्म के उदय से जन्म और पौद्गलिक आयु कर्म के क्षय से मरण भी होता है। अस्त्रादि प्रहार से, विषपान से, वज्रपात से, बम के विस्फोट से जीवों का मरण भी होता है। औषध-सेवन से रोग दूर होता है तो अशुद्ध आहार सेवन से, नशीली वस्तुओं के सेवन से रोग भी होता है। इसी प्रकार पुद्गल के निमित्त से जीव का उपकार-अपकार होता है।

यह विश्वसंरचना के लिए छहों द्रव्यों का योगदान है। यदि एक भी द्रव्य अपना योगदान देना छोड दे तो विश्व की सरचना, गतिविधि एव व्यवस्था अस्त-व्यस्त होकर विध्वंस हो जाये। सक्षिप्तत द्रव्यों को स्थान देने के लिए आकाश योगदान देता है तब धर्मद्रव्य गति के लिए सहायक होता है, अधर्म द्रव्य स्थिति के लिए सहायक होता है, काल द्रव्य परिणमन के लिए सहायक होता है। जीव द्रव्य सम्पूर्ण द्रव्य का ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप महान द्रव्य है।

संसारावस्था के लिए निमित्त

प्रत्येक जीव स्वभावत अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य का स्वामी है। स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता है। तो भी संसार-अवस्था में जीव अनन्त दुख, अज्ञान का अनुभव करता है। यहाँ पर प्रश्न होना स्वाभाविक है कि अनन्त ज्ञान सुखादि गुण तिरोभाव क्यों एव कैसे हुए? इस प्रश्न का उत्तर अध्यात्मयोगी कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समयसार' में दिया है—

आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र का जाननेवाला, देखनेवाला है, फिर भी वह अपनी कर्मरूपी रज से आच्छादित है। अत ससार को प्राप्त होता हुआ सर्वप्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को जान नहीं रहा है।[२१]

अनन्त शक्ति-सम्पन्न जीव को पराभूत करने वाला प्रतिपक्ष द्रव्य भी अनन्त शक्ति सम्पन्न होना चाहिए। क्योंकि कम शक्ति से अधिक शक्ति को पराभूत करना सभव नहीं है। इसलिए जीव के उपादानभूत अनन्तगुण को घात करनेवाला निमित्तभूत कर्म भी अनन्त शक्तिसम्पन्न है। परमात्मप्रकाश में योगेन्द्रदेव कर्मशक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—अनन्त ज्ञान वीर्यादि गुणों से युक्त भगवान आत्मा को कुपथ में पटकने वाला कर्म अत्यन्त बलवान् घनस्वरूप, दूसरों के द्वारा सहज ही नष्ट नहीं होने वाला, अत्यन्त चिकने एव वज्र के समान कठोर एव भारी होने से अभेद्य एवं अच्छेद्य है।[२२] आचार्यप्रवर भट्टअकलंकदेव स्वामी कर्म को संसार का मूल कारण बताते हुए 'राजवार्त्तिक' में बताते हैं कि—"तदात्मनोऽस्वतन्त्रीकरणे मूलकारणम्"

अर्थात् वह (कर्म) आत्मा को परतत्र करने में मूल कारण है। इष्टोपदेश में आ. पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है कि—जिस प्रकार नशीले कोदों के सेवन से जीव मदमत्त होकर हिताहित विवेक से रहित हो जाता है उसी प्रकार मोहकर्मरूपी मद्य से पराभूत होकर, आच्छादित होकर,

स्वाभाविक अनन्त ज्ञान अपना स्वशुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता है (जान नहीं पाता है)।[२३]

अनादिकाल से अनन्त ज्ञानादि सम्पन्न यह परमात्मा द्रव्यकर्म से पराभूत होकर संसार में दर-दर भिखारी होकर परिभ्रमण कर रहा है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने पर जीव में अनन्त शक्ति होते हुए भी कर्मपरवशत अनन्तशक्ति व्यक्त रूप में नहीं है, परन्तु अव्यक्त होने के कारण केवल संभावना रूप में सुप्तावस्था में जीव में अवस्थित है। इसलिए पर्यायनिष्ठ दृष्टि से देखने एवं विचार करने पर अनादिकाल से कर्म की परतंत्रता से ससारी जीव की शक्ति बहुत ही क्षीण है एवं कर्म की शक्ति बहुत ही दृढ है। इसलिए यह जीव अनादिकाल से ससार में परिभ्रमण कर रहा है। संसारावस्था में जीव एव कर्म का द्वन्द्व-युद्ध चलता रहता है। कहा भी है—

कत्थवि वलिओ जीवो कत्थवि कम्माइ हुति वलियाइं।
जीवस्य य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइ वइराइ॥

अर्थात्—कभी-कभी जीव बलवान हो जाता है और कभी-कभी कर्म बलवान हो जाता है। इसी प्रकार जीव एव कर्म का पूर्वकालीन अनादि से विरोध एवं वैर चल रहा है। अपि च—

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृह ।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति॥३१॥

कर्म अपने हितरूपी साथी कर्म को ही बॉधता है। जीव अपने आत्मा के हित की इच्छा करता है। जब कर्म शक्तिशाली होता है तब अपने सहयोगी कर्म को सग्रहीत करके ही, और भी अधिक शक्ति संगठित करके जीव के ऊपर अपना पूर्ण प्रभाव डालता है अर्थात् जीव को अपने अधिकार में कर लेता है। जब जीव योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को प्राप्त करके शक्तिसम्पन्न होता है तब अपने हित-साधन के लिए कर्म के बधन को क्षीण एव विध्वस कर देता है। ठीक ही है, अपने शक्तिशाली प्रभाव के होने पर कौन-सा व्यक्ति अपना हित नहीं चाहता है अर्थात् सभी चाहते हैं।

प्रत्येक जीव अनेक गुणों के पिण्डस्वरूप होते हैं। उन अनेक गुणो को घात करने वाले अनेक कर्म होते हैं। जैसे मैल के विशेप संबध से अवच्छिन्न होकर अर्थात् दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्वमल के विशेष संबध से दबकर जीव के मोक्ष का हेतुभूत सम्यक्त्व गुण नष्ट हो जाता है। तथा जैसे मैल के विशेप सबंध से वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही कपायरूप मल से दबकर मोक्ष का हेतुभूत जीव का चारित्र गुण भी नष्ट हो जाता है।[२४]

इस प्रकार मोक्ष के हेतुभूत आत्मा के सम्यक्त्वादि गुण हैं। उनके प्रतिविरोधी मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायभाव है जो कि आत्मा के सम्यक्त्वादि गुणों को रोके हुए हैं, उन्हें होने नहीं देते। जैसे आकाश में सूर्य उदित होने पर भी घने बादल के कारण सूर्यरश्मि ढँक जाती हैं

उसी प्रकार कर्मरूपी बादल के कारण ज्ञानरूपी रश्मि ढँक जाती है। शुद्ध स्फटिक मणि शुभ्र होने पर भी लाल रंग के संयोग से लाल दिखाई देता है या हरे रंग के सयोग से हरा दिखाई पडता है उसी प्रकार कर्मयोग से जीव की अवस्था विभिन्न प्रकार की होती है। बध्यमान कर्म जब अपनी प्रचण्ड शक्ति सहित उदय में आता है तब जीव के स्वाभाविक गुण वैभाविक गुण में परिणमित हो जाते हैं। अर्थात् जीव में स्वाभाविक रूप से जो परिणमन होता है उसका मूल कारण कर्म ही है।

आत्मा के सम्यक्त्व गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है। आत्मा के ज्ञान गुण का प्रतिबन्धक अज्ञान है जिसके उदय से यह जीव अज्ञानी हो रहा है तथा चारित्र गुण को रोकने वाला कपायभाव है जिसके उदय से यह जीव चारित्र रहित अर्थात् अचारित्री हो रहा है। द्रव्यदृष्टि से निम्नश्रेणीय लब्ध्यपर्याप्तक एकेन्द्रिय, अभव्य, निगोदिया जीव से लेकर पूर्ण विकसित शुद्ध-बुद्ध अनन्तज्ञान सम्पन्न सिद्ध भगवान तक सम्पूर्ण जीव एक समान हैं। क्योंकि इनमें जातीय अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती बताते है कि—'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' शुद्ध निश्चय नय से ससारी जीव भी सिद्ध भगवान के समान शुद्ध भाव का धारक है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सम्पूर्ण जीव में आध्यात्मिक साम्यवाद है। स्वभावदृष्टि से समान होने पर ससारी जीव में जो वैचित्र्य दृष्टिगोचर होता है उसका कोई विशिष्ट कारण होना चाहिए। इसका कारण कर्म है।[25] कुन्दकुन्दस्वामी नियमसार में बताते हैं—'णाणा जीवा णाणा कम्म णाणाविह हवे लद्धी।'

अनेक जीव हैं, अनेक प्रकार के कर्म हैं और अनेक कर्म के अनुसार अनेक लब्धियां हैं।

> कम्मेण विणा उदय जीवस्स ण विज्जदे उवसम वा।
> खइय खओवसमिय तम्हा भाव तु कम्मकद॥५८॥

अर्थात् कर्म के विना जीव को उदय-उपशम तथा क्षय-क्षयोपशम नहीं होते। (अर्थात् द्रव्यकर्म के बिना जीव को औदयिकादि चार भाव नहीं होते। इसलिए क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक या औपशमिक भावों को कर्मकृत सम्मत समझें। पारिणामिक भाव तो अनादि अनन्त, निरुपाधि स्वाभाविक ही है। क्षायिक भाव यद्यपि स्वभाव की व्यक्तिरूप (प्रकटतारूप) होने से अनन्त (अन्त रहित) है तथापि कर्मक्षय द्वारा उत्पन्न होने के कारण सादि है इसलिए कर्मकृत ही कहा गया है। औपशमिक भाव कर्म के उपशम से उत्पन्न होने के कारण तथा अनुपशम से नष्ट होने के कारण कर्मकृत ही है। अथवा उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमस्वरूप चार (अवस्थाएँ) द्रव्यकर्म की ही अवस्थाएँ हैं, परिणामस्वरूप एक अवस्था वाले जीव की नहीं है इसलिए उदयादिक द्वारा उत्पन्न होने वाले आत्मा के भावों की निमित्त मात्रभूत ऐसी इस प्रकार की अवस्थाओं के स्वयं परिणमित होने के कारण द्रव्यकर्म भी व्यवहारनय से आत्मा के भावों के कर्तृत्व को प्राप्त होता है।

स्वभावत प्राकृतिक रूप से जीव का स्वरूप अमूर्तिक, अभौतिक एवं ज्ञान-विज्ञानमय है। परन्तु संसार अवस्था में संसारी जीव पर्याय अपेक्षा से मूर्तिक एव रागद्वेष मल से कलुषित परिलक्षित होता है। इस प्रकार विपरीत वैभाविक परिणमन का कारण क्या है, इस प्रकार की जिज्ञासा मन में पैदा होना स्वाभाविक है। इसका प्रत्युत्तर देते हुए, पूज्यपाद स्वामी ने सिद्धभक्ति में बताया है कि—"अस्त्यात्मानादिबद्ध" ससारी आत्मा अनादिकाल से कर्मबन्धन से बँधा हुआ है। अत पौद्गलिक कर्म सबन्ध से सासारिक जीव पर्यायदृष्टि से मूर्तिक है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए श्रीमद्देवसेन स्वामी ने आलापपद्धति में कहा है कि—जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभाव । असद्भूत व्यवहार से पुद्गल से सश्लेपित ससारी जीव मूर्तिक स्वभाव वाला है। इसलिए कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार में ससार का कारण बताते हुए कहा है कि—

वास्तव में जीव द्रव्यत्व से अवस्थित होने पर भी पर्यायों से अनवस्थित है, इससे यह प्रतीत होता है कि ससार में कोई भी (वस्तु) स्वभाव से अवस्थित नहीं है। (अर्थात् किसी का स्वभाव केवल अविचल—एक रूप रहना नहीं है।) और यहाँ (इस ससार में) जो अनवस्थित है उसमें ससार ही हेतु है, क्योंकि उसके (ससार के) मनुष्यादि-पर्यायात्मकपना है, कारण कि वह संसार रूप से ही वैसा (अनवस्थित) है। अर्थात् ससार का स्वरूप ही ऐसा है। तथा परिणमन करते हुए द्रव्य का जो पूर्व दशा का परित्याग तथा उत्तर दशा का ग्रहणरूपक्रिया नामक परिणाम है, वह ही ससार का स्वरूप है।[२५]

द्रव्य अपेक्षया स्वभाव एव जाति अपेक्षया प्रत्येक जीव समान होते हुए भी ससारी जीव में जो विभिन्न विचित्रता परिलक्षित होती है उसके कारण का निर्देश करते हुए वीरसेन स्वामी ने धवला में बताया है—

कारण के बिना तो कार्यों की उत्पत्ति होती नहीं है, इसलिए जितने (पृथिवी, अप्, तेज आदि) कार्य हैं उतने उनके कारणरूप कर्म भी हैं, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए। प्रश्न—यदि ऐसा है तो भ्रमर, मधुकर-कदम्ब आदि नामो वाले भी नामकर्म होने चाहिए? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह बात तो इष्ट है।

राजवार्तिक में तार्किकशिरोमणि अकलकदेव स्वामी इसी कर्मसिद्धान्त को निम्न प्रकार से बतलाते हैं—

'लोके हरिशार्दूलवृकभुजगादयो निसर्गत क्रौर्यशौर्याहारादिसप्रतिपत्तौ वर्तन्ते इत्युच्यन्ते न चासावाकस्मिकी कर्मनिमित्तत्वात्।'

लोक में भी शेर, भेडिया, चीता, सांप आदि में शूरता-क्रूरता आहार आदि परोपदेश के बिना होने से यद्यपि नैसर्गिक कहलाते हैं, परन्तु वे आकस्मिक नहीं है, क्योंकि वे कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह सिद्ध होता है कि कर्म के निमित्त को प्राप्त करके यह जीव अनेक

वैभाविक परिणामों को प्राप्त होकर नर-नरकादि गति में विभिन्न दु खों को भोगता है। स्वभावत उपादान स्वरूप से जीव अनन्त सुख एव शान्ति का अखण्ड पिण्ड होते हुए भी निमित्त कारण के सयोग से वैभाविक परिणमन होता है जिससे यह जीव स्वभाव से च्युत होकर अनत अज्ञान एवं मोह को भोगता है। यदि कर्मरूप निमित्त को नहीं मानेंगे तब शुद्ध उपादान में वैभाविक परिणमन नहीं होगा। एव वैभाविक परिणाम के अभाव से ससार का अभाव हो जायेगा। संसार के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। ससार एव मोक्ष का अभाव मानना सत्य, आगम, तर्क, अनुमान का प्रत्यक्ष विरोध है। इसलिए निमित्त एव नैमित्तिक कार्यकारण सम्बन्ध को स्वीकार करना आगम-सम्मत है।

आस्रव एवं बन्ध के निमित्त

शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से प्रत्येक जीव शुद्ध-बुद्ध निष्कम्प-निष्कषाय होने से द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म, नोकर्म से सश्लेष नहीं हो सकता है। परन्तु पूर्वोक्त सिद्धान्तानुसार जीव अनादि काल से द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से सहित है। जब पूर्वोपार्जित द्रव्यकर्म उदय में आता है उस समय उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जीव में राग-द्वेष मोहादि रूप भावकर्म मोहकर्म उत्पन्न होते हैं। पुन भावकर्म के अनुसार नवीन द्रव्यकर्म का सचय होता है। पुन द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म का प्रादुर्भाव होता है। इसी प्रकार बीज-वृक्ष नय से या अण्डा-पक्षी नय से द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं। बिना द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म त्रिकाल में त्रिजगत् में कदाचित् कथञ्चित् भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। कथञ्चित् द्रव्यकर्म के उदय से उत्कृष्ट आत्मशक्ति सम्पन्न महान् साधक भावकर्म रूप से परिणमन कर भी सकता है या नहीं, परन्तु जहाँ पर भावकर्म रूप परिणमन है वहा पर द्रव्यकर्म का उदय अनिवार्य है। द्रव्यकर्म की शक्ति भी इतनी प्रचण्ड है कि उपशम श्रेणी में आरोहण करने वाले महामुनीश्वर भी कालानुसार द्रव्यकर्म का उदय होने पर यथाख्यात-चारित्र से च्युत होकर निम्न गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं। कर्मबन्ध के निमित्त-नैमित्तिक भाव को दर्शाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी पचास्तिकाय में कहते हैं—

> भावो कम्मणिमित्तो कम्म पुण भावकारण हवदि।
> ण दु तेसि खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तार॥६०॥

निर्मल चैतन्यमयी ज्योति स्वभावरूप शुद्ध जीवास्तिकाय से प्रतिपक्षी भाव जो मिथ्यात्व व रागादि परिणाम है वह कर्मों के उदय से रहित चैतन्य का चमत्कार मात्र जो परमात्म स्वभाव है उससे उलटे जो उदय में प्राप्त कर्म हैं उनके निमित्त से होता है तथा ज्ञानावरण आदि कर्मों से रहित जो शुद्धात्म तत्त्व है उससे विलक्षण जो नवीन द्रव्यकर्म हैं सो निर्विकार शुद्ध आत्मा की अनुभूति से विरुद्ध जो रागादिभाव हैं उनके निमित्त से बधते हैं। ऐसा होने पर

भी जीव सबंधी रागादि भावों का और द्रव्यकर्मों का परस्पर उपादान कर्तापना नहीं है तो भी वे रागादि भाव और द्रव्यकर्म दोनों बिना उपादान कारण के नहीं हुए हैं किन्तु जीव संबंधी रागादि भावों का उपादान कर्ता जीव ही है तथा द्रव्यकर्मों का उपादान कर्ता कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल ही हैं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से विचार किये जाने पर जीव रागादि भावों का कर्ता नहीं है तथापि अशुद्ध निश्चयनय से जीव रागादि भावों का कर्ता है।

'ससार' नामक जो यह आत्मा का तथाविध (उस प्रकार का) परिणाम है वही द्रव्यकर्म के चिपकने का (बध का) हेतु है। अब उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है? (इसके उत्तर में कहते हैं कि द्रव्यकर्म उसका हेतु है, क्योंकि द्रव्य-कर्म की सयुक्तता से ही वह (अशुद्ध परिणाम) कर्म है।[२७]

ऐसा होने से इतरेतराश्रय दोष आयेगा, क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के साथ सबद्ध आत्मा का जो पूर्व का द्रव्यकर्म है उसका वहाँ हेतुरूप से ग्रहण (स्वीकार) किया गया है।

इस प्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा आत्मा का तथाविध परिणाम होने से, वह उपचार से द्रव्यकर्म ही है, और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्ता उपचार से है।[२८-२९]

यद्यपि जीव के रागद्वेषादी परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीव कर्म के गुण रूपादिक को स्वीकार नहीं करता, उसी भाति कर्म भी जीव के चेतनादि गुणों को स्वीकार नहीं करता, किन्तु मात्र इन दोनों का परस्पर एक-दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है।

> एदेण कारणेण दु कत्ता आदा स एण भावेण।
> पुग्गल कम्मकदाण ण दु कत्ता सव्वभावाण॥८८॥

इस प्रकार जीव और पुदगल के परस्पर में निमित्त कारण पाया जाता है। व्यवहारनय से भिन्न षट्कारक के अनुसार जीव के रागद्वेष निमित्त पाकर कर्मपरमाणु द्रव्यकर्म रूप में परिणमन करता है। द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म उत्पन्न होते हैं। परन्तु निश्चयनय से एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्त्ता नहीं होने से जीव परिणाम के हेतु पुद्गल नहीं है, एव पुदगल के परिणाम के हेतु जीव नहीं है। पचास्तिकाय में कहा है—"निश्चयनयेनाभिन्नकारकत्वात्कर्मणो जीवस्य च स्वय स्वरूपकर्तृत्वमुक्तम्।"

अर्थात्—निश्चयनय से अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वय स्वरूप के (अपने-अपने रूप के) कर्त्ता हैं।

निश्चयनय से जीव पुदगल का कर्त्ता नहीं होने पर भी व्यवहारनय से कर्ता है।

आत्मा व्यवहार से पुद्गलकर्म आदि का कर्त्ता है, निश्चय से चेतन कर्म का कर्त्ता है और शुद्धनय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है।[30]

आत्मा व्यवहार से सुख-दुख रूप पुद्गलकर्मों को भोगता है और निश्चयनय से आत्मा चेतनस्वभाव को भोगता है।[31]

एकान्तत निश्चयनय के समान व्यवहारनय से भी जीव कर्म का कर्ता नहीं है तब अनेक प्रश्न उत्पन्न हो जायेंगे। व्यवहार से भी जीव कर्म का कर्त्ता नहीं होने पर कर्मबन्धन नहीं होगा। कर्मबन्ध के अभाव से संसार का अभाव हो जाएगा। ससार के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जाएगा जो कि आगम, तर्क, प्रत्यक्ष एव अनुभवविरुद्ध है। निश्चयनय का विषय व्यवहार में सयोजना करके शिष्य गुरुवर्य कुन्दकुन्दाचार्य से प्रश्न करता है—

कम्म कम्म कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाण।
किध तस्स फल भुजदि अप्पा कम्म च देदि फलं॥६३॥ (पचास्तिकाय प्राभृत)

अर्थात्—पूर्वोक्त प्रकार से अभेद छह कारक का व्याख्यान करते हुए निश्चयनय से यह व्याख्यान किया गया है। इसे सुनकर नयों के विचारों को न जानता हुआ शिष्य एकात को ग्रहण करके पूर्वपक्ष करता है—

यदि द्रव्यकर्म द्रव्यकर्म को एकात से, बिना जीव के परिणाम की अपेक्षा के, करता है और वह आत्मा अपने को ही करता है, द्रव्यकर्म को नहीं करता है तो किस तरह आत्मा उस बिना किये हुए कर्म के फल को भोगता है और वह जीव से बिना किया हुआ कर्म आत्मा में फल कैसे देता है? इस प्रश्न का आगमोक्त यथार्थ प्रत्युत्तर देते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा।
काले विजुज्जमाणा सुहदुक्ख दिंति भुञ्जन्ति॥६७॥

ससारी जीवों के अपने-अपने रागादि परिणामों के निमित्त से तथा पुद्गलों में स्निग्ध रूक्ष गुण के कारण द्रव्य कर्मवर्गणाएं जीव के प्रदेशों मे जो पहले से ही बंधी हुई होती हैं वे ही अपनी स्थिति के पूरी होते हुए उदय में आती हैं तब अपने-अपने फल को प्रकट कर झड जाती हैं, उसी समय वे कर्म अनाकुलता लक्षण जो पारमार्थिक सुख है उससे विपरीत परम आकुलता को उत्पन्न करने वाले सुख तथा दुख को उन जीवों को मुख्यतया से देती है जो मिथ्यादृष्टि हैं अर्थात् जो निर्विकार चिदानदमयी एक स्वभाव रूप जीव को और मिथ्यात्व रागादि भावों को एक रूप ही मानते हैं और जो मिथ्याज्ञानी हैं अर्थात् जिनको यह ज्ञान है कि जीव राग-द्वेष मोहादि रूप ही होते हैं तथा जो मिथ्याचारित्री हैं अर्थात् जो अपने को रागादि के परिणमन में ही रत रखते हैं ऐसे मिथ्या- दर्शन-ज्ञान-चारित्र में परिणमन करते हुए जीव अभ्यंतर में अशुद्ध निश्चय से हर्ष या विषादरूप तथा व्यवहार से बाहरी पदार्थों में नाना प्रकार इष्ट-अनिष्ट इन्द्रियों के विषयों के प्राप्तिरूप मधुर या कटुक विष के रस के आस्वादरूप सासारिक सुख या

दु ख की वीतराग परमानन्दमय सुखामृत के रसास्वाद के भोग को न पाते हुए भोगते हैं। निश्चय से तो वे अपने भावों को ही भोगते हैं, व्यवहार से वे पदार्थों को भोगते हैं ऐसा अभिप्राय जानना।

इस प्रकार प्रकट प्रभुत्वशक्ति के कारण जिसने अपने कर्मों द्वारा कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का अधिकार ग्रहण किया है ऐसे इस आत्मा के, अनादि मोहाच्छादितपने के कारण विपरीत अभिनिवेश की उत्पत्ति होने से सम्यग्ज्ञानज्योति अस्त हो गयी है, इसलिए यह सात अथवा अनन्त ससार में परिभ्रमण करता है।

सम्यक्त्व-उत्पत्ति के लिए निमित्त

सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वाभाविक गुण होने पर भी दर्शनमोहनीय कर्म के अभिघात से सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन रूप में परिणमन कर रहा है। अन्तरग बहिरग कारण को प्राप्त करके भव्य जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। सम्यग् दर्शन स्वाभाविक आत्मा का गुण होने पर भी कर्मरूपी निमित्त से विभाव रूप परिणमन कर रहा है एवम् बहिरग सहकारी योग्य निमित्त को प्राप्त करके स्वाभाविक सम्यग्दर्शन रूप प्रकट होता है। सम्यग्दर्शन उत्पत्ति के कारण बताते हुए आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र में बताते हैं—तन्निसर्गादधिगमाद्वा॥३॥ सम्यग्दर्शन निसर्ग (स्वभाव) और अधिगम (परोपदेश) दो प्रकार से उत्पन्न होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि, बिना गुरूपदेश सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता है। प्रथम बार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए गुरूपदेश रूपी निमित्त आवश्यक है। एक बार सम्यग्दर्शन उत्पत्ति के बाद पुन च्युत होने पर पूर्व सस्कार से या गुरु के कम उपदेश से जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है निसर्ग सम्यग्दर्शन कहते हैं। मोक्षमार्ग का शुभारम्भ गुरूपदेश रूपी निमित्त से ही होता है।

दोनों ही सम्यग्दर्शनो में अतरग हेतु समान होने पर बाह्य उपदेश की अपेक्षा और अनपेक्षा भेद से भेद हैं। निसर्गज और अधिगमज इन दोनों सम्यग्दर्शनों मे अतरग कारण तो दर्शनमोह का उपशम, क्षय या क्षयोपशम समानरूप से है। इन अतरग कारणों के होने पर जो सम्यग्दर्शन बाह्य उपदेश के बिना प्रकट होता है वह निसर्गज कहलाता है तथा जो परोपदेशपूर्वक जीवादि अधिगम निमित्त होता है वह अधिगमज है।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप निमित्त

'दर्शन मोहस्यापि सपन्नो जिनेन्द्रबिम्बादिद्रव्य, समवसरणादि क्षेत्र, कालश्चार्धपुद्गलपरिवर्तनविशेषादिर्भावश्चाध प्रवृत्तिकरणादिरिनि निश्चीयते। तद्भावे

तदुपशमादिप्रतिपत्ते अन्यथा तदभावात्।'

दर्शनमोह के नाश में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव हेतु होते हैं। वहाँ जिनेन्द्र बिम्ब आदि तो द्रव्य हैं, समवसरण आदि क्षेत्र हैं, अर्ध पुद्गल परिवर्तन विशेष काल है, अध प्रवृत्तिकरण आदि भाव हैं। उस मोहनीय कर्म का अभाव होने पर ही उपशमादि की प्रतिपत्ति होती है। दूसरे प्रकारों से उन उपशम आदि के होने का अभाव है।

कारणों की कथंचित् मुख्यता

'णइसग्गियमवि पढमसम्मत्तं तच्चट्ठे उत्त त हि एत्थेव दट्ठव्व, जाइस्सरण-जिणबिबदंसणेहि विणा उप्पजमाणणइसग्गियपढमसम्मत्तस्स असभवादो।'

तत्त्वार्थसूत्र में नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्व का भी कथन किया गया है। उसका भी पूर्वोक्त कारणों से उत्पन्न हुए सम्यक्त्व में ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। क्योंकि जातिस्मरण और जिनबिब दर्शन के बिना उत्पन्न होने वाला नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्व असभव है।

प्रश्न—जिनबिम्ब दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किस कारण से है?

उत्तर—जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप मिथ्यात्वादि कर्मकलाप का क्षय देखा जाता है। प्रारम्भ के तीन नरकों में जातिस्मरण, धर्मश्रवण और वेदनाभिभव ये तीन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्य साधन हैं। यद्यपि नारकियों के विभगज्ञान होने से उन सब को यथासभव पूर्वभवों का स्मरण होता है। किन्तु यहाँ पर पूर्वभवों का स्मरणमात्र प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का साधन नहीं है किन्तु पूर्वभव में धार्मिक बुद्धि से जो अनुष्ठान किये थे वे विफल क्यों हुए इसे जानकर जो आत्म-निरीक्षण कर जीवादि नौ पदार्थों के मनपूर्वक अपने उपयोग को/आत्मा को आत्मा में युक्त करते हैं उनके जातिस्मरण, सम्यक्त्व की उत्पत्ति में बाह्यसाधन है। धर्मश्रवण पूर्वभव के स्नेही सम्यग्दृष्टि देवों के निमित्त से होता है क्योंकि वहाँ ऋषियों का जाना संभव नहीं है। यहाँ पर वेदनाभिभव को प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का तीसरा बाह्य साधन कहा है। उसे ऐसा समझना चाहिए कि वेदनासामान्य प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का बाह्य साधन नहीं है किन्तु जिनका ऐसा उपयोग होता है कि यह वेदना इस मिथ्यात्व तथा असयम के सेवन से उत्पन्न हुई है उनके वह वेदना सम्यक्त्व की उत्पत्ति का साधन होता है। अन्त के चार नरकों में मात्र जाति-स्मरण और वेदनाभिभव ये दो ही प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्य साधन हैं। यहाँ सम्यक्त्व की उत्पत्ति का बाह्य साधन धर्मश्रवण सभव नहीं, क्योंकि इन नरकों में एक तो देवों का गमनागमन नहीं होता। दूसरे वहाँ के नारकियों में भव के सम्बन्धवश या पूर्व के वैरवश परस्पर में अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव नहीं पाया जाता। अत वहाँ उक्त दो ही प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के निमित्त हैं।

तिर्यञ्चों में प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्य साधन तीन हैं—जातिस्मरण, धर्मश्रवण और

जिनबिम्बदर्शन। ये ही तीन मनुष्यों में प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्य साधन हैं। किन्हीं मनुष्यों को जिनमहिमा देखकर प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। पर इसे अलग से चौथा साधन मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसका जिनबिम्बदर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है। कदाचित् किन्हीं मनुष्यों को लब्धिसम्पन्न ऋषियों के देखने से भी प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। पर इसे भी अलग से साधन मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसका जिनबिम्बदर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है। सम्मेदाचल, गिरनार, चम्पापुर और पावापुर आदि का दर्शन भी जिनबिम्बदर्शन में ही गर्भित है क्योंकि वहाँ भी जिनबिम्बदर्शन तथा मुक्तिगमन सम्बन्धी कथा का सुनना या कहना आदि के बिना प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती।

देवों में भी भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिषी और बारहवें कल्पतक के कल्पवासी देवों में प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के चार मुख्य साधन हैं—जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन और देवर्द्धिदर्शन। जिनमहिमादर्शन जिनबिम्बदर्शन के बिना बन नहीं सकता, इसलिए जिनबिम्बदर्शन में ही गर्भित है। यद्यपि जिनमहिमादर्शन में स्वर्गावतरण और जन्माभिषेकादि गर्भित हैं, पर इनमें जिनबिम्बदर्शन नहीं होता, इसलिए यह कहा जा सकता है कि जिनमहिमादर्शन के साथ जिनबिम्बदर्शन का अविनाभाव नहीं है सो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वहाँ भी ये आगामी काल में साक्षात् जिन होने वाले हैं ऐसा बुद्धि में स्वीकार करके ही उक्त कल्याणक किये जाते हैं, अतः इन कल्याणकों में भी जिनबिम्बदर्शन बन जाता है अथवा ऐसे कल्याणकों को निमित्तकर जो प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे जिनगुणश्रवणनिमित्तक समझना चाहिए। देवर्द्धिदर्शन, जातिस्मरण से भिन्न साधन है क्योंकि अपनी-अपनी अणिमादि ऋद्धियों को देखकर ऐसा विचार होता है कि ये ऋद्धियां जिनदेव द्वारा उपदिष्ट धार्मिक अनुष्ठान के फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं। जातिस्मरण स्वरूप होने से इसके निमित्त से उत्पन्न हुआ प्रथम सम्यक्त्व जातिस्मरण निमित्तक है और ऊपर के देवों की महाऋद्धियों को देखकर जो ऐसा विचार करता है कि इन देवों के ये ऋद्धियाँ सम्यग्दर्शन से युक्त संयमधारण के फलस्वरूप उत्पन्न हुई हैं और मैं सम्यग्दर्शन से रहित द्रव्यसंयम पालकर वाहन आदि नीच देवों में उत्पन्न हुआ हूँ, उस जीव के ऊपर के देवो की ऋद्धि को देखकर उत्पन्न हुए प्रतिबोध से जो प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है वह देवर्द्धिदर्शननिमित्तक प्रथम सम्यक्त्व है। इस प्रकार जातिस्मरण और देवर्द्धिदर्शन इन दोनों में अन्तर है। दूसरे, जातिस्मरण देवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर ही होता है और देवर्द्धिदर्शन कालान्तर में होता है, इसलिए भी इन दोनों में अन्तर है। आनतकल्प से लेकर अच्युतकल्प तक के देवों में देवर्द्धिदर्शन को छोड़कर प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पूर्वोक्त तीन साधन हैं। एक तो इन देवों में ऊपर के महर्द्धिक देवों का आगमन नहीं होता। दूसरे वहीं के देवों के महर्द्धि को बार-बार देखने से उन्हें आश्चर्य नहीं होता तथा तीसरे वहाँ शुक्ललेश्या होने से उनके सक्लेशरूप परिणाम नहीं होते इसलिये वहाँ देवर्द्धिदर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का साधन स्वीकार नहीं किया गया है। नौ ग्रैवेयकवासी देवों में

प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के दो साधन हैं—जातिस्मरण और धर्मश्रवण। यहाँ ऊपर के देवों का आगमन नहीं होता, इसलिए देवर्द्धिदर्शन साधन नहीं है। नन्दीश्वर द्वीप आदि में इनका गमन नहीं होता, इसलिए वहाँ जिनबिम्बदर्शन साधन भी नहीं है। वहाँ रहते हुए वे अवधिज्ञान के द्वारा जिनमहिमा को जानते हैं, इसलिए भी उनके जिनमहिमादर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का बाह्यसाधन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे विस्मय को उत्पन्न करने वाले राग से मुक्त होते हैं, इसलिए उन्हें जिनमहिमा देखकर विस्मय नहीं होता। उनके अहमिन्द्र होते हुए भी उनमें परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव होने से उनमें धर्मश्रवण प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का बाह्यसाधन स्वीकार किया गया है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पत्ति में कारण

क्षायिक अनन्त सम्यक्त्व आत्मा का स्वभाव होने पर भी मोहनीय कर्म के कारण वह शुद्धावस्था में प्रकट नहीं होता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए विशेप भावशुद्धि की आवश्यकता होती है। उस भावविशुद्धि के लिए विशिष्ट बाह्यनिमित्त की आवश्यकता होती है। बिना विशिष्ट बाह्यनिमित्त क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता है। बिना क्षायिक सम्यग्दर्शन क्षपक श्रेणी आरोहण नहीं हो सकता है। बिना क्षपक श्रेणी आरोहण घाति-कर्म-रूपी विशिष्ट पापकर्मों का निर्मूलन नहीं हो सकता है। बिना घातिकर्म क्षय हुए अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से बाह्यनिमित्त केवल लौकिक कार्य सम्पादन के लिए योगदान नहीं देता है परन्तु अलौकिक आध्यात्मिक कार्य सम्पादन के लिए भी योगदान देता है। जयधवल सिद्धान्तशास्त्र में मूल आगम के अंशज्ञाता भगवत् गुणभद्राचार्य ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिए जिन-जिन निमित्तों की आवश्यकता होती है उनका वर्णन किया है—

> दसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो दु।
> णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ॥११०॥

इस गाथा द्वारा 'दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है' इस विपय का निश्चय किया गया है क्योंकि अकर्म-भूमिज मनुष्य के दर्शनमोह की क्षपणा करने की शक्ति का अत्यन्त अभाव होने के कारण वहाँ उसका निपेध किया गया है। इसलिए शेष गतियों में दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रतिषेध होने से मनुष्यगति में ही विद्यमान जीव दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ करता है। मनुष्य भी कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ ही होना चाहिए, अकर्मभूमि में उत्पन्न हुआ नहीं। कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ मनुष्य भी तीर्थंकर जिन, केवली जिन और श्रुतकेवली के पादमूल में अवस्थित होकर दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रारम्भ करता है, अन्यत्र नहीं, क्योंकि जिसने तीर्थंकर आदि के माहात्म्य को नहीं अनुभव किया है उसके दर्शनमोहनीय की क्षपणा के कारणभूत कारण परिणामों की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

संवर और निर्जरा के निमित्त

शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से ग्रहण-त्याग से रहित टकोत्कीर्ण विज्ञान घनस्वरूप है। तथापि व्यवहारनय की अपेक्षा जीव के आस्रव-बंध सहित होने से अनन्तानन्त कर्मरूप परिणत पुद्गल परमाणु जीव में सश्लेष रूप से, गाढ रूप से परिणत हुए हैं। स्वरूप को प्राप्त करने के लिए जीव को बंधन में डालनेवाले कर्मो का सपूर्ण रूप में आत्मा से पृथक् होना अनिवार्य है। सम्पूर्ण रूप से कर्म का निष्कामन करना सरल, सहज, साध्य नहीं है, अतएव पूर्ण स्वतंत्रता के लिए एव कर्म की शक्ति क्षीण करने के लिए आनेवाले कर्मो को रोकना एव बंध हुए कर्मो को धीरे-धीरे निकालना आवश्यक है। इसी क्रिया को क्रमश सवर और निर्जरा कहते हैं। जिन भावों से कर्मो का आस्रव एव बंध हो रहा था उसके विपरीतभाव से संवर एव निर्जरा होती है। जिस भाव से संवर एव निर्जरा होती है उसको भावसवर एवं भावनिर्जरा कहते हैं। उसके फलस्वरूप जो द्रव्यकर्म का निरोध एव निष्कासन होना है उसको द्रव्यसवर एव द्रव्यनिर्जरा कहते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने बृहदद्रव्यसग्रह में किया है—

जो चेतना का परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है उसको निश्चय से भावसवर कहते हैं और जो द्रव्याश्रव को रोकने में कारण है वह द्रव्यसवर है।[३२]

पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहों का जय तथा अनेक प्रकार का चारित्र इस प्रकार ये सब भावसवर के भेद जानने चाहिए।[३३]

कर्मबध से, शिष्य आदि में मोह निमित्त से या सघ में मोह के कारण जीव में राग-द्वेष आदि उत्पन्न हो जाते हैं। राग-द्वेष आदि के लिए कारणभूत कर्मो के अभाव से उन दोषों का प्रादुर्भाव नहीं होता है। कारण के न होने से मिथ्यात्व असयम कषाय और योग से होनेवाले जीव के परिणाम निर्मूलत क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, क्योकि वे अपनी उत्पत्ति के कारण के बिना आश्रय रहित हो जाते हैं। जैसे कारण के अभाव में बीज अकुर उत्पन्न नहीं करता है। बीज के अकुर की उत्पत्ति के लिए निमित्त पृथ्वी, जल, हवा और सूर्य की किरणें हैं। इनके अभाव में या विपरीत स्थान पर पडा हुआ बीज जैसे नष्ट हो जाता है वैसे ही उक्त विषय में समझना।[३४]

जिन कारणों के होने पर जो दोष उत्पन्न होते हैं उन कारणों के अभाव में उनके फलभूत दोषों की उत्पत्ति नहीं होती है, जैसे अपने लिए कारणभूत सामग्री के अभाव में बीज की अंकुर रूप से उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए उत्पत्ति के कारणों के न होने से आश्रय रहित राग-द्वेष आदि दोष नष्ट हो जाते हैं।

क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय हेतु हैं। इन लोभादिकों के होने पर ही परिग्रहादि कार्य होते हैं। अत इन हेतुओं के नष्ट हो जाने पर परिग्रह आदि (सज्ञाएँ) भी नष्ट हो जाती हैं। प्रमत्त नामक छठे गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त सभी साधुओं को इन हेतुओं का विनाश

करना चाहिए, क्योंकि लोभ आदि कषायों के न रहने पर परिग्रह आदि की इच्छा नहीं होती। ये मूर्च्छा आदि परिणाम ही परिग्रह हैं, इन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।[३५]

अत हेतु कारण प्रत्यय है, परिग्रह आदि कार्य हैं। हेतु के नहीं रहने पर उन सब कार्यों का भी अभाव हो जाता है। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव अवश्यम्भावी है, इसलिए कारणों का नाश करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

मोक्षप्राप्ति के लिए निमित्त

द्रव्यदृष्टि से प्रत्येक जीव सिद्ध, बुद्ध, निष्कलक, नित्यमुक्त होने पर भी, पर्यायदृष्टि से कर्मबधन से बद्ध होने के कारण ससारावस्था में स्वाभाविक स्वाधीनता को खोकर परतत्र दु ख का अनुभव कर रहा है। स्वाधीन स्वतत्र सुख प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण कर्मरूपी बधन से मुक्त होना अत्यत अनिवार्य है। सम्पूर्ण कर्मबधन से मुक्त होने पर ही पूर्ण रूप से शुद्ध स्वभाव की उपलब्धि होती है। इष्टोपदेश में कहा भी है कि—जिस सिद्ध मुक्त परमात्मा को सम्पूर्ण कर्म के नष्ट हो जाने पर अपने आप अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो गयी। कर्म नष्ट करने के लिए योग्य उपादान एवं योग्य निमित्त की नितान्त आवश्यकता है।

आत्मा स्वय अपना शुद्ध स्वरूप किस प्रकार प्राप्त कर लेता है, इस बात को ग्रन्थकार दृष्टात सहित बतलाते हैं—

योग्योपादानयोगेन दृषद वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसपत्तावात्मनोप्यात्मता मता॥२॥

कार्य दो प्रकार के कारणों से होता है—१-उपादान कारण से, २-निमित्तकारण से। जो कारण स्वयं कार्यरूप बनता है, वह उपादान कारण होता है। उपादान कारण के सिवाय दूसरे कारण जो कार्य बनने में सहायता करते है, वे निमित्त कारण होते हैं। जैसे-खान में सोने का पत्थर (सुवर्णपाषाण) तभी शुद्ध सोना बनता है जब उसे सोना बनने योग्य आस-पास के सहायक कारणों का सयोग मिलता है। खान से निकला हुआ सुवर्णपाषाण उपादान कारण है एव उसको शुद्ध करने वाले सुनार आदि निमित्त कारण है। इसी प्रकार ससारी आत्मा भी शुद्ध परमात्मा तभी बनता है जब उसको मुक्त होने के योग्य द्रव्य (कुलीन मनुष्य), क्षेत्र (कर्मभूमि), काल (दु षमा सुषमाकाल), भाव (क्षपक श्रेणी के योग्य अपने सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र भाव) प्राप्त होते हैं। मुक्त होने में ससारी आत्मा उपादान कारण होता है और मनुष्यभव, वज्रऋषभनाराचसंहनन, कर्मभूमि, चौथा-काल आदि निमित्त कारण हैं। दोनों तरह के समस्त कारण मिलने पर ही मुक्तिरूप शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है।

उवसतखीणमोहो मग्ग जिणभासिदेण समुपगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो॥७०॥ (पचास्तिकाय)

जो (पुरुष) जिनवचन द्वारा मार्ग को प्राप्त करके उपशातक्षीण मोह होता हुआ (अर्थात् जिसे दर्शनमोह का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हुआ है ऐसा होता हुआ) ज्ञानानुमार्ग में विचरता है (ज्ञान का अनुसरण करने वाले मार्ग में वर्तता है), वह धीर पुरुष निर्वाणपुर को प्राप्त होता है।

वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग को प्राप्त करता है अर्थात् अच्छी तरह समझता हुआ कोई भव्यों में मुख्य प्राणी निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान को या ज्ञान के आधारभूत शुद्ध आत्मा को अपने लक्ष्य या आश्रय में लेकर उसी के अनुकूल निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग पर चलता हुआ तथा उपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम तथा क्षायिक सम्यक्त्व को पाता हुआ और परम धीरवीर होकर घोर उपसर्ग के सहने के समय में भी निश्चय रत्नत्रयमयी समाधि को पांडवादि की तरह न त्यागता हुआ, मोह का सर्वथा क्षय करके अव्याबाध सुख आदि अनन्तगुण समूह रूप तथा शुद्धात्मा के लाभरूप निर्वाणनगर को चला जाता है।

"मोक्षस्याप्ति परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव सम्भवात्" (अष्ट स)

मोक्ष की प्राप्ति भी परमपुण्य अतिशय एवम् विशेष चारित्रात्मक पुरुषार्थ से सभव होती है।

उपर्युक्त आगमोक्त सिद्धान्त से सिद्ध होता है कि जीव के शुद्ध स्वभाव की अभिव्यक्ति अन्तरग उपादान कारण एव योग्य बाह्य निमित्त कारणों के योगदान से ही संभव होती है।

निकट भव्य जीवों के लिए तीर्थङ्कर भगवान एक उत्कृष्ट प्रबल निमित्त है। इनके पादमूल का निमित्त प्राप्त करके भव्य जीव मुहूर्त मात्र में ही ससाररूप सागर को पार कर सकता है। चरणानुयोग के प्राचीनतम ग्रथ मूलाराधना में आचार्य शिवकोटि ने निम्न प्रकार वर्णन किया है—

आराधनाऐ तत्थ दु कालस्स बहुत्तण ण हु पमाण।
बहवो मुहूतमत्ता ससारमहण्णव तिण्णा॥२०२६॥

शका—अल्प समय में मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है?

समाधान—अनेक भव्यात्मा मुहूर्त मात्र में आराधना कर संसार समुद्र से उत्तीर्ण हो गये हैं। आराधना का समय अधिक ही होना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। ऋषभनाथ भगवान से शांतिनाथ भगवान तक सोलह तीर्थंकरों की जिस दिन दिव्य ध्वनि हुई, बहुत से मुनियों को केवलज्ञान और निर्वाण अतमुहूर्त में प्राप्त हुआ।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव देशनालब्धि के बिना सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थंकर का पादमूल प्राप्त कर प्रथमोपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, संयम को प्राप्त करके, क्षपक श्रेणी आरोहण करके मुहूर्त मात्र में सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है।

तीर्थंकर के पादमूल के बिना अनादि मिथ्यादृष्टि उपरोक्त कार्य नहीं कर सकता है।

तीर्थङ्कर प्रकृति के बंध के निमित्त

जिस कर्म के बन्ध होने पर अधिक से अधिक तीन भव ही रह जाते हैं, जिस कर्म के बंध के बाद संसार अत्यन्त अल्प रह जाता है और जिसके प्रभाव से मोक्षमार्ग अर्थात् धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तन होता है तथा तीन लोक में, तीन काल में जो अद्वितीय पुण्यकर्म है उसके बंध के लिए भी उत्कृष्ट निमित्त चाहिए। कहा भी है—

पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादि चत्तारि।
तित्थयर बध पारभया णरा केवलि दुगंते॥९३॥ (गोम्मटसार कर्मकाण्ड)

प्रथमोपशम अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में तथा क्षायोपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्व में असंयत से अप्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति के बध का प्रारम्भ केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में करते हैं।

भव्यत्व की अभिव्यक्ति के लिए निमित्त

स्वभावत शक्ति रूप से प्रत्येक जीव भगवान होने पर भी व्यक्तिकरण (प्रकट), अव्यक्तिकरण (अप्रकट) आदि दृष्टिकोण से ससारी जीव है जिसके अनेक भेद हो जाते हैं। यथा (१) भव्य, (२) निकट-भव्य, (३) दूरान्दूर भव्य (अभव्य समभव्य) (४) अभव्य।

भव्य—'सम्यग्दर्शनादि भावेन भविष्यतीति भव्य अर्थात् जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रगट होने की योग्यता है वह भव्य है। जो भावीकाल में भगवान बनने वाला है या भावी भगवान को भव्य कहते हैं।

निकट-भव्य—जो अति निकट भविष्यत् काल में भगवान बनने वाला है वह आसन्नभव्य या निकटभव्य है।

दूर-भव्य—जो सुदूरभावी काल में भगवान बनने वाला है, वह दूरभव्य है।

जो उस वचन (केवली भगवान का सुख सर्व सुखों में उत्कृष्ट है) को उसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते हैं वे शिवश्री के भाजन आसन्नभव्य हैं और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूरभव्य हैं।

दूरान्दूर भव्य (अभव्यतुल्य भव्य)—जिसमें भव्यत्व शक्ति होते हुए भी (एक काल में योग्य संपूर्ण बाह्य निमित्तों के सयोग के अभाव में) अनत भविष्यत् काल में भी भव्यत्व शक्ति का व्यक्तिकरण नहीं होता है उसे दूरान्दूर भव्य कहते हैं। राजवार्तिक में अध्याय २ के सूत्र ७

में कहते हैं—

प्रश्न—योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यत्यसावभव्य एवेति चेत्। जो अनन्त काल में भी सिद्ध नहीं होगा उसको अभव्य कहना चाहिए?

उत्तर—न, भव्यराश्यन्तर्भावात्। नहीं, क्योंकि उनका भव्यराशि में अन्तर्भाव होता है।

शका—स्यादेतत्, अनन्तकालेनापि यो न सेत्स्यत्यसौ अभव्य तुल्यत्वादभव्य एव। अथ सेत्स्यति सर्वो भव्य, तत उत्तरकाल भव्य शून्य जगत् स्यादिति? जो अनन्तानन्त काल में मोक्ष प्राप्त नहीं करेगा वह अभव्यतुल्य होने से अभव्य ही है। यदि सर्व भव्य मोक्ष में चले जायेंगे तो उतरकाल में जगत् भव्यों से शून्य हो जायेगा?

समाधान—तन्न, किं कारणम्? भव्यराश्यन्तर्भावात्। यथा योऽनन्त कालेनापि कनकपाषाणो न कनकी भविष्यति न तस्यान्धपाषाणत्व कनकपाषाणशक्तियोगात्, यथा वा आगामिकालो योऽनन्तेनापि कालेन नागमिष्यति न तस्यागमित्व हीयते, तथा भव्यस्यापि स्वशक्तियोगाद् असत्यामपि व्यक्तौ न भव्यत्वहानि।

ऐसा नहीं है, क्योंकि कभी भी मोक्ष में नहीं जाने वालों का भी भव्यराशि में अन्तर्भाव होता है। जैसे कि उस कनक-पाषाण को जो कभी भी सोना नहीं बनेगा, अन्धपाषाण नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें कनकपाषाणत्व शक्ति की योग्यता है। अथवा, आगामी काल को जो अनतकाल में भी नहीं आयेगा अनागामी नहीं कह सकते, उसी प्रकार सिद्धि व्यक्त न होने पर भी भव्यत्व शक्ति की योग्यता से भव्य को अभव्य नहीं कह सकते। वह भव्यराशि में ही शामिल है।

अभव्य—जो अनत भविष्यत् काल में भी अभिव्यक्ति रूप से भगवान नहीं बन सकता है वह अभव्य है। अर्थात् भव्य से विपरीत अभव्य है, जो कभी भी ससार को पार कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता है।

भव्य जीव गर्भधारण शक्तियुक्त सधवा स्त्री के समान है। जैसे अबन्ध्या स्त्री योग्य पुरुष के सयोग से गर्भधारण करती है, उसी प्रकार भव्य जीव भव्यत्व शक्तिसयुक्त होते हुए योग्य काललब्धि, गुरु उपदेशादि निमित्तों को प्राप्त करके सम्यग्दर्शनादि की अभिव्यक्ति कर लेता है। अभव्य जीव बन्ध्या के समान होते हैं। जैसे बन्ध्या स्त्री जितने भी पुरुषसयोग करे तो भी गर्भधारण नहीं कर सकती है उसी प्रकार अभव्य जीव को कितने भी बाह्य निमित्त उपलब्ध होने पर भी सम्यग्दर्शनादि की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। दूरान्दूर भव्य गर्भधारण शक्तियुक्त विधवा सती स्त्री के समान होता है, जैसे विधवा-अबन्ध्य सती स्त्री को पुरुष सयोग उपलब्धि नहीं हो सकती है जिससे वह गर्भधारण नहीं कर सकती है उसी प्रकार दूरान्दूर भव्य में भव्यत्व शक्ति होते हुए भी योग्य बाह्य सम्पूर्ण निमित्त कारणों का समवाय नहीं होने से उसकी भव्यत्वशक्ति प्रकट नहीं होती है। निकट भव्य अबन्ध्या ऋतुमति सदृश विवाहित वधू के समान है जो कि

योग्य पुरुष के निकट भविष्य में गर्भधारण करेगी, इसी प्रकार निकटभव्य भी निकट भविष्यत् काल में योग्य काललब्धि, गुरूपदेशादि को प्राप्त करके रत्नत्रय को प्रकट करेगा।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र शक्तिरूप में प्रत्येक जीव में होते हुए भी व्यक्तिरूप में अभव्य जीव को प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् द्रव्यदृष्टि से उपादान होते हुए पर्यायदृष्टि से अभव्य को रत्नत्रय की उपलब्धि नहीं होती है। अत उपादान द्रव्यदृष्टि के होने पर ही कार्य-सम्पादन हो ऐसा नियम नहीं है। उसी प्रकार केवल निमित्त से उपादान के बिना भी कार्य नहीं हो सकता है। राजवार्तिक में भव्यत्व और अभव्यत्व शक्ति की अपेक्षा स्वीकार न करके अभिव्यक्ति की अपेक्षा स्वीकार किये हैं—

'न सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशक्तिभावाभावाभ्या भव्याभव्यत्व कल्प्यते। कथ तर्हि ? सम्यक्त्वादि व्यक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वमिति विकल्प कनकेतर पाषाणवत्॥९॥ यथा कनकभावव्यक्तियोगमवाप्स्यति इति कनकपाषाण इत्युच्यते तदभावादन्धपाषाण इति। तथा सम्यक्त्वादिपर्यायव्यक्तियोगार्हो य स भव्य तद्विपरीतोऽभव्य इति चोच्यते।'

भव्यत्व और अभव्यत्व विभाग ज्ञान, दर्शन और चारित्र की शक्ति के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा नहीं है तो फिर किस आधार से यह विकल्प कहा गया है ?

शक्ति को प्रकट होने की योग्यता और अयोग्यता की अपेक्षा है। जैसे जिसमें सुवर्ण पर्याय के प्रकट होने की योग्यता है वह कनकपाषाण कहा जाता है और अन्य अन्धपाषाण। उसी तरह सम्यग्दर्शनादि पर्यायों की अभिव्यक्ति की योग्यता वाला भव्य तथा अन्य अभव्य हैं।

उपर्युक्त आगमसिद्ध तर्कबद्ध, अनुभवगम्य और प्रत्यक्ष अविरुद्ध सिद्धान्त एव दृष्टान्तों से सिद्ध होता है। प्रत्येक जायमान कार्य योग्य सहकारी उपादान कारणों के सद्भाव से एव विरुद्ध कारणों के अभाव से होता है। बिना कारण कार्य की उत्पत्ति असभव है। सिद्धान्तशास्त्र कषायपाहुड में कहा भी है—ण च कारणेण विणा कज्जमुप्पज्जइ, सव्वकालं सव्वस्स उप्पत्ति-अणुप्पत्तिप्पसगादो। अर्थात् कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो सर्वदा सभी कार्यों की उत्पत्ति अथवा अनुत्पत्ति का प्रसग प्राप्त होता है।

आधुनिक वैज्ञानिक लोग भी कार्य-कारण सबध को पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं। वे तो अनेक शोध-बोध-आविष्कार-निर्णय कार्य-कारण सबध से ही सिद्ध करते हैं। जैसे प्रत्येक द्रव्य की गति के लिए माध्यम चाहिए। प्रकाश भी पुद्गल की पर्याय विशेष होने से वैज्ञानिक उसकी गति के लिए माध्यम की आवश्यकता को अनुभव करते थे। परन्तु भौतिक वैज्ञानिक साधनों से एव इन्द्रियों से उस माध्यम का शोध-बोध नहीं होने से वैज्ञानिकों ने कार्य कारण सबध, तर्क और अनुमान से उस माध्यम का शोध किया जिसका नाम ईथर रखा गया है। कहने का तात्पर्य है कि जहाँ कार्य हो वहाँ कारण की आवश्यकता अनिवार्य है। महामेधावी आइनस्टीन ने भी प्रत्येक कार्य के लिए ४ आयामवाला सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। द्रव्य, गति, अवकाश

(आकाश या क्षेत्र) और काल या समय।

अन्त में कुछेक उदाहरण देकर योग्य उपादान-निमित्त के सद्भाव-असद्भाव और उनके परिणामों पर विचार किया जा रहा है—

(१) बीज में अंकुर होने की शक्ति होने पर भी जब तक योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव (परिस्थिति) नहीं मिलेगा तब तक बीज अकुरित नहीं हो सकता है। एक योग्य बीज को निर्वात (वायु, जल शून्य) पेटी में रखा जायेगा तब वह बीज अकुरित नहीं हो सकता है। अकुर शक्ति रहित बीज योग्य जल-वायु आदि मिलने पर भी अकुरित नहीं होगा।

(२) चावल में भात होने की उपादान शक्ति होने पर भी अग्नि जलादि बाह्य निमित्त पानी, अग्नि, पात्र आदि का सयोग हुए बिना उपादान शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होगी जिसके कारण चावल भातरूप पर्याय को प्राप्त नहीं कर सकता है।

(३) मूग में पक्व होने की उपादान शक्ति होने पर भी अग्नि जलादि बाह्य निमित्त के संयोग बिना उपादान शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होगी जिससे मूग पक्व रूप परिणत नहीं हो सकता है। भट्रा (ठर्रा) मूग को पानी, अग्नि आदि का पूर्ण बाह्य निमित्त उपलब्ध होने पर भी वह पक्व नहीं होता है क्योंकि उसमें पक्व होने रूप उपादान शक्ति का अभाव है।

(४) आटा में रोटी बनने की उपादान शक्ति होने पर भी जब तक बाह्य अग्नि जलादि निमित्त नहीं मिलते हैं तथा बनाने वाला योग्य रीति से नहीं बनाता है तब तक वह आटा रोटी रूप में परिणमन नहीं करता है। यदि ऐसा माना जाये तो आटा बर्तन में रखा हुआ भी रोटी बन जायेगा।

(५) तिल में तेल होने पर भी जब तक तेल निकालने वाला कोल्हू या तेल-मशीन में डालकर पेरता नहीं है तब तक तेल नहीं निकलता है। बालू में तेल नहीं होने से बालू को कितना भी यत्नपूर्वक पीसा जाये तो भी उसमें से तेल नहीं निकलता है।

(६) एक ही कक्षा में एक ही गुरुजी के अनेक विद्यार्थी होते हैं। गुरुजी के समान पढाने पर भी एक विद्यार्थी अत्यन्त दक्ष हो जाता है किन्तु कुछ विद्यार्थी मध्यम श्रेणी में तथा कुछ जघन्य स्थान को प्राप्त होते हैं और कुछ अनुत्तीर्ण भी हो जाते हैं। इसी प्रकार के वैषम्य का कारण उपादान शक्ति का तारतम्य है। यह तो हुई उपादान दृष्टि। परन्तु जब हम व्यवहारदृष्टि से देखेंगे तो विद्यार्थी जो विद्या-अध्ययन कर रहे हैं उसमें अपनी उपादान शक्ति के साथ-साथ बाह्य गुरुजी, पुस्तक, जल, वायु, प्रकाश, वातावरण परिस्थिति का भी योगदान रहता है। कुछ अलौकिक विभूतियों का अपवाद उदाहरण को छोडकर उत्सर्ग मार्ग में जो साधारण जन शिक्षा, दीक्षा, विद्या, कला आदि सीखते हैं उसके लिए गुरु, तदनुकूल उपकरण आदि की परमावश्यकता है। यदि बाह्य निमित्त की आवश्यकता

नहीं होती तो स्कूल कॉलेज, विश्वविद्यालय, शिक्षणसस्था, गुरुओं आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती। परन्तु देखा जाता है कि क्या लौकिक, क्या पारमार्थिक दोनों क्षेत्रों में विद्यादि प्राप्ति के लिए गुरु आदि की आवश्यकता पडती है।

७) रोग की उत्पत्ति पूर्वोपार्जित पापकर्म के उदय से होती है। पापकर्म के साथ-साथ अयोग्य आहार-विहार, बाह्य वातावरण का भी योगदान रहता है क्योंकि कर्म का उदय भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लेकर होता है। रोग का उपशमन पापकर्म के उपशमन से होता है। यह अतरंग उपादानकारण है। यदि तीव्र पापकर्म का उदय है तब बाह्य औषधादि का प्रभाव नहीं होता है। किन्तु जब पापकर्म का उपशमन होता है तब बाह्य औषधादि उपचार से रोग उपशमन हो जाता है।

(८) क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से भूख लगती है। क्षुधावेदनीय कर्म के उपशम से क्षुधा का उपशम और क्षय से पूर्णरूप से क्षुधा का क्षय हो जाता है। परन्तु जब तक ससारावस्था में क्षुधावेदनीय कर्म का पूर्ण उपशमन नहीं होता है तब तक ससारी जीव विशेषत नर एवं तिर्यञ्च क्षुधा का उपशमन करने के लिए भोजन रूपी बाह्य निमित्त का सेवन करते हैं। यदि केवल उपादान से ही कार्य मानकर दीर्घकाल तक कवलाहारी जीव भोजन नहीं करेंगे तब तो शारीरिक शक्ति क्षीण होने के साथ आयु क्षीण होने की भी सभावना है।

(९) जिनके चक्षु-इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम नहीं है ऐसे एकेन्द्रिय से लेकर त्रीन्द्रिय तक जीव बाह्य उपकरण से भी पदार्थ का ज्ञान नहीं कर सकते हैं। जिसके अतरंग चक्षु इन्द्रिय का क्षयोपशम होने पर भी चक्षुइन्द्रिय रूपी उपकरणों का अभाव है या खराबी है तो भी वह नहीं देख सकता है, जैसे अधा व्यक्ति। जिसकी दृष्टि शक्ति कुछ क्षीण हो गयी हो वह वस्तु को स्पष्ट रूप से नहीं देख सकता है। परन्तु योग्य प्रतिचक्षु (चश्मा) के माध्यम से स्पष्ट देखता है परन्तु दृष्टिशक्ति पूर्ण क्षीण होने पर कितने भी शक्तिशाली चश्मे या सूक्ष्मदर्शक या दूरदर्शक यत्र से भी नहीं देख सकता है। इससे सिद्ध होता है कि अन्तरग कारण एव बहिरंग कारण की नितान्त आवश्यकता होती है।

(१०) गाडी में गमन करने की शक्ति (क्रियावती शक्ति) होने पर भी तद्योग्य ईंधन (कोयला, पेट्रोल, विद्युत, वाष्पादि) के अभाव में गाडी नहीं चल सकती है। यदि बिना ईंधन गाडी क्रियावती शक्ति से चलती है तब गाडी को चलाने के लिए पेट्रोलादि की आवश्यकता क्यों होती? चलती हुई गाडी ईंधन के समाप्त होने पर क्यों रुकती? गाडी चलाने के लिए ईंधन क्यों डालते? रास्ता आदि जगल में पेट्रोलादि ईंधन के समाप्त होने पर गाडी केवल क्रियावती शक्ति से नहीं चलती है इसलिए तो अधिक पेट्रोल लेकर यात्रा प्रारम्भ करते हैं। ईंधन आदि समाप्ति के पूर्व ही ईंधनादि अधिक सग्रहीत करके रखा जाता है।

(११) कर्मोदय से बाह्य वातावरण के अनुसार ठंडी-गर्मी की अनुभूति होती है। उससे बचने के लिए तद्योग्य वातानुकूल आवास स्थान, पोषक आहार, पानी का सेवन करते हैं। यदि निमित्त का कोई प्रभाव नहीं होता तब उपरोक्त योग्य सामग्री की भी आवश्यकता नहीं होती। लज्जादि निवारण करने के लिए या सौन्दर्य को निखारने के लिए भी वस्त्रों का प्रयोग करते हैं।

(१२) रेडियो, टी वी, टेलीफोन आदि केन्द्र से सवाद आदि का सप्रेषण होता है। वे तरंगें क्षिप्र गति से आकाश में फैलती जाती हैं, अनेक जीवों के शरीर ऑख, कान को टकराती हुई आगे-आगे बढती जाती है। दूरस्थ व्यक्ति उन तरंगों को ग्रहण नहीं कर पाता है किन्तु रेडियो, टी वी आदि रिसीवर के माध्यम से तरगों को ग्रहण करने में सक्षम होता है। उपादान रूप मे तरगें होते हुए भी योग्य बाह्य निमित्त के अभाव से स्पष्ट व्यक्तिकरण नहीं होता है परन्तु रेडियो, टी वी आदि से तरगें स्पष्टीकरण एवं व्यक्तिकरण होने पर सवाद, गाना, चित्र, खेल, नाटक आदि देखने एवं सुनने के लिए समर्थ होता है।

(१३) विज्ञान की अपेक्षा जल, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के सम्मिश्रण मे बना हुआ है परन्तु जब तक योग्य सयोग नहीं होगा तब तक जल नहीं बन सकता है। अनुपात में कम-अधिक होने पर भी जल नहीं बनता है।

(१४) विद्युत दीप प्रकाशित या प्रज्वलित होने के लिए विद्युतशक्ति की आवश्यकता होती है। विद्युतशक्ति के अभाव से विद्युत्दीपक प्रज्वलित नहीं होता है। विद्युतशक्ति होते हुए भी टंगस्टनवायर के अभाव में विद्युतदीपक प्रज्वलित नहीं होता है।

(१५) रेडियो आदि केन्द्र से सवाद आदि सप्रेषण होने पर भी एव रेडियों आदि चालू होने पर भी विद्युत आदि शक्ति के अभाव से सवादादि का ग्रहण नहीं हो सकता है। जैसे दिल्ली सैंटर चालू किया है परन्तु उस रेडियों में विद्युत आदि शक्ति का अभाव है तब वह रेडियो उन तरगों को ग्रहण नहीं कर सकता है एव संवर्धन नहीं कर सकता जिससे वह व्यक्ति उस सवाद को नहीं सुन सकता है। इसी प्रकार टी वी आदि में यह सिद्धात लागू होता है।

(१६) जीवन पर्याय को धारण करने के लिए आयुकर्म अतरग कारण है परन्तु योग्य पाणवायु के अभाव से अकाल मरण के योग्य जीवों का अकाल मरण भी सभव है।

(१७) मोक्ष के लिए आत्मा ही उपादान कारण है, परन्तु जब तक वज्रऋषभनाराचसहनन, मनुष्यगति, उच्चगति, भावसयम सहित द्रव्यसंयम, योग्यकाल (चतुर्थादि काल), योग्य क्षेत्र (आर्यादि क्षेत्र, ढाई द्वीप) आदि का सयोग न हो, मोक्ष नहीं हो सकता है।

(१८) चुम्बक आकर्षण शक्तियुक्त होने से योग्य क्षेत्र में स्थित लोहखंड को आकर्षण करता है क्योंकि चुम्बक में आकर्षण की शक्ति है और लोह में आकर्षित होने की शक्ति है। यदि

लोह में आकर्षित होने की शक्ति नहीं होती तब चुम्बक आकर्षण शक्तियुक्त होते हुए भी लोह को आकर्षित नहीं कर सकता था जैसे ईंट, पत्थर, लकडी आदि में आकर्षित होने की शक्ति न होने से चुम्बक उसे आकर्षित नहीं कर सकता। लोहे में आकर्षित होने की शक्ति होने पर भी चुम्बक में आकर्षण की शक्ति नहीं होती तो लोह आकर्षित नहीं होता। जैसे साधारण पत्थर या लोहा में आकर्षित करने की शक्ति न होने से अन्य एक लोहा आकर्षित नहीं होता। दूर चुम्बकीय क्षेत्र के बाह्य में लोह होने पर भी चुम्बक लोह को आकर्षित नहीं कर सकता है। लोह चुम्बकीय क्षेत्र में होने पर बीच में बाधक कारण होने पर (जैसे लकडी, ईंट, पत्थर बीच में आने पर) चुम्बक लोह को आकर्षित नहीं कर सकता है।

(१९) दर्पण में प्रतिबिम्बित करने की शक्ति होने पर भी यदि दर्पण के ऊपर अधिक धूल जम जाती है तब प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दिखाई देता है। दर्पण के पीछे लगा हुआ लेप हटा दिया जाये तो भी प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई नहीं देगा।

(२०) काले, पीले आदि चश्मे के प्रयोग से सफेद वस्तु भी काले-पीले रूप में दिखाई देती है। यह चश्मे रूपी निमित्त का प्रभाव है। मिट्टी, पत्थर आदि का वर्ण पीला नहीं होने पर भी पीलिया रोग के कारण पीलिया रोगी मिट्टी पत्थर को पीला देखता है।

(२१) बीज में अकुर होने की शक्ति होने पर भी योग्य काल के अभाव में अकुर नहीं होता है। जैसे सरसों के अकुरित होने के लिए कुछ घंटे, धनिया को अकुरित के लिए कुछ दिन एव नारियल बीज को अकुरित होने के लिए कुछ महीने (५-६ महीने) लगते हैं।

(२२) कन्या में गर्भधारण की शक्ति होने पर भी ऋतुस्नान के पहले गर्भधारण की शक्ति व्यक्त नहीं होती है।

(२३) चूना का वर्ण सफेद है एव हल्दी का वर्ण पीला है, दोनों के सयोग से लाल वर्ण हो जाता है।

(२४) जीव की योग-उपयोग शक्ति प्राप्त किये विना कर्मवर्गणा कर्मरूप में परिणमन होकर जीव को सुख-दुख देने में असमर्थ रहती है। जीव की योग-उपयोग शक्ति को प्राप्त करके उसमें फल देने की शक्ति संचारित होती है। जीव की योग-उपयोग शक्ति को प्राप्त किये बिना कर्मवर्गणा धूलि एव राख के समान है किन्तु वही कर्मवर्गणा जीव की योग-उपयोग शक्ति को प्राप्त करके विद्युत्शक्ति, बमशक्ति या उससे भी हीनाधिक शक्ति सचार कर जाती है। क्योंकि कर्मवर्गणा में कर्मरूप परिणमन की शक्ति है एवं राग-द्वेष में परिणमाने की शक्ति है। रागद्वेष के अभाव होने से कर्मवर्गणाएँ कर्मरूप परिणमन नहीं करती हैं। सम्पूर्ण लोक में २३ वर्गणाऐ होते हुए भी एव सम्पूर्ण लोक में राग-द्वेष मुक्त संसारी जीव होते हुए भी रागद्वेष के निमित्त को प्राप्त करके भी कर्मवर्गणाओं को

छोडकर अन्य २२ वर्गणाएँ कर्मरूप में परिणमन नहीं करती हैं क्योंकि उनमें कर्मरूप परिणमन करने की योग्यता नहीं है।

उपरोक्त आगम, तर्क, लौकिक वैज्ञानिक सिद्धात एव उदाहरणों से सिद्ध होता है कि लौकिक, पारलौकिक, आध्यात्मिक कार्य सम्पादन करने के लिए योग्य उपादान और निमित्त कारणों की आवश्यकता है।

✧✧✧

१ बाह्येतरोपाधि समग्रतेय कार्येषु ते द्रव्यगत स्वभाव ।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुसा तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्॥ (स्वयभूस्तोत्र)

२ कालोसहाव णियई पुव्वकय पुरिस करणेगता।
मिच्छत्त ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं॥५३॥ (सन्मतिसूत्र)

३ यवस्तु बाह्यगुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतो ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं न॥

४ ण च कारणेण विणा कज्जुमप्पज्जइ। सव्वकाल सव्वस्स उप्पत्ति-अणुप्पत्तिप्प सगादो। (कषायपाहुड)

५ समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् (परीक्षामुख)।६।६३॥

६ ण य गच्छदि धम्मत्थी गमण ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गदिस्सप्पसरो जीवाण पुग्गलाण च॥८८॥ (पचास्तिकाय)

७ "गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार। "—तत्त्वार्थसूत्र ५।१७

८ गइ परिणयाण धम्मो पुग्गल जीवाण गमनसहयारी।
तोयं जह मच्छाण अच्छताणेव सो णेई॥७॥ (द्रव्यसग्रह)

९ 'धर्मास्तिकायाभावात्" —तत्त्वार्थसूत्र

१० गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभाव। तद्भावे च लोकालोकविभागाभव प्रसज्यते (सर्वार्थसिद्धि)

११ न धर्माभावत सिद्धा गच्छन्ति परस्तत।
धर्मो हि सर्वदा कर्ता जीव-पुद्गलयोर्गते॥२२।२॥ (भगवती आराधना)

१२ ठाण जुदाण अधम्मो पुग्गल जीवाण ठाण सहयारी।

छाया जह पीहयाणं गच्छता णेव सो धरई॥ (द्रव्यसंग्रह)

१३ अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयास।

जेण लोगागास अल्लोगागासमिदि दुविहं॥ (द्रव्यसग्रह)

१४ "आकाशस्यावगाह"॥१८॥ (तत्त्वार्थसूत्र, पञ्चम अध्याय)

१५ वत्तणा लक्खणो कालो। (उत्तराध्ययन सूत्र २८ १०)

१६ "वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य"॥२२॥ (तत्त्वार्थसूत्र, पंचम अध्याय)

जीवादि दव्वाण परिवत्तण कारण हवे कालो॥ (नियमसार, ३३)

वत्तण हेदु कालो वत्तणगुण भविय दव्वणिचयेसु।

कालाधारेणेव च वट्टंति हु सव्वदव्वाणि॥५६८॥ (गोम्मटसार जीवकाड)

ण य परिणमदि सय सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं।

विविह परिणामियाणं हवदि हु कालो सय हेदू॥५७०॥ (गोम्मटसार जीवकांड)

दव्व परिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।

परिणामादि लक्खो वट्टण लक्खो य परमटठो॥२१॥ (द्रव्यसंग्रह)

नवजीर्णादिपर्यायैर्द्रव्याना य प्रवर्तक।

समयादिमय कालो व्यवहाराभिधोऽस्ति स॥२६ ३४॥ (वर्धमानपुराण)

व्यावहारिक कालस्य परिणामस्तथा क्रिया।

परत्वं चापरत्वं च लिगान्याहुर्महर्षय"॥३ ४५॥ (तत्त्वार्थसार)

१७ तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २१

१८ तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र २०

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो॥१८॥(नियमसार)

१९ तत्त्वार्थसूत्र—अध्याय ४

२० पुग्गलाणि पुणो।

देहादीणिव्वत्तण कारणभूदा हु णियमेण॥६०६॥ (गो जी)

आहार वग्गणादो विण्णि, सरीराणि होंति उस्सासो।

णिस्सासो वि य तेजो वग्गण खं धादु तेजं गं॥६०७॥ (गो जी)

भासमण वग्गणादो कमेण भासा मणं च कम्मादो।

अट्ठ विह कम्मदव्वं होदि त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं॥६०८॥ (गो जी)

२१ सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो।
संसारसमावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं॥१६०॥ (समयसार)
'स शुद्धात्मा निश्चयेन समस्तपरिपूर्णज्ञानदर्शनस्वभावोऽपि निजकर्मरजसोच्छन्नो झम्पित सन्, संसारसमापन्न ससारे पतित सन् नैव जानाति सर्वं वस्तु, सर्वत सर्वप्रकारेण।'

२२ कम्मइँ दिद-घण चिक्कणइँ गरूवइँ वज्ज समाइँ।
णाण-वियक्खणु जीवउ उप्पहि पाडहि ताइँ॥७८॥—परमात्मप्रकाश

२३ मोहेन संवृत ज्ञान स्वभाव लभने न हि।
मत्त पुमान्पदार्थाना यथा मदनकोद्रवै॥७॥—इष्टोपदेश

२४ कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार, गाथा १६४-१६६

२५ समयसार, गाथा १६८-१७०

२६ कुन्दकुन्दाचार्य कृत प्रवचनसार, १२०

२७ आदा कम्म मलिमसो परिणाम लहदि कम्म सजुत्त।
तत्तो सिलिसदि कम्म तम्हा कम्म परिणामे॥१२१॥ (प्रवचनसार)
'यो हि नाम ससार नामायमात्मनस्तथाविध परिणाम स एव द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वेनैवोपलम्भात्। एव सतीतरेतराश्रय दोष न हि। अनादिप्रसिद्ध द्रव्यकर्मभि सबद्धस्यात्मन प्राक्तन द्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात्
एव कार्यकारणभूतनवपुराणद्रव्यकर्मत्वादात्मनस्तथाविध- परिणामो द्रव्यकर्मैव। तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद् द्रव्यकर्म कर्तप्युपचारात॥'

२८ जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥८६॥

२९ ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्हपि॥८७॥

३० पुग्गलकम्मादीण कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं॥८॥ (बृहद्द्रव्यसंग्रह)

३१ ववहारा सुहदुक्ख पुग्गलकम्मफ्फलं पभुभेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभाव खु आदस्म॥९॥ (बृहद्द्रव्यसग्रह)

३२ चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।

सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो॥३४॥ (बृहद्द्रव्यसंग्रह)

३३. व्रतसमितिगुप्तयोर्धर्म्मानुप्रेक्षा परीषहजयश्च।

चारित्रं बहुभेदं ज्ञातव्या भावसवरविशेषा ॥३५॥ (बृहद्द्रव्यसंग्रह)

३४ पच्चयभूदा दोसा पच्चयभावेण णत्थि उवपती।

पच्चयभावे दोसा णस्संति णिरासया जहा बीय॥९८६॥(मूलाचार)

३५ हेदू पच्चयभूदा हेदुविणासे विणासमुवयंति।

तम्हा हेदूविणासो कायव्वो सव्वसाहूहि॥९८७॥ (मूलाचार)

मोक्षमार्ग में पुण्य की उपयोगिता

❑ पं. सागरमल जैन, विदिशा

"पुण्यफला अरहंता, तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया"—पुण्य का फल अरहत अवस्था है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने प्रवचनसार की (गाथा ४५) में स्पष्ट कर दिया कि पुण्य का फल क्या है। यही पुण्य की उपयोगिता है मोक्षमार्ग में। पुण्य कर्म की श्रेष्ठ दशा का फल ही अर्हन्त दशा का प्रकटपना है। इसी पुण्य से दिव्यध्वनि आदि क्रिया होती है। आचार्य जिनसेन स्वामी महापुराण ग्रन्थ मे पुण्य की महिमा लिखते हैं—

"पुण्य तीर्थंकरश्रिय च परमा नै श्रेयसीं चाश्नुते।" (३०।१२८)

पुण्य से ही तीर्थंकर की लक्ष्मी प्राप्त होती है, परम कल्याण रूप मोक्षलक्ष्मी पुण्य का फल है। स्पष्ट हो गया कि मोक्षमार्ग में पुण्य की उपयोगिना क्या है। ससारी जीव ही मोक्षमार्ग का पथिक बनता है और जब चलना है तो चलने के लिए साधन भी चाहिए और वह साधन कहाँ से शुरू होता है? यदि विचार किया जाये तो कविवर प दौलतराम छहढाला में कह रहे हैं—

"दुर्लभ लहि ज्यों चितामणि, त्यों परयाय लही त्रस तणी।" त्रस पर्याय पाना ही जब चिंतामणि रत्न के समान है तब मनुष्य पर्याय और उसमें भी उत्तम कुल, वीतराग धर्म का मिलना कितना दुर्लभ होगा। त्रस पर्याय पुण्य प्रकृति है। यह सब पुण्य के आस्रव का ही फल है। सर्वार्थसिद्धि के अध्याय ६ सूत्र २२ में जहाँ अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण गिनाये हैं वहीं २३वें सूत्र में कहा गया है—"तद्विपरीत शुभस्य" टीका में लिखा है—धार्मिक पुरुषों व स्थानों का दर्शन करना, आदर-सत्कार करना, सद्भाव रखना, उपनयन, ससार से डरना और प्रमाद का त्याग करना आदि। ये सब शुभनामकर्म के आस्रव के कारण हैं या कोई और भी विशेषता है? इसके समाधान के लिए आचार्य उमास्वामी ने अगले २४वें सूत्र की रचना की, जो जैनग्रन्थों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है। तीर्थंकर प्रकृति का बध शुभनामकर्म की अतिम प्रकृनि है। यदि एक बार भी आठवें अध्याय का ११वां सूत्र अर्थसहित समझ लिया जाये तब यह प्रश्न ही नहीं उठेगा कि मोक्षमार्ग में पुण्य की उपयोगिता क्या है। जगत् में जिनके उदय में शुभ, सुभग, यश, आदेय प्रकृतिया आती हैं उनका फल भोगते हुए हम प्रत्यक्ष रूप में देख ही रहे हैं। मिथ्यात्व के सद्भाव में जब पुण्य उदय में आता है तब यह ससारी जीव मोक्षमार्ग में लगने का विचार शुरू करता है। इसलिए पुण्य की उपलब्धि सबसे बडी यह है कि इसके बिना देव, शास्त्र, गुरु का सयोग बनता ही नहीं है। और ये तीनों ही सम्यक्त्व के कारण हैं। इन तीन का निमित्त मिलने पर

ही जीव मोक्षमार्ग का पथिक बनता है या बन सकता है। आज तक जिन्होंने मुक्ति पायी है, जो पा रहे हैं और जो पायेंगे वे सब इन तीन निमित्तों के कारण से हैं। इसी भाव को कविवर द्यानतराय जी ने स्पष्ट किया है—

> प्रथम देव अरहंत सुश्रुत सिद्धांत जू।
> गुरु निरग्रन्थ महत मुकतिपुर पथ जू।
> तीन रतन जगमाहिं सो जे भवि ध्याइये।
> तिनकी भक्ति प्रसाद परम पद पाइये॥

इन तीन का क्रम भी वैज्ञानिक आधार पर है। प्रथम अरहंत देव, फिर उनके द्वारा तत्त्व विवेचना और अत में विवेचनाकार, निर्ग्रन्थ गुरुवर-मुनिवर। इन तीनों पर समान श्रद्धा हो तो सम्यक्त्व प्राप्त होगा ही।

प्रथमानुयोग में वर्णित जितनी भी कथाएँ हैं वे उन आत्माओं की हैं जो घोर मिथ्यात्व में पडे थे, जिन्हें कहीं मुनिराज के दर्शन हो गये। उन्होंने छोटा-सा ही सयम धारण कर लिया और सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी। वे पापात्मा से परमात्मा बन गये। ऐसे भी जीवों का वर्णन है जिन्हें केवल मुनिराज के दर्शन हुए, उनका मात्र नमन ही किया। उतने पुण्य आस्रव मात्र से वे देवगति में जन्मे और वहां की आयु पूर्ण कर मनुष्य-भव पाया तब तीनों ही निमित्त प्राप्त हो गये। देव, शास्त्र और गुरु ऐसे जीव दूसरे, तीसरे भव से ही परमपद को प्राप्त हो गये। यह है पुण्य की उपयोगिता। बिना पुण्य के जगत् में कुछ भी प्राप्त नहीं होता है, और जिन्हें पुण्य-आस्रव से जो उदय काल में मिला उसी से वे महान् सम्यक्त्व को प्राप्त कर सके।

पुण्य तो मगल है। सिद्धान्त के महान् ग्रन्थों में पुण्य को मगल कहा गया है। पुण्य और मंगल में अर्थ भेद नहीं है। एकार्थवाची हैं। इसीलिए पुण्य कहो या मगल कहो जहां जिसका जो अर्थ रहे वह ले लिया जाये। शब्द भेद से मगल-पुण्य, पूत-पवित्र, शिव-शुभ-कल्याण, भद्र और सौख्य आदि पर्यायवाची मंगल के ही नाम हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवल पुस्तक प्रथम में ही लिख दिया है। ऐसा ही आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती में प्रथम भाग में दर्शाया है। कहीं-कहीं तो आचार्यों ने पुण्य और धर्म को एक ही अर्थ में लिया है। पुण्य के बिना मोक्षमार्ग बनता ही नहीं है। जो भी पापी जीव जब मोक्षमार्ग में लगा तब उसने सबसे पहिले पाप की क्रिया और पाप-भाव का ही त्याग किया है, उसी के बाद उसका कल्याण शुरू हुआ। प्रथमानुयोग सबसे उपकारी है जो जीव को ससार का ज्ञान कराता है, पाप का और पुण्य का। अंजन ने जब अंजन की पर्याय के सभी कृत्य छोड दिये थे तब ही वे निरंजन बने। पाप की क्रियाओं के काल में किसी को भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई ही नहीं। अत जिसको भी सम्यक्त्व की प्राप्ति करना है उसे सबसे पहले पाप-भाव छोडकर पुण्यरूप जीवन कर ही लेना चाहिए। ऐसा ही कथन आगम-प्रमाण है। यहीं से मोक्षमार्ग शुरू होता है। इससे बडा पुण्य का और

क्या योगदान हो सकता है। शलाकापुरुष तीर्थंकर के माता-पिता, गणधरदेव, तीर्थंकर को आहार-देने वाले पुराणपुरुष, मुख्य श्रोता—ये सब पुण्य के उच्चतम फल को भोगने वाले होते हैं। पिछले जन्मों में उच्च पुण्य का आस्रव जिन जीवों ने किया था वे ही इन पदवीधारी पुरुषों की श्रेणी में आते हैं। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने तो सर्वार्थसिद्धि (६/३ पृ ३२२) में लिखा है, "जो आत्मा पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है" जैसे सातावेदनीय आदि।

अनादिकाल से जीव दो भागों में बँटा हुआ है—वर्तमान में भी और सब काल में भी। एक जीव पुण्य का फल भोगता दिखता है दूसरा पाप का फल। कलकत्ता महानगरी में लाखों मनुष्य तांगे में घोडे के समान जुत कर उसे खींचते हैं। इससे बड़ा पाप का फल दुनियाँ में और क्या हो सकता है? मनुष्य होकर तिर्यंच का फल भोगा जा रहा है। एक आदमी रिक्शा में जुता उसे खींच रहा है। दूसरा उस पर बैठा है। इससे बडा आज की दुनिया में पाप और पुण्य का क्या विश्लेषण हो सकता है? इसका उत्तर आज किसी के पास नहीं है। अंत में स्वीकार करना होता है कि सभी ससारी जीव मात्र पुण्य और पाप के फल को भोगते दिख रहे हैं—"सव्वे सिद्ध सहावा सुद्धणया ससिर्दी जीवा।" आलापपद्धति के इस कथन का भाव है—शुद्ध नय से जगत् के सभी जीव शुद्ध हैं। चाहे वे किसी भी गति में हों, किसी भी पर्याय में पाये जा रहे हों वे सब शुद्ध नय से शुद्ध हैं। इसके विपरीत अशुद्ध नय से अशुद्ध हैं। कथन कहाँ किया है, उसका प्रयोजन क्या है इसे समझना ही पडेगा, समय रहते समझ लेना ही चाहिए। यदि नहीं समझे तो आगम का भेद नहीं खुल पायेगा। यही स्थिति आज हो रही है और इसी कारण ज्ञान के मद में कहते हैं, भक्त नहीं भगवान् बनेंगे। आगम ज्ञान भी पुण्य के उदय में ही प्राप्त होता है उस ज्ञान का उपयोग जीव चाहे हित में करे या अहित में। कहीं पुण्य पाप को एक ही श्रेणी में रखकर कथन किया है उसका भाव न समझ कर यदि दोनों को एक ही कोटि में रख दिया जाये तो कथन-पद्धति का क्या दोष होगा। बध का वर्णन करते समय आचार्यों ने दोनों को एक ही श्रेणी में रख दिया। जब बध का भेद किया तो पुण्य को उपादेय-मगल-शुभ कहा और पाप को हेय-अमगल-अशुभ कहा है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने जहाँ पुण्य और पाप दोनो को ही बध का कारण बताया वहीं उसी ग्रन्थ में शुभभाव से जहाँ कर्मबध होता है वहीं लिखा है कि कर्म निर्जरा भी अधिक होती है। वस्तु का स्वरूप समझने के लिए आगम ज्ञान अनुयोग पद्धति से समझना होगा अन्यथा भ्रम हो जायेगा। जहाँ आचार्य अपने शिष्य मुनिवरों को पुण्य हेय कहकर उन्हे उससे दूर रखना चाहते हैं वहीं श्रावकों को पुण्य उपादेय कहकर उसमें लगे रहने का आदेश देते हैं। यदि श्रावक मुनि को दिये गये उपदेश को ग्रहण कर ले तब क्या होगा? सिवाय पाप के अतिरिक्त उसके पास कुछ भी नहीं बचेगा। पापभाव और पाप की क्रिया का छोडना बहुत ही कठिन है। यह तो दृढता से छोडे जाते हैं, सयम साधा जाता है, त्याग किया जाता है। जबकि गुणस्थानों में ऊपर चढने पर

पुण्य छूटता जाता है, पुण्य छोडना नहीं पडता। आचार्य कुन्दकुन्द द्वादश-अनुप्रेक्षा में (३१वी गाथा में) कहते हैं–"जो जीव पापबुद्धि से पुत्र, स्त्री के लिए धन कमाता है और दया, दान नहीं करता वह ससार में ही परिभ्रमण करता रहता है।" रयणसार के अनुसार तो एक जिनभक्ति ही ससार-सागर से पार करने में सहायक है। सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से मोक्ष का कारण है। सम्यक्त्व-प्राप्ति के पूर्व वही मिथ्यादृष्टि अपने शुभ आस्रव के कारण वे सभी निमित्त प्राप्त कर लेता है जिनके कारण सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

क्या शुभभाव भी मोक्ष के कारण हो सकते हैं? यह प्रश्न आज का नहीं है, पूर्व में ही उठाया गया था और शिष्य को उत्तर देते हुए कुन्दकुन्ददेव ने रयणसार की १४वीं गाथा में कहा था–

पुया फलेण तिलोय सुर पुज्जो हवई सुद्धमणो।
दान फलेण तिलोयसार सुह भुज हे णियड॥

इससे स्पष्ट हो गया कि जिनपूजा और पूजारूप शुभभाव का फल अरहत पद है। दानरूप शुभ भाव का फल तीन लोक का अक्षय सुख यानि मोक्ष का सुख है। यदि कोई पुण्य, बध का कारण है इतना ही पढकर पुण्य-आस्रव से दूर हो जाये तो पाप के अतिरिक्त उसके पास क्या बचेगा? आज यही हो रहा है। पाप का छोडना अत्यधिक कठिन है। इसी को छुडाने के लिए आचार्यों ने सयम की साधना पर अधिक जोर दिया है। गृहस्थ-श्रावक और मुनिवर के त्याग और सयम के कथन और विधि-विधान सब अलग-अलग हैं, भूमिकानुसार सबको उपादेय हैं।

स्वामी समन्तभद्र आचार्य तो "जिनभक्ति, जिनस्तवन से ससार भ्रमण नष्ट होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है" ऐसा उपदेश देते हैं। कहीं-कहीं तो आदेश भी दिया है। वे कहते हैं भगवान जिनेन्द्र का स्मरण मात्र दुखरूप समुद्र से पार होने के लिए नौका के समान है। पूजा में प्रतिदिन ही तो पढते हैं–

यह भव समुद्र अपार तारण, के निमित्त सुविधि ठई।
अति दृढ परम पावन जथारथ भक्तिवर नौका सही॥

इससे अधिक पुण्य की उपयोगिता का और क्या वर्णन किया जा सकता है। जिनभक्ति की जितनी महिमा आचार्यों ने गायी है शायद ही और किसी का इतना विवेचन किया हो। क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए एक जिनदर्शन ही नींव है। समाधितत्र, पद्मनन्दि पचविशति, उपासकाध्ययन इन सभी ग्रन्थों में जिनभक्ति का निर्देश किया गया है। जिन जीवों ने जिनेन्द्रभक्ति की है वे परमात्मा बन गये। आज बालकों को पाठशाला में पढाया जा रहा है 'भक्त नहीं, भगवान बनेंगे।' इस ज्ञान की भी पराकाष्ठा हो गयी। यदि एक मेंढक जिनपूजा के भाव से प्रथमानुयोग में महान् कथानक का रूप ले गया तो उस पूजा के भाव का कौन वर्णन कर

सकता है। कहाँ तिर्यंच और क्षण भर में देव-पर्याय। पुण्य के बिना कभी किसी को कुछ नहीं मिला है, न मिलता है, न मिलेगा। यदि पुण्य का उदय न हो तो जिनप्रतिमा के दर्शन करने भी नहीं जा सकता। आज भी जिनके उदय में पुण्य नहीं होता वे अपने नगर में भी मुनिवर के दर्शन नहीं कर पाते, क्योंकि उनके खाते में उस जाति का पुण्य नहीं है। आचार्य अमितगति स्वामी का कथन तो देखिए—

"जैसे जाज्वल्यमान आग से काठ का नाश होता है वैसे ही शुभ परिणामों से सचित कर्म नाश को प्राप्त होता है।" चारित्रसार में भी कहा है—"जिनबिम्ब भव्य लोगों को भक्ति के अनुसार स्वर्ग और मोक्ष पद देते हैं।"

आज कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली जैसे महानगरों में लाखों मनुष्य फुटपाथ पर जीवन बिताते हैं वहीं एयर कंडीशन भवनों में भी रहने वाले हैं। जब तक पुण्य का उदय रहता है तब तक जीव उसका भोग करता है। जब वह पुण्य प्रकृति क्षय को प्राप्त हो जाती है तब उन भोगों को भोगने के लिए तरसता है। एक विष्ठा ढोता है, एक बागों में रहता है। एक साथ जब दो प्रकृतियाँ चलती हैं तो दोनों का ही फल भोगना पडता है। एक ने धन का संयोग बना लिया, दूसरी ओर वहीं कैंसर से पीडित हो गया तब कुछ नहीं भोग सका। उसके पास सब होते हुए भी कुछ नहीं है। इसीलिए पुरुषार्थ करके निरन्तर पुण्य आस्रव करते रहना चाहिए। यही पुण्य मोक्षमार्ग मे सहायक होता है। पुण्य करना पडता है, पाप छोडना पडता है। जिनकी भली होनहार होती है वे जीव पुण्य के कारणों के मिलने पर प्रसन्न होते हैं। इसी शताब्दी में कभी मुनिवरों के दर्शन दुर्लभ थे, आज हमारे पुण्य से इतने सुलभ हो गये कि यदि कोई २४ घंटे में चाहे तो सौ से अधिक पिच्छीधारियों के दर्शन कर सकता है। शर्त है उसके पास इतना, इस जाति का, पुण्य हो तो ही करेगा। हमारी योग्यता हो तो हम उन निमित्तों का उपयोग करें या न करें। जहाँ पुण्य और पाप को समान गिनाया है वहीं अज्ञानी को सम्बोधन है और ज्ञानियों को भोगों से दूर रखने का ही प्रयत्न आचार्यों ने किया है। अज्ञानी पुण्य के फल को भोगों में लगा देता है जबकि ज्ञानी उस पुण्य से मोक्षमार्ग में लग जाता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि एक ही काम को करते एक से लगते हैं किन्तु दोनों के परिणाम अलग-अलग हैं। एक उदासीन भाव से पुण्य को भोगता है, एक आसक्ति के भाव से। इतना ही अतर है। मोक्षमार्ग में पुण्य की उपयोगिता की चर्चा के समय यह भी तो समझ लें कि मोक्षमार्ग है क्या? मोक्षशास्त्र का प्रथम सूत्र ही देखें—

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग।'

आचार्य उमास्वामी ने आगम का पूरा सार एक सूत्र में भर दिया। यदि इस सूत्र का अर्थ जानना है तो आचार्य विद्यानन्द स्वामी का तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालकार का अध्ययन करें। तब मोक्षमार्ग समझ में आ जायेगा, तब इसमें पुण्य की उपयोगिता क्या है सहज ही समझ में आ

जायेगा। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चारों ही गति में रहने वाले जीव प्राप्त कर सकते हैं किन्तु सम्यक्चारित्र की प्राप्ति मात्र मनुष्य गति में ही प्राप्त की जा सकती है। देव और नारकी संयम नहीं ले सकते। तिर्यंच पचम गुणस्थान तक जा सकता है। केवल मनुष्य है जो मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस चारित्र को प्राप्त करने के लिए कठिन पुरुपार्थ करना होता है। मुनिमुद्रा में ही यह चारित्र सम्भव है। और बिना पुण्य के मुनिमुद्रा किसी को प्राप्त नहीं होती। पहले तो मनुष्य गति फिर उसमें उत्तम कुल, उच्च गोत्र, फिर देव-शास्त्र-गुरु का निमित्त। ये सब बिना पुण्य के कैसे मिल सकते हैं। कविवर भगतरायजी कृत बारह भावना का स्मरण कर लें, वे क्या कहते हैं—

"दुर्लभ है निगोद से थावर अरु त्रस गति पानी,
नर-काया को सुरपति तरसैं सो दुर्लभ प्राणी।

उत्तम देश सुसगति दुर्लभ श्रावक कुल पाना,
दुर्लभ सम्यक दुर्लभ संयम पचम गुण ठाना।

दुर्लभ रत्नत्रय आराधन दीक्षा का धरना,
दुर्लभ मुनिवर का व्रतपालन शुद्धभाव करना।

दुर्लभ से दुर्लभ चेतन है बोधि ज्ञान पावें,
पाकर केवलज्ञान नहीं फिर इस भव में आवें।"

इस दुर्लभता के वर्णन में हर पक्ति पुण्य का उद्घोष कर रही है। जिस जीव के जितना पुण्य उदय में आता जाता है वह उतना आगे बढता है। त्रस पर्याय सबसे कठिन है, क्योंकि निगोद से निकलना और फिर इन्द्रिय-पर्याय पार करना—पता नहीं कितना काल इसमें बीत जाता है। तब बडे भाग्य से त्रस पर्याय प्राप्त होती है। जैसे 'दुर्लभ लहि ज्यों चितामणि, त्यों पर्याय लही त्रस तणी।' हम इतनी पार कर आये हैं। देव पर्याय के महान् सम्यग्दृष्टि देव भी प्रतीक्षा करते रहते हैं कि कब मनुष्य भव मिले, कब सयम साधें, कब ससार-सागर से मुक्त हों। यह प्रकरण प्रथमानुयोग में मिलता है। पुण्ययोग से उत्तम देश-कुल में जन्म होता है। आज हमारा जन्म यदि अफ्रीका के घने जगलों में, हबशियों के कबीला में हुआ होता तो क्या हम पुण्य पाप की भी बात कर पाते? शुभ-अशुभ-शुद्ध की चर्चा कर पाते? जिन लिग, जिन प्रतिमा के दर्शन सुलभ होते? तीर्थवदना करते? वहाँ केवल पाप के और क्या है? टुड्रा प्रदेश में जन्मे होते तो क्या जिनमुद्रा को समझ पाते? हमें उत्तम प्रदेश मिला, सगति मिली, श्रावक कुल मिला। अब हमारा क्या कर्त्तव्य है वह हमें कर लेना चाहिए जो अब तक नहीं किया। श्रावक के व्रत नहीं लिए, क्योंकि उतना पुण्य नहीं है। जितना उदय में था, पा लिया। सयम पाल सकते हैं लेकिन सयम के नाम से भी दूर रह रहे हैं। बहुत से जीव संयम पाल रहे हैं। वहीं सयम व्रतादि की मजाक उडाने वालों की भी कमी नहीं है। ये भी मनुष्य हैं,

इनका कुल भी श्रावक का है किन्तु ये पुण्य का उपयोग सयम की विराधना में ही कर रहे हैं। यह भी भाग्य की ही विडम्बना है।

आज जिस पुण्य से हम यहाँ तक आ गये कि हमारा मोक्षमार्ग बन सकता है, संयम सध सकता है, हम अज्ञान और अविवेक से प्रेरित होकर उस पुण्य को भी गलत मार्ग में लगा रहे हैं, उससे अहकार, धनलिप्सा आदि भोग सामग्री का पोपण कर रहे हैं। उपयोग करना हमारे हाथ में है, सही करे या गलत। मात्र मद कपाय रूप परिणाम से हमने त्रस पर्याय पायी है और क्रम-क्रम से वह मद होती गयी हम पर्याय बदलते गये। आज मनुष्य पर्याय में है, जिनेन्द्र के कुल में है। जिस कुल में जन्म लेते ही हजारों पाप से बच जाते हैं। क्या मोक्षमार्ग में पुण्य की उपयोगिता पर और भी विचार करना शेप है? जब पुण्य क्षय हुआ तो हमने चालीस वर्ष पहले देखा, भारत के राजे-महाराजे सब एक साथ सामान्य दशा को प्राप्त हो गये। वे राज सिंहासन खत्म हो गये। जब तक पुण्य था तब तक सब कुछ था और जब पुण्य का क्षय हुआ तो सब चला गया। हम देख रहे हैं एक विधान सभा क्षेत्र से एक विधायक के पद पर अनेक खडे होते हैं। हर आदमी जीत की आशा रखता है किन्तु जिनके उदय में पुण्य होता है वे ही जीतते हैं। एक पद पर दो नहीं जीते। बडे-बडे प्रतिष्ठित व्यक्ति एक मामूली आदमी के मुकाबले में हार जाते है। यह सब क्या है? पुण्य का खेल है। इसी पुण्य का हम मोक्षमार्ग में लगा सकते हैं। भोगों की सामग्री देने वाला पुण्य यदि मोड दिया जाये तो मार्ग सुलभ हो जायेगा। हर जीव पुण्य चाहता है। आचार्य गुणभद्र स्वामी का कथन तो देखिए 'जीव पुण्य का फल तो भोगना चाहता है किन्तु पुण्य नहीं करना चाहता— पाप के फल से डरता है किन्तु पाप की क्रिया नहीं छोडना चाहता'।

पाप के सद्‌भाव में सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती किन्तु पाप की क्रिया और पापभाव के त्याग के बाद ही देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। हमें सब ही निमित्त मिल गये हैं, अब केवल पुण्य के उपयोग की धारा मात्र बदलने की है।

महान् ग्रथराज मूलाचार में कहा है—"जो भक्त भावपूर्वक अरहत भगवान् को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही नमस्कार रूप शुभ भाव से सम्पूर्ण दुखों से मुक्त होता है।" इससे अधिक पुण्य की उपयोगिता मोक्षमार्ग में और क्या हो सकती है। "जिनेन्द्र की भक्ति से जितना पुण्य आस्रव होता है उसी भक्ति रूप शुभ भाव से सचित कर्मों का भी नाश होता है।" मूलाचार ग्रन्थ का अध्ययन करके चितन में लाया जाये तो पुण्य की महिमा का बोध सहज में हो सकेगा। इसी ग्रन्थ में वट्टकेर आचार्य लिखते हैं—"विनय रूप शुभभाव से आठ प्रकार के कर्मों का नाश कर चतुर्गति रूप ससार से आत्मा मुक्त होती है।" अत यह बात सहज सिद्ध हो गयी कि पुण्य का फल मुक्ति है। समयसार ग्रन्थ के ही रचियता पुण्य को मुक्ति का कारण कह रहे हैं, कर्मों की निर्जरा का कारण बता रहे हैं। चार गति, चौरासी लाख योनियों से मुक्ति का एकमात्र साधन पुण्य है, इसी के सचय में लगे रहना चाहिए।

आत्मा के परिणामों की दशा तीन प्रकार से है—शुद्ध, शुभ और अशुभ। हमारी भूमिका में एकमात्र शुभ उपयोग ही उपादेय है। शुद्ध के लिए मुनिव्रत अगीकार करें। बिना मुनिलिंग के मुक्ति नहीं होती। बिना पुण्य के मुनि दशा प्राप्त नहीं हो सकती। आज क्या, अनादिकाल से जिनके पास पुण्य की पूंजी रही उन्हें सब प्राप्त हुआ और जिनके पास पाप की पूंजी रही वे सेवकाई के अतिरिक्त कुछ न पा सके। एक बार का भोजन भी बिना पुण्य के नहीं मिलता। शरीर रोगों का घर है और जिनके पास पुण्य की पूजी होती है उन्हें ही उस रोग के निदान की दवाई, डॉक्टर सभी सुविधाए प्राप्त हो जाती हैं। पाप नरक और तिर्यंच का कारण है, पुण्य स्वर्ग और मोक्ष का, जो चाहिए वह प्राप्त करने की स्थिति में हम सब हैं। हे भाई, मार्ग में धूप के बजाय छायादार वृक्ष के नीचे विश्राम कर लो। पुण्य से देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त मिल गये हैं, पुण्य की महिमा जिनमुद्रा की भक्ति में लगा दो। उपासकाध्ययन में कहा है— "अकेली एक जिनभक्ति ही ज्ञानी के दुर्गति का निवारण करने में, पुण्य का सचय करने में और मुक्ति रूपी लक्ष्मी को देने में समर्थ है।" पुण्य के फल की अतिम सीमा मनुष्य गति में ही प्राप्त होती है। मोक्षमार्ग चारों गतियों में है किन्तु मुक्ति नहीं। स्वामी कार्तिकेय महाराज अनुप्रेक्षा में कह रहे हैं—

"मनुष्य गति में ही तप होता है, मनुष्य गति में ही समस्त महाव्रत होते हैं और मनुष्य गति में ही ध्यान होता है और मनुष्य गति से ही मोक्ष होता है।" जैसा धवल पुस्तक प्रथम में कहा है, "अरहत नमस्कार तत्कालीन बध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा का कारण है।" आस्रव तो ससारी जीवों को अपने-अपने परिणामो के अनुसार निरतर हो रहा है। चाहे वह किसी भी अवस्था में हो उसे उस आस्रव का फल भोगना ही पडेगा। जो जीव उसी भव से मुक्ति को प्राप्त हुए उन्हे भी पूर्व कर्मों का फल भोगना पडा, वह फल पुण्य और पाप रूप में ही रहा है। शलाकापुरुषों के जीवन से सीख लेकर यदि हमने पापभाव छोडकर पुण्यरूप भाव नहीं किये तो हमारा ग्रन्थ पढना व्यर्थ हो जायेगा। कर्म की विचित्रता का बोध तीर्थंकर आदिनाथ एव पार्श्वप्रभु के जीवन से ले लेना चाहिए। जब पुण्य का उदय आता है और जीव की भली होनहार होती है तब एकमात्र सयम की साधना करके तिर्यंच गति का जीव, जिसने रात्रि भोजन का त्याग किया था, फलस्वरूप मनुष्य पर्याय प्राप्त कर मुक्ति का पात्र हो गया। यही पुण्य-पाप का भेद है। सयम के बिना सब सूना है। आचार्य कुन्दकुन्द देव प्रवचनसार में कहते हैं—

"पदार्थों का श्रद्धान करने वाला भी यदि असयत है तो भी वह निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकता"। इस गाथा को पढकर सुनकर हम सबको चेत जाना चाहिए। संयमी निंदा के पात्र नहीं हैं, वे सर्वथा पूज्य हैं, उन्हें हमारा नमन हो। आचार्य महाराज मोक्षपाहुड में स्पष्ट करते हैं, "जो जीव जब तक इद्रियों के विषयों में प्रवृत्ति करता रहता है तब तक वह आत्मा को नहीं जानता"। स्पष्ट है कि भोगी आत्मा को, उसके स्वरूप को नहीं जान सकते, केवल

योगीजन ही आत्मस्वरूप को जानकर प्रकट करते हैं—रमण करते हैं—उन्हीं को आत्मा का बोध होता है। आज महान् योगियों के ग्रथ भोगियों के हाथों में हैं, वे उसमें से भोग ही निकाल रहे हैं। जब उनका यह पुण्य क्षय को प्राप्त हो जायेगा तब यह ग्रन्थ भी उनके हाथों में नहीं होंगे, तब वे वीतरागता की चर्चा भी नहीं कर सकेंगे। उनका पुण्य शेष रहते वे चेत जायें, संयम, व्रत, मुनिमुद्रा की निंदा से बच जायें, उन पर हमें इतनी ही करुणा आती है।

पुण्य को पुण्य ही जानें और मानें। आस्रव पुण्य का अधिक से अधिक जीवन में करें किन्तु इन्द्रिय-भोगों में न रमें, न उस पुण्य का उपयोग ससार बढाने में करे कि फिर कुछ करने को ही न बचे।

यह पचम काल है, इस काल में मोक्ष नहीं होना किन्तु भाग्य है कि मोक्ष-मार्ग खुला हुआ है। शलाकापुरुषों का अभाव है किन्तु मुनिवरों का सद्भाव है। जिनमुद्रा के प्रतीक गुरुजन इस काल के अत तक रहेंगे। केवली प्रभु नहीं हैं किन्तु उनकी दिव्य ध्वनि के सारभूत अश शास्त्रों में सुरक्षित हैं। जिनभवनों में जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं जिनके दर्शन मात्र से जन्म-जन्म के सचित पाप नष्ट हो जाते हैं। तीर्थ हैं, तीर्थवदना के मार्ग सुलभ है। घर-घर माता जिनवाणी शास्त्र रूप विराजमान है। हमारे उदय में इतना पुण्य है कि दूसरे देखकर हमारी उपासना करते हैं, अब हमारा एक ही कर्त्तव्य हो जाता है कि उदय आये पुण्य का उपयोग मोक्षमार्ग में लगा दें। मुनिवर हमारे प्रकाशस्तम्भ हैं। जीवन में उनकी निन्दा करने का भाव स्वप्न में भी न आये। निंदकों का सम्पर्क न हो। जिनेन्द्र की पूजा प्रतिदिन करते रहे। समय के संयम में बधे रहे। मृत्यु के महोत्सव के लिए तैयारी में रहे। जितना बने सयम व्रत आचरण धारण कर लें। जीवन की अतिम दशा में हम निर्ग्रन्थ रूप में ही हों यही हमारी मनोकामना रहे। पाप के भाव और पाप की क्रिया से जितने दूर रह सकें उतने दूर रहें, स्वदार-सतोष व्रत के धारी हों। प्रतिमाह मुनिमुद्रा के दर्शन करें। हमारे नगर में हो तो प्रतिदिन उनके चरणों में नमन करते रहें। इस आस्रव से जब पुण्य उदय में आयेगा तब हम मोक्षमार्ग में स्वय चलते हुए मुक्तिद्वार तक पहुचने वाले होंगे। जितना पुण्य-आस्रव कर सकते हैं करते रहें, यही पुण्य मोक्षमार्ग का साधक है। मोक्षमार्ग में पुण्य की उपयोगिता यही है कि हम पुण्य रूप हो जायें।

परमात्मा कहाँ कौन ?

❑ *पं. नाथूलाल जैन शास्त्री, इन्दौर*

विश्व, जगत या लोक पर्यायवाची शब्द हैं। अनत जीव, अनतानत पुद्गल, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश और असख्यात काल इनके समूह को विश्व कहते हैं। यह विश्व स्वत सिद्ध और अनादि अनत है। प्रत्येक द्रव्य में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व प्रमेयत्व और प्रदेशत्व ये सामान्य गुण पाये जाते हैं। अत पदार्थों में परिणामी नित्यत्व स्वभाव से ही विद्यमान है। जैन दर्शन की यह व्यवस्था है, जबकि अन्य दर्शन ईश्वर और उसके जगत्कर्तृत्व की मान्यता के कारण प्राय सब कुछ ईश्वराधीन मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार चेतना स्वरूप आत्मा ही परमात्मा है। वही अनत ज्ञान-दर्शनसुख-वीर्य का निधान है। यह एक नहीं, सख्या से अनत हैं।

> एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभि ।
> साध्यसाधकभावेन द्विधैक समुपास्यताम्॥ आ अमृतचन्द्र का समयसारकलश)॥१५॥॥

'आत्मा ज्ञायक स्वभाव है। उसकी सिद्धि करने वालों के द्वारा स्वय उपास्य और उपासक भाव को प्राप्त होने से दो प्रकार का कहा जाने वाला वह आत्मा अपने स्वरूप में एकत्व को लिये हुए है। अत उस एकरूपता की उपासना करो।' वह एकरूप शुद्ध परिणामिक भाव है, जिसे कारण परमात्मा कहते हैं। यही परमशुद्धनय दृष्टि से उपादेय या ध्येय है। यह द्रव्य शक्ति रूप से अविनश्वर है। सदा अहेतुक अनादि अनत ध्रुव है। सर्व पर्यायों में जाने वाला, किसी भी पर्याय रूप न रहने वाला त्रैकालिक एक है। सर्व विकल्पों को तोडकर निर्विकल्प निज पारिणामिक भाव में उपयोग लगाने और उस उपयोग की स्थिरता का मूल है। जीव के औपशमिक, क्षायिक, औदायिक और क्षायोपशमिक ये चार भाव कर्म निमित्तक हैं। पारिणामिक कर्म निरपेक्ष है। पारिणामिक में उक्त दृष्टि परम पारिणामिक के सम्बन्ध में है। किन्तु अशुद्ध पारिणामिक के अन्तर्गत इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व एव अभव्यत्व भाव भी हैं। ये कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम व उदय की अपेक्षा नहीं रखते। 'इसलिए पारिणामिक कहलाते हैं', परन्तु केवल चैतन्य रूप परम या शुद्ध पारिणामिक है। क्षायिक भाव क्षय निमित्त होने से अत्यन्त निर्मल होकर भी वह पर्याय है, जिसके कारण धारण करने वाले अरहन्त सिद्ध परमात्मा कार्य-परमात्मा कहलाते हैं और जो परम पारिणामिक रूप कारण परमात्मा को ध्येय बनाकर ही उस पद को प्राप्त हुए हैं वे अरहन्त सिद्ध परमात्मा सादि अनन्त हैं। अनादि अनन्त तो परम (शुद्ध) पारणामिक रूप कारण परमात्मा है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। आचार्य

अमृतचन्द्र के उक्त १५वें पद का आशय भी यही है।

वस्तु के अभेद एव अन्तरग विषय की मुख्यता से या एक वस्तु की दृष्टि से होने वाला अभिप्राय निश्चयनय है। उसमें शुद्ध, अशुद्ध एव परमशुद्ध ये तीन भेद हैं। यो एक देश शुद्ध और अशुद्ध निश्चयनय भी माने जाते हैं। इनमें परम शुद्ध निश्चयनय का विषय परम पारिणामिक भाव या कारण परमात्मा है।

णवि उपज्जइ, ण वि मरइ, बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थे जोइया, जिणवरु एउँ भणेइ॥६८॥ (परमात्म प्रकाश)

आ योगीन्द्रदेव के इस उद्धरण के अनुसार "परमार्थ दृष्टि से यह जीव न उत्पन्न होता है और न बध तथा मोक्ष को करता है।" इस वचन से जिसके बध और मोक्ष दोनों नहीं हैं, यही भावना मुक्ति का कारण है। अत इसे ही शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येय रूप कहते हैं। यह ध्यान भावना रूप नहीं है, क्योंकि ध्यान भावना पर्याय विनश्वर है जबकि यह शुद्ध पारिणामिक रूप होने से अविनश्वर है। जो दर्शन ईश्वर को जगत्कर्ता एव सर्वव्यापक मानकर उसे आराध्य बनाकर ध्यान करने से मुक्ति की प्राप्ति बताते हैं। उसके स्थान में जैन दृष्टि प्रत्येक आत्मा में स्वभाव से विद्यमान उक्त निज कारण–परमात्मा को मानती है। प्राथमिक अवस्था में पूजा और स्वाध्याय द्वारा प्रत्येक मानव का यह कर्त्तव्य है कि वह निम्नलिखित दृष्टि को भलीभाति समझे।

जो जाणदि अरहत दव्वत्त गुणत्तपज्जयत्तेहि।
सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्स लय॥ (आचार्य कुन्दकुन्द का प्रवचनसार, ८०)

जो अरहत को द्रव्यत्व, गुणत्व, पर्यायत्व से जानता है वह निज आत्मा को जानता है और उसका मोह (दर्शनमोह या मिथ्यात्व) नष्ट होता है। अरहत (कार्यपरमात्मा) पद प्राप्त करने के लिए उनके द्रव्य-गुण-पर्याय की हमसे समानता है यह जानकर उनका ध्यान करते हुए अपने भीतर के रागादि विकारो को दूर करना और उन परमात्मा के अवलम्बन रूप शुभोपयोग से आगे अभेद गुणत्त्व रूप परम पारिणामिक भाव के ध्यान से परमात्मत्त्व रूप अपनी पर्याय प्रकट करना हमारा कर्त्तव्य है।

य परामात्मा स एवाह योऽहं स परमस्तत ।
अहमेव मयोपास्यो नान्य कश्चिदिति स्थिति ॥ (आ पूज्यपाद)

'जो परमात्मा है वही मैं हूं और जो मैं हूँ वह परमात्मा है इसलिए मेरे द्वारा मैं ही उपास्य हूं अन्य कोई नहीं'। यह स्वभावभक्ति उक्त अरहन्त-सिद्ध देवभक्ति के पश्चात् का कर्त्तव्य है। कथन में एक ही आत्मा का प्रारम्भ में ध्येय-ध्याता रूप भेद कथचित् भेददृष्टि से माना जाता है, जो अनेकान्त का माहात्म्य प्रकट करता है।

परमशुद्ध निश्चयनय का विषय त्रिकाली ध्रुवत्व पारस के समान है जिसके स्पर्श (आश्रय) से पर्याय में पवित्रता आती है। इसी चैतन्य स्वभाव की प्रतीति को निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। यथार्थ स्वरूप में निजगुणपर्याय में तन्मय आत्म-तत्त्व के ज्ञान को निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं और संकल्प-विकल्प रहित होकर आत्मस्वरूप में स्थिर होना निश्चय सम्यक्चारित्र है। अपने ज्ञानानंद स्वभाव स्वरूप से अनभिज्ञ रहने से पर्याय में एकत्व बुद्धि रखकर यह जीव संसार में जन्म-मरण के दुख उठा रहा है। यह शुद्ध पारिणामिक भाव आत्मानुभूति में प्रकट होता है। समीचीन दृष्टि और स्वकल्याण के लिए आ पद्मनन्दि का यह पद्य उल्लेखनीय है—

ज्ञानज्योतिरुदैति मोहतमसो भेद समुत्पद्यते,
सानन्दा कृत्कृत्यता च सहसा स्वान्ते समुन्मीलति।
यद्येकस्मृतिमात्रतोऽपि भगवानत्रैव देहान्तरे,
देवस्तिष्ठति मृग्यता स रभसादन्यत्र किं धावति॥

अर्थात्—'दर्शनमोह के नाश होने पर जब ज्ञानज्योति प्रगट होती है, तब हृदय में सानन्द कृतकृत्यता का भाव उत्पन्न होता है। अपने देह के भीतर ही परमात्मा विद्यमान है, वहीं उसे ढूंढना चाहिए, बाहर दौडना व्यर्थ है।

'मम स्वरूप है सिद्ध समान' इत्यादि अनेक लोक प्रसिद्ध उदाहरण हम जानते हुए भी उनके रहस्य को नहीं समझते क्योंकि कबीर की यह वाणी—'इस द्वारे का देहरा तामे पिउ पहचान' यह कथन अन्यदर्शन के अनुसार सर्वव्यापक ईश्वर का सकेत करता है। जबकि 'मम स्वरूप है सिद्ध समान' यह वाक्य शुद्ध द्रव्यार्थिक या परमशुद्ध निश्चय नय से कारण परमात्मा की ओर संकेत करता है। जैनागम कथित यह आध्यात्मिक दृष्टि ही कल्याणकारिणी है।

◆◆◆

लेश्या

❑ *आचार्य श्री पुष्पदन्तसागरजी*

शरीर, मन और चित्त तीनों का आपस में गहन सम्बन्ध है। शरीर पौद्गलिक परमाणुओं की रचना का स्थूल पिण्ड है। मन उससे भी सूक्ष्म, मनपर्याप्ति के सूक्ष्म परमाणुओं की अष्ट पखुडीरूप कमलाकार सरचना है। चित्त चेतना का एक अदृश्य स्तर है जो शरीर और मन के साथ कार्य करता है और उनसे अपना कार्य भी सम्पन्न कराता है। वैसे चेतन (आत्मा) अपौद्गलिक है, इसलिए उसका कोई रग-रूप और लिग नहीं होता। समयसार ग्रन्थ में आत्म-स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य कुंदकुंद कहते हैं—

> अरसमरूवमगन्ध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द।
> जाण अलिगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाण॥४९॥

इसका हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार है—

> आत्मा सचेतन अरूप अगध प्यारा,
> अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा।
> आता नहीं पकड में अनुमान द्वारा,
> आकार से रहित है सुख का पिटारा

परम शुद्ध चेतना रस, रूप, गध से रहित है, इन्द्रिय-अगोचर है, मात्र चेतनत्व से परिपूर्ण है, शब्द रहित है, चिह्न द्वारा भी ग्रहण नहीं हो सकती तथा उसका कोई निश्चित आकार भी नहीं है। शरीर और मन जड है। पौद्गलिक है, भौतिक है। पुद्गल का लक्षण है—स्पर्श, रस, गध और वर्णयुक्त होना। अर्थात् कोई भी परमाणु स्पर्श, रस, गध से वियुक्त नहीं है।

यह बात निश्चित है कि आत्मा अरूपी है, अपौद्गलिक है और शरीर तथा मन रूपी हैं, पौद्गलिक हैं। फिर भी अनेकान्त की सापेक्षता के सूत्र में परस्पर बधे होने के कारण आपस में एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। वैभाविक परिणति के समय ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होना अनिवार्य भी है।

> जीव परिणाम हेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति।
> पुग्गलकम्म णिमित्त तहेव जीवो वि परिणमदि॥८०॥ (समयसार)

अर्थात् जीव के रागद्वेष परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्म रूप परिणमन करता है वैसे ही पौद्गलिक-कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है।

लेकिन दोनों अपने-अपने स्वभाव को कभी नहीं छोडते हैं। कर्मोदय में जीव नियम से राग-द्वेष करे, ऐसा नियम नहीं है। लेकिन जब भी रागद्वेष भाव होंगे तब कर्मोदय के कारण होंगे।

पुद्गल परमाणु के चार गुणों में से रंग चित्त को सर्वाधिक प्रभावित करता है। उसका आध्यात्मिक और भौतिक कारण है। प्रत्येक प्राणी का चित्त नाड़ी-संस्थान में क्रियाशील रहता है। सैनी पञ्चेन्द्रिय की अपेक्षा से उसका मुख्य केन्द्र है—मस्तिष्क। वह अन्तर्जगत में सूक्ष्म चेतना से जुडा हुआ है। वहीं से उसे गतिशीलता के आदेश-निर्देश प्राप्त होते रहते हैं और बाह्य में, वह अपने प्रतिबिम्बभूत आभामण्डल से जुडा होता है। जैसा चित्त होता है वैसा बाह्य में आभामण्डल बनता है, जैसा आभामण्डल होता है, वैसा मनुष्य का मन होता है—चित्त होता है। आभामण्डल को देखकर भावों को, चित्त को जाना जाता है। चित्त निर्मल होता है तो भाव निर्मल होते हैं। भाव निर्मल होते हैं तो आभामण्डल निर्मल होता है। चित्त मलिन होता है या भाव कलुषित होते हैं तो आभामण्डल मलिन होता है।

जैनदर्शन में इसे लेश्या नाम से संबोधित किया गया है। बाईबिल में इसे 'डार्क नाइट ऑफ सोल' कहा गया है। पतजलि ने इसे चित्त की वृत्ति कहा है तथा विज्ञान ने आभामण्डल नाम दिया। विज्ञान ने इसे आभामण्डल क्यों कहा? जैन दर्शन में तीर्थंकर के मस्तिष्क के पीछे आभामण्डल होता है, जो उनके चित्त की परम पवित्रता का प्रतीक है। आभामण्डल को भावों का प्रतीक मानकर विज्ञान ने इसे यह सज्ञा प्रदान की है। प्रत्येक प्राणी के शरीर के चहु ओर रश्मियों का एक चक्र होता है। वह सूक्ष्म विद्युत् किरणों के जाल जैसा या मकडी के जाल के सूक्ष्मतन्तुओं के व्यूह जैसा होता है। ऊपर-नीचे, दायें-बायें चारों ओर एक-सा फैला हुआ होता है। जीव की जैसी भावतरंग होती हैं वैसी ही उसकी सरचना हो जाती है। वह एक रूप नहीं होता, सदा बदलता रहता है। निर्मलता, मलिनता, संकोच और विकोच ये समग्र अवस्थाएँ उसमें रूपायित होती रहती हैं। इसके माध्यम से जीव के भावों को जाना जा सकता है। शरीर और मन के स्तर पर घटित होने वाली घटना का ज्ञान किया जा सकता है। सूक्ष्म मन की तरंगों का प्रभाव स्थूल शरीर पर पडता है और शरीर के आधार से आभामण्डल निर्मित होता है। आभामण्डल के अध्ययन मे भविष्य में होने वाली घटनाओं का पता लगाया जा सकता है। रोग और स्वास्थ्य तथा जीवन-मरण की भविष्यवाणी की जा सकती है। किरीयान की फोटोग्राफी ने इस क्षेत्र में काफी आश्चर्यजनक काम किये हैं।

एक सैनिक बाजार से एक कटोरे में घी लेकर गुजर रहा था कि किसी ने मजाक करने की दृष्टि से सहसा कहा—"अटेन्शन।" सैनिक पुरानी आदत के अनुसार पूरी तरह तन कर खडा हो गया। उसका घी का कटोरा तत्क्षण जमीन पर.. । उसी पथ पर उसी स्थान पर और भी पथिक जा रहे थे। उनमें से भी एक ने सुना "अटेन्शन", लेकिन वह पूर्ववत् ही चलता रहा, हाँ, सैनिक के इस मूर्खतापूर्ण आचरण को देखने के लिए वे अवश्य रुक गये। जैसा कि दूसरों का मजाक उड़ाना मनुष्य का स्वभाव है, दूसरा पथिक तो प्रतिक्रियाहीन रहा, पहले ने पुकारा

"अजी। देखा तुमने उस सिपाही को? यह है देश के सैनिक का हाल, ऐसे सैनिक देश की क्या सेवा करेंगे?" वह पथिक पहले सैनिक की ओर देखता है और अपने कार्य में लग जाता है।

यद्यपि घटना एक ही थी तथापि मन की भावधारा, शारीरिक प्रतिक्रिया या आचरण भिन्न-भिन्न था। यह मनोवैज्ञानिकों की प्रयोगशाला में खोज का, अन्वेषण का विषय बन गया। वह सैनिक सैनिक-प्रशिक्षण के आज्ञाजन्य संस्कारों से ग्रसित था। प्रथम दर्शक पथिक ने मात्र व्यर्थ आज्ञा भ्रम पर थोडा-सा उपक्रम किया तथा दूसरा गार्हस्थिक समस्याओं को सुलझाने के विचार में डूबा था, इसलिए उपस्थित हास्यप्रद माहौल भी उसे आकर्षित न कर सका।

एक ही घटना पर भावधारा के विभिन्न रूप उद्‌भासित होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगात्मक निष्कर्ष में बताया कि भावधारा की तीव्रता और मन्दता न्यस्त स्वार्थ की मात्रा का हीनाधिक सयोग पा घटती-बढती है। ये सभी भावविचार परोक्षरूप से पूर्व जन्मगत संस्कारों की ही देन है। चित्तवृत्तियों का यह विश्लेषण दार्शनिकों, विचारकों, मनीषियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। ऋषि आध्यात्मिक जगत् के प्रत्यक्ष ज्ञाता-द्रष्टा होते हैं। उन्होंने पूर्व संस्कारों का स्पष्ट-सूक्ष्म वर्णन किया है। विज्ञान भी सम्प्रति में ऋषियों की विचारधारा से सहमत है। जीवों की चित्तवृत्तियों के सम्बन्ध में आध्यात्मिक-वैज्ञानिक विश्लेषण निम्न उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।

छ मित्र थे। टहलते-टहलते एक दिन वे अरण्य के मध्य पहुँच गये। वे काफी थक चुके थे। उन्हें अत्यन्त जोरों से भूख सताने लगी। वहाँ आस-पास कहीं खाने की सामग्री नहीं थी और भूख भी जोरों की लग रही थी।

कुछ दूरी पर उन्हें एक वृक्ष दिखाई दिया जो फलों-फूलों से लदा था। उसे देखकर एक मित्र ने कहा—अहा। कितने सारे फल लगे हैं। कितना अच्छा हो यदि इसे जड़ से काट दें? मजा आ जायेगा।

दूसरा मित्र कहता है—जड से मत काटो। थोडी ऊँचाई से काटो, यानि तना काटो। पिंड रहने दो।

तीसरा साथी कहता है—तना क्यों काटते है? शाखायें ही काटो। यही ठीक रहेगा।

चौथा दोस्त कहता है—शाखायें भी नाहक क्यों नष्ट करते हो? फलों के गुच्छे ही क्यों न तोड लें।

पाँचवाँ मित्र कहता है—सब कहाँ पके हैं? गुच्छे में कच्चे भी फल लगे हैं, तोडने पर कच्चे फल बेकार जायेंगे, इसलिए मात्र पके-पके फल तोड लो।

छठा मित्र कहता है—व्यर्थ पके फल भी क्यों तोडते हो? वृक्ष को तकलीफ होगी। थोडी

देर इंतजार करो, पके होंगे तो अपने आप ही नीचे गिर आयेंगे। फिर हम बीन लेंगे।

छः व्यक्ति हैं। पहला कह रहा है जड से ही काट लो, उसे वृक्ष की आत्मा दिखाई नहीं दे रही है। सिर्फ वृक्ष दिखाई पड़ रहा है, मात्र अपनी ही भूख का पता है। स्वार्थी है, मन में जरा भी दयाभाव नहीं है। छः व्यक्तियों की छः लेश्या है। प्रत्येक के भाव भिन्न हैं। यानि उपरोक्त छः मित्रों की विचार-वाणी तथा कर्म क्रमशः भिन्न-भिन्न हैं।

श्रमण संस्कृति के मनीषियों ने हजारों वर्षों पूर्व भावों की विभिन्नता का विश्लेषण प्रस्तुत किया है, जिसे आगम की भाषा में लेश्या कहा गया।

"लिप्पइ अप्पी कीरई एदीए णियपुण्ण-पाव च।" (प स। प्रा १। १४३।१४३)

अर्थात् जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है उसको लेश्या कहते हैं। "लिम्पतीति लेश्या। कर्मभिरात्मानमित्य-ध्याहारापेक्षित्वात्" (ध १।१.१ ४।१४९।६) जो लिम्पन करती है उसको लेश्या कहते हैं। या अथवात्मप्रवृत्ति संश्लेषणकारी लेश्या। अर्थात् जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है वह लेश्या है। अन्य प्रकार से लेश्या की परिभाषा करते हुए धवलाकार ने लिखा है—"का लेस्सा णाम। जीव कम्माणं संसिलेसयणयरीमिच्छत्तासजमकसाय जोगा त्ति भणिद होदि।" (ध ८।३ २६३।३५६)

अर्थात् जो जीव व कर्म का सम्बन्ध कराती है वह लेश्या कहलाती है। अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग ये लेश्या है। जैनचार्यों ने इसकी अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्या की है। कषाय और योग का द्वयात्मक कार्य लेश्या के नाम से सिद्धान्त-ग्रन्थों में पाया जाता है। कषाय और योग सासारिक स्थिति में प्रत्येक जीव को आवृत किये हुए है। कषायोदय से अनुरक्त योगप्रवृत्ति को भी लेश्या कहते हैं (गाथा ४१०, गोम्मटसार जीवकाड)। मन-वचन-काय की चचलता एवं क्रोध-मान-लोभ-माया से अनुरजित भाव को भी लेश्या कहा गया है।

मनोवैज्ञानिकों एव अन्य दार्शनिकों और विचारकों ने मात्र चित्तवृत्तियों की विविधता के सन्दर्भ में तथ्य एकत्रित किये हैं। किन्तु जैनाचार्यों ने इसका मजुल-वर्गीकरण सप्रमाण प्रस्तुत कर समस्त संसारी जीवों की प्रवृत्तियों को वर्ण के आधार से छह भागों में विभाजित किया है—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, पीत (तेजो) लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या।

"लेस्साणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया, नीललेस्सिया, काउ लेस्सिया, तेउ लेस्सिया, पम्म लेस्सिया, शुक्क लेस्सिया अलेस्सिया चेदि। (प स। प्रा। १।१८३-८४)

अर्थात् लेश्या मार्गणा के अनुवाद से कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, पीत लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या तथा अलेश्या होती है।

वर्णभेद पर आधारित, श्रुतपारगों एवं समीचीनताओं का यह विश्लेषण उनकी परम वैज्ञानिक मनोवृत्तियों एवं प्रमाण ज्ञान का परिचायक है। क्योंकि सम्प्रति वैज्ञानिकों के बढते हुए प्रायोगिक

चरण भी जैनाचार्यों द्वारा प्रदत्त लेश्या के साथ-साथ रगों के सश्लेष सम्बन्ध को स्वीकार कर उनमें निकटता का सम्बन्ध घोषित कर रहे है—

किण्हा भमर-सवण्णा णीला पुण णील-गुलिय-सकासा।
काउ कओद वण्णा तेउ तवणिज्ज वण्णा दु॥

पम्हा पउमसवण्णा सुक्का पुणुकास-कुसुम-सकासा।
वण्णंतरं च एदे हवति परिमिता अणता वा॥ (प सं प्रा।१।१८३-१८४)

अर्थात् कृष्ण लेश्या भौर के समान वर्ण वाली, नील नील की गोली समान, या नीलमणि या मयूरकंठ के समान, कापोत कबूतर के समान, तेजोलेश्या तप्त सुवर्ण के समान, पद्मलेश्या पद्म के समान और शुक्ल लेश्या काम के फूल सदृश्य श्वेतवर्ण वाली होती है।

जैनाचार्यों का कथन है कि रगों का प्राणियों के चित्त पर गहरा प्रभाव पडता है। सौर किरणों पर शोधरत आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि भिन्न-भिन्न रग व्यक्ति की विशेष मन स्थिति के आधार पर अनुकूल एव प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। यू सी एल ए के डॉ हास का कथन है कि प्रयोगों से पता चलता है कि प्रमादी अल्पमन्दताग्रस्त विद्यार्थियों के कमरे में लाल रंग पुतवा देने व उसी रग के पर्दे लगा देने से उनकी कार्यक्षमता भी बढी और उनमें स्फूर्ति उत्साह के साथ-साथ उनका बुद्धि-स्तर भी बढता देखा गया।

वैज्ञानिक डॉक्टर अलबर्ट काहन का मत है कि कई मनोविकार-ग्रस्त तनाव पीडित बेचैन व्यक्तियो का उपचार मात्र उनके आस-पास के रगों को बदलकर किया जा सकता है। भारत में प्राचीनकाल से ही रगों के आधार पर चिकित्सा पद्धति प्रचलित है। प्राचीन चिकित्सकों ने इसके भिन्न-भिन्न प्रयोग किये हैं। सम्प्रति रग विज्ञान के प्रति वैज्ञानिकों की आध्यात्मिक रुचि जाग्रत हुई है। वैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रकार के रगों की काच की शीशियों में मात्र जल भर कर तदुपरात बोतलों के जल से रोगियों की चिकित्सा की है। बल्कि कुछ वैज्ञानिकों ने चूहों पर रंग का प्रयोग किया है। समस्त प्रयोग पशु-पक्षियों पर ही किये जाते हैं। चार बोतलों में चार प्रकार के रंगों से युक्त पानी भरा। पानी में लाल, हरा, नीला, सफेद रग घोला गया। इन रंग घुले पानी की बोतलों को कुछ समय के लिए धूप में रख दिया गया। धूप में रखने के उपरान्त एक चूहे को लाल रंग का पानी पिलाया। लाल रग का पानी पीते-पीते ही चूहा उत्तेजना का अनुभव करने लगा। दॉत किटकिटाने लगा और दूसरे चूहों पर आक्रमण करने लगा।

दूसरे चूहे को पीले रंग का पानी पिलाया गया। उसे अपने भोजन की भी रुचि नहीं रही, बस मस्ती में इधर-उधर फुदकने लगा। तीसरे चूहे को हरे रग का पानी पिलाया गया। वह शांत रहा। बल्कि पूर्व की वनिस्बत ज्यादा शात हो गया। आनन्दित होकर मुस्कुराने लगा। चौथे चूहे को सफेद जल पिलाया गया। सफेद रग का पानी पीते ही चूहे के परिणाम निर्मल

हो गये। विभिन्न रंगों का प्रभाव चूहों पर विभिन्न-विभिन्न पडा।

वर्तमान में रंग के सम्बन्ध में अत्यधिक वैज्ञानिक खोजें हुई हैं और हो रही हैं। रंग का आध्यात्मिक विज्ञान और भौतिक मनोविज्ञान कहता है कि काला रंग शोक का प्रतीक है, नीला रंग मायाचारी का प्रतीक है। कबूतरी रंग स्वार्थ का प्रतीक है। कृष्ण नील कापोत लेश्या वाला क्षुद्र होता है, रसलोलुप होता है, दृष्टिकोण मिथ्या रखता है, सम्यक् बात को ग्रहण नहीं करता, ओछी वृति वाला होता है, स्वार्थी होता है, बिना सोचे-समझे काम करने वाला होता है, नृशंस होता है। इन्द्रिय लम्पटी होता है, भोगासक्त होता है, क्रोधी होता है। द्वेष से प्लावित होता है, शठता से परिपूर्ण होता है, प्रमत्त होता है, आलसी होता है। जैसे यदि कोई कहे तुम मोटे होते जा रहे हो तो वह कहता है—क्या तुम्हारे बाप की रोटी खाता हूँ? कोई कहता है तुम काफी दुबले होते जा रहे हो, तो कहता है—शरीर मेरा है तुम्हें क्या चिन्ता? वह सम्यक् बात को मिथ्या ग्रहण करता है, अप्रियभाषी होता है, ईर्ष्या करने वाला होता है। ये सब भाव या लक्षण काले रंग के, अप्रशस्त लेश्या के प्रभाव से ही पैदा होते हैं। लाल, पीला और श्वेत रंग श्रेष्ठ प्रभाव वाला होता है। तेजो लेश्या उगते हुए सूर्य के समान, तप्त स्वर्ण के समान लाल होती है। लाल रंग निर्माण का प्रतीक है। लाल रग का तत्त्व है अग्नि। मनुष्य की सारी सक्रियता, शक्ति, तेजस्विता, दीप्ति, प्रवृत्ति सबका स्रोत है लाल रंग। लाल रंग स्वास्थ्य का प्रतीक है। डॉक्टर सर्वप्रथम देखता है कि रक्त में स्वेत कण कितने हैं और लाल कण कितने हैं? लाल कण कम होते जा रहे हैं तो वह आलस्य का द्योतक है। लाल रंग प्रतिरोधात्मक शक्ति का प्रतीक है। वह बाहर से आने वाले को रोकता है, भीतर नहीं आने देता। लाल रग के पास अन्तर्जगत तक पहुँचाने की क्षमता है। तथा काले रग के पास यानि कृष्ण-नील-कापोत लेश्या के पास बाह्य जगत् में भटकाने की पूर्ण क्षमता है। पीले रंग की क्षमता है मन को प्रसन्न रखना, बुद्धि का विकास करना, भोगों से उदासीन रखना, धर्म के प्रति रुचि को जगाना, मस्तिष्क और नाडी सस्थान को सुदृढ़ करना, सक्रिय बनाना। पद्म लेश्या का रंग पीला है। यह रंग अत्यन्त शक्तिशाली होता है। यह रग गर्मी पैदा करने वाला होता है। लाल रंग भी गर्मी पैदा करता है। उत्क्रमण की समग्र प्रक्रिया ऊर्जा बढाने की प्रक्रिया है। तेजोलेश्या में भी गर्मी बढती है। और पद्मलेश्या में भी गर्मी बढती है। जब गर्मी पूरी मात्रा में बढ जाती है, अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, गर्मी बढ़ाने का और अवकाश नहीं रहता है तब शुक्ल लेश्या के द्वारा गर्मी का उपशमन होता है। यानि परम विशुद्धशुक्ल लेश्या की उपस्थिति में निर्वाण घटित होता है।

छह लेश्यायें हैं और उनके छह रंग हैं। तीन लेश्यायें खराब हैं, अप्रशस्त हैं तथा वाद के तीन रंग की तीन लेश्यायें पीत-पद्म-शुक्ल अच्छी है, प्रशस्त है। तीन काली लेश्यायों ने सांसारिक व्यक्तित्व का निर्माण कर रखा है। उसे विघटित करने के लिए तीन प्रकाश लेश्यायें सक्षम है वे नया परम व्यक्तित्व उभार कर सामने रखती हैं।

प्रत्येक लेश्या अपना अलग अस्तित्व रखती है। प्रत्येक के गुण धर्म भिन्न-भिन्न है। द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या में अन्तर है। यह जरूरी नहीं है कि द्रव्यलेश्या और भावलेश्या समान हो। किन्हीं-किन्हीं जीवों के द्रव्य और भावलेश्या समान भी होती है। भाव लेश्या तो प्रत्येक समय बदलती रहती है तथा द्रव्यलेश्या जीवनपर्यन्त वही रह सकती है। अपर्याप्त अवस्था में सभी जीवों के द्रव्यलेश्या मात्र शुक्ल व कापोत होती है। नरक गति में कृष्ण द्रव्य लेश्या होती है। जल की द्रव्य लेश्या शुक्ल होती है। भवनत्रिक में छहों द्रव्य लेश्यायें सम्भव हैं। आहारक शरीर की मात्र दव्य शुक्ल लेश्या रूप होती है। कपाट समुद्घात के समय कापोत द्रव्य लेश्या होती है। वैमानिक देवों में द्रव्य भाव दोनों लेश्यायें समान होती हैं।

"कपायानुरजिता कायवाड्मनोयोगवृत्ति द्रव्यलेश्या।" (ध.।१।१, १, ४। १४९।८) अर्थात् कपाय से अनुरजित मन- वचन-काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। इस परिभाषा को गोम्मटसार जीवकाण्ड में अन्य प्रकार से कहा है--

> 'लेस्सा मोहोदय खओव समोवसमखयज्जीवफदण भावो।" (गो जी । मू ५३६। ९।३१)

जो जीव का मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, क्षय से उत्पन्न स्पन्दन भाव होता है— वह लेश्या है। अब प्रश्न उठता है कि द्रव्य लेश्या किसे कहें?

"शरीरनामोदयापादिता द्रव्यलेश्या।" (रा वा ९।७।११।६०४।१३) अर्थात् शरीर नाम कर्मोदय से उत्पन्न शरीर के वर्ण को द्रव्यलेश्या कहते हैं।

> "वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दुव्वदो लेस्सा"— गो जी।मू।४९४।

अर्थात् वर्ण नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ जो शरीर का वर्ण है उसको द्रव्यलेश्या कहते हैं।

कृष्णलेश्या वाले के लक्षण

> चण्डो ण मुणदि वेर भडण-सीलो य धम्मदय रहिओ।
> दुट्ठो ण य एदि वस लक्खणमेद तु किण्हस्स"
> मदो बुद्धि विहीणो णिव्विणाणी य विसय लोलोय।
> माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य।। (प स ।प्रा १।१४४-१४५)

अर्थात् तीव्र क्रोध करने वाला, वैर को न छोडने वाला, लडना जिसका स्वभाव हो, धर्म और दया से रहित हो, दुष्ट हो, जो किसी के वश में न हो ये कृष्ण लेश्या वाले के लक्षण है। मंद यानि स्वच्छंद हो, वर्तमान कार्य करने में विवेक रहित हो, कला चातुर्य से रहित हो, पचेन्द्रिय के विपय में लम्पट हो, मानी-मायावी हो, आलसी और भीरु हो, ये सब कृष्ण लेश्या

के प्रतीक हैं। राजवार्तिक में कृष्ण लेश्या का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"अनुनयानभ्युपगमोपदेशोग्रहणवैरामोचनातिचण्डत्व-दुर्मुखत्व-निरनुकम्पता-क्लेशन-मरणापरितोषणादि कृष्णलेश्यालक्षणम्"

अर्थात्—दुराग्रह उपदेशावमानन, तीव्र वैर, अति क्रोध, दुर्मुख, निर्दयता, क्लेश, ताप, हिंसा, असंतोष आदि परम तामस भाव कृष्ण लेश्या के लक्षण हैं।

आर्त रौद्र सदा क्रोधी, मत्सरो, धर्मवर्जित।
निर्दयो, वैर-सयुक्तो, कृष्ण लेश्यायुतो नर ॥ (गुरुवाणी, आचार्य विद्यानन्द)

जो आर्त-रौद्र ध्यान में परिणमन करता हो, क्रोध से सदा भरा रहता हो, मात्सर्य भाव से भरा हो, सदा लडने को तत्पर हो, धर्म से रहित हो, धर्म की, गुरु की निन्दा करता हो, दया से रहित हो, निर्दयी हो, बैर की गॉठ बॉधने में निपुण हो उसे कृष्णलेश्या से युक्त जानो।

नीललेश्या वाले के लक्षण

आलस्यो मदबुद्धिश्च स्त्रीलुब्धश्च प्रवचक।
कातरश्च सदा मानी नीललेश्यायुतो नर ॥

—जो आलस से भरा हो, प्रमाद में डूबा हो, मद बुद्धि हो, स्त्री लम्पटी हो, दूसरों को ठगने में चतुर हो, डरपोक हो, सदा मानाकाक्षा से भरा हो उसे नीललेश्या से सयुक्त जानो।

णिद्दावंचण-बहुलो धणधण्णे होई तिव्व सण्णोय।
लक्खणभेद भणिय समासदो णीललेस्सस्स॥ (प स.। प्रा ।१।१४६)

—बहुत निद्रालु , पर-वचन में अतिदक्ष और धन्य-धान्य के सग्रह में तीव्र लालसा वालों को नील लेश्या वाला कहा गया है।

"आलस्य-विज्ञानहानि-कार्यानिष्ठापन भीरुता-विषयातिगृद्धि-माया—तृष्णातिमानवचनानृतभाषणचपलातिलुब्धत्वादि नीललेश्यालक्षणम्।" (राजवार्तिक।४।२२)

संक्षेपत आलस्य, मूर्खता, कार्यनिष्ठा, भीरुता, अतिविषयाभिलाषी, अतिगृद्धि, माया, तृष्णा, अतिमान, वचना, अनृत भाषण, चपलता, अतिलोभ आदि भाव नीललेश्या के लक्षण हैं।

कापोत-लेश्या वाले के लक्षण

रूसइ णिंदइ अण्णे, दूसइ बहुलो य सोयभयबहुलो।
असुयइ परिभवइ परं, पसंसइ अप्पय बहुसो॥५१२॥

ण य पत्तियइ पर सो, अप्पाण पिव पर पि मण्णतो।
तूसइ अभित्थुवतो, ण य जाणइ ह्राणि वड्ढि वा॥५१३॥
मरणं पत्थेइ रणे, देइ सुबहुग वि थुव्वमाणो दु।
ण गणइ कज्जाकज्ज, लक्खमेय तु काउस्स॥५१४॥ (गोम्मटसार जीवकांड)

अर्थात् जो दूसरों पर रोष करता हो, दूसरों की निन्दा करता हो, दूषण बहुत लगाता हो, शोकबहुल हो, भयबहुल हो, दूसरों से ईर्ष्या करता हो, पर का पराभव करता हो, नाना प्रकार से अपनी प्रशसा करता हो, पर का विश्वास न करता हो, अपने समान दूसरों को भी न मानता हो, स्तुति करने पर अति सन्तुष्ट हो, अपनी हानि वृद्धि को न जानता हो, रण में मरने का इच्छुक हो, प्रशसा करने पर अत्यधिक धन देवे और कर्तव्य-अकर्तव्य को कुछ न गिनता हो ये सब कापोत- लेश्या वाले चिह्न हैं।

शोकाकुल सदा रुष्ट परनिदात्मप्रशसक ।
सग्रामे प्रार्थते मृत्यु कापोतोऽयमुदाहृत ॥ (गुरु-वाणी, आचार्य विद्यानन्द)

—जो शोक से आविष्ट हो, सदा रुष्ट रहता हो, परनिन्दा और आत्मप्रशसा करता हो, युद्ध में मरने को तैयार हो, ये कापोत लेश्या वाले के लक्षण हैं।

तेजो (पीत) लेश्या वाले के लक्षण

जाणइ कज्जाकज्ज सेयामेय च सव्वसमपासी।
दय-दाणरदो य विदू लक्खणमेय तु तेउस्स॥ (प स ॥प्रा।१।१५०)

अर्थात् जो अपने कर्तव्य और अकर्तव्य, सेव्य, असेव्य को जानता है, सब में समदर्शी हो, दया और दान में रत हो, मृदु स्वभावी और ज्ञानी हो, ये सब तेजो लेश्या वाले के लक्षण हैं। राजवार्तिक के अनसार—

"दृढमित्रता-सानुक्रोशत्व-सत्यवाद-दानशीलात्मा-स्वकार्यसम्पादनपटुविज्ञानयोग—सर्वधर्मसमदर्शनादि तेजोलेश्यालक्षणम्।"

—दृढता, मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलत्व, स्वकार्यपटुता, सर्वधर्मसमदर्शित्व आदि तेजोलेश्या के लक्षण है।

प्रबुद्ध करुणायुक्त कार्याकार्यविचारक ।
लाभालाभे सदा प्रीत पीतलेश्यायुतो नर ॥

—जो प्रबुद्ध हो, करुणा से सयुक्त हो, कार्य-अकार्य का विचारक हो, लाभ-अलाभ में समता हो, सदा प्रेम से भरा हो, ये सब पीत लेश्या वाले के लक्षण हैं।

पद्मलेश्या वाले के लक्षण

चाई भद्दो चोक्खो उज्जुयकम्मो य खमइ बहुय पि।
साहूगुणपूयणिरओ लक्खणमेयं तु पउमस्स॥ (प.स।प्रा।१।१५१)

—जो त्यागी हो, भद्र हो, सच्चा हो, उत्तम काम करने वाला हो, बहुत अपराध या हानि होने पर क्षमा करने वाला हो, साधुजनों के गुणों के पूजन में निरत हो, ये सब पद्म लेश्या वाले के लक्षण हैं।

दयाशील सदा त्यागी देवतार्चनतत्पर।
शुचिर्भूत सदानन्द पद्मलेश्यायुतो नर॥ (गुरुवाणी, आचार्य विद्यानन्द)

—जो दयाशील हो, वैराग्य से, त्याग से सम्पन्न हो, जिनेन्द्र पूजा में तत्पर रहता हो, जिसका मन पवित्र हो, आत्मानद में रमण करने वाला हो, ये सब पद्म लेश्या वाले के लक्षण है।

"सत्यवाक्य-क्षमोपेत-पडित-सात्विकदानविशारद-चतुरर्जुगुरु देवतापूजाकरण-निरतत्वादि पद्मलेश्यालक्षणम्।" (राजवार्तिक।४।२२)

—जो सत्यवाक्, क्षमा, सात्विक दान, पाण्डित्य, गुरु-देवता-पूजन में रुचि आदि रखने वाला हो, ये सब पद्म लेश्या वाले के लक्षण हैं।

शुक्ललेश्या वाले के लक्षण

रागद्वेषविनिर्मुक्तो शोक-निन्दा-विवर्जित।
परात्मभावसम्पन्न शुक्ललेश्यायुतो नर॥ (गुरुवाणी, आचार्य विद्यानन्द)

—जो राग-द्वेष से रहित हो, शोक-निन्दा से रहित हो, परमात्मभाव से सम्पन्न हो, ये शुक्ल लेश्या वाले के लक्षण हैं।

ण कुणेइ पक्खवाय ण वि य णिदाण समोय सव्वेसु।
णत्थि य राओ दोसो णेहो विहु शुक्कलेसस्स॥ (प.स।प्रा।१।१५२)

—जो पक्षपात न करता हो, जो निदान न करता हो, सबसे समान भाव रखता हो, जिसे पर में, राग-द्वेष व स्नेह न हो, ये सब शुक्ल लेश्या वाले के लक्षण हैं।

"वैर-राग-मोह-विरह-रिपुदोषग्रहण-निदानवर्जन-सर्वसावद्यकार्यारम्भौदासीन्य-श्रेयोमार्गानुष्ठानादि शुक्ललेश्यालक्षणम्।" (राजवार्तिक)

—निर्वैर, वीतरागता, शत्रु के दोषों पर दृष्टि न देना, निन्दा न करना, पाप कर्मो से उदासीन रहना, श्रेय मार्ग में रुचि रखना, ये शुक्ल लेश्या वाले के लक्षण हैं।

ध्यान, चिन्तन एव तप साधना से आपूरित आत्मद्रष्टाओं मे, सूक्ष्म भावों का, मन की रंगीन

सवेदनाओं का, सवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं का वर्ण के आधार पर, भावों के आधार पर, छ भागों में विभाजन किया है। यह लेश्या प्रकरण हमारे समक्ष हमारी मनोवृत्तियों का एक इतिवृत्त प्रस्तुत करते हुए उसमें पायी जाने वाली अप्रशस्त वृत्तियों से परे होने एव आत्मिक उत्थान की प्रगति में एक उत्प्रेरक भूमिका निभाता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कराने वाले तत्त्व को लेश्या कहते हैं। कषायोदय छ प्रकार का होता है—तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मंद, मदतर, मन्दतम। इन छ प्रकार के कषायोदय का क्रम, क्रमश छ प्रकार की लेश्याओं का भी है। यथा कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। वर्ण भेद इनके हार्द को समझने के लिए किया गया है। इनमें से प्रथम तीन अशुभ होती हैं तथा अन्तिम तीन शुभ होती हैं। इन लेश्याओं से रहित जीवन केवल सिद्ध का है। जिनका पचपरावर्तन संसार विनिर्गत है, जो अनन्तसुखी है और आत्मोपलब्धि रूप सिद्धालय को सम्प्राप्त हैं। ऐसे अयोगकेवली और सिद्धात्माओं के अलेश्या जानना चाहिए।

आचार्य श्री १०८ कुन्दकुन्द स्वामी

आचार्य कुन्दकुन्द

आचार्य कुन्दकुन्द	डॉ पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर	५५५
आ कुन्दकुन्द और उनका माहात्म्य	डॉ लालबहादुर शास्त्री, दिल्ली	५६६
आचार्य कुन्दकुन्द की स्याद्वादवाणी	डा दयाचन्द सिद्धान्ताचार्य, सागर	५७९
समयसार महिमा	स्व सहजानन्द वर्णी	५९०
समयसार एक अध्ययन	ग आर्यिका ज्ञानमतीजी	६१८
प्रवचनसार एक उपयोगी शिक्षाग्रंथ	डा प्रेमचन्द रावका,	६३४
प्रवचनसार की आ अमृतचन्द्र व जयसेनकृत टीकाए	डा रमेशचन्द जैन, बिजनौर	६४०
नियमसार-एक अध्ययन	डा पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर	६५०
आ कुन्दकुन्द व तिरुक्कुरल	डॉ सिहचन्द्र शास्त्री, मद्रास	६६३
आ कुन्दकुन्द के दर्शन मे निश्चय व व्यवहार नय	डॉ सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी	६७१

आ कुन्दकुन्द और ध्यान	ब्र कु कौशल, दिल्ली	६८३
कुन्दकुन्द की दृष्टि मे मोक्ष व मोक्षमार्ग	डा राजेन्द्रकुमार बसल, भिलाई	६९७
कुन्दकुन्द और पुद्गल द्रव्य · आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे	डॉ कपूरचन्द जैन, खतौली	७०५
कुन्दकुन्द साहित्य मे लोक व्यवहार	डा जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर	७१२
आचार्य कुन्दकुन्द की मुख्य गाथाए	मिश्रीलाल जैन एडवोकेट, गुना	७१८

।वात्सल्यरत्नाकर।

आचार्य कुन्दकुन्द

❑ डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, सागर

दिगम्बर जैनाचार्यों में कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि है। मूर्तिलेखों, शिलालेखों, ग्रंथप्रशस्तिलेखों एवम् पूर्वाचार्यों के संस्मरणों में कुन्दकुन्द स्वामी का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया जाता है।

मङ्गल भगवान् वीरो मङ्गल गौतमो गणी।
मङ्गल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

इस मङ्गल पद्य के द्वारा भगवान् महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम के बाद कुन्दकुन्द स्वामी को मङ्गल कहा गया है। इनकी प्रशस्ति में कविवर वृन्दावन का निम्नांकित सवैया अत्यत प्रसिद्ध है, जिसमें बतलाया है कि मुनीन्द्र कुन्दकुन्द सा आचार्य न हुआ है और न होगा–

जासके मुखारविन्दतैं प्रकाश भासवृन्द,
स्याद्वाद जैनबैन इंद कुन्दकुन्द से।
तासके अभ्यास तैं विकास भेद ज्ञान होत
मूढ सो लखे नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्द से।
देत हैं अशीस सीस नाय इन्द चंद जाहि,
मोह मार खंड मारतंड कुन्दकुन्द से।
विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा
हुए न हैं, न होंहिगे मुनिंद कुन्दकुन्द से॥

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के इस जयघोष का कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्व का, विशेषतया आत्मतत्त्व का, विशद वर्णन। समयसार आदि ग्रन्थों में उन्होंने पर से भिन्न तथा स्वकीय गुणपर्यायों से अभिन्न आत्मा का जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने इन ग्रन्थों में अध्यात्मधारारूप जिस मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है उसके शीतल एव पावन प्रवाह में अवगाहन कर भवभ्रमण-श्रान्त पुरुष शाश्वत-शान्ति को प्राप्त करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य का विदेह-गमन

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के विषय में यह मान्यता प्रचलित है कि वे विदेह क्षेत्र गये थे और सीमंधर स्वामी की दिव्यध्वनि से उन्होंने आत्मतत्त्व का स्वरूप प्राप्त किया था। विदेह-गमन का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले आचार्य देवसेन (वि. स. दशवीं शती) हैं जैसा कि उनके दर्शनसार

से प्रकट है—

> जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
> ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति॥४३॥

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ, सीमंधर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञान से बोध न देते तो श्रमण/मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते। देवसेन के बाद, ईसा की बारहवीं शताब्दी के विद्वान् जयसेनाचार्य ने भी पञ्चास्तिकाय की टीका के आरम्भ में निम्नलिखित अवतरण-पुष्पिका में कुन्दकुन्द स्वामी के विदेह-गमन की चर्चा की है—"अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यै प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतराग-सर्वज्ञ-श्रीमंधरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गत-दिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतै श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवै पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौण-मुख्यप्रतिपत्त्यर्थं अथवा शिवकुमार-महाराजादिसंक्षेपरूचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यव्याख्यानं कथ्यते।"

अर्थात् "जो कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे, प्रसिद्ध कथा के अनुसार पूर्व विदेहक्षेत्र जाकर वीतराग सर्वज्ञ श्रीमंधरस्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन कर तथा उनके मुखकमल से विनिर्गत दिव्य-ध्वनि के श्रवण से अवधारित पदार्थों से शुद्ध आत्मतत्त्व आदि सारभूत अर्थ को ग्रहण कर जो पुन: वापिस आये थे तथा पद्मनन्दी आदि जिनके दूसरे नाम थे ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के द्वारा अन्तस्तत्त्व की मुख्यरूप से और बहिस्तत्त्व की गौणरूप से प्रतिपत्ति कराने के लिए अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिए पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्र रचा गया।"

षट्प्राभृत के संस्कृतटीकाकार श्री श्रुतसागरसूरि ने अपनी टीका के अन्त में भी कुन्दकुन्द स्वामी के विदेहगमन का उल्लेख किया है—

"श्रीमत्पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य-वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्य-गृधपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दित-श्रीमंधरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तत्-प्राप्त-श्रुतज्ञान-सम्बोधित-भारतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारक-पट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रंथे—"

—"पद्मनन्दी, कुन्दाकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृधपिच्छाचार्य, इन पाँच नामों से जो युक्त थे, चार अंगुल ऊपर आकाश-गमन की ऋद्धि जिन्हें प्राप्त थी, पूर्वविदेह क्षेत्र के पुण्डरीकिणी नगर में जाकर श्रीमंधर अपरनाम स्वयंप्रभ जिनेन्द्र की जिन्होंने वन्दना की थी, उनसे प्राप्त श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भरतक्षेत्र के भव्य-जीवों को सम्बोधित किया था, जो जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्ट के आभूषण स्वरूप थे तथा कलिकाल के सर्वज्ञ थे, ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रंथ में।" उपर्युक्त उल्लेखों से साक्षात् सर्वज्ञदेव की वाणी सुनने के

कारण कुन्दकुन्द स्वामी की अपूर्व महिमा प्रख्यापित की गई है।

कुन्दकुन्दाचार्य के नाम

पञ्चास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द के पद्मनन्दी आदि अपर नामों का उल्लेख किया है। षट्प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृधपिच्छाचार्य इन पाँच नामों का निर्देश किया है। नन्दिसघ से सम्बद्ध विजयनगर के शिलालेख में भी, जो लगभग १३८६ ई का है, उक्त पाँच नाम बतलाये गये हैं। नन्दिसंघ की पट्टावली में भी उपर्युक्त पाँच नाम निर्दिष्ट हैं। परन्तु अन्य शिलालेखों में पद्मनन्दी और कुन्दकुन्द अथवा कोण्डकुन्द इन दो नामों का ही उल्लेख मिलता है।

कुन्दकुन्द का जन्मस्थान

इन्द्रनन्दी आचार्य ने पद्मनन्दी को कुण्डकुन्दपुर का बतलाया है। इसलिए श्रवणबेलगोला के कितने ही शिलालेखों में उनका कोण्डकुन्द नाम लिखा है। श्री पीवी देसाई ने 'जैनिज्म इन साउथ इडिया' में लिखा है कि गुण्टकल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग ४ मील पर एक कोनकुण्डल नाम का स्थान है जो अनन्तपुर जिले की गुटी तालुके में स्थित है। शिलालेख में उसका प्राचीन नाम 'कोण्डकुन्दे' मिलता है। यहाँ के निवासी इसे आज भी 'कोण्डकुन्दि' कहते हैं। बहुत कुछ सम्भव है कि कुन्दकुन्दाचार्य का जन्मस्थान यही हो।

कुन्दकुन्द के गुरु

ससार से नि स्पृह वीतराग साधुओं के माता-पिता के नाम सुरक्षित रखने/लेखबद्ध करने की परम्परा प्राय नहीं रही है। यही कारण है कि समस्त आचार्यों की माता-पिता विषयक उपलब्धि प्राय नहीं है। हॉ, इनके गुरुओं के नाम किसी न किसी रूप में उपलब्ध होते हैं। पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द स्वामी के गुरु का नाम कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव लिखा है और नन्दिसघ की पट्टावली में उन्हें जिनचन्द्र का शिष्य बतलाया गया है। परन्तु कुन्दकुन्दाचार्य ने बोधपाहुड के अन्त में अपने गुरु के रूप में भद्रबाहु का स्मरण करते हुए अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य बतलाया है। बोधपाहुड की गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सद्दविआरो हूओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहिय।
सो तह कहिय णाण सीसेण य भद्दबाहुस्स॥६१॥

बारस अगवियाण चउदस पुव्वगविउलवित्थरण।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ॥६२॥

पथम गाथा में कहा गया है कि *जिनेन्द्र भगवान् महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया* है वह भाषासूत्रों में शब्द-विकार को प्राप्त हुआ अर्थात् अनेक प्रकार के शब्दों में ग्रथित किया गया है। भद्रबाहु के शिष्य ने उसे उसी रूप में जाना है और कथन किया है। द्वितीय गाथा में कहा गया है कि बारह अगों और चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के वेत्ता गमकगुरु भगवान श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवन्त हों।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और उनकी महत्ता

दिगम्बर जैन ग्रथों में कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ अपना अलग प्रभाव रखते हैं। उनकी वर्णनशैली ही इस प्रकार की है कि पाठक उसमे वस्तुस्वरूप का अनुगम बडी सरलता से कर लेता है। व्यर्थ के विस्तार से रहित, नपे-तुले शब्दों में किसी बात को कहना इन ग्रन्थो की विशेषता है। कुन्दकुन्द की वाणी सीधी हृदय पर असर करती है। निम्नांकित ग्रन्थ कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित निर्विवाद रूप से माने जाते हैं तथा जैन समाज में उनका सर्वोपरि मान है। (१) पञ्चास्तिकाय, (२) समयसार, (३) प्रवचनसार, (४) नियमसार, (५) अष्टपाहुड दसणपाहुड, चारित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, सीलपाहुड और लिङ्गपाहुड, (६) वारसणुपेक्खा, (७) रयणसार और (८) भक्तिसगहो।

कुन्दकुन्द-साहित्य में साहित्यिक सुषमा

कुन्दकुन्दाचार्य ने प्राय गाथा छन्द का, जो कि आर्या नाम से प्रसिद्ध है, प्रयोग किया है। कहीं अनुष्टुप् और उपजाति का भी प्रयोग किया है। एक ही छन्द को पढते-पढते बीच में यदि विभिन्न छन्द आ जाता है तो उससे पाठक को एक विशेष प्रकार का हर्ष होता है। कुन्दकुन्द स्वामी के कुछ अनुष्टुप् छन्दो का नमूना देखिए —

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदसणलक्खणो।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥ (भावपाहुड ५९)

उपजाति का नमूना

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण्ण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहियेण।

णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बधो जहण्ण वज्जे विसमे समे वा॥ (प्रवचनसार)

अलङ्कारों का पुट भी कुन्दकुन्द स्वामी ने यथास्थान दिया है जैसे, अप्रस्तुतप्रशसा का एक उदाहरण देखिए —

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठुवि आयण्णिऊण जिणधम्म।

गुडदुद्धं पि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति॥ (भावप्राभृत १३६)

थोडे से हेर-फेर के साथ यह गाथा समयप्राभृत में भी आई है। उपमालकार की छटा देखिये—

जह तारयाण चदो मयराओ मयउलाण सव्वाण।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावय दुविहधम्माण॥१४२॥

रूपकालकार की वहार देखिये —

जिनवर चरण बुरुह णमतिजे परमभत्तिरायेण।
ते जम्मवेल्लिमूल खणति वरभावसत्थेण॥१५१॥

कहीं पर कूटक पद्धति का भी अनुसरण किया है। यथा—

तिहि तिण्णि धरवि णिच्च तिअरहिओ तह तिएण परियरिओ।
दो दोस विप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई॥ (भावप्राभृत ४४)

अर्थात् तीन गुप्तियों के द्वारा तीन को मन, वचन, काय को धारण कर निरन्तर तीन शल्यत्रय से रहित, तीन से रत्नत्रय से सहित और दो दोपो राग-द्वेप से मुक्त रहने वाला योगी परमात्मा का ध्यान करता है।

कुन्दकुन्दाचार्य की नय व्यवस्था

वस्तुस्वरूप का अधिगम ज्ञान, प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ मे रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मो को एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो पदार्थ में रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मों में से एक को प्रमुख और दूसरे को गौण कर विवक्षानुसार क्रम से ग्रहण करता है। नयों का निरूपण करने वाले आचार्यो ने उनका शास्त्रीय और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि की नय-विवेचना में नय के द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये हैं और आध्यात्मिक दृष्टि में निश्चय तथा व्यवहार नय का निरूपण है। यहो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो ही निश्चय में समा जाते हैं और व्यवहार में उपचार कथन रह जाता है। शास्त्रीय दृष्टि मे वस्तु-स्वरूप की विवेचना का लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टि में उस नय-विवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है। इन दोनों दृष्टियो का अन्तर बतलाते हुए 'कुन्दकुन्द प्राभृतसंग्रह' की प्रस्तावना में पृष्ठ ८२ पर सिद्धान्ताचार्य प कैलाशचन्द्र जी ने निम्नांकित पंक्तियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण लिखी हैं—

"शास्त्रीय दृष्टि वस्तु का विश्लेषण करके उसकी तह तक पहुचने की चेष्टा करती है। उसकी दृष्टि में निमित्त कारण के व्यापार का उतना ही मूल्य है जितना उपादान कारण के व्यापार का और पर-संयोगजन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है जितनी स्वाभाविक अवस्था।

जैसे उपादान कारण के बिना कार्य नहीं होता वैसे ही निमित्त कारण के बिना कार्य नहीं होता। अत कार्य की उत्पत्ति में दोनों का सम व्यापार है। जैसे मिट्टी के बिना घट उत्पन्न नहीं होता वैसे ही कुम्हार-चक्र आदि के बिना भी घट उत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में वास्तविक स्थिति का विश्लेषण करने वाली शास्त्रीय दृष्टि किसी एक के पक्ष में अपना फैसला कैसे दे सकती है? इसी तरह मोक्ष जितना यथार्थ है ससार भी उतना ही यथार्थ है और ससार जितना यथार्थ है, उसके कारण-कलाप भी उतने ही यथार्थ हैं। ससार-दशा न केवल जीव की अशुद्ध दशा का परिणाम है और न केवल पुद्गल की अशुद्ध दशा का परिणाम है। किन्तु जीव और पुद्गल के मेल से उत्पन्न हुई अशुद्ध दशा का परिणाम है। अत शास्त्रीय दृष्टि से जितना सत्य जीव का अस्तित्व है और जितना सत्य पुद्गल का अस्तित्व है, उतना ही सत्य उन दोनों का मेल और संयोगज विकार भी है। वह साख्य की तरह पुरुष में आरोपित नहीं है किन्तु प्रकृति और पुरुष के संयोगजन्य बन्ध का परिणाम है। अत शास्त्रीय दृष्टि से जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा, पुण्य,पाप और मोक्ष सभी यथार्थ और सारभूत हैं।अत सभी का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। और चूंकि उसकी दृष्टि में कार्य की उत्पत्ति में निमित्त कारण भी उतना ही आवश्यक है जितना कि उपादान कारण, अत आत्मप्रतीति में निमित्तभूत देव-शास्त्र और गुरु वगैरह का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है। उसमें गुणस्थान भी हैं, मार्गणास्थान भी हैं—सभी हैं। शास्त्रीय दृष्टि का किसी वस्तुविशेष के साथ कोई पक्षपात नहीं है। वह वस्तुस्वरूप का विश्लेषण किसी के हित-अहित को दृष्टि में रखकर नहीं करती।"

आध्यात्मिक दृष्टि का विवेचन करते हुए (पृष्ठ ८३) पर लिखा हुआ है—

"शास्त्रीय दृष्टि के सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। उसके द्वारा आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखकर वस्तु का विचार किया जाता है। जो आत्मा के आश्रित हो उसे अध्यात्म कहते हैं। जैसे वेदान्ती ब्रह्म को केन्द्र में रखकर जगत् के स्वरूप का विचार करते हैं वैसे ही अध्यात्मदृष्टि आत्मा को केन्द्र में रखकर विचार करते है। जैसे वेदान्त में ब्रह्म ही परमार्थ सत् है और जगत् मिथ्या है, वैसे ही अध्यात्म विचारणा में एकमात्र शुद्ध-बुद्ध आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशायें व्यवहार सत्य हैं। इसी से शास्त्रीय क्षेत्र में जैसे वस्तुतत्त्व का विवेचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के द्वारा किया जाता है वैसे ही अध्यात्म में निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा आत्मा का विवेचन किया जाता है और निश्चयदृष्टि को परमार्थ और व्यवहार दृष्टि को अपरमार्थ कहा जाता है। क्योंकि निश्चयदृष्टि शुद्ध अवस्था को दिखलाती है। अध्यात्मी मुमुक्षु आत्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है अत उसकी प्राप्ति के लिये सबसे प्रथम उसे उस दृष्टि की आवश्यकता है जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन करा सकने में समर्थ है। ऐसी दृष्टि निश्चय दृष्टि है अत मुमुक्षु के लिये वही दृष्टि भूतार्थ है जिससे आत्मा के अशुद्ध स्वरूप का दर्शन होता है। वह व्यवहार दृष्टि उसके लिये कार्यकारी नहीं है अत वह अभूतार्थ कही जाती है। इसी से आचार्य कुन्दकुन्द ने समयप्राभृत के प्रारम्भ में "ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो

य सुद्धणयो" लिखकर व्यवहार को अभूतार्थ और शुद्धनय अर्थात् निश्चय को भूतार्थ कहा है।"

कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार और नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है अत इनमें निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो भेद ही दृष्टिगत होते हैं। वस्तु के एक अभिन्न और स्वाश्रित—परनिरपेक्ष त्रैकालिक स्वभाव को जानने वाला नय निश्चयनय है और अनेक-भेदरूप वस्तु तथा उसके पराश्रित-परसापेक्ष परिणमन को जानने वाला नय व्यवहार-नय है। यद्यपि अन्य आचार्यों ने निश्चयनय के शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये हैं तथा व्यवहारनय के सद्भूत, असद्भूत, अनुपचरित और उपचरित के भेद से अनेक भेद स्वीकृत किये हैं। परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने इन भेदों के चक्र में न पडकर मात्र दो भेद स्वीकृत किये हैं। अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को उन्होंने निश्चयनय का विषय माना है और कर्म के निमित्त से होने वाली आत्मा की परिणति को व्यवहारनय का विषय कहा है। निश्चयनय आत्मा में काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को स्वीकृत नहीं करता है, चूकि वे पुद्गल के निमित्त से होते हैं अत उन्हे पुद्गल के मानता है। इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदि विषय जीव के स्वभाव नहीं हैं अत निश्चयनय उन्हे स्वीकृत नहीं करता। इन सबको आत्मा के कहना व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय स्वभाव को विषय करता है विभाव को नहीं। जो स्व में स्व के निमित्त से सदा रहता है वह स्वभाव है, जैसे जीव के ज्ञानादि, और जो स्व में पर के निमित्त से होते हैं वे विभाव हैं, जैसे जीव में क्रोधादि। ये विभाव, चूकि आत्मा में ही पर के निमित्त से होते हैं इसलिए उन्हे कथचित् आत्मा के कहने के लिये जयसेन आदि आचार्यों ने निश्चयनय में भी शुद्ध और अशुद्ध का विकल्प स्वीकृत किया है। परन्तु कुन्दकुन्द आचार्य विभाव को आत्मा का मानना स्वीकृत नहीं करते, वे उसे व्यवहार का ही विषय मानते हैं। अमृतचन्द्र सूरि ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है।

यद्यपि वर्तमान में, जीव की बद्धस्पष्ट दशा है ओर उसके कारण रागादि विकारी भाव उसके अस्तित्व में प्रतीत हो रहे हैं तथापि निश्चयनय जीव की अबद्धस्पृष्ट दशा और उसके फलस्वरूप रागादि रहित वीतराग परिणति की ही अनुभूति कराता है। स्वरूप की अनुभूति कराना इस नय का उद्देश्य है अत वह सयोगज दशा और सयोगज परिणामों की ओर से मुमुक्षु का लक्ष्य हटा देना चाहता है। निश्चय नय का उद्घोष है कि हे मुमुक्षु प्राणी। यदि तू अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य नहीं करेगा तो इस सयोगज दशा और तज्जन्य विकारों को दूर करने का तेरा पुरुषार्थ कैसे जागृत होगा?

अध्यात्म दृष्टि आत्मा में गुणस्थान तथा मार्गणा आदि के भेदो का अस्तित्व भी स्वीकृत नहीं करती। वह पर-निरपेक्ष आत्मस्वभाव को और उसके प्रतिपादक निश्चयनय को भूतार्थ तथा उपादेय मानती है और परसापेक्ष आत्मा के विभाव और उसके प्रतिपादक व्यवहार नय को अभूतार्थ तथा हेय मानती है। इसकी दृष्टि में एक निश्चय ही मोक्षमार्ग है। व्यवहार नहीं।

यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग, निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है तथापि वह साध्य-साधक के विकल्प से हटकर एक निश्चय मोक्षमार्ग को ही अंगीकृत करती है। व्यवहार मोक्षमार्ग इसके साथ चलता है, इसका निषेध यह नहीं करती।

पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार में आचार्य ने आध्यात्मिक दृष्टि के साथ शास्त्रीय दृष्टि को भी प्रश्रय दिया है इसलिये इन ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का भी वर्णन प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन के विषय-भूत जीवादि पदार्थों का वर्णन करने के लिये शास्त्रीय दृष्टि को अंगीकृत किये बिना काम नहीं चल सकता। इसलिये द्रव्यार्थिक नय से जहा जीव के नित्य/ अपरिणामी स्वभाव का वर्णन किया जाता है वहा पर्यायार्थिक नय से उसके अनित्य/परिणामी स्वभाव का भी वर्णन किया जाता है। द्रव्य यद्यपि गुण और पर्यायो का एक अभिन्न-अखण्ड पिण्ड है तथापि उनका अस्तित्व बतलाने के लिए उनका भेद भी स्वीकृत किया जाता है। इसलिए द्रव्य में गुण और पर्यायों का भेदाभेद दृष्टि से निरूपण मिलता है। इन ग्रन्थों में व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग की भी चर्चा की गई है तथा साधक-साध्य भाव का उल्लेख भी किया गया है।

प्रवचनसार के अन्त में अमृतचन्द्र स्वामी ने द्रव्यनय, पर्यायनय, अस्तित्व-नय, नास्तित्व-नय, नाम-नय, स्थापना-नय, नियतिनय, अनियतिनय, कालनय, पुरुषकार-नय, दैवनय, निश्चय-नय, व्यवहार-नय, शुद्धनय तथा अशुद्धनय आदि ४७ नयों के द्वारा आत्मा का निरूपण किया है। इन नयों को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अथवा निश्चय और व्यवहार नय का विषय न बनाकर स्वतन्त्ररूप से प्रतिपादित किया गया है।

निश्चयनय की भूतार्थता और व्यवहारनय की अभूतार्थता

आध्यात्मिक दृष्टि में भूतार्थग्राही होने से निश्चयनय को भूतार्थ और अभूतार्थग्राही होने से व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है। इसकी सगति अनेकान्त के आलोक में ही सम्पन्न होती है, क्योंकि व्यवहारनय की अभूतार्थता निश्चयनय की अपेक्षा है, स्वरूप और स्वप्रयोजन की अपेक्षा नहीं। उसे सर्वथा अभूतार्थ मानने में बड़ी आपत्ति दिखती है। श्री अमृतचन्द्र सूरि ने समयसार की ४६वीं गाथा की टीका में लिखा है–

"व्यवहारो हि व्यवहारिणा म्लेच्छभाषेव म्लेच्छाना परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्त दर्शयितु न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणा भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद् भवत्येव बन्धस्याभाव। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावाद् भवत्येव मोक्षस्याभाव।"

यही भाव तात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्य ने भी दिखलाया है–

"यद्यप्यय व्यवहारनयो—बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादि-बहिर्द्रव्यालम्बनरहित-विशुद्धज्ञानदर्शनस्वाभावालम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद् दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावर-जीवा न भवन्तीति मत्वा निशङ्कोपमर्दनं कुर्वन्ति जना। ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहित पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति, ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीय च दूषणम्। तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्राय।"

इन अवतरणों का यह भाव है—

यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो भी जिस प्रकार म्लेच्छों को समझाने के लिये म्लेच्छ भाषा का प्रयोग करना उचित है—उसी प्रकार व्यवहारी जीवों को परमार्थ का प्रतिपादक होने से तीर्थ की प्रवृत्ति के निमित्त, अपरमार्थ होने पर भी व्यवहारनय का दिखलाना न्यायसंगत है। अन्यथा व्यवहार के बिना परमार्थनय से जीव, शरीर से सर्वथा भिन्न दिखलाया गया है. इस दशा में जिस प्रकार भस्म का उपमर्दन करने से हिंसा नहीं होती उसी प्रकार त्रसस्थावर जीवों का निशङ्क उपमर्दन करने से हिंसा नहीं होगी और हिंसा के न होने से बंध का अभाव हो जायगा, बंध के अभाव से संसार का अभाव हो जायगा। इसके अतिरिक्त रागी, द्वेषी और मोही जीव बन्ध को प्राप्त होते है अत उन्हे ऐसा उपदेश देना चाहिये कि जिससे वह राग, द्वेष और मोह से छूट जावें—यह जो आचार्यों ने मोक्ष का उपाय बतलाया है वह व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि परमार्थ से जीव राग-द्वेष-मोह से भिन्न ही दिखाया जाता है। जब भिन्न है तब मोक्ष का उपाय स्वीकृत करना असंगत होगा, इस तरह मोक्ष का भी अभाव हो जायगा।

नय श्रुतज्ञान के विकल्प हैं और श्रुत स्वार्थ तथा परार्थ की अपेक्षा दो प्रकार का है। जिससे अपना अज्ञान दूर हो वह स्वार्थ श्रुत है और जिससे दूसरे का अज्ञान दूर हो वह परार्थ श्रुत है। नयों का प्रयोग पात्र-भेद की अपेक्षा रखता है। एक ही नय से सब पात्रों का कल्याण नहीं हो सकता। कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वयं भी समयसार की १२वीं गाथा में इसका विभाग किया है कि शुद्ध नय किसके लिए और अशुद्ध नय किसके लिए आवश्यक है। शुद्ध नय से तात्पर्य निश्चय का और अशुद्ध नय से तात्पर्य व्यवहार नय का लिया गया है। गाथा इस प्रकार है—

> सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभाव दरसीहिं।
> ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥१२॥

अर्थात् जो परमभाव को देखने वाले हैं उनके द्वारा तो शुद्ध तत्त्व का कथन करने वाला शुद्धनय जानने के योग्य है और जो अपरमभाव में स्थित हैं वे व्यवहारनय के द्वारा उपदेश देने के योग्य हैं। नयों के विसंवाद से मुक्त होने के लिये कहा गया है—

जइ जिणमअं पवज्जइ तो मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं॥

अर्थात् यदि जिनेन्द्र भगवान् के मत की प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोडो। क्योंकि यदि व्यवहार को छोडोगे तो तीर्थ की प्रवृत्ति का लोप हो जायेगा अर्थात् धर्म का उपदेश ही न हो सकेगा। फलत धर्मतीर्थ का लोप हो जायेगा। और यदि निश्चय को छोड़ोगे तो तत्त्व के स्वरूप का ही लोप हो जावेगा, क्योंकि तत्त्व को कहने वाला तो वही है। यही भाव श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कलश काव्य में दर्शाया है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के,
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव॥१४॥

अर्थात् जो जीव स्वयं मोह का वमन कर निश्चय और व्यवहारनय के विरोध को ध्वस्त करने वाले एवं स्यात्पद से चिह्नित जिनवचन में रमण करते हैं वे शीघ्र ही उस समयसार का अवलोकन करते हैं जो कि परमज्योति स्वरूप है, नवीन नहीं है अर्थात् द्रव्यदृष्टि से नित्य है और अनयपक्ष अर्थात् एकान्तपक्ष से जिसका खण्डन नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ का सार यह है—

चूंकि वस्तु, सामान्य विशेषात्मक अथवा द्रव्य पर्यायात्मक है अत उसके दोनों अंशों की ओर दृष्टि रहने पर ही वस्तु का पूर्ण विवेचन होता है। सामान्य अथवा द्रव्य को ग्रहण करने वाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और विशेष अथवा पर्याय को ग्रहण करने वाला नय पर्यायार्थिक कहलाता है। आध्यात्मिक ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के स्थान पर निश्चय और व्यवहार नय का उल्लेख किया गया है। द्रव्य के त्रैकालिक स्वभाव को ग्रहण करने वाला निश्चय नय है और विभाग को ग्रहण करने वाला व्यवहार नय है। एक काल में दोनों नयों से पदार्थ को जाना तो जा सकता है पर उसका कथन नहीं किया जा सकता। कथन क्रम से ही किया जाता है। वक्ता अपनी विवक्षानुसार जिस समय जिस अंश को कहना चाहता है वह विवक्षित अथवा मुख्य अंश कहलाता है और जिस अंश को नहीं कहना चाहता है वह अविवक्षित अथवा गौण कहलाता है। 'स्यात्' निपात का अर्थ कथंचित्—किसी प्रकार होता है। वक्ता किसी विवक्षा से जब पदार्थ के एक अश का वर्णन करता है तब वह दूसरे अंश को गौण तो कर देता है पर सर्वथा छोडता नहीं है। क्योंकि सर्वथा छोड़ देने पर एकान्तवाद का प्रसंग आता है और उससे वस्तुतत्त्व का पूर्ण विवेचन नहीं हो पाता। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने कहा है कि जो दोनों नयों के विरोध को नष्ट करने वाले स्यात्पदचिह्नित जिनवचन में रमण करते हैं वे ही समयसार रूप परमज्योति को प्राप्त करते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुतत्त्व का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए दोनों नयों का आलम्बन लेता है परन्तु श्रद्धान में वह अशुद्ध नय के आलम्बन को हेय समझता है। यही कारण है कि वस्तुस्वरूप का यथार्थ परिज्ञान होने पर अशुद्धनय का आलम्बन स्वयं छूट जाता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने उभयनयों के आलम्बन से वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन किया है इसलिये वह निर्विवाद रूप से सर्वग्राह्य है।
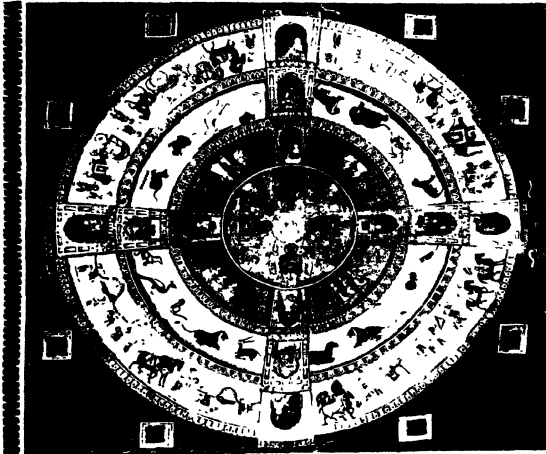
कुन्दकुन्द और उनका माहात्म्य

❑ *डॉ. लालबहादुर शास्त्री, दिल्ली*

आचार्य कुन्दकुन्द अपने समय के युग-प्रतिष्ठापक आचार्य थे। युग-प्रतिष्ठापक होने के नाते कुन्दकुन्द की महत्ता का बढ़ जाना स्वाभाविक है अत बाद के आचार्यों ने उन्हें बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ स्मरण किया है। कुन्दकुन्द के नाम से मूलसंघ का नामान्तर ही कुन्दकुन्दान्वय हो गया था। उपलब्ध शिलालेखों में हमें स्थान-स्थान पर कुन्दकुन्दान्वय के दर्शन होते हैं। अब तक भी प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों में 'मूलसंघे कुन्दकुन्दान्वये' आदि शब्दों का प्रयोग होता आया है। जिस प्रकार विक्रम के पहले चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक जैसे शक्तिशाली सम्राटों के रहने पर भी, विक्रम राजा के नाम से सवंत् का प्रचलित होना विक्रम की महत्ता का द्योतक है उसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द से पूर्व और बाद में अनेक समर्थ आचार्यों के होने पर भी कुन्दकुन्द के नाम से कुन्दकुन्दान्वय की प्रवृत्ति होना उसकी विशेष महत्ता का द्योतक है। मूलसंघ की परम्परा में होने वाले अधिकांश आचार्यों ने अपने को कुन्दकुन्दान्वय का कहने में गौरव का अनुभव किया है। मूलसंघ की स्थापना यद्यपि कुन्दकुन्दाचार्य से पहले हो गई थी और उसका मुख्य कारण संभवत दिगम्बर और श्वेताम्बर रूप में श्रमण का बंट जाना था, फिर भी अनुमान है कि दिगम्बर श्रमणों में भी कई मतभेद पैदा हो गए थे। दिगम्बर शास्त्रों में पांच जैनाभासों का नाम आता है, वे पांच नाम इस प्रकार हैं—गोपुच्छक, श्वेतपट, द्राविड़, यापनीय तथा निःपिच्छक। इसमें श्वेतपट तो आज भी विद्यमान हैं। यापनीयों का केवल साहित्य उपलब्ध है। किन्तु गोपुच्छक (सुरा गाय की पूँछ के बालों से निर्मित पिछिका रखनेवालों), द्राविड़ और निःपिच्छक (बिना पीछी के रहने वालों) का कहीं पता नहीं है और इनके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त क्या थे इसकी भी चर्चा जैन शास्त्रों में नहीं है। अत ये अत्यन्त प्राचीन ही प्रतीत होते हैं। यापनीय साहित्य की रचना देखकर वे कुन्दकुन्द के बाद के प्रतीत नहीं होते। इसलिए जब ये तथाकथित जैनाभास प्राचीन हैं तब इनसे अपने आपको अलग करने के लिए ही मूलसंघ की स्थापना की गई होगी और भगवान् महावीर के मूलधर्म में आस्था रखने वाले ही मूलसंघ कहलाए होंगे। इन्द्रनन्दिकृत नीतिसार में सिंहसंघ, नन्दिसेन संघ और देवसंघ का निर्माण नैमित्तिकाग्रिणी अर्हद्वलि आचार्य द्वारा होना बतलाया है और लिखा है कि इनके प्रव्रज्या आदि कर्म में कोई मतभेद नहीं है। इनमें चार संघों के अतिरिक्त मूलसंघ नाम का कोई पांचवा संघ नहीं है। अत इस मूलसंघ को ही आचार्य अर्हद्वलि ने चार संघों में विभक्त किया था ऐसा प्रतीत होता है। हमारे इस कथन की पुष्टि विन्ध्यगिरि के मुद्रित शिलालेखों में १०५ नम्बर

के शिलालेख से भी होती है। उसमें लिखा है—

> अर्हद्बलिस्संघचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वय-मूलसंघम्।
> कालस्वभावादिह जायमानं द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥२६॥

इसका आशय है कि कालस्वभाव से बढ़ते हुए द्वेष को कम करने के लिए अर्हद्बलि आचार्य ने कुन्दकुन्दान्वय मूलसंघ को चार संघों में विभक्त कर दिया।

इस प्रकार यद्यपि मूलसंघ पहले से ही चला आ रहा था पर मूलसंघ की स्थिति को दृढ़ करने में जो प्रयत्न आचार्य कुन्दकुन्द का रहा वह किसी का भी नहीं रहा। मूलसंघ की परम्परा में अनेक आचार्यों के चले आने पर भी कुन्दकुन्द को ही मूलसंघ का अग्रणी माना जाता रहा है, जैसा कि निम्न श्लोक से प्रकट है—

> श्रीमतो वर्द्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने।
> श्रीकोण्डकुन्दनामाभून्मूलसंघाग्रिणो गणी॥

अर्थात् वर्धमान जिनेन्द्र के बढ़ते हुए शासन में मूलसंघ के अग्रणी कुन्दकुन्द नाम के आचार्य हुए।

इसके अतिरिक्त मूलसंघ के साथ कुन्दकुन्द का नाम इतना अधिक जुड गया है कि आगे चलकर केवल मूलसंघ लिखने से ही लोगों को संतोष नहीं हुआ, उसके साथ कुन्दकुन्दान्वय भी जोडना प्रामाणिकता के लिए आवश्यक समझा गया। कहीं कहीं तो मूलसंघ के पहले कुन्दकुन्दान्वय लिखा हुआ मिलता है जैसा कि विन्ध्यगिरि के शिलालेख नम्बर १०५ में श्री कोण्डकुन्दान्वय मूलसंघस्थ लिखा है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि यदि मूलसंघ में आचार्य कुन्दकुन्द न होते तो मूलसंघ की स्थिति और प्रामाणिकता आज किसी दूसरे रूप में ही होती, और सच तो यह है कि दिगम्बर श्रमणसंघ भी एक इतिहास की वस्तु होता। यह आचार्य कुन्दकुन्द की महत्ता है कि आज दिगम्बर परंम्परा जीवित है।

परवर्ती शिलालेखों, पट्टावलियों और आचार्यों ने जो कुन्दकुन्द का गुणगान किया है उससे भी आचार्य कुन्दकुन्द का पता चलता है। चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख प्राय उनकी प्रशंसा से भरे पड़े हैं।उनमें से कुछ का दिग्दर्शन कराना अनुचित न होगा, साथ ही उससे कुन्दकुन्द के इतिहास पर भी कुछ प्रकाश पडेगा। शक संवत् १०८५ के शिलालेख में भगवान महावीर के बाद की परंपरा का उल्लेख करते हुए लिखा है—

> तदन्वये भूविदिते बभूव य पद्मनन्दि प्रथमाभिधान।
> श्रीकौंडकुंदादि-मुनीश्वराख्यस्तत् संयमादुद्गतचारणर्द्धि ॥

अर्थात् भगवान महावीर, गौतम गणधर, भद्रबाहु श्रुतकेवली तथा उनके शिष्य चन्द्रगुप्त की प्रसिद्ध परम्परा में पहले जिनका नाम पद्मनन्दि था ऐसे कुन्दकुन्द नाम के मुनीश्वर हुए। निर्दोष

संयम के पालन करने से उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी।

यद्यपि चन्द्रगुप्त और कुन्दकुन्द के अंतराल में अनेक समर्थ आचार्य हुए हैं फिर भी उन सबका नाम छोडकर कुन्दकुन्द को नामांकित करना कुन्दकुन्द के विशेष प्रभाव का द्योतक है।

शिलालेख नंबर ४१ शंक संवत् १२३५ में लिखा है—

श्री पद्मनंदीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्द ।
द्वितीयमासीदमिधानमुद्यच्चारित्रसजातसुचारणर्द्धि ।।

अर्थात् नंदिगण में पद्मनंदि जिनका निर्दोष नाम था और बाद में कुन्दकुन्दाचार्य कहलाए, पैदा हुए। समीचीन चारित्र के पालने से इन्हें चारणऋद्धि (आकाश में चार अंगुल ऊंचे चलना) प्राप्त हो गई थी।

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कोण्डकुन्द
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्तिविभूषिताश ।
यश्चारू-चारणकराम्बुजचचरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयत प्रतिष्ठाम्।

(शक संवत् १०५० नबर ५४।)

कुन्द पुष्प के समान अपनी निर्मल कीर्ति से दिशाओं को भूपित करने वाले, चारणऋद्धि साधुओं के करकमलों के लिए भ्रमर आचार्य कुन्दकुन्द को कौन वदना नहीं करता, जिन्होंने इस भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की। इसमें कहकर उनकी प्रशसा की है और उन्हें भरतक्षेत्र में श्रुत का उन्हें समर्थ आचार्य के रूप में प्रदर्शित किया है।

श्रीमान् कुम्भो विनोतो हलधरवसुदेवाचलो मेरुधीर,
सर्वज्ञ सर्वगुप्तो महिधर-धनपालो महावीरवीरो।
इत्याद्यानेक-सूरिष्वथ सुपदभुवे तेपु दीव्यत्तपस्या,
शास्त्राधारेसु पुण्यादजनि स जगता कोण्डकुन्दो यतीन्द्र ।

शक संवत् १३२०, शिलालेख १०५ज्ञ

अर्थात् कुम्भ, वासुदेव, सर्वगुप्त, महीधर, धनपाल आदि अनेक आचार्य उन्नत पद के धारी हुए जो शास्त्राधार से तपस्या आदि करते थे। उनमें जगत् के भाग्योदय से यतियों में श्रेष्ठ कुन्दकुन्द हुए। इसमें कुन्दकुन्द को यतीन्द्र पद से पुरस्कृत किया है, और उनकी उत्पत्ति को जगत् के पुण्य का फल माना है।

इसी के बाद दूसरा श्लोक इस प्रकार है—

रजोभिरस्पष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीश ।

रज पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं स.॥

अर्थात् यतियों में श्रेष्ठ कुन्दकुन्द अन्तरंग रज रागद्वेष और बहिरंग रज परिग्रहादि रहित थे। यही व्यक्त करने के लिए मानो रजपूर्ण पृथ्वी को छोड़कर वे चार अंगुल ऊपर बिहार करते थे।

इसमें आचार्य कुन्दकुन्द की अतरंग पवित्रता और बाहृय निर्गंथता को स्वीकार किया है।

विन्ध्यगिरि के शिलालेख में, जो शक संवत् १३५५ का है, आचार्य परम्परा देते हुए कुन्दकुन्द की इस प्रकार स्तुति की है—

तदीयवंशाकरत प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कुण्डकुन्दोदितचण्डदण्ड ॥

अर्थात् भद्रबाहु के शिष्य आचार्य चन्द्रगुप्त की वंशरूपी खान में अनेक निर्दोष यतिरूपी रत्नों की माला उत्पन्न हुई जिसके मध्य मुनीन्द्र कुन्दकुन्द मणि की तरह सुशोभित हुए जिनका दण्ड, प्रायश्चित बडा कठोर होता था।

यहां आचार्य चन्द्रगुप्त के बाद और कुन्दकुन्द के पहले के आचार्यों को रत्न स्वीकार किया है और उनमें कुन्दकुन्द को मणि बतलाया है। इससे पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा कुन्दकुन्द की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। साथ ही यह भी लिखा है कि वे कठोर प्रायश्चित्त देते थे। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि दिगम्बर शास्त्रों में आचार्य का एक अवपीडकत्व गुण स्वीकार किया गया है अर्थात् उसका शिष्य पर इतना प्रभुत्व होना चाहिए कि वह अपने अपराध को आचार्य के सामने उसी तरह उगल दे जिस प्रकार सिंह के सामने दूसरा हिंस्र पशु मांस उगल देता है।

'उदितचण्डदण्ड' इसी अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है। इससे संघ-सचालन में कुन्दकुन्द की पूर्ण क्षमता प्रकट होती है। अभिप्राय यह है कि कुन्दकुन्द सिद्धान्त-प्रतिष्ठापक ही नहीं थे, किन्तु संघ के कुशल नेता भी थे।

आगे १३२० शक सवत् के शिलालेख में श्रुतमुनि की प्रशंसा करते हुए प्रसंगवश आचार्य कुन्दकुन्द को अध्यात्म-सर्वश्रेष्ठ माना है—

शब्देश्री पूज्यपाद सकलविमतजित्तर्कतन्त्रे सुदेव,
सिद्धान्ते सत्यरूपे जिनवरगदिते गौतम कोण्डकुन्द ।
अध्यात्मे वर्द्धमानो मनसिजमथने वरमुक् दु खवन्हा,
वित्येवं कीर्तिपात्रं श्रुतमुनिवदभूत् भूत्रये कोऽत्र कश्चित्॥

अर्थात् जो व्याकरण-शास्त्र में आचार्य पूज्यपाद, सपूर्ण वादियों के जीतने वाले न्यायशास्त्र में अकलंक, जिनेन्द्र महावीर द्वारा कथित सत्य सिद्धान्त के प्रतिपादन में गौतम गणधर, अध्यात्म
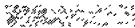
शास्त्र में आचार्य कुन्दकुन्द, कामदेव को जीतने वाले, दु:खाग्नि को शमन करने में वर्धमान तीर्थंकर थे, ऐसे श्रुतमुनि की तरह तीन भुवन में कीर्ति का पात्र कौन हुआ है? अर्थात् कोई नहीं।

यहां श्रुतमुनि के लिए लिखा है कि अध्यात्म के प्रतिपादन में वे कुन्दकुन्द थे। अर्थात् कुन्दकुन्द संपूर्ण जैन परम्परा में अध्यात्म के एकमात्र प्रवक्ता और प्रणेता थे। वस्तुत उनका समयसार ग्रंथ, जिसके बारे में आगे लिखा जायगा, तथा नियमसार आदि इसी कोटि के ग्रंथ हैं। यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दिगम्बर परंपरा में तत्त्वजिज्ञासु मुमुक्षुजन आज भी कुन्दकुन्द के इन अध्यात्म ग्रंथों का बड़ी रुचि और श्रद्धा के साथ अधिक संख्या में स्वाध्याय करते हैं। तथा इन ग्रंथों के आधार पर अनेक व्यक्तियों ने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया है।

कुप्पडुरु के शक संवत् ९९७ के लेख में कुन्दकुन्द को श्रुत का पारंगत लिखा है—

श्रुत पारगरनवद्यर। चतुरंगुल चारणर्द्धि सम्पन्नरस्स हत-
कुमुततत्व रे नि सिदर। अतर्क्य गुणजलधि कुण्डकुन्दाचार्यर।

अर्थात् श्रुत के सर्वश्रेष्ठ वक्ता, पवित्र चतुरंगुल अन्तरिक्ष में चलने वाले, परवादियों को खण्डन करने वाले, अतर्क्य गुणों के समुद्र आचार्य कुन्दकुन्द भद्रबाहु यति के बाद हुए।

इस लेख में कुन्दकुन्द के पांच विशेषण दिए हैं। इनमें चारण ऋद्धि का विशेषण तो प्राय सर्वत्र आया है। किन्तु चार विशेषण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्रुतपारंग, अनवद्य, हतकुमततत्व, अतर्क्य गुणजलधि। पहले दो विशेषण कुन्दकुन्द के ज्ञान और चारित्र की विशेषता एवं श्रेष्ठता बतलाते हैं। तीसरे विशेषण में उन्हें वाग्मित्व स्वीकार किया है। चौथा विशेषण उनके प्रभावक व्यक्तित्व का द्योतक है।

आचार्य देवसेनकृत दर्शनसार में, जिसका निर्माणकाल विक्रम संवत् ९९० है, पद्मनन्दि आचार्य (जो कुन्दकुन्द का ही नामान्तर है) की इस प्रकार स्तुति की है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमधरसामिदिव्वणाणेण,
न विवोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति॥

अर्थात् यदि पद्मनदि आचार्य, कुन्दकुन्द सीमंधर स्वामी के दिव्य ज्ञान से बोध न देते तो श्रमण सुमार्ग को कैसे प्राप्त करते।

यह पहले लिखा जा चुका है कि कुन्दकुन्द ने तत्कालीन प्रत्येक विषय जैसे प्रव्रज्या, स्त्रीमुक्ति, कवलाहार, सर्वज्ञता, साधु आदि का और उत्कृष्ट श्रावक के निश्चित वेष, वंद्य वंदकता, रत्नत्रय की यथार्थता आदि पर अपनी सबल और असंदिग्ध लेखनी चलाई इससे श्रमणों की विगत आस्था फिर लौट आई और उन्हें वास्तविक मार्ग के दर्शन हुए। देवसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द की प्रशंसा में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। एक बार कुन्दकुन्द द्वारा मार्ग निश्चित कर देने पर फिर तो अनेक आचार्यों ने उस मार्ग को ही अपनाया और उसका प्रतिपादन किया। कुन्दकुन्दान्वय
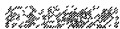
चलने का यही बीज है। अत दर्शनसार का उपर्युक्त उल्लेख केवल प्रशंसा नहीं है किन्तु साधार सत्य है।

जयउ रिसिपउमणंदि जेण महातच्च पाहुडस्सेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स। ॥समयसार की तात्पर्याख्यवृत्ति॥

अर्थात् वे पद्मनंदि ऋषि जयवंत हों जिन्होंने महातत्त्व प्राभृतरूप पर्वत को अपनी बुद्धिरूपी वाणी से उद्धृत कर भव्यलोक को समर्पित किया।

इस प्रकार कुन्दकुन्द की महत्ता को प्रदर्शित करने वाले जैनशास्त्रों में अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं। ऐसा शायद ही कोई उत्कीर्ण लेख हो जिससे भगवान महावीर की परंपरा में आने वाले आचार्यों में कुन्दकुन्द का नाम न हो। शास्त्र-वाचन के प्रारम्भ में जो मंगलाचरण किया जाता है उसमें जिस शास्त्र का वाचन होता है उसकी प्रामाणिकता के लिए उस शास्त्र की मूल परंपरा सर्वज्ञदेव से जोडी जाती है तथा बाद में शास्त्रकता का नाम लिया जाता है।यदि कर्ता का नाम अज्ञात या विस्मृत हो तो वह कुन्दकुन्द की आम्नाय में विरचित है ऐसा कहा जाता है।

शास्त्र-प्रवचन करने वाले को यह आवश्यक है कि या तो वह ग्रंथकर्ता के नाम की घोषणा करे या फिर उसे कुन्दकुन्द की आम्नाय से रचित होने की प्रतिज्ञा करे। दोनों बातों के अभाव में सभा के अन्दर शास्त्र-प्रवचन करने का निषेध है। इससे कुन्दकुन्द की न केवल महत्ता किन्तु सर्वज्ञ, गणधर और प्रतिगणधर के साथ उनके नाम-ग्रहण की अनिवार्यता भी सिद्ध होती है यही कारण है कि उसी मगलाचरण के अन्त में जिनको मगलस्वरूप बताया है उनमें भगवान महावीर, गौतम गणधर और जैनधर्म के साथ कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख है।

ऊपर कुन्दकुन्द की महत्ता बताते हुए अन्त में उनकी प्रमाणिकता का भी कुछ दिग्दर्शन कराया है। वस्तुत महावीर और गौतम के साथ जिनका नाम लिया जाता हो उनकी प्रामाणिकता के विषय में संदेह के लिए तो कोई स्थान ही नहीं है। जैनसंघ की परम्परा का यदि वर्गीकरण किया जाय तो हम उसे दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक पूर्व परम्परा, दूसरी उत्तर परंपरा। पूर्व परपरा भगवान महावीर से प्रारम्भ होकर प्रथम आचाराग को धारण करने वाले लोहाचार्य तक समाप्त हो जाती है और उत्तर परम्परा कुन्दकुन्दाचार्य से चलती है जो अब तक चालू है। पूर्व परम्परा में जैसे भगवान महावीर प्रमुख हैं उत्तर परपरा में वैसे ही आचार्य कुन्दकुन्द प्रमुख हैं। तीर्थंकर महावीर जैनसघ के अग्रणी थे तो आचार्य कुन्दकुन्द मूलसंघ के अग्रणी थे। अत कुन्दकुन्द की प्रामाणिकता उत्तरपरम्परा से महावीर की तरह ही सदिग्ध मानी जाती है।

इसके अतिरिक्त परवर्ती आचार्यो ने कुन्दकुन्द के वाक्यों कोअपने कथन की पुष्टि में आगम की तरह उद्धृत किया है।

आचार्य यतिवृषभ ने, जो लगभग विक्रम की छठी शताब्दि के विद्वान हैं, अपने तिलोयपण्णत्ति

ग्रंथ में कुन्दकुन्द की गाथाओं को अपनाया है। तिलोयपण्णत्ति के नौवें अधिकार में भगवान महावीर का मंगलगान करते हुए लिखा है—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाईकम्ममलं,
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं।

यह गाथा कुन्दकुन्द रचित प्रवचनसार के मंगलाचरण से ली गई है। इसके अतिरिक्त निम्न गाथाएं तिलोयपण्णत्ति में और ली गई हैं—

खंध सयल समत्थं तस्सदु अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणु चेव अविभागी ।।(७५) पं का. (९५) ति.पं. ।

आदेशमेत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
सोणेओ परमाणू परिणामगुणो समयसद्दो ।।(पं का. ७८) ति.पं. १०१ अ।

एयरसवण्णगंधं दो फास सद्दकारणमसद्द।
संधंतरिदं दव्वं परमाणु तं वियाणेहि ।।(प का ८१, ति प ९७)

कुन्दकुन्द कृत 'वारस अणुवेक्खा' में संसार-अनुप्रेक्षा की निम्न गाथाए आचार्य पूज्यपाद ने "संसारिणो मुक्ताश्च" सूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्ति में 'उक्तं च' करके दी है—

सव्वे वि पुग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्ट संसारे।।

सव्वम्मि लोयखेत्ते कमसो तं णत्थि जण्ण उप्पण्णं।
उग्गाहणेण बहुसो परिणमदो कालससारे।।

णिर आऊजहण्णादिसु जावदु उवरिल्लया दु गेवेज्जा।
मिच्छत संसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदो ठाणाणि।।

जोवो मिच्छत्तवसा उवउत्तो सत्तमंत सब्भावो।
अट्टासओ णवत्थो जीवो दस ट्ठाणगो भणिदो।।

आदाणाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगय।

ये गाथाएं क्रमश पंचास्तिकाय में ७१, ७२ नम्बर पर हैं और दूसरी गाथा 'प्रवचनसार' में प्रथम अधिकार की २३वीं गाथा है।

धवला के टीकाकार आचार्य वीरसेन, जो अपने अगाध ज्ञान से सर्वज्ञकल्प कहे जाते हैं, अपने कथन की प्रामाणिकता में कुन्दकुन्द की गाथाओं का उद्धरण देते हुए देखे जाते हैं। अतीन्द्रिय सुख के समर्थन में उन्होंने निम्न गाथाओं का उल्लेख किया है—

अदिसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवमं अणतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धवओगप्पसिद्धाण॥ (ध्र.प. ५८)

यह कुन्दकुन्दकृत प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्व अधिकार के १३ नम्बर की गाथा है। इसी प्रकार पृ १००, ३८६ पर निम्न गाथाएं उद्धृत हैं—

एको चेव महप्पा सो दुवियप्पो त्ति लक्खणो होदि।
चदु चंकमणो भणिदो पंचाग्ग गुणप्पधाणोय॥

पूज्यपाद के 'समाधितन्त्र' में एक श्लोक मूल रूप से इस प्रकार आया हुआ है—

यन्मया दृश्यते रूप तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूप तत केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

यह श्लोक मोक्षप्राभृत में कुन्दकुन्द रचित प्राकृत दोहे की छाया मात्र है—

जं मया दिस्सदे रूपं वण्ण जाणादि सव्वहा,
जाणग दिस्सदे णं त तम्हा जंपेमि केण हं ॥३९॥

एक 'दव्वसहावपयास' नामक ग्रंथ माइल्लदेव का रचा हुआ है। यह ग्रंथ माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रंथमाला में 'नयचक्रसग्रह' नाम से मुद्रित है। इसमें ४२३ गाथाएं हैं। इसके रचियता ने कुन्दकुन्द का अनुकरण किया है और कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसारादि ग्रंथों का आलोडन कर उन्हीं के आधार पर बडा सुगठित विवेचन किया है। कहीं कहीं तो गाथाओं का ही पूर्ण समावेश कर लिया है। समयसार में 'व्यवहार निश्चय का किस प्रकार प्रतिपादक है' शीर्षक से निम्न गाथा दी है—

जो हि सुयेणहि गच्छदि अप्पाणमिणं तु केवल सुद्धं।
त सुयकेवलि रिसिणो भणंति लोयस्सदीवयरा ॥२८९॥

द्रव्यस्वभावप्रकाश में यह गाथा इस प्रकार दी है—

जो इह सुदेण भणिओ भणति अप्पाणमिण तु केवल सुद्धं।
तं सुयकेवलि रिसिणो भणति लोयप्पईवयरा ॥२८९॥

समयसार की गाथा नम्बर १६४ इस प्रकार है—

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवा तस्सेव अणण्णपरिणामा।

द्रव्यस्वभावप्रकाश में साधारण हेर-फेर से यह गाथा इस प्रकार है—

मिच्छत्तं अण्णाणं अविरमण कसाय जोग जे भावा।
ते इह पच्चय जीवे विसेसदो हुति ते बहुगा॥३०२॥

नयचक्र में 'उक्तं च' करके निम्न दो गाथाएं उद्धृत की हैं—

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं दंसणं जाणगो सुद्धो।
भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स।
तं अप्प सहावठिए ण हु मण्णई सोहु अण्णाणि।

ये दोनों गाथाएं क्रमश समयसार और मोक्षप्राभृत में ७ और ७६ नम्बर पर दी हैं।

प्रवचनसार में आत्मा को ज्ञान प्रमाण बताकर उसका सर्वज्ञत्व स्वीकार किया है और लिखा है कि जो आत्मा को ज्ञान प्रमाण न मानेगा उसे आत्मा न्यूनाधिक मानना पड़ेगा। इस प्रकार दो गाथाओं में प्रतिपादित उक्त कथन को द्रव्यस्वभावप्रकाश में एक गाथा में इस प्रकार दिया है —

अप्पा णाणपमाणं णाण खलु होइ जीवपरिमाणं।
णवि णूणं णवि अहियं जह दीवो तेण परिणामो ॥३८७॥

इतना ही नहीं, प्रत्युत अपने कथन को विस्तार से जानने के लिए 'द्रव्यस्वभावप्रकाश' के कर्त्ता कुन्दकुन्दकृत प्रवचनसार की ओर सकेत करते हैं और लिखते हैं कि मैंने तो उसको यहां अंश मात्र लिखा है। इसी प्रकार समयसार में आलोचनादि को जो विषकुम्भ बतलाया है, उसकी अपने कथन के साथ संगति बताते हुए उसकी आपेक्षिकता को समझाने के लिए उपदेश देते हैं।

कुन्दकुन्द कृत नियमसार में कारणसमयसार और कार्यसमयसार के कथन को भी द्रव्यस्वभावप्रकाश में अपनाया गया है और लगभग ९गाथाओं में उसका वर्णन किया है।

इसके अतिरिक्त अनेकों प्रमेय हैं जो कुन्दकुन्द की विभिन्न रचनाओं में और द्रव्यस्वभावप्रकाश में मिलते जुलते हैं जिनके पढने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि द्रव्यस्वभावप्रकाश में कुन्दकुन्द के वचनों का हृदय खोलकर आधार लिया गया है।

ये द्रव्यस्वभावप्रकाश के कर्त्ता माइल्लदेव संभवत दर्शनसार और नयचक्र के प्रणेता आचार्य देवसेन के शिष्य प्रतीत होते हैं। द्रव्यस्वभावप्रकाश नामक अपने ग्रथ में इन्होंने देवसेन आचार्य को गुरु मानकर नमस्कार किया है जैसा कि उनके इस वाक्य से स्पष्ट है —

सियसद्दसुणयदुण्णयदणुदेहविदारणेक्कवरवीर।
तं देवसेणदेवं णयचक्कयरं गुरुं णमह॥

स्यात् शब्द से युक्त सुनय के द्वारा दुर्नय रूपी राक्षस की देह को विदारण करने वाले नयचक्र के कर्त्ता देवसेन देव नाम के गुरु को नमस्कार करता हूं।

देवसेन का समय उनके रचित दर्शनसार के अनुसार विक्रमीय संवत् ९९० है अत माइल्ल

धवल का भी समय इसके कुछ बाद अर्थात् ११वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध चरण होना चाहिए।

इस प्रकार कुन्दकुन्द के बाद के आचार्यों ने अपने कथन की प्रामाणिकता में कुन्दकुन्द की रचनाओं के जो उद्धरण दिए हैं उससे आचार्य कुन्दकुन्द की प्रामाणिकता सहज सिद्ध हो जाती है। यहां हमने केवल ११वीं शताब्दी तक के उद्धरण उपस्थित किए हैं। इसके बाद के आचार्यों की रचनाओं में भी कुन्दकुन्द के उदाहरण पाए जाते हैं जिन्हें निबंध के बढ़ जाने की दृष्टि से नहीं लिखा जा रहा है।

कुन्दकुन्द का लोक-प्रसिद्ध नाम यद्यपि कुन्दकुन्द ही है फिर भी पट्टावलियों और टीकाकारों ने उनके पाँच नामों का उल्लेख किया है। ये नाम क्रमश इस प्रकार हैं पद्मनन्दी, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य। इन नामों का उल्लेख विक्रम की १६वीं शताब्दी के विद्वान् कुन्दकुन्दकृत षट्प्राभृत के टीकाकार आचार्य श्रुतसागर ने प्रत्येक प्राभृत की टीका के अन्त में किया है। तथा इससे पहले नन्दिसघ से संबंध रखने वाले ईसा की १४वीं शताब्दी के एक शिलालेख में इस पाचों नामों का उल्लेख है।

ये पाँचों नाम कब कैसे हुए इसका कोई प्रामाणिक इतिहास नहीं है। जहाँ तक पद्मनन्दी का सबध है यह कुन्दकुन्द का पहला और मूल नाम मालूम पडता है। शिलालेखों में जहां कुन्दकुन्द की चर्चा है वहाँ पहला नाम उनका पद्मनन्दी ही आता है। जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट है –

"य पद्मनन्दिप्रथमाभिधान. श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्य"

अर्थात् जिनका पहला नाम पद्मनन्दी था ऐसे कुन्दकुन्द नाम के मुनीश्वर हुए। इसी प्रकार

"श्री पद्मनन्दीत्यववद्यनाम आचार्य शब्दोत्तर कोण्डकुन्द"

इस वाक्य से भी कुन्दकुन्द का पहला नाम पद्मनन्दी सिद्ध होता है। दर्शनसार के रचयिता आचार्य देवसेन विक्रम सवत् ९९० में हुए हैं। उन्होंने अपने ग्रथ में कुन्दकुन्द का पद्मनन्दी ही नाम दिया है जो प्राय प्राचीन है।

दूसरा नाम कुन्दकुन्द उनके जन्मस्थान से सबध रखता है। जब पद्मनन्दी नाम के और भी आचार्य हुए तब संभवत उनसे पृथक् पहचान करने के लिए उन्हें जन्मस्थान के नाम से संबोधित किया गया है और इस तरह उनका कुन्दकुन्द नाम पडा होगा। बाद की परम्परा में तो पद्मनन्दी की जगह कुन्दकुन्द ही नाम अधिक प्रचलित रहा है। मुख्य नाम के स्थान पर उपनाम से प्रसिद्धि प्राय आज भी देखी जाती है।

तीसरा नाम वक्रग्रीव है। यह नाम उनका कब कैसे पडा, इसके पीछे आज तक कोई अनुश्रुति उपलब्ध नहीं हुई है। वक्रग्रीव का अर्थ है टेढ़ी ग्रीवा (गर्दन) वाला व्यक्ति। संभव है आचार्य

कुन्दकुन्द की ग्रीवा कुछ टेढ़ी रही हो। आध्यात्मिक युगपुरुष के महात्मा होने पर भी उसकी शारीरिक विचित्रता को कौन रोक सकता है। अष्टावक्र तत्कालीन हिन्दू समाज के प्रख्यात महर्षि हो गए हैं जो राजा जनक की सभा की शोभा बढाते थे। किन्तु उनका शरीर आठ स्थान से टेढ़ा था। अत कुन्दकुन्द की ग्रीवा का वक्र होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

डा. ए.एन. उपाध्ये ने प्रवचनसार की प्रस्तावना में कुन्दकुन्द का वक्रग्रीव नाम स्वीकार नहीं किया है। उनका कहना है कि किसी भी शिलालेख में कुन्दकुन्द का वक्रग्रीव नाम उपलब्ध नहीं होता। और जहां कहीं भी वक्रग्रीव नाम के स्वतन्त्र आचार्य का उल्लेख है वहा उनके गण-गच्छ की संगति आचार्य कुन्दकुन्द के गण-गच्छ से ठीक नहीं बैठती। इन दोनों तर्कों के उत्तर में हमारा निवेदन है कि कुन्दकुन्द का वक्रग्रीव नाम शिलालेख में भी है और जहां वक्रग्रीव के गणगच्छादि का उल्लेख है उसकी संगति भी गणगच्छ से विपरीत नहीं जाती। ईस्वी सन् १३७३ के विजयनगर के एक शिलालेख में, जिसका सबंध नन्दिसघ से है, कुन्दकुन्द के पॉचों नामों का उल्लेख है तथा नंदिसंघ की पट्टावली में भी इन पाचों नामों का उल्लेख है। जहां तक गणगच्छ का प्रश्न है शक स. १०४७ के ४९३वें न के लेख से वक्रग्रीव आचार्य को द्रविड गण नन्दिसंघ अरुंगुलान्वय का आचार्य बताया है। नन्दिसघ मूलसघ का ही भेद है। और अरुंगुलान्वय स्पष्टत नन्दिसंघ के अतर्गत है। अत कुन्दकुन्द के गणगच्छ से वक्रग्रीव का गणगच्छ भिन्न नहीं है। यह पहले लिखा जा चुका है कि कुन्दकुन्द मूलसंघ के अग्रणी थे। मूलसघ में आगे चलकर ज्यों-ज्यों शाखा-प्रशाखाए फूटती गईं उनमें होने वाले आचार्यों ने कुन्दकुन्द को अपने ही गणगच्छ के नाम से याद किया। उदाहरण के लिए, कुन्दकुन्द की परम्परा मूलसघ से और नंदिगण से प्रारम्भ हुई थी। पीछे से यह नदिगण देशी गण में बदल गया तो कुन्दकुन्दान्वय के साथ मूलसंघ देशीगण पुस्तकागच्छ जुडने लगा। आगे चलकर देशीगण की जगह बलात्कारगण प्रचलित हुआ तो कुन्दकुन्द के साथ बलात्कारगण शब्द का प्रयोग होने लगा। यद्यपि ये देशीगण बलात्कारगण आदि परिवर्तन कैसे हुए इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी इसके दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि कुन्दकुन्द की परम्परा में होने वाले आचार्यों के ये नामकरण उनकी किसी विशेपता या उनके समय की किसी घटना के आधार पर हुए हों अथवा अपनी परम्परा को प्रमुखता देने के लिए किन्तु उसका उद्गम कुन्दकुन्द से बनाए रखने के लिए कुन्दकुन्द के ही नामांतरों पर या उनकी किसी भिन्न विशेपता के आधार पर ये गणगच्छ के नाम से प्रचलित हुए हो। हमारा अनुमान है कि कुन्दकुन्द का नाम वक्रग्रीव अवश्य रहा है और उस नाम के आधार पर वक्रगच्छ प्रचलित हुआ है।

लगभग शक संवत् १०१२ के शिलालेख नं. ५५ में मूलसंघ देशीगण और वक्रगच्छ की आचार्य-परम्परा दी है। यह परम्परा कुन्दकुन्द से प्रारम्भ होती है जिसमें देवेन्द्र सिद्धान्तदेव चतुर्मुख देव, गोपनंदि, प्रभाचन्द्र. .. माघनदि, बालचन्द्र आदि बड़े-बडे आचार्यों का उल्लेख है। इनमें माघनंदि को वक्रगच्छाधिप और बालचन्द्रमुनि को वक्रगच्छतिलक बतलाया है। यह वक्रगच्छ

कुंदकुंद से प्रचलित हुआ जान पडता है। उसका आधार कुन्दकुन्द का वक्रग्रीव नाम ही प्रतीत होता है। जिस शिलालेख में (शक स, १०५० लेख न ५४) वकग्रीव मुनि का उल्लेख है उससे समंतभद्र सिंहनंदि के बाद ही वक्रग्रीव की प्रशसा की गई है। यद्यपि इन शिलालेखों में नामों का ऐतिहासिक क्रम से उल्लेख नहीं है फिर भी समतभद्र और सिंहनंदि के बाद वक्रग्रीव का आना उनकी प्राचीनता को द्योतित करता है। अब प्रश्न यह है कि प्राचीन होकर भी कुंदकुंद वक्रग्रीव एक कैसे हो सकते हैं जबकि कुन्दकुन्द के बाद चौथे नम्बर पर वक्रग्रीव का उल्लेख है। इसके दो ही उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह कि वक्रग्रीव नाम के एक ही आचार्य को दो समझकर उनका अलग अलग वर्णन कर दिया गया हो। क्योंकि इन शिलालेखों में कोई ऐतिहासिक क्रम तो है ही नहीं, अत दो नाम के एक ही आचार्य को भूल से दो समझा जा सकता है। जो भी हो कुंदकुंद का वक्रग्रीव नाम होना एकदम निराधार नहीं है। शिलालेख, पट्टावलियों और प्रशस्तियों के अतिरिक्त नदिसघ की गुर्वावलि में भी कुंदकुंद के पाँच नाम गिनाए गये हैं। अत जब तक कोई प्रबल विरुद्ध प्रमाण नहीं मिले तब तक कुंदकुंद का वक्रग्रीव नाम मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता।

कुंदकुंद का चौथा नाम एलाचार्य है। एलाचार्य नाम के कई आचार्य हो गये हैं। एक एलाचार्य वीरसेन (धवला टीकाकार) के एक गुरु थे। एक एलाचार्य दक्षिण के मलय देश के हेमग्राम के रहने वाले थे। एक एलाचार्य कुरल काव्य के रचयिता भी कहलाते हैं। ये एलाचार्य कुंदकुंद ही हैं या दूसरे ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु कुंदकुंद का दूसरा नाम एलाचार्य होना कोई असगत नहीं है। एलाचार्य शब्द अएल आचार्य से बना है। अएल प्राकृत शब्द है। इसकी सस्कृत छाया अचेल है। अत अचेलाचार्य का अर्थ होता है एलाचार्य। यह निश्चित है कि जैन सम्प्रदाय में मतभेद के बाद कुंदकुंद हुए हैं। चूंकि ये दिगम्बर परम्परा के (मूलसंघ) के प्रमुख आचार्य थे। अत अपने जीवन में ये दिगम्बराचार्य अर्थात् एलाचार्य कहलाये होंगे। उसी अचेलाचार्य का बिगडकर एलाचार्य हो गया है। इसलिए कुंदकुंद का एलाचार्य नाम होना उपयुक्त जान पडता है।

कुंदकुंद का पांचवां नाम गृद्धपिच्छाचार्य है। शिलालेखों में प्राय सर्वत्र उमास्वामी का नाम गृद्धपिच्छाचार्य प्रसिद्ध है। और उन्हें कुंदकुंद की परम्परा में बतलाया गया है। पर उमास्वामी के साथ ऐसी कौन सी घटना घटी जिससे उन्हें गृद्धपिच्छाचार्य कहा जाने लगा इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

कुंदकुंद के विषय में कहा जाता है कि जब ये विदेहक्षेत्र के सीमधर स्वामी के दर्शनार्थ गए तो इनकी मयूरपिच्छी कहीं मार्ग में गिर गई। चूंकि पिच्छी सयम का उपकरण है, उनके बिना दिगम्बर जैन साधु एक इंच भी आगे नहीं बढते। अत आवश्यकतानुसार कुंदकुंद ने मयूर पंखों के अभाव में गिद्ध के पंखों को उठाया और उनसे पिच्छी का काम चलाया। तब से कुंदकुंद के पांचों नामों में विरोध या असंगति का कोई स्थान नहीं है। यह बात भिन्न है कि कुंदकुंद

का कोई नाम अधिक प्रसिद्ध रहा हो कोई कम। वस्तुत आचार्य कुंदकुंद केवल 'कुंदकुंद' नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका वास्तविक नाम पद्मनन्दी भी अन्य नामों की तरह कम प्रचलित है। भगवान महावीर के पाँच नामों में आज सबसे अधिक महावीर और उसके बाद वर्धमान नाम ही अधिक प्रचलित है, शेष नाम तो पूजा-पाठ में ही मिलते हैं। कुंदकुंद के नामों की भी यही स्थिति है। अत वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ इन नामों की कम प्रसिद्धि रही है। इतना तथ्य तो स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु ये नाम थे ही नहीं—यह नहीं कहा जा सकता है।
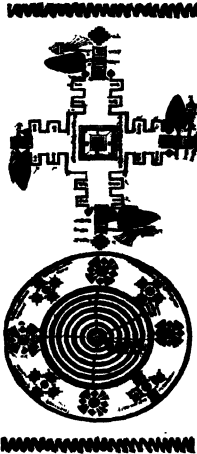
आचार्य कुन्दकुन्द की स्याद्वादमयी वाणी

❑ *डॉ. दयाचन्द्र साहित्याचार्य, सागर*

आचार्य कुन्दकुन्द भारतीय श्रमण परम्परा के संरक्षक, उन्नायक एवं प्रभावक आचार्य थे। ये आध्यात्मिक सन्त और सारस्वत आचार्य के रूप में प्रमुख प्रणेता प्रसिद्ध हुए। इनका जन्म विक्रम की प्रथम शती के कुछ वर्ष पूर्व विद्वानों द्वारा मान्य किया गया है। इस विषय में प्रामाणिक उद्धरण है—

"कुन्दकुन्द के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी ऊहापोह होता रहा है। पट्टावलियों और प्राचीन शास्त्रों में उनके समय के सम्बन्ध में मतभेद है। अत इनके आधार पर इतिहासकारों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे भी भिन्न भिन्न हैं। इन मतभेदों के बीच नन्दीसघ की प्राकृत पट्टावली से समुचित मार्गदर्शन प्राप्त करके प्रो हार्नले ने कुन्दकुन्द का समय ईसापूर्व १०८ वर्ष निर्धारित किया है और अब विद्वानों ने भी इस निर्णीत काल को अपनी मान्यता प्रदान कर दी है। ज्योतिष काल-गणना के अनुसार कुन्दकुन्द का जन्म शार्वरी सवत्सर माघ-शुक्ला ५ को हुआ था।"

(प्राकृतविद्या जनवरी ८९)

आ कुन्दकुन्द का जन्मस्थान प्राप्त शिलालेखों और प्रशस्तियों के अनुसार आन्ध्रप्रदेशीय कौण्डकुन्दी ग्राम (कोणुकुन्दे), तहसील—गुण्टूर—माना जाता है। 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड २' ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द का जन्मस्थान दक्षिण भारत के पेदथनाडु जिले में 'कोण्डकुन्दपुर' नाम का स्थान कहा गया है, इसका दूसरा नाम 'कुरूमरई' माना गया है। कोण्डकुन्दीपुर का नाम ही कोण्डकुन्दपुर के रूप में परिवर्तित हुआ ज्ञात होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनेक नाम शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं। इनके नामों के विषय में विद्वानों के अभिमत इस प्रकार हैं—

आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामति ।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ, पद्मनन्दी वितन्यते॥ (अनेकान्त पत्रिका—किरण २)

जैनसिद्धान्त भास्कर भाग १ किरण ४ में शक स. १३०७ का, विजयनगर सम्बन्धी एक अभिलेखाश प्रकाशित हुआ है जिसमें लिखा है —

आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो, वक्रग्रीवो महामुनि ।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पचधा॥

(१) पद्मनन्दि, (२) कुन्दकुन्द, (३) वक्रग्रीव, (४) एलाचार्य और (५) गृद्धपिच्छ ये ५ नाम

आचार्य कुन्दकुन्द के कहे गये हैं। परन्तु पद्‌मनन्दि यह नाम उक्त श्लोक में नहीं है और महामुनि यह पद उनके विशेषण के रूप में निर्दिष्ट है इससे पद्‌मनन्दि का ग्रहण नहीं हो सकता।

कुन्दकुन्द रचित षट्‌प्राभृतों के टीकाकार श्रुतसागर आचार्य ने प्रत्येक प्राभृत के अन्त में जो पुष्पिका अंकित की है उसमें उनके ५ नामों का निर्देश है—(१) पद्‌मनन्दि, (२) कुन्दकुन्द, (३) वक्रग्रीव, (४) एलाचार्य, (५) गृद्धपिच्छ।

डा. हार्नले ने दिगम्बर पट्‌टावलियों के विषय में एक निबन्ध लिखा है, जिसमें उन्होंने कुन्दकुन्द के पाँच नाम दर्शाये हैं, अत इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के दो नामों की प्रसिद्धि तो निःसन्देह रही है—(१) पद्‌मनन्दि, (२) कुन्दकुन्द। पर शेष ३ नामों (१ वक्रग्रीव, २ एलाचार्य, ३ गृद्धपिच्छ) के विषय में विवाद है।

यद्यपि शिलालेखों में ये ३ नाम उपलब्ध होते हैं परन्तु ये कुन्दकुन्द के ही नामान्तर हैं यह सिद्ध नहीं होता। प्रथम पद्‌मनन्दि नाम का निर्देश इन्द्रनन्दि आचार्य ने अपनी श्रुतावतार कथा में किया है —

तस्यान्वये भूविदिते बभूव, य पद्‌मनन्दिप्रथमाभिधान ।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्य, सत्संयमादुद्‌गतचारणर्द्धि ॥

इस पद्य से स्पष्ट है कि आप का प्रथम नाम 'पद्‌मनन्दि' है और द्वितीय नाम 'कुन्दकुन्द' है जो कि जन्मस्थान के नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

आचार्य कुन्दकुन्द का कृतित्व

दिगम्बर जैन आगम के प्रणेता आचार्यों में कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान प्रमुख है। आपने स्वरचित शास्त्रों में अध्यात्मप्रधान तत्त्वज्ञान का प्रणयन शौरसेनी प्राकृत भाषा में किया है। इस विषय का उद्धरण है —

दिवायरउदएणं हि, सरवर पउम पफुल्लिओ जादो।
पउमणंदी रिसिणा च, अज्झप्प पउम पफुल्लिओ वि॥(प्राकृत विद्या वर्ष १ अंक २)

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य के उदित होने से सरोवर का कमल खिल उठता है उसी प्रकार पद्‌मनन्दी मुनि के द्वारा अध्यात्मविषयरूपी कमल प्रफुल्लित हो जाता है।

आ. कुन्दकुन्द स्याद्वाद की विचारधारा के धनी थे इसलिए उनके स्वरचित साहित्य में स्याद्वादमयी वाणी के स्रोत बहते हैं। यद्यपि उनके साहित्य में अनेकान्तवाद की प्रधानता से तत्त्व एवं पदार्थों का व्याख्यान दृष्टिगोचर होता है तथापि उसमें एकान्तवाद की गन्ध भी नहीं है। यही कारण है कि उन्होंने प्रथमानुयोग को छोड़कर शेष सभी अनुयोगों में ग्रन्थों का प्रणयन किया है जो स्वाध्याय करने के योग्य हैं।

आ. इन्द्रनन्दि ने स्वरचित श्रुतावतार में 'कसायपाहुड' और 'षड्खण्डागम' नामक सिद्धातग्रन्थों की रचना का इतिवृत्त अंकित किया है। पश्चात् लिखा गया है कि ये दोनों सिद्धान्तग्रन्थ कौण्डकुन्दपुर में पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) आचार्य को प्राप्त हुए। स्वाध्याय के पश्चात् उन्होंने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर साठ हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नाम के ग्रन्थ की रचना की। यह करणानुयोग का ग्रन्थ है। (श्रुतावतार पद्य १६०-१६१)

चरणानुयोग के अन्तर्गत मूलाचार, दशभक्ति, द्वादशानुप्रेक्षा, षट्पाहुड, लिंगपाहुड, शीलपाहुड, रयणसार—इन ग्रन्थों का सृजन किया है। द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत—प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय—इन ग्रन्थों का सृजन किया है। उक्त तीन अनुयोगों के ग्रन्थों की रचना से यह सिद्ध होता है कि आ. कुन्दकुन्द सर्वथा अनेकान्तवादी थे और उनकी वाणी स्याद्वादमयी थी। आध्यात्मिक तत्त्व का वर्णन द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत सिद्ध होता है। जब कि आ० कुन्दकुन्द ने प्रथमानुयोग को गौणकर, अन्य तीन अनुयोगों में अपनी वाणी का प्रयोग किया है। द्रव्यानुयोग में जो अध्यात्मवाद का कथन है वह अनेकान्तरूप ही है, न कि एकान्तरूप। कारण कि उसमें नयों की अपेक्षा मुख्य एवं गौण का व्यवहार अन्तर्निहित है।

आपने स्वरचित 'वारस अणुवेक्खा' ग्रन्थ में अपने नाम का निर्देश करते हुए लिखा है —

इदि णिच्छय-ववहार, जं भणिय कुन्दकुन्दमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो, सो पावई परमणिव्वाणं।। (वारसअणुवेक्खा, गाथा ९१)

इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिराज ने निश्चयनय और व्यवहारनय का अवलम्बन लेकर जो कथन किया है उसकी शुद्ध हृदय से जो भावना करता है वह परम निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

कुन्दकुन्द की रचनाओं में प्राय 'समयसार' ग्रन्थ मुख्य माना जाता है। उसमें अध्यात्मप्रधान तत्त्वों का वर्णन है। इसका तात्पर्य यह है—यदि 'समयसार' में निश्चयप्रधान वर्णन है तो व्यवहार गौण है, उसका निषेध नहीं है किन्तु निश्चयनय एवं व्यवहारनय की दृष्टि से तत्त्वों का समन्वय है। 'समयसार' की रचनापद्धति एव श्री अमृतचन्द्र आचार्य की संस्कृतटीका से समयसार का अनेकान्तत्व (समन्वय शैली) अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है। तथाहि—

आ. कुन्दकुन्द ने समयसार में दश अधिकारों में नवपदार्थों का वर्णन किया है। ग्रन्थ के आदि में पीठिका (उत्थानिका) को प्रथम स्थान दिया है जिसमें १४ गाथाओं द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि समयसार में अध्यात्मप्रधान वर्णन अनेकान्त दृष्टि से किया गया है। इस स्याद्वादपूर्ण वाणी से एकान्त तत्त्व का व्याख्यान कदापि नहीं है। एकान्तवाद के विभ्रम को दूर करने के लिए ही पीठिका का प्रकरण लिखित किया गया है। इस विषय को आ० जयसेन स्वरचित तात्पर्य वृत्ति टीका में स्पष्ट कहते हैं —

"एवं निश्चयव्यवहारनयव्याख्यानप्रतिपादनरूपेण गाथाद्वयेन पंचमं स्थलं गतं। इति चतुर्दशगाथाभि· स्थलपंचकेन पीठिका समाप्ता। अथ विस्तररुचिशिष्यं प्रति जीवादिनवपदार्थाधिकारे·

समयसार-व्याख्यानं क्रियते।" (आ. कुन्दकुन्द समयसार : प. जयचन्द्रकृत—हिन्दीटीका, जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका)

पीठिका की १४ गाथाओं का सार :—

(१) मंगलाचरण में नमस्कार प्रामाणिकता एवं ग्रन्थरचना की प्रतिज्ञा,

(२) स्वसमय और परसमय में अन्तर तथा व्याख्या (गाथा २-५)

(३) नय की दृष्टि से आत्मा का ज्ञायक स्वभाव और रत्नत्रयस्वरूप होना (६-७)

(४) धर्मोपदेश में व्यवहारनय की उपादेयता (गाथा-८)

(५) व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है (गाथा ९-१०)

(६) दर्शन-ज्ञान-चरित्र से आत्मा का भेदाभेद एव निर्वाणप्राप्ति (११-१२)

(७) निश्चयनय-व्यवहारनय की व्यापक परिभाषा (गा १३)

(८) उपदेश में निश्चय-व्यवहार नय की सीमा एवं प्रयोग (गा १४)

समयसार के अनेकान्तत्व की सिद्धि में अन्य प्रमाण

आ. अमृतचन्द्र ने समयसार की गाथाओं पर 'आत्मख्याति' नामक गभीर टीका का सृजन किया है। गाथा नं ८ की आत्मख्याति टीका से यह सिद्ध होता है कि वस्तुतत्त्व को समझने के लिए निश्चयनय और व्यवंहारनय दोनों की आवश्यकता है। अत समयसार में एकान्ततत्त्व का प्रतिपादन नहीं है।

इसी प्रकार जयसेन आचार्य ने गाथा क्र ८ की स्वरचित तात्पर्यवृत्ति टीका में अनेकान्तवाद का समर्थन किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका शब्द एवं अर्थ की अपेक्षा गम्भीर है, उसमें एक अन्य विशेषता भी व्यक्त होती है कि वह टीका गद्य-पद्यरूप है। टीकाकार ने गद्यांशों के मध्य में स्पष्ट अर्थ को संक्षेप में व्यक्त करने के लिए अमृतकाव्यों (कलशों) की भी रचना की है जो कलश के समान श्रेष्ठ हैं एव मंगलकारी हैं। अनेकों तत्त्वज्ञानी विद्वान् अपने व्याख्यान में उन अमृतकाव्यों का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ गाथा क्रमाक १६ के अन्तर्गत अमृतकलश का दिग्दर्शन—

> दर्शनज्ञानचारित्रस्त्रिभि परिणतत्वत ।
> एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचक ॥ (समयसार गा. १६, अमृतकलश—१७)

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से आत्मा एक अखण्ड ज्ञायक (चैतन्य) स्वभावी है। इस नय की प्रधानता से पर्यायार्थिक् नय गौण हो जाता है, लुप्त नहीं होता है अत आत्मा अमेचक (एक रूप) है। जब

पर्यायार्थिकनय की मुख्यता होती है तब आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप परिणमन करने से मेचक (अनेकरूप) कहा जाता है। स्पष्ट यह है कि निश्चयनय से आत्मा एक अखण्ड चैतन्य नित्य है और व्यवहारनय से आत्मा अनेक गुण रूप परिणमन करने से अनेक अनित्य भेद रूप है।

इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि समयसार में स्याद्वाद वाणी के माध्यम से अनेकान्तरूप तत्त्वों का व्याख्यान किया गया है, एकान्ततत्त्व का व्याख्यान मानना भ्रम है।

समयसार में अनेकान्ततत्त्वसिद्धि का ज्वलन्त प्रमाण

समयसार में गाथा क्रमाक ३८३ से ३८६ तक, अमृतचन्द्राचार्य कृत आत्मख्याति टीका के अन्तर्गत क्रमश २२५-२२६ की टीका में, जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति में, प० जयचन्द्रशास्त्री कृत हिन्दी टीका में, अतीतकालसम्बन्धी प्रतिक्रमण (ज्ञानावरणादि कर्मों का त्याग) के कृत, कारित, अनुमोदना तथा मन, वचन, काय की गुणितदृष्टि से ४९ भग दर्शाये गये हैं, जो व्यवहारनय से कर्मजन्य विभाव हैं और निश्चयनय से त्याग करने योग्य हैं, आत्मा के नहीं हैं। यह प्रकरण सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में दर्शाया गया है।

इसी प्रकार वर्तमानकाल सम्बन्धी आलोचना (वर्तमान में कर्म करने की निन्दा करना) के ४९ भग दर्शाये गये हैं। यथा (१) मैं वर्तमान में कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य के द्वारा करते हुए कर्म की अनुमोदना करता हूँ—मन से, वचन से तथा काय से, कर्मचेतना और उसके त्याग का वर्णन व्यवहारनय से किया गया है। निश्चयनय से आत्मा सर्वविशुद्ध, एक अखण्ड ज्ञायकस्वभावी है।

इसी प्रकार भविष्य काल सम्बन्धी प्रत्याख्यान-विधि (भविष्य में कर्म न करने का नियम) की अपेक्षा ४९ भग दर्शाये गये हैं। यथा-(१) मैं, भविष्य में कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा और न अन्य द्वारा करते हुए कर्म की अनुमोदना करूँगा—मन से, वचन से एवं काय से, इत्यादि रूप से भविष्य में कर्म-चेतना का निषेध व्यवहारनय से किया गया है। निश्चयनय से आत्मा सर्वविशुद्ध अखण्ड नित्य एक ज्ञायकस्वभावी है। इस प्रकार इस सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में व्यवहारनय से ४९+४९+४९=१४७ प्रकार से कर्मचेतना का व्याख्यान किया गया है।

अज्ञानचेतना के अन्तर्गत कर्मफलचेतना का वर्णन— समयसार गाथा ३८३ से ३८६ के अन्तर्गत ही सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में कलशकाव्य २३० द्वारा कर्मफलचेतना के १४८ भंगों का व्याख्यान किया गया है। व्यवहारनय से आत्मा द्रव्यकर्मफल का भोक्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से राग-द्वेष-मोह आदि भावकर्मों के फल का भोक्ता है और शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से विशुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि ज्ञायकस्वभाव का ही स्वयं भोक्ता है। यहाँ व्यवहारनय से कर्मफल का वर्णन कर उसके त्याग का भावरूप पुरुषार्थ कहा गया है यथा—(१) मैं ज्ञायकस्वभावी आत्मा मतिज्ञानावरणीय फल को भोगने का त्याग करता हूँ, किन्तु निज शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा का

अनुभव करता हूँ, इत्यादि।

उक्त कथन में अनेकान्त की दृष्टि से ही कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और विशुद्धज्ञानचेतना का वर्णन किया गया है इसलिए यह कर्तव्य सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान में कर्म एवं कर्मफल का अनुभवी आत्मा, कर्म एवं कर्मफल का त्याग कर अपने पुरुषार्थ से विशुद्धज्ञान चेतना को प्राप्त करे।

जैनदर्शन में वस्तुतत्त्व के स्वपर-प्रतिपादक श्रुतज्ञान के आचाराग आदि १२ अंग कहे गये हैं। वह सम्पूर्ण श्रुतज्ञान स्याद्वादसिद्धान्त से ओतप्रोत है। प. द्यानतरायकृत जिनवाणी पूजन में कहा भी है —

> "सो स्याद्वादमय सप्तभंग, गणधर गूथे बारह सुअंग।
> ओ ह्रीं स्याद्वादनयगर्भित द्वादशांगश्रुतज्ञानाय जन्मजरामृत्यु—विनाशनाय जलं नि. स्वाहा।"

आचार्य समन्तभद्र ने देवागमस्तोत्र में कहा है—

> स्याद्वादकेवलज्ञाने, सर्वतत्त्वप्रकाशने।
> भेद साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ (आ. समन्तभद्र . देवागमस्तोत्र)

तात्पर्य—स्याद्वाद (स्याद्वादमयश्रुतज्ञान) परोक्षरूप से सर्वतत्त्वों को प्रकाशित करता है और केवलज्ञान प्रत्यक्षरूप से सर्वतत्त्वों को प्रकाशित करता है, कारण कि वस्तु का स्वरूप अन्यथा नहीं है, वह प्रत्यक्ष जाना जाय अथवा परोक्ष रूप से जाना जाय। यही श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में अन्तर है।

यहाँ पर श्रुतज्ञान को स्याद्वाद कहा गया है। अत श्रुतज्ञान के अन्तर्गत समयसार भी स्याद्वाद से ओतप्रोत है।

अब प्रश्न होता है कि जब श्रुतज्ञान का अंश समयसार स्याद्वादमय है, इसी कारण श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में स्याद्वादप्रकरण को पृथक् से स्थान नहीं दिया। परन्तु आत्मख्यातिनाम की टीका के प्रणेता अमृतचन्द्र आ. ने ३१ कलशकाव्यों द्वारा पृथक् से स्याद्वादप्रकरण (अधिकार) को स्थान क्यों दिया एवं जयसेन आचार्य ने इसका समर्थन क्यों किया?

इस विषय पर गंभीरता के साथ विचार करने से प्रश्न का समाधान ज्ञात होता है कि समयसार के स्वाध्यायी, वक्ता, श्रोता, पाठक किसी भी व्यक्ति को एकान्त अध्यात्म का संशय या भ्रम न हो जाय, अपितु अनेकान्तवाद/स्याद्वाद से निर्णीत तत्त्व में ही दृढ़ श्रद्धा, ज्ञान एव आचरण सम्पन्न हो जाय—इस सूक्ष्मदृष्टि या ध्येय से आ. अमृतचन्द्र ने कलशकाव्यों के माध्यम से स्याद्वाद का अधिकार घोषित किया है। कलशकाव्यों के एवं उनकी टीका के अध्ययन-मनन से ज्ञात होता है कि समयसार में वस्तुतत्त्व का वर्णन अनेकान्तवाद/स्याद्वाद की दृष्टि से ही

किया गया है। स्याद्वाद-अधिकार के प्रारंभ में कथित पद्य से उक्त अर्थ स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। तथा च उक्तम्—

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं, वस्तुतत्त्वव्यवस्थिति ।
उपायोपेयभावश्च, मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥ (२४७)

स्याद्वादी हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकं एकं अस्खलितं शासनं अर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वं अनेकान्तात्मकं इति अनुशास्ति सर्वस्यापि वस्तुनो अनेकान्तस्वभावत्वात्। (अमृतचन्द्राचार्य)

अत्र स्याद्वादसिद्ध्यर्थं, वस्तुतत्त्वव्यवस्थिति ।
गायापयभावश्च, मनाग् भूयोऽपि चिन्त्यते ॥

"स्यात्-कथंचित्, विवक्षितप्रकारेण-अनेकान्तरूपेण वदन वादो जल्प कथनं प्रतिपादन इति स्याद्वाद। स च स्याद्वादो भगवतो अर्हत शासनं इत्यर्थ।" (आ जयसेन, तात्पर्यवृत्ति, समयसार, पृ. ५१३)

यद्यपि ज्ञानाधिकार में ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व कहा है तथापि यह कथन एकान्तवाद नहीं है, कारण कि वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक अनेक धर्मस्वरूप है, वह स्याद्वाद से सिद्ध किया जाता है। ज्ञानमात्र आत्मा भी वस्तु है और इस ज्ञान में ही उपाय और उपेयभाव अर्थात् साध्य-साधकभाव सिद्ध किया जाता है। स्याद्वाद समस्त वस्तुतत्त्वों को सिद्ध करने वाला एक निर्बाध अर्हत्सर्वज्ञ का शासन है।

स्याद्वाद की दृष्टि से आत्मा की ४७ शक्तियाँ

निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा अखण्ड नित्य स्वतंत्र ज्ञान स्वभावी है। आत्मा के जितने धर्म हैं वे सब ज्ञान के परिणमनरूप हैं। यद्यपि उन धर्मों में नाम एवं लक्षण आदि से भेद है, परन्तु प्रदेशभेद नहीं है। इसीलिए एक असाधारण अखण्ड ज्ञान के कहने से ज्ञान में उन सभी धर्मों का समावेश हो जाता है। व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा में ४७ शक्तिविशेषों का वर्णन इस स्याद्वाद अधिकार में आ अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति टीका के अन्तर्गत किया है। (१) जीवत्व शक्ति—चैतन्यभावप्राण को धारण करने वाली। (२) चितिशक्ति—जड़रहित चेतना स्वभाव वाली। इत्यादि, इस प्रकार स्याद्वादरीति से आत्मा की ४७ शक्तियों का विशद वर्णन किया गया है।

अन्त में वस्तु में विद्यमान प्रत्येक धर्म के ७-७ प्रकारों (भंगों) का निर्देश किया गया है जिसको सप्तभंगी कहते हैं। द्रव्य के अस्तित्व धर्म की सप्तभंगी इस प्रकार है—

(१) स्यात् अस्ति द्रव्यं। (२) स्यात् नास्ति द्रव्यं। (३) स्यात् अस्ति नास्ति च द्रव्यं। (४) स्यात् अवक्तव्यं द्रव्यं। (५) स्यात् अस्ति अवक्तव्यं च द्रव्यं। (६) स्यात् नास्ति अवक्तव्यं च द्रव्यं। (७)

स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च द्रव्यम् इति। इस प्रकार स्याद्वाद की दृष्टि से द्रव्य में सप्त भंग सिद्ध होते हैं। इस सप्तभंगी प्रक्रिया से भी सिद्ध होता है कि समयसार अनेकान्तात्मक है।

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या, स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलंघ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थित ॥ (कलशकाव्य २६३ पृ. ५२५)

तात्पर्य—इस प्रकार द्रव्य के यथार्थ स्वरूप के व्यवस्थित होने से अपने स्वरूप को स्वयं स्थापित करता हुआ अनेकान्तवाद अर्हन्त द्वारा प्रणीत, अलंघ्य शासन सिद्ध होता है।

अन्तिम मंगलमय कलशकाव्य—

मुक्तामुक्तैकरूपो य, कर्मभि संविदादित।
अक्षयं परमात्मानं, ज्ञानमूर्तिं नमाम्यहम् ॥

भावसौन्दर्य— जो आत्मा कर्मों से मुक्त है और ज्ञानादि गुणों से अमुक्त है उस अविनाशी ज्ञानमूर्ति परमात्मा को अथवा परम आत्मतत्त्व को नमस्कार करता हूँ—ऐसा आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं। आ. जयसेन इसका समर्थन करते हैं और पं जयचन्द्र छाबडा इसके ही अनुरूप व्याख्यान करते हैं। इस अन्तिम मगलकाव्य से भी अनेकान्तवाद की सिद्धि होती है।

समयसार के परिज्ञान का प्रयोजन

"समयसार स्वतत्र आत्मस्वभाव है। इसका अपरनाम सहजसिद्ध परमात्मा है। इस अविकार स्वरूप की दृष्टि होने पर परिणमन में भी अविकारता प्रकट होती है। अविकारता ही सत्य आनन्द की अमोघ जननी है। समस्त दार्शनिकों के प्रयोजन की सिद्धि इस समयसार के परिज्ञान में हो जाती है। समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व अविकार है, नित्य है, एक है, आत्मगुणों में व्यापक होने से व आत्मगुणों से वृद्धिंगत होने के कारण ब्रह्म है। ऐसा स्वभाव होते हुए भी, यत प्रत्येक-द्रव्य परिणमनशील है अत आत्मा भी परिणमनशील है, अतएव इस आत्मा की अनित्यपर्यायें होती हैं इसीलिए मायारूप कही जाती हैं। इस तरह ब्रह्म और माया की सन्धि है। अविकार होते हुए भी यह आत्मा माया का आधार है। यह रहस्य जिन्हें प्रकट हो गया है वे विवेकी हैं और फिर माया की दृष्टि न रखकर एक परमब्रह्म की दृष्टि रखते हैं वे परमविवेकी हैं। समयसार के परिज्ञान का प्रयोजन निर्विकल्प समाधि की सिद्धि है जिसके बल से समस्त कर्मकलंकों से मुक्ति, पूर्णज्ञान की सिद्धि और अनन्त आनन्द की निष्पत्ति होती है।" (कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, भूमिका पृ. १९ प्र. १ दरियागज देहली ७)

उक्त उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि स्याद्वाद की दृष्टि से समयसार का परिज्ञान होने पर ही रत्नत्रय की पूर्णतारूप मुक्ति की सिद्धि होती है, एकान्तवाद से नहीं।

समयसार का स्वाध्याय किसके लिए!

प्रश्न—आध्यात्मिकशास्त्र समयसार का स्वाध्याय किसके लिए?

उत्तर—समयसार का स्वाध्याय मुमुक्षुओं के लिए है। जिनके अन्तरंग से विषयकषायों की रुचि हट गई है और शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त करने की गहरी उत्कण्ठा जागृत हो गई है वे मुमुक्षु ही समयसार के पठन-पाठन के पात्र हैं। ऐसे मुमुक्षु गृहस्थ भी हो सकते हैं और साधु भी हो सकते हैं। साधु तो मोक्ष की साधना के लिए ही सर्वस्व का त्याग करते हैं और श्रावक एकदेशव्रतों की साधना से मोक्ष की परम्परया उपासना करते हैं।

श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो, नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुने ॥

श्री अमृतचन्द्रचार्य ने पुरुषार्थसिद्‌युपाय में घोषित किया है—

एव सम्यग्दर्शनबोधचारित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो, भवति निषेव्यो यथाशक्ति॥

तात्पर्य—महाव्रती साधु रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग की सर्व देश साधना करते हैं और देशव्रती श्रावक मोक्षमार्ग की एक देश यथाशक्ति साधना करते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी साधु एव श्रावक ही समयसार का स्वाध्याय करने के पात्र हैं, मिथ्यादृष्टि मानव स्वाध्याय के पात्र नहीं हैं। इस विषय में भी यह सशोधन जानने के योग्य है कि प्रबुद्ध (चारों अनुयोगों के ज्ञाता विद्वान्) साधु और श्रावक कभी भी योग्यकाल में समयसार का स्वाध्याय कर सकते हैं। परन्तु अप्रबुद्ध साधु या श्रावक का कर्तव्य है कि वे क्रमश प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग में सिद्धान्त एव दर्शन का स्वाध्याय करने के पश्चात् ही आध्यात्मिक समयसार का स्वाध्याय कर सकते हैं। इस प्रकार का क्रमश स्वाध्याय करने पर ही साधु एव श्रावकों को ज्ञानामृतपान का यथार्थ आनन्द प्राप्त हो जाता है।

अन्यथा कविवर बनारसीदास जी जैसा निन्दा एव हास्य का पात्र होना पडेगा। यह घटना प्रसिद्ध है कि वि.सं. १६८० में एक समय कवि बनारसीदास के लिए, उनके मित्र अरथमल ने पाण्डे राजमल द्वारा लिखित टीका सहित समयसार ग्रन्थ स्वाध्याय हेतु सामने रख दिया। कविवर उस समय जैनधर्म के विषय में सामान्य ज्ञान रखते थे। अत कविवर समयसार को पढ़कर बहुत प्रभावित हुए। किन्तु समयसार का मर्म तो जान नहीं पाये और वे आचरण में स्वच्छन्द हो गये। समाज में उनकी बहुत आलोचना हुई। वे खोसरामती कहे जाने लगे।

उनके चार साथी और भी सहयोग देने लगे। वे चारों साथी दिगम्बर होकर एक बन्द कोठरी

में घूमते हुए 'आत्मा शुद्ध बुद्ध निरंजन' इत्यादि कहने लगे। वे कहते हैं—मेरी दशा उस समय निश्चयाभासी, स्वच्छन्दी और एकान्तवादी जैसी हो गई थी। वे स्वयं कविता द्वारा कहते हैं

करनी को रस मिट गयो, भयो न आतमस्वाद ।
भई बनारसि की दशा, जथा ऊंठ को पाद ॥१॥

ऐसी दशा भई एकान्त, कहों कहां लौं सो विरतन्त।
नगन होंहि चारों जनें, फिरहिं कोठरी मांहि ॥२॥

कहहिं भये मुनिराज हम, कछू परिग्रह नांहि।
कहहिं लोग श्रावक अरु जती, बानारसी खोसरामती॥३॥

तीन पुरुष की चले न बात, यह पण्डित तातें विख्यात॥

इसके बाद अनायास ही आगरा में पं. रूपचन्द्र जी पाण्डेय का संयोग मिला। पाण्डेय ने चारों को गोम्मटसार का प्रवचन करते हुए गुणस्थान के अनुसार निश्चय-व्यवहार का स्वरूप सही-सही समझाया और कवि तथा उनके साथियों को स्याद्वाद का सच्चा ज्ञान प्राप्त कराया। तब आत्मा का यथार्थ अनुभव उन चारों को प्राप्त हुआ। इस कथा से यह शिक्षा प्राप्त होती है कि अनुयोगों के ज्ञान के बिना समयसार का अध्ययन नहीं करना चाहिए।

समयसार का एकान्तधारणा से स्वाध्याय करने वाले तथा चारों अनुयोगों के ज्ञान बिना समयसार का पठन करने वाले महानुभाव यह कहते हुए देखे जाते हैं कि, समयसार ही सार है और सब ग्रन्थ बेकार हैं। कुन्दकुन्दाचार्य जी आचार्य हैं और सब अनाचार्य हैं। अध्यात्मवाद ही वाद है और सब कुवाद हैं।

सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री के विचार समयसार के विषय में —

"आज तो स्वाध्याय का प्रारंभ ही समयसार से होता है। जो जैन धर्म की मूल बातों को भी नहीं जानते वे भी समयसार पढते हैं और समयसार जो पढ़ने लगता है, वह शेष शास्त्रों का बहिष्कार जैसा कर बैठता है। उसे समयसार में मोक्ष और शेष में संसार दृष्टिगोचर होता है। ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके अमृतचन्द्र आचार्य ने पंचास्तिकाय की टीका में एक गाथा उद्धृत की है—

णिच्छयमालवता णिच्छयदो णिच्छयं अजाणंता।
णासति चरणकरणं बाहिरचरणालसा केई॥

अर्थात्—जो व्यक्ति निश्चय का तो आलम्बन करते हैं और निश्चय से निश्चय को नहीं जानते ऐसे कोई व्यक्ति बाह्य आचरण में आलसी बनकर चारित्ररूप परिणामों को नष्ट करते हैं।

जिनवाणी चाहे किसी अनुयोग से सम्बद्ध हो, कल्याण ही करने वाली होती है। उसका
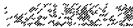
पाठक कल्याणार्थी होना चाहिए। उपादान ही यदि ठीक न हो तो निमित्त क्या करेगा। समयसार पढ़कर जिसमें विरागता नहीं आई, उसने समयसार पढ़ा ही नहीं।

सारांश यह कि "मानव प्रथम समयसार पढने के पात्र बनें। पात्र बनेंगे तो समयसार पढ़ने का लाभ भी प्राप्त करेंगे, अन्यथा तो समयसार का ज्ञान समयसार में रहेगा और आप की परिणति आप में रहेगी।

जिस प्रकार समयसार में स्याद्वाद से द्रव्य में अनेकान्तत्व को सिद्ध किया गया है, उसी प्रकार प्रवचनसार, पचास्तिकाय, नियमसार, द्वादशानुप्रेक्षा, अष्टपाहुड, रयणसार, भक्तिपाठ इन ग्रन्थों में भी स्याद्वाद से अनेकान्तत्व को सिद्ध किया गया है। इन ग्रन्थों में जहाँ निश्चयनय का कथन है वहाँ व्यवहारनय सापेक्ष है और जहाँ व्यवहारनय से कथन है वहाँ निश्चय सापेक्ष है। कारण कि निरपेक्षनय मिथ्या कहे जाते हैं तथा सापेक्षनय सम्यक् (सत्यार्थ) कहे जाते हैं। ये ही वास्तव में वस्तुतत्त्व की सिद्धि करते हैं।

स्याद्वादमयी तेरी वाणी, शुभनय के झरने झरते हैं।
उस पावन नौका पर लाखों प्राणी भववारिधि तिरते हैं॥
हे गुरुवर। शाश्वत सुखदर्शक, यह नग्न स्वरूप तुम्हारा है।
जग की नश्वरता का सच्चा, दिग्दर्शन करने वाला है॥

समयसार महिमा

❑ स्व. श्री सहजानन्दजी वर्णी

सभी जीव शाश्वत शान्ति चाहते हैं और एतदर्थ ही भरसक प्रयत्न करते हैं। जो जीव विषय भोगों में ही आनन्द मानते हैं और विषयभोगों के बाधक निमित्तों से द्वेष एवं कलह करके शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उन जीवों की तो इसमें चर्चा ही नहीं करना है। जो अलौकिक उपायों से शान्ति का मार्ग ढूंढते हैं, उनकी चर्चाओं के बाद परिणामस्वरूप हितकर प्रकृत बात पर आना है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि जिस परमेश्वर ने अपनी सृष्टि की है उस परम पिता परमात्मा की उपासना से ही दुखों से मुक्ति हो सकती है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि—प्रकृति और पुरुष में एकत्व का अभ्यास होने से ही क्लेश एवं जन्म-परम्परा हुई है, सो प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान कर लेने से ही क्लेश एवं जन्म-परम्परा से मुक्ति मिल सकती है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि—क्षणिक चित्तवृत्तियों में जो आत्मा मानने का भ्रम है इस आत्मभ्रम से सारा क्लेश है, सो आत्मा का भ्रम समाप्त कर देने से ही निर्वाण प्राप्त हो सकता है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि—आत्मा तो शाश्वत निर्विकार है। उसमें विकार का जब तक भ्रम है तब तक जीव दुखी है, विकार का भ्रम समाप्त होने से ही जीव शान्ति प्राप्त कर सकता है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि—दुष्कर्मों से ही जीव सासारिक यातनाएँ सहता है, और यातनाओं से मुक्ति पाना सत्कर्म करने से ही सम्भव है।

और कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि—विकल्पात्मक विविध उपयोगों से ही जीव का ससार परिभ्रमण चल रहा है। इस भवभ्रमण की निवृत्ति निर्विकल्प समाधि से ही हो सकती है।

इत्यादि प्रज्ञापूर्ण अनेक धारणाएँ हैं। इनमें से किसी भी धारणा को असत्य नही कहा जा सकता और यह भी नहीं कहा जा सकता कि इसमें कोई भी धारणा किसी दूसरे के विरुद्ध है। इन सब धारणाओं का जो लक्ष्य है वह सब है एक 'समयसार'।

एक समयसार के यथार्थ परिज्ञान में उक्त समस्त उपाय गर्भित हैं। एक समयसार के परिज्ञान
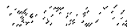
से उक्त सब उपाय कैसे प्रचलित हो जाते हैं यह बात अभिधेय समयसार के यत्किंचित् अभिधान के पश्चात् कहीं तो विशद उक्तियों में और कहीं फलितार्थरूप में प्रकट हो ही जायेगी। अत. अन्य कोई विस्तृत विवेचन न करके अब समयसार के सम्बन्ध में ही संक्षिप्त प्रकाश डाला जाता है।

समयसार का अर्थ

समय शब्द के दो अर्थ हैं १-समस्त पदार्थ, २-आत्मा। इनमें अर्थात् समस्त पदार्थों में समय शब्द का अर्थ आत्मा होता है, क्योंकि आत्म-पदार्थ ही जानने वाला है और उसका स्वभाव सर्व पदार्थों को एकत्वरूप अर्थात् केवल उसका सत्तात्मक बोध एक साथ जानने का है।

अब सब पदार्थों में सार कहो तो वह आत्मा नाम का पदार्थ है और उसमें भी निरपेक्ष, शाश्वत, सहज, एक स्वरूप आत्मस्वभाव (चैतन्य स्वभाव) की दृष्टि से दृष्ट आत्म-तत्त्व सार है। इसी प्रकार दूसरी निरुक्ति से भी यही समयसार वाच्य है। समयसार के अपर नाम—ब्रह्म, परम-ब्रह्म, परमेश्वर, कारण परमात्मा, जगत्पिता, शुद्धचेतन, परम-पारिणामिक भाव, शुद्धचेतना, सर्वविशुद्ध, चिन्मात्र, चैतन्य, प्रभु, विभु, अद्वैत, विष्णु, ब्रह्मा, परमज्योति और शिव इत्यादि अनेक हैं।

यह समयसार अजर, अमर, अविकार, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरजन, अपरिणामी, ध्रुव, अचल, एक-ज्ञायक-स्वरूप, अनतरसनिर्भर, सहजानन्दमय, चिन्मात्र, सहजसिद्ध, अकलंक, सर्वविशुद्ध, ज्ञानमात्र, सच्चिदानन्द स्वरूप इत्यादि अनेक द्वार से सवेद्य है।

वस्तु-व्यवस्था

समयसार के विशद परिज्ञान का उपाय भेद-विज्ञान है। अनेक पदार्थों को स्व-स्व लक्षणों से पृथक्-पृथक् नियत कर देना और उनमें से उपादेय पदार्थ को लक्षित और उससे समस्त पदार्थों को उपेक्षित कर देने को भेद-विज्ञान कहते हैं। प्रकृत भेद-विज्ञान के लिए आत्म-अनात्मस्वरूप समस्त पदार्थों का जान लेना प्रथम आवश्यक है। इस जानकारी के लिए समस्त पदार्थ कितने हैं यह जानना आवश्यक है। इस जानकारी के लिए आखिर एक पदार्थ होता कितना है यह भी जानना आवश्यक है।

एक परिणमन जितने पूरे में होना ही पडे और जितने से बाहर त्रिकाल में भी कभी न हो सके, उतने को एक पदार्थ कहते हैं। जैसे—विचार, सुख, दुख, अनुभव आदि कोई परिणमन मेरा, केवल मेरे आत्मा में, और वह भी समस्त प्रदेशों में होता है और मेरे आत्म-प्रदेशों से बाहर अन्यत्र कभी नहीं हो सकता। इसलिए यह मैं आत्मा एक पदार्थ हूँ। इसी प्रकार सब

आत्मा हैं। इस तरह विश्व में अक्षय अनन्तानन्त आत्मा हैं। दृश्यमान स्कंधों में जो कुछ दिखता है वह एक एक नहीं है; क्योंकि जलने से या अन्य हेतुओं से या समय व्यतीत होने से उस एक पिण्ड में एक जगह तो रूप-परिवर्तन और तरह देखा जाता है, किन्तु वह परिवर्तन सर्वत्र नहीं होता। इसी प्रकार रस, गन्ध, स्पर्श में भी विविधता देखी जाती है। एक पदार्थ का जो लक्षण है उसके अनुसार यह निर्णीत होता है कि इन पिण्डों में एक एक परमाणु करके अनन्त परमाणु हैं और वे एक-एक द्रव्य हैं। क्योंकि एक पदार्थ का लक्षण इनमें घटित हो जाता है। इस तरह जब दृश्यमान छोटे से पिण्ड में अनन्त परमाणु हैं तब समस्त विश्व में तो अक्षय अनन्तानंत परमाणु हैं—यह सुसिद्ध बात है। इन परमाणुओं को पुद्‌गल कहते हैं; क्योंकि इनमें पूर पूर कर एक पिण्ड होने की व गल-गलकर पुन बिखरने की योग्यता है। अनन्तानन्त जीव व अनन्तानन्त पुद्‌गलद्रव्यों के चलने में जो उदासीन सहायक द्रव्य है, वह धर्मद्रव्य है, और वह एक है। अनन्तानन्त जीव व अनन्तानन्त पुद्‌गलद्रव्य के चलकर ठहरने में जो उदासीन सहायक द्रव्य है, वह अधर्मद्रव्य है, वह भी एक है। समस्त जीव व पुद्‌गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि समस्त द्रव्यों के अवगाह का जो उदासीन हेतु है ऐसा आकाश एक द्रव्य है। इन सबके परिणमन का जो उदासीन हेतुरूप है वह काल द्रव्य है। काल द्रव्य असख्यात हैं। वे लोकाकाश (जितने आकाश में सब द्रव्य हैं) के एक एक प्रदेश पर एक एक स्थित हैं। आकाश द्रव्य एक है। इस प्रकार अनन्तानन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्‌गल, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य व असंख्यात काल द्रव्य ऐसे अनन्तानन्त पदार्थ हैं।

समयसार के परिज्ञान के लिए अब अनन्तानन्त पदार्थों में से एक आत्मा स्व के रूप में और अवशिष्ट अन्य अनन्तानन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्‌गल, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असख्यात काल द्रव्य—इन सबको पर के रूप में जानना चाहिए। इसके अनन्तर उस एक आत्मा में भी उन सभी गुण व सभी पर्यायों की दृष्टि गौण करके सनातन एक चैतन्य स्वभाव की दृष्टि करनी चाहिये।

आवश्यक एवं ज्ञातव्य दृष्टियाँ

समयसार के परिज्ञान के लिए समयसार व समयसार से भिन्न समस्त परभाव का जानना आवश्यक है और आवश्यक है उन समस्त परभावों से हटकर एक समयसार का ही उपयोग करना। एतदर्थ वह सब परिज्ञान अनेक दृष्टियों से आवश्यक होता है। अत संक्षेप में आवश्यक दृष्टियों का वर्णन किया जाता है। इसके पश्चात् समयसार ग्रन्थ में वर्णित विषयों का संक्षेप सारांश प्रकट किया जायगा। दृष्टि के अपर नाम नय, अभिप्राय, आशय, मत इत्यादि अनेक हैं। इनमें प्रसिद्ध शब्द नय है। नय के मुख्य भेद दो हैं (१) निश्चयनय और (२) व्यवहारनय। एक पदार्थ के ही जानने को निश्चयनय कहते हैं। अनेक या अन्य के निमित्त से होने वाले

कार्य व्यपदेश आदि के जानने को व्यवहारनय कहते हैं। चूंकि पदार्थों को केवल स्व-स्वभाव भी जाना जा सकता है, संयुक्त या सहयोगी भावों द्वारा भी जाना जा सकता है, इसलिए नयों की द्विविधता होना प्राकृतिक बात है।

अथवा पदार्थों के भेदरूप से जानने को व्यवहार कहते हैं और अभेदरूप से जानने को निश्चयनय कहते हैं। निश्चयनय एक और अभेद अथवा एक या अभेद को जानता है, व्यवहारनय अनेक और भेद अथवा अनेक या भेद को जानता है। इस कारण कितने ही निश्चयनय उसके सामने अन्य अन्तरंग की दृष्टि प्राप्त होने पर व्यवहारनय हो जाते हैं और कितने ही व्यवहारनय उसके सामने अन्य अधिक बहिरंग की दृष्टि प्राप्त होने पर निश्चयनय हो जाते हैं। फिर भी माध्यम द्वारा नयों का संक्षिप्त विस्तार किया जाता है—

निश्चयनय के परमशुद्ध निश्चयनय, विवक्षितैकदेशशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, और अशुद्ध निश्चयनय आदि भेद हैं। व्यवहारनय के उपचरित असद्भूत व्यवहार, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार, उपचरित सद्भूत व्यवहार और अनुपचरित सद्भूत व्यवहार आदि भेद हैं।

परम शुद्ध निश्चयनय—परिणमन व शक्तिभेद (गुण) की दृष्टि गौण कर एक स्वभावमय पदार्थ को जानना परमशुद्ध निश्चयनय है, जैसे आत्मा चित्स्वरूप है। इसी नय का विषय समयसार है।

विवक्षितैकदेशशुद्ध निश्चयनय—उपादेय तत्त्व को शुद्ध निरखकर विकार का उपाधि से सम्बन्ध जानने को विवक्षतैकदेशशुद्ध निश्चयनय कहते हैं; जैसे रागादि पौद्गलिक हैं। यह आशय अशुद्ध निश्चयनय की मुख्यता होने पर व्यवहारनय हो जाता है।

शुद्ध निश्चयनय—शुद्धपर्यायपरिणत पदार्थ के जानने को शुद्ध निश्चयनय कहते हैं जैसे सिद्ध प्रभु शुद्ध हैं।

अशुद्ध निश्चयनय—अशुद्धपर्यायपरिणत पदार्थ के जानने को अशुद्ध निश्चयनय कहते हैं।जैसे रागादिमान् ससारी जीव हैं।

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय—अन्य उपाधि के निमित्त से होने वाले प्रकट परभाव को निमित्त से उपचरित करना उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है, जैसे—अनुभूत विकारभाव पुद्गल कर्म के कारण जीव में हुए हैं।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय—अन्य उपाधि के निमित्त से होने वाले सूक्ष्म (अप्रकट) विकार को कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है, जैसे औपाधिक अबुद्धिगत जीव के विकारभाव।

उपचरित सद्भूत व्यवहारनय—उपाधि के क्षयोपशम से प्रकट होने वाले जीव के गुणों का विकास उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है, जैसे जीव के मतिज्ञान।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय—जीव के निरपेक्ष आदिक स्वभाव-भाव को गुण-गुणी का भेद करके कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है, जैसे जीव के ज्ञानादि गुण।

इस प्रकार अन्तरंग से बहिरंग की ओर, बहिरंग से अन्तरंग की ओर अभिप्रायों का आलोडन-विलोडन करके समय (आत्मा) का सम्यक् प्रकार से निश्चय किया जाय और पश्चात् अनेक निश्चयनयों में से निकल कर परमशुद्ध निश्चयनय का अवलम्बन करके समयसार का परिज्ञान किया जावे और फिर परमशुद्धनिश्चय के आशय से भी सहज छूटकर समयसार का अनुभव किया जावे।

समयसार का विषय विभाग

समयसार आत्मतत्त्व की विवेचना का अनुपम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्राकृत भाषा में नाम 'समयपाहुड' है, जिसका संस्कृतानुवाद है समयप्राभृत। प्राभृत का अर्थ भेंट भी होता है जिससे यह ध्वनित हुआ कि समय अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व की जिज्ञासा करने वाले मुमुक्षु समयसार (कारणपरमात्मा या निर्दोषपरमात्मा) राजा के दर्शन करने के लिए उद्यम करे तो इस भेंट का (ग्रन्थ का) उपयोग करें। यदि कोई यह जानना चाहे कि जैन सिद्धान्त में वर्तमान में सर्व प्रमुख व्यवहारोपयोगी ग्रन्थ कौन है तो यह निशक कहा जा सकता है कि एक तत्त्वार्थसूत्र और दूसरा समयसार। ये दो ग्रन्थ प्रमुख लोकोपयोगी हैं। समयसार में तो आत्म-तत्त्व विषयक सुविवेचना है और तत्त्वार्थसूत्र में पदार्थ की विविध विषयक सुविवेचना है।

समयसार ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय विस्तृत है। अत मूलकर्ता (गाथाकार पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य) की इस कृति की रचना इस प्रकार हुई है प्रारम्भ की १२ गाथा तो समयसार की पीठिका है। पश्चात् मुख्य विषय जीव के स्वरूप का है सो जीवाधिकार आया। पश्चात् अजीवाधिकार आया। पश्चात् जीव-अजीव के बन्धन के मूल का अर्थात् कर्तृ-कर्म-भाव का अधिकार आया। पश्चात् कर्तृ-कर्म भाव के परिणामस्वरूप अथवा संसार के प्रधान एक भाव निमित्तभूत पुण्यपाप कर्म का अधिकार आया। पश्चात् पुण्यपाप कर्म के द्वारभूत आस्रव का अधिकार आया। इसके पश्चात् आस्रव के विपक्षी अथवा मुक्ति के मूल उपायभूत सवर का अधिकार आया। पश्चात् संवर के होने पर कार्यकारी एवं मोक्ष की साधनभूत निर्जरा का अधिकार आया। पश्चात् मोक्ष के विपक्षभूत बन्ध का अधिकार आया। पश्चात् मोक्ष का अधिकार आया। पश्चात् मुक्ति के सर्व उपायों के लक्ष्यभूत समयसार का विशुद्ध वर्णन करने के लिए सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार आया। अन्त में इसी तत्त्व का तथा पूर्व में उक्त व अनुक्त विषयों का उपसंहार करने वाला परिशिष्ट रूप स्याद्वाद अधिकार आया।

इस प्रकार इस समयसार ग्रन्थ में (१) पीठिका, (२) जीवाधिकार, (३) अजीवाधिकार, (४) कर्तृ-कर्माधिकार, (५) पुण्य-पापाधिकार, (६) आस्रवाधिकार, (७) संवराधिकार, (८) निर्जराधिकार,

(९) बंधाधिकार, (१०) मोक्षाधिकार, (११) सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार, (१२) चूलिकाधिकार और (१३) स्याद्वादाधिकार आये। इन १३ अधिकारों में आत्मतत्त्व का वर्णन किया है। अद्यतन प्रसिद्धि के अनुसार पीठिका व जीवाधिकार का वर्णन एक धारा में होने के हेतु इन दो अधिकारों का एक पूर्वरंग हो जाने से, व अजीवाधिकार में ही विधि-निषेध के रूप में जीव का वर्णन आ जाने के हेतु अजीवाधिकार हो जाने से, तथा सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार व चूलिकाधिकार का विषय भी एक धारा में चलने से एव स्याद्वाद (परिशिष्ट) अधिकार समयप्राभृत ग्रन्थ के टीकाकार पूज्य श्री अमृतचन्द्र सूरि की स्वतन्त्र रचना होने से (१) पूर्वरग, (२) जीवजीवाधिकार, (३) कर्तृकर्माधिकार, (४) पुण्य-पापाधिकार, (५) आस्रवाधिकार, (६) सवराधिकार, (७) निर्जराधिकार, (८) बंधाधिकार, (९) मोक्षाधिकार, (१०) सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार—इस प्रकार दश अधिकार हैं।

अब समयसार ग्रन्थ के उक्त अधिकारों में किस किस विषय का वर्णन है, इस पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है ताकि यह भी सुगमता से जानने में आ सके कि द्वैतभाव से की गई अनेक ऋषियों की पूर्वोक्त विभिन्न आध्यात्मिक धारणाओं का लक्ष्य भी यह समयसार है, चाहे उनमें से किसी ने उस पर लक्ष्य कर पाया हो या न कर पाया हो।

पीठिका

सर्व प्रथम समयसार के पूर्ण अनुरूप विकास अर्थात् सिद्ध प्रभु को नमस्कार करके समय (सामान्य आत्मा) का इस प्रकार सकेत किया है कि समय की दो अवस्थायें होती हैं (१) स्वसमय (शुद्धावस्था) और (२) परसमय (अशुद्धावस्था)। जो अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हो, अर्थात् शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय निज परमात्मतत्त्व की रुचि, सवित्ति व निश्चल अनुभूति से परिणत हो, सो स्वसमय है और जो औपाधिक भावों में स्थित हो सो परसमय है। ये दोनों अवस्थायें जिस एक पदार्थ की है वह समय है। अन्य सर्व परपदार्थों से, सर्व पर्यायों से भिन्न देखा गया, केवल यही समय समयसार कहलाता है।

ससारी जीवों ने इस समयसार की दृष्टि नहीं की। इसी कारण इसे जीवलोक में आपत्तियों का भाजन होना पडा है। इस समयसार का वर्णन करने के पहले ग्रन्थकर्ता श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं कि इस समयसार (एकत्व विभक्त आत्मा) को आत्मविभव द्वारा दिखाऊँगा, यदि दिखा दूँ तो स्वय अपने विभव से प्रमाण करना, यदि दिखाने में चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना। दिखाना शब्दों द्वारा ही तो हो रहा है। यह क्रिया नयगर्भित है, अत सुनने में नय का ठीक उपयोग न करने से श्रोता का चूकना सम्भव है। इसी बात को अपने पर लेने से ग्रन्थकर्ता की कितनी निर्गर्वता प्रकट हुई है और स्वय अनुभव से प्रमाण करना चाहिये कि इस भाव द्वारा वस्तुस्वातन्त्र्य की प्रतीति प्रकट हुई है। इससे सहसा विवेच्य विषय पर श्रद्धा होती है तथा मनन कर लेने से दृढ तो प्रतीति हो ही जावेगी, क्योंकि इस विवेचना में पूर्णत

वैज्ञानिक पद्धति है।

समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व का लक्ष्य इस प्रकार किया गया है, कि जो न प्रमत्त या कषायसहित है और न अप्रमत्त या कषायरहित है, किन्तु एक शुद्ध ज्ञायक-भावमय है, वह शुद्ध आत्मा है। इस शुद्ध आत्मा में बन्ध की कथा तो दूर ही रही इसमें ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदिक गुणभेद भी नहीं हैं। फिर भी बुद्धि में गुणभेद आदि किये बिना परमार्थभूत आत्मा को समझाया नहीं जा सकता। इसलिए गुणभेद आदि निरूपक व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक होने से वक्तव्य होता है और यह व्यवहार पहली पदवी में प्रयोजनवान् है, किन्तु परमार्थभूत चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व के अवलोकन करने वालों को व्यवहार प्रयोजनवान् नहीं है।

अधिकार-गाथा

उक्त प्रकार से एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मा अथवा समयसार का संक्षेप में वर्णन किया गया है। उसी को विस्तृत रूप में कहने के लिए एक अधिकार गाथा ग्रन्थकर्ता ने दी है

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पाव च।
आसव सवर णिज्जर बधो मोक्खो य सम्मत्तं॥

भूतार्थनय से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बध और मोक्ष सम्यक्त्व हैं। यहां कारण में कार्य का उपचार करके सम्यक्त्व का वर्णन किया है, जिससे यह भाव निकला कि भूतार्थ नय से जाने गये जीवादि नवतत्त्व सम्यक्त्व के कारण हैं। गुण-पर्यायों के भेद से उठाकर एकत्व में ले जाने वाले नय को भूतार्थनय कहते हैं। इस गाथा में अधिकारसूची भी आ गई। आध्यात्मिक ग्रन्थों में आवश्यक कर्तव्य होने से केवल कर्तृकर्माधिकार व सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार और कहना पडा। चूलिका तो प्राय सर्वत्र आपतित होती ही है।

उक्त नव तत्त्वों में जीव व अजीव तो द्रव्य है तथा पुण्य-पाप, आस्रव आदि पर्यायें हैं। इसी कारण ये सातों जीव रूप भी कहे गये हैं और अजीवरूप भी कहे गये हैं। जैसे जीवपुण्य, अजीवपुण्य आदि। जीव की परिणतियां जीवपुण्य आदि हैं व अजीव (कर्म) की परिणतिया अजीवपुण्य आदि हैं। जीवपरिणतियों के द्वार से चलकर उन परिणतियों के स्रोतभूत गुण पर आना और गुणद्वार से चलकर गुणों के अभेद पुञ्ज अथवा गुणों के स्रोतभूत जीवद्रव्य पर आना यह भूतार्थ नय की पद्धति है। इसी प्रकार अजीव में भी लगानी चाहिए। यह सर्वविषय ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट करना चाहिए। यहाँ तो विषयों का दिग्मात्र ही दिखाना है।

जीवाधिकार

जीवाधिकार में सर्वप्रथम ही शुद्ध आत्मा के स्वरूप, स्वामी व उपाय का ही एकदम सुगम

रीति से वर्णन कर दिया गया है, कि जो अपनी आत्मा को (अपने आप को) अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशिष्ट व असंयुक्त देखता है उसे शुद्धनय जानो, अथवा शुद्ध-नय से जैसा शुद्ध आत्मतत्त्व देखा जाता है वैसा ही शुद्ध आत्मतत्त्व जानो। यही जिन-शासन का सार है।

इस शुद्ध आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान व आचरण करना चाहिए। वस्तुत श्रद्धान-ज्ञान-आचरण भी आत्मा ही है। यद्यपि यह आत्मा स्वभाव से ही ज्ञानमय है किन्तु इसकी निजतत्त्व पर दृष्टि नहीं हुई; अत इसकी उपासना का आदेश दिया गया है।

समयसार का परिचय न होने से जीव की दृष्टि कर्म, शरीर व विभाव में "यह मैं हूँ या ये मेरे हैं' ऐसी मान्यता हो जाती है, और जब तक ऐसी दृष्टि रहती है तब तक यह जीव अज्ञानी कहलाता है। इतना ही नहीं, अज्ञानी जीव के भूत, भविष्यत् का भी परिग्रह लगा रहता है। अज्ञानी के यह धारणा रहती है कि शरीरादिक मैं हूँ, ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ ये मेरे थे, मैं इनका था, ये मेरे होंगे, मैं इनका होऊँगा इत्यादि।

परन्तु शरीरादिक अजीव पदार्थ व चेतन आत्मा एक कैसे हो सकते हैं? क्योंकि जीव तो ज्ञानलक्षण वाला है और अजीव ज्ञानरहित है। हे आत्मन्। तू शरीर नहीं है, किन्तु शरीर का अभी पडोसी है, शरीर से भिन्न उपयोगस्वरूप अपने को देख।

चूंकि जीवलोक को इस शरीररूप में ही जीव का परिचय रहा है और कभी धर्म भी चला तो इसी पद्धति से। इसी कारण उक्त उपदेश की बात सुनते ही कोई शिष्य पूछता है कि प्रभो। शरीर से भिन्न आत्मा कहाँ है? शरीर ही जीव है। यदि शरीर ही जीव न होता तो तीर्थंकर देव की जो ऐसी स्तुति की जाती है कि आपकी काति दसों दिशाओं में फैल जाती है, आपका रूप बडा मनोहारी है, आपके १००८ शुभ लक्षण हैं, इत्यादि सब स्तुति मिथ्या हो जाये तथा आचार्य परमेष्ठी की जो स्तुति की जाती है कि आप देश, जाति व काल से शुद्ध हैं, शुद्ध मन, वचन, काय वाले हैं इत्यादि, वह भी स्तुति मिथ्या हो जावेगी। इसका पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य उत्तर देते हैं—

नय दो प्रकार के होते हैं—(१) व्यवहारनय और (२) निश्चयनय। व्यवहारनय से तो देह व जीव का संयोग सम्बन्ध है, इसलिए देह और जीव में कथंचित् एकत्व मान लिया जाता है, परन्तु निश्चयनय से जीव में ही जीव है, देह जीव हो ही नहीं सकता। शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति व्यवहाररूप से कथंचित् हो सकती है, निश्चयनय से तो शरीर के गुण आत्मा के कुछ नहीं हैं, इसलिए शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति नहीं होती। आत्मा की स्तुति से ही आत्मा की स्तुति होती है। यहाँ यह अवश्य जान लेना चाहिए कि जो आत्मा आत्मस्वरूप से बिलकुल अपरिचित है उसके प्रति तो व्यवहारनय से भी स्तुति नहीं की जा सकती।

अब निश्चयस्तुति किस प्रकार हो सकती है इस विषय पर आते हैं। चूंकि यह निश्चयस्तुति

है, इसलिए जो भी विशुद्ध स्थिति कही जावेगी वह आत्मा की ही कही जावेगी। आचार्य पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्द प्रभु के द्वारा कही हुई निश्चय-स्तुति का भाव पूज्य श्री अमृतचन्द्र सूरि व्यक्त करते हैं। जिन्होंने असग, अखण्ड, चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन द्वारा ज्ञेय पदार्थों से, भावेन्द्रियों से व द्रव्येन्द्रियों से पृथक् अपनी प्रतीति करके, इन्द्रियों को जीतकर स्वभावमय अपने को माना है वे जितेन्द्रिय 'जिन' कहलाते हैं। जो द्रव्यमोह व भावमोह से अलग अपने आत्मा को अपने में लेने के द्वारा मोह को जीतकर अपने आत्मा को परमार्थ सद्रूप ज्ञानस्वभावमय अनुभवते हैं, वे जितमोह कहलाते हैं। (पुनश्च) उक्त प्रकार से मोह को जीत लेने वाले निर्मल आत्मा के मोह ऐसा समूल नष्ट हो जाता है कि फिर कभी भी उसका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। ऐसी उस निर्मल आत्मा को क्षीण-मोह कहते हैं। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सहजानन्दमय इत्यादि स्तुति भी निश्चय स्तुति कहलाती है। इन्द्रियों पर विजय आत्मज्ञान से ही है। वस्तुत पर का त्याग ज्ञानस्वरूप ही है, क्योंकि पर को पर जानकर ही त्याग किया जाता है। पर तो भिन्न है ही, मान्यता में एक कर रक्खा था सो सच्चा ज्ञान करना ही उसका त्याग है।

इस प्रकार प्रासंगिक स्तुति-चर्चा के बाद अन्त में दिखाया है कि सम्यग्ज्ञानी की अन्तर्भावना ऐसी होती है—मोह मेरा कुछ नहीं है, मैं तो एक उपयोगमात्र हू, ज्ञेयाकार व ज्ञेय पदार्थ मेरा कुछ नहीं है, मैं तो एक उपयोगमात्र हूँ, मैं एक (केवल) हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, अमूर्त हूँ और अन्य परमाणुमात्र भी मेरा कुछ भी नहीं है।

अजीवाधिकार

इस अधिकार में उन सब भावों को भी अजीव बतलाया है जो जीव के शुद्ध स्वरूप में नहीं है। अत अजीव में अजीव द्रव्य तो है ही, साथ ही औपाधिक भाव भी अजीव हैं।

आत्मा को नहीं जानने वाले अतएव परभावों को आत्मा मानने वालों की विभिन्न धारणायें हैं। कोई तो राग-द्वेष को, कोई राग-द्वेष के सस्कार को, कोई कर्म को, कोई शरीर को, कोई कर्मफल को, कोई सुख-दु ख को, कोई आत्मा व कर्म की मिलावट को इत्यादि अनेक प्रकार से जीव मानते हैं, किन्तु ये सब जीव नहीं हैं, क्योंकि ये सर्व या तो पुद्गलद्रव्य के परिणमन हैं या कर्मरूप पुद्गलद्रव्य के निमित्त से हुए परिणमन हैं।

इस अवसर पर यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि फिर तो जीवसमास, गुणस्थान आदि की चर्चा अथवा त्रस-स्थावर भेद वाले जीव मानना यह सब जैनशास्त्रों में क्यों कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि यह सब व्यवहार का उपदेश है, जो कि तीर्थ की प्रवृत्ति के निमित्त बतलाना आवश्यक ही है। अन्यथा षट्काय के जीवपर्यायों को अजीव मानकर जितना चाहे मर्दित कर दिया जावे, हिसा नहीं होनी चाहिए। फिर तो हिंसा के अभाव में बन्ध का अभाव व बन्ध के अभाव में मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा अथवा उच्छृड्खलता आ जावेगी। हाँ,
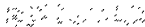
निर्विकल्प समाधि के उद्यम में तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही जीव है, अवशिष्ट भाव सब अजीव हैं, इसी दृढ़ प्रतीति से काम चलेगा।

वस्तुत जीव का लक्षण चेतना है। जीव वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श, शब्द से रहित है। जीव बाह्य चिह्न से ग्रहण में नहीं आ सकता। जीव का सहज नियत सस्थान भी कोई नहीं है। तात्पर्य यह है कि चैतन्य भाव के अतिरिक्त अन्य सब भाव अजीव हैं। इसी कारण जीव के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मूर्तिकता, शरीर सस्थान सहनन (अस्थिपिंजर), राग, द्वेष, मोह, कर्म, शरीर, विचार, योग, बन्ध, उदय, सक्लेश, विशुद्धि आदि कुछ नहीं हैं। ये सब व्यवहारनय से जीव के कहे गये हैं। व्यवहारनय विरोधक नहीं, किन्तु व्यवहार नय भी वस्तु के किन्हीं भावों के जानने का एक तरीका है। जैसे कि जिस रास्ते में चलते हुए मुसाफिरों को डाकुओं द्वारा लूटा जाता हो, लोग उस रास्ते को "यह रास्ता लूट लिया जाता है" ऐसा कह देते हैं। परन्तु वास्तव में रास्ता क्या लुटेगा, फिर भी व्यवहार से ऐसा तो कहा ही जाता है, क्योंकि लूटने वाले उस रास्ते में होते हैं। इसी प्रकार जीव में बन्धपर्याय से स्थित कर्म व शरीर के वर्ण आदि को जानकर व्यवहारनय से कहा जाता है कि जीव में वर्णादिक हैं।

वस्तुत जीव में वर्णादि का कुछ भी तादात्म्य नहीं है। यदि जीव के साथ वर्णादि का तादात्म्य मान लिया जाता है तब तो अनेक अनिष्टापत्तियाँ आती हैं—जैसे कि (१) वर्णादि का जिसके साथ तादात्म्य है वह तो पुद्गल कहलाता है, यदि कभी ससारी जीव मुक्त हो तो यही माना जायगा कि पुद्गल को मोक्ष हो गया। (२) जीव-अजीव का कोई भेद नहीं रहा, तो जीव का ही अभाव हो गया, इत्यादि।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जिनका पुद्गल उपादान है वे परिणमन व जिनका पुद्गल कार्यनिमित्त है वे परिणमन ये सब कोई भी परमार्थ से जीव के नहीं हैं। इन्हें अजीव कहा गया है।

कर्तृ-कर्माधिकार

अधिकार गाथा में यद्यपि कर्तृ-कर्मभाव अधिकार की कोई सूचना नहीं है, तो भी जीवाजीवाधिकार के पश्चात् व आस्रव अधिकार के पहले कर्तृकर्म-अधिकार का कहना यह दिखाने के लिए आवश्यक हुआ है कि जब जीव और अजीव स्वतन्त्र द्रव्य है तब जीव व अजीव के सम्बन्ध व बन्ध पर्याय कैसे हो जाती है? इसका उत्तर कर्तृ-कर्माधिकार में किया गया है। जीव व अजीव का सम्बन्ध व बन्ध पर्याय कैसे मिट सकते है इसका उत्तर भी उसी अधिकार में दिया गया है। जब तक जीव निज-सहज-स्वरूप और क्रोधादि औपाधिक भावों में अन्तर नहीं जानता है तब तक क्रोधादि भावों को निज स्वरूप में जानने के कारण उनमें जीव की प्रवृत्ति होगी ही और क्रोधादि में वर्तने वाले इस जीव के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के वश

से पुद्गल कर्म (अजीव) का संचय हो जाता है। पुद्गल कर्म के आने का नाम अजीवास्रव है और जीव में जो ये क्रोधादिक भाव हुए हैं उनका नाम जीवास्रव है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि अजीवास्रव का निमित्त तो निज-पर में परस्पर कर्तृकर्मभाव की मान्यता है, इस कर्तृकर्मभाव की मान्यता में क्या निमित्त है? उत्तर—इस कर्तृकर्मभाव की मान्यता में पूर्वबद्ध अजीव कर्म का उदय निमित्त है। प्रश्न—इस कर्मास्रव में क्या निमित्त हुआ था? उत्तर—इस कर्मास्रव में पूर्व का स्व-पर का कर्तृकर्मभाव निमित्त हुआ था। इस प्रकार यह अनादिप्रवाहक्रम चला आया है। इस स्वपरकर्तृकर्मभाव की प्रवृत्ति भी अनादि से चली आई है।

यद्यपि यहाँ ऐसा सम्बन्ध है कि जीव के परिणाम को हेतु पाकर पुद्गल वर्गणायें कर्मरूप से परिणम जाती हैं और पुद्गल कर्म के उदय को निमित्त पाकर जीव के ऐसे परिणाम हो जाते हैं, तो भी जीव व पुद्गल का परस्पर कर्तृकर्मभाव नहीं है, क्योंकि जीव न तो पुद्गलकर्म का कोई गुण या परिणमन करता है और न पुद्गलकर्म जीव का कोई गुण या परिणमन करता है। केवल अन्योन्यनिमित्त से दोनों का परिणमन हो जाता है।

इसी निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध के कारण व्यवहारनय से 'जीव पुद्गलकर्म (द्रव्यास्रव) का कर्त्ता' और 'पुद्गल जीवास्रव का कर्ता' कहा जाता है। जीव में अनुभवनशक्ति है, सो वस्तुत पुद्गलकर्म के उदय को निमित्त पाकर जीव अपने में आनन्द-श्रद्धा-चारित्रादि गुणों को विकृत परिणमनरूप से भोगता है तो भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के हेतू जीव पुद्गलकर्म को भोगता है यह भी व्यवहारनय से कहा जाता है। परमार्थ से जीव न तो पुद्गल कर्म को करता है और न पुद्गलकर्म को भोगता है, क्योंकि यदि जीव पुद्गल कर्म को भी करे व भोगे तो एक तो जीव ने अपने परिणाम को किया व भोगा और दूसरे पुद्गल कर्म को भी किया व भोगा तो इस तरह जीव दो द्रव्यों की क्रिया का कर्ता बन जायगा। ऐसा होने पर चूंकि क्रिया का उस काल में तादात्म्य रहता है, इस कारण जीव व अजीव में भेद नहीं रहा अथवा जीव और अजीव में से एक का अथवा दोनों का अभाव हो जायेगा इत्यादि अनेक अनिष्टापत्तियाँ हो जायेंगी। एक द्रव्य दो द्रव्यों की क्रिया का कर्ता है, ऐसा अनुभव करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि नहीं, किन्तु मिथ्यादृष्टि है। अर्थात् वस्तुस्वरूप से विपरीत दृष्टिवाला है। कर्म उपाधि के निमित्त से होने वाले क्रोधादिक औपाधिक भाव हैं, उनका भी जीव सहज भाव से यानी उपाधि को निमित्त पाये बिना कर्ता नहीं है। इन क्रोधादिक परभावों का कर्त्ता न तो जीव है और न कर्म, किन्तु कर्म के निमित्त से जीव के उपादान में क्रोधादिक परिणमन होता है। जीव निज, सहज, चैतन्य स्वरूप व क्रोधादि परभावों में अन्तर नहीं समझता। इसी कारण यह बन्ध होता है—यह मौलिक प्रकृत बात सिद्ध हुई।

अब जिज्ञासा होती है कि इस बन्ध का अभाव कैसे हो? समाधान—जीव की परभाव के प्रति कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति होने से बन्ध होता था। जब कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति दूर हो जाती है तब बन्ध का भी अभाव हो जाता है। प्रश्न—इस कर्ता-कर्मप्रवृत्ति का अभाव कैसे हो जाता

है? उत्तर—जब यह जीव आत्मा में व परभाव में इस प्रकार से अन्तर जान लेता है कि वस्तु स्वभावमात्र होती है, मैं वस्तु हूँ, सो मैं भी स्वभावमात्र हूँ। स्वभाव कहते हैं स्व के होने को, मैं स्वज्ञानमय हूँ। सो जितना ज्ञान का होना है सो तो मैं आत्मा हूँ और क्रोधादि का होना क्रोधादि है, आत्मा (स्व) व क्रोधादि-आस्रवों में एकवस्तुता नहीं है। जब जीव आत्मा व आस्रव में ऐसा अन्तर जान लेता है तभी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति दूर हो जाती है और कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति दूर होने पर पुद्गल कर्मबन्ध भी दूर हो जाता है।

आत्मा और अनात्मा के भेदविज्ञान से उसी काल में आस्रव की निवृत्ति होने लगती है। ज्ञानी जीव के इस प्रकार का विशद ज्ञान प्रकट रहता है—मैं आत्मा सहज पवित्र हूँ, ज्ञानस्वभावी हूँ, दुःख का अकारण हूँ, सम हूँ, नित्य हूँ, स्वयशरण हूँ, आनन्दस्वभाव हूँ, किन्तु ये आस्रव (परभाव) अपवित्र हैं, विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, दुःख के कारण हैं, विषम हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखस्वरूप हैं और इनका दुख ही फल है। मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, मोह रागादि परभावरहित हूँ, ज्ञानदर्शनमय हूँ, मैं (आत्मा) कर्म के परिणमन को व नोकर्म के परिणमन को नहीं करता हूँ, पुद्गलकर्म परद्रव्य है। मैं परद्रव्य का ज्ञायक तो हूँ, किन्तु परद्रव्य में व्यापक नहीं हूँ, अतएव परद्रव्य की पर्यायरूप से परिणमता नहीं हूँ, अर्थात् मैं परद्रव्य की परिणति का कर्ता नहीं हूँ, मैं पुद्गलकर्म के फल सुख-दुःखादि को जान तो सकता हूँ, किन्तु पुद्गलकर्म की परिणति का कर्ता नहीं हूँ। इसी प्रकार पुद्गल कर्म भी मेरा कर्ता नहीं है।

अशुद्ध-निश्चयनय से आत्मा तो मात्र अपने अशुद्ध भाव का कर्ता है, उसको निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मरूप से स्वयं परिणम जाता है। जैसे कि हवा के चलने के निमित्त से समुद्र में तरंगें उठती हैं। निश्चय से तरंगों का कर्ता तो समुद्र ही है, हवा तो उसमें निमित्त है। हवा में हवा का कार्य है। समुद्र में समुद्र की परिणति है। प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्र सत्तात्मकता के ज्ञान से कर्मबन्ध रुकता है और पर को आत्मा मानने व आत्मा को पररूप मानने से कर्म का बंध होता है। अथवा पर को आत्मा माननेवाला अज्ञानी जीव कर्म का कर्ता होता है। वस्तुतः तो अज्ञानी भी कर्म का कर्ता नहीं है, परन्तु अपने अशुद्ध भाव का कर्ता है। उस अशुद्धभाव को निमित्त पाकर कर्म का आस्रव स्वयं हो जाता है। वस्तुतः कर्मास्रव का निमित्तरूप से भी जीव कर्ता नहीं है, किन्तु उसके योग व उपयोग जो कि अनित्य हैं, वे अनित्य परिणमन ही वहाँ निमित्त हैं। क्योंकि यह वस्तुस्वभाव अटल है—कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के रूप या अन्य के गुण-पर्याय रूप नहीं हो सकता। इसलिए यह सुप्रसिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्म का कर्ता नहीं है।

यहाँ दो दृष्टियों से निर्णय करना चाहिए—(१) निश्चयनय से जीव पुद्गलकर्म का कर्ता नहीं है। (२) व्यवहारनय से जीव पुद्गलकर्म का कर्ता है। (१) निश्चयनय से जीव पुद्गलकर्म का भोक्ता नहीं है। (२) व्यवहारनय से जीव पुद्गलकर्म का भोक्ता है। (१) निश्चयनय से जीव में पुद्गलकर्म बद्ध नहीं हैं। (२) व्यवहारनय से जीव में पुद्गलकर्म बद्ध हैं। (१) निश्चयनय

से जीव में राग-द्वेषादि नहीं हैं। (२) व्यवहारनय से जीव में राग-द्वेषादि हैं। (१) निश्चयनय से जीव पुद्गल के परिणमन का निमित्त नहीं है। (२) व्यवहारनय से जीव पुद्गल के परिणमन का निमित्त है। इत्यादि अनेक चर्चायें दोनों नयों से स्पष्ट कर लेनी चाहिए। पश्चात् समयसार के अनुभव के उद्यम में दोनों ही नयपक्षों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैसे कि पूर्ण निर्मल, देवाधिदेव, सर्वज्ञ, परमात्मा विज्ञानघनभूत होने के कारण नयपक्ष के परिग्रह से दूर होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं, इसी प्रकार जिनसंज्ञक निर्मल सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी, अन्तरात्मा श्रुतज्ञानात्मक विकल्प वाले होकर भी परिग्रह के प्रति उत्सुकता से निवृत होने के कारण विकल्प-भूमिका से दूर होकर स्वरूप को ही जानते हैं और किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।

पुण्य-पापाधिकार

मोह व रागद्वेष की प्रवृत्ति के निमित्त से जिन कर्मों का आस्रव हुआ, उनमें से कारणभूत, शुभ-अशुभ योग उपयोग के अनुकूल कोई कर्म शुभ प्रकृति के (पुण्यरूप) व कोई अशुभ प्रकृति के (पापरूप) हो जाते हैं। होओ, फिर भी चाहे पुण्य कर्म (सुशील कर्म) हों, चाहे पाप-कर्म (कुशील कर्म) हों, सभी वस्तुत कुशील ही हैं, क्योंकि सभी कर्म ससारमार्ग के निमित्त हैं। जैसे कि चाहे सुवर्ण की बेडी हो, चाहे लोहे की बेडी हो, कैदी के लिए दोनों भारभूत हैं। इसलिए दोनों प्रकार के कर्मों को बंधमार्ग जानकर इनमें या इनके कारणभूत भावों में व आश्रयभूत विषयों में मन-वचन-काय से राग व संसर्ग छोड देना चाहिए। रागी जीव कर्मों को बॉधता है व विरागी-आत्मा कर्मों से छूट जाता है, इसलिए चाहे शुभ कर्म हो, चाहे अशुभ कर्म हो, किसी भी कर्म में राग मत करो। जैसे वन के हाथी को फँसाने के लिए शिकारी लोग एक गड्ढे पर बांस व कागज की बडी सुन्दर एक हथिनी बनाते हैं और सामने एक झूठा हाथी। वनहस्ती हथिनी के राग में व दूसरे हाथी को विषय-बाधक जान कर उसके द्वेष के कारण शीघ्र वहाँ आता है और गड्ढे में गिर जाता है। तो उस हाथी को गड्ढे का अज्ञानरूप मोह था व सुन्दर हथिनी का राग था व दूसरे हाथी से द्वेष था। इस तरह मोह-राग-द्वेष वश हाथी ने विपत्ति ही पाई। पुण्यकर्म भी झूठी सुन्दर हथिनी के समान विपत्ति में निमित्त बन जाता है। इसलिए किसी भी कर्म में राग मत करो।

मोह-राग-द्वेष ये सभी अज्ञान के विविध रूप हैं। ये भाव जानने का कार्य नहीं करते, इसलिए भी अज्ञानरूप हैं। अज्ञानभाव बंध का हेतु है, व ज्ञानभाव मोक्ष का हेतु है। परमार्थभूत ज्ञान होने पर बाह्य व्रत नियम तप की विशेषता न हो तो भी ज्ञान मोक्ष का कारण है। जो परमार्थभूत समयसार से अपरिचित हैं वे ही केवल अशुभ कर्मों को ही बन्ध का कारण जानकर व शुभ कर्म को मोक्ष का कारण जानकर पुण्य कर्म की चाह करते हैं।

सब ही कर्म मोक्ष के हेतुभूत सम्यक्त्व, ज्ञान व चारित्र का तिरोभाव करने वाले हैं। इसलिए ज्ञानभाव मोक्ष का अर्थात् पूर्ण विकास का हेतु है। अत सर्व कर्मों का राग छोडकर एक निजज्ञायक स्वभाव की उपासना करना शान्ति का (मोक्ष का) मार्ग है।

आस्रवाधिकार

विकृतरूप से आने को आस्रव कहते हैं। आस्रवभाव जीव के राग द्वेष मोह भाव हैं। इनको निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओं में भी विकार की प्रकृति बनती है। इसलिए आस्रव का परिणाम होने से इन पौद्गलिक वर्गणाओं में कर्मत्व आने को भी आस्रव कहते हैं।

राग-द्वेष मोह भाव अज्ञानमय परिणाम हैं। अज्ञानमय परिणाम अज्ञानी जीव के होते हैं। ज्ञानी के ज्ञानमय परिणाम होते हैं। ज्ञानमय परिणामों के द्वारा अज्ञानमय परिणामों का निरोध हो जाता है। अत ज्ञानी जीव के ज्ञानमय परिणामों के द्वारा आस्रव का निरोध हो जाता है। अतश्च पुद्गलकर्म का बध नहीं होता, क्योंकि अज्ञानमय परिणाम ही कर्तृत्वबुद्धि में प्रेरक होता है, ज्ञानमय परिणाम तो स्वभाव का ही उद्भासक है, उससे बन्ध कैसे हो सकता है।

यहाँ कोई पुरुप ऐसे शकालु हो सकते हैं, कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव के भी तो दशवें गुणस्थान तक बन्ध चलता है, फिर ज्ञानी को अबन्धक कैसे कहा गया है? सो उन्हें तीन प्रकार से बात जानकर अपना चित्त समाधान रूप कर लेना चाहिए। (१) जिस गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है, उतनी प्रकृतियों की अपेक्षा उन्हें अबन्धक समझना, (२) जो भी किंचित् बध होता है वह ससारवृद्धि की सामर्थ्य नहीं रखता, इसलिए अबन्धसम ही समझना। (३) ज्ञानी विशेषण कहने से उसको केवल ज्ञानपरिणमन रूप से ही देखना, अन्य परिणमन रूप से नहीं देखना। तब तो यह पूर्ण सिद्ध है कि ज्ञानी के किंचिन्मात्र भी बध नहीं होता।

ज्ञानी जीव के पूर्वसंचित कर्म उदय में आए झड जाते हैं, नवीन बध के कारण नही बनते; क्योंकि ज्ञानी के विभाव में राग नहीं रहा। ज्ञानी जीव के जो भी बंध चलता है वह ज्ञान की जघन्यता से अनुमीयमान शेष रहे अबुद्धिपूर्वक राग के कारण होता है। अत कर्तव्य तो यही है कि तब तक ज्ञान की अनवरत उपासना करना चाहिए, जब तक ज्ञान का पूर्ण विकास न हो जाये।

शुद्धनय के विषयभूत समयसार से च्युत रहकर या होकर जीव रागादि परिणाम से संकीर्ण हो जाता है और उसके निमित्त से पुद्गल-कर्मवर्गणाएँ स्वय बधरूप से परिणम जाती हैं। जैसे किसी पुरुष ने आहार ग्रहण किया, यह तो उसका बुद्धिपूर्वक कार्य हुआ। अब आगे वह आहार स्वयं रस, रुधिर, मल आदि रूप परिणम जाता है और सबका जो विपाक होना होता है, होता है। यह सब निमित्त-नैमित्तिक भाववश होता ही है। यदि कोई आसक्ति से आहार ग्रहण करे तो उसे उसके फल में आहार-विपाक के समय वेदना भोगनी पडती है। इसी तरह यदि कोई
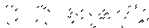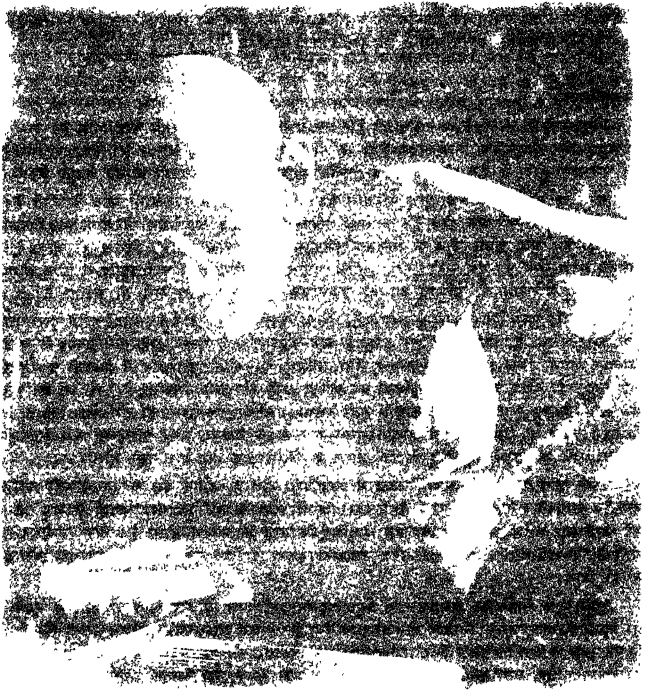
आसक्ति से, मोह से विभावरति करे तो तन्निमित्तक हुए कर्मबन्ध के परिपाक समय में वेदना भोगनी पड़ती है। इसलिए कहा जा सकता है कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"। अत कल्याणार्थी को अपने परिणाम सदा सावधान रखना चाहिए।

संवराधिकार

संवर नाम रुकने का है। रागादि भावों के आगमन रुकने का या न आने को संवर कहते हैं। इस रागादि के संवर के परिणाम स्वरूप कर्मों का आना भी रुक जाता है। अत कर्मो का आना रुक जाने को भी संवर कहते हैं। संवर का उपाय भेदविज्ञान है। आत्मा तो ज्ञानमात्र है और ज्ञानभाव के अतिरिक्त शेष सर्व औपाधिकभाव अनात्मा है। वहाँ अब यह देखना चाहिए कि ज्ञान में (उपयोग में, अथवा आत्मा में) क्रोधादिक औपाधिक भाव नहीं है और क्रोधादिक औपाधिक भावों में उपयोग नहीं है। क्रोधादिक तो क्रुध्यतादिक स्वरूप में है और ज्ञान ज्ञानतारूप में ही है। इस भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से सवर होता है।

शुद्धात्मा को जानता हुआ आत्मा शुद्धात्मा को प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ आत्मा अपने को अशुद्ध ही पाता रहता है। शुद्धात्मा की प्राप्ति व संवर का बुद्धिपूर्वक उपाय यह है कि—शुभ तथा अशुभ योग में प्रवर्तते हुए अपने आपको प्रबल भेदविज्ञान के उपयोग द्वारा इस प्रवर्तन से रोके और शुद्ध चैतन्यात्मक निज आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित करे। फिर यह आत्मा इच्छा-रहित व सग-रहित होकर अपने आपके द्वारा अपने आत्मा का ध्याता हो जाता है। उस समय एकत्व-विभक्त निज आत्मा का ध्यान करता हुआ अर्थात् चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा का ध्यान करता हुआ निज अकलंक आत्मा को प्राप्त करता है। यही सवर का प्रकार है व कर्मों से मुक्त होने का उपाय है।

तात्पर्य यह है कि भेदविज्ञान से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है, शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होने से अध्यवसानों का अभाव होता है, अध्यवसानों के अभाव होने पर मोह का अभाव होता है, मोहभाव का अभाव होने पर राग-द्वेष भाव का अभाव हो जाता है, राग-द्वेष का अभाव होने पर कर्म का अभाव हो जाता है, कर्म का अभाव होने पर सदा के लिए शरीर का अभाव हो जाता है और शरीर का अभाव होने पर ससार का अभाव हो जाता है। संसार ही दुःख है, सो दुखों का अत्यन्ताभाव हो जाता है। इसलिए भेदविज्ञान की तब तक निरन्तर भावना करनी चाहिए जब तक कि ज्ञान पर से बिलकुल न हट जावे और ज्ञान में ही प्रतिष्ठित न हो जावे।

निर्जराधिकार

विकार के झड़ने का नाम निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है—(१) भावनिर्जरा और (२) द्रव्यनिर्जरा। सुख-दुःख राग-द्वेषादि विभाव जो उदित हुए, वे बंध के कारण न बनें और झड़ जावें इसका नाम तो भावनिर्जरा है और इसी कारण अन्य बंध का कारण न बन कर कर्मों का व अन्य कर्मों का निष्फल झड़ जाना सो द्रव्य-निर्जरा है।

ज्ञान का ऐसा ही सामर्थ्य है कि कर्मविपाक को भोगता हुआ भी ज्ञानी कर्मों से नहीं बँधता है। जैसे कि तान्त्रिक, मान्त्रिक अथवा विषवैद्य पुरुष विष को खाता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता। वैराग्य में भी ऐसा ही सामर्थ्य है। वस्तुतः ज्ञान और वैराग्य अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं, विधिरूप से देखने पर ज्ञान प्रतिष्ठित है और राग-निषेध की ओर से देखने पर वैराग्य प्रतिष्ठित है।

सम्यग्दृष्टि का मुख्य विचार एक यह भी रहता है कि जो लोभ क्रोधादि प्रकृति वाले कर्म होते हैं, उन कर्मों के उदय के निमित्त से उत्पन्न हुए रागादिक भाव परभाव हैं। ये मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वत सिद्ध एक ज्ञायक स्वभावरूप हूँ। इस विचार-बल से ज्ञानी परभावों से विरक्त रहकर उनको छोड़ देता है।

रागादिभाव आत्मा का स्वपद नहीं हैं, क्योंकि ये सभी भाव आत्मस्वभाव के विरुद्ध हैं, विषम हैं, अनेकरूप हैं, क्षणिक हैं और व्यभिचारी हैं। कभी कोई भाव रहे, कभी कोई भाव रहे, कभी कोई भाव न रहे, दूसरा रहे; इस कारण स्थायीरूप से आत्मा में स्थान नहीं पाते अर्थात् अस्थायी हैं। किन्तु ज्ञानस्वभाव आत्मा का स्वपद है; क्योंकि यह ज्ञानस्वभाव आत्म-स्वभाव है, सम अर्थात्, नियत है, एकरूप है, नित्य है व अव्यभिचारी अर्थात् अनवरत सदा आत्मा में रहता है। इसी कारण ज्ञानस्वभाव स्थायी रूप से आत्मा में स्थान पाता है। इसलिए हे आत्मन्! इस एक ज्ञानस्वभाव का ही अनुभव करो। इसमें रंचमात्र भी विपत्ति नहीं रहती।

इस ज्ञानस्वभाव के जितने परिणमन हैं, उन परिणमनों के ज्ञान-द्वार से परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव को ही देखो। इस ज्ञानभाव के आश्रय से ही ज्ञान की प्राप्ति है, अन्य क्रियाओं से नहीं। इस ज्ञानभाव के आश्रय के बिना महान् तपों का भार भी सहे तो भी मुक्ति नहीं होती।

ज्ञानोपयोगी आत्मा निष्परिग्रह है, क्योंकि परिग्रह तो वास्तव में इच्छा ही है, सो ज्ञानी के इच्छा का आदर ही नहीं,राग ही नहीं, केवल इच्छा का ही नहीं, किन्तु समस्त विभावों का ज्ञानी के ममत्व नहीं, आदर नहीं, ज्ञानी किसी भी परभाव को नहीं चाहता। इसी कारण बाह्य विषयों की चाह नहीं। ज्ञानी आत्मा अतीत भोगों का तो ख्याल ही क्या करेगा, वह तो वर्तमान भोगों में भी वियोगबुद्धि से प्रवर्तमान हो रहा है। जो वियोगबुद्धि से रहे, वह परिग्रही नहीं है। भविष्यत् भोग की चाह भी अनेक कारणों से ज्ञानी के नहीं है। (१) ज्ञानी के वस्तुस्वभाव की ओर दृष्टि रहा करती है सो निदान को अवसर ही नहीं मिलता। (२)

वस्तुस्वातन्त्र्य की प्रतीति के कारण किसी भी बाह्य पदार्थ से ज्ञानी को हित की आशा ही नहीं है। (३) ज्ञानी के यह दृढ़ निश्चय है कि इच्छाभाव व भोगभाव ये दोनों भाव एक समय में हो ही नही सकते; क्योंकि जब किसी वस्तु की चाह है तब तो उस वस्तु का भोग नहीं और कदाचित् उस वस्तु का भोग हो तो तद्विषयक चाह नहीं कि यह मिल जावे। जब इच्छा व भोग दोनों एक समय में मिल नहीं सकते तो फिर चाह ही क्यों की जावे।

ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार के राग-रस का छोड़ने वाला होता है। इसी कारण कोई ज्ञानी कर्म के मध्य भी पड़ा हो, तो भी कर्म से लिप्त नहीं होता। जैसे कि सुवर्ण का जंग से लिप जाने का स्वभाव नहीं है, तो कीचड़ के बीच पड़ा हुआ सोना जंग नहीं खाता। लोहे का जंग से लिप्त जाने का स्वभाव है, सो कीचड़ के बीच पड़ा हुआ लोहा जंग खा जाता है। इसी तरह अज्ञानी जीव राग-रस से लिप्त हो जाने की प्रकृति वाला है, सो कर्ममध्य पड़ा हुआ कर्म से लिप्त रहता है।

ज्ञानी का मुख्य चिह्न कामना का अभाव है। कोई सोचे—मैं ज्ञानी हूँ, मुझे भोग में भी कर्मबंध नहीं होता, अरे यदि कामना बनी हुई है तो उसके बने रहने से कर्मबंध में फर्क नहीं आता, कर्मबन्ध होता ही है। ज्ञानी के भोग में भी कर्मबन्ध नहीं यह मात्र कहने की चीज नहीं है, ज्ञानरूप प्रतीति के परिणमने की करामात है।

सम्यग्दृष्टि का परिणमन कैसे होता है इस विषय को संक्षेप में कहा जाय तो उसका अष्ट अंगों द्वारा वर्णन होता है। सम्यग्दृष्टि के अंग ८ हैं—(१) निशंकित, (२) निःकांक्षित, (३) निर्विचिकित्सित, (४) अमूढदृष्टि, (५) उपगूहन, (६) स्थितिकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

निशंकित—ज्ञानी आत्मा सातों प्रकार के भय से रहित होने से व वस्तु स्वरूप की यथार्थ प्रतीति के कारण सदा निशंक रहता है। ज्ञानी जीव को इहलोकभय नहीं रहता कि जीवन का कैसे गुजारा होगा, क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि है कि मेरा लोक तो चैतन्य है इसका गुजारा यानी परिणमन तो निर्बाध होता ही रहेगा। ज्ञानी जीव के परलोकभय नहीं रहता कि परलोक में मेरा कैसे गुजारा होगा, क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि है कि चैतन्य ही मेरा परलोक है उसका गुजारा भी निर्बाध होगा। ज्ञानी जीव के वेदनाभय नहीं होता कि इस रोग से मेरी वेदना (अनुभूति) कैसी होगी; क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि है कि यह अविचल ज्ञान स्वयं वेदा जा रहा है, यही मेरी वेदना है, यह अन्य वस्तु से नहीं होती। ज्ञानी जीव के अरक्षाभय नहीं होता कि मेरी कोई रक्षा नहीं है, कभी मेरा नाश न हो जाय; क्योंकि ज्ञानी आत्मा की दृष्टि है कि जो सत् है उसका नाश नहीं होता, सत् स्वयं सुरक्षित है, मैं भी सत् हूँ; अतः सुरक्षित हूँ। ज्ञानी जीव के अगुप्तिभय नहीं होता कि मेरा कोई गुप्त स्थान (किला आदि सुदृढ़ स्थान) नहीं है, कोई मुझे बाधा देने न आ जावे। क्योंकि ज्ञानी जीव की दृष्टि है कि मेरा स्वरूप ही मेरी गुप्ति है उसमें पर का प्रवेश ही नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव के मरण-भय नहीं कि

मेरे प्राण नष्ट न हो जायें, क्योंकि ज्ञानी आत्मा की यह दृष्टि है कि मेरा प्राण तो ज्ञान है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव के आकस्मिक भय नहीं होता, कि मुझ पर अकस्मात् कोई आपत्ति न आ जाये; क्योंकि ज्ञानी जीव की यह दृष्टि है कि मैं अनादि, अनन्त, अचल, स्वतःसिद्ध, ज्ञानमात्र हूँ, मुझ में दूसरे का आक्रमण नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव के वस्तुस्वरूप की अविचल प्रतीति है, उसके भय कहाँ से हो? वह तो निःशंक स्वयं सहज ज्ञान का अनुभव करता है। इसलिए उसके शंकाजनित बंध नहीं होता, किन्तु निःशंक होने से निर्जरा ही होती है।

निःकांक्षित—सम्यग्दृष्टि जीव के सब प्रकार के कर्मों में, कर्म के फलों में और भोगों में वाञ्छा नहीं रहती है, इसलिए उसके कांक्षाकृत बन्ध नहीं होता किन्तु निष्कांक्ष होने से निर्जरा होती है।

निर्विचिकित्सित—सम्यग्दृष्टि जीव के धर्मात्माओं के अशुचि शरीर की सेवा में, धर्मात्माओं में व समस्त वस्तु-धर्मों में ग्लानि नहीं रहती और न कर्मविपाकस्वरूप क्षुधा आदि विपत्तियों में खेदरूप परिणाम रहता है, इसलिए उसके विचिकित्साकृत बन्ध नहीं होता, किन्तु निर्विचिकित्सित होने से निर्जरा होती है।

अमूढदृष्टि—सम्यग्दृष्टि जीव के धर्म-विरुद्ध किसी भी कुभाव में व कुभाव वालों में संमोह नहीं होता। इसलिए उसके मूढदृष्टिकृत बन्ध नहीं है, किन्तु अमूढदृष्टि होने से निर्जरा ही होती है।

उपगूहन—सम्यग्दृष्टि जीव में न तो दूसरे के दोषों को देखने की प्रवृत्ति होती है और न ही अपने गुणों के प्रकाशन की वाञ्छा। वह दूसरे के गुणों का सदा ग्राहक बना रहता है। उसी गुणवृद्धि के कारण उसके परिणामों में निश्छलता आती है जिससे कर्मों की निर्जरा ही होती है।

स्थितिकरण—उन्मार्ग में जाते हुए स्वयं को उन्मार्ग में जाने से रोक लेने व स्वयं को स्वरूप में स्थित कर देने से एवं पर को भी धर्म में स्थित कर देने के निमित्त होने से ज्ञानी स्थितिकरण-युक्त होता है, इसलिए उसके मार्ग-पतन-कृत बन्ध नहीं होता, किन्तु धर्मस्थितता के कारण निर्जरा ही होती है।

वात्सल्य—रत्नत्रय को अपने में अभेदबुद्धि से देखने की वत्सलता होने से तथा व्यवहार में धर्मात्मा जनों में निश्छल वात्सल्य होने से सम्यग्दृष्टि मार्गवत्सल होते हैं। इसलिए उनके अवात्सल्यकृत बन्ध नहीं होता, किन्तु मार्गवत्सलता के कारण निर्जरा ही होती है।

प्रभावना—ज्ञानशक्ति के विकास से सम्यग्दृष्टि प्रभावनाकारी होता है। अतः उसके अप्रभावनाकृत बन्ध नहीं है; किन्तु ज्ञानप्रभावक होने से निर्जरा ही होती है। ज्ञानी पुरुष अपनी अलौकिक आध्यात्मिक चर्या के कारण पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है। वह निर्जरा मोक्ष

तत्त्व का साधन है।

बन्धाधिकार

निर्जरा का फल मोक्ष है। मोक्ष बन्धपूर्वक है। अत मोक्षतत्त्व के वर्णन से पहले बन्धतत्त्व का वर्णन किया जा रहा है। बन्ध किस कारण होता है यह व्यक्त करने के लिए एक उदाहरण है। जैसे कोई मल्ल देह में तेल लगाकर धूलभरी भूमिपर स्थित होकर तलवार से कदली वंश आदि पेड़ों को काटता है। इस स्थिति में उसकी देह धूल से लिप्त हो जाती है। यहाँ विचार करो कि वह धूल क्यों चिपट गई? क्या धूलभरी भूमि में स्थित होने से धूल चिपट गई? नहीं। यदि धूलभरी भूमि में स्थित होने के कारण धूल चिपटी होती तो अन्य कोई मल्ल जिसके देह में तेल न लगा हो वह उसी भूमि में वैसा ही व्यायाम करे उसके तो नहीं चिपटती। क्या शस्त्र चलाया इस कारण धूल चिपटी? नहीं, दूसरा भी तो वही शस्त्र चलाता है उसके तो नहीं चिपटती। क्या वृक्षों का घात करता है इस कारण चिपटी? नहीं, दूसरा मल्ल भी तो घात करता है उसके क्यों नहीं चिपटती? निष्कर्ष यह है कि इन बाह्य साधनों से धूल नहीं चिपटी, किन्तु जो देह में स्नेह (तेल) लगा है, उसके कारण धूल चिपटी। इसी प्रकार अज्ञानी जीव रागादि करता हुआ कार्माण-वर्गणाओं से व्याप्त लोक में मन-वचन-काय की चेष्टा करता हुआ अनेक प्रकार के साधनों से सजीव अजीव पदार्थों का घात करता हुआ कर्म से बँध जाता है। यहाँ विचार करो कि कम बँधने का कारण क्या है? क्या यह जीव कार्माणवर्गणाव्याप्त लोक में स्थित है इस कारण कर्म-बन्ध हुआ? नहीं, क्योंकि अरहत सिद्ध भी तो ऐसे ही लोक में हैं, उनके तो कर्मबंध नहीं होता। क्या मन-वचन-काय की चेष्टा कर्मबंध का कारण है? नहीं, क्योंकि ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान वालों के भी योगचेष्टा है, उनके तो कर्म नहीं बँधता। क्या अनेक उपकरण उसके पास हैं इसलिए कर्म बध होता है? नहीं, अरहंतदेव के समीप समवसरणादि महान् वैभव है, उनके तो बध नहीं होता। क्या घात होने से कर्म-बंध होता है? नहीं, समिति-पूर्वक क्रिया करने वाले मुनि-देह से सूक्ष्म जन्तु-घात सम्भव है, उनके तो बन्ध नहीं होता। निष्कर्ष यह है, कि इन बाह्य साधनों से कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु उपयोग में जो रागादि (स्नेह) को ले जाना है वह कर्मबन्ध का कारण है।

जो ज्ञानी रागादि को उपयोग-भूमि में न ले जावे, ज्ञानस्वरूप रहे, वह कर्म से नहीं बँधता। यहाँ विशेष यह जानना चाहिए कि राग से जो बन्ध होता है वह संसार को दृढ़ नहीं करता, किन्तु राग में राग होने से जो बंध होता है वह संसार को दृढ़ करता है। विकार में लगाव होना मोह है, मोहकृतबन्ध ससार को दृढ़ करता है।

अज्ञानी जीव की मान्यता परतन्त्रता की रहती है। अज्ञानी के ऐसे भाव होते हैं कि मैं दूसरों को मारता हूँ, दूसरों से मारा जाता हूँ, मैं दूसरों को जिलाता हूँ, दूसरों के द्वारा मैं जिलाया

जाता हूँ, मैं दूसरों को सुख-दुःख देता हूँ, दूसरे मुझे सुख-दुःख देते इत्यादि; किन्तु यह सब भाव मिथ्या है। जीवों का मरण उनके ही आयुकर्म के क्षय से होता है, जीवों का जीवन उनके ही आयु-कर्म के उदय से होता है। सुख-दुख भी उनके ही कर्म के उदय से होता है। किसी के विकल्प से किसी अन्य जीव की परिणति नहीं होती, विकल्प करके प्राणी कर्मबन्ध ही करता है। उन विकल्पों में यदि वे विकल्प पापसम्बन्धी हों तो पाप का बन्ध होता है। यदि दया, व्रत, तप आदि के शुभ विकल्प हों तो पुण्य का बन्ध होता है। बाह्य पदार्थ बन्ध का कारण नहीं हैं। बन्ध का कारण तो विकल्प हैं। विकल्प के आश्रयभूत बाह्य पदार्थ हैं।

ज्ञान-स्वभाव का अनुभव बन्ध का टालने वाला है, परमार्थभूत ज्ञानभाव के आश्रय बिना दुर्धर व्रत, तप भी निर्वाण के साधन नहीं होते, किन्तु कर्मबन्ध के ही हेतु होते हैं। पर्यायबुद्धि जब तक रहती है तब तक जीव संसार का ही पात्र होता है। मोक्षमार्ग की सिद्धि उस अज्ञानी के कैसे हो सकती है?

तात्पर्य यह है कि निज आत्मा को ज्ञायकस्वभावरूप स्वीकार किये बिना कितने भी विकल्प किये जायें उनसे मुक्ति नहीं होती, किन्तु बन्ध ही होता है। मैं साधु हूँ, मुझे दया करनी चाहिए, सत्य बोलना चाहिए, परीषह सहना चाहिए, व परीषह भी ऐसी सहे कि कोल्हू में पिल जाय फिर भी उफ या क्रोध न करे। इन सब करामातों के बावजूद भी चूँकि अपने को साधुपर्यायरूप में ही प्रतीत किया है, ज्ञायकस्वरूप के अनुभव से अनभिज्ञ है, अत पुण्य बंध तो होता है और मिथ्या आशय के कारण पाप बंध भी होता है, किन्तु धर्मभाव, संवर व निर्जरा भाव नहीं होता है। अत: दुखों से मुक्ति पाने के लिए निज शुद्ध सनातन चित्स्वरूप का प्रज्ञा द्वारा परिचय प्राप्त करना चाहिए।

मोक्षाधिकार

आत्मा और बंध को दो रूप अर्थात् अलग अलग कर देने का नाम मोक्ष है। आत्मा स्वभावरूप है। बंध विभावरूप है। स्वभाव का विभाव परिणमन न रहकर स्वभावपरिणमन रहे यही अवस्था मोक्ष तत्त्व में है।

कितने ही पुरुष बंध के चिन्तनपरिणाम को मोक्ष का कारण मानते हैं। वह ठीक नहीं; क्योंकि जैसे कि बेड़ी में बँधा हुआ पुरुष बेड़ीबंध के स्वरूप को जाननेमात्र से या बेड़ीबंध की चिन्तामात्र से छुटकारा नहीं पाता, किन्तु बेड़ीबंध कटने से अर्थात् अलग होने से ही छुटकारा पाता है। इसी प्रकार कर्मबन्ध से बद्ध आत्मा बन्ध का स्वरूप जानने मात्र से या अपायविचयधर्मध्यान में ही बुद्धि लगाने मात्र से कर्ममुक्त नहीं होता, किन्तु बन्धच्छेद से अर्थात् विभाव परिणमन के अलग करने से ही कर्ममुक्त होता है। बन्धच्छेद का उपाय क्या है? प्रज्ञा। नियत स्वलक्षण का जो अवलम्बन करे ऐसे विज्ञान को प्रज्ञा कहते हैं। पहले प्रज्ञा से यह निर्णय

किया जाता है कि आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है जो कि आत्मा में अनादि अनन्त तादात्म्य रूप से है तथा आत्मातिरिक्त किसी भी पदार्थ में कभी नहीं रहता; और बन्ध का स्वलक्षण रागादिक है जो कि चैतन्यचमत्कार से अन्य तथा आत्मा में उपाधि-संयोगवश क्षण-क्षण को प्रतिभासते हैं व नष्ट होने वाले हैं। पश्चात् बन्ध का स्वभाव विकारक जानकर बन्ध से विरक्त हुआ जाता है और शुद्ध आत्मतत्त्व को आत्मस्वभाव जानकर उसको ग्रहण किया जाता है। यह ग्रहण अभिन्न चेतन-क्रिया द्वारा अभिन्न षट्कारक रूप में होता है। जैसे कि मैं चेतता हूँ चेतयमान होता हुआ चेतता हूँ, चेतयमान को चेतता हूँ, चेतयमान के द्वारा चेतता हूँ, चेतयमान के लिए चेतता हूँ, चेतयमान से चेतता हूँ, चेतयमान में चेतता हूँ। पश्चात् अभेद चैतन्य की प्रखर उपासना में अभिन्न स्पष्टकारक के सूक्ष्म विकल्प का भी निषेध करके (कि मैं न चेतता हूँ, न चेतयमान होता हुआ चेतता हूँ, न चेतयमान को चेतता हूँ आदि रूप से निषेध करके) सर्वविशुद्ध चिन्मात्र हूँ, ऐसा अनुभव होता है। इसी शुद्ध अनुभव के बल से बन्धच्छेद होता है, क्योंकि परभाव का ग्रहण करना ही अपराध अर्थात् राध (आत्मसिद्धि) से दूर रहने का भाव था, इस अपराध के दूर होने पर बन्ध की शंका ही सम्भव नहीं है।

सर्वविशुद्धचिन्मात्र के अनुभव का परिणमन व्यवहार प्रतिक्रमण आदि भाव से भी उत्कृष्ट है और वस्तुत द्रव्यप्रतिक्रमणादि, व अज्ञानी जनों के अप्रतिक्रमणादि से विलक्षण यह सहज अप्रतिक्रमणादि तो अमृत है और वे दोनों विष हैं। सहज अप्रतिक्रमणादि रूप तृतीय भूमिका सम्बन्ध ही द्रव्य प्रतिक्रमणादि को अमृतपना व्यवहारों से सिद्ध कराता है। इस प्रकार सर्व विशुद्धचिन्मात्र के अनुभव का परिणमन सर्वोत्कृष्ट परिणमन है और यही मोक्ष का हेतू है।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

नव तत्वों का वर्णन करके, अब अन्त में सब के आधारभूत उसी पारिणामिक भाव का पुन विस्तार से इस अधिकार में वर्णन किया गया है जिसकी कि सूचना पीठिका में की गई थी।

सम्यग्दर्शन का विषय शुद्धद्रव्य है। ज्ञान की समीचीनता भी शुद्ध द्रव्य के परिचय से है। सम्यक्चारित्र का स्वरूप-लाभ भी शुद्ध द्रव्य के स्पर्श से है। अत शुद्ध अर्थात् आध्यात्मिक विकास का आश्रय ही शुद्ध आत्म-तत्त्व है। यह शुद्ध आत्म-तत्त्व सर्व-विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है अर्थात् यह शुद्ध आत्मद्रव्य न तो किसी का कार्य है और न किसी का कारण है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के स्व की केवल स्व पर्यायों से तादात्म्य है। यहाँ शुद्ध से तात्पर्य पर से भिन्न व स्व के स्वभावमय से है। पर्याय व शक्तिभेद की गौणता करके अभेद स्वभाव की दृष्टि में यह संवेद्य है।

आत्मतत्त्व का व परद्रव्य का कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य निज-निज सत्तात्मक ही रहता है। इसी कारण आत्मा व परद्रव्य में कर्तृ-कर्म-सम्बन्ध भी नहीं है। फिर आत्मा

परद्रव्य का कर्ता कैसे हो सकता है? और इसी कारण आत्मा परद्रव्य का भोक्ता भी कैसे हो सकता है? जिनके आशय में पर-द्रव्य का कर्तृव्य-भोक्तृत्व समाया हुआ है वह सब उनके अज्ञानभाव की महिमा है। जैसे दृष्टि (नेत्र) दृश्यमान पदार्थ से अत्यन्त भिन्न है। वह दृश्य वस्तु को न तो करती है और न भोगती है, केवल देखती मात्र है, क्योंकि यदि करे तो अग्नि को देखने से जल जाना चाहिए, यदि भोगे तो अग्नि को देखने से नेत्र तप्त व भस्म हो जाना चाहिए। इसी प्रकार ज्ञान भी एक दृष्टि ही तो है, वह किसी परपदार्थ को न तो करता है और न भोगता है। वह तो तत्त्वज्ञान के कारण पर-पदार्थ को अहं व मम रूप से अनुभव नहीं कर सकने के कारण केवल जानता है, चाहे बन्ध हो, मोक्ष हो, उदय हो या कुछ हो। यहाँ यह निर्णय कर लेना आवश्यक है कि शुद्ध आत्मतत्त्व अथवा समयसार अभेद शुद्ध चैतन्य स्वभाव है। वह अनादि से अनन्त काल तक एकस्वरूप है। यही वह सहज सिद्धभाव है जिसका अवलंबन मोक्षमार्ग है। यह तो बंध मोक्ष पर्याय से परे है। इस परम पारिणामिक भाव स्वरूप समयसार का ध्यान, भावना, दृष्टि, आश्रय और अवलबन मोक्षमार्ग है। जीव में यह अनादिसिद्ध भाव है, किन्तु इसकी दृष्टि बिना प्रकृतिस्वभाव (रागादिभाव) में स्थित होकर, विपरीताशय, होकर यह अज्ञानी जीव कर्म का कर्ता व कर्मफल का भोक्ता होता है। जब प्रकृति-स्वभाव में व आत्मा में भेदज्ञान करता है तब अकर्ता अभोक्ता हो जाता है।

स्याद्वाद

अब समस्या एक सुलझने को आ जाती है कि राग-द्वेषादि भावों का कर्ता कौन है? पुद्गलकर्म तो कर्ता नहीं है क्योंकि पुद्गलकर्म परद्रव्य हैं। परद्रव्य अन्य—पर के गुण-पर्याय का न कर्ता है और न अधिकारी है। आत्मा भी राग-द्वेषादि का कर्ता नहीं, क्योंकि यह आत्मा राग-द्वेषादि करे, तो आत्मा तो नित्य है फिर तो आत्मा रागादि का नित्यकर्ता हो जायगा। अतश्च मोक्ष का अभाव हो जायगा। रागादि के विषयभूत पदार्थ भी रागादि के कर्ता नहीं। इस प्रकार रागादि का कर्ता न तो आत्मा ही है और न कर्म ही है और न विषय है। फिर भी रागादि परिणमन तो होता है। इस समस्या को सुलझाने के अनेकों ने अनेक प्रयत्न किये हैं, किन्तु एक सन्धि नियत किए बिना यह समस्या नहीं सुलझती। वह सन्धि है—निमित्त-नैमित्तिक भाव। अनित्य कर्मोदय का निमित्त पाकर अनित्य रागादि होते हैं। अनित्य रागादिक का निमित्त पाकर अनित्य कर्मबन्ध होता है। फिर बद्ध अनित्य कर्मोदय का निमित्त पाकर अनित्य रागादि होते हैं। यह परम्परा चलती रहती है, जब तक कि प्रखर भेद-विज्ञान न हो जाय। यहाँ बन्ध में निमित्त आत्म-विभाव है। उपादान कारण कार्माणवर्गणा है तथा रागादि में निमित्त कर्मोदय है व उपादान—अध्यवसित आत्मा है। निमित्त-नैमित्तिक भाव की इस सन्धि का होना भी अज्ञान की महिमा है और आत्मा का कर्ता भोक्ता बनना भी अज्ञान की महिमा है।

इस प्रकरण से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि आत्मा भिन्न वस्तु है और वृत्तियाँ सर्वथा भिन्न वस्तुतत्त्व हैं। क्योंकि ऐसा समझने से दो प्रकार की पृथक्-पृथक् विचारधाराएँ बहने लगती हैं। (१) आत्मा सर्वथा अविकार है। विकार तो किसी अन्य से है। उसे कोई जीव कहते हैं, कोई मन कहते हैं अथवा विकार को प्रकृति का कार्य कहते हैं। (२) आत्मा कोई एक है ही नहीं, ये वृत्तियाँ ही आत्मा है सो करने वाला और है और भोगने वाला और। इन पर विचार करना आवश्यक है। जीव का मन चेतन है या अचेतन? यदि चेतन है तो यही तो आत्मस्वरूप है, फिर तो आत्मा के नामान्तर ही हुए। यदि अचेतन है तो जानने, देखने और विचारने वाले पदार्थ को घबडाने अथवा कल्याण की क्या जरूरत? प्रकृति नाम कर्म का है। रागादि विकार यदि प्रकृति का कार्य हैं, तो "कारण-सदृश कार्य" इस न्याय से ये सब विकार अचेतन ही होना चाहिए। विकार में बुद्धि, विचार सभी आ गये। यदि आत्मा प्रकृति में विकार करता है तो प्रकृति चेतन हो जायगी। यदि आत्मा व प्रकृति दोनों मिलकर विकार करते हैं, तो उसका फल दोनों को भोगना चाहिए। यदि कहा जाय कि प्रकृति ही सर्व विकार करती है, तो आत्मा की परिणति बताओ क्या होगी? परिणति बिना तो आत्मा का अभाव हो जायगा और फिर प्रकृति ही कर्ता, प्रकृति ही भोक्ता, प्रकृति ही बद्ध व प्रकृति ही मुक्त हुई, तब समझदार व्यक्ति को घबडाने व कल्याण की क्या आवश्यकता? इन सबका समाधान है पूर्वोक्त नैमित्तिक भाव की सन्धि।

एक दृष्टि से देखा जाय तो चैतन्यभाव से अतिरिक्त जितने हैं, वे परभाव कहे गये हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, सुख-दुख, विचार, कल्पना, संकल्प आदि सब औपाधिक भाव हैं। इनमें विचार बुद्धि जैसे भाव तो प्रकृति के क्षयोपशम से है। क्रोधादि-भाव प्रकृति के उदय से हैं। तब ये सभी भाव अचेतन हैं। चेतन तो एक शुद्ध चैतन्य है। अथवा जो भाव शुद्धचैतन्य को चेतता है वह है। नयदृष्टियों से सभी चर्चाओं का विशुद्ध समाधान करना चाहिए। विवक्षावश प्रकृति कर्त्री है, आत्मा भोक्ता है, यह भी सिद्ध हो जाता है, निमित्त-नैमित्तिकभाव का इसमें उल्लंघन नहीं होता। दूसरी चर्चा यह है कि यदि वृत्तियॉ ही आत्मा हैं और वे अनेक हैं तो असत् का उत्पाद हो जायेगा, किन्तु सर्वथा असत् का उत्पाद होता ही नहीं। अत आत्मा सब पर्यायों में वही है और उसकी पर्यायें भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न हैं। तब पर्याय-दृष्टि से जानो, करने वाला और पर्याय है भोगने वाला और पर्याय है। जैसे मनुष्य ने पुण्य किया, देव ने भोगा, परन्तु द्रव्यदृष्टि से देखो तो जिस आत्मा ने किया उसी आत्मा ने भोगा। यह ध्यान रखने की एक बात और है कि आत्मा व जीव एकार्थ-वाचक नाम है वे भिन्न-भिन्न द्रव्य नहीं—केवल रूढिवश व शब्द-विशेषता से कहीं-कहीं यह प्रसिद्धि हो गई कि आत्मा अविकारी है जीव विकारी है। हाँ यदि आदि से अन्त तक सिलसिले में बोला जाय तो यह कहना चाहिये कि चेतनद्रव्य जब मिथ्यात्व-विकार से मुक्त होकर स्वरूप दृष्टि कर लेता है, तो वह आत्मा कहलाता है। यदि मिथ्यात्व विकार में स्थिर रहता है तो यह जीव कहलाता है। निमित्त-नैमित्तिक

भाव वाले पदार्थों में इतनी बात सुदृढ़ता से जानते रहना चाहिए कि जैसे जीव में व कर्म में निमित्त-नैमित्तिकता तो है किन्तु कोई किसी दूसरे में तन्मय नहीं हो जाता। इसी कारण जीव प्रकृतिबन्ध का कर्ता है, प्रकृति जीवविकार का कर्ता है, जीव प्रकृतिफल को भोगता है, ये सब बातें व्यवहारनय से मानी जाती हैं। इसके लिए दो मुख्य दृष्टान्त हैं—(१) जैसे व्यवहारनय से कहा जाता है—कि सुनार सुवर्ण का आभूषण बनाता है व आभूषण का फल (मूल्य वैभव) भोगता है। वस्तुतः सुनार अपनी चेष्टा ही करता है व विकल्प ही भोगता है। उसकी चेष्टा का निमित्त पाकर सुवर्ण की परिणति सुवर्ण ही करता है। (२) व्यवहार नय से कहा जाता है कि खड़िया ने भीत (दीवार) सफेद कर दी, खड़िया ने तो खड़िया को ही सफेद किया। हाँ, यह बात जरूर है कि दीवाल का निमित्त पाकर खड़िया ऐसे विस्तार रूप में अपना परिणमन बना रही है। इस तरह से तो यहाँ तक निर्णय कर लो; कि आत्मा निश्चय से अपने को ही जानता है, देखता है। पर का जानना-देखना कहना भी व्यवहारनय से है। व्यवहारनय से तो कर्ता व कर्म भिन्न-भिन्न मान लिये जाते हैं। किन्तु निश्चय से कर्ता, कर्म एक वस्तु होता है और परम शुद्ध निश्चयनय में कर्ता-कर्म का भेद ही नहीं।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में परिणमन नहीं होता। अन्यथा द्रव्य-सीमा ही नष्ट हो जायगी। अब आत्मा जो दूसरे द्रव्य की ओर आकर्षित होता है, व रागी-द्वेषी होता है वह अज्ञान की प्रेरणा है। यह रागद्वेष तब तक रहता है, जब तक ज्ञान ज्ञानरूप से न रहे, किन्तु ज्ञेयार्थपरिणमन करता रहे। कोई भी ज्ञेय आत्मा को प्रेरित नहीं करते कि तुम हमको जानो, देखो, स्वादो, छुओ, सुनो, सूंघो और आत्मा भी स्वप्रदेश से च्युत होकर उनमें प्रवेश कर जानना आदि का कार्य नहीं करता, किन्तु ज्ञान अपने परिणमन से जानता है। बाह्य पदार्थ का आत्मा से सम्बन्ध नहीं, फिर भी आत्मा में विकार आवे तो वह अज्ञान की महिमा है।

इन सब आपत्तियों से बचने का उपाय प्रज्ञा है। प्रज्ञाबल से अनुभव करें कि मैं कर्मविपाक, रागादि समस्त अज्ञान भावों से परे हूँ। शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ। इस अनुभव के बल से चूंकिं शुद्धज्ञान की संचेतना हो रही है अत पूर्वबद्ध कर्म निष्फल हो जाता है, आगामी कर्मबन्ध रुक जाता है और वर्तमान कर्मविपाक भी बिना वेदे निकल जाता है। ज्ञानी जीव के अज्ञानचेतना नहीं है, वह ज्ञानक्रिया से अतिरिक्त अन्य को मैं करता हूँ ऐसी संचेतना रूप कर्म-चेतना नहीं करता। और ज्ञानक्रिया से अतिरिक्त अन्य भावों को मैं भोगता हूँ ऐसी संचेतनारूप कर्मफल-चेतना भी नहीं करता।

ज्ञान-चेतना ही मोक्ष का कारण है। ज्ञान के शरीर नहीं है इसलिए शरीर की प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप कुछ भी भूषा मोक्ष का कारण नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि ज्ञानचेतना के उपयोग वाले जीव को इतनी प्रबल ज्ञानाराधना की रुचि होती है, कि रागभाव गये, अब बाह्य में परिग्रह को कौन संभाले। सो देह का निर्ग्रन्थ निष्परिग्रह वेष हो जाता है। फिर भी ज्ञानचेतना ही मोक्ष का कारण है, क्योंकि वह आत्माश्रित है। देहलिंग मोक्ष का कारण नहीं, क्योंकि वह पराश्रित

है। इसलिए निष्परिग्रह निर्ग्रन्थस्वरूप द्रव्यलिंग से गुजर कर भी देहलिंग की ममता से दूर रहकर एक समय-सार का ही अनुभव करना चाहिए। जो समयसार में स्थित होता है वही सहज उत्तम आनन्द को प्राप्त करता है।

स्याद्वाद (परिशिष्ट) अधिकार

यह अधिकार पूज्य श्री अमृतचन्द्र सूरि व पूज्य श्री जयसेनाचार्य ने स्वतन्त्र रचना द्वारा प्रकट किया है। चूंकि वस्तु की सिद्धि स्याद्वाद से होती है, अत ज्ञानमात्र दृष्टि से देखे गये ज्ञानमात्र आत्मा को स्याद्वाद से प्रसिद्ध करके उसका उपयोग करना चाहिए। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील होने के कारण प्रतिक्षण परिणमता ही रहता है। सो यह ज्ञानमात्र आत्मद्रव्य भी प्रति समय परिणमता ही रहता है। अब इसी प्रसग में ज्ञानमात्र आत्मा दो दृष्टियों से देखा जा रहा है—(१) ज्ञानशक्ति द्वार से निश्चयनय द्वारा, (२) ज्ञानपरिणमन (ज्ञेयाकार) द्वार से व्यवहारनय द्वारा। पदार्थ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावात्मक होता है। इस कारण सत्त्व का विचार द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव इन चार दृष्टियों से भी होता है। इस प्रकार दो मौलिक संकेतों के बाद अब ज्ञानमात्र आत्मा को जिन धर्मों के द्वार से प्रसिद्ध करना है उन्हें कहते हैं—(१) आत्मा तद्रूप है, (२) आत्मा अतद्रुप है, (३) आत्मा एक है, (४) आत्मा अनेक है, (५) आत्मा द्रव्यत सत् है, (६) आत्मा द्रव्यत असत् है (७) आत्मा क्षेत्रत सत् है, (८) आत्मा क्षेत्रत असत् है, (९) आत्मा कालत सत् है, (१०) आत्मा कालत असत् है, (११) आत्मा भावत सत् है, (१२) आत्मा भावत असत् है, (१३) आत्मा नित्य है, (१४) आत्मा अनित्य है, (१५) आत्मा अभेदात्मक है, (१६) आत्मा भेदात्मक है।

(१-२) आत्मा ज्ञानशक्ति से तद्रुप है व ज्ञेयाकार परिणमन से अतद्रुप है, क्योंकि ज्ञेयाकार परिणमन व्यतिरेक परिणमन है, अथवा ज्ञानमात्र आत्मा स्ववस्तु से तद्रुप है व परवस्तु से अतद्रुप है। मैं ज्ञायकता से भी शून्य हूँ, ऐसा अथवा सर्व वस्तुओं से तद्रुप हूँ ऐसा नहीं मानना।

(३-४) ज्ञानमात्र आत्मा अखण्ड के ज्ञानस्वभाव की अपेक्षा एक है, वह ज्ञेयाकार पर्यायों की अपेक्षा अनेक है, ज्ञेयाकार मुझमें नहीं है ऐसा या ज्ञेयाकार मात्र हूँ, ऐसा नहीं मानना।

(५-६) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञाता द्रव्य की अपेक्षा से सत् है और गुण-पर्यायरूप द्रव्यविभाग की अपेक्षा से असत् है। अथवा ज्ञाता द्रव्य की अपेक्षा सत् है, वह ज्ञायमान परद्रव्य की अपेक्षा असत् है। ज्ञाता द्रव्य ही परद्रव्यरूप है व परद्रव्य सब ही मैं ज्ञाता द्रव्य हूँ ऐसी नहीं मानना।

(७-८) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानाकार क्षेत्र से सत् है वह ज्ञेयाकार क्षेत्र से असत् है। अथवा स्वक्षेत्र से सत् है व ज्ञेयभूत परवस्तु के क्षेत्र से असत् है। परक्षेत्रगत ज्ञेयार्थपरिणमन से ही मैं हूँ ऐसा व ज्ञेयाकार का मुझमें सर्वथा त्याग है ऐसा नहीं मानना।

(९-१०) ज्ञानमात्र आत्मा काल-पर्याय-सामान्य से सत् है व कालविशेष से असत् है अथवा स्वपर्याय से सत् है व पर-पर्याय से असत् है पदार्थों के आलम्बनकाल में ही सत् है व आलंबित

अर्थ के विनाशकाल में विनाश है, ऐसा नहीं मानना।

(११-१२) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञायकभाव से सत् है, ज्ञेयभाव से असत् है अथवा अपने गुण से सत् है पर के गुण से असत् है। सब ही (स्व-पर) भाव में मैं हूँ, या मैं ही सब भाव हूँ, ऐसा नहीं मानना।

(१३-१४) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानशक्ति की अपेक्षा नित्य है, ज्ञेयाकार विशेष पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। ज्ञानमात्र आत्मा को सर्वथा नित्य या अनित्य नहीं मानना।

(१५-१६) ज्ञानमात्र आत्मा द्रव्यदृष्टि से अभेदात्मक है, व्यवहारदृष्टि से भेदात्मक है।

अनेकान्तस्वरूप होकर भी आत्मा की ज्ञानमात्र प्रसिद्धि क्यों की? लक्ष्यभूत आत्मा की सुगमतया प्रसिद्धि के लिए अथवा ज्ञानमात्र एक भाव में ही गर्भित अनन्त शक्तियों का विकास प्रकट होने से ज्ञानमात्रपने की मुख्यता से आत्मा लक्ष्य हो जाता है, इसलिए ज्ञानमात्र आत्मा की प्रसिद्धि की। ज्ञानमात्र होकर भी अनेकान्तरूप क्यों बताया? विशद जानने के लिए, अथवा अभेदरत्नत्रय के उपदेश के लिये, अथवा उपाय-उपेयभाव का चिन्तवन करने के लिए ज्ञानमात्र आत्मा को अनेकान्तरूप प्रगट किया।

इस प्रकार निज शुद्ध आत्मतत्त्वस्वरूप समयसार की प्रतीति करके उसमें ही अनुष्ठान करना चाहिए। एतदर्थ परमार्थदृष्टि रखकर भावना करना चाहिए—मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंद स्वभाव हूँ, निर्विकल्प हूँ, अखंड हूँ, निरंजन हूँ, सहजानन्दस्वरूप स्वसंवेदन से गम्य हूँ, राग-द्वेष-विषय-कषायादि से रहित हूँ।

समयसार के परिज्ञान का प्रयोजन

समयसार निरपेक्ष आत्म-स्वभाव है। इसका अपरनाम सहजसिद्ध परमात्मा है। इस अविकार स्वरूप की दृष्टि होने पर परिणमन में भी अविकारता प्रगट होती है। अविकारता ही सत्य आनन्द की अमोघ जननी है। समस्त दार्शनिकों के प्रयोजन की सिद्धि इस समयसार के परिचय में हो जाती है। समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व अविकार है, नित्य है, भेददृष्टि से परे होने के कारण एक है। आत्म-गुणों में व्यापक होने से व आत्म-गुणों से बढ़ने के कारण ब्रह्म है। ऐसा स्वभाव होते हुए भी चूंकि प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है सो आत्मा भी परिणमनशील है। अत मायारूप कही जाती है। इस तरह ब्रह्म और माया की सन्धि है। अविकार होते हुए भी यह माया का आधार है—यह रहस्य जिन्हें प्रकट हो गया वे विवकी हैं और फिर माया की दृष्टि न रख कर जो एक परम ब्रह्म की दृष्टि रखते हैं वे परमविवेकी हैं। समयसार के परिज्ञान का प्रयोजन निर्विकल्प समाधि की सिद्धि है जिसके बल से समस्त कर्म-कलंकों से मुक्ति, पूर्णज्ञान की सिद्धि व अनन्त आनन्द की निष्पत्ति होती है।

समयसार में दार्शनिक संतोष

प्रत्येक आत्मा में समयसार तत्त्व है। इसे परम ब्रह्म परमेश्वर कहते हैं। इसकी पर्यायों का मूल आधार यह ही है। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा की सृष्टि का कारण उसी में विराजमान परम ब्रह्म परमेश्वर है।शुद्धनय की दृष्टि में अनेकता नहीं है। अत इस पद्धति में यह अभिप्राय सुयुक्तियुक्त है कि जिस परमब्रह्म परमेश्वर ने अपनी सृष्टि की है, उस परम पिता की उपासना से ही दुखों की मुक्ति हो सकती है। समयसार की उपासना के बिना दुखों से मुक्ति नहीं हो सकती।

स्वभावत अविकार होकर भी प्रकृतिजन्य विभावों में एकत्व का अभ्यास होने से नाना भवों के अवतार रूपों में यह समयसार पुरुष प्रगट हुआ है। प्रकृति (कर्म व औपाधिक भाव) व पुरुष का जब तक भेदज्ञान नहीं होता तब तक क्लेश व जन्म-परम्परा चलती ही रहती है। अत यह बात सुयुक्त है कि प्रकृति व पुरुष का भेदविज्ञान कर लेने से ही क्लेश एवं जन्म-परम्परा से मुक्ति हो सकती है।

समयसारस्वरूप आत्मद्रव्य नित्य होने पर भी इसकी परिणतियाँ प्रतिक्षण होती ही रहती हैं। आत्मा का मुख्य लक्षण ज्ञान है। ज्ञानस्वभाव की परिणतियाँ प्रतिक्षण होती रहती हैं। हम लोगों की ज्ञानपरिणतियों का नाम चित्तवृत्ति है। ये चित्तवृत्तियॉं क्षणिक हैं। ये आत्मस्वरूप नहीं हैं। आत्मद्रव्य की क्षणिक परिणतियॉं हैं। उन्हें ही जो आत्मद्रव्य समझते हैं वे इष्ट-अनिष्ट कल्पना द्वारा रागी-द्वेषी होकर दुखी होते हैं। जो चित्तवृत्तियों को गौण कर इस अविका समयसार (शुद्ध आत्मतत्त्व) को अनुभवते हैं, वे दुखों से मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त करते हैं। अत यह बात सुयुक्त है कि क्षणिक चित्तवृत्तियों में आत्मा का भ्रम समाप्त कर देने से ही निर्वाण प्राप्त हो सकता है।

परम-शुद्ध-निश्चय से देखा गया समयसार तत्त्व शाश्वत अविकार है। इस तत्त्व की विकारी रूप में उपलब्धि करने की जब तक प्रकृति रहती है तब तक वह जीव दुखी है। जब निरपेक्ष निज चैतन्य स्वभाव की द्रव्यशुद्धि में उपलब्धि कर विकारभ्रम को समाप्त कर देता है तब आत्मा शांति का अनुभव करता है। अत यह निश्चित है कि विकारों से सम्बन्ध न होने से जीव शांति प्राप्त कर सकता है।

समयसार की उपलब्धि न होने के कारण जीव का उपयोग विरुद्ध कर्मों (दुष्कर्मों) में भ्रमण करता रहता है। और इन्हीं दुष्कर्मों से ही जीव सांसारिक यातनाएँ सहता है। उनसे मुक्ति पाने का उपाय समयसार की दृष्टि है और यही निश्चयत सत्कर्म है। तथा जब तक जीव समयसार की निश्चल अनुभूति में नहीं रह पाता, तब तक इस अशान्ति का उपयोग दुष्कर्म न उठा लें; इसलिये दुष्कर्म से बचने के अभिप्राय से व्यावहारिक सत्कर्म की प्रवृत्ति होती है। अत यह बात स्पष्ट है कि सांसारिक यातनाओं के कारणभूत दुष्कर्मों से मुक्ति पाना सत्कर्म

से ही सम्भव है।

निर्विकल्प समयसार का परिचय जब तक जीव को नहीं है, वह विविध विकल्पों में ही उपयुक्त रहकर संसार का परिभ्रमण करता रहता है। विकल्पों से होने वाली भटकन की निवृत्ति निर्विकल्प ज्ञानपरिणमन से ही सम्भव है। अत यह बात भी सुयुक्तिक है कि संसार-परिभ्रमण की निवृत्ति निर्विकल्प समाधि से ही हो सकती है। निर्विकल्प समाधि समयसार के आलम्बन में होती है।

इस प्रकार अनेकों ार्शनिक इस समयसार में ही सन्तोष पाते हैं। उनके उद्देश्य की पूर्णता भी इसी समयसार में होती है। ऐसा अद्भुत विलक्षण, अलौकिक सारभूत परब्रह्मस्वरूप समयसार हस्तगत हुआ है, हाथ आया है तो इसकी अनवरत दृष्टि रखकर निर्दोष होते हुए सहज आनन्द का अनुभव करना चाहिए।

ओ३म् शुद्धं चिदस्मि। "शुद्धं चिदस्मि सहजं

समयसार : एक अध्ययन

❑ गणिनी आर्यिकारत्न ज्ञानमतीजी

समयसार की गाथा संख्या और टीकायें

वर्तमान में, इस समयसार ग्रन्थ पर दो टीकायें उपलब्ध हैं—एक अमृतचन्द्रसूरि की, दूसरी जयसेनाचार्य की। पहली टीका का नाम 'आत्मख्याति' है और दूसरी का नाम 'तात्पर्यवृत्ति' है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने जीवाजीवाधिकार को सम्मिलित रूप से लिया है। पुन कर्तृकर्म अधिकार, पुण्य-पाप अधिकार, आस्रव अधिकार, सवर अधिकार, निर्जरा अधिकार, बध अधिकार, मोक्ष अधिकार एवं सर्व विशुद्ध ज्ञान-अधिकार ऐसे नव अधिकार किये हैं। आगे स्याद्वाद का विस्तार से वर्णन करके उसे स्याद्वाद-अधिकार नाम दिया है। किन्तु उसे 'दशम' अधिकार नहीं कहा है। अंतिम नौवें अधिकार की समाप्तिसूचक पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

"इति श्रीअमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ सर्वविशुद्धज्ञानप्ररूपको नवमोऽक"।

इस आत्मख्याति टीका में गाथाओं की संख्या ४१५ है। इस टीका में मध्य मध्य में कुछ काव्य दिये हैं जिनमें समयसार की गाथाओं का सारभूत विवेचन बहुत ही मधुरता और सरलता से किया गया है। इसीलिए इन्हें 'कलशकाव्य' संज्ञा दी है। इनकी सख्या २७८ है। इन कलश-काव्यों के ऊपर भी पृथक् टीकायें हैं जिनका कि एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन गया है।

तात्पर्यवृत्ति टीका में मूल गाथाओं की संख्या ४३९ है। श्री जयसेनाचार्य ने सर्वप्रथम पीठिका में १४ गाथाओं की टीका की है। पुन जीवाधिकार में २८ गाथायें ली हैं, अजीवाधिकार में ३0 गाथायें हैं, कर्तृ-कर्म अधिकार में ७८ हैं इत्यादि। श्री जयसेनाचार्य ने जीव-अधिकार और अजीव-अधिकार इन दोनों को पृथक् कर दिया है जिससे इनकी टीका में दश अधिकार हो गये हैं तथा प्रत्येक अधिकार के प्रारम्भ में और अन्त में गाथाओं की सख्या दी हुई है।

यथा—"प्रथमतस्तावदष्टाविंशतिगाथापर्यंतजीवाधिकार कथ्यते।"

ऐसे ही अन्त में—"इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृतौ समुदायेनाष्टाविंशतिगाथाभिर्जीवाधिकार समाप्त।"

इन्होंने भी सर्वविशुद्धज्ञान नामक दशवाँ अधिकार समाप्त करके स्याद्वाद अधिकार लिया है। अन्त में कहते हैं—

"इति श्रीकुन्दकुन्ददेवाचार्यविरचित-समयसारप्राभृताभिधानग्रंथस्य सबंधिनी श्रीजयसेनाचार्यकृता दशाधिरेकोनचत्वारिंशदधिक गाथा शतचतुष्टयेन तात्पर्यवृत्ति समाप्ता।"

इस प्रकार से श्री जयसेनाचार्य ने इस समयसार की ४३९ गाथाओं की टीका की है। इसी तरह प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में भी श्री अमृतचंद्रसूरि की टीका में गाथायें कम हैं एवं श्रीजयसेनाचार्य की टीका में गाथायें अधिक हैं।

जिन गाथाओं को श्री जयसेन ने कुन्दकुन्द की मानकर उनकी टीका की है उनका अन्यत्र ग्रन्थों में भी श्री कुन्दकुन्द के नाम से उल्लेख मिलता है। जैसे कि—नियमसार की टीका में श्री पद्मप्रभमलधारी देव कहते हैं—

"तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवै —

"तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढीसोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइय माहप्पं जस्स सो अरिहो।"

यह गाथा प्रवचनसार में श्री जयसेनाचार्य ने ली है और इसकी टीका भी की है किन्तु अमृतचन्द्रसूरि की टीका में यह नहीं है।

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जयसेनाचार्य ने जिन अधिक गाथाओं को श्री कुन्दकुन्द की ही माना है, अन्य आचार्य भी उन्हें श्री कुन्दकुन्द रचित मानते रहे हैं।

अमृतचन्द्रसूरि ने उन गाथाओं को क्यों छोडा है, यह विषय विचारणीय ही है। किन्तु जयसेनाचार्य द्वारा मान्य गाथाओं में ये श्री कुन्दकुन्ददेव कृत नहीं हैं या क्षेपक हैं, सहसा ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

पंचास्तिकाय में भी अमृतचन्द्रसूरि ने १७३ गाथाओं की टीका की है किन्तु जयसेनाचार्य ने "अधिकारत्रय- समुदायेनैकाशीत्युत्तरशतगाथाभि पंचास्तिकायप्राभृत समाप्त"। अधिकार तीन के समूह से १८१ गाथाओं द्वारा पचास्तिकाय प्राभृत ग्रन्थ समाप्त हुआ है, ऐसा कहते हैं।

टीका की गूढ़ता

अमृतचन्द्रसूरि की टीका अतीव गूढ है। संस्कृत की पंक्तियाँ भी क्लिष्ट और समासबहुल हैं, किन्तु जयसेनाचार्य की टीका में जगह जगह गुणस्थान-व्यवस्था स्पष्ट की गई है। भाषा भी सरल है और भाव भी सरल हैं जिससे हम जैसे लोगों के लिए बहुत ही सरलता हो गई है। जो विद्वान् इस टीका की उपेक्षा कर देते हैं सचमुच में वे समयसार के रहस्य को सही रूप से न आप ही समझ सकते हैं न श्रोताओं को ही समझा सकते हैं। यही कारण है कि वे एकांत दुराग्रही बन जाते हैं। वास्तव में उन्हीं दुराग्रही लोगों के लिए यह समयसार शास्त्र न रहकर शस्त्र बन जाता है। उनके लिए श्री गुणभद्रसूरि का एक श्लोक सामने आ जाता
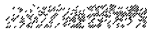
है—

शास्त्राग्नौ मणिवद् भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृत।
अंगारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत्॥

अर्थात्—इस शास्त्र रूपी अग्नि में भव्य जीव मणि के समान शुद्ध होकर निवृत हो जाता है। किन्तु खल दुर्जन मनुष्य अगारे के समान जलकर काला कोयला हो जाता है अथवा राख हो जाता है।

कहने का तात्पर्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को समयसार पढ़ते समय श्री जयसेनाचार्य की टीका अवश्य पढ़नी चाहिए।

अमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्य के अभिप्राय

आज कुछ लोग ऐसा कहते हुए देखे जाते हैं कि श्री अमृतचन्द्रसूरि की टीका के आधार से चतुर्थ गुणस्थान में निश्चयसम्यक्त्व, निश्चयचारित्र, शुद्धोपयोग आदि हो जाते हैं। किन्तु जयसेनाचार्य ऐसा नहीं मानते हैं। वे सप्तम गुणस्थान से ही इनको घटित करते हैं। वास्तव में अमृतचन्द्रसूरि के शब्दों से भी निश्चयसम्यक्त्व आदि चौथे गुणस्थान में असंभव हैं। गाथा १२वीं की टीका में अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

"ये खलु पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयं परम भावं अनुभवंति...।"

जो अंतिम ताव से शुद्ध हुए सुवर्ण के समान परमभाव का अनुभव करते हैं उनके लिए शुद्धनय प्रयोजनीभूत है किन्तु जो एक दो आदि ताव से शुद्ध हुए के समान ऐसे अपरम भाव का अनुभव करते हैं उनके लिए व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है क्योंकि तीर्थ और तीर्थ का फल इसी रूप से व्यवस्थित है। कहा भी है—

"यदि आप जिन मत को प्राप्त होना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयनय में मोह को मत प्राप्त होओ, क्योंकि व्यवहार के बिना तीर्थ का और निश्चय के बिना तत्त्व का नाश हो जावेगा।"

आगे कलश-काव्य में भी कहा है कि—"पहली पदवी पर पैर रखने वालों के लिए यह व्यवहारनय हाथ का अवलंबन है।"

अब आप देखिये—अन्तिम ताव से शुद्ध सुवर्ण के समान शुद्ध भाव का अनुभव तो मोह रहित मुनि के ११वें, १२वें गुणस्थान में ही घटेगा उसके पहले सब अशुद्ध भाव में ही हैं। हाँ, श्रेणी में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने से शुद्धोपयोगी मुनि के भी कथंचित् परमभाव का अनुभव कहा जाता है। किन्तु छठे, सातवें गुणस्थान पर्यंत सराग अवस्था होने से शुभोपयोग ही है अतः वहाँ तक परमशुद्धभाव का अनुभव नहीं है। आगे के उद्धरण और कलश आदि

से भी यह बात स्पष्ट है कि चतुर्थ, पंचम, छठे, सातवें गुण-स्थानवर्तियों के लिए व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है।

इसी प्रकरण को श्री जयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कह दिया है कि जो निर्विकल्प समाधि में रत हैं उनके लिए निश्चयनय प्रयोजनीभूत है किन्तु जो असंयतसम्यग्दृष्टि हैं, श्रावक हैं, प्रमत्त मुनि हैं या अप्रमत्तमुनि हैं ये सराग सम्यग्दृष्टि हैं, शुभोपयोगी हैं। ये छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि भी भेदरत्नत्रय में स्थित हैं अत इनके लिए व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है।

ऐसे ही गाथा १४२ की टीका में श्री अमृतचंद्रसूरि के अभिप्राय को देखिये—

"य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रात स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसार संभवति।" जो दोनों नयों के विकल्प को उलंघन कर देता है वह ही संपूर्ण विकल्प से रहित स्वय निर्विकल्प एक विज्ञानघनरूप होकर साक्षात् समयसार हो जाता है।

उसी टीका के ६९वें कलश में भी कहा है कि—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशातचित्तास्त एव साक्षादमृत पिबंति॥६९॥

जो दोनों नयों के पक्ष को छोडकर नित्य ही स्वरूप में गुप्त होकर निवास करते हैं वे विकल्प-समूहों से रहित शांतचित्त हो जाते हैं, वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं।

यहाँ 'स्वरूपगुप्ता' शब्द त्रिगुप्ति से सहित निर्विकल्प मुनियों के लिए ही है।

श्री जयसेनस्वामी ने भी इसी को सरल शब्दों में कहा है कि आगम के व्याख्यान के समय बुद्धि दोनों नयों का अवलंबन लेती है किन्तु तत्त्वज्ञानी स्वस्थआत्मा के ध्यान में लीन हुए मुनियों के वह विकल्पबुद्धि नहीं रहती है।

आगे गाथा १७९, १८० की टीका में भी कहा है कि जब यह ज्ञानी जीव शुद्धनय से च्युत हो जाता है तब उसके पूर्वबद्ध प्रत्यय पुद्गलकर्मों से बध करा देते हैं।

इन्हीं गाथाओं की टीका में जयसेनाचार्य ने कहा है कि परमसमाधि लक्षण भेद-ज्ञानरूप शुद्धनय से च्युत होने का पूर्वबद्ध प्रत्ययों से कर्मबंध होता है।

ऐसे ही गाथा १५० की टीका के कलश-काव्य १०४ में कहा है—

"जिन्होंने पुण्य और पाप रूप सपूर्ण कर्मों का निरोध कर दिया और निष्क्रमरूप शुद्धोपयोग में प्रवृत्त हैं ऐसे मुनि अशरण नहीं हैं।"

"शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्प से रहित होने से अपने शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न निर्विकल्प सुख अमृतरस के आस्वाद से तृप्त होकर शुभ-अशुभ कर्म से राग मत करो।"

ऐसे ही आगे गाथा ३०६, ३०७ की टीका में भी श्री अमृतचन्द्र सूरि ने अप्रतिक्रमण आदि

को अमृतकुम्भ कहा है सो तृतीय भूमि में अर्थात् शुद्धोपयोग में कहा है—"तृतीयभूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन" अर्थात् अप्रतिक्रम-प्रतिक्रमण से परे जो अप्रतिक्रमण रूप तृतीय भूमि है वह स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप है। इसी टीका के १९ वें कलश में 'मुनि' शब्द है जो कि अप्रमत्त मुनि की बात कह रहा है।

इसी प्रकरण को श्री जयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कहा है कि "सरागचारित्र लक्षण शुभोपयोग की अपेक्षा से इन्हें अप्रतिक्रमण आदि संज्ञा दी है। फिर भी वीतरागचारित्र की अपेक्षा से ये ही निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चय प्रतिसरण आदि कहलायेंगे। क्योंकि प्रतिक्रमण आदि शुभोपयोग हैं, ये सब सविकल्प अवस्था में अमृतकुम्भ हैं किन्तु परमापेक्षया संयमरूप निर्विकल्प अवस्था में विषकुम्भ हैं। वहाँ तो अप्रतिक्रमण अर्थात् निश्चयप्रतिक्रमण आदि ही अमृतकुम्भ हैं।

ऐसे ही सर्वत्र जयसेनाचार्य ने अमृतचन्द्रसूरि के अभिप्रायानुसार ही टीका की है। केवल गूढ़ अर्थ को न समझ सकने से ही कुछ दुराग्रही लोग अर्थ का अनर्थ कर देते हैं।

समयसार की गाथाओं में जहा कहीं भी सम्यग्दृष्टि अथवा ज्ञानी शब्द हैं वहाँ पर प्राय श्री अमृतचन्द्रसूरि को वीतराग सम्यग्दृष्टि ही विवक्षित है। इसका एक उदाहरण देखिये—

"णत्थि दु आसवबधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो"

सम्यग्दृष्टि के आस्रव, बंध नहीं है प्रत्युत आस्रव का निरोध है। इसी संदर्भ में आगे चल कर कहते हैं—

"तेण अबंधोत्ति णाणी दु।"
जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो, तेण दु सो बंधगो भणिदो॥१७१॥

आत्मा का ज्ञानगुण तब तक जघन्य अवस्था में रहता है तब तक वह अन्यत्व को अर्थात् अतर्मुहूर्त में अन्यपने को प्राप्त होता रहता है, इसलिए वह कर्मो का बन्ध करने वाला होता है।

इसी की टीका में अमृतचन्द्रसूरि के वाक्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

"ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भाव तावत् तस्यातर्मुहूर्त-विपरिणामित्वात् पुन पुनरन्यतयास्ति परिणाम॰। स तु यथाख्यात- चारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावाद् बंधहेतुरेव स्याद्॥"

ज्ञानगुण का जब तक जघन्य भाव है अर्थात् क्षयोपशम भाव है तब तक वह अन्तर्मुहूर्त में अन्यरूप परिणत होता रहता है। इसलिए उस ज्ञानगुण में यथाख्यात चारित्र के पहले राग का सद्भाव अवश्यंभावी है अत वह बंध का हेतू ही है।

यह यथाख्यातचारित्र दशवें गुणस्थान के बाद ११वें से ही शुरु होता है। सिद्धान्तग्रन्थों में वहीं से ही 'वीतराग' शब्द का प्रयोग होता है। उसके पहले दशवें तक सरागचारित्र माना है।

अतः अमृतचन्द्रसूरि की दृष्टि में वीतरागचारित्र वाला मुनि ही समयसार की गाथा में कहा हुआ सम्यग्दृष्टि है और वही समयसार की गाथाओं में कहा हुआ 'ज्ञानी' है। यही बात जयसेन स्वामी ने कही है। ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिए।

समयसार में व्यवहारनय की उपयोगिता

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने सर्वप्रथम गाथा ७ में ही कहा है कि "व्यवहारनय से ही ज्ञानी के चारित्र, दर्शन और ज्ञान कहे जाते हैं। किन्तु (निश्चयनय से) न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र ही है, यह आत्मा ज्ञायकमात्र शुद्ध है।

पुनः कहते हैं—

जिस प्रकार से किसी म्लेच्छ को उसकी भाषा में बोले बिना उसे समझाना शक्य नहीं है उसी प्रकार से व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश ही अशक्य है।

आगे पुनः गाथा १२वीं में व्यवहार को अभूतार्थ कहकर तत्क्षण ही अगली गाथा में कहते हैं—

"परमभावदर्शी—परम शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाले ऐसे महामुनियों के लिए शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला ऐसा शुद्धनय ही ज्ञातव्य है, अनुभव करने योग्य है। किन्तु जो अपरमभाव में स्थित हैं अर्थात् चतुर्थ, पंचम, छठे अथवा सातवें गुणस्थान में स्थित हैं उनके लिए व्यवहारनय का उपदेश दिया गया है।"

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने भी कहा है कि जो अंतिम सोलहवें ताव से शुद्ध हुए सुवर्ण के समान परम शुद्ध भाव का अनुभव करते हैं उनके लिए ही शुद्धनय प्रयोजनीभूत है, किन्तु जो एक दो आदि ताव से शुद्ध सुवर्ण के समान अपरमभाव का अनुभव करते हैं उनके लिए व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है क्योंकि तीर्थ और तीर्थ का फल व्यवहारनय से ही चलता है।

कलश-काव्य में भी कहते हैं—

"पहली पदवी पर पैर रखने वालों के लिए यद्यपि यह व्यवहारनय हाथ का अवलम्बन स्वरूप है फिर भी पर से रहित चित् चमत्कार मात्र परम अर्थ—शुद्ध आत्मा को अंतरंग में देखने वालों के लिए वह व्यवहारनय कुछ भी नहीं है।"

इस कथन से भी स्पष्ट है कि पहली सीढी पर पैर रखने वाले ऐसे चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती जीवों के लिए व्यवहारनय सहारा है, हाथ का अवलम्बन है।

गाथा २२वीं में यह कहा है कि कर्म नोकर्म रूप मैं हूँ अथवा ये मेरे हैं ऐसा समझने वाला अज्ञानी है। पुनः तत्काल अनेकांत की व्यवस्था करते हुए कहते हैं कि यह आत्मा जिन

भावों को करता है उन्हीं का कर्ता होता है यह निश्चयनय का कथन है और व्यवहारनय की अपेक्षा यह पुद्गल कर्मों का कर्ता होता है।

आगे चलकर शंका होती है कि यदि जीव और शरीर एक नहीं हैं तो तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति मिथ्या हो जावेगी? इस पर समाधान यह है कि "व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव और शरीर एक हैं और निश्चयनय की अपेक्षा से ही कथमपि एक नहीं हैं। तथा तीर्थंकर आदि के शरीर आदि की स्तुति व्यवहारनय की अपेक्षा से ही होती है।

आगे आचार्यदेव आठ प्रकार के कर्म और उनके फल आदि को पुद्गलमय कहते हैं, पुन समाधान रूप में गाथा ५१ में कहते हैं—

"रागादि भाव जो कि अध्यवसान परिणाम हैं वे सब जीव हैं यह व्यवहारनय का उपदेश है ऐसा श्री जिनेंद्रदेव ने कहा है, इसी गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

"व्यवहारनय अपरमार्थ होते हुए भी परमार्थ का प्रतिपादक है और तीर्थ-प्रवृत्ति का निमित्त है अत उसका दिखलाना न्याय ही है। व्यवहारनय को माने बिना शरीर से जीव में परमार्थ से भेद होने से त्रस और स्थावर जीवों की व्यवस्था नहीं होगी, पुन कोई भी उन त्रस-स्थावरों को राख के समान मर्दित कर देगा और ऐसा करने पर भी हिंसा नहीं होगी तब उसके कर्मबंध नहीं होगा। पुन रागद्वेष-मोह से जीव में सर्वथा भेद रहने से मोक्ष के उपाय को ग्रहण करना कैसे हो सकेगा? और तब तो मोक्ष का ही अभाव हो जावेगा?"

उपर्युक्त गाथा में तथा टीका में व्यवहारनय की उपयोगिता विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

गाथा ५५ से यह बतलाया है कि जीव के वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि तथा गुणस्थान आदि कुछ भी नहीं हैं। पुन नय विवक्षा खोलते हुए कहते हैं—

"व्यवहारनय की अपेक्षा से वर्ण आदि से लेकर दसवे गुणस्थानपर्यंत ये सभी भाव जीव के ही हैं। किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से ये कुछ भी नहीं हैं।"

इस बात को सुनकर कोई शिष्य प्रश्न कर देता है कि हे भगवन्। शास्त्र में तो जीव के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त आदि नाना भेद माने हैं सो कैसे? तब पुन आचार्य समाधान करते हैं—"पर्याप्त-अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर आदि जो भी जीव के भेद परमागम में कहे हैं वे सभी व्यवहारनय की अपेक्षा से ही हैं।"

गाथा ८९ और ९० में भी निश्चय और व्यवहार के कार्य को स्पष्ट कर रहे हैं—"निश्चयनय से यह आत्मा अपने आपका ही कर्ता है और अपने आपका ही भोक्ता है। किन्तु व्यवहारनय से यह आत्मा अनेक प्रकार से पुद्गल कर्मों का कर्ता है और उसी तरह अनेक प्रकार से पुद्गल-कर्मों का भोक्ता भी है।"

"निश्चयनय से जानने वाले महामुनियों ने जो यह आत्मा के कर्तापने की बात बतलाई है उसको जो समझ लेता है वही भव्य जीव संपूर्ण कर्तृत्व को छोड़ सकता है।" इस गाथा की टीका में जयसेनाचार्य ने कहा है कि "जो ऐसा समझ लेता है कि यह आत्मा निश्चयनय से अपने भावों का ही कर्ता है और व्यवहारनय से कर्मों का कर्ता है वह जीव सराग सम्यग्दृष्टि होता हुआ अशुभ कर्म के कर्तृत्त्व को छोडता है, पुन निश्चय चारित्र के साथ अविनाभूत ऐसा वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर शुभ-अशुभ ऐसे संपूर्ण कर्मों के कर्तृत्व से छूट जाता है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुण-स्थान तक के जीव अशुभकर्म के कर्तृत्व से ही छूटने का प्रयत्न करते हैं। इससे आगे के जीवों के शुभकर्म का कर्तृत्व चल रहा होता है जो कि दशवें तक चलता रहता है। आगे वह भी छूट जाता है।

आगे कहते हैं कि यह आत्मा व्यवहारनय की अपेक्षा से घट-पट-रथ आदि द्रव्यों का कर्ता है, इन्द्रियों का, ज्ञानावरण आदि कर्मों का, शरीर आदि नोकर्मों का और क्रोधादि रूप नाना प्रकार के भावकर्मों का भी कर्ता है। यह आत्मा पुद्गल कर्म को उपजाता है, करता है, बाँधता है, परिणमाता है और ग्रहण भी करता है—यह सब व्यवहारनय का कथन है।"

आगे जीव को कथचित् अकर्ता सिद्ध करते हुए कहते हैं—

"बंध के करने वाले सामान्य प्रत्यय चार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। उनके ही भेद मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग केवली पर्यंत तेरह हो जाते हैं। ये गुणस्थान पुद्गल कर्म के उदय से होते हैं अत अचेतन हैं, ये ही कर्मों को करते हैं इसलिए आत्मा इन कर्मों का भोक्ता भी नहीं है, क्योंकि ये गुणस्थान ही कर्म को करने वाले हैं अत यह जीव अकर्ता है।"

इन गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति में आचार्य कहते हैं कि ये मिथ्यात्व आदि प्रत्यय और गुणस्थान न एकांत से जीवरूप हैं और न पुद्गल रूप हैं किन्तु चूना और हल्दी के मिले हुए रंग के समान हैं। अत ये अशुद्ध निश्चयनय से अशुद्ध उपादान रूप से चेतन हैं, जीव से सम्बन्धित हैं तथा शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध उपादान रूप से अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं।

कोई प्रश्न करता है कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से किसके हैं? तो आचार्य कहते हैं— सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से तो इनका अस्तित्व ही नहीं है चूंकि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" नियम के अनुसार तो सभी जीव शुद्ध ही हैं, पुन ये रागादि प्रत्यय कहाँ टिकेंगे।

आगे पुन इसी कर्तृकर्म अधिकार में कहते हैं—

"जीव में कर्म बद्ध हैं और उस जीव के प्रदेशों में मिले हुए हैं यह व्यवहारनय का पक्ष है और जीव में कर्म न बँधे हुए हैं और न स्पर्शित ही हैं यह निश्चयनय का पक्ष है। इस प्रकार से जीव से कर्म बँधे हुए हैं अथवा नहीं बँधे हुए हैं ये दोनों ही नय पक्ष हैं। जो इन दोनों पक्षों से ऊपर जा चुके हैं वे ही महामुनि समयसार रूप हैं। जो समयरूप आत्मा का

अनुभव करने वाले हैं वे दोनों ही नयों के कथन को केवल जानते हैं किन्तु इन दोनों में से किसी के भी पक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं।"

इस गाथा की टीका में अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि जिस प्रकार से केवली भगवान निश्चय व्यवहार द्वारा कथित संपूर्ण पदार्थों को जानते हैं किन्तु कुछ भी ग्रहण नहीं करते हैं उसी प्रकार से जो श्रुतज्ञानात्मक समस्त अंतर्बाह्यरूप विकल्पात्मक भूमि को पार कर जाने से समस्त नय-पक्षों के ग्रहण करने से दूर हो चुके हैं अर्थात् किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं वे ही समस्त विकल्पों से परे निर्विकल्प ज्ञानात्मक समयसार रूप हैं। इसी बात को जयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कहा है कि वे गणधरदेवादि महामुनि ही निर्विकल्प ध्यान की अवस्था में इन नयपक्षों को ग्रहण नहीं करते हैं।

तात्पर्य यही निकला कि छठे, सातवें गुणस्थान तक सविकल्प अवस्था में दोनों ही नयों का अवलम्बन लेना पड़ता है। आगे निर्विकल्प ध्यान में इन दोनों का ही विकल्प छूट जाता है।

इसी बात को आगे कहते हैं कि "ज्ञानी मुनि निश्चय को छोड़कर व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं करते हैं क्योंकि परमार्थ का आश्रय लेने वाले यतियों के ही कर्मों का क्षय होता है।"

बंधाधिकार में ऐसा कहा है कि "जीवों को मारने और दुखी करने के भाव हिंसा रूप होने से पाप-बंध के कारण हैं वैसे ही असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के भाव भी पाप-बंध के कारण हैं तथा जीवों को जीवित रखने और सुखी रखने के भाव अहिंसा रूप होने से पुण्य-बंध के कारण हैं वैसे ही सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भाव पुण्य-बंध के कारण हैं।" यह प्रकरण गाथा २६३ से प्रारम्भ होकर विस्तार से लिया गया है। पुन आगे २८८ गाथा में कहते हैं कि "उपर्युक्त अध्यवसान (परिणाम) तथा और भी अध्यवसान भाव जिनके नहीं है वे मुनि ही शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से नहीं बँधते हैं।" यहाँ गाथा में 'मुनि' शब्द ध्यान देने योग्य है।

जब तक संकल्प-विकल्प होते रहते हैं तब तक यह जीव शुभ-अशुभ को उत्पन्न करने वाले कर्म बाँधता रहता है जब तक कि उसके हृदय में आत्मा के स्वरूप की ऋद्धि स्फुरायमान नहीं होती है।

"इस प्रकार निश्चय के द्वारा व्यवहारनय का प्रतिषेध किया जाता है ऐसा समझो, क्योंकि निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिगण ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं।"

यहाँ पर तात्पर्यवृत्ति में लिखा है कि यद्यपि प्राथमिक शिष्यों की अपेक्षा प्रारम्भ में सविकल्प अवस्था में निश्चय का साधक होने से व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है फिर भी विशुद्ध ज्ञान दर्शन रूप शुद्धात्मा में स्थित हुए निर्विकल्प ध्यानी मुनियों के लिए वह निष्प्रयोजनीभूत है।"

उपर्युक्त प्रकरण में बंधाधिकार की गाथाओं में श्री कुन्दकुन्ददेव ने मुनियों के लिए ही ऐसा

कहा है कि वे ही शुभ-अशुभ इन दोनों प्रकार के कर्मों से छूट सकते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक अथवा अव्रती कथमपि पुण्य-पाप इन दोनों से नहीं छूट सकते हैं।

मोक्ष-अधिकार में अन्त में ३२६, ३२७ गाथाओं में जो प्रकरण लिया है उससे पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ महामुनियों के लिए ही है। यथा—इन गाथाओं के पहले श्री अमृतचन्द्रसूरि उत्थानिका रूप में कहते हैं—

शिष्य कहता है—इस शुद्धात्मा की उपासना के प्रयास से क्या प्रयोजन है? जबकि प्रतिक्रमण आदि से ही यह जीव निरपराधी हो जाता है। व्यवहार आचारसूत्र में कहा भी है—

"अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अप्रतिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और अशुद्धि ये विषकुम्भ हैं और इनसे विपरीत प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, प्रतिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि ये अमृतकुम्भ हैं।"

इस चर्चा पर श्रीकुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

"अप्रतिक्रमण आदि आठों अमृतकुम्भ हैं और प्रतिक्रमण आदि आठों विषकुम्भ हैं।" इन गाथाओं की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि स्पष्ट कह रहे हैं—

"अज्ञानीजनों में साधारण रूप से रहने वाले जो अप्रतिक्रमण आदि हैं वे तो विषकुंभ हैं ही, उनके बारे में यहाँ कुछ विचार ही नहीं करना है किन्तु जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमण आदि हैं वे संपूर्ण अपराध को दूर करने वाले होने से यद्यपि अमृतकुम्भ हैं फिर भी प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमण से विलक्षण ऐसी तृतीय भूमि को प्राप्त हुए शुद्धोपयोगी मुनि के लिए वे विषकुम्भ हैं। इसलिए व्यवहार से प्रतिक्रमण आदि भी उस तृतीय भूमि को प्राप्त कराने में कारण होने से अमृतकुम्भ हैं यह बात सिद्ध हो जाती है। यहाँ द्रव्य प्रतिक्रमणादि को छुडाया नहीं है प्रत्युत उससे आगे निर्विकल्प अवस्था में पहुँचने की प्रेरणा दी है।

इसी बात को कलशकाव्य में भी कहते हैं—

> यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीत तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुत स्यात्।
> तत्किं प्रमाधति जन प्रपन्नधोध, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमाद ॥

अर्थात् हे भाई। जहाँ प्रतिक्रमण को ही विषकुम्भ कह दिया है वहाँ अप्रतिक्रमण अमृतकुम्भ कैसे हो सकता है? अत यह मनुष्य नीचे नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है? निष्प्रमादी होकर ऊंचे ऊंचे क्यों नहीं चढ़ता है?

आगे पुन कलशकाव्य में कहते हैं—

> 'प्रमादकलित· कथं भवति शुद्धभावोलस·, कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।
> अत स्वरसनिर्भरे नियमतः स्वभावे भवन्, मुनि परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाचिरात्
> ॥९०॥

अर्थात् कषाय के भार से भारी होना ही आलस्य है उसे ही प्रमाद कहते हैं। अत. प्रमादयुक्त आलस्यभाव शुद्धभाव कैसे कहा जा सकता है? इसलिए स्वरस से परिपूर्ण अपने स्वभाव में निश्चल होते हुए मुनि ही परमशुद्धि को प्राप्त होते हैं और वे ही अल्प समय में मुक्त हो जाते हैं।

इस ९० कलश में 'मुनि' शब्द भी स्पष्ट घोषणा कर रहा है कि ये प्रतिक्रमण आदि क्रियायें मुनियों की ही हैं न कि श्रावकों की।

इन्हीं गाथाओं की टीका में जयसेन आचार्य कहते हैं—

"प्रतिक्रमण दो प्रकार का है—एक अज्ञानीजन आश्रित और दूसरा ज्ञानीजन आश्रित। प्रथम भेद तो विषय कषाय की परिणतिरूप है और जो द्वितीय भेद है वह रत्नत्रय की एकाग्र परिणति रूप होने से त्रिगुप्ति समाधिरूप है, उसे ही निश्चय प्रतिक्रमण भी कहते हैं। सरागचारित्र-लक्षण शुभोपयोगी मुनि के लिए ये प्रतिक्रमण आदि क्रियायें अमृतकुंभ हैं और वीतरागी मुनि के लिए शुद्धोपयोगमय ध्यान में विषकुम्भ हैं। वहाँ तो अप्रतिक्रमण अर्थात् निश्चय प्रतिक्रमण आदि ही अमृतकुंभ हैं। यहा पर भी ऐसा समझना कि आज के मुनियों के लिये भी व्यवहार-प्रतिक्रमण ही प्रयोजनीभूत है।"

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह समयसार ग्रन्थराज उन महामुनियों के लिए ही है जो कि अपनी आवश्यक क्रियाओं में पूर्णतया सावधान हैं।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार की गाथा ३७० में तात्पर्यवृत्तिकार ने प्रश्नोत्तर उठा कर व्यवहारनय की महत्ता दर्शायी है—

"जीव से प्राण भिन्न हैं या अभिन्न? यदि अभिन्न है तो जैसे निश्चयनय से जीवों का विनाश नहीं हो सकता है वैसे ही उनसे अभिन्न उनके प्राणों का भी विनाश नहीं होगा पुन हिंसा कैसे होगी? यदि आप कहें कि जीव से प्राण भिन्न हैं तब तो प्राणों के घात होने पर भी जीव का क्या बिगडेगा और तब भी हिसा नहीं होगी?"

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—

"ऐसा नहीं है, क्योंकि काय आदि प्राणों का जीव के साथ कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद है। तपाये हुए लोहे के गोले के समान वर्तमान में जीव से प्राणों को पृथक् करना शक्य नहीं है इसलिए व्यवहारनय से अभेद है। मरणकाल में कायादि प्राण जीव के साथ नहीं जाते हैं इसलिए निश्चयनय से भेद भी है।"

यदि एकांत से ही भेद मान लिया जावे तो जैसे पर के शरीर का छेदन-भेदन करने पर भी आपको दुख नहीं होता है वैसे ही अपने शरीर का छेदन-भेदन करने पर भी दुख नहीं होना चाहिए किन्तु वैसा तो नहीं है, वैसा मानने में तो प्रत्यक्ष से विरोध आता है।

पुन: शंकाकार कहता है कि—

"फिर भी व्यवहार से हिंसा हुई न कि निश्चय से?"

तो आचार्य भी उत्तर देते है कि—

"सत्य ही कहा है आपने, व्यवहार से ही हिंसा है। वैसे ही पाप भी और नरक आदि दु:ख भी व्यवहार से ही होते हैं यह बात हमें मान्य ही है। यदि वे नरक आदि दु:ख आपको इष्ट हैं तब हिंसा करिये। यदि उन दु:खों से भीति है तब छोड दीजिये।"

उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यवहारनय का कथन कितना सच है और वह कितना उपयोगी है।

आगे गाथा ३९४ की तात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्य कहते हैं—सौगत कहता है कि आपके यहाँ भी व्यवहार से ही सर्वज्ञ है तब आप लोग हमें क्यों दूषण देते हैं? तब आचार्य कहते हैं—

"आप सौगत आदि के मत में जैसे निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार झूठा है, वैसे ही व्यवहार रूप से भी व्यवहार सत्य नहीं है। किन्तु जैन मत में यद्यपि व्यवहारनय निश्चय की अपेक्षा से झूठा है फिर भी व्यवहार रूप से सत्य ही है।"

गाथा ३९९ की तात्पर्यवृत्ति टीका में कार्य-समयसार और कारण-समयसार का स्पष्टीकरण है। निश्चय कार्य-समयसार और व्यवहार कारण-समयसार है। केवलज्ञान आदि अनन्तचतुष्टय की व्यक्ति रूप कार्य-समयसार है। इस कार्य-समयसार के लिए कारणभूत कारण-समयसार है।

जो रत्नत्रय की एकाग्र परिणतिरूप अभेद रत्नत्रय होता है वह निश्चयकारण-समयसार है। जो कि कार्य-समयसार के लिए साक्षात् कारण है। तथा व्यवहार रत्नत्रय को भेद रत्नत्रय भी कहते हैं इसलिए यह भेद-रत्नत्रय व्यवहार-कारण-समयसार है और यह निश्चयकारण समयसार के लिए कारण है। आज के युग में यह भेदरत्नत्रय ही संभव है।

इस समयसार के उपसंहार में भगवान कुंदकुंददेव शरीराश्रित लिंग के प्रति ममत्व छुडाते हुए कहते हैं कि—

"सागार या अनगार लिंग मोक्षमार्ग नहीं हैं किन्तु रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है।" पुन दोनों नयों की उपादेयता दिखलाते हुए कहते हैं—

"व्यावहारिक जन दोनों ही लिंग को मोक्षमार्ग में स्वीकार करते हैं किन्तु निश्चयनय मोक्षमार्ग में किसी भी लिंग को स्वीकार नहीं करता है।"

इस गाथा की टीका में अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

"य: खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंगं मोक्षमार्ग इति प्ररूपणप्रकार: स केवलं व्यवहार एव।...... यदेव

श्रमणश्रमणोपासकविकल्पातिक्रान्तं दृशिज्ञप्तिवृत्तप्रवृत्तिमात्रं शुद्धज्ञानमेवैकमिति निस्तुषसंचेतनं परमार्थः।"

मुनि और उपासक के भेद से दोनों प्रकार का द्रव्य वेष मोक्षमार्ग है कहना केवल व्यवहार है। जो श्रमण और उपासक के विकल्प से परे दर्शनज्ञान और चारित्र की एकाग्र परिणतिरूप शुद्धज्ञान ही एक है, ऐसा निर्विकल्प अनुभव है वह परमार्थ मार्ग है।

तात्पर्यवृत्तिकार ने और भी स्पष्ट कर दिया है—

"हे शिष्य। इन सात गाथाओं से द्रव्यलिंग का निषेध ही कर दिया है ऐसा तुम मत समझो, किन्तु निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधि रूप जो भावलिंग है उनसे रहित मुनियों को संबोधन किया है। हे तपोधन मुनियो। तुम द्रव्यलिंग मात्र से ही संतोष मत करो। किन्तु द्रव्यलिंग के आधार से निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समधिरूप भावना करो। यहाँ पर द्रव्यलिंग का आधारभूत जो शरीर है उसके ममत्व का निषेध किया है न कि द्रव्यलिंग का। क्योंकि दीक्षा के समय संपूर्ण परिग्रह का तो त्याग कर दिया है किन्तु शरीर का त्याग नहीं किया है। कारण यह शरीर ही ध्यान और ज्ञान के अनुष्ठान का हेतु है। तथा शेष परिग्रह के समान शरीर को पृथक् करना शक्य भी तो नहीं है।"

वीतराग, निर्विकल्प ध्यान के समय यह मेरा शरीर है, मैं मुनिलिंगी हूँ इत्यादि विकल्प नहीं करना चाहिए।

देखो। धान के बाहर का तुष विद्यमान रहने पर भी भीतर की लालिमा को दूर करना शक्य नहीं है और आभ्यंतर की लालिमा के दूर कर देने पर बहिरंग का तुष नियम से निकल ही जाता है। इसी प्रकार से संपूर्ण परिग्रह के त्यागरूप बहिरंग द्रव्यलिंग के होने पर भावलिंग होता है, नहीं भी होता है। किन्तु आभ्यंतर का भावलिंग होने पर, सर्वपरिग्रहत्याग रूप द्रव्यलिंग होगा ही होगा। इसलिए भावलिंग के लिए यह द्रव्यलिंग सहकारी कारण है ऐसा समझना।

इस प्रकार से समयसार में अनेक गाथाओं में व्यवहारनय की उपयोगिता दिखलाई है। टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी व्यवहारनय की महत्ता पर जोर दिया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि शुद्धोपयोग में पहुँचने के पहले-पहले व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। जयसेनाचार्य ने तो सरल शब्दों में ही कह दिया है कि निर्विकल्प समाधि में स्थित होने के पहले तक व्यवहारनय का ही अवलम्बन लेना होता है जहाँ तक कि सरागचारित्र है।

समयसार के अधिकारी कौन हैं?

समयसार ग्रन्थ में 'मुनि' 'साधु' और 'यति' शब्द जिन जिन गाथाओं में आये हैं उनको यहाँ दे रहे हैं।

जीवाधिकार में निम्नलिखित ६ गाथायें आई हैं—

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि॥
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावदि, अचिरेण कालेण॥२॥

—जो मुनि नित्य ही उद्यमशील होते हुए इस आत्म-भावना को करते हैं वे थोड़े ही काल में संपूर्ण दुखों से छूट जाते हैं।

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चैव णिच्छयदो॥१६॥

—साधु को दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का नित्य ही सेवन करना चाहिए। पुन निश्चयनय से ये तीनों ही आत्मस्वरूप हैं अत आत्मा की सेवा-आराधना करनी चाहिए।

भावार्थ—साधु को व्यवहारनय से भेद रत्नत्रय की उपासना करनी चाहिए और निश्चयनय से इन तीनों रूप अपनी शुद्ध आत्मा का आश्रय लेना चाहिए।

इणमण्ण जीवादो देहं पुग्गलमय थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु सथुदो वंदिदो मए केवली भयव॥३३॥

—जीव से अन्य इस पुद्गलमय देह की स्तुति करके मुनि ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान की स्तुति व वंदनाकर ली है।

भावार्थ—"द्वौ कुन्देंदुतुषारहारधवलौ" दो तीर्थंकर चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त कुन्दपुष्प, चन्द्रमा, बर्फ या हार के समान धवल वर्ण वाले हैं—इत्यादि रूप से तीर्थंकरों के वर्ण शरीर की अवगाहना, जन्मकल्याणक आदि दिवस अथवा निर्वाणभूमि की वदना, स्तुति करके मुनि भी ऐसा मान लेते हैं कि मैंने तीर्थंकर केवली भगवान की स्तुति वदना कर ली है। यह सब व्यवहारनय की अपेक्षा ठीक है।

जो इंदिए जिणित्ता णाणसहावाधिय मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू॥३६॥

—जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण आत्मा का अनुभव करते हैं, उन्हें निश्चयनय के ज्ञाता साधु जितेन्द्रिय (मुनि) कहते हैं। वे जितेन्द्रिय मुनि आठवें, नवमें गुणस्थानवर्ती शुक्लध्यानी ही विवक्षित हैं क्योंकि वहीं पर निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान है। .

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति॥३७॥

—जो मोह को जीतकर ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण अपनी आत्मा का अनुभव करते हैं परमार्थ के ज्ञाता गणधरदेव आदि उन्हें जितमोह साधु कहते हैं। ये जितमोह मोह को पूर्णतया उपशांत कर देनेवाले ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती साधु ही होते हैं, ऐसा तात्पर्यवृत्तिकार ने कहा है।

जिदमोहस्स तु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं॥३८॥

—जितमोह साधु का जब मोह नष्ट हो जाता है, निश्चयविद् महामुनि तब उन्हें क्षीणमोह कहते हैं। यह कथन बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनियों की अपेक्षा है।

पुण्यपापाधिकार में दो गाथायें हैं

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तह्मि ट्ठिदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥१५९॥

—परमार्थ रूप जो समय है अर्थात् जो जीवात्मा है वह शुद्ध है, इन्द्रियों की सहायता से रहित होने से केवली है, ज्ञानी है। ऐसे इस परमार्थ रूप अपने स्वभाव में स्थित हुए मुनि ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। यहाँ निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा का स्वरूप केवलज्ञान रूप है। उसमें एकाग्रपरिणति रूप निर्विकल्प ध्यानी मुनि ही कर्मों को नष्ट कर निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्ठंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि॥१५६॥

—विद्वान् साधु निश्चयनय के विषय को छोडकर व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं करते हैं क्योंकि परमार्थ का आश्रय लेने वाले यतियों के ही कर्मक्षय होता है।

भावार्थ—यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक या अव्रती निश्चयनय का आश्रय नहीं ले सकते हैं। संवर-अधिकार में एक गाथा आई है—

कोविदिदच्छो साहू सपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठत॥९९॥

—कौन ऐसा बुद्धिमान् साधु है जो कहता है कि वर्तमान काल में यह आत्मतत्त्व छद्मस्थ जीवों के प्रत्यक्ष हो जाता है अर्थात् इसका साक्षात् तो केवलज्ञान में ही होता है। हाँ, परोक्षरूप मानसज्ञान के द्वारा छद्मस्थ जीव भी उसका अनुभव करके प्रत्यक्ष कर लेते हैं।

निर्जरा-अधिकार में एक गाथा है—

जो कुणदि वच्छलत्त तिण्हं साधूण मोक्खमग्गम्मि।
तो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥२५१॥

—जो मोक्षमार्ग में चलने वाले तीनों साधुओं (आचार्य, उपाध्याय, साधु) के प्रति वात्सल्य भाव रखता है वह सम्यग्दृष्टि वात्सल्य अंग का धारी होता है।

बंधाधिकार में दो गाथायें हैं

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति॥२८८॥

—उपर्युक्त अध्यवसान भाव और इसी प्रकार के अन्य भी भाव जिनके नहीं हैं ऐसे मुनि ही शुभ और अशुभ कर्म से लिप्त नहीं होते हैं।

विशेषार्थ गाथा २६३ से लेकर हिंसा, अहिंसा आदि की व्याख्या की गई है। पुनः गाथा २७२, २७३ और २७४ में कहा है कि जीवों को दुखी करने, मारने आदि के भाव हिंसारूप हैं वे पापबंध के कारण हैं और जीवों को सुखी करने तथा जिलाने आदि के भाव पुण्य बंध के कारण हैं। आगे २७६-२७७ में कहते हैं कि ऐसे ही झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पापबंध के कारण हैं और सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पुण्यबंध के कारण हैं। पुन: इस २८८वीं गाथा में कहते हैं कि जिन शुद्धोपयोगी मुनि के ये व्रत अव्रत के भाव नहीं है प्रत्युत जो निश्चयचारित्र में परिणत हो चुके हैं ऐसे निर्विकल्प मुनि ही शुभ-अशुभ कर्मों से नहीं बँधते हैं।

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥२९१॥

इस प्रकार से निश्चयनय के द्वारा व्यवहार का प्रतिषेध हो गया है ऐसा जानो, क्योंकि निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनि ही निर्वाण का प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यहाँ पर भी स्पष्ट है कि जब तक सविकल्प अवस्था है तभी तक व्यवहारनय का आश्रय है। निर्विकल्प अवस्था में मुनि निश्चयनय का आश्रय लेकर निर्वाण प्राप्त करते हैं। अत: सातवें गुणस्थान तक व्यवहारनय का ही आश्रय है। पुनः चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक तो व्यवहार में ही है।

इस प्रकार से इन गाथाओं में मुनि, साधु और यति शब्दों के उल्लेख से स्पष्टतया झलकता है कि यह ग्रन्थ महामुनियों की चर्या से संबंधित है। तात्पर्यवृत्तिकार श्री जयसेनाचार्य ने लिखा है कि—

"अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्येति।"

अर्थात्—इस ग्रन्थ में पंचमगुणस्थान से ऊपर के गुण स्थान वाले वीतराग सम्यग्दृष्टियों को ही मुख्य रूप से ग्रहण किया है तथा सरागसम्यग्दृष्टियों को गौणरूप से ही लिया है।

यही बात श्री अमृतचन्द्रसूरि की १७१वीं गाथा की टीका में भी स्पष्ट है कि "यथाख्यातचारित्र के पहले कर्मबन्ध होता है।" और पहले जो कहा है कि सम्यग्दृष्टि के कर्मबन्ध नहीं माना है सो वहाँ पर उन्हें वीतराग सम्यग्दृष्टि की ही विवक्षा है ऐसा समझना चाहिए।

***

प्रवचनसार : एक उपयोगी शिक्षा-ग्रंथ

❑ डॉ प्रेमचन्द रांवका, जयपुर

श्रमणधारा के तत्त्व-चिन्तन के इतिहास में तीर्थंकर भगवान महावीर और उनके प्रमुख गौतम गणधर के पश्चात् प्रात· वन्दनीय कलिकालसर्वज्ञ श्री जिनचन्द्र-शिष्य श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य अध्यात्म-जगत् में भास्कर सदृश भासमान हैं, जिन्होंने दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शती में प्राकृतवाणी में यह सिद्ध किया कि कोई भी मानव परमतत्त्व का अनुभूत स्वर अपनी स्वानुभूति द्वारा प्राप्त कर सकता है। उनका यह शाश्वत उद्घोष है कि आत्मज्ञान से ही स्वानुभव हो सकता है।

अध्यात्म-ग्रन्थों के निर्माण में और आचार्यों की परम्परा में आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द को महान् श्रेय प्राप्त है। सभी दिगम्बर साधु अपने-आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का मानने में गौरव अनुभव करते हैं। परवर्ती ग्रन्थकारों एवं टीकाकारों के लिए आ. कुन्दकुन्द प्रेरणास्रोत रहे हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध (जिसमें आत्मा की संसारावस्था का वर्णन है) रूप आगम की रचना धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त भूतबली ने की। द्वितीय श्रुतस्कन्ध रूप परमागम (जिसमें आत्मा की शुद्धावस्था का चित्रण है) की रचना अन्तिम श्रुत-केवली भद्रबाहु के शिष्य आ. कुन्दकुन्द ने की।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों—पंचास्तिकायसंग्रह, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड, बारह अणुपेक्खा, दशभक्ति, रयणसार, और चौरासी पाहुडों में से प्रथम पांच ग्रन्थ सर्वप्रसिद्ध हैं। इनमें भी प्रथम तीन नाटकत्रय या प्राभृतत्रयी कहलाते हैं। आ. अमृतचन्द्र ने समयसार में जीव-अजीव तत्त्वों का संसाररूपी रंगभूमि में अपना-अपना अभिनय करने वाला निरूपित किया अत समयसार नाटक और ये तीनों ग्रंथ मिलकर नाटकत्रयी हैं। पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार—इन तीनों ग्रंथों का दिगम्बर परम्परा में वही स्थान है, जो वेदान्तियों के प्रख्यातत्रय उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता का उनकी परम्परा में है। वास्तव में ये तीनों ग्रंथ दर्शन, ज्ञान और चारित्र की रत्नत्रयी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथ-रत्नों में आत्मसाधना के विविध आयामों को सहज, सरल एवं प्रांजल शब्दों में प्रकट किया है जो अध्यात्म की आधारभूत शिला रही है और जिस पर अध्यात्म का भव्य प्रासाद अवस्थित हुआ है।

'प्रवचनसार' ग्रंथ आ. कुन्दकुन्द का ज्ञान-चारित्र-प्रधान आध्यात्मिक ग्रंथ है जो गृहस्थ-श्रावक और श्रमण दोनों के लिए अपरिहार्य है। इस ग्रन्थ में तीन श्रुतस्कन्धों में विभक्त, प्राकृत भाषा

में निबद्ध २७५ गाथाओं में ज्ञान-ज्ञेय की स्वतंत्रता एवं मुमुक्षु मुनियों के चारित्र का सांगोपांग वर्णन उपलब्ध है। आचार्यों, मुनियों एवं गृहस्थ श्रावकों में स्वाध्यायार्थ प्रिय इस ग्रंथ की संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में अनेक टीकाएं मिलती हैं, जिनसे आत्म-जिज्ञासु एवं दीक्षार्थी साधकों के लिए अभीष्ट मार्गदर्शन प्राप्त होता है।

बीसवीं शती के 'तत्त्वदीपिका' टीकाकार आ. अमृतचन्द्र जी ने प्रवचनसार की गाथाओं को तीन भागों में विभक्त किया है। प्रारंभिक ५२ गाथाएँ 'ज्ञान तत्त्व प्रज्ञापन' में ५३ से २०० तक गाथाएँ 'ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन' में और २०१ से २७५ तक की गाथायें 'चरणानुयोग चूलिका' में समाविष्ट की हैं। जब कि जयसेनाचार्य ने अपनी 'तात्पर्यवृत्ति' में प्रवचनसार को क्रमश सम्यक् ज्ञानाधिकार, सम्यक् दर्शनाधिकार एवं सम्यक् चारित्राधिकार शीर्षकों से विभक्त किया है। ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन में सर्वज्ञता के स्वरूप का, जीव के ज्ञानानन्द स्वभाव का, ज्ञान और सुख का अनुपम निरूपण है। ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का स्वरूप, भेद-विज्ञान (स्व-पर का), द्रव्यानुयोग का सत्व समझाकर जिनशासन के मौलिक सिद्धान्तों को सिद्ध किया है। चरणानुयोग चूलिका में चारित्र के स्वरूप का प्रतिपादन, मोक्षमार्गस्थ मुनि की अन्तर-बाह्य क्रियाओं का निरूपण हुआ है।

आ. कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा 'प्रवचनसार' की रचना सुव्यवस्थित है, जिसमें विषय-वस्तु का निरूपण क्रमश प्रवर्तमान होता है। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसमें ग्रथकार मात्र रचना ही नहीं करता, अपितु आत्मज्ञान-पिपासुओं की सहज उत्पन्न होने वाली जिज्ञासाओं एवं शंकाओं की पूर्व-कल्पना करके यथास्थान समाधान भी करता चलता है। जैनाचार्यों की जन-सामान्य के उपयोगार्थ अपने समय की प्रचलित लोक-भाषा में ग्रन्थ-रचना की जो परम्परा मिलती है उसका उत्स आ. कुन्दकुन्द की वाणी में अभिप्रेत है। यही कारण है कि आ. कुन्दकुन्द का यह ग्रन्थ आध्यात्मिक, दार्शनिक होते हुए भी सहज ही सर्वजनोपयोगी शिक्षा-ग्रन्थ बन गया है, जो पाठक की रुचि को पुन पुन स्वाध्यायार्थ जागृत करता है। जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तु-व्यवस्था के स्वरूप को जानने के लिए आ. कुन्दकुन्द देव की यह कृति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं अत्यन्त उपयोगी है।

आत्मज्ञान के लिए आगम-ज्ञान की आवश्यकता

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार ग्रंथ में पदे-पदे आगमज्ञान की आवश्यकता प्रतिपादित की है। उनका कथन है कि जब तक पदार्थों का निश्चय न हो कोई पुरुष एकाग्र होकर श्रेयस् की उपलब्धि नहीं कर सकता। एकाग्रता वही प्राप्त कर सकता है जिसे पदार्थों का निश्चय हो गया है। जो एकाग्र है, वही श्रमण है। पदार्थों का निश्चय आगमशास्त्रों के स्वाध्याय से होता है, अतएव सर्व प्रथम आगम-ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। शास्त्रज्ञानहीनपुरुष

पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता। पदार्थ के निश्चय बिना, मनुष्य स्व-पर का, आत्मा-अनात्मा का स्वरूप नहीं समझ सकता और जब तक स्व-पर का विवेक या भेद-ज्ञान न हो तब तक कर्मों का नाश संभव नहीं। अतएव इन सबके मूल में आगम ग्रन्थों का स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है।

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा॥३-३२॥

अर्थात् श्रमण एकाग्रवान होता है, एकाग्रता पदार्थों में निश्चय से होती है। पदार्थों का निश्चय आगम से होता है, अत आगम चेष्टा ही श्रेष्ठ है।

.आगमहीणो समणो णेवप्पाण पर वियाणादि।
अविजाणतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू॥३-३३॥

—आगम-ज्ञान-हीन श्रमण न अपना स्वरूप जानता है और न पर का ही। जिसे स्व-पर का भेद-ज्ञान नहीं वह कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है।

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवाय ओहि चक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खु॥३-३४॥

—साधु! श्रमणों के आगम चक्षु हैं, सामान्य जीवधारियों की तो इन्द्रियां चक्षु होती हैं। देवों के अवधिज्ञान चक्षु हैं, और सिद्धों के सर्वत्र चक्षु हैं, क्योंकि सिद्ध सर्वज्ञ हैं, उनके लिए सब पदार्थ हस्तामलकवत् है।

सव्वे आगमसिद्धा अत्थागुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता तेवि ते समणा॥ ३-३५॥

—समस्त पदार्थों का गुण-पर्याय सहित ज्ञान आगम में है। श्रमण आगम से ही उन्हें देख एवं जान सकता है।

स्वाध्याय से ज्ञान होने पर, पदार्थ का निश्चय होने पर श्रद्धा का होना आवश्यक है। आगम पढ़ने पर भी यदि तत्त्वार्थ में श्रद्धा न हो तो मुक्ति नहीं मिल सकती। साथ ही, श्रद्धा के साथ यदि तदनुकूल सयमाचरण नहीं होता है तो भी निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। आ. कुन्दकुन्द कहते हैं—

आगमपुव्वा दिट्ठी भवदि जस्सेह संयमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो॥ ३-३६॥

—आगमपूर्वक जिसकी दृष्टि नहीं होती है, उसके लिए संयमाचरण संभव नहीं है और असंयमी श्रमण कैसे हो सकता है?

णहि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।

सद्दहमाणो अत्थे असंजदा वा ण णिव्वादि ॥३-३७॥

—यदि तत्त्वार्थ में श्रद्धा नहीं तो आगम ज्ञान मात्र में सिद्धि संभव नहीं है और मात्र श्रद्धा से असंयमी को निर्वाण नहीं मिल सकता।

परमाणु पमाणं वा मुच्छादेहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि॥ ३-३९॥

—जिसे देहादि में अणु मात्र भी आसक्ति है, वह समस्त आगमों का पारगामी होने पर भी सिद्धि-लाभ नहीं कर सकता।

'सच्चे श्रमण' की व्याख्या में आ. कुन्दकुन्द कहते हैं—

पंच समिदो तिगुत्तो पंचेंदिय संवुडो जिद-कसाओ।
दंसण-णाण-समग्गो समणो सो संजदो भणिदो॥ ३-४०॥

—जो पाँच समितियों, तीन गुप्तियों से सुरक्षित है, जिसकी पंचेन्द्रियां नियंत्रित हैं, जिसने कषायों को जीत लिया है, जो दर्शन, ज्ञान से समर्थ है वह संयमी श्रमण कहा जाता है।

सम-सत्तु-बंधुवग्गो सम सुहदुक्खो पसंस-णिदसमो।
सम लोट्ठु-कंचणो पुण जीविद-मरणे समो समणो॥ ३-४१॥

—सच्चा श्रमण शत्रु-मित्र, सुख-दुख, निन्दा-प्रशंसा, मिट्टी-कंचन और जीवन-मरण में समबुद्धि वाला होता है।

दंसण णाण चरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जोदु।
एयग्ग गदोत्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्ण। ३-४२॥

—दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जो एक साथ प्रयत्नशील है और एकाग्रयुक्त है, उसकी ही श्रमणता परिपूर्ण है।

आचार्य कुन्दकुन्द बन्धन और मोक्ष के विषय में कहते हैं—जो पदार्थ से मोह, राग व द्वेष करता है, वह विविध कर्मों का बन्ध करता है, परन्तु—

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि।
समणो जदिसो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि॥ ३-४४॥

—पर-पदार्थों में जो न मोह करता है न राग करता है और न द्वेष करता है, वह श्रमण निश्चय ही विविध कर्मों का क्षय करता है।

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि॥ ३-३०॥

—बालक हो, वृद्ध हो, थका हुआ हो, या रोगग्रस्त हो तो भी श्रमण अपनी शक्ति के अनुसार

ऐसा आचरण करे, जिससे मूल संयम का छेद न हो।

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टाद जदि अप्पलेवी सो॥ ३-३१ ॥

—आहार और विहार के विषय में श्रमण यदि देश, काल, श्रम, शक्ति और अवस्था का विचार करके आचरण करे तो उसे कम से कम बंध होता है।

अहिंसा

अहिंसा के विषय में आ. कुन्दकुन्द की बडी सूक्ष्म दृष्टि है। सोते, बैठते और चलते-फिरते आदि सभी स्थितियों में मुनि की जो सावधानी रहित प्रवृत्ति है वही हिंसा है, क्योंकि—

मरदु वा जीवदु जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बधो, हिंसामेत्तेण समिदस्सु॥ ३-१७॥

अर्थात् जीव मरे या न मरे फिर भी प्रमादपूर्वक आचरण करने वाले के निश्चय ही हिंसा का पाप लगता है, परन्तु जो साधक अप्रमादी है उससे यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करने पर भी अगर जीववध हो जाय तो भी उसे हिंसा का पाप नहीं लगता।

अदयाचारो समणो छस्सु वि कायेसु बंधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमल जले णिरुवलेवो।

अर्थात् जे श्रमण अत्यन्त (असावधानी) के साथ प्रवृत्ति करता है उसके द्वारा एक भी जीव न मरने पर भी उसे छहों जीव-वर्गों की हिंसा का पाप लगता है। यदि वह सावधानी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता है तो उसके द्वारा जीव-हिंसा हो जाने पर भी वह जल में कमल की भांति निर्लेप रहता है।

परिग्रह-त्याग

आ. कुन्दकुन्द ने श्रमण के लिए पूर्ण परिग्रह-त्याग पर विशेष बल दिया है। अपनी कायचेष्टा द्वारा जीव-हिंसा होने पर बन्ध हो या न हो, आवश्यक नहीं, परन्तु परिग्रह में निश्चय ही बन्ध होता है। इसीलिए श्रमण सर्व-त्यागी होता है। जब तक निरपेक्ष भाव से सर्व परिग्रह का त्याग नहीं किया जाता, उसकी चित्त शुद्धि नहीं हो सकती और जब तक चित्त अशुद्ध है तब तक कर्मों का क्षय कैसे? परिग्रह करने वालों में आसक्ति और असंयम होता है और पर-पदार्थो में आसक्ति आत्म-साधना में बाधक है (प्रवचनसार ३-१९-२१)। श्रमण के केवल देह का ही परिग्रह है, लेकिन देह में भी उन्हें ममता नहीं है। अपनी शक्ति के अनुसार श्रमण तप में ही देह का प्रयोग करते हैं।

सेवाभक्ति

आ. कुन्दकुन्द के 'प्रवचनसार' में श्रमण और श्रावक के लिए सेवाभक्ति शुभ भाव का कारण है, परन्तु वह भी बन्ध के अधीन है। अर्हन्त आदि की भक्ति और समस्त आचार्य आदि के प्रति वात्सल्य भाव शुभ है। सन्त पुरुषों को वन्दन, नमस्कार, उनका विनय, आदर, अनुसरण, दर्शन, ज्ञान का उपदेश, जिनेन्द्र अर्चना, अन्य जीवों को किसी प्रकार की बाधा पहुँचाये बिना चतुर्विध श्रमण संघ की निष्काम सेवा करना, श्रमण और श्रावक के लिये शुभभावयुक्त कल्याणकर है। अपने आत्मस्वरूप को सुरक्षित रखते हुए, कर्म-बन्धनों को करते हुए सावधानीपूर्वक सेवाभक्ति परम सौख्य का कारण है। वैसे शुभ भाव का राग भी पात्र विशेष में विपरीत फल देता है। समान बीज भी भूमि की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न रूप में परिणत होता है। जिन्हें परमार्थ का ज्ञान नहीं है, और जिनमें विषय-कषाय की अधिकता है ऐसे लोगों को भी दान देना आदि सेवा के फलस्वरूप हल्के मनुष्य-भव की प्राप्ति होती है (३-४५-५)।

विनय

विनय के प्रसंग में आ. कुन्दकुन्द का कथन है कि शास्त्रज्ञान में निपुण तथा संयम, तप और ज्ञान से परिपूर्ण श्रमणों का दूसरे श्रमण खडे होकर आदर करें, उनकी उपासना करें और नमन करें, अन्यथा चारित्र नष्ट होता है। अपने को अधिक गुणवान् से विनय की आकाक्षा रखना अनन्त संसार का कारण है (३-६१-७३)। 'प्रवचनसार' में २७१ से २७५ तक की अन्तिम पांच गाथाएं पंच रत्नों से अभिहित है, इनमें मुनिजनों को ही मोक्षतत्त्व का साधन माना गया है। वही पुरुष मोक्ष रूप सुमार्ग का भागी हो सकता है, जो पापकर्मो से उपरत को गया है, सब धर्मों में समभाव रखता है और जो गुणसमूह को सेवन करता है। अशुद्ध भावों से हटकर शुद्ध या शुभ भाव में प्रवृत्त पुरुष लोक को तार सकते हैं। उनकी सेवा करने वाला अवश्य ही उत्तम स्थान का भागी है (३-६७)।

सर्वान्त में मंगल आशीष है कि जो व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान के प्रवचनों के सार इस प्रवचनसार ग्रन्थ को समझेगा वही प्रवचनसार के सार शुद्धात्मा को अवश्य प्राप्त करेगा। आ कुन्दकुन्द के शब्दों में—

> सुद्धस्स सामण्णं भणिदं सुद्धस्स य दंसणं णाणं
> सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स॥

इस प्रकार आ. कुन्दकुन्द ने जहाँ अध्यात्म-दर्शन को जीवंतता प्रदान की वहीं उन्होंने पदे-पदे श्रमणों एवं श्रावकों को अप्रमत्त जीवन से सावधान भी किया है। वस्तुत 'प्रवचनसार' मोक्षमार्ग में प्रवृत्त श्रावक-श्राविकाओं, श्रमण-श्रमणियों के लिए एक बहुत ही उपयोगी शिक्षा-ग्रंथ है।

प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्र एवं जयसेन कृत टीकाएँ

❑ डॉ रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के महान् आचार्य हुए हैं। उनके प्रादुर्भाव के बाद दिगम्बर परम्परा अपने को कुन्दकुन्दाम्नायी कहने में गौरव का अनुभव करती है। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय प्राभृतत्रय के नाम से प्रसिद्ध हैं, इन पर अनेक टीकायें लिखी गई हैं जिनमें आचार्य अमृतचन्द्र एवं जयसेनाचार्य की टीकायें विशेष प्रसिद्ध हैं। दोनों आचार्यों की टीकायें अपनी-अपनी विशेषताओं को लिए हुए हैं। आचार्य अमृतचन्द्र की टीका गूढ और क्लिष्ट सस्कृत में लिखी गई है। उनकी भाषा प्रौढ़ है। उनके कलश पद्यों को पढकर काव्य जैसा आनन्द आता है। उनके गद्य की छटा भी अनूठी है। आध्यात्मिक विषय को लेकर भावों और भाषा की जो प्रौढता उनकी रचनाओं में प्राप्त होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आचार्य जयसेन की टीकाओं की यह विशेषता है कि उन्होंने गाथाओं में आगत प्राय प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति अथवा लक्षण दिया है और उसे सरल सस्कृत में समझाया है। अत संस्कृत भाषा के अपेक्षाकृत कम जानकार को भी उनकी टीकाओं को पढ़कर ग्रन्थ को समझने में मदद मिलती है। कहीं कहीं शङ्का-समाधान देकर विषय को और अधिक स्पष्ट किया गया है। जयसेनाचार्य ने आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा दिए गए अनेक उदाहरणों को अपनाने के साथ अपने निजी उदाहरण भी दिए हैं। इस निबन्ध में प्रवचनसार के आधार पर उपर्युक्त दोनों आचार्यों की टीका पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

'प्रवचनसार की गाथा ५ की टीका में, साम्य का अभिप्राय वीतराग चारित्र ग्रहण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि सरागचारित्र पुण्यबन्धन का कारण है और मोक्ष का परम्परा कारण होने पर भी, साक्षात् कारण न होने से उसकी उपेक्षा कर साम्य नाम से प्रसिद्ध एक वीतराग चारित्र को उपादेय बनाया है, कारण कि परमानन्द स्वरूप मुक्ति का साक्षात् कारण वही है।

इसी गाथा की टीका में जयसेनाचार्य ने दर्शनज्ञानप्रधान आश्रम को मठ चैत्यालयादि व्यवहार आश्रम से विलक्षण भावाश्रम (प्रधानाश्रम) कहा है। तत्पूर्वक आयात भी सरागचारित्र पुण्यबन्ध का कारण है, अत उसका परिहार कर निश्चल शुद्धात्मानुभूति स्वरूप वीतराग चारित्र का आश्रय लिया है।

गाथा ६ की टीका में आचार्य जयसेन ने यह शङ्का उठायी है कि असुरों के मध्य में सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न होता है। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि निदान करने के भाव से

सम्यक्त्व की विराधना करके यह जीव भवनत्रिक में उत्पन्न होता है।

यहाँ निश्चय नय से वीतराग चारित्र की उपादेयता तथा सरागचारित्र को हेय कहा है।

गाथा ७ में 'समो' शब्द का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र ने साम्य किया है। जबकि जयसेनाचार्य ने इसका अर्थ शम किया है। यहाँ शुद्ध आत्मश्रद्धान रूप सम्यक्त्व के विनाशक दर्शनमोह को मोह तथा निर्विकार निश्चल चित्तवृत्ति रूप चारित्र के विनाशक चारित्रमोह को क्षोभ कहा है।

गाथा ८ में आचार्य जयसेन ने धर्म के दो भेद किए हैं। १—निश्चयधर्म और २—व्यवहार धर्म। निज शुद्ध आत्म परिणति रूप निश्चयधर्म है और पञ्च परमेष्ठी आदि भक्तिपरिणाम रूप व्यवहारधर्म है।

आचार्य जयसेन ने गाथाओं की व्याख्या करते हुए कहीं-कहीं आगम और कहीं कहीं अध्यात्म दोनों शैलियों को अपनाया है। गाथा ८ की व्याख्या में रागादि विकल्प से रहित स्वसंवेदन ज्ञान को अथवा आगम भाषा में शुक्लध्यान को केवलज्ञान की उत्पत्ति में शुद्ध उपादान कारण कहा है। इसकी गाथा २१ की टीका में विस्तृत व्याख्या की है। आदि और अन्त रहित। बिना किसी उपादान कारण के सत्ता रखने वाले तथा चैतन्य और आनन्दमयी स्वभाव के धारी अपने शुद्ध आत्मा को उपादेय अर्थात् ग्रहण योग्य समझकर केवलज्ञान की उत्पत्ति का बीजभूत, जिसको आगम की भाषा में शुक्लध्यान कहते हैं, होने से रागादि विकल्पों के जाल से रहित स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा जब यह आत्मा परिणमन करता है, तब स्वसंवेदन ज्ञान के फलस्वरूप केवलज्ञानमयी ज्ञानाकार में परिणमन करने वाले केवली भगवान के उसी ही क्षण में जब केवलज्ञान पैदा होता है, तब क्रम-क्रम से जानने वाले मतिज्ञानादि ज्ञान के अभाव से बिना क्रम के एक साथ सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल सहित सर्व द्रव्य, गुण और पर्याय प्रत्यक्ष प्रतिभासमान हो जाते हैं।

गाथा ८१ की टीका में कहा है कि द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूप अरहंत परमात्मा को पहले जानकर फिर निश्चय नय से उसी द्रव्य, गुण, पर्याय को आगम की सारभूत जो अध्यात्मभाषा है उसके द्वारा अपने शुद्ध आत्मा की भावना के सम्मुख होकर अर्थात् विकल्परहित स्वसंवेदन ज्ञान में परिणमन करते हुए अधकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण नाम के परिणामविशेषों के बल से जो विशेषभाव दर्शनमोह के अभाव करने में समर्थ है, अपने आत्मा में जोडता है। उसके पीछे निर्विकल्प स्वरूप की प्राप्ति के लिए जैसे पर्याय रूप से मोती के दाने, गुण रूप से सफेदी आदि अभेदनय से एकहार रूप ही मालूम होते हैं, जैसे पूर्व में कहे हुए द्रव्य, गुण, पर्याय अभेदनय से आत्मा ही है, इस तरह भावना करते करते दर्शनमोह का अन्धकार नष्ट हो जाता है।

गाथा ९९ की टीका में कहा गया है—परमात्मा द्रव्य का अपने केवल ज्ञानादिगुण और सिद्धत्व (यहाँ अरहन्तपने से तात्पर्य है) आदि पर्यायों में अपने आत्मा की प्राप्ति रूप उत्पाद, उसही समय में परमागम की भाषा में एकत्ववितर्क अवीचार रूप दूसरे शुक्लध्यान का या शुद्ध उपादान रूप सर्व रागादि के विकल्प की उपाधि से रहित स्वसंवेदन ज्ञान पर्याय का नाश तथा

उसी समय इन दोनों उत्पाद व्यय के आधारभूत परमात्मद्रव्य का केवलज्ञान आदि गुण व सिद्धत्व आदि पर्यायरूप स्वभाव है।

आगम और अध्यात्म के अर्थ को स्पष्ट करते हुए गाथा २३२ की टीका में कहा है कि जीवादि पदार्थों का निश्चय आगम के द्वारा होता है। अर्थात् जिस आगम में जीवों के भेद तथा कर्मों के भेदादि का कथन हो उसी आगम के अभ्यास से पदार्थों का निश्चय होता है। केवल पढ़ने का ही अभ्यास न करें किन्तु आगमों में सारभूत जो चिदानन्द एक परमात्मतत्त्व का प्रकाशन अध्यात्मग्रन्थ है व जिसके अभ्यास से पदार्थ का यथार्थज्ञान होता है, उसका मनन करें। इस कारण आगम तथा परमागम में उद्योग श्रेष्ठ है।

गाथा २३३ में आगम तथा अध्यात्म को ज्ञान बिना जीव की स्थिति का खुलासा किया है—गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, गतिमार्गणा, इन्द्रियमार्गणा, कायमार्गणा, योगमार्गणा, वेदमार्गणा, कषायमार्गणा, ज्ञानमार्गणा, संयममार्गणा, दर्शनमार्गणा, लेश्यामार्गणा, भव्यमार्गणा, सम्यक्त्वमार्गणा, संज्ञिमार्गणा, आहार और उपयोग इन बीस मार्गणाओं को जिसने नहीं जाना तथा आगम के सारभूत अध्यात्म शास्त्र को जिसने नहीं जाना, वह पुरुष रागादि दोषों से रहित तथा अव्याबाध सुख आदि गुणों के धारी अपने आत्मद्रव्य को भावकर्म के वाच्य राग-द्वेषादि नाना प्रकार के विकल्प जालों से वास्तव में भिन्न नहीं जानता है और न कर्मरूपी शत्रु के विध्वंस करने वाले अपने ही परमात्म तत्त्व को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों से जुदा मानता है। और न अशरीरीशुद्ध आत्म पदार्थ को शरीरादि नोकर्मों से भिन्न समझता है। इस तरह भेद ज्ञान के न होने पर उसकी भावना सर्वरागादि के त्याग की होती है, ऐसी स्थिति में उसके कर्म का क्षय कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

गाथा ९ में आचार्य कुंदकुंद ने तथा उसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि शुभ एवं अशुभ भाव के परिणमन से आत्मा क्रमश शुभ तथा अशुभ एव शुद्ध भाव से शुद्ध हो जाता है। इसकी इस प्रक्रिया को आचार्य जयसेन ने और अधिक स्पष्ट किया है तथा इन भावों का गुणस्थानों की अपेक्षा वर्गीकरण किया है। यह जीव स्वभाव से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव होने पर भी व्यवहार करके गृहस्थ अपेक्षा यथासभव राग सहित सम्यक्त्वपूर्वक दान-पूजा आदि शुभ कार्यों के करने से तथा मुनि की अपेक्षा मूल व उत्तर गुणों को अच्छी तरह पालन रूप वर्तने में परिणमन करने से शुभ है। मिथ्यादर्शन सहित अविरति, प्रमाद एवं कषायभाव व मन-वचन-काय योगों के हलन-चलन रूप भाव ऐसे पाँच कारण रूप अशुभोपयोग में वर्तन करता हुआ अशुभ जानना योग्य है तथा निश्चय रत्नत्रयमय शुद्ध उपयोग से परिणमन करता हुआ शुद्ध जानना चाहिए। इसका प्रयोजन यह है कि सिद्धान्त में जीव के असंख्यात लोकमात्र परिणाम मध्यम वर्णन की अपेक्षा मिथ्यादर्शन आदि १४ गुणस्थान रूप कहे गए हैं। प्रवचनसार में उन्ही गुणस्थानों को संक्षेप से शुभ, अशुभ तथा शुद्ध उपयोग रूप में कहा गया है। मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से कमती कमती अशुभोपयोग है। इसके

पीछे असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत ऐसे तीन गुणस्थानों में तारतम्य से शुभोपयोग है। इसके पीछे अप्रमत्त से लेकर क्षीणकषाय तक छ गुणस्थानों में तारतम्य से शुद्धोपयोग है। उसके पीछे सयोगिजिन और अयोगिजिन इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है।

गाथा १० की टीका में जयसेनाचार्य ने धर्म शब्द के अनेक अर्थ ग्रहण किए हैं—

१—अहिंसा लक्षण धर्म,

२—सागार तथा अनगार धर्म,

३—उत्तमक्षमादि रूप धर्म,

४—रत्नत्रयात्मक धर्म,

५—मोह और क्षोभ से रहित आत्मपरिणाम,

६—शुद्ध वस्तुस्वभाव।

यही धर्म अन्य पर्याय से अर्थात् चारित्रभाव की अपेक्षा चारित्र कहा जाता है।

गाथा १५ की टीका में आचार्य जयसेन ने शुद्धोपयोग से सर्वज्ञ होता है, इस बात को आगम भाषा के द्वारा इस प्रकार समझाया है—

पृथक्त्ववितर्कविचार नामके पहले शुक्लध्यान से पहले सब मोह को नाश करके फिर पीछे रागादि विकल्पों की उपाधि से शून्य स्वसंवेदन लक्षणमय एकत्ववितर्क अवीचार नामक दूसरे शुक्लध्यान के द्वारा क्षीणकषाय गुणस्थान के अन्त समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों को एक साथ नाश करता है, वह तीन जगत, तीन काल की समस्त वस्तुओं के भीतर रहे हुए अनन्त स्वभावों को एक साथ प्रकाशने वाले केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

आचार्य जयसेन ने आचार्य कुंदकुंद की गाथाओं की निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से स्थान-स्थान पर व्याख्या की है। उदाहरणार्थ, गाथा १९ में आचार्य कुंदकुंद ने कहा है कि स्वयंभू आत्मा ज्ञान और सुख रूप परिणमन करता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसी का ही विश्लेषण किया है, किन्तु आचार्य जयसेन ने गाथा के विश्लेषण के साथ साथ निश्चय-व्यवहार उभयरूपेण व्याख्या की है—

आत्मा यद्यपि निश्चयनय से अनन्तसुख स्वभाव को रखने वाला है तब भी व्यवहार से संसार अवस्था में पडा हुआ है जब तक इसका केवलज्ञान और अनन्तसुख स्वभाव कर्मों से ढका हुआ है, तब तक पाँच इन्द्रियों के आधार से कुछेक अल्पज्ञान व कुछेक अल्पसुख में परिणमन करता है। फिर जब कभी विकल्प रहित स्वसंवेदन या निश्चल आत्मानुभव के बल से कर्मों का अभाव होता है, तब क्षायोपशमिक ज्ञान के अभाव होने पर इन्द्रियों के व्यापार नहीं होते हैं, तब अपने ही अतीन्द्रियज्ञान और सुख को अनुभव करता है; क्योंकि स्वभाव के प्रकट होने

में पर की अपेक्षा नहीं है।

ज्ञान को निश्चय और व्यवहार दोनों नयों से समझाते हुए गाथा ३४ की टीका में आचार्य जयसेन ने कहा है कि जैसे निश्चय से यह जीव शुद्ध, बुद्ध एकस्वभाव रूप है, पीछे व्यवहार नय से जीव नर, नारक आदि रूप भी कहा जाता है। वैसे ही निश्चय से ज्ञान सर्व वस्तुओं को प्रकाश करने वाला, अखण्ड एक प्रतिभास रूप कहा जाता है, वही ज्ञान व्यवहार नय से मेघ के पटल से आच्छादित सूर्य की अवस्था विशेष की तरह कर्मपटल से आच्छादित अखण्ड एकज्ञान रूप होकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान आदि नाम वाला हो जाता है।

गाथा ३५ की टीका में कहा है कि जैसे घट की उत्पत्ति में मिट्टी का पिण्ड स्वयं उपादान कारण से परिणमन करता है, वैसे पदार्थों को जानने में ज्ञान स्वयं उपादान कारण से परिणमन करता है तथा व्यवहार नय से सब ही ज्ञेय पदार्थ ज्ञान में स्थित हैं। केवली भगवान परद्रव्य व उसकी पर्यायों को यद्यपि ज्ञानमात्रपने से जानते हैं, तथापि निश्चय से सहज ही आनन्दमयी एक स्वभाव के धारी अपने शुद्ध तन्मयीपने से ज्ञान किया करते हैं। वैसे निर्मल विवेकी मनुष्य भी यद्यपि व्यवहारनय से परद्रव्य व उसके गुण पर्याय का ज्ञान करते हैं तथापि निश्चय से विकार रहित स्वसंवेदना पर्याय में अपना विषय रखने से उसी पर्याय का ही ज्ञान या अनुभव करते हैं। (तात्पर्यवृत्ति टीका–गाथा-३९)

गाथा १३६ की टीका में जयसेनाचार्य ने सिद्धों तथा समस्त पदार्थों के स्थान को निश्चय एव व्यवहार दोनों नयों से समझाया है–

जैसे सिद्ध भगवान यद्यपि लोकाकाश प्रमाण अपने शुद्ध असंख्यात प्रदेशों में है, जो प्रदेश केवलज्ञान आदि गुणों के आधारभूत हैं तथा अपने स्वभाव में ठहरते हैं, तथापि व्यवहारनय से मोक्षशिला पर ठहरते हैं वैसे ही सर्व पदार्थ यद्यपि निश्चय नय से अपने स्वरूप में ठहरते हैं, तथापि व्यवहार नय से लोकाकाश में ठहरते हैं।

गाथा २४० का तात्पर्यवृत्ति टीका में आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयतत्व की युगपत्ता के साथ आत्मज्ञान की युगपत्ता को नयों की अपेक्षा सिद्ध किया गया है–

जो व्यवहार नय से पाँच समितियों से युक्त है, निश्चय से अपने आत्मा के स्वरूप में भले प्रकार परिणमन कर रहा है, जो व्यवहार नय से मन, वचन, काय को रोक करके त्रिगुप्त है, निश्चयनय से अपने स्वरूप में लीन है, जो व्यवहार से स्पर्शादि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से हट करके संवृत है, निश्चय से अतीन्द्रिय सुख के स्वाद में रत है जो व्यवहार से क्रोधादि कषायों को जीत लेने से जितकषाय है, निश्चयनय से अकषाय आत्मा की भावना में रत है, जो अपनी आत्मा के श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन तथा स्वसवेदन ज्ञान इन दोनों से युक्त गुणों का धारी है वही साधु संयमी है। इससे यह सिद्ध किया गया है कि व्यवहार में जो बाहरी पदार्थों के सम्बन्ध में व्याख्यान किया गया, उससे सविकल्प सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों को एक

साथ होना चाहिए। भीतरी आत्मा की अपेक्षा व्याख्यान से निर्विकल्प आत्मज्ञान लेना चाहिए। इस प्रकार सविकल्प दर्शन, ज्ञान, चारित्र की युगपत्ता तथा निर्विकल्प आत्मज्ञान घटित होते हैं।

गाथा २० की टीका में आचार्य जयसेन ने युक्ति और आगम के द्वारा केवली के कवलाहार का निषेध किया है। अनेक गाथाओं की टीका में आचार्य जयसेन ने अमृतचन्द्राचार्य कृत उदाहरणों को अपनाया है। उदाहरणार्थ– ज्ञान तो ज्ञेयों में स्थित होने से दाह्य में स्थित अग्नि की भाँति ज्ञेयों के बराबर है (तत्त्वप्रदीपिका—गाथा-२३) जैसे ईंधन में स्थित आग ईंधन के बराबर हैं, वैसे ही ज्ञान ज्ञेय के बराबर हैं। (तात्पर्यवृत्ति—गाथा-२३)

जैसे जोंकें विकार वाले खून में आसक्त हो जाती हैं, वैसे (जीव) आसक्त होकर सुखाभास में सुख जानते हुए देह आदि की वृद्धि करते हैं। (तात्पर्यवृत्ति-७३)

जीव वास्तव में एकत्व से उपयोग की विशुद्धता से जिसने परद्रव्य का अवलम्बन छोड दिया है, ऐसा वर्तता हुआ—लोहे के गोले में से लोहे का अनुसरण न करने वाली अग्नि की भाँति प्रचण्ड घन के समान शारीरिक दुख का क्षय करता है (तत्त्वप्रदीपिका-७८)

आचार्य जयसेन ने अमृतचन्द्राचार्य के उदाहरणों को आत्मसात् करने के साथ भिन्न उदाहरणों का प्रयोग भी किया है। जैसे—

सम्यक्त्व रूप पर्याय की उत्पत्ति मिथ्यात्व रूप पर्याय के अभाव रूप से ही देखने में आती है; क्योंकि एक पर्यायि का अन्य पर्याय में पलटना होता है (तात्पर्यवृत्ति-१००)

विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावरूप आत्मतत्त्व का निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान रूप से उत्पाद, उसही समय में स्वसंवेदन ज्ञान से विलक्षण अज्ञान पर्याय रूप से व्यय तथा इन दोनों का आधारभूत आत्मद्रव्यपने की अवस्था रूप से ध्रौव्य ऐसे ही ये तीनों भेद पर्यायों में रहते हैं (तात्पर्यवृत्ति-१०१)

सम्यक्त्वज्ञानपूर्वक निश्चल निर्विकार निजात्मानुभूति लक्षण वीतरागचारित्र पर्याय से उत्पाद, तब ही रागादि परद्रव्यैकत्वपरिणति रूप चारित्र पर्याय से नाश तथा दोनों की आधारभूत आत्मद्रव्यत्वावस्थारूप पर्याय से स्थिति, इस तरह आत्मद्रव्य अपने ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की पर्यायों से एक रूप या अभिन्न है। (तात्पर्यवृत्ति-१०२)

एक जीव द्रव्य अपने चैतन्य स्वरूप से अभिन्न रहकर अपने ही उपादान कारण से आप ही केवलज्ञान की उत्पत्ति का बीज जो वीतराग स्वसंवेदन गुणरूप अवस्था, उसको छोडकर सर्वप्रकार से निर्मल केवलज्ञान गुण की अवस्था को परिणमन कर जाता है, इस कारण से जो गुण के पर्याय होती है वे भी द्रव्य ही हैं।

संसारी जीव-द्रव्य मति, स्मृति आदि विभाव ज्ञानगुण की अवस्था को छोड़कर श्रुतज्ञानादि विभाव ज्ञानगुण रूप अवस्था को परिणमन कर जाता है, ऐसा होकर भी जीवद्रव्य ही है।
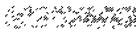
पुद्गल द्रव्य अपने पहले के सफेद वर्ण आदि गुण पर्याय को छोडकर लाल आदि गुण पर्याय में परिणमन करता है, ऐसा होकर भी पुद्गल पुद्गल द्रव्य ही है (तात्पर्यवृत्ति-१०४)

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि आचार्य जयसेन ने लौकिक उदाहरणों के साथ आध्यात्मिक उदाहरणों का भी जगह जगह समावेश किया है।

स्निग्ध, रूक्षत्व गुण के निमित्त से पुद्गलों में बन्ध होता है। बन्ध के इस निमित्त को आचार्य जयसेन ने आत्मद्रव्य में भी घटित किया है। वे कहते हैं—

जैसे यह आत्मा शुद्ध, बुद्ध एक स्वभावरूप से बन्धरहित है तो भी अनादिकाल से अशुद्ध निश्चयनय से स्निग्ध के स्थान में रागभाव से और रूक्ष के स्थान में द्वेषभाव से जब जब परिणमन करता है, तब-तब परमागम में कहे प्रमाण बन्ध को प्राप्त करता है, तैसे ही परमाणु भी स्वभाव से बन्धरहित होने पर भी जब जो बन्ध के कारणभूत स्निग्ध रूक्ष गुण से परिणत होता है, तब तब दूसरे पुद्गल परमाणु से विभाव पर्याय रूप बन्ध को प्राप्त हो जाता है। (तात्पर्यवृत्ति-१६३)

गाथा २२४ की टीका में आचार्य जयसेन ने सुदृढ प्रमाणों के द्वारा स्त्री-मुक्ति का खण्डन सविस्तार किया है।

आचार्य कुंदकुंद ने निर्ग्रन्थ रूप से दीक्षित होने के कारण संयम-तप-संप्रयुक्त होने पर भी ऐहिक कार्यों को करने वाले को लौकिक कहा है। आचार्य जयसेन ने लौकिक कार्यों के अन्तर्गत ज्योतिष कर्म, मंत्र, यत्र, वैद्यक आदि लौकिक गृहस्थों के जीवन के उपाय रूप व्यापारों की ओर निर्देश किया है (तात्पर्यवृत्ति-२६९)। साधुओं के इनका निषेध है। हो सकता है आचार्य जयसेन के समय कुछ साधु मन्त्र, यन्त्र, वैद्यक आदि कार्यों का चमत्कार दिखलाने लगे हों, जिसके कारण इन क्रियाओं का नामोल्लेख आ. जयसेन को करना पडा हो।

गाथा ७१ की टीका में जयसेनाचार्य ने इन्द्रियजन्य सुख को दुःख सिद्ध करने हेतू मधुविन्दु रूपक का सहारा लिया है।

गाथा—२०१ की टीका में जयसेनाचार्य ने एकदेशजिन, जिनवर तथा जिनवर वृषभ शब्दों को समझाया है। सासादन गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान तक एकदेश जिन कहे जाते हैं, शेष दो गुणस्थान वाले केवली मुनि जिनवर कहे जाते हैं। उनमें जो मुख्य हैं, उनको जिनवर वृषभ या तीर्थंकर परमदेव कहते हैं।

गाथा ३३ की व्याख्या में आचार्य जयसेन ने केवली और श्रुतकेवली के ज्ञान में अन्तर को स्पष्ट किया है—

एक समय में परिणमन करने वाले सर्वचैतन्यशाली केवलज्ञान के द्वारा आदि अंत रहित, अन्य किसी कारण के बिना दूसरे द्रव्यों में न पाए जाने वाले (असाधारण) अपने आपसे अपने में अनुभव आने योग्य परम चैतन्य रूप सामान्य लक्षण को रखने वाले तथा परद्रव्य से रहितपने

के द्वारा केवल ऐसे आत्मा का आत्मा में स्वानुभव करने से जैसे भगवान केवली होते हैं, वैसे यह गणधर आदि निश्चय रत्नत्रय के आराधक पुरुष भी चैतन्य लक्षणधारी आत्मा का भावश्रुत ज्ञान द्वारा अनुभव करने से श्रुतकेवली होते हैं। जैसे कोई देवदत्त नामक पुरुष सूर्य के उदय होने से दिन में देखता है और रात्रि को भी दीपक के द्वारा कुछ देखता है, वैसे सूर्य के उदय के समान केवलज्ञान के द्वारा दिन के समान मोक्ष अवस्था के होते हुए भगवान् केवली आत्मा को देखते हैं और संसारी विवेकी जीव रात्रि के समान संसार अवस्था में दीप के समान रागादि विकल्पों से रहित परम समाधि के द्वारा अपने आत्मा को देखते हैं।

गाथा ११६ की टीका में रागादि क्रिया का फल मनुष्यादि पर्याय को उत्पन्न करना है। यह बात कैसे मालूम होती है? इसके उत्तर में जयसेनाचार्य जी ने कहा है कि यद्यपि वीतराग परमात्मा की प्राप्ति में परिणमन करने वाली क्रिया, जिसको आगम की भाषा में परम यथाख्यात चारित्र रूप परमधर्म कहते हैं, केवल ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की प्रगटता रूप परमधर्म कहते हैं, केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की प्रकटता रूप कार्य समयसार को उत्पन्न करने के कारण फल सहित है, तथापि नर नारक आदि पर्यायों के कारण रूप ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध को नहीं पैदा करती है, अत निष्फल है। इससे ज्ञात होता है कि नर नारक आदि सांसारिक कार्य मिथ्यात्व रागादि क्रिया के फल हैं।

गाथा ६२ में केवलियों के सुख को आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वोत्कृष्ट बतलाया है। जो ऐसा नहीं मानता है उसे उन्होंने अभव्य कहा है। आचार्य अमृतचन्द्र एवं जयसेन ने इसे सर्वथा अभव्य न मानकर दूरभव्य कहा है, क्योंकि आगे उसे सही श्रद्धान हो सकता है।

गाथा ८५ में आये हुए करुणाभाव शब्द का अर्थ अमृतचन्द्र आचार्य ने करुणा का भाव किया है। आचार्य जयसेन ने शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप परम उपेक्षा संयम से विपरीत करुणाभाव अथवा व्यवहार नय की अपेक्षा से तिर्यञ्च मनुष्यों में करुणा का अभाव इस प्रकार दोनों अर्थ किए हैं। इस प्रकार विभिन्न अपेक्षा से दोनों मोह के चिन्ह हो सकते हैं। पं. रतन चन्द्र मुख्तार ने अपने भावार्थ में धवलादि ग्रन्थों के प्रमाणों के आधार पर करुणा को जीव का स्वभाव सिद्ध किया है।

ज्ञानी और अज्ञानी से अभिप्राय प्राय सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि से लिया जाता है। श्री जयसेन आचार्य ने गाथा २३८ की टीका में बताया है कि "जो वीतराग समाधि में स्थित है वह आत्मज्ञानी है और जो निर्विकल्प समाधि से रहित है, वह अज्ञानी है" यदि अज्ञानी का अर्थ मिथ्यादृष्टि लिया जाय तो मिथ्यादृष्टि के तो कर्मों की अविपाक निर्जरा होती नहीं है। अतः मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा यह नहीं कहा जा सकता कि अज्ञानी जिन कर्मों को सहस्रकोटि वर्ष में खपाता है, ज्ञानी उनको क्षण मात्र में क्षय कर देता है। यह कथन निर्विकल्प समाधि की अपेक्षा ही संभव है। (ब्र रतनचन्द मुख्तार की प्रवचनसार की प्रस्तावना, पृ. १४)

गाथा २४९ की टीका में निर्देशित चार प्रकार के श्रमण संघ के अर्न्तग जयसनाचाय ऋषि, मुनि, यति और अनगार को ग्रहण किया है। एक देश प्रत्यक्ष अर्थात् अवधि मनःपर्ययज्ञान के धारी तथा केवलज्ञानी मुनि कहलाते हैं। ऋद्धि प्राप्त मुनि ऋषि कहलाते हैं, उपशम तथा क्षपक श्रेणि में आरूढ़ यति कहलाते हैं तथा सामान्य साधु अनगार कहलाते हैं। ऋद्धि प्राप्त ऋषियों के चार भेद हैं—राजऋषि, ब्रह्म ऋषि, देवऋषि, परमऋषि। इनमें जो विक्रिया और अक्षीण ऋद्धि के धारी हैं, वे राज-ऋषि हैं। जो बुद्धि और औषधि ऋद्धि के धारी हैं वे ब्रह्म-ऋषि हैं, जो आकाशगमन ऋद्धि के धारी हैं वे देव-ऋषि हैं, परम-ऋषि केवलज्ञानी हैं। इन चारों का श्रमण संघ इसलिए कहलाता है कि सुख दुःख आदि के सम्बन्ध में इन सबों में समताभाव रहता है अथवा श्रमण धर्म के अनुकूल चलने वाले श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्यिका ऐसे भी चार प्रकार का संघ है।

गाथा १९८ की टीका में जयसेनाचार्य ने कहा है कि केवलियों को कोई चिन्तानिरोध लक्षण ध्यान नहीं है, किन्तु परमसुख का अनुभव है अथवा उनके ध्यान का फल रूप कर्म की निर्जरा को देखकर ध्यान है, ऐसा उपचार किया जाता है। जो आगम में कहा है कि सयोग केवली के तीसरा शुक्लध्यान एवं अयोगकेवली के चौथा शुक्ल ध्यान होता है, वह उपचार से जानना चाहिए।

गाथा २७५ की टीका में आचार्य जयसेन ने निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तथा व्यवहार सम्यगदर्शन, ज्ञान, चारित्र के लक्षण दिए हैं। तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उसके विषयभूत अनेक धर्मरूप परमात्मा आदि द्रव्य हैं। इन्हीं का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है। इसमें साधने योग्य अपने शुद्धात्मा का रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है। जानने योग्य परमात्मा आदि पदार्थों का यथार्थ जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। इससे साधने योग्य निर्विकार स्वसंवेदन या स्वानुभव ज्ञान होना निश्चय सम्यग्ज्ञान है। व्रत, समिति, गुप्ति आदि का आचरण करना व्यवहार सम्यग्चारित्र है, उसी से साधने योग्य अपने शुद्धात्मा की निश्चल अनुभूति वीतराग चारित्र या निश्चय सम्यक्चारित्र है।

इस प्रकार आचार्य जयसेन की टीकाओं की अपनी निजी विशेषतायें हैं, किन्तु इससे अमृतचन्द्राचार्य के लेखन का महत्व कम नहीं होता। वस्तुत आ. कुंदकुंद की गाथाओं के साथ अमृतचन्द्राचार्यकृत टीकाओं ने वह आधारभूमि प्रस्तुत की, जिस पर जयसेनाचार्य की टीकाओं रूपी प्रासाद निर्मित हुए हैं। टीका में कहीं कहीं तो जयसेनाचार्य ने अमृतचन्द्राचार्य के पूरे भावों को, यहाँ तक कि भाषा को भी, आत्मसात् किया है। जयसेन की टीकायें अमृतचन्द्राचार्य की पूरक हैं। जहाँ अमृतचन्द्र ने किसी विषय को संक्षेप में प्रस्तुत किया है, वहाँ जयसेनाचार्य ने आवश्यकतानुसार उसका विस्तार किया है जहाँ अमृतचन्द्र का विषय विस्तृत है, वहाँ जयसेन अपनी बात संक्षेप से भी कह गए हैं। अमृतचन्द्र के विषयों को आचार्य जयसेन ने खूब खोला है। उन्होंने प्रत्येक गाथा के पूर्व उत्थानिका दी है। उनकी टीकाओं में कई गाथायें ऐसी भी

हैं जो अमृतचन्द्र की टीकाओं में नहीं हैं। विषय के अनुरूप गाथाओं को उन्होंने पीठिका, अधिकार, महाधिकार एवं चूलिका में विभक्त किया है। अमृतचन्द्राचार्य की टीकायें समासबहुल हैं। जयसेनाचार्य की भाषा सीधी साधी है। उसकी व्याख्या के लिए अन्य टीका की आवश्यकता नहीं है, यह बात अमृतचन्द्राचार्य के विषय में नहीं कही जा सकती। अमृतचन्द्राचार्य टीकाकार होते हुए भी स्वतन्त्र ग्रन्थकर्ता के रूप में लिखते हैं, जबकि जयसेनाचार्य एक टीकाकार के रूप में सामने आते हैं। उनकी व्याख्या पद्धति खण्डान्वयी है। उन्होंने शब्दों के तात्पर्य को अच्छी तरह खोला है। आचार्य अमृतचन्द्र की टीका विद्वत् सेव्य है तो जयसेनाचार्य की टीका विद्वानों और सर्वसाधारण सभी के लिए है।
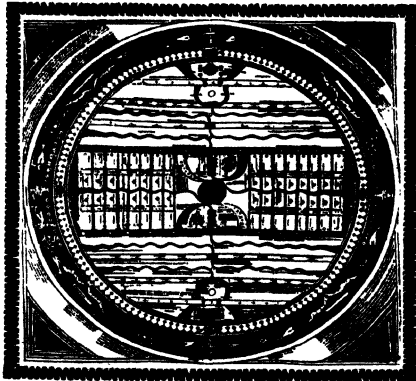
नियमसार : एक अध्ययन

❑ *डॉ पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, सागर*

नियमसार में १२ अधिकारों में १८७ गाथाएँ हैं। अधिकारों के नाम इस प्रकार हैं-(१) जीवाधिकार, (२) अजीवाधिकार, (३) शुद्धभावाधिकार, (४) व्यवहारचारित्राधिकार, (५) परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार, (६) निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार, (७) परमालोचनाधिकार, (८) शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्ताधिकार, (९) परमसमाध्यधिकार, (१०) परमभक्त्यधिकार, (११) निश्चयपरमावश्यकाधिकार और (१२) शुद्धोपयोगाधिकार।

(१) जीवाधिकार

नियम का अर्थ

णियमेण य ज कज्जं त ण्णियम णाणदसणचरित्तं।
विवरीय परिहरत्थं भणिद खलु सारमिदि वयण ॥३॥

जो नियम से करने योग्य हों उन्हें नियम कहते हैं। नियम से करने योग्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं। विपरीत ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिहार करने के लिए 'नियम' शब्द के साथ 'सार' पद का प्रयोग किया है। इस तरह नियमसार का अर्थ सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र है। संस्कृत टीकाकार श्री पद्मप्रभ मलधारीदेव ने भी कहा है—

'नियमशब्दस्तावत्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेपु वर्तते, नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नस्वरूपमुक्तम्।'

अर्थात् नियम शब्द सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में आता है तथा नियमसार इस शब्द से शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप कहा गया है।

जिनशासन में मार्ग और मार्ग का फल, इन दो पदार्थों का कथन है। उनमें मोक्ष-मार्ग का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहलाता है, और मार्ग का फल निर्वाण कहलाता है। इन्हीं तीन का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का लक्षण करते हुए कहा है—

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो॥५॥

—आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है। जिसके समस्त दोष नष्ट

हो गये हैं तथा जो सकल गुणस्वरूप है वह आप्त है। क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोष कहलाते हैं और केवलज्ञान आदि गुण कहे जाते हैं। आप्त भगवान क्षुधातृषा आदि समस्त दोषों से रहित हैं तथा केवलज्ञानादि परमविभव अनन्त गुणस्वरूप ऐश्वर्य से सहित हैं। यह आप्त ही परमात्मा कहलाता है। इससे विपरीत परमात्मा नहीं हो सकता।

आगम और तत्त्व का स्वरूप ·

> तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
> आगममिदि परिकहियं तेण दु कहियं हवंति तच्चत्था ॥८॥

उन आप्त भगवान के मुख से उद्‌गत दिव्यध्वनि से प्रगटित तथा पूर्वापर विरोधरूप दोष से रहित जो शुद्ध वचन है वह आगम कहलाता है और आगम के द्वारा कथित जो जीव , पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश हैं ये तत्त्वर्थ हैं। वे तत्वार्थ नाना गुण और पर्यायों से सहित हैं। इन तत्त्वार्थों में स्वपरावभासी होने से जीवतत्त्व प्रधान है। उपयोग, उसका लक्षण है। उपयोग के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग की अपेक्षा दो भेद हैं। ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है। केवलज्ञान स्वभावज्ञानोपयोग है और विभाव-ज्ञानोपयोग सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान की अपेक्षा दो प्रकार का है। विभाव सम्यग्ज्ञानोपयोग के कुमति, कुश्रुत और कुअवधि की अपेक्षा तीन भेद हैं। इसी तरह दर्शनोपयोग के भी स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो भेद हैं। उनमें केवलदर्शन स्वभाव दर्शनोपयोग है तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन विभाव दर्शनोपयोग हैं।

पर्याय के भी पर की अपेक्षा से सहित और पर की अपेक्षा से रहित, इस तरह दो भेद हैं। अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय के भेद से भी पर्याय दो प्रकार की होती है। पर के आश्रय से होने वाली षड्‌गुणी हानि-वृद्धिरूप जो संसारी जीव की परिणति है वह विभाव अर्थपर्याय है तथा सिद्ध परमेष्ठी की जो षड्‌गुणी हानि-वृद्धिरूप परिणति है वह जीव की स्वभाव अर्थपर्याय है। प्रदेशत्व गुण के विकार रूप जो जीव की परिणति है अर्थात् जिसमें किसी आकार की अपेक्षा रखी जाती है उसे व्यंजनपर्याय कहते हैं। इसके भी स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो भेद होते हैं। अन्तिम शरीर से किंचिदून जो परमेष्ठी का आकार है वह जीव की स्वभाव-व्यंजनपर्याय है और कर्मोपाधि से रचित जो नरनारकादि पर्याय है वह विभाव-व्यंजनपर्याय है।

व्यवहारनय से आत्मा पुद्‌गलकर्म का कर्ता और भोक्ता है तथा अशुद्ध निश्चयनय से कर्मजनित रागादि भावों का कर्ता है। संस्कृत टीकाकार ने नय विवक्षा से कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि निकटवर्ती अनुपचरित असद्‌भूत व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्ता है तथा उनके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा समस्त मोह-राग-द्वेष रूप भाव-कर्मों का कर्ता है तथा उन्हीं का भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा शरीररूप नोकर्मों का कर्ता और भोक्ता है तथा
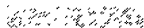
उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से घटापटादि का कर्ता और भोक्ता है। जहाँ निश्चयनय और व्यवहारनय के भेद से नय के दो भेद ही विवक्षित हैं वहाँ आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा अपने ज्ञानादि गुणों का कर्ता-भोक्ता होता है और व्यवहारनय से रागादि भाव-कर्मों का।

श्री पद्मप्रभमलधारीदेव के अनुसार दो नयों का विवेचन—

"द्वौ हि नयौ भगवदर्हत्परमेश्वरेण प्रोक्तौ द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यमेवार्थ· प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिक·। पयार्य एव प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिक·। न खलु एक नयायत्तोपदेशो ग्राह्य· किन्तु तदुभयायत्तोपदेश।"

भगवान अर्हन्त परमेश्वर ने दो नय कहे हैं—एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है। एक नय के अधीन उपदेश ग्राह्य नहीं है किन्तु दोनों नयों के अधीन उपदेश ग्राह्य है।

नय वस्तुरूप को समझने के साधन हैं, वक्ता पात्र की योग्यता देखकर विवक्षानुसार उभयनयों को अपनाता है। यह ठीक है कि उपदेश के समय एक नय मुख्य तथा दूसरा नय गौण होता है परन्तु सर्वथा उपेक्षित नहीं होता।

इस परिप्रेक्ष्य में जब त्रैकालिक स्वभाव को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कथन होता है तब जीवद्रव्य रागादिक विभाव परिणति तथा नर-नारकादिक व्यंजन पर्यायों से रहित है—यह बात आती है, और जब पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथन होता है तब 'जीव इन सबसे सहित है' यह बात आती है।

(२) अजीवाधिकार

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच अजीव पदार्थ हैं। पुद्गलद्रव्य अणु और स्कंध के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें स्कन्ध के अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म के भेद से ६ भेद हैं। पृथ्वी, तेज आदि, छाया, आतप आदि चक्षु के सिवाय शेष चार इन्द्रियों के विषय; कार्मण, वर्गणा और द्वयणुक स्कन्ध ये अतिस्थूल आदि स्कन्धों के उदाहरण हैं। अणु के कारण-अणु और कार्य-अणु के भेद से दो भेद हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार धातुओं की उत्पत्ति के जो कारण है उसे कारण-परमाणु और स्कन्ध से बिछुड़े परमाणु को कार्य-परमाणु कहते हैं। परमाणु का लक्षण इस प्रकार कहा है—

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि॥

अर्थात् वही जिसका आदि है, वही मध्य है, वही अन्त है, जिसका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण

नहीं होता तथा जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता उसे परमाणु जानना चाहिये।

इस परमाणु में एक रस, एक रूप, एक गन्ध और शीत एवं उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्ष में से कोई एक स्पर्श, इस प्रकार दो स्पर्श पाये जाते हैं। दो या उससे अधिक परमाणुओं के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं। अणु और स्कन्ध के भेद से पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं।

जीव और पुद्गल के गमन का जो निमित्त है उसे 'धर्मद्रव्य' कहते हैं। जीव और पुद्गल की स्थिति का जो निमित्त है उसे 'अधर्मद्रव्य' कहते हैं। जीवादि समस्त द्रव्यों के अवगाह का जो निमित्त है उसे 'आकाश' कहते हैं। समस्त द्रव्यों की अवस्थाओं के बदलने में जो सहकारी कारण है वह कालद्रव्य है। यह कालद्रव्य समय और आवली के भेद से दो प्रकार का होता है अथवा अतीत, वर्तमान और भावी (भविष्यत्) की अपेक्षा तीन प्रकार का है। संख्यात आवलियों से गुणित सिद्ध राशि का जितना प्रमाण है उतना अतीत काल है। वर्तमान काल समय मात्र है और भावी (भविष्यत्) काल समस्त जीवराशि तथा पुद्गल द्रव्यों से अनन्त गुणा है।

नियमसार में कालद्रव्य के वर्णन की ३१ और ३२वीं गाथा में परम्परागत अशुद्ध पाठ चला आ रहा है। संस्कृत टीकाकार का भी उस ओर लक्ष्य गया नहीं जान पडता है। ३१वीं गाथा में 'तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु' ऐसा पाठ नियमसार में है परन्तु गोम्मटसार जीवकाण्ड में 'तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणं तु' ऐसा पाठ है। नियमसार की एतद्विषयक संस्कृत टीका भी भ्रान्त मालूम पडती है। ३२वीं गाथा में 'जीवादु पुग्गलादो णंतगुणा चावि संपदा समया' इस पाठ के मानने पर भावी काल का वर्णन भी गाथोक्त हो जाता है और उसका जीवकाण्ड से मेल खा, जाता है। इस पाठ में गाथा का अर्थ होता है कि भावी काल जीव तथा पुद्गल राशि से अनन्त गुणा है और सम्पदा अर्थात् साम्प्रत-वर्तमान काल समयमात्र है। लोकाकाश में लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर जो कालाणु स्थित हैं वे परमार्थ-निश्चयकाल द्रव्य हैं। 'भावि' के स्थान पर 'चावि' पाठ लेखकों के प्रमाद से आ गया जान पडता है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों का परिणमन सदा ही शुद्ध रहता है परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्य में शुद्ध-अशुद्ध दोनों प्रकार का परिणमन होता है। मूर्त अर्थात् पुद्गल द्रव्य के संख्तात, असख्तात और अनन्त प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य में असंख्यात प्रदेश होते हैं, लोकाकाश के भी असंख्यात प्रदेश हैं परन्तु समस्त आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। कालद्रव्य एक प्रदेशी है। उपर्युक्त छह द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य मूर्त है, शेष पाँच द्रव्य अमूर्त हैं। एक जीवद्रव्य चेतन है, शेष द्रव्य अचेतन हैं। पुद्गल का परमाणु आकाश के जितने अंश को घेरता है उसे 'प्रदेश' कहते हैं।

(३) शुद्धभावाधिकार

जब तत्त्वों को हेय और उपादेय इन दो भेदों में विभाजित करते हैं तब पर-जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं और कर्मरूप उपाधि से रहित स्वकीय स्वयं अर्थात् शुद्ध आत्मा उपादेय है। जब तत्त्वों को हेय, उपादेय तथा ज्ञेय इन तीन भेदों में विभाजित करते हैं तब जीवादि बाह्य तत्त्व ज्ञेय हैं; स्वकीय शुद्ध आत्मा उपादेय है और उसका विभाव-परिणमन हेय है। तात्पर्य यह है कि आत्मद्रव्य का परिणमन स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का होता है जो स्व में स्व के निमित्त से होता है वह स्वभाव-परिणमन कहलाता है। जैसे जीव का ज्ञान-दर्शन रूप परिणमन। और जो स्व में पर के निमित्त होता है वह विभाव-परिणमन कहलाता है। जैसे जीव का रागद्वेषादिरूप परिणमन। इन दोनों प्रकार के परिणमनों में स्वभाव-परिणमन उपादेय है और विभाव-परिणमन हेय है।

शुद्ध भावाधिकार में आत्मा को इन्हीं विभाव-परिणामों से पृथक् सिद्ध करने के लिए कहा गया है कि निश्चय से रागादिक विभाव स्थान, मान-अपमान के स्थान, सांसारिक सुखरूप हर्षभाव के स्थान, सांसारिक दु ख रूप अहर्षभाव के स्थान, स्थितिबन्ध स्थान, प्रकृतिबन्ध स्थान, प्रदेशबन्ध स्थान, और अनुभागबन्ध स्थान आत्मा के नहीं हैं। क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और औदयिकभाव के स्थान आत्मा के नहीं हैं। चातुर्गतिक परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, भय, शोक, कुल, योनि, जीवसमास तथा मार्गणास्थान जीव के नहीं हैं। नहीं होने का कारण यही एक है कि ये पर के निमित्त होते हैं। यद्यपि वर्तमान में ये आत्मा के साथ तन्मयीभाव को प्राप्त हो रहे हैं तथापि उनका यह तन्मयीभाव त्रैकालिक नहीं है। ज्ञानदर्शनादि गुणों के साथ जैसा त्रैकालिक तन्मयीभाव है वैसा रागादिक के साथ नहीं है। अग्नि के सम्बन्ध से पानी में जो उष्णता आई है वह यद्यपि पानी के साथ तन्मयीभाव को प्राप्त हुई जान पडती है तथापि अग्नि का सम्बन्ध दूर हो जाने पर नष्ट हो जाने के कारण वह सर्वथा तन्मयीभाव को प्राप्त नहीं होती। यही कारण है कि शीतस्पर्श तो पानी का स्वभाव कहा जाता है और उष्ण स्पर्श विभाव।

स्वभाव की दृष्टि से आत्मा निर्दण्ड मन-वचन-काय के व्यापार रूप योग से रहित, निर्द्वन्द, निर्मम, निष्कलक, नीराग, निर्द्वेष, निर्भय, निर्गन्ध, नि शल्य, निर्दोष, निष्काम, नि क्रोध, निर्मान और निर्मद है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्त्री-पुरुष-नपुंसक पर्याय, सस्थान तथा संहनन जीव के नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित है। आत्मा रस, रूप, गन्ध और स्पर्श से रहित है, चेतना गुणवाला है, शब्द रहित है, अलिंग ग्रहण है, और अनिर्दिष्ट संस्थान है। स्वरूपोपादान की अपेक्षा आत्मा चेतनागुण से सहित है और पररूपोपादान की अपेक्षा रसरूपादि से रहित है।

स्वभाव-दृष्टि से कहा गया है—

जारिसया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।

जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥४७॥

अर्थात् जैसे सिद्ध जीव है वैसे ही संसारस्थ जीव भी हैं। जैसे सिद्ध जीव जरा, मरण और जन्म से रहित तथा अष्टगुणों से अलंकृत हैं वैसे ही संसारी जीव भी जरामरणादि से रहित तथा अष्ट गुणों से अलंकृत हैं। यहाँ इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि यह कथन मात्र स्वभाव दृष्टि से है वर्तमान की व्यक्तता से नहीं है; इसका इतना ही तात्पर्य है। वर्तमान में जीव का संसारी पर्याय रूप अशुद्ध परिणमन चल रहा है। चूँकि एक काल में एक ही परिणमन हो सकता है। अत. जिस समय जीव का अशुद्ध परिणमन चल रहा है उस समय शुद्ध परिणमन का अभाव ही है परन्तु परिणमन की योग्यता जीव में सदा रहती है इसलिए अशुद्ध परिणमन के समय भी उसका शुद्ध परिणमन कहा जाता है। वर्तमान में जन्मजरामरण के दु:ख भोगते रहने पर भी संसारी जीव को सिद्धात्मा के सदृश कहने का तात्पर्य इतना है कि आचार्य इस जीव को आत्मस्वरूप की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। जैसे किसी धनिक व्यक्ति का पुत्र माता पिता के मर जाने पर स्वकीय संपत्ति का बोध न होने से भिखारी बना फिरता है; उसे कोई ज्ञानी पुरुष समझाता है कि तू भिखारी क्यों बन रहा है, तू तो अमुक सेठ के समान लक्षाधीश है, अपने धन को प्राप्तकर इस भिखारी दशा से मुक्ति पा। इसी प्रकार अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव को भूलकर यह जीव वर्तमान की अशुद्ध परिणति में आत्मीय बुद्धि कर दुखी हो रहा है, उसे ज्ञानी आचार्य समझाते हैं—अरे भाई। तू तो सिद्ध भगवान के समान है, जन्म-मरण के चक्र को अपना मानकर दुखी क्यों हो रहा है? आचार्य के उपदेश से निकट भव्यजीव अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य बनाकर सिद्धात्मा के समान शुद्ध परिणति को प्राप्त कर लेते हैं परन्तु दीर्घ ससारी जीव स्वभाव की ओर लक्ष्य न देने के कारण इसी ससार में परिभ्रमण करते रहते हैं। शुद्धभावाधिकार में शुद्धभाव की ओर भी आत्मा का लक्ष्य जावे इसी अभिप्राय से वर्णन किया गया है। यह कथन द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा है। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा वर्तमान में जीव की जो पर्याय है उसे नकारा नहीं जा रहा है। मात्र उस ओर से दृष्टि को हटाकर स्वभाव की ओर लगाने का प्रयास किया गया है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चारों उपाय स्वभाव-दृष्टि को प्राप्त करने में परम सहायक हैं। इसीलिए इन्हें प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। विपरीताभिनिवेश से रहित आत्मतत्त्व का जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है। संशय, विभ्रम तथा अनध्यवसाय से रहित आत्मतत्त्व का जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है। आत्मस्वरूप में स्थिर रहना सम्यक्चारित्र है और उसी में प्रतपन करना सम्यक्तप है। यह निश्चयनय का कथन है। चल, मलिन और अगाढ़ दोषों से रहित तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है तथा हेयोपादेय तत्त्वों को जानना सम्यग्ज्ञान है। महाव्रतादि रूप आचरण सम्यक्चारित्र है और उपवासादि तप करना सम्यक्तप है। यह व्यवहारनय का कथन है।

कार्य की उत्पत्ति बहिरंग और अन्तरंग कारणों से होती है अत सम्यक्त्व की उत्पत्ति के

बहिरंग और अन्तरंग कारणों का कथन करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्य जाणया पुरिसा।
अन्तरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्य खय-पहुदी ॥५३॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन का बाह्य निमित्त जिनागम तथा उसके ज्ञाता पुरुष हैं और अन्तरंग निमित्त दर्शनमोह-कर्म का क्षय आदिक हैं।

अन्तरंग निमित्त के होने पर कार्य नियम से होता है परन्तु बहिरंग निमित्त के होने पर कार्य की उत्पत्ति होने का नियम नहीं है। हो भी और नहीं भी हो।

इस अधिकार में कर्मजनित अशुद्ध भावों को अनात्मीय तथा स्वाश्रित शुद्धभाव को आत्मीय बतलाया गया है।

(४) व्यवहार-चारित्राधिकार

इस अधिकार में अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का, ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पाँच समितियों का तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीन गुप्तियों का एवं अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियों का स्वरूप बतलाया गया है। हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह ये पाँच पाप के पनाले हैं। इनके माध्यम से आत्मा में कर्मों का आस्रव होता है अत इनका निरोध करना सम्यक्चारित्र है। पाँच पापों का पूर्ण त्याग हो जाने पर पाँच महाव्रत प्रकट होते हैं उनकी रक्षा के लिए प्रवचन-आगम में इन आठ को माता की उपमा दी गई है इसीलिए इन्हें 'अष्ट-प्रवचन-मातृका' भी कहा गया है। व्यवहारनय से तेरह प्रकार का चारित्र कहलाता है। इस अधिकार में इसी व्यवहारचारित्र का वर्णन है।

(५) परमार्थ-प्रतिक्रमणाधिकार

इस अधिकार में कर्म और नोकर्म से भिन्न आत्मस्वरूप का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम कहा गया है कि "मैं नारकी नहीं हूँ, तिर्यञ्च नहीं हूँ, मनुष्य नहीं हूँ, देव नहीं हूँ, गुणस्थान, मार्गणा तथा जीवसमास नहीं हूँ, न इनका करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ, और न अनुमोदना करने वाला हूँ। बालवृद्ध आदि अवस्थाएँ तथा राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया और लोभ रूप विकारी भाव भी मेरे नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव वाला स्वतन्त्र जीव द्रव्य हूँ" इस प्रकार भेदाभ्यास करने से जीव मध्यस्थ होता है और मध्यस्थ भाव से चारित्र होता है। उस चारित्र को दृढ़ करने के लिए प्रतिक्रमण होता है। यथार्थ में प्रतिक्रमण किससे होता है, इसका स्पष्ट वर्णन कुन्दकुन्द स्वामी ने किया है—

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं॥83॥

अर्थात् जो वचनरचना को छोड़कर तथा रागादिभावों का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है उसके प्रतिक्रमण होता है और ऐसे प्रतिक्रमण के होने पर ही चारित्र निर्दोष हो सकता है।

(६) निश्चय-प्रत्याख्यानाधिकार

प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग। यह विकारी भावों का ही किया जा सकता है, स्वभाव का नहीं—ऐसा विचार करता हुआ जो समस्त वचनों के विस्तार को छोड़कर शुभ-अशुभ भावों का निवारण करता है तथा आत्मा का ध्यान करता है उसी के प्रत्याख्यान होता है। शुभ-अशुभ भाव इस जीव के आत्मध्यान में बाधक हैं अत प्रत्याख्यान करने वाले को सबसे पहले शुभ-अशुभ भावों को समझ उन्हें दूर करने का प्रयास करना चाहिए। निश्चय प्रत्याख्यान की सिद्धि के लिए आचार्य ने इस प्रकार की भावनाओं का होना आवश्यक बतलाया है। यथा,

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे॥९९॥

—मैं निर्ममत्व भाव को प्राप्त कर ममत्व भाव को छोडता हूँ। मेरा आलम्बन मेरा आत्मा ही है, शेष आलम्बनों को मैं छोडता हूँ।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्तेय।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे॥१००॥

—मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन में आत्मा है, मेरे चारित्र में आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान में आत्मा है, मेरे संवर तथा योग (शुद्धोपयोग) में आत्मा है।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥१०२॥

—ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला एक आत्मा ही मेरा है। परपदार्थों के संयोग से होने वाले शेष सब भाव मुझसे बाह्य हैं, स्वभावभूत नहीं हैं।

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।
आसाए वोसरित्ता णं समाहिं पडिवज्जए॥१०४॥

—सब जीवों में मेरे साम्यभाव है, किसी के साथ मेरा वैरभाव नहीं है। मैं सब आशाओं को छोड़कर निश्चय से समाधि को प्राप्त होता हूँ।

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे॥१०५॥

—जो कषाय रहित है, इन्द्रियों का दमन करने वाला है, शूरवीर है, उद्यमवन्त है, और संसार के भय से भीत है उसी के सुखस्वरूप प्रत्याख्यान होता है।

(७) परमालोचनाधिकार

परमालोचना किसके होती है, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि॥१०७॥

अर्थात् जो नोकर्म और कर्म से रहित तथा विभाव-गुण और पर्यायों से भिन्न आत्मा का ध्यान करता है ऐसे श्रमण-मुनि के ही आलोचना होती है।

आगम में-१. आलोचन, २ आलुञ्छन, ३. अविकृतिकरण और ४. भावशुद्धि के भेद से आलोचना के चार अंग कहे गये हैं। इन अगों के पृथक्-पृथक् लक्षण इस प्रकार हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे सठवित्तु परिणामं।
आलोवणमिदि जाणह परमं जिणिंदस्स उवएसं॥१०९॥

अर्थात् जो जीव अपने परिणाम को समभाव से स्थापित कर आत्मा को देखता है, अनुभवता है वह अलोचन है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश जानो।

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो।
साहीणो समभावो आलुच्छणमिदि समुद्दिट्ठ॥११०॥

अर्थात् कर्मरूप वृक्ष का मूलोच्छेद करने में समर्थ जो समभावरूप स्वाधीन निज-परिणाम है वह आलुञ्छन है।

कम्मादो अप्पाणं भिण्ण भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं त्ति विण्णेयं॥१११॥

—जो मध्यस्थ भावना में स्थित हो कर्म से भिन्न तथा निर्मलगुणों के आलयस्वरूप अपनी आत्मा का ध्यान करता है वह अविकृतिकरण है अर्थात् ऐसा विचार करना कि कर्मोदयजनित विकार मेरे नहीं हैं मैं इनसे पृथक् हूँ।

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं॥११२॥

अर्थात् मद, मान, माया और लोभ से रहित जो निज का भाव है वही भावशुद्धि है ऐसा

सर्वत्र भगवान ने भव्यजीवों के लिए कहा है।

व्यवहारनय से भूतकाल सम्बन्धी दोषों का पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है। वर्तमानकाल सम्बन्धी दोषों का त्याग करना आलोचना है और भविष्यत्काल सम्बन्धी दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। व्यवहारनय सम्बन्धी प्रतिक्रमणादि सफलता तब ही है जब निश्चय सम्बन्धी प्रतिक्रमणादि प्राप्त हो जावें।

(८) शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्ताधिकार

व्यवहारनय दृष्टि से प्रायश्चित्त के अनेक रूप सामने आते हैं परन्तु निश्चयनय से उसका क्या रूप होना चाहिए इसका दिग्दर्शन श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस अधिकार में किया है। वे कहते हैं कि व्रत, समिति, शील और सयम रूप परिणाम तथा इन्द्रिय दमन का भाव ही वास्तविक प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त निरन्तर करते रहना चाहिए। आत्मीय गुणों के द्वारा विकारीभावों पर विजय प्राप्त करना सच्चा प्रायश्चित्त है। इसीलिए कहा है—

कोहं खमया, माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोह, जयदि खु ए चहुविहकसाए॥११५॥

अर्थात् क्षमा से कोध को, मार्दव से मान को, आर्जव से माया को और संतोष से लोभ को—इस प्रकार श्रमण इन चार कषायों को जीतता है।

कषाय विकारीभाव है, उनके रहते हुए प्रायश्चित्त की कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, इसलिए क्षमादिगुणों,के द्वारा कषायरूप विकारीभावों को जीतने का उपदेश दिया गया है। इसी अधिकार में कहा है कि अधिक कहने से क्या, उत्कृष्ट तपश्चरण ही साधुओं का प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त उनके अनेक कर्मों के क्षय का हेतु है। अनन्तानन्त भवों में इस जीव ने जो शुभाशुभ कर्मों का समूह संचित किया है वह तपश्चरण रूप प्रायश्चित्त के द्वारा ही नष्ट हो सकता है, इसलिए तपश्चरण अवश्य ही करना चाहिये। ध्यान भी प्रायश्चित्त का सर्वोपरि रूप है क्योंकि यह जीव आत्मस्वरूप के आलम्बन से ही समस्त विकारी भावों का परिहार कर सकता है। ध्यान का फल बतलाते हुए कहा है कि जो शुभ-अशुभ वचनों तथा रागादि भावों का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है उसके अवश्य ही प्रायश्चित्त होता है।

(९) परमसमाधि-अधिकार

आत्मपरिणामों का स्वरूप में सुस्थिर होना परमसमाधि है। इसकी प्राप्ति भी आत्मध्यान से ही होती है। कहा है—

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।

जो झायदि अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स॥१२२॥

अर्थात् जो मुनि समताभाव से रहित है उसके लिए वनवास, आतापनयोग आदि कायक्लेश, नाना प्रकार के उपवास और अध्ययन तथा मौन आदि क्या लाभ पहुँचा सकते हैं? अर्थात् कुछ भी नहीं। कुन्दकुन्द के वचन देखिये—

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयणमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स॥१२४॥

सामायिक और परमसमाधि को पर्यायवाचक मानते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने गाथा संख्या १२५-१३३ तक नौ गाथाओं में स्पष्ट किया है कि स्थायी सामायिक किसके हो सकती है। परमसमाधि का अधिकारी कौन है। उन गाथाओं का भाव यह है कि जो समस्त सावद्य-पापसहित कर्मों से विरक्त है, तीन गुप्तियों का धारक है तथा इन्द्रियों का दमन करने वाला है, जो समस्त त्रस-स्थावर जीवों में समताभाव रखता है, जिसकी आत्मा सदा यम, नियम और तप में लीन रहती है, राग और द्वेष जिसमें विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, जो आर्त्त-रौद्र नामक दुर्ध्यानों से दूर रहता है, जो पुण्य और पाप भाव का निरन्तर त्याग करता है और जो धर्म तथा शुक्ल ध्यान को सतत धारण करता है उसी के स्थायी सामायिक अर्थात् परमसमाधि हो सकती है, अन्य के नहीं।

(१०) परमभक्ति-अधिकार

'भजनं भक्ति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपासना को भक्ति कहते हैं। 'पूज्याना गुणेष्वनुरागो भक्ति' पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग होना भक्ति है यह भक्ति का वाच्यार्थ है। सर्वश्रेष्ठ भक्ति निर्वृत्ति-भक्ति है अर्थात् मुक्ति की उपासना है। निर्वृत्ति-भक्ति, योग-भक्ति—शुद्धस्वरूप के ध्यान से सम्पन्न होती है। निर्वृत्ति-भक्ति किसके होती है, इसका समाधान कुन्दकुन्द स्वामी के शब्दों में देखिये—

सत्तणाणचरण जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं॥१३४॥

अर्थात् जो श्रावक अथवा श्रमण सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की भक्ति करता है उसी के निर्वृत्ति-भक्ति है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

योगभक्ति किसके होती है, इसका समाधान देखिए—

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो॥१३७॥

—जो साधु अपने आपको रागादि के परिहार में लगाता है अर्थात् रागादि विकारी भावों

पर विजय प्राप्त करता है वही योगभक्ति से युक्त होता है। अन्य साधु के योग कैसे हो सकता है?

(११) निश्चयपरमावश्यक-अधिकार

जो अन्य के वश नहीं है वह अवश है तथा अवश का जो कार्य है वह आवश्यक है। अवश—सदा स्वाधीन रहने वाला श्रमण ही मोक्ष का पात्र होता है। जो साधु शुभ या अशुभभाव में लीन है वह अवश नहीं है किन्तु अन्यवश है, उसका कार्य आवश्यक कैसे हो सकता है? जो परभाव को छोडकर निर्मल स्वभाव वाले आत्मा का ध्यान करता है वह आत्मवश-स्ववश-स्वाधीन है उसका कार्य आवश्यक कहलाता है। आवश्यक प्राप्त करने के लिए कुन्दकुन्द स्वामी कितनी महत्त्वपूर्ण देशना देते हैं, देखिए—

> आवास जइ इच्छसि अप्प सहावेसु कुणदि थिरभावं।
> तेण दु सामण्णगुण संपुण्णं होहि जीवस्स॥१४७॥

अर्थात् हे श्रमण। यदि तू आवश्यक की इच्छा करता है तो आत्मभाव में स्थिरता कर, क्योंकि जीव का श्रामण्य—श्रमणपन उसी से सम्पूर्ण होता है।

और भी कहा है कि जो श्रमण आवश्यक से रहित है वह चारित्र से भ्रष्ट माना जाता है इसलिए पूर्वोक्त विधि से आवश्यक करना चाहिए। आवश्यक से सहित श्रमण अन्तरात्मा होता है और आवश्यक से रहित श्रमण बहिरात्मा होता है।

समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कार्योत्सर्ग ये छह आवश्यक कहलाते हैं, इनका यथार्थ रीति से पालन करने वाला श्रमण ही यथार्थ श्रमण है।

(१२) शुद्धोपयोगाधिकार

इस अधिकार के प्रारम्भ में कुन्दकुन्द ने निम्न महत्त्वपूर्ण गाथा कही है—

> जाणदि पस्सदि सव्व ववहारणयेण केवली भगवं।
> केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण॥१५९॥

केवलज्ञानी व्यवहारनय से सबको जानते-देखते हैं परन्तु निश्चय से आत्मा को ही जानते-देखते हैं।

इस कथन का फलितार्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि केवली निश्चय नय से सर्वज्ञ नहीं है, मात्र आत्मज्ञ हैं, क्योंकि आत्मज्ञता में ही सर्वज्ञता गर्भित है। वास्तव में आत्मा किसी भी पदार्थ को तब ही जानता है जबकि उसका विकल्प आत्मा में प्रतिफलित होता है। जिस प्रकार

दर्पण में प्रतिबिम्बित घटपटादि पदार्थ दर्पणरूप ही होते हैं उसी प्रकार आत्मा में प्रतिफलित पदार्थों के विकल्प आत्मरूप ही होते हैं। परमार्थ से आत्मा उन विकल्पों से परिपूर्ण आत्मा को ही जानता है अत आत्मज्ञ कहलाता है। उन विकल्पों के प्रतिफलित होने में लोकालोक के समस्त पदार्थ कारण होते हैं अत व्यवहार से उन सबका भी ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा और सर्वदर्शी कहलाता है।

जब जीव का उपयोग—ज्ञानदर्शन स्वभाव शुभ-अशुभ रागादिक विकारी भावों से रहित हो जाता है तब वह शुद्धोपयोग कहा जाता है। परिपूर्ण शुद्धोपयोग यथाख्यातचारित्र का अविनाभावी है। क्षायिक यथाख्यातचारित्र से अविनाभावी शुद्धोपयोग के होने पर वह जीव अन्तर्मुहूर्त के अन्दर नियम से केवलज्ञानी बन जाता है।

इसी शुद्धोपयोग के फलस्वरूप जीव अष्टकर्मों का क्षयकर अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित, पुनरागमन से रहित, नित्य अचल और पर के आलम्बन से रहित निर्वाण को प्राप्त होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द और तिरुक्कुरल

❑ *पं. सिंहचन्द्र शास्त्री, मद्रास*

दिगम्बर वाङ्ग्मय में आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। आचार्य श्री महान् तपस्वी अध्यात्मवेत्ता, उत्तम ज्ञानी थे। आप दक्षिण भारत के थे इसका प्रमाण निम्नश्लोक से प्राप्त होता है।

> दक्षिणदेशे मलये हेमग्रामे मुनीर्महात्मासीत्।
> हेलाचार्यो नाम्ना द्रविल-गणाधीश्वरो धीमान्॥

पूर्वधारी पर्वतमाला की सीमा के अन्तर्गत दक्षिण देश में पोन्नूर नामक गॉव था। वहाँ पर द्रविड निर्ग्रन्थ मुनिसंघ था। उस संघ में एलाचार्य नामक मुनि महान् ज्ञानी थे। उन्हें उस संघ में प्रधान स्थान प्राप्त था।

इन के पाँच नाम थे वे इस प्रकार हैं–

> आचार्य कुन्दकुन्दाख्य वक्रग्रीवो महामति।
> हेलाचार्यो गृद्धपिच्छ पद्मनन्दीती तन्नुति॥

अर्थात् आचार्य कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ, पद्मनन्दी आदि नामों से यतिश्रेष्ठ की स्तुति करें।

ये पाँचों नाम भिन्न भिन्न कारणों से इन को प्राप्त हैं। कहा जाता है कि इन्होंने चौरासी पाहुडग्रन्थों की रचना की।

इन्होंने भूतबलि पुष्पदन्त के द्वारा षड्खण्डागम ग्रन्थों के पहले तीन भागों के बारह हजार श्लोकों में व्याख्या लिखी। आप प्राकृत तथा संस्कृत भाषा के वेत्ता थे। इन दोनों भाषाओं में इन की प्रतिभा अकाट्य थी।

तमिल भाषा तिरुकुरल नामक कृति भी इन की ही लिखी हुई है। परमज्ञानी तपस्वी आचार्य कुंदकुंद भारत के अन्यान्य प्रांतों में विहार करके जनता को धर्मोपदेश देते हुए तथा अहिंसा सिद्धान्त के आधारभूत जैन धर्म का प्रचार करते हुए, अनेक पुण्यक्षेत्र अतिशय क्षेत्रों का दर्शन करते हुए वर्तमान तमिलनाडु प्रदेश के मद्रास नगर में (मैलापुर नामक एक भाग है वहाँ) आकर कुछ दिन स्थाई रूप से विराजमान रहे थे। उन के समय में मैलापुर जैन धर्मावलंबियों का केन्द्र था। वहाँ भगवान् नेमिनाथ का मंदिर भी था। वर्तमान में इस स्थान पर जैनियों का नामोनिशान भी नहीं है।

तिरुक्कुरल

यह ग्रन्थ तमिल साहित्याकाश में प्रकाशमान चन्द्रमा के समान है। यह दोहे के रूप में रचा गया नीतिग्रन्थ है। यह तमिलवेद के नाम से प्रसिद्ध है। यह भारतीय साहित्य का भूषण एवं तमिल साहित्य का दर्पण है। संस्कृत वाङ्गमय में जो स्थान वेद को प्राप्त है वही स्थान तमिलवाङ्गमय में तिरुक्कुरल को प्राप्त है। इस में वर्णित विष्यों को जो व्यक्ति हृदयंगम करेगा वह महान् ज्ञानी हो जायगा। इसका शब्दसौन्दर्य, अर्थगौरव की प्रौढता, ग्रन्थकर्ता की प्रतिभा आदि ने इस ग्रन्थ को श्रेष्ठ बना दिया। इस में वर्णित विषय पाठकों के हृदय को आकर्षित कर स्वभावत भावमग्न तथा रसमग्न कर देता है। एलाचार्य की तमिल साहित्य की यह एक मात्र रचना है। यह ग्रन्थ जितना लोकप्रिय है उतना और कोई ग्रन्थ कदाचित् हो। अनपढ़ व पंडित बालक व वृद्ध स्त्री या पुरुष सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए यह अत्यन्त उपयोगी ज्ञानवर्धक हृदयाकर्षक कृति है। यह आज भी तमिल के सरकारी स्कूलों में पढ़ाया जाता है। यह साहित्य के प्रौढ़ विद्यार्थियों के अनुसधान का विषय बन गया है। यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि दो सहस्र वर्ष पूर्व की यह रचना आज भी लोकोपयोगी एवं वर्तमान युग के अनुकूल तथा जनता में प्रभावपूर्ण एवं अत्यन्त प्रचार योग्य बनी है। साहित्यकार इसे साहित्य ग्रन्थ मानते हैं। अर्थशास्त्रज्ञ प्राचीन एव नवीन युगों के योग्य अर्थनीति का ग्रन्थ मानते हैं। धार्मिक व्यक्ति इसे धर्म ग्रन्थ तथा अनेक धर्मों के अनुयायी इसे अपना अपना धर्मग्रन्थ मानते हैं।

तमिल में ही नहीं, परन्तु भारत की अन्यान्य भापाओं में तथा विदेशी भाषाओं में भी इस का अनुवाद हो चुका है। G.U. Pope नामक ईसाई मत प्रचारक ने इसका इटली भाषा में अनुवाद किया है। समालोचनाकारों ने इसकी समालोचना कई पृष्ठों में की है। प्रत्येक कुरल (पद्य) को एक-एक कथा के रूप में भी रचना करने योग्य है।

तमिलसंघ : कालनिर्णय

तमिल साहित्य का प्रारंभिक युग संघयुग माना जाता है। उस समय कवियों और विद्वानों के सघ स्थापित हुए थे और उनके सघों के तत्वावधान में तमिल साहित्य की उन्नति हुई। प्रत्येक कवि या रचयिता को अपनी कृति को संघ के सन्मुख प्रस्तुत करनी पडती थी और संघसदस्य उस कृति की आलोचना करते और उस के उचित प्रामाणिक होने पर उसे अत्युत्तम साहित्य ग्रन्थ एवं प्रचार के योग्य घोपित करते थे। इस संघ के एक के पश्चात् एक करके इस तरह तीन संघ का अस्तित्व रहा। इन का साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध है।

प्रथम संघ का केन्द्र दक्षिण मदुरै, द्वितीय संघ का केन्द्र पाटलीपुरम और तृतीय संघ का केन्द्र उत्तर मदुरै था। यह नगर अब तमिलनाडु में मदुरै नाम से विख्यात हुआ है। प्रथम संघ

ईसा पूर्व १000 से ६00 वर्ष तक तथा दूसरा संघ ई,. पूर्व ५00 से ३00 तक तथा संघ ई. पू २00 से इस्वी दूसरी शताब्दी तक माना जाता है।

परम्परा यह मानती है कि प्रथम संघ में ५४९ सदस्य, द्वितीय संघ में ५६ सदस्य तथा तृतीय संघ में ४९ सदस्य विद्यमान थे। उस समय पांड्य वंश के नरेशों का शासन था। संघ के सभी सदस्य प्रभावशाली एवं प्रतिभासम्पन्न तथा भाषाशास्त्रज्ञ थे। पांड्य राजा भी साहित्यप्रिय तथा विद्वानों का आदर-सत्कार करनें में तत्पर रहता था तथा जैन धर्मानुयायी था।

तिरुक्कुरल की रचना का मूलस्रोत

आचार्य कुन्दकुन्द ने जिस समय तिरुक्कुरल ग्रन्थ की रचना की उस समय के नियम के अनुसार अपनी कृति को मदुरै तमिल साहित्य संघ में प्रस्तुत करना आवश्यक था। आचार्य तो निर्ग्रन्थ साधु थे, वे किसी संघ के मध्य में व नरेश की संसद में नहीं जाते थे। अत उन्होंने यह विचार किया कि किसी शिष्य के द्वारा इस ग्रन्थ को मदुरै संघ में प्रस्तुत कराया जाय।

आचार्य के एक शिष्य तिरूउल्ल नैनार थे जो वानप्रस्थ आश्रम के वासी थे और अच्छे विद्वान् एवं गुरुभक्त एवं आज्ञाकारी थे। अपने गुरु एलाचार्य के आदेशानुसार उनकी कृति को भक्तिपूर्वक लेकर वे मदुरै तमिल संघ में समर्पण करने गये थे। उस समय वहाँ तीसरे संघ या अंतिम संघ का अस्तित्व था।

तिरुउल्ल नैनार जब अपने गुरु के आदेशानुसार तिरुक्कुरल को लेकर मदुरै गये तो वहाँ संघस्थ विद्वानों के समक्ष उक्त कृति को समर्पण कर कहा—यह कृति मेरे गुरु एलाचार्य की है। उन्होंने मेरे द्वारा इस संघ में समर्पण कर ग्रन्थ की प्रामाणिकता के विषय में निर्णय करने को कहा है। संघस्थ विद्वानों ने इस कृति का आद्योपान्त अवलोकन किया और पाण्ड्य राजा से भी कहा कि यह कृति साहित्यिक एवं भाषा की दृष्टि से अत्युत्तम है अत इस ग्रन्थ को स्वीकृति दी जाय।

तिरुउल नैनार ने स्वयं नरेश से निवेदन किया—यह तिरुक्कुरल ग्रन्थ है। इसके रचयिता मेरे गुरुदेव आचार्यश्री हैं। वे अच्छे ज्ञानी एव तपस्वी है। यह बात सुनकर नरेश बहुत आनन्दित हुआ। इस कृति को प्रामाणिक घोषित करने के पहिले उसने इसमें वर्णित विषय को पढ़कर सुनाने का आदेश दिया। तिरुउल्ल नैनार ने नरेश, मन्त्री तथा विद्वानों के समक्ष कुरल ग्रन्थ में वर्णित विषयों का प्रतिपादन किया तथा यह भी कहा कि यह जैन सिद्धान्त का सार है और लोकोपकार का विषय है। ग्रन्थ का वाचन पूरा होने के बाद पाण्ड्य नरेश, अमात्य गण, विद्वत् समूह तथा सभासद सभी ने एलाचार्य, तिरुउल्ल नैनार तथा प्राकृत कृति की महत्ता आदि की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस के बाद तिरुउल्ल नैनार राजा आदि से अनुमति पाकर मैलापुर वापस आये तथा तमिल संघ में जो चर्चा-प्रशंसा हुई उसे एलाचार्य को कह सुनाया। तिरुउल्ल

नैनार के द्वारा सभी बातों को सुनकर एलाचार्य ने लेखन को सार्थक माना।

तिरुउल्ल नैनार की मुनि-दीक्षा

अनन्तर, कुछ दिन व्यतीत होने के बाद, तिरुउल्ल नैनार ने एलाचार्य से प्रार्थना की कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए मुनिधर्म ही श्रेष्ठ है, यह मोक्षमार्ग का द्योतक है अत मैं मुनिदीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ, आप मुझे दीक्षा दीजिये। यह सुनकर एलाचार्य ने इन को अनगार धर्म का उपदेश दिया और तत्त्व विषयों की शिक्षा दी। उन्हें विश्वास हो गया कि यह मुनिधर्म का पालन कर सकते हैं। इसलिए इन्हें दीक्षा देकर संघ में रहने का स्थान दे दिया। तिरुउल्ल नैनार अब मुनि बनकर आत्मोन्नति के योग्य तपश्चर्या में आरूढ हुए।

नीलगिरि नामक पोन्नूरमलै

एलाचार्य कुंदकुंद अपने सघ सहित मैलापुर में कुछ दिन रहे, अनन्तर अपने संघ सहित वहाँ से प्रस्थान करके वन्दवासी तहसील के पास स्थित पोन्नूर गाँव के निकटस्थ नीलगिरि नामाभिराम पर्वत पर आये और कठिन तपस्या की। अपने तप प्रभाव से उन्हें चारण ऋद्धि प्राप्त हुई। आत्मज्ञान की वृद्धि हुई। यहीं पर समयसारादि ग्रन्थ की रचना की ऐसी अनुश्रुति चली आ रही है। कुछ दिन के बाद इन्होंने अपने आचार्य पद को अपने शिष्य को देकर तप पूत होकर कायक्लेशादि करके सल्लेखनापूर्वक शरीर छोड दिया और देवलोक पहुँचे। इस स्मृति में तत्काल जनता ने उस पर्वत पर इनके चरण चिह्न स्थापित कराये जो वर्तमान में भी अवस्थित हैं। तमिलनाडु का यह एक अतिशय क्षेत्र है। अब भी भारतवासी जैन जनता इस पुण्य भूमि में आकर आचार्य-चरणों का दर्शन, अभिषेक, पूजा आदि किया करती है। यहाँ पहुँचने के लिए पक्की सड़क तथा बस की व्यवस्था है।

नैनार कौन होते हैं

तमिलनाडुवासी जैन लोग वर्तमान में भी नैनार के नाम से पुकारे जाते हैं। यह एक विशिष्ट शब्द है। इसमें गूढ़ अर्थ भरा है। जो अहिंसा मार्ग पर चलते हैं, पाप कार्य से भयभीत रहते हैं वे ही नैनार कहलाते हैं। एन =पाप , न एन नैना पापरहित । 'आर' शब्द तमिल भाषा का बहुवचन में आदरसूचक है अत आर शब्द मिलाकर 'नैनार' बना जिसका अर्थ हुआ—पाप रहित अर्थात् पाप नहीं करने वाला।

तमिलनाडु के जैन लोग अपने बालकों को त्रिषष्टिशलाकापुरुषों के नाम व प्रथमानुयोग शास्त्र में वर्णित किसी राजा के नाम को ही रखते हैं। जैसे वृषभदास, मल्लिनाथ, भरतचक्रवर्ती,

सौमप्रभ, श्रेयांसकुमार इत्यादि। जब ये बड़े हो जाते हैं तब इन नामों के आगे आदरसूचक शब्द 'आर' को जोड़कर वृषभदास नैनार, श्रेयांसकुमार नैनार इत्यादि नामों से पुकारे जाते हैं। यह प्रथा वर्तमान में भी प्रचलित है।

तिरुक्कुरल में वर्णित विषय

तिरुक्कुरल ग्रन्थ में धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थ का वर्णन है। मंगलाचरण में आदि भगवान आदिनाथ का नाम व्यक्त है। आचार्य कुन्दकुन्द का अपर नाम एलाचार्य, पद्मनन्दी भी है। इन्होंने पद्मनन्दी पंचविंशति नामक ग्रंथ की रचना की उस में भी मंगलाचरण में आदिनाथ भगवान की स्तुति की गई है। इसी प्रकार तिरुक्कुरल में भी मंगलाचरण में आदि भगवान का नाम लिया गया है। मंगलाचरण का हिन्दी रूपांतरण इस प्रकार है—

अक्षर सब का आदि तो है ही तथा अकार।
सर्व लोक का आदि है आदि जिन उसी प्रकार।।"

इसी प्रकार ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के प्रथम वर्ग में दस कुरल तक भगवान के गुण व अतिशयों का वर्णन है यथा—

विद्योपार्जन भी भला क्या आयेगा काम।
ज्ञानागार सुचरण का यदि नहीं लेंगे नाम।।

हृदय पद्मगत ईश के पादपद्म जो पाय।
भूतल पर सुख भोगते चिरजीवि रह जाय।।

राग द्वेष विहीन के चरणाश्रित जो लोग।
दुख न दे उन को कभी भव बाधा का रोग।।

पचेन्द्रिय निग्रह किये प्रभु का किया विधान।
धर्म पथ के जो पथिक हों चिर आयुष्मान।।

धर्मसिन्धु करुणेश के शरणागत हैं धन्य।
उसे छोड दुख सिन्धु को पार न पाये अन्य।।

निष्क्रिय इन्द्रिय सदृश ही 'सिर' है केवलनाम।
अष्ट गुणी के चरण पर यदि नहीं किया प्रणाम।।

कमलविहारी सर्वत्र की उपासना जो करते है वे मोक्षसुख को प्राप्त कर नित्य निरामय निर्विकार स्वरूप परमात्मा बन जाते हैं।

अर्थात् जिसने सब ग्रन्थों को पढ़ लिया है उनके अर्थ को हृदयंगम कर लिया है, अगर

वह केवलज्ञानी भगवान के गुणगान करे, पर उनके चरणों में नतमस्तक न होवे तो उस की विद्या व्यर्थ गई समझें। इसी प्रकार धर्म पुरुषार्थ की साधना में उपयुक्त कई विषयों का वर्णन प्रथम वर्ग में उपलब्ध है।

इस ग्रन्थ में धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ से सम्बन्धित विषय का प्रतिपादन है। शायद ग्रन्थकर्ता का आशय यह रहा होगा कि इन तीनों पुरुषार्थ को जिसने साध लिया, प्राप्त कर लिया हो, वह चौथे पुरुषार्थ मोक्ष की साधना में स्वयं प्रवृत्त हो जायगा।

तिरुक्कुरल तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में धर्म, द्वितीय भाग में अर्थ, तृतीय भाग में पुरुषार्थ का प्रतिपादन हुआ है। इस का छन्द अत्यन्त लघु है। जिस में सात ही गण होते हैं, जो दो चरणो में विभक्त हैं–प्रथम में चार गण और द्वितीय में तीन गण होते हैं। तिरु का अर्थ श्री है और कुरल का अर्थ ध्वनि। इस प्रकार तिरुक्कुरल का अर्थ है श्रीध्वनि श्रेष्ठ ध्वनि। दस दस छन्दों का एक एक वर्ग है, ऐसे १३३ वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में भगवन वन्दना है। इस में ३८ वर्ग है। इस में क्रमश वर्षा की प्रशंसा यतिधर्म की श्रेष्ठता, धर्म का लक्षण, अनगार धर्म, पातिव्रत्य, सन्तान-लाभ, प्रेमभाव, अतिथि सत्कार, मधुर भाषण, कृतज्ञता, माध्यस्थ, संयमशीलता, आचारशीलता, परदारनिवृत्ति, व्रतित्व, क्षमाशीलता, ईर्ष्या का त्याग, निर्लोभता, अपिशुनता, वृथालाप-त्याग आदि के प्रतिपादन के बाद कर्मसिद्धान्त को भी व्यक्त किया है।

द्वितीय वर्ग में अर्थ पुरुषार्थ का वर्णन है। इस में दस-दस पद्यों के सत्तर वर्ग रखे गये हैं। सुशासन के लिए आवश्यक विद्या, विवेक-व्यवहार-कुशलता, देश-काल आदि के औचित्य की पहचान, साम्राज्य व शासन, अमात्य और राजनीति के विभिन्न अग तथा शासक व शासित के शेष कार्यों का विशद वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्याय में २५ वर्ग हैं। इस में काम पुरुषार्थ का वर्णन है, जिस में प्रेमी-प्रेमिका के पूर्वराग, गुप्त प्रेम तथा सतीत्व, संयोग-वियोग श्रंगार आदि का वर्णन है।

इस प्रकार ग्रन्थकर्त्ता ने अपनी कृति में मानव के व्यक्तिगत गृहस्थ्य एवं सामूहिक जीवन के आदर्श का चित्रण करने का प्रयास किया है। इस से यह स्वत सिद्ध होता है कि ग्रन्थकर्ता स्वयं दार्शनिक, राजनीतिविद् एवं उच्च कोटि के प्रतिभासम्पन्न ज्ञानी व्यक्ति थे।

तिरुक्कुरल की विशिष्टता

इस में यह विशिष्टता है कि धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थ का मानववादी दृष्टि से विवेचन हुआ है। इस की भाषा सरल तथा कौतूहलवर्धक है। उसमें ग्रन्थकर्ता के जीवन का गम्भीर अनुभव, तीक्ष्ण प्रतिभा, उदार दृष्टिकोण, मधुर भाषा शैली, तपपूत पवित्र भावना आदि निहित हैं। यह कृति केवल तमिल देश की ही नहीं, सारे विश्व को एक देन है। इस का प्रत्येक

पद पृथक्-पृथक् मोती के सदृश विशिष्ट व्यक्तित्व से युक्त है जो पुरुषार्थ की उत्कर्षता का द्योतक है। यह एक पूर्ण क्रमबद्ध रचना है। इस का प्रत्येक अध्याय पूर्वोक्त अध्याय से तथा प्रत्येक पद पूर्वोक्त पद से सम्बन्धित है। यह चौथे पुरुषार्थ मोक्ष को पाने के लिए एक प्रशस्त सोपान है। जो व्यक्ति धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थों को अपने जीवन में इस तिरुक्कुरल ग्रन्थ में कहे अनुसार हृदयंगम करेगा वह चौथे पुरुषार्थ को प्राप्त करने में अपने प्रयास से पीछे नहीं हटेगा। अत चतुर्थ पुरुषार्थ जो अप्रत्यक्ष रूप में है, उस की सूचना मात्र दे दी गई है।

कोई भी विचारशील व्यक्ति अपने खोजपूर्ण विचार से इस ग्रन्थ के विषयों को गम्भीरता से अन्वेषण करेगा तो उसे नवीन नवीन अर्थ का प्रकाश प्राप्त होता रहेगा। इसका भी भाव-गाम्भीर्य नित नूतन होने पर भी सरल एवं विशद् है। इस का सम्पूर्ण विषय गागर में सागर भरा जैसा है। इस के सम्बन्ध में तमिल भाषा के एक कवि ने यह कहा है—

सरसों को छेद, सत सागर भर दिये
श्रेष्ठ कुरल ।
अणु को ही छेद, सत सागर भर दिये
यह श्रेष्ठ कुरल ।

अर्थात्—बहुत ही छोटे सरसों को छेदकर सप्त सागर जल को भरकर रखा है। ऐसे महत्त्वपूर्ण एव गम्भीर एवं सैद्धान्तिक विषयों को दोहों के रूप में रच कर उन्हें विशद व्याख्या सम्पन्न बनाया। यही कारण है कि इस ग्रन्थ ने विश्व के श्रेष्ठ साहित्य में अपना एक गौरवपूर्ण स्थान बना लिया है। यही इस ग्रन्थ की विशिष्टता है।

इस ग्रन्थ के लिए प्रचलित अमरनाम

आधुनिक विचारधारासम्पन्न विद्वानों ने इस ग्रन्थ को पढकर एवं इसके गूढार्थ को हृदयगम कर इस ग्रन्थ में वर्णित विषयों का अवलोकन किया और उससे प्रभावित होकर इसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा। एक तेलगू भाषाविद् ने इस ग्रन्थ का नाम 'त्रिवर्ग दीपिका' रखा है। एक कन्नड भाषाशास्त्री ने "नीति मंजरी" तथा मलयालम भाषाविज्ञ ने रत्नउद्धारकम् कहकर इसका परिचय दिया है। इस के अलावा नौ नाम और प्रसिद्ध हैं।

(१) तिरुक्कुरल (४) दैवी ग्रन्थ (७) प्रसिद्ध ग्रन्थ
(२) पुरुषार्थ-त्रय (५) श्रीवाणी (८) तमिलवेद
(३) उत्तरवेद (६) सत्यवाणी (९) सामान्यवेद इत्यादि

एक कवि ने कहा है—

धर्म के जिज्ञासुओं को धर्मग्रन्थ महान् है,

राजनीति-विदग्ध को यह राजग्रन्थ महान् है।
ज्ञान का जो भान चाहे, ज्ञानग्रन्थ महान् है,
काव्यरस के रसिक जन को काव्यग्रन्थ महान् है।

प्रेमरस के पाठकों को प्रेमग्रन्थ महान् है,
ब्रह्मसुख खोजी को ब्रह्मानन्द ग्रन्थ महान् है।
जीवनोत्तम पथ-प्रदर्शन हेतु ग्रन्थ महान् है,
दिव्यविद्या ज्ञानार्जन हेतु ग्रन्थ महान् है।

तिरुक्कुल पथ के पथिक, होंगे यहाँ सानन्द।
उन्हें प्राप्त होगा वहाँ, निज पद ब्रह्मानन्द॥

इस प्रकार प्रतिभासम्पन्न कवियों ने तिरुक्कुरल को सम्पूर्ण दृष्टिकोण से लिखा और इसकी महत्ता को पहचाना। धार्मिक एव नीति सम्बन्धी सिद्धान्तों को हृदयंगम किया तथा इसकी भूरी-भूरि प्रशंसा की। प्रत्येक व्यक्ति को इसका पठन-पाठन अवश्य करना चाहिए।
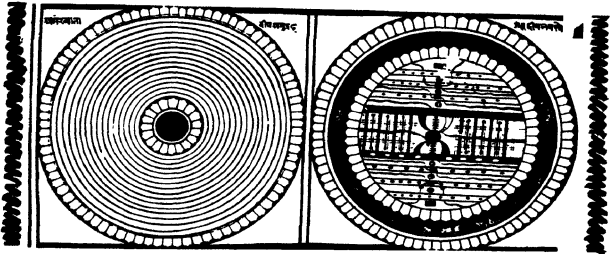
आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन में निश्चय और व्यवहार-नय

❑ *डॉ. सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी*

दिगम्बर जैन परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने भगवान् महावीर की वाणी का मन्थन करके हमें नवनीत प्रदान किया है। भगवान् महावीर ने जिस वीतरागता का उपदेश दिया था उसे जब बाह्यलिङ्ग के रूप में समझा जाने लगा तो कुन्दकुन्द ने महावीर दर्शन के बाह्य और आभ्यन्तर वीतराग भाव को स्पष्ट किया। आभ्यन्तर और वीतराग भाव को प्रकट करना उनका प्रमुख लक्ष्य था, अत उन्होंने देशकालानुरूप उन्हीं बातों का अधिक व्याख्यान किया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन्हें बाह्य वीतरागभाव अभीष्ट नहीं था। वस्तुत उन्होंने बाह्य और आभ्यन्तर वीतरागभाव के उपदेशों का व्यवहार और निश्चय उभय नयों के द्वारा सम्यक् आलोकन करके उन्हें जीवन में तथा स्व-रचित ग्रन्थों में समावेश किया है। उनके ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्य से तथा उनकी स्वय की जीवनशैली से उनकी निश्चय-व्यवहार की समन्वयदृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है।

सामान्य रूप से लेखक अपनी रचनाओं के प्रारम्भिक अंशों में अपने अनुभवों को भूमिकारूप में स्थापित करता है और अन्त में उपसंहार के रूप में उन्हें परिपुष्ट करता है। अत उन्हीं अशों को, यहाँ प्रमुख रूप से माध्यम बनाकर आचार्य कुन्दकुन्द की समन्वयदृष्टि का प्रतिपादन किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द की मान्य रचनायें हैं— १. पंचास्तिकायसंग्रह, २ समयसार, ३ प्रवचनसार, ४. नियमसार, ५. अष्टपाहुड, ६. द्वादशानुप्रेक्षा और ७. भक्तिसंग्रह। 'रयणसार' के सन्दर्भ में विद्वानों का मतभेद अधिक होने से उसे यहाँ नहीं लिया गया है।

१. पंचास्तिकायसंग्रह

यह ग्रन्थ दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। दोनों श्रुतस्कन्धों का प्रारम्भ ग्रन्थकार 'जिन' स्तुतिपूर्वक करते हैं।[१] यह नमस्कार निश्चय ही भक्तिरूप व्यवहारनय का आश्रय लेकर किया गया है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में षड्द्रव्यों का और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में नव पदार्थों एवं मोक्षमार्ग का वर्णन है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध का उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा है—"प्रवचन के सारभूत पचास्तिकायसंग्रह को जानकर जो रागद्वेष को छोड़ देता है वह दुःखों से मुक्त हो जाता है।

इसके अर्थ को जानकर तदनुगमनोद्यत, विगतमोह और प्रशमित राग-द्वेष वाला जीव पूर्वापर-बन्धरहित हो जाता है।[२] द्वितीय श्रुतस्कन्ध में तत्त्वश्रद्धानादिरूप व्यवहार-मोक्षमार्ग का कथन करके[३] निश्चय-मोक्षमार्ग का कथन करते हुए लिखा है—"रत्नत्रय से समाहित (तन्मय) हुआ आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग है जिसमें वह अन्य कुछ भी नहीं करता है और न कुछ छोडता ही है"।[४] यह कथन निश्चय ही केवली की ध्यानावस्था को लक्ष्य करके कहा गया है। इसके आगे बतलाया गया है कि अर्हदादि की भक्ति से बहुत पुण्यलाभ एव स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। यहीं अर्हदादि की भक्ति से कर्मक्षय का निषेध और निर्वाण-प्राप्ति की दूरी को भी बतलाया है, भले ही वह सर्वागमधारी और संयम-तपादि से युक्त क्यों न हो।[५] यह कथन भी श्रुतकेवली या छठे से ऊपर के गुणस्थान वालों को लक्ष्य करके कहा गया है। यहीं पर यह भी कहा गया है कि मोक्षाभिलाषी पुरुष निष्परिग्रही और निर्ममत्व होकर सिद्धों में भक्ति करता है और उससे वह निर्वाण प्राप्त करता है।[६] यहाँ टीकाकारों ने 'सिद्धेसु' का अर्थ शुद्धात्म द्रव्य में विश्रान्तिरूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति किया है।[७] गाथा १७२ की व्याख्या में अमृतचन्द्राचार्य और सिद्धसेनाचार्य ने केवल निश्चयावलम्बी उन जीवों को लक्ष्य करके कहा है जो वस्तुत निश्चय नय को नहीं जानते हैं — "कोई शुभभाववाली क्रियायों को पुण्यबन्ध का कारण मानकर अशुभभावों में वर्तते हुए, वनस्पतियों की भांति केवल पापबध को करते हुए भी अपने में उच्च शुद्धदशा की कल्पना करके, स्वच्छन्द और आलसी हैं—

'णिच्छयणलम्बता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता।
णासंति चरणकरण बाहरिचरणालसा केई॥

अन्त में इस ग्रन्थ का उपसहार करते हुए ग्रन्थकार लिखते है—'प्रवचन' (जिनवाणी) की भक्ति से प्रेरित होकर मैंने (मोक्ष) मार्ग की प्रभावना के लिए प्रवचन का सारभूत यह पंचास्तिकायसग्रह-सूत्र (शास्त्र) कहा है।[८]

इससे स्पष्ट है कि जो व्यवहाररूप अर्हदादि की भक्ति को मात्र स्वर्ग का साधन बतलाये वह मोक्षप्राप्ति में प्रतिबन्धक बतलाकर तुरन्त उपसहार करते हुए 'जिनमार्ग-प्रभावनार्थ', 'प्रवचन-भक्ति-प्रेरित' जैसे वाक्यों का कथन क्यों करेगा ? नमस्कार वाक्यों में महावीर को 'अपुनर्भव का कारण' कहना व्यवहार नयाश्रित कथन है क्योंकि निश्चय से कोई किसी का कारण नहीं है। इत्यादि कथनों से सिद्ध होता है कि व्यवहार रूप बाह्य क्रियायें भी निर्वाणप्राप्ति के लिए आवश्यक हैं परन्तु वही तक सीमित न रह जायें, अत उन तपस्वियों के प्रतिबोधनार्थ निश्चय का कथन करके आचार्य ने दोनों नयों का सम्यक् समन्वय करना चाहा है। किसी एक नय को हेय और दूसरे को उपोदय कहना स्याद्वादसिद्धान्त का और आचार्य कुन्दकुन्द का उपहास है। अपेक्षा भेद से अपने स्थान पर दोनों नय सम्यक् हैं। परमद्दशा की प्राप्ति तो नयोपरि अवस्था है।

'दर्शनविशुद्धि' आदि भावनाएँ जो तीर्थंकर प्रकृतिबन्ध की कारण मानी जाती हैं वे व्यवहार से बन्ध की कारण भले ही हैं परन्तु तीर्थंकर प्रकृतिबन्ध नियम से निर्वाणप्राप्ति का हेतु माना गया है। इसतरह व्यवहार और निश्चय का सम्यक् समन्वय ही निर्वाण का हेतु है, न केवल व्यवहार और न केवल निश्चयनय—यही ग्रन्थकार का अभिमत है।

२. समयसार

यहाँ 'जीव' पदार्थ को 'समय' शब्द से कहा गया है। जब वह अपने शुद्ध-स्वभाव में स्थित होता है तब उसे 'स्वसमय' कहते हैं और जब परस्वभाव (रागद्वेपादि के कारण पुद्गल कर्मप्रदेशों) में स्थित होता है तब उसे 'परसमय' कहते हैं।[१] इस ग्रन्थ में जीव के इस स्वसमय और परसमय का ही विवेचन किया गया है।

ग्रन्थारम्भ में ग्रन्थकार ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सभी सिद्धों को नमस्कार करके श्रुतकेवलियों द्वारा कथित इस समयप्राभृत को कहने का संकल्प करते हैं[२], इसके बाद एकत्वविभक्त (सभी पर-पदार्थों से भिन्न, पुद्गलकर्मबन्ध से रहित) आत्मा की कथा की दुर्लभता का कथन करते हुए[३] उसके कथन करने की प्रतिज्ञा करते हैं —"मैं अपनी शक्ति के अनुसार उस एकत्वविभक्त आत्मा का यदि प्रमाणरूप से दर्शन करा सकूँ तो प्रमाण मानना अन्यथा (ठीक से न समझा सकने पर या ठीक न समझने पर) छलरूप ग्रहण न करना।[४]

इससे सिद्ध है कि ग्रन्थकार का मुख्य उद्देश्य इस ग्रन्थ में आत्मा के दुर्बोध शुद्धस्वरूप का ज्ञान कराना है। अत वे व्यवहार पक्ष को गौण करके निश्चय का कथन मुख्यता से करते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि व्यवहार मिथ्या है। इस सन्दर्भ में उनका यह निवेदन ध्यान देने योग्य है—"ठीक न जान सकने पर छल रूप ग्रहण न करना।" इस तरह वे निश्चय ही व्यवहार और निश्चयनय से समन्वित आत्मा को दर्शाना चाहते हैं अन्यथा वेदान्तदर्शन के साथ जैनदर्शन का भेद करना कठिन हो जायेगा। इसलिए ग्रन्थकार व्यवहारनय से कहते हैं कि ज्ञानी जीव के चारित्र दर्शन और ज्ञान हैं परन्तु (निश्चय नय से) न चारित्र है, न दर्शन है और न ज्ञान है, अपितु वह शुद्ध ज्ञायकरूप है।[५] यहीं ग्रन्थकार व्यवहारनय की अनुपयोगिता की आशंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि जैसे अनार्य (साधारण) जन को अनार्य भाषा के बिना समझाना (वस्तुस्वरूप का ज्ञान कराना) कठिन है उसी प्रकार व्यवहारनय के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।[६]

इस तरह यहाँ स्पष्टरूप से अनुत्कृष्ट दशा वाले जीवों को परमार्थ तक पहुँचाने में व्यवहारनय को अनिवार्य साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके आगे व्यवहार को 'अभूतार्थ' तथा शुद्धनय (निश्चयनय) को 'भूतार्थ' कहते हुए भूतार्थनयाश्रयी को सम्यग्दृष्टि कहा है।[७] यहाँ ग्रन्थकार भ्रम-निवारणार्थ पुन कहते हैं—जो परम भाव (उत्कृष्ट दशा) में स्थित हैं उनके द्वारा शुद्ध तत्त्व

को उपदेश देने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो अपरमभाव (अनुत्कृष्ट दशा) में स्थित हैं वे व्यवहारनय से उपदेश करने के योग्य हैं।[८] इस तरह व्यवहारनय को त्याज्य न बतलाते हुए अपेक्षा भेद से ग्रन्थकार दोनों नयों की प्रयोजनवत्ता को सिद्ध करते हैं। अधिकांश जीव अपरमभाव में ही स्थित हैं। यही टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य "उक्त च" कहकर एक गाथा उद्धृत करते हैं—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा व्यवहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण पुण तच्चं॥[९]

अर्थात्-यदि तुम जिनमत की प्रवर्तना करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोडो क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ (व्यवहार मार्ग) का नाश हो जायेगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा, क्योंकि जिनवचन को स्याद्वाद रूप माना गया है, एकान्तवादरूप नहीं। अत जिनवचन सुनना, जिनबिम्बदर्शन आदि भी प्रयोजनीय हैं।

ग्रन्थ का उपसहार करते हुए आचार्य ने कहा है, "जो बहुत प्रकार के गृहस्थ आदि लिङ्गों में ममत्व करते हैं वे समयसार को नहीं जानते।[१०] व्यवहारनय दोनों (मुनि और गृहस्थ) लिङ्गों को इष्ट मानता है।[११] यहाँ जो अलिङ्गी को मोक्षमार्ग निश्चय नय से कहा है वह विशुद्धात्मा की दृष्टि से कहा है। जो विशुद्ध आत्मा है जीव-अजीव द्रव्यों में से कुछ भी न तो ग्रहण करता है और न छोडता है।[१२]

इस प्रकार जो इस समयप्राभृत को पढकर अर्थ एव तत्त्व को जानकर इसके अर्थ में स्थित होगा वह उत्तम सुख प्राप्त करेगा।[१३] यहाँ पडिहूड (पढकर), अत्थच्चदो णाउ (अर्थ तत्त्व को जानकर) और अत्थे ठाही चेया (अर्थ में स्थित आत्मा) पद चिन्तनीय हैं जो निश्चय व्यवहार के समन्वय को ही सिद्ध करते हैं। शुद्ध निश्चयनय तो स्वस्वरूप स्थिति है वहाँ कुछ करणीय जरूरी नहीं होता, जबकि ससारी का करणीय कर्म भी जानना जरूरी है।

३. प्रवचनसार

यह ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीन अधिकारों में विभक्त है। इसकी प्रारम्भिक पाँच गाथाओं में तीर्थङ्करों, सिद्धों, गणधरों, उपाध्यायों और साधुओं को नमस्कार किया गया है तथा उनके विशुद्ध दर्शन-ज्ञानप्रधान आश्रय को प्राप्त करके निर्वाण सम्प्राप्ति के साधनभूत समताभाव को प्राप्त करने की कामना की गई है। इसके बाद सरागचारित्र, वीतरागचारित्र आदि का कथन किया गया है।

तृतीय चारित्राधिकार का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार सिद्धों और श्रमणों को बारम्बार नमस्कार

करके दुःखनिवारक, श्रमणदीक्षा लेने का उपदेश देते हैं।[१] इसके बाद श्रमणधर्म स्वीकार करने की प्रक्रिया आदि का वर्णन करते हुए निश्चय-व्यवहाररूप श्रमणधर्म का विस्तार से कथन करते हैं।

प्रसङ्गवश प्रशस्तराग के सन्दर्भ में कहा है—

"रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि॥२५५॥

अर्थात्—जैसे एक ही बीजभूमि की विपरीतता से विपरीत फलवाला देखा जाता है वैसे ही प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग भी पात्र की विपरीतता से विपरीत फलवाला होता है। इससे सिद्ध है कि प्रशस्त राग पात्रभेद से तीर्थंकर प्रकृति के बन्धादि के द्वारा मुक्ति का और निदानादि के बन्ध से संसारबन्ध का, दोनों का कारण हो सकता है। जयसेनाचार्य ने २५४ वीं गाथा की व्याख्या करते हुए इसी अर्थ को स्पष्ट किया है—"वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म है। इससे वे खोटे ध्यानों से बचते हैं तथा साधु-संगति से निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का ज्ञान प्राप्त होता है, पश्चात् परम्परया निर्वाणप्राप्ति होती है।"[२]

उपसंहाररूप २७४ वीं गाथा में शुद्धोपयोगी मुनि को सिद्ध कहकर नमस्कार किया गया है तथा २७५ वीं गाथा में ग्रन्थ का फल बतलाते हुए लिखा है—

बुज्झदि सा सणमेयं सागारणगार चरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेणपप्पोदि ॥२७५॥

अर्थात्—जो गृहस्थ और मुनि की चर्या से युक्त होता हुआ (अरहन्त भगवान के) इस शासन (शास्त्र) को जानता है वह शीघ्र ही प्रवचन के सार (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। यहाँ 'सागारणगारचरियया' शब्द ध्यान देने योग्य है जिसकी व्याख्या करते हुए जयसेनाचार्य ने लिखा है "अभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमुपादेयं कृत्वा बहिरङ्गरत्नत्रयानुष्ठानं सागारचर्या श्रावकचर्या। बहिरङ्गरत्नत्रयाधारेणाभ्यान्तर-रत्नत्रयानुष्ठानमनगारचर्या प्रमत्तसंयतादितपोधनचर्येत्यर्थ।"

इस तरह प्रवचनसार में विशेष रूप से व्यवहार-निश्चयरूप मुनिधर्म का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार दोनों नयों का सम्यक् समायोजन चाहते हैं। ज्ञान और ज्ञेय अधिकार में भी निश्चय-व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों नयों का समन्वय करते हुए वस्तु तत्त्व का विवेचन करते हैं।

४. नियमसार

जो अवश्यकरणीय (नियम से करने योग्य) हों उन्हें 'नियम' कहते हैं। नियम से करने योग्य हैं सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र। विपरीत ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिहार करने के लिए

नियम शब्द के साथ 'सार' पद का प्रयोग किया गया है।[1] इस तरह नियमसार ज्ञान, दर्शन और चारित्र-स्वरूप नियम निर्वाण का कारण (मोक्षोपाय) है तथा उसका फल परम निर्वाण-प्राप्ति है।[2] इसमें १६ अधिकार हैं। इस ग्रन्थ के लिखने का प्रयोजन ग्रन्थकार ने यद्यपि निजभावना बतलाया है परन्तु प्रवचन-भक्ति भी इसका प्रयोजन रहा है।[3]

ग्रन्थारम्भ करते हुए ग्रन्थकार 'जिन' को नमस्कार करके केवली और श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित नियमसार के कहने का संकल्प करते हैं।[4] पश्चात् व्यवहार और निश्चय दोनों नयों की दृष्टि से रत्नत्रय का कथन करते हैं। प्रथम जीवाधिकार के अन्त में ग्रन्थकार निश्चय-व्यवहार तथा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों प्रकार के नय-विभाजनों का समन्वय करते हैं—

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो॥८॥

दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जया।
पज्जयणयेण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहि॥९॥

दशम परम भक्त्याधिकार के प्रारम्भ में ग्रन्थकार व्यवहारनय की अपेक्षा से उसकी प्रशंसा में लिखते है—"जो श्रावक अथवा मुनि रत्नत्रय में भक्ति करता है अथवा गुणभेद जानकर मोक्षगत पुरुषों में भक्ति करता है उसे निवृत्ति-भक्ति (निर्वाणभक्ति) होती है।"[5]

अन्त में ग्रन्थकार अपनी सरलता को बतलाते हुए हृदय के भाव को प्रकट करते हैं—"प्रवचन की भक्ति से कहे गये नियम और नियमफलों में यदि कुछ पूर्वापरविरोध हो तो समयज्ञ (आगमज्ञ) उस विरोध को दूर करके सम्यक् पूर्ति करे।"[6] किन्तु 'ईर्ष्याभाव से इस सुन्दरमार्ग की यदि कोई निन्दा करे तो उनके वचन सुनकर जिनमार्ग के प्रति अभक्ति न करे क्योंकि यह जिनोपदेश पूर्वापरदोष से रहित है।"[7] यहाँ पूर्वापरविरोध-परिहार की बात करके ग्रन्थकार दोनों नयों का समन्वय करना चाहते हैं, इसे सुनकर ईर्ष्या भाव उत्पन्न होने की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थकार व्यवहार नयाश्रित भक्ति को न छोडने की बात करते हैं।

इस तरह ग्रन्थकार सरलहृदय से किसी एक नय का ऐकान्तिक ग्रहण अभीष्ट न मानते हुए पूर्वापरविरोधरहित स्याद्वाद का सिद्धान्त ही प्रतिपादन करना चाहते हैं।

५. अष्टपाहुड

दर्शनादि सभी पाहुडों के प्रारम्भिक पद्यों में वर्द्धमान आदि तीर्थङ्करों को नमस्कार किया गया है।[1] शीलपाहुड में शील और ज्ञान के अविरोध को बतलाते हुए लिखा है कि शील के बिना पञ्चेन्द्रिय के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।[2] अत सही ज्ञान के लिए चारित्र अपेक्षित है। लिङ्गपाहुड़ में केवल बाह्यलिङ्ग से धर्मप्राप्ति मानने वालों को प्रतिबोधित किया गया है।[3]

इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार का पथभ्रष्ट बाह्यलिङ्गी साधुओं को ही प्रतिबोधित करना मुख्य लक्ष्य रहा है। इस तरह इस ग्रन्थ में भी दोनों नयों का समन्वय देखा जा सकता है।

६. द्वादशानुप्रेक्षा

इसका प्रारम्भ सिद्धों और चौबीस तीर्थङ्करों के नमस्कार से होता है।[१] अन्तिम से पूर्ववर्ती दो गाथाओं (८९-९०) में अनुप्रेक्षाओं का माहात्म्य बतलाकर उनके चिन्तन से मोक्ष गये पुरुषों को बारम्बार नमस्कार किया गया है। अन्तिम गाथा कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों के मर्मज्ञ किसी विद्वान् के द्वारा जोडी गई जान पडती है क्योंकि वहाँ "जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे" वाक्य का प्रयोग किया गया है जबकि पंचास्तिकाय की अतिम गाथा में 'मया भणियं, का प्रयोग किया गया है।[२] द्वादशानुप्रेक्षा की पूरी अंतिम गाथा इस प्रकार है—

इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावई परमणिव्वाणं॥९१॥

इस गाथा में ग्रन्थकार के निश्चय-व्यवहार के समन्वय को स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। 'सुद्धमणो' शब्द से यहाँ एकान्त आग्रहरहित वीतराग-हृदय का सकेत किया गया है।

७. भक्तिसंग्रह

यह पूर्णत भक्तिग्रथ होने से आदि से अन्त तक व्यवहारनयाश्रित है। जैसे—"तित्थयरा मे पसीयन्तुं"[१], "आरोग्गणाणलाहं दितु समाहि च मे बोधि",[२] "सिद्धासिद्धिं मम दिंसतु",[३] "दुक्खखय दिंतु",[४] 'मंगलमत्थु मे णिच्च",[५] "णिव्वाणस्स हु लद्धो तुम्ह पसाएण",[६] एयाण णमुक्कारा भवे भवे मम सुहं दिंतु"[७] इत्यादि।

ये कथन अपेक्षाभेद से सिद्धान्तविपरीत नहीं है। बाह्यरूप से देखने पर लगता है कि पूर्ण शुद्ध निश्चयनय का प्रतिपादन करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द ईश्वरकर्तृत्ववाचक व्यवहारपरक वाक्यों का प्रयोग कैसे कर सकते हैं? परन्तु निश्चय और व्यवहार के समन्वय के इच्छुक आचार्य के ये प्रयोग अनुपपन्न नहीं हैं, क्योंकि तटस्थ निमित्तकारणों को भक्तिवश यहाँ सक्रियनिमित्त कारणों के रूप में कहा गया है जो 'स्यात्' पद के प्रयोग से असगत नहीं है।

इस प्रकार ग्रन्थकार के सभी ग्रन्थों के अवलोकन से सिद्ध होता है कि उन्हें उभयनयों का समन्वय अभीष्ट है जो जिनमत के अनुकूल है। इसीलिए वे शुद्ध निश्चयनय से सिद्धादि के प्रति भक्तिभाव का निषेध करते हुए भी प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहीं कहीं मध्य और अन्त में भी, सिद्धादि के प्रति नमस्कार रूप भक्ति को प्रदर्शित करते हैं। भक्तिसंग्रह पूर्णत भक्ति का पिटारा है। इसी प्रकार बाह्यलिङ्ग का निषेध करके भी उसका न केवल प्रतिपादन

ही करते हैं अपितु स्वयं भी भावलिङ्ग को भी धारण करते हैं।

शुद्ध निश्चयनय से संसारी और मुक्त आत्माओं को नियमसार में जन्मजरादिरहित, सम्यक्त्वादि आठ गुणों से अलंकृत, अतीन्द्रिय, निर्मल, विशुद्ध और सिद्धस्वभावी कहा है।[८] परन्तु क्या अपेक्षाभेद से इतना कहने मात्र से संसारी और मुक्त समान हो जायेंगे? ऐसा होने पर मुक्ति के लिए प्रयत्न हितोपदेशादि सब व्यर्थ हो जायेंगे। किञ्च वहीं परद्रव्य को हेय और स्व को उपादेय कहा है।[९] क्या निश्चयनय से हेयोपादेय भाव बन सकता है? कभी नहीं संभव है। यह हेयोपादेय भाव व्यवहारनय से ही संभव है। अत ग्रन्थकार के किसी एक कथन को उपादेय मानना एकान्तवाद को स्वीकार करना है जो स्याद्वादसिद्धान्त से मिथ्या है। जब तक समग्र दृष्टि से चिन्तन नहीं करेंगे तब तक ग्रन्थकार के मत का सही मूल्याकन नहीं कर सकेंगे। ग्रन्थकार ने किन परिस्थितियों में किनके लिए निश्चयनय का उपदेश दिया है, यह ध्यान देने योग्य है। व्यवहार (अभूतार्थ) को हेय उन्होंने कभी नहीं कहा अपितु उसे ही पकडकर बैठ जाने अथवा उसकी ओट में जीविका चलाने का निषेध किया है।[१०] आचार्य ने स्वय "ममयसार के कर्तृकर्माधिकार के अन्त में दोनों नयों से अतिक्रान्त समयसार है, किसी एक नयाश्रित नहीं" कहकर सारभूत अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट शब्दों में कहा है—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठ चेदि ववहारणयभणिद।
सुद्धणयस्स दुजीवे अबद्धपुट्ठं हवई कम्म॥१४१॥

कम्म बद्धमबद्ध जीवे एव तु जाण णयपक्ख।
पक्खातिक्कतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥१४२॥

सम्मद्दसणणाण एद लहदित्ति णवरि ववदेस।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो॥१४४॥

अर्थात् व्यवहार नय से जीव में कर्म बद्ध-स्पृष्ट है परन्तु निश्चयनय से अबद्ध-स्पृष्ट है। "जीव में कर्म बधे हैं अथवा नहीं बधे हैं" ऐसा कथन नय पक्ष है परन्तु जो इससे दूर (पक्षातिक्रान्त) है वही समयसार है। जो शुद्ध आत्मा से प्रतिबद्ध है, दोनों नयों के कथन को केवल जानता है, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता है, वही पक्षातिक्रान्त है। जो सभी नयपक्षों से रहित है वही समयसार है। यह समयसार ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस नाम को प्राप्त होता है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन में निश्चय-व्यवहार का समन्वय देखा जाता है जो जैन दर्शन के अनुकूल और युक्तिसंगत है।

◇◇◇

(१) पंचास्तिकाय

१.(क) प्रथम श्रुतस्कन्ध में—

इंदसदवंदियाणं तिहुअणहिदमधुर-विसदवक्काणं।
अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं॥१॥

समणमुहुग्गदमट्ठं चदुग्गदिनिवारणं सणिव्वाणं।
एसो पणमिय सिरसा समयमिमं सुणह वोच्छामि॥२॥

(ख) द्वितीय श्रुतस्कन्ध में—

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारणं महावीरं।
तेसिं पयत्थभंगं मग्गं मोक्खस्स वोच्छामि॥१०५॥

२ एवं पवयणसारं पचत्थियसंगह वियाणित्ता।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं॥१०३॥
मुणियूण एतदट्ठं तदणुगमणुज्झदो णिहमदमोहो।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो॥१०४॥

३ पचा १०७, १६०

४ पंचा १६१, १६३

५ पंचा १६६, १६८, १७०, १७१

६ पंचा १६९

७. पचा १६९ (वही)

८. मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणिय पवयणसार पंचत्थियसंगह सुत्तं॥१७३॥

(२) समयसार

१. समयसार, गाथा २

२. वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणिय॥१॥

३. समय ३-४

४ तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं॥५॥

५. ववहारेणुवदिस्सई णाणिस्स चरित्तदसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्त ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥७॥

६. जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं॥८॥
तथा देखिए, वही गाथा ९-१०

७. ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवई जीवो॥११॥

८. सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥१२॥

९ समयसार, गाथा १२ (टीका)

१० पासडियलिंगेसु व गिहलिंगेसु वा बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्त तेहि ण णाय समयसार॥४१३॥

११ ववहारिओ पुणणओ दोण्णि वि लिगाणि भणई मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिगाणि॥४१४॥

१२ तम्हा दु जो विसुद्धो चेदा सो णेव गिण्हए किंचि।
णेव विमुंचई किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाण॥४०७॥

१३ जो समयपाहुडमिण पडिदूण य अत्थतच्चदो णाउ।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तम सोक्ख॥४१५॥

(३) प्रवचनसार

१ प्रवचनसार, गाथा २०१

२ प्रवचनसार, गाथा २५४, जयसेनाचार्य टीका।

(४) नियमसार

१ णियमेण य जं कज्ज तण्णियमं णाणदसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिद खलु सारमिदि वयणं॥४॥

२ नियम गाथा २, ४

३. नियम गाथा १८४, १८६ (देखें, नियमसार टि न ६, ७)

४. नियम गाथा १

५ सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं॥१३४॥
मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं॥१३५॥

६ णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा॥१८४॥

७. ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुंदरं मग्गं।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे॥१८५॥
णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिनोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्क॥१८६॥

(५) अष्टपाहुड़

१ दर्शनपाहुड, गाथा १, २

२ शीलपाहुड, गाथा २

३ धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमेत्तेण धम्मसपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो॥लिंगपाहुड, गाथा २॥
जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं।
उवहसइ लिंगि भावं लिगं णसेदि लिंगीण॥लिंगपाहुड ३॥

(६) द्वादशानुप्रेक्षा (वारसणुपेक्खा)

१ द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा १

२. पचास्तिकाय, गाथा १७३

(७) भक्तिसंग्रह

१. तीर्थङ्कर-भक्ति ६

२. तीर्थङ्कर-भक्ति ७

३. तीर्थङ्कर-भक्ति ८

४ योगिभक्ति २३

५ आचार्यभक्ति १

६ आचार्यभक्ति ७

७. पंचगुरुभक्ति ७

८. जारिसया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण॥नियमसार, गाथा ४७॥
असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया॥नियम. ४८॥
एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा॥नियम ४९॥

९. नियमसार, गाथा ५०

१०. देखें, लिंगपाहुड़, अष्टपाहुड टिप्पण नं. ३

चोवीस तीर्थकरोंके नोवाम चिन्ह

आचार्य कुन्दकुन्द और ध्यान

❑ ब्र. कुमारी कौशलजी, दिल्ली

झाण-णिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वादिचारस्स पडिकमणं॥—नि.सा. १३

आचार्य कुन्दकुन्द जैन-जगत के सर्वप्रिय व चर्चित श्रमण हैं। भगवान महावीर और गौतम गणधर के उपरांत बचपन से कौण्डेश नाम से पहिचाने जाने वाले वे उदीयमान द्वितीया के चन्द्र थे। प्रज्ञा की प्रखरता के कारण वे कलिकाल-सर्वज्ञ कहलाते हैं। उनकी अनेक रचनाओं में क्रमश. प्रखर व निखरती हुई प्रतिभा की प्रौढ़ता व विषय की सूक्ष्मता एवं विशदता के दर्शन होते हैं। यद्यपि इन रचनाओं का प्रतिपाद्य विषय आत्मा का त्रिकाल-स्वयंसिद्ध-अस्तित्व, उसका शुद्ध स्वरूप तथा मुक्ति का उपाय रत्नत्रय ही है, फिर भी उसमें कथनी की दिशाओं में विभिन्नता है। उनकी प्रथम रचना पंचास्तिकाय में छ द्रव्यों के माध्यम से, प्रवचनसार में ज्ञान-ज्ञेय तत्त्व के माध्यम से तथा समयसार में सात तत्त्व एवं नय पदार्थों के परिवेश में, उसी तत्त्व का विवेचन किया गया है। तथा नियमसार में त्रिकाल शुद्ध कारण समयसार का अवलंबन लेकर शुद्धात्मा के ध्यान का वर्णन है। साधु के षट् आवश्यक कर्मों की व्यवहार से उपयोगिता बताते हुए भी परमार्थ से शुभ-अशुभ परिणति से विरक्त होकर आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति का वर्णन किया गया है और प्रेरणा दी है। आत्मरति को ही परम सुख व मोक्षमार्ग कहा है। उनके विस्तृत विवेचन व विश्लेषण में दर्शन व धर्म, निश्चय व व्यवहार का समानान्तर कथन एव संतुलन है।

धर्म का मूल

आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप को मोक्षमार्ग कहा है (दर्शन पाहुड, मू., ३०।३२) और यह भी कहा है कि जैसे जहाज चलाने वाला नियामक तो ज्ञान है, पवन की जगह ध्यान है और चारित्र जहाज है। इस ज्ञान, ध्यान और चारित्र के मेल से भव्य जीव संसार समुद्र से पार हो जाते है। ज्ञान तो प्रकाशक है, तप-ध्यान कर्म-विनाशक है और चारित्र रक्षक है, इन तीनों के संयोग से मोक्ष होता है। (भगवती आराधना, ८१६—८१७)

"दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहि सिस्साणं" (दर्शन पाहुड, २) अर्थात् जिनेन्द्र भगवान ने दर्शन को धर्म का मूल कहा है और चारित्र को धर्म का वृक्ष कहा है।

धर्म का लक्षण

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥—प्रवचनसार ७॥

अर्थात् चारित्र ही वास्तव में धर्म है, जो धर्म है वह साम्य है और साम्य आत्मा का मोह और क्षोभ से रहित परिणाम है।

आत्मा का लक्षण

मुख्यत आत्मा उपयोग लक्षणवाला है। इसके अतिरिक्त आत्मा का लक्षण करते हुए कहा है—

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओग विसेसदो .....।—पंचास्तिकाय, २७
अर्थात् आत्मा जीव है, चेतयिता है, उपयोग विशेष वाला है।

अरसमरूवमगधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसंठाण॥—समयसार ४९

—जीव रस, रूप व गध रहित है। इन्द्रिय अगोचर, चेतना गुणवाला, शब्द रहित, किसी चिन्ह से ग्रहण न होने वाला और जिसका कोई आकार नहीं है, ऐसा कहा जाता है (प.का. १२७) (प्र.सा. १७२) (भा.पा. १६४) (स.सा. ५७-६८)।

उपर्युक्त लक्षण निश्चय नय की अपेक्षा है। व्यवहार नय की अपेक्षा जीव का लक्षण इस प्रकार है—

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥—पचास्तिकाय २७

अर्थात् (ससार स्थित) आत्मा जीव है, चेतयिता है, उपयोग लक्षित है, प्रभु है, कर्त्ता है, भोक्ता है, देह-प्रमाण है, अमूर्त और कर्म-सयुक्त है।

विभिन्न भावों का कर्तृत्व

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसए जो हि पुणो तेहिं संबंधो॥—प्रवचनसार, १७५

—उपयोगमय जीव विविध विषयों को प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है, वह जीव उनके द्वारा बन्ध रूप है। इस प्रकार पर-पदार्थो में राग-द्वेष-मोह के कारण जीव स्वचारित्र भ्रष्ट और पर-चारित्र आचरण करने वाला कहा गया है (पं.का.।१५६)। इसी भाव को समयसार

में स्व-समय और पर-समय नाम से कहा है—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमय जाणे।
पुग्गल कम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥—समयसार, २

अर्थात्-जो जीव चारित्र-दर्शन-ज्ञान में स्थित है, उसे निश्चय से स्व समय जानो और जो जीव पुद्गलकर्म-प्रदेशों में स्थित है, उसे पर-समय जानो।

इसी विधि से जीव के शुभ-अशुभ भाव होते हैं—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो॥—प्रवचनसार ९

अर्थात्-जीव परिणाम स्वभावी होने से जब शुभ-अशुभ भावरूप परिणमन करता है तब शुभ या अशुभ होता हे और जब शुद्ध भाव रूप परिणमित होता हे तब शुद्ध होता है।

शुभ-अशुभ भाव से जीव बँधता है और शुद्धभाव से शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। इन्हीं राग-द्वेष भावों का निमित्त पाकर कर्म बँधता है और उसके अभाव से जीव कर्म से छूटता है। (प्रवचनसार २४४-२४५)

पुद्गल स्वयं कर्म-भावापन्न

सारे लोक में सर्वत्र विविध प्रकार के अनंतानंत सूक्ष्म-बादर पुद्गल भरे पडे हैं (पंचास्तिकाय ६४-६५)। वे जीव-भावों का निमित्त पाकर स्वयं ही कर्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं।

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं॥—समयसार, ९१

अर्थात् आत्मा जिस भाव को करता है, उस भाव का कर्त्ता होता है। उस भाव के होने पर पुद्गल कर्म रूप से स्वय परिणमित होता है। सारांश यह है कि—

रत्तो बधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बध समासो जीवाण जाण णिच्छयदो॥—प्रवचनसार, १७९

अर्थात् रागी आत्मा कर्म बाँधता है, रागरहित आत्मा कर्म से छूटता है, यह जीवों का बन्ध संक्षेप से जानो। (प.का. १४८-१४९), (स.सा ३०१-३०३)।

जीव व कर्म का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

जीव और कर्म का परस्पर ऐसा ही कुछ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब जीव भाव करता है तब पुद्गल कर्म आत्म-प्रदेशों से बन्ध को प्राप्त होता है। जेसा कर्म का उदय होता

है, वैसा ही जीव का भाव होता है। जबकि वास्तव में दोनों अपने-अपने कर्म के कर्त्ता हैं।

भावो कम्मणिमित्तो कम्म पुण भावकारणं हवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं॥—पंचास्तिकाय ६०

अर्थात् जीवभाव का कर्म निमित्त है और कर्म का जीवभाव निमित्त है। जबकि वास्तव में एक दूसरे के कर्त्ता नहीं हैं। कर्त्ता के बिना होते हैं ऐसा भी नहीं है।

संसार-अवस्था में जीव मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि, अज्ञान के उदय से अज्ञानी, कषाय के उदय से अचारित्रवान् होता है (समयसार १६१-१६३)। और भी कहा है—

जो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणावच्छण्णो।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्व॥—समयसार १६०

अर्थात् वह आत्मा स्वभाव से सबको देखने-जानने वाला होने पर भी कर्म से लिप्त होता हुआ सर्व को नहीं जानता।

मोहितमति

कर्म से बन्धा हुआ जीव मोहित-मति होता हुआ पर-द्रव्यों में आत्मबुद्धि करता है और दुखी-सुखी होता है।

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिण भणदि पुग्गल दव्व।
बद्धमबद्ध च तहा जीवो बहुभावसजुत्तो॥—समयसार, २३

अर्थात् जिसकी मति अज्ञान (मोह) से मोहित है, और जो मोह, राग-द्वेषादि भावों से युक्त है वह कहता है कि "यह शरीरादि बद्ध तथा धन-धान्यादि अबद्ध पुद्गल द्रव्य मेरा है।" (समयसार २०-२१ प्रवचनसार १८३)

आत्मा केवल भाव का कर्त्ता

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।—प्रवचनसार, १८४

अर्थात् वास्तव में आत्मा अपने भाव को करता हुआ, उसी का कर्त्ता है, पर-द्रव्य का नहीं।

जीव के कर्मबन्ध में नयपक्ष

जीवे कम्म बद्ध पुट्ठ चेदि ववहार-णय-भणिद।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं॥—समयसार, १४१

अर्थात् जीव कर्म से बंधा है, स्पर्शित है ऐसा व्यवहार नय है। जीव में कर्म अबद्ध, अस्पर्शित है, ऐसा शुद्ध नय का कथन है। जो दोनों नयों को पार कर चुका है, वह समयसार है।

बन्धन के चिन्तन मात्र से मुक्ति नहीं

जिस प्रकार बन्धनों से बँधा हुआ पुरुष बन्धों का विचार करके मुक्ति को प्राप्त नहीं करता। इसी प्रकार कर्म बन्धों का विचार करके जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं करता (स.सा.।२८)। कर्म व शरीरादि पदार्थ भिन्न हैं। किन्तु "मैं और मेरा" भाव ही बन्ध है। अज्ञान से जीव पर-पदार्थों में आत्मबुद्धि करता है। इसी कारण अपने अज्ञान भाव का भोक्ता है। किन्तु विकारी भावों व शुद्ध उपयोग रूप आत्मा में प्रज्ञा रूप पैनी छैनी से स्वय को भिन्न पहिचाना जा सकता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि विभिन्न रंगों के संयोग से रंगीन दिखाई देती है किन्तु मणि के स्वभाव के निकट जाकर देखने पर रंग उसको छू नहीं गए होते है। इस प्रकार ज्ञानी उपयोग लक्षण रूप कारण समयसार के द्वारा आत्मा को पर-द्रव्यों से सर्वथा भिन्न व शुद्ध अनुभव करता है।

भेद-विज्ञान की विधि

पण्णाए घेत्तव्वो जो चेदा सो अह तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे ते त्ति णायव्वा॥—समयसार, २९७

अर्थात् 'प्रज्ञा के द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो चेतने वाला और देखने वाला व जानने वाला चेतन स्वरूप आत्मा है, निश्चय से वह मैं हूँ, शेप जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं।

इस प्रकार जीव पर-द्रव्य को पर जानकर अर्थात् 'यह पर है' ऐसा जानकर, उसकी ओर से लक्ष्य हटाता है। इसी प्रकार आत्मा क्रोधादि विकारों को पर जानकर उपेक्षित होता है और अपने ज्ञान स्वभाव को अधिक जानकर उसमें स्थिर होता है (समयसार ३५-३७)। ज्ञान और ज्ञेय में भेद करके ज्ञेयों को मात्र जानता है और साम्यता को प्राप्त होता है।

अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्ण परमाणुमेत्त पि॥—समयसार, ३८

अर्थात् स्वरूप सचेतन के समय आत्मा जानता है कि निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, किंचित् मात्र भी पर द्रव्य-परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, यह निश्चय है। ऐसा चिन्तन नहीं, अपितु अनुभव करता है।

विकारों से संक्लिष्ट होने पर भी उसमें केवल शुद्ध उपयोग मात्र का लक्ष्य करने का नाम

ही भेदविज्ञान है। जिस प्रकार विविध मसालों से मिश्रित व्यञ्जन में लक्षणभेद से उपभोग में प्रज्ञा रूप छैनी के द्वारा लवण को पहिचाना जाता है। इसी प्रकार से विविध विकारी भावों में चमकती ज्ञानरूप ज्योति के विवेक द्वारा ज्ञाता-दृष्टा रहकर भिन्न अनुभव किया जाता है। जो चिद् ज्योति मात्र ज्योति है विकारों से अस्पर्शित होने के कारण बन्धादि की उपाधियों से रहित तथा सदा शुद्ध है। यथा–

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणदो दु जो भावो।
एवं भणंदि सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव॥–समयसार, ६

अर्थात् जो ज्ञायक भाव है वह न प्रमत्त है और न अप्रमत्त है, इसे शुद्ध कहते हैं। जो ज्ञायक रूपसे जानने वाले के रूप में ज्ञात हुआ, वह तो वही है, अन्य कोई नहीं है।

वह आत्म-सवेदन किस प्रकार किया जाता है, इसका कथन करते हुए आ. अमृतचन्दजी कहते हैं–प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करके, फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए पर-पदार्थ की प्रसिद्धि की कारण-भूत इन्द्रियों द्वारा और मन के द्वारा प्रर्वतमान बुद्धियों को मर्यादा में लेकर मतिज्ञान तत्त्व को आत्म सन्मुख करता हुआ, तथा नाना प्रकार के नय पक्ष के अवलम्बन से होने वाले अनेक विकल्पों द्वारा आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को मर्यादा में लेकर, श्रुतज्ञान के तत्व को आत्म-सम्मुख करता हुआ, अत्यंत विकल्प रहित होकर तत्काल निज रस से ही प्रगट होता हुआ, आदि-मध्य और अन्त से रहित, अनाकुल, केवल एक सम्पूर्ण ही विश्व पर मानों तैरता हो, ऐसे अखण्ड प्रतिसमय, अनंत विज्ञानघन, परमात्मा रूप समयसार का अनुभव करता है, तब उसी समय सम्यक्त्व दिखाई देता है और ज्ञात होता है। (समयसार टीका १४४)

अचक्षुदर्शन ही आत्म-ग्राहक है

विश्व में जो भी अनुभव होता है, वेदन होता है, उसमें विकल्प नहीं होता है। और निज का अर्थात् आत्मा का अनुभव तो इद्रिय और मन से सर्वथा रहित होने से पूर्ण निर्विकल्प और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। ज्ञान पर-पदार्थों को तो पृथक रहकर प्रकाशित करता है, किन्तु स्वय को ऐसे प्रकाशित नहीं करता। क्योंकि आत्मा और ज्ञान पृथक् वस्तु नहीं हैं। अत स्वय तो आत्मा प्रकाशित होता है अथवा संवेदन किया जाता है। इसलिए सम्यग्दर्शन में कोई विकल्प नहीं है। आत्मा का लक्षण 'उपयोग' किया गया है। वह उपयोग दर्शन और ज्ञान रूप है। सम्यग्दर्शन वास्तव में आत्म-संचेतन के रूप होने के कारण दर्शनोपयोग का विषय है। कहा है–

"अत्र चतुष्टमध्ये मानसमक्षुदर्शनमात्मग्राहकं भवति।" (परमात्म प्रकाश ।टी-।२।३४।१५५)

अर्थात् चारों दर्शनों में मानस-अचक्षुदर्शन आत्मग्राहक है। सामान्य विशेष से रहित नहीं होता। उस स्थिति में दर्शनोपयोग की अवस्थाओं में ज्ञान भी है। कहा है–

"स्वसंवित्याकारेण सविकल्पमयीन्द्रिय-मनोजनित-रागादि। विकल्पज्ञानरहितत्वेन निर्विकल्पम्॥" द्र. सं, टी. ५।६

—स्वसंवेदन आत्मा के आकार से सविकल्प है तो भी इन्द्रिय तथा मन से उत्पन्न विकल्प से रहित होने के कारण निर्विकल्प है (पं. ध. ।५।१।१६)। उक्त विषय के समर्थन में कहा है कि चूंकि आत्मा में सम्पूर्ण विश्व झलकता है, इसलिए व्यवहार से केवली भगवान जगत तो जानते हैं। वास्तव में तो अपनी आत्मा को ही जानते-देखते हैं।

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण॥—नियमसार, १५१

आत्म-अनुभव के लिए चिंतन की नहीं, दर्शन की आवश्यकता है। बौद्धिक विचार की नहीं अपितु पर-द्रव्यों से स्वयं को भिन्न देखने व अनुभव की आवश्यकता है। चिन्तन परोक्ष का होता है अनुभव प्रत्यक्ष का। चिन्तन शब्दात्मक है जबकि दर्शन व अनुभव निर्विकल्प। विचार भटकता है, तोडता है, जबकि दर्शन अखण्ड का होता है। इसीलिए कहा है, वचन वाचन है, स्वाध्याय है, अनुभव नहीं। अनुभव मौन, तटस्थ व दर्शन व ध्यान से होता है। ध्यान से ही कर्म-निर्जरा होती है। निर्विकार व रुकी हुई ज्ञानवृत्ति ही ध्यान है। अत आत्मध्यानी की सभी क्रियायें सार्थक हैं। अन्य सभी क्रियायें शुभ और अशुभ कर्म के बन्ध के कारण होती हैं। इसलिए ध्यान का अभ्यास करो।

आत्मध्यानी ही अंतरात्मा है

जो धम्मसुक्क झाणम्हि परिणदो सोवि अतरगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि॥—नियमसार, १५१

अर्थात्—जो धर्म और शुक्ल ध्यान में परिणत है वह अंतरात्मा है। ध्यान-विहीन श्रमण बहिरात्मा है। (नि सा. १५0)। आर्त-रौद्र अशुभ ध्यान है, इन्हें छोडो (मूल आराधना ३१४)।

ध्यान के प्रसंग में कहा है कि जो पर-द्रव्यों से अपने उपयोग को हटाकर अपने में स्थापित करता है, उसको कर्म का बंध कैसे सम्भव है।

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहि सो ण रजदि किह तं पाणा अणुचरंति॥—प्रवचनसार, १५१

अर्थात्—जो इन्द्रियादि का विजयी होकर उपयोग मात्र आत्मा का ध्यान करता है, वह कर्मों के द्वारा रंजित नहीं होता। उसे प्राणों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है। और कहा है — "अन्य पर द्रव्यों में मैं मध्यस्थ होता हुआ, शुभ-अशुभ उपयोग रूप नहीं होता हुआ, ज्ञानात्मक आत्मा को ध्याता हूँ (प्रवचनसार टीका १५१)।
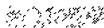
जो एव जाणिता झादि परंअप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठि॥—प्रवचनसार, १९४

अर्थात्—(शरीर, धन, शत्रु, मित्र तथा सुख, दुःख, ध्रुव नहीं है। ध्रुव तो एक उपयोगात्मक आत्मा है। ये सब सयोग आते हैं और चले जाते हैं। ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ वह परम-आत्माका ध्यान करता है।

"ततोऽनन्तशक्ति चिन्मात्रस्य परमस्यात्मन एकाग्रसचेतन-लक्षणं ध्यानं स्यात्। प्रवचनसार टीका, १९४

—इसलिए अनंत शक्ति वाले चिन्मात्र परमात्मा का एकाग्र सचेतन लक्षण ध्यान होता है। वह साकार हो अथवा निराकार, मोह दुर्ग्रन्थि का क्षय करता है (प्रवचनसार १९५, १९८)।

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाण हवदि आदा॥—प्रवचनसार, ११६

अर्थात्—जो मोह कलुषता का क्षय करके, विषय विरक्त होकर, मन का निरोध करके स्वभाव में अवस्थित है, वह आत्मा का ध्यान करने वाला है तथा अनिन्द्रियातीत और इन्द्रियातीत होता है। अबाध सम्पूर्ण सुख व ज्ञान से समृद्ध होता हुआ परम सौख्य रूप आत्मा का ध्यान करता है (प्र. सा.।१९८)।

कर्मनिर्जरा का हेतु मात्र ध्यान है

जस्स ण विज्जहिरागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायदे अगणी॥—पचास्तिकाय १४६

अर्थात्—जिसे मोह, राग, द्वेष नहीं है, तथा मन-वचन-काय योगों का सेवन नहीं है अर्थात् उनके प्रति उपेक्षा है, उसे शुभाशुभ को जलाने वाली ध्यानमय अग्नि प्रगट होती है।

ज्ञानी देह, मन वाणी से अपने आत्मा को उपयोग लक्षण के द्वारा भिन्न करता हुआ अर्थात् उनको साक्षी भाव से देखता हुआ पर-द्रव्यों का कर्त्ता-अनुमन्ता आदि नहीं होता है (प्र. सा. १६0); स स ५0-६१)। केवल अपने ज्ञान में प्रवर्तित अन्वय और चिद्विवर्तों का ज्ञाता होता है। कहा है—

जो जाणदि अरहंत दव्वगुणत्तपज्जयत्तेहि।
सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्स लयं॥—प्रवचनसार, ८0

अर्थात्—जो अरहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है। जैसे मोतियों को (गुणों को) झूलते हुए हार

में अर्न्तगत माना जाता है, उसी प्रकार चिद्विवर्तों का चेतन में ही अर्न्तगत करके, तथा विशेषण-विशेष्य की वासना का अन्तर्धान होने से, जैसे सफेदी को हार में अन्तर्निहित जानता है उसी प्रकार चैतन्य को चेतन में ही अन्तर्निहित करके, जैसे मात्र हार को जाना जाता है, उसी प्रकार केवल आत्मा को जानने पर, उसके उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय को प्राप्त हो जाता है। इसलिये निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता है, और इस प्रकार मणि की भांति जिसका निर्मल प्रकाश अकम्प रूप से प्रर्वतमान है, ऐसे उस (चिन्मय भाव को प्राप्त) जीव के, मोहान्धकार निराश्रता के कारण अवश्यमेव प्रलय को प्राप्त होता है। यह है अन्तरंग में मात्र साक्षी भाव से दर्शन की विधि, जिससे अन्त चित्त में चिद्विवर्तों को तटस्थ भाव से देखकर वीतरागी हो आत्मभाव को प्राप्त होता है।

आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य क्रियायें विकल्प हैं

वयणमयं पडिकमण वयणमय पच्चखाणणियम च।
आलोयण वयणमय तं सव्वं जाण सज्झाउं।।—नियमसार, १५३

अर्थात्—वचनमय, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, नियम, आलोचना—ये सब स्वाध्याय हैं—ऐसा जानो।

विकल्प मात्र संसार हेतू

विकल्प चाहे शुभ हो या अशुभ किंतु विकल्पवान् आत्मवश नहीं होता।

दव्वगुणपज्जयाण चित्त जो कुणइ सोवि अण्णवसो।
मोहांधयारववगय समणा कहयंति एरिसयं।।—नियमसार /१४५

अर्थात्—जो द्रव्य-गुण पर्यायों में अपना मन लगाता है वह भी अन्यवश है। शुभ से मोक्ष मानने वाला अज्ञानी है चाहे वह शास्त्र-ज्ञाता ही क्यों न हो।

अण्णाणादो णाणी जादे मण्णदि सुद्धसंपओगादो।
हवदि त्ति दुक्खमोक्ख परसमयरदो हवदि जीवो।।—पंचास्तिकाय /१६५

जस्स हिदयेणुमेत्त वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि।।—पचास्तिकाय /१६७

अर्थात्—शुद्ध सप्रयोग (भक्तिभाव) से जो जीव मोक्ष मानता है वह अज्ञानी पर-समयरत जीव है। आत्म-सम्बोधन के अभाव में जिसे पर-द्रव्य के प्रति अणुमात्र भी राग हृदय में वर्तता है, वह भले सर्वागमधर हो तथापि स्वकीय समय को नहीं जानता। (नि. सा. /१४३, १४४)

विकल्पातीत ध्यान मुक्ति का हेतू

वास्तव में विकल्प शुभ हो अथवा अशुभ, वह मात्र विकल्प होने से दुख व बन्ध का कारण कहा है, स्व से भिन्न पर-द्रव्यात्मक आधार के होने के कारण वह अन्यवश है (नि.. सा. /१४४)। अत स्वानुभूति शुभा-शुभ से अतीत है, और आत्मध्यान ही मुक्ति का कारण है (सं. सा. / ३०६-३०७)।

जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि॥—पचास्तिकाय /१६२

अर्थात्—जो आत्मा अनन्यमय आत्मा को आत्मा से आचरता है, जानता है, देखता है, वह आत्मा ही चारित्र-ज्ञान-दर्शन है। क्योंकि तीनों एक आत्मा है, ऐसा निश्चित है।अत आत्मा का ध्यान ही रत्नत्रय है।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि त चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु॥—समयसार/४१२

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो-पुण्णपाव-दोएसु।
दंसण-णाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि॥

जो सव्वसगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्म णोकम्म चेदा चितेदि एयत्त॥

अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मविपमुक्कं॥— समयसार /१८७-१७९

अर्थात्—हे भव्य जीव, तू मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी को चेत, उसी का अनुभव कर, और उसी में विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

आत्मा को आत्मा के द्वारा पुण्य पाप से रोककर दर्शन ज्ञान में स्थित होता हुआ, और अन्य की इच्छा से विरक्त होता हुआ, अपने आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है। कर्म तथा नोकर्म नहीं ध्याता, चेतयिता होने से एक ही का चिन्तन व अनुभव करता है। वह आत्मा को ध्याता हुआ, दर्शन-ज्ञानमय और अनन्यमय होता हुआ, कर्मो से रहित आत्मा को प्राप्त करता है।

व्यावहारिक क्रियाओं की उपयोगिता

व्यवहार से किये जाने वाले आवश्यकादि कर्म अशुभ से बचने के लिए उपयोगी हैं। इन क्रियाओं से रहित साधक भ्रष्ट कहा गया है क्योंकि वह जीव शुद्धोपयोगी तो है नहीं, शुभोपयोग को त्याग देता है। फिर तो वह अशुभ में ही जायेगा। मुमुक्षु को चाहिये कि वह अशुभ को छोडकर शुद्ध का लक्ष्य करके शुभ क्रियाओं का आलम्बन ले।

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा॥—नियमसार/१४८

अर्थ—आवश्यक रहित श्रमण चरण से भ्रष्ट है और इसलिए पूर्वोक्त क्रम से शुभ के आश्रय से स्वात्माश्रित ऐसे निश्चय धर्म और शुक्लध्यान रूप आवश्यक कर्म को करना चाहिए।

जैसें स्वर्णमय पाषाण में देदीप्यमान अग्नि स्वर्ण और पाषाण को भिन्न-भिन्न करती है वैसे ही जीव-पुद्गल की एकता के भेद का कारण व्यवहार मोक्षमार्ग है। (पंचास्तिकाय/१६०)

आत्मध्यान ही अवश कर्म है

निश्चय से आत्मा ही रत्नत्रय व प्रत्याख्यान आदि है, अन्य सब साधन मात्र हैं।

आदाखु मज्झ णाणं आदा मे दसण चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाण आदा मे सवरो जोगो॥—समयसार/२७७

अर्थात्—निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन है और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही संवर और योग (समाधि, ध्यान) है।

आत्म-साधन की सभी क्रियाएं ध्यान-साधना के लिए साधन हैं। ध्यान ही कर्म निर्जरा का कारण है। ध्यान ही में सर्व आवश्यक गर्भित हो जाते हैं अथवा आत्मा के ध्यान में ही सर्व आवश्यक गर्भित हो जाते हैं।

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारण किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाण हवे तस्स॥—नियमसार/९५

अर्थात्—समस्त जल्प को छोडकर और अनागत शुभाशुभ निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है उसे प्रत्याख्यान हैं।

"केवलज्ञान-दर्शन-सुख व शक्ति स्वभावी हूँ" ऐसा ज्ञानी देखता है। जो निजभाव को नहीं छोडता, किंचित् भी पर-भाव को ग्रहण नहीं करता। मात्र सर्व को जानता है वह मैं हूँ—ज्ञानी ऐसा चिन्तन करता है।

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि॥१०७॥

अर्थात्—जो कर्म और नोकर्म से रहित तथा विभाव गुण-पर्यायों से रहित आत्मा को ध्याता है, उस श्रमण को आलोचना है।

अप्पसरूवालवणभावेण दु सव्व-भाव-परिहारं।
सक्कदि कादुं जीवो तम्हा झाण हवे सव्वं॥११९॥

सुहअसुहवयणरयण रायादी-भाव-वारण किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा॥१२०॥

कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्वि यप्पेण॥१२१॥

वयणोच्चारणकिरिय परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाण परमसमाही हवे तस्स॥१२२॥

सजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाण परमसमाही हवे तस्स॥१२३॥

अर्थात्—आत्म-स्वरूप जिसका अवलम्बन है, ऐसे भाव से जीव सर्वभावों का परिहार कर सकता है, इसलिए वह ध्यान सर्वस्व है। शुभ-अशुभ वचन रचना का और रागादि भावों का परिहार करके जो आत्मा को ध्याता है, उसे निश्चित रूप से नियम है। कायादि परद्रव्य में स्थिर भाव छोडकर जो आत्मा को निर्विकल्प रूप से ध्याता है उसे कायोत्सर्ग है। वचनोच्चारण की क्रिया का परित्याग कर वीतराग भाव से जो आत्मा को ध्याता है उसे परमसमाधि है। सयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है, उसे परमसमाधि है। १२३।

इसी तरह जो आर्त-रौद्र ध्यान को छोडकर आत्मस्थित होता है, उसे ही सामायिक है—

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाण झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामाइग ठाई इदि केवलिसासणे॥—नियमसार, १३३

सव्वाविअप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो॥१३८

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पज्जुत्ती॥१४१

परिचत्ता परभाव अप्पाण झादि णिम्मल सहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्म भणति आवासं॥१४६

अर्थात्—जो धर्म, शुक्ल ध्यान को नित्यश ध्याता है उसे स्थायी सामायिक है। जो साधु सर्व विकल्पों के अभाव से आत्मा को लगाता है अर्थात् आत्मा को आत्मा में जोडकर सर्व विकल्पों का अभाव करता है, वह योगभक्ति वाला है। रागादि भावों को छोडकर अथवा विपरीताभिनिवेश का परित्याग कर आत्मा को आत्मा में लगाता है, उसे योगभक्ति है। जो अन्यवश नहीं है उसे आवश्यक कर्म कहते हैं। कर्म का विनाश करने वाला योग निर्वाण का मार्ग है। जो परभाव को परित्याग कर निर्मल स्वभाव वाले आत्मा को ध्याता है, वह वास्तव में आत्मवश है, और

९.

उस जीव को आवश्यक कर्म है ऐसा जिन भगवान कहते हैं।

ध्यान ही सर्वोपरि है

झाण णिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वादिचारस्स पडिकमणं॥—नियमसार/९३

अर्थात्—ध्यान में लीन साधु सर्व दोषों का परित्याग करते हैं, इसलिए ध्यान ही सर्व अतिचार का प्रतिक्रमण है।

ऋषभादि तीर्थंकरों ने योग किया था

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं।
णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं॥—नियमसार/१४०

अर्थात्—वृषभादि जिनवरेन्द्र इस प्रकार योगभक्ति (उपरोक्त प्रकार) करके निर्वृत्ति सुख को प्राप्त हुए। इसलिए योग की उत्तम भक्ति को तू धारण कर।

ध्यान-श्रद्धा की प्रेरणा

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमय।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्व॥—नियमसार/१५४

अर्थात्—यदि किया जा सके तो ध्यानमय प्रतिक्रमणादि कर। यदि तू शक्तिविहीन है तो तब तक श्रद्धान ही कर्त्तव्य है।

संयम, नियम और तप पूर्वक ही ध्यान साधना सम्भव है। समस्त इन्द्रियों के व्यापार का परित्याग संयम है। निजात्मा की आराधना में तत्परता से नियम है। जो आत्मा को आत्मा से धारण करता है वही अध्यात्म व तप है। ध्यान, ध्याता व ध्येय और ध्यान का फल आदि के विविध विकल्पों से मुक्त अन्तर्मुखाकार, समस्त इन्द्रिय समूह के अगोचर, निरंजन, निजतत्व में अविचल स्थिति रूप निश्चय शुक्लध्यान है। (नि सा./१२३)

मौलिक सीख

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु॥ समयसार/४१२

—हे भव्य। तू मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी को चेत, अनुभव कर, और उसी में निरन्तर विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।
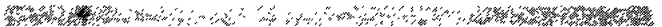
इस प्रकार योग-विद्या का आत्म-साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्यान के अभाव में, सभी प्रयत्न अकिंचित्कर की तरह ही होंगे। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने ध्यान-योग-साधना पर विशेष बल दिया है।

॥वात्सल्यरत्नाकर॥

कुन्दकुन्द की दृष्टि में मोक्ष एवं मोक्षमार्ग

❑ *डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल, भिलाई*

अध्यात्म में 'सिद्ध' का अर्थ होता है परिपूर्ण आत्म स्वभाव की प्राप्ति, जो आत्मा एवं कर्मबंध के पृथक् होने पर होता है। आत्मा की यह अवस्था 'मोक्ष' कहलाती है। शुद्ध रत्नत्रय की साधना द्वारा आठ कर्मों के क्षय से सिद्ध भगवान में क्षायिक सम्यक्त्व अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य, अशरीरत्व (सूक्ष्मत्व), जन्म-मरण रहितता (अवगाहनत्व), नीच-ऊँच रहितता (अगुरुलघुत्व) एवं अनंत सुख (अव्याबाधत्व), यह आठ आत्मिक गुण अपनी परिपूर्ण अवस्था में प्रकट होते हैं। सिद्धों का सुख इन्द्रिय-विषय-निरपेक्ष एवं सहज होता है जो अबाधित रूप में नित्य विद्यमान रहता है।

सिद्ध या परमशुद्ध आत्मा को परमात्मा कहते हैं। परमात्मा-पद मोक्ष या निर्वाण होने पर प्राप्त होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने परद्रव्य को छोड द्रव्यकर्म, भावकर्म एव नोकर्म रहित निर्मल ज्ञानमयी आत्मा को प्राप्त करने वाले देव या परमात्मा को नमस्कार कर ऐसे श्रेष्ठ मोक्षपद को पाने के मार्ग का वर्णन उत्कृष्ट ध्यान करने वाले मुनि-योगीश्वरों के लिए मोक्षपाहुड में किया है (गाथा १-२)। परमात्मा के ध्यान से ऐसे अनुपम, अनंत एव अव्याबाध (अबाधित) मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। अत योगी-ध्यानी मुनिजनों को निरन्तर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए (गाथा ३)। ऐसी परम शुद्ध आत्मा कर्म-मल रहित, अनिन्द्रिय, अनिदित अर्थात् निन्दारहित, राग-द्वेष रहित, विशुद्ध केवलज्ञानमयी होती है। उन्हें परमेष्ठी, परमजिन, शिवशकर, शाश्वत और सिद्ध के नाम से पुकारा जाता है (गाथा ६)।

बंध-मोक्ष का कारण : परद्रव्य एवं स्वद्रव्य

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार ज्ञान-स्वभावी आत्मा जब आत्मस्वरूप से च्युत होकर परद्रव्यों में रत होता है, राग करता है, तब वह कर्मों से बँधता है और जब वह परद्रव्यों से विरत होकर स्व-स्वरूप में स्थित होता है, तब मोक्ष होता है (मोक्षपाहुड गाथा १३)। इस प्रकार परद्रव्य में राग बंध का कारण है और परद्रव्य के प्रति विराग मोक्ष का कारण है। स्वद्रव्य में रुचिपूर्वक रत आत्मा सम्यग्दृष्टि है और वह ऐसे सम्यक्त्व भावरूप वर्तता हुआ आठ कर्मों का क्षय करता है। (गाथा १४)। परद्रव्य में रत सभी साधुओं को मिथ्यादृष्टि कहा है (गाथा १५)। परद्रव्य में राग अनंत संसार का कारण है, यह आत्मस्वभाव के विपरीत है। परद्रव्य में परमाणु मात्र
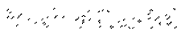
भी राग रखने वाला अज्ञानी, मूढ होता है (गाथा ७१/६९)। यहाँ तक कि मोक्ष के प्रति राग-भाव भी कर्म-बंध का कारण है (गाथा ५५)। ज्ञानी परद्रव्य से राग-द्वेष नहीं करता जबकि अज्ञानी उनके प्रति प्रीतिभाव रखता है (गाथा ५४)। स्वद्रव्य से सुगति और परद्रव्य से दुर्गति होती है। अत आत्मयोगी को परद्रव्यों एव उनके विषयों से विमुख होकर स्वद्रव्यरूप आत्मगुणों में रति करने का उपदेश दिया है (गाथा १६)।

स्वद्रव्य और परद्रव्य का स्वरूप : स्वद्रव्य का माहात्म्य

जिनागम में ज्ञानस्वरूप आत्मा के अतिरिक्त अन्य स्त्री, पुत्रादिक जीव समूह, धन-धान्य, सोना-चाँदी आदि वस्तुएँ एवं शरीर, गृहादि सभी परद्रव्य कहे हैं जबकि संसार को दुख देने वाले ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित अनुपम, ज्ञानशरीरी, नित्य, अविनाशी, विकाररहित शुद्ध केवलज्ञानमय आत्मा ही स्वद्रव्य है (गाथा १७ एवं १८)। जो व्यक्ति शरीर-इन्द्रिय एवं अन्य परद्रव्यों से विमुख होकर निज आत्मा का ध्यान करते हैं वे निर्दोष चारित्रयुक्त होकर जिनवर समान मोक्ष को प्राप्त करते हैं (गाथा १९)। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जब शुद्धात्मा का ध्यान करने से मोक्ष मिल जाता है तब क्या उससे स्वर्गलोक नहीं मिलेगा, अवश्य ही मिलेगा (गाथा २०)। परद्रव्य के प्रति शुभराग सहित तप से स्वर्ग तो सबको मिल जाता है किन्तु जो आत्मध्यान के योग से स्वर्ग पाते हैं, वे ही आत्मध्यान के योग से शाश्वत सुख भी पाते हैं (गाथा २३)। इससे स्पष्ट है कि शुभराग से स्वर्गादि मिलते हैं जबकि स्वद्रव्य (आत्मा) के ध्यान से मोक्ष मिलता है।

मोक्ष एवं रत्नत्रय-रूप मोक्षमार्ग : साध्य-साधन की एकता

आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र की एकता सिद्धत्व की प्राप्ति का मार्ग कहा है। इसे संक्षेप में रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग कहा जाता है। उनके अनुसार रत्नत्रय की आराधना का फल केवलज्ञान है। केवलज्ञान ही शुद्धात्मा है और शुद्धात्मा ही केवलज्ञानी, सिद्ध, स्वयंसिद्ध, सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी होता है। आत्मा और केवलज्ञान में कोई प्रदेश भेद नहीं है। गुण-गुणी का भेद भी गौण है (गाथा ३४/३५)।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो योगी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की निश्चय से आराधना करता है वह प्रगट रूप से आत्मा का ही ध्यान करता है क्योंकि रत्नत्रय आत्मा का गुण है और गुण-गुणी में भेद नहीं होता (गाथा ३६)। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तप यह चारों आत्मा की ही अवस्था एवं परिणाम हैं। निश्चय से यह एक आत्मा ही है। अत एक आत्मा ही शरण है क्योंकि इसी से परम पद की प्राप्ति होती है (गाथा १०५)। समयसार में भी आचार्यश्री ने इस कथन की पुष्टि करते हुए कहा है कि ज्ञानी के चारित्र, दर्शन व ज्ञान, यह तीन भाव

व्यवहार से कहे हैं, निश्चय से तो ये स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं, ज्ञानी तो शुद्ध 'ज्ञायक'' ही है (समयसार ७)।

रत्नत्रय में ज्ञान और दर्शन तो प्रगट में आत्मा का स्वभाव है। अत. 'चारित्र' क्या है, इसको स्पष्ट किया गया है। उनके अनुसार आत्मा का स्वधर्म ही चरण अर्थात् चारित्र है। आत्मा का राग-द्वेष रहित स्वभावरूप चारित्र, जीव का अनन्य परिणाम (भाव) है। इस प्रकार ज्ञान में राग-द्वेष रहित निराकुलता रूप स्थिरता का जो भाव है, वह जीव का अभेद परिणाम रूप 'चारित्र' है (गाथा ५०)।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सिद्ध परमात्मा के क्षायिक सम्यक्त्व, अनंत ज्ञान, दर्शन आदि आठ गुण हैं, जिनका रत्नत्रय के रूप में आश्रय लेकर सिद्धत्व प्राप्त किया जाता है। एक ओर दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा के गुण हैं जिनके आश्रय से ही ये गुण परिपूर्णता सहित प्रकट होते हैं। दूसरी ओर यही दर्शन (श्रद्धान) ज्ञान एवं चारित्र मोक्षमार्ग की एक प्रक्रिया भी है क्योंकि श्रद्धान, ज्ञान एवं चारित्र के अभाव में किसी लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती। चाहे वह लौकिक हो या अलौकिक। इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकरूपता साध्य भी है और साधन भी, जिसे मोक्ष एवं मोक्षमार्ग कहा जाता है। बिन्दु से सिन्धु एव हीराकर्णिका से हीरे की तराश से भी इसकी पुष्टि होती है। इस रहस्य को नहीं समझने वाले, आगम-सूत्र का सही-सही ज्ञान न होने के कारण, मोक्ष से वंचित रहते हैं।

रत्नत्रय का स्वरूप

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार निश्चय दृष्टि से, जो अपनी आत्मा को जाने वह ज्ञान, जो देखे वह दर्शन और पुण्य-पाप का परिहार चारित्र है। जानने, देखने एव त्यागने की क्रिया का कर्ता आत्मा है, अत· यह तीनों ही आत्मा है (गाथा ३७)। व्यवहार दृष्टि से जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान, रुचि, प्रतीति सम्यक्त्व है, इनको जानना सम्यग्ज्ञान है और परद्रव्यों की परिहार सम्बन्धी क्रिया की निवृत्ति चारित्र है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है (गाथा ३८)।

जो व्यक्ति दर्शन से शुद्ध है वह ही शुद्ध है और मोक्ष को पाता है। अत जन्म-मरण एवं आधि-व्याधि आदि को हरने वाले रत्नत्रय का जो उपदेशरूप सार है, उसका श्रद्धान सम्यक्त्व कहा है। इसे सभी साधु-श्रावकों को अगीकार करना चाहिए। सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान-चारित्र मिथ्या कहलाते हैं (गाथा ३९/४०)। हिंसारहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ गुरु एवं निर्ग्रन्थ मोक्ष-मार्ग में श्रद्धान यह सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं (गाथा ९०)। रागी, द्वेषी, कुत्सित-देव, हिंसापोषक धर्म, परिग्रहादि सहित कुत्सित-भेष को मोक्ष-मार्ग मानना तथा संयमरहित रागी व्यक्ति की वंदना मिथ्यात्व के चिह्न हैं (गाथा ९२/९३)।

जो व्यक्ति आत्मा एवं अन्य जीवादि पदार्थों को जिनवरों के मत के अनुसार जानता है,

उन्हें सत्यार्थ मानता है, वह सम्यग्ज्ञानी है (गाथा ४१)। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति जब निर्विकल्प रूप होकर पाप-पुण्य का परिहार (नाश) करता है तब वह त्यागरूप चारित्र होता है, जो घातिया कर्मों से रहित है (गाथा ४२)। यह चारित्र पाँच महाव्रत, पाँच समिति एवं तीन गुप्तिरूप व्यवहार चारित्र और सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप निश्चय चारित्र होता है। यह आत्म-ध्यान एवं शास्त्र-अभ्यास संयुक्त होता है (गाथा ३३)।

इस प्रकार आत्मानुभव सहित आत्मगुणों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उनका ज्ञान सम्यग्ज्ञान एवं आत्म विकारों का परिहार सम्यक् चारित्र है। सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञान हो जाता है, जबकि सम्यक् चारित्र, आत्म-ध्यान एवं संयम-सामर्थ्य के अनुसार आत्मा में वीतरागता के रूप में प्रकट होता है।

रत्नत्रय की एकता

आचार्य कुन्दकुन्द ने घोषित किया कि जो भव्य पुरुष अतीत काल में सिद्ध हुए या आगामी काल में सिद्ध होंगे, वे सम्यक्त्व के कारण ही हुए हैं और होंगे (मोक्षपाहुड ८८)। मिथ्यात्व छोडे बिना निर्ग्रन्थ भेष धारण कर कायोत्सर्ग करने और मौन रहने से कुछ भी साध्य नहीं है क्योंकि वह आत्मा के समताभाव रूप वीतराग परिणाम को नहीं जानता (मोक्षपाहुड गाथा ९७)। ज्ञानरहित चारित्र, दर्शन रहित तप तथा शुद्धभाव रहित तप आदि क्रियायें निष्फल होती हैं। इसी प्रकार तप रहित ज्ञान, ज्ञानरहित तप दोनों ही व्यर्थ हैं। ज्ञानसहित तप से ही सिद्धि मिलती है (गाथा ५७/५९)।

सम्यक्त्व धारी साधु यदि साधु के मूलगुणों का छेदन या विराधना करते हैं तब भी उन्हें सिद्धि नहीं होती (मोक्षपाहुड गाथा ९८)। मोक्षमार्ग में आत्मस्वभाव के विपरीत शरीराश्रित बाह्य क्रिया अर्थात् तप, उपवास, आतापन योग आदि से भी सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती। शुद्ध उपयोग होने पर ही सिद्धि प्राप्त होती है (गाथा ९९)। इसी प्रकार आत्मस्वभाव के विपरीत बहुत शास्त्रों को पढ़ना "बालश्रुत" और बहुत प्रकार का चारित्र "बालचारित्र" होता है (गाथा १००)। इससे स्पष्ट है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा के गुण हैं और इन तीनों की एकता या इन तीनों को एक साथ साधने से ही परमात्म-पद की प्राप्ति सभव है। अत उग्र पुरुषार्थ द्वारा ऐसी शुद्ध आत्मा की प्राप्ति की भावना भाना (करना) चाहिए (गाथा ६४/६५)।

मोक्षमार्ग के पथिक : (अ) बहिरात्मा से श्रावक-अंतरात्मा

आत्मा तीन प्रकार की है—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा छोड़कर अंतरात्मा रूप होकर परमात्मा का ध्यान करने से मोक्ष होता है (गाथा ४)। मोक्षमार्ग की यात्रा का प्रारम्भ बहिरात्मा से अंतरात्मा की ओर होता है। जो व्यक्ति शरीर एवं इन्द्रिय विषयों को ही आत्मा

जानता, मानता है और उनसे सुख-प्राप्ति का अभिप्राय रखता है, वह 'बहिरात्मा' अज्ञानी कहलाता है, जबकि शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न अंतरंग में जो आत्मा का स्व-संवेदन करता है वह "अंतरात्मा" ज्ञानी कहलाता है। "देखने, जानने वाला वह मैं हूँ" ऐसा अन्तरंग सकलज्ञानी का होता है (गाथा १५)।

बहिरात्मा मूढ़दृष्टि-अज्ञानी-मोही मिथ्यादृष्टि होता है। वह बाह्य पदार्थ अर्थात् धन-धान्य, कुटुम्ब और प्रिय पदार्थों में मग्न रहता है और इन्द्रियों तथा देह को ही आत्मा जानता-मानता है (गाथा ८)। वह अपनी देह को आत्मा तो मानता ही है, पर की देह को भी पर की आत्मा मानता है। इस प्रकार बहिरात्मा देहात्मबुद्धि भाव रखता हुआ स्व-पर पुत्र, स्त्री और कुटुम्बीजनों में ममत्व रखता है और उसी अनुरूप प्रवृत्ति करता है। यह सब आत्मा के स्वरूप को न जानने के कारण होता है (गाथा ९-१०)। मोहकर्म के उदय के कारण मिथ्याज्ञान के द्वारा मिथ्या भाव-से भावित होकर ऐसा बहिरात्मा आगामी जन्म में भी देह को अच्छा समझकर चाहता है (गाथा ११) और भव-भ्रमण करता है। अत. बहिरात्मपना को मन-वचन-काय से त्यागकर अन्तरात्मा का आश्रय लेकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए, ऐसा उपदेश जिनेन्द्रदेव तीर्थंकर परमदेव ने दिया है (गाथा ७)।

बहिरात्मा व्यक्ति को अतरात्मा बनने के लिए सर्वप्रथम निर्मल, निरतिचार, निश्चल सम्यक्त्व को ग्रहण कर उसका ध्यान करना चाहिए। ऐसा व्यक्ति सम्यग्दृष्टि होकर कर्मों का क्षय करता है (गाथा ८६/८७)। जो निरन्तर निरतिचार सम्यक्त्व का पालन करते हैं और स्वप्न में भी मलिन नहीं करते वही पंडित, शूरवीर एव मनुष्य नाम पाते हैं (गाथा ८९)।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जो श्रावक जिनेन्द्रदेव के द्वारा उपदेशित धर्म का पालन करता है वह सम्यग्दृष्टि श्रावक है। जो आत्मधर्म के विपरीत अन्य मत के उपदेशित धर्म का पालन करते हैं वे मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा होकर जन्म-जरा-मरण रूप ससार के अनंत दुख भोगते हैं (गाथा ९४/९५)। अत मोक्ष की प्राप्ति हेतू सभी श्रावकों को मिथ्यात्व छोड़कर सम्यक्त्व ग्रहण करना चाहिए (गाथा ९६)। तथा मन-वचन-काय से बहिरात्मपन को छोडकर अंतरात्मा का आश्रय लेकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए, यही तीर्थंकरों का उपदेश है (गाथा ७)।

मोक्षमार्ग के पथिक : (ब) साधु-अंतरात्मा

मोक्षमार्ग के सच्चे पथिक साधु होते हैं क्योंकि आत्मज्ञानपूर्वक तप एवं संयम से कर्मों की निर्जरा होकर उन्हें वीतरागता की प्राप्ति होती है। वीतरागता के कारण साधु पूज्य एवं वंदनीय होते हैं। मोक्षमार्ग का चिह्न तो यथाजात रूप बालक जैसा है जिसमें बाह्य परिग्रहादि किंचित् मात्र भी नहीं है। सम्यक् रूप से इन्द्रियों का निग्रह एवं जीव-दया रूप संयम है, सर्व परिग्रह एवं लौकिक जनों की संगति का अभाव है, पर की अपेक्षा कुछ न होकर मात्र मोक्ष ही प्रयोजन

है, ऐसे मोक्षमार्ग की जिनमुद्रा को मानने वाला सम्यग्दृष्टि एवं मोक्षमार्गी साधु है (गाथा ९१)। जिसे ऐसी जिनमुद्रा अरुचिकर लगती है वह संसार में दुःख भोगता है (गाथा ४७)।

जो अंतर-बाह्य ग्रन्थिरहित निर्ग्रन्थ होते हैं, परिग्रह रहित हैं, परद्रव्य से ममत्वरहित निर्मोही है, बाईस परिषहों को सहते हैं, क्रोधादि कषायों को जीत लिया है, पापरहित हैं, गृहस्थ के करने योग्य आरंभादिक पापों में नहीं प्रवर्तते, ऐसे साधुजन मोक्षमार्गी माने जाते हैं (गाथा ८०)। वे निरन्तर यही भावना भाते रहते हैं कि "तीनों लोक में मेरा कोई भी नहीं है, मैं एकाकी आत्मा हूँ (गाथा ८१)। ऐसे साधु वीतरागी देव के भक्त होते हैं, संसार, देह एवं भोगों की विरागता का निरंतर चिंतन करते हैं, आत्मध्यान में रमे रहते हैं और व्रत, समिति एवं गुप्तिरूप निश्चय-व्यवहारात्मक चारित्र का पालन करते हैं (गा० ८२)।

आचार्य कहते हैं कि आत्मा में आत्मा के लिए आत्मा द्वारा लीन होने वाला योगी सम्यक् चारित्रवान होकर निर्वाण पाता है (गाथा ८३)। आत्मध्यान करने वाला साधु मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों का निरोध कर उत्तम सम्यग्दर्शन एवं ज्ञान से परिपूर्ण होता है और राग-द्वेष के विकल्पों से रहित होकर पाप का हरण करता है (गाथा ८४)।

आत्मध्यान की महिमा बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि शुभराग रूप तप से स्वर्ग मिलता है किन्तु कर्मों का क्षय तो आत्मा के ध्यान से ही होता है (गाथा २६)। अज्ञानी तीव्र तप के द्वारा अनेक भवों में जितने कर्मों का क्षय करता है उतने कर्मों का क्षय ज्ञानी-साधु तीन गुप्ति सहित होकर अंतर्मुहूर्त में कर देता है (गाथा ५३)। सच्चा साधु सर्व कषायों, गारव, मद, राग, द्वेष एवं मोह को छोडकर तथा लोक-व्यवहार से विरक्त होकर ध्यान में स्थित होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है (गाथा २७)। ऐसा साधु मिथ्यात्व, अज्ञान एव पाप-पुण्य को मन, वचन, काय से छोडकर मौन व्रत धारण कर आत्मा का ध्यान करता है। वह सोचता है कि मैं चेतन, अमूर्तिक, ज्ञायक हूँ, अन्य जड मूर्तिक पदार्थ कुछ भी नहीं जानते। मैं किससे बात करूँ (गाथा २८/२९)। इस प्रकार आत्मध्यान से साधु नवीन कर्मों के आगमन (आस्रव) को रोककर संवरयुक्त होता हुआ कर्मों की निर्जरा करता है (गाथा ३०)। परमात्मा के ध्यान से सूक्ष्म लोभ कषाय भी छूट जाती है और नवीन कर्मों का आस्रव रुकता है (गाथा ४८)। जो साधु सर्व विभाव भावों को छोडकर सम्यक्त्व भाव-से भावित होता है, दृढ चारित्रवान है वह आत्मा का ध्यान करता हुआ परमात्मा पद पाता है (गाथा ४९)।

जो योगी-ध्यानी मुनि देह से निरपेक्ष या उदासीन हैं, निर्द्वन्द्व हैं, राग-द्वेष रूप इच्छा-अनिच्छा से रहित हैं, निर्ममत्व हैं, देहादिक में "यह मेरा" ऐसी बुद्धि से रहित हैं, निरारम्भ हैं, इस शरीर एवं अन्य लौकिक कार्यों के लिए आरम्भ रहित हैं, आत्मस्वभाव में लीन-रत हैं और निरन्तर स्वभाव की भावना-भाते हैं, ऐसे मुनि निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

लोक एवं धर्म व्यवहार से आत्मध्यान में बाधा उत्पन्न होती है जिससे साधु दूर रहता है।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते है कि जो ध्यानी साधु संसार के व्यवहार कार्य में सोता है वह अपने आत्मस्वरूप के कार्य में जागरूक रहता है किन्तु जो पाखंडी होता है वह व्यवहार कार्य में जागरूक रहकर आत्म कार्य में सोता है। अतः साधुजनों को सर्वप्रकार के लोक व्यवहार छोड़कर परमात्मा का ध्यान करना चाहिए (गाथा ३१/३२)।

जिस प्रकार स्फटिकमणि विशुद्ध और निर्मल है किन्तु पीले, हरे, लाल रंग के संयोग से वह भी उसी रंग रूप दिखायी देती है उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव विशुद्ध-स्वच्छ स्वभाव है परन्तु क्रोधादि कषाय एवं हिंसादि पापों के कारण आत्मा भी रागी-द्वेषी दिखायी देता है। जब तक यथाख्यात चारित्र प्राप्त नहीं होता तब तक देव-गुरु-शास्त्र के प्रति विनय एवं भक्ति रखने वाले आत्मज्ञानी साधु की भी यही स्थिति होती है (गाथा ५१/५२)।

साधु को आहार, आसन, निद्रा इन तीन को जीतकर जिनमतानुसार आत्मा का ध्यान करना चाहिये (गाथा ६३)। जो साधु इन्द्रियों के विषयों में प्रवर्तता है वह आत्मा को नहीं जानता (गाथा ६६)। आत्मा को न जानकर जो विषय कषायों के वशीभूत होते हैं वे चारों गतियों में भ्रमण करते हैं (गाथा ६७)। जो साधु आत्मा को जानकर इन्द्रिय विषयों से विरक्त होकर आत्मा की बारम्बार भावना भाते हैं तथा बारह प्रकार के तप और मूलगुणों सहित हैं वे मोक्ष पाते हैं (गाथा ६८)।

जो साधु रत्नत्रय संयुक्त होते हुए अपनी शक्ति अनुसार संयम, तप करते हैं तथा शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं वे परम पद को प्राप्त करते हैं (गाथा ४३)।

विरक्त साधु अपना उपयोग आत्मा की ओर लगाते हैं और अंतर-बाह्य दर्शन की शुद्धता सहित दृढ़ चारित्र पालते हैं तो उन्हें नियम से मोक्ष की प्राप्ति होती है (गाथा ७0)। चारित्र का बैरामीटर निरूपित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि निदा-प्रशंसा, दुख-सुख, शत्रु-बंधु-मित्र में जिन की समान बुद्धि होती है और जिनका उपयोग ज्ञान में ही लगा होता है वही शुद्धोपयोग रूप चारित्र है (गाथा ७२)।

आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्षपाहुड की गाथा ४४ में सम्पूर्ण मोक्षमार्ग समाहित किया है, जो इस प्रकार है —

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तिय रहिओ तह तिएण परियरिओ।

दो दो सविप्प मुक्को परमप्पा झाएए जोई॥

"मन-वचन-काय इन तीन से, वर्षा-शीत-उष्ण इन तीन काल में, योगों को धारण कर माया-मिथ्या-निदान इन तीन शल्यों से रहित होकर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन से मंडित होकर और राग-द्वेष इन दो दोष से रहित होकर जो साधु आत्म-ध्यान करता है वह परमात्मा का ध्यान करता है और उत्तम सुख पाता है" (गाथा ४४)।

संसार-देह-भोगों से विरक्त तथा वैराग्य भावना युक्त हो, परद्रव्यों से पराङ्मुख-त्यागी हो, संसार सम्बन्धी इन्द्रियों के सुखों से विरक्त हों, कषायों के क्षोभ से रहित निराकुल, शांत-भाव रूप शुद्ध ज्ञानानंद में लीन हों, ऐसी बारम्बार भावना साधुजन की होती है (गाथा १०१)।

उनके आत्मप्रदेश मूलगुणों एवं उत्तरगुणों से अलंकृत शोभायमान होते हैं। निज-आत्म-द्रव्य उपादेय है, शेष सभी पर-द्रव्य पर-भाव हेय हैं ऐसा जिनके निश्चय होता है, आत्मा के स्वभाव को साधने में भलीभांति तत्पर होते हैं, धर्म-शुक्ल ध्यान और अध्यात्म शास्त्रों के अध्ययन में तत्पर-लीन रहते हैं, ऐसे साधु लोक-शिखर पर सिद्ध क्षेत्र और मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों से परे शुद्ध-स्वभाव रूप मोक्ष-पद पाते हैं (गाथा १०२)।

पंचमकाल में ध्यान का सद्भाव

आचार्य कहते हैं कि कुछ व्यक्तियों का मत है कि पचम काल निकृष्ट काल है जिसमें आत्मध्यान संभव नहीं है। अत वे शरीरादिक व्रत-क्रियाओं का ही प्रतिपादन करते हैं। ऐसे भ्रष्ट व्यक्ति वस्तुत सम्यक्त्व एवं ज्ञान से रहित होते हैं और संसार के इन्द्रिय सुखों को भला समझकर उनमें आसक्त रहते हैं (गाथा ७३-७४)। जो साधु पंचम काल में आत्म- ध्यान का अभाव मानते हैं वह पाँच महाव्रत, पाँच समिति एव तीन गुप्ति का स्वरूप भी नहीं जानते। वे तो अपनी असामर्थ्य छिपाने के लिए ऐसा कथन करते हैं (गाथा ७५)।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि भरतक्षेत्र में पंचमकाल में आत्मध्यान में स्थित साधु को "धर्मध्यान" होता है। जो ऐसा नहीं मानता वह अज्ञानी है और धर्मध्यान का स्वरूप भी नहीं जानता (गाथा ७६)। पंचमकाल में जो साधु सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की शुद्धता सहित हैं, वे आत्मा का ध्यान कर इन्द्रपद अथवा लौकान्तिक देव होते हैं और वहाँ से चय कर मनुष्य भव से निर्वाण प्राप्त करते हैं (गाथा ७७)। इससे स्पष्ट है कि पंचमकाल में यद्यपि शुक्लध्यान का निषेध है परन्तु धर्मध्यान का निषेध नहीं है जो परम्परा से मोक्ष का कारण है। पापबुद्धि से मोहित धर्मध्यान का अभाव मानने वाले जिनमुद्राधारी साधु पाप युक्त हैं और मोक्षमार्ग से च्युत हैं। इसी प्रकार जो पाँच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त हैं, परिग्रहधारी हैं, याचनाशील हैं और सदोष व्यवहार करते हैं वे सभी मोक्षमार्ग से च्युत हैं (गाथा ७८/७९)। ऐसे आत्मानुभव रहित और परद्रव्यों से ममत्व रखने वाले साधुओं से मोक्षमार्ग का विनाश होता है (गाथा ६१)।

अंत में आचार्य देव कहते हैं कि समस्त परद्रव्यों से राग छोड़कर आत्मा में स्थित होने की चेष्टा करना तथा स्व-आत्मा की शरण लेना ही श्रेयस्कर है। जो व्यक्ति जिनदेव कथित, मोक्षपाहुड ग्रन्थ को भक्तिभाव से पढ़ते हैं, सुनते हैं और उसका बारम्बार चिंतवन करते हैं, वे शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं (गा. १०३ से १०६)।

❖❖❖

कुन्दकुन्द और पुद्गल द्रव्य : आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में

❑ *डॉ. कपूरचन्द जैन, खतौली*

आचार्य कुन्दकुन्द ने अब से दो हजार वर्ष पूर्व मानव-चिन्तन को एक नई दिशा दी। अध्यात्म प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म दक्षिण भारत के कौण्डकुन्दपुर नगर में हुआ था। किन्तु दक्षिण हो या उत्तर, पूर्व हो या पश्चिम, वे सर्वत्र समान रूप से समादृत हैं। राष्ट्रीय एकता के वे जीवन्त स्वरूप हैं। आचार्य कुन्दकुन्द आश्चर्यजनक ऋद्धियों के धारक तथा अतिशय ज्ञानसम्पन्न योगी थे।

भारतीय परम्परा, विशेषत श्रमण परम्परा, में उन्हें भगवान महावीर और उनकी दिव्य वाणी के धारक द्वादशांग-आगम के प्रणेता गौतम गणधर के बाद सर्वोच्च स्थान दिया गया है। किसी भी शुभ कार्य के प्रारम्भ में निम्न मत्र स्मरण करने की परम्परा आज भी श्रमणों में विद्यमान है—

> "मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
> मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥

भगवान महावीर मंगलस्वरूप हैं, गौतम गणधर मगलस्वरूप हैं, कुन्दकुन्द आचार्य मंगलस्वरूप हैं और जैनधर्म मंगलस्वरूप है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने तिरुक्कुरल, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय, अष्टपाहुड जैसे अनमोल ग्रन्थरत्नों का उपहार अध्यात्मजगत् को दिया है। इनके अतिरिक्त इनकी अन्य अनेक कृतियाँ आज भी अप्राप्त हैं। परम्परानुसार वे ८४ पाहुडों के रचयिता थे। तिरुक्कुरल को छोड़कर कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थ प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। तिरुक्कुरल ग्रन्थ परवर्ती काल में इतना प्रसिद्ध हुआ कि संसार की लगभग सौ भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है। समयसार में आत्मतत्त्व का जैसा विवेचन उन्होंने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक सिद्धान्त आज भी शाश्वत सत्य सिद्ध हो रहे हैं। विशेषत परमाणु के सम्बन्ध में किया गया उनका गहन चिन्तन उनकी सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि को प्रतिपादित करता है। आचार्यश्री द्वारा प्रतिपादित सूक्तियाँ तो सहृदयों की कण्ठहार हैं। एक स्थान पर उन्होंने कहा है—

> ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुत्तो।
> को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होई॥

अर्थात्—शरीर कुल या जाति वंदनीय नहीं अपितु गुण ही वन्दनीय हैं, गुणरहित को कोई नमस्कार नहीं करता, गुणरहित न तो श्रावक है और ना ही साधु। यह आधुनिक समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता का मूलमंत्र कहा जा सकता है।

आचार्य कुन्दकुन्द श्रमण संस्कृति के उन्नायक, प्राकृत साहित्य के अग्रणी प्रतिभू, तर्कप्रधान आगमिक शैली में लिखे गये अध्यात्म विषयक साहित्य के युगप्रधान आचार्य हैं। उनकी महत्ता इस बात में भी दृष्टिगोचर होती है कि परवर्ती आचार्य अपने आपको कुन्दकुन्दान्वयी कहकर गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार, समग्र विश्व छह द्रव्यों का पिण्ड है। आचार्य कुन्दकुन्द ने सभी द्रव्यों पर विचार किया है किन्तु जीव व पुद्‌गल का विस्तार से विवेचन किया गया है। प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार आदि ग्रन्थों में पुद्‌गल के सन्दर्भ में विस्तृत गवेषणा की गयी है।

द्रव्य का लक्षण करते हुए कुन्दकुन्द ने कहा है—

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्त संजुत्तं।
गुण-पज्जयासवं वा जं तं भण्णं ति सव्वण्हु॥[१]

द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार से है। द्रव्य का प्रथम लक्षण सत्ता है, द्रव्य का द्वितीय लक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य-संयुक्त है और द्रव्य का तृतीय लक्षण गुण-पर्यायाश्रित है। इन्हीं का विशदीकरण करते हुए प्रथम सूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने कहा है—'सद्‌द्रव्य-लक्षणं', 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' तथा 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' (तत्वार्थसूत्र-५/३०, ३८)

कुन्दकुन्द के अनुसार द्रव्यों की संख्या छह स्वीकार की गई है। जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।[२] भारतीय दर्शनों विशेषत वैशेषिक दर्शन में नव द्रव्यों की कल्पना की गई है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन।[३]

इन द्रव्यों का विभाजन तीन दृष्टियों से किया जा सकता है। चेतन-अचेतन की दृष्टि से विभाजन करें तो जीव द्रव्य चेतन है, बाकी पाच अचेतन। मूर्तिक-अमूर्तिक की दृष्टि से विभाजन करें तो पुद्‌गल मूर्तिक है बाकी पांच अमूर्तिक। तथा अस्तिकाय-अनस्तिकाय की दृष्टि से विभाजन करें तो काल अनस्तिकाय है बाकी पाच अस्तिकाय।[४]

कुन्दकुन्द के अनुसार पुद्‌गल द्रव्य मूर्तिक चेतन, अस्तिकाय है। माधवाचार्य ने पुद्‌गल की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—पूरयन्ति गलन्तीति पुद्‌गला[५] अर्थात् जो द्रव्य, 'स्कन्ध अवस्था में, अन्य परमाणुओं से मिलता है, पृथक् होता है, उसे पुद्‌गल कहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

वण्णं रसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंतस्स य सद्धो सो पोग्गलो चित्तो॥[६]

९.

अर्थात् पुद्‌गल द्रव्य में नीला, पीला, सफेद, काला और लाल ये पांच रूप; कडुआ, कटुक, आम्ल, मधुर और कसायला ये पांच रस; सुगन्ध तथा दुर्गन्ध ये दो गन्ध और कोमल-कठोर, गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष ये आठ स्पर्श हैं।

पुद्‌गल दो प्रकार का है—एक अणु और दूसरा स्कन्ध*। स्कन्ध के स्कन्ध, स्कन्धदेश और स्कन्ध-प्रदेश ये तीन भेद हो जाते हैं। अणु मिलाकर चार प्रकार के पुद्‌गल कहे जा सकते हैं[८]। जो सर्व-कार्य-समर्थ हो उसे स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध के आधे भाग को स्कन्धप्रदेश कहते हैं तथा जिसका दूसरा भाग न हो सके उसे अणु या परमाणु कहते हैं।[९]

दूसरे प्रकार के स्कन्ध के छह और परमाणु के दो भेद किये गये हैं। छह स्कन्ध इस प्रकार हैं—[१०]

१. स्थूलस्थूल—जो स्कन्ध छिन्न भिन्न होने पर स्वयं न मिल सके ऐसे ठोस पदार्थ। यथा, लकड़ी पत्थर आदि।

२. स्थूल—जो छिन्न-भिन्न होकर फिर आपस में मिल जायें। जैसे घी, दूध, जल आदि।

३. स्थूलसूक्ष्म—जो दिखने में तो स्थूल हो अर्थात् केवल नेत्रेन्द्रिय से ग्राह्य हो, किन्तु पकड में न आवे जैसे छाया, प्रकाश, अन्धकार आदि।

४. सूक्ष्मस्थूल—जो दिखाई न दे, अर्थात् नेत्रेन्द्रिय ग्राह्य न हो, किन्तु अन्य इन्द्रियों स्पर्श, रसना घ्राणादि से ग्राह्य हो। यथा ताप, ध्वनि, गन्ध, रस, स्पर्श आदि।

५. सूक्ष्म—स्कन्ध होने पर भी जो सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न किया जा सके। यथा कर्मवर्गणा आदि।

६. अतिसूक्ष्म—जो कर्मवर्गणा से भी सूक्ष्म हो यथा द्‌यणुक।

परमाणु भी कारण-परमाणु और कार्य-परमाणु के भेद से दो प्रकार का है। जो पृथ्वी, जल आदि का कारण है, उसे कारण परमाणु और स्कन्धों का जो अन्त है वह कार्य परमाणु है।[११] परमाणु सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। यह अविनाशी, शाश्वत, शब्दरहित तथा एक है। परमाणु का आदि, मध्य और अन्त वह स्वयं ही है—

> "अत्तादि अत मज्झं अत्ततं णेव इंदिए गेज्झं।
> अविभागी जं दव्वं परमाणु तं वियाणाहि।[१२]

अर्थात् जिसका स्वयं स्वरूप ही आदि, मध्य और अन्त रूप है, जो इन्द्रियों के द्वारा द्रष्टव्य ग्राह्य नहीं है ऐसा अविभागी द्रव्य परमाणु है।परमाणु का यही रूप आधुनिक विज्ञान भी मानता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी परमाणु किसी भी इन्द्रिय या अणुवीक्षणीय यन्त्रादि से ग्राह्य नहीं होता है। इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए प्रोफेसर जोंन पिल्ले, विश्वविद्यालय ब्रिस्टल ने लिखा है—

"We cannot see atoms either and never shall be able to .... Even if they were a million times bigger it would still be impossible to see them even with the most powerful microscope that has been made" (An outline for Boys, Girls and their Parents (Collaoiz Section chemistry, p 261)[13]

जैनदर्शन के अनुसार परमाणु पूर्ण ज्ञानी 'सर्वज्ञ' के ज्ञानगोचर है। उक्त तथ्य से स्पष्ट है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा लिखा गया परमाणु का स्वरूप "णेव इंदिए गेज्झं" कितना वैज्ञानिक है।

परमाणु एक-प्रदेशी है।[14] वह नित्य है, वह सावकाश भी है और निरवकाश भी है।[15] सावकाश इस अर्थ में कि वह स्पर्श आदि चार गुणों को अवकाश देने में समर्थ हैं तथा निरवकाश इस अर्थ में है कि उसके एक प्रदेश में दूसरे प्रदेश का समावेश नहीं होता। परमाणु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि का कारण भी है। परमाणु परिणमनशील है। वह किसी का कार्य नहीं, अत अनादि है। यद्यपि उपचार से उसे कार्य कहा जाता है।

परमाणु शाश्वत है, अत उसकी उत्पत्ति उपचार से है। परमाणु कार्य भी है और कारण भी। जब उसे कार्य कहा जाता है, तब उपचार से ही कहा जाता है, क्यों कि परमाणु सत् स्वरूप है, ध्रौव्य है अत उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। परमाणु पुद्गल की स्वाभाविक दशा है जबकि स्कन्ध अशुद्ध पर्याय।[16] दो या अधिक परमाणु स्कन्धों का कारण है, उपचार से कार्य भी इस प्रकार है कि लोक में स्कन्धों के भेद से परमाणु की उत्पत्ति देखी जाती है।[17] इसी भाव को आचार्य उमास्वामी ने इन शब्दों में कहा है—

"भेदादणु—" अर्थात् अणु भेद से उत्पन्न होता है।[18] किन्तु यह प्रक्रिया तब तक चलनी चाहिए जब तक स्कन्ध द्‌यणुक न हो जाये।

शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अधकार, छाया, आतप और उद्‌योत ये पुद्गल की पर्यायें स्वीकार की गयी हैं।

शब्द को अन्य भारतीय दर्शनों, विशेषत वैशेषिक दर्शन ने आकाश का गुण माना है।[19] किन्तु जैन दर्शन में इसे पुद्गल की पर्याय माना गया है, जो समीचीन है। आधुनिक विज्ञान ने शब्द को टेपरिकार्ड, रेडियो, ग्रामोफोन, वीडियो केसिट, रिकार्डर, टेलीफोन आदि ध्वनि-यन्त्रों से पकडकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजकर जैन दर्शन के सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। पुद्गल के अणु तथा स्कन्ध भेदों की जो २३ अवान्तर जातियाँ स्वीकार की गयी हैं, उनमें एक जाति भाषा-वर्गणा भी है। ये भाषा-वर्गणायें लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं। जिस वस्तु से ध्वनि निकलती है, उस वस्तु में कम्पन होने के कारण इन पुद्गल वर्गणाओं में भी कम्पन होता है, जिससे तरंगे निकलती हैं, ये तरंगें ही उत्तरोत्तर पुद्गल की भाषा-वर्गणाओं में कम्पन पैदा करती हैं, जिससे शब्द एक स्थान से उद्‌भूत होकर दूसरे स्थान पर पहुँचता है।[20] आधुनिक विज्ञान भी शब्द का वहन इसी प्रक्रिया द्वारा मानता है।

शब्द भाषात्मक और अभाषात्मक के भेद से दो प्रकार का है। भाषात्मक पुनः अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक के भेद से दो प्रकार का है। संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी आदि भाषाओं के जो शब्द हैं, वे अक्षरात्मक शब्द हैं, तथा गाय आदि पशुओं के शब्द, संकेत अनक्षरात्मक शब्द हैं। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से दो प्रकार का है। मेघ आदि की गर्जना वैस्रसिक शब्द है। प्रायोगिक चार प्रकार का है तत, वितत, घन और सुषिर।[२१]

परस्पर में श्लेष बन्ध कहलाता है। यह भी प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से दो प्रकार का है। प्रायोगिक अजीव तथा जीवाजीव के भेद से दो प्रकार का है। लाख, लकडी आदि का बन्ध अजीव तथा कर्म और नोकर्म का बन्ध जीवाजीव प्रायोगिक बन्ध है। वैस्रसिक भी सादि और अनादि के भेद से दो प्रकार का है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का बन्ध अनादि है और पुद्गलों का बन्ध सादि है। परमाणुओं में परस्पर बन्ध के सन्दर्भ में कुन्दकुन्द का मत है कि स्निग्ध तथा रूक्ष गुणों के कारण एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ मिलता है।[२२] किन्तु यह नियम है कि परमाणुओं के बन्ध की प्रक्रिया में उनमें दो गुण अर्थात् शक्त्यंश का अन्तर होना चाहिए जैसे कोई परमाणु दो स्निग्ध शक्त्यंश वाला है को दूसरा परमाणु, जिसके साथ बन्ध होना है—उसे चार शक्त्यंश स्निग्ध या रूक्ष वाला होना चाहिए।[२३] इसी प्रकार तीन को पाँच, आठ को दस शक्त्यंश वाला होना आवश्यक है। भाव यह है कि बन्ध में सर्वत्र दो शक्त्यशों का अन्तर होना चाहिए, न इससे कम न इससे ज्यादा। किन्तु एक गुण 'शक्त्यंश' वाले परमाणु का बन्ध नहीं होता।

कुन्दकुन्द ने लिखा है—

> णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
> समदो दुराधिगा जदि बज्झति हि आदिपरिहीणा॥

(प्रवचनसार २/७३)

इसी प्रकार सूक्ष्मत्व भी पुद्गल की पर्याय है। अन्त्य सूक्ष्मत्व परमाणुओं तथा आपेक्षिक बेल, आंवला आदि में होता है।अन्त्य स्थौल्य लोकरूप महास्कन्ध और आपेक्षिक स्थौल्य वेर, आंवला आदि में होता है। मेघ आदि की आकृति सस्थान है। पुद्गल पिण्ड का भंग होना भेद कहलाता है।

नेत्रों को रोकने वाला अन्धकार और शरीर आदि के निमित्त से प्रकाश आदि का रुकना छाया है। छाया को भी अन्य दर्शनों ने पुद्गल नहीं माना है किन्तु आधुनिक विज्ञान से कैमरे, फिल्म आदि में छाया को पकड़कर तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजकर जैन दर्शन का ही समर्थन किया है। सूर्य का उष्ण प्रकाश आतप और चन्द्रमा का ठण्डा प्रकाश उद्योत है।

इस प्रकार कुन्दकुन्द साहित्य में पुद्गल तथा परमाणु के सन्दर्भ में विस्तृत विवेचना उपलब्ध होती है। परमाणु की उत्कृष्ट गति एक समय में चौदह राजू बताई गयी है। आधुनिक विज्ञान

में भी इसका समर्थन किया है। आवश्यकता है ऐसे अन्वेषकों की जो आधुनिक और प्राच्य विज्ञान का समालोचनात्मक अध्ययन कर सामंजस्य बैठा सकें। परमाणु के सम्बन्ध में डॉ. राधाकृष्णन् के वक्तव्य के साथ हम इस निबन्ध का समापन करेंगे।

"अणुओं के साथ श्रेणी-विभाजन से निमित्त वर्गों की नानाविध आकृतियाँ होती हैं। कहा गया है कि अणु के अन्दर ऐसी गति का विकास भी सम्भव है, जो अत्यन्त वेगवती हो, यहाँ तक कि एक क्षण के अन्दर समस्त विश्व की एक छोर से दूसरे छोर तक परिक्रमा कर आयी हो।[२४]

✧✧✧

१. कुन्दकुन्द, पंचास्तिकाय, गाथा १०
२. नियमसार, गाथा ९
३. तर्कसंग्रह, पृष्ठ ६ मोतीलाल बनारसीदास संस्करण
४. पंचास्तिकाय, गाथा ४
५. माधवाचार्य, 'सर्वदर्शन सग्रह', पृष्ठ १५३ चौरवम्बा विद्याभवन संस्करण
६. प्रवचनसार, गाथा ४०
७. नियमसार, गाथा २०
८ पंचास्तिकाय, गाथा ७४
९. वही गाथा ७५
१०. नियमसार, गाथा २१-२४
११. वही गाथा २५
१२ वही गाथा २६
१३ जैन दर्शन का तात्विक पक्ष परमाणुवाद 'जैन दर्शन और संस्कृति' नामक पुस्तक में संकलित निबन्ध, इन्दौर विश्वविद्यालय प्रकाशन अक्टूबर १९७६
१४. पंचास्तिकाय, गाथा ८१
१५. वही गाथा ८०
१६. नियमसार, गाथा २८
१७. वही गाथा २५

१८. तत्वार्थसूत्र, ५/२७

१९. ‌ ‌ द्गुणकमा ‌ ‌ शम,—'तर्कसंग्रह' पृष्ठ ४३

२०. तत्वार्थसूत्र, ‌ ‌ ‌ ग्रिन्थमाला प्रकाशन, पृष्ठ २३०

२१. पंचास्तिकाय, गाथा ७९ की व्याख्या, राजचन्द्र शास्त्रमाला

२२. प्रवचनसार २/६९

२३. प्रो. जी. आर. जैन ने स्निग्धत्व और रूक्षत्व को वैज्ञानिक परिभाषा में निगेटिब और पॉजिटिब माना है। देखिए— 'तीर्थंकर महावीर स्मृति ग्रन्थ, जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर प्रकाशन, पृष्ठ २७५-२७६

२४. भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, १९७३, पृष्ठ २९२
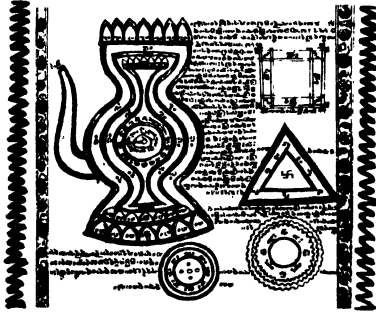
कुन्दकुन्द साहित्य में लोकव्यवहार

❑ *डॉ0 जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर*

लोकव्यवहार शब्द लोक और व्यवहार पदों का समस्त पद है। इसका अभिप्राय है लोक का व्यवहार (लोकस्य व्यवहार —षष्ठी तत्पुरुष समास) 'लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्थाः यत्र स. लोक' अर्थात् जहाँ पर जीव आदि पदार्थ देखे जाते हैं, वह लोक है अथवा 'लोक्यतेऽसौ इति लोकः' अर्थात् जो देखा जाता है वह लोक है। उक्त लोक शब्द के दोनों ही व्युत्पत्यर्थ अत्यन्त व्यापक हैं। जिस प्रकार लोक शब्द लोक् धातु से घञ् प्रत्यय का निष्पन्न रूप है उसी प्रकार व्यवहार शब्द भी वि+अव उपसर्ग पूर्वक घञ् प्रत्यय का सम्पन्न रूप है। व्यवहार शब्द के आचरण, व्यवसाय, क्रियाकलाप, प्रचलित प्रथायें एवं न्यायिक या प्रशासनिक कार्यविधि अनेक अर्थ हैं। इस प्रकार यदि लोकव्यवहार शब्द का व्यापक अर्थ ग्रहण किया जाय तो जीवादि पदार्थों के अथवा दृश्यमान जगत के समस्त आचरण एवं क्रियाकलापों का लोकव्यवहार में सन्निवेश हो जाता है। किन्तु प्रस्तुत लेख में लोकव्यवहार शब्द का एक विशिष्ट अर्थ 'मानवजाति का आचरण' लिया गया है। क्योंकि व्यापक अर्थ में तो सम्पूर्ण कुन्दकुन्द वाङ्मय ही लोकव्यवहार है।

जगत में किसी धर्म, दर्शन, नीतिशास्त्र अथवा मानवोपयोगी अन्य किसी शास्त्रीय विद्या के सिद्धान्त भले ही अत्यन्त आकर्षक, मनोरम, उदात्त एवं उत्तम हों, किन्तु यदि उनका अनुगामी मानव-समाज या लोक उन्हें व्यवहार में नहीं लाता है, उन्हें अपने चारों ओर की मानवीय सवेदनाओं के साथ नहीं जोड़ता है तो यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि वे समस्त सिद्धान्त निरुपयोगी एवं अपार्थक हैं। बुद्ध के जीवन की एक घटना को यहाँ उद्धृत करना न केवल प्रासंगिक है अपितु अध्यात्म की आड में लोकव्यवहार की मर्यादायें तोडकर दान-पुण्य आदि को हेय बताने वाले तथाकथित समाज को सत्पथ में प्रवृत्त करने के लिए भी अत्यावश्यक है। बुद्ध के कुछ शिष्य एक अशक्त एव बुभुक्षापीडित भिक्षु को लेकर बुद्ध से उपदेश श्रवण कराने उनके पास लाये। बुद्ध ने उस भिक्षु की अपात्रता एव असमर्थता देखकर भिक्षुओं से कहा कि पहले इस भिक्षु को आहार कराओ। जब इसमें उपदेश श्रवण का सामर्थ्य आ जाय, तब इसे मेरे पास ले आना। यह था बुद्ध का लोक-व्यवहार का दृष्टिकोण। कुन्दकुन्दाचार्य ने अध्यात्म का विशुद्ध वर्णन करने पर भी व्यवहार-नय की तो बात ही दूर, लोकव्यवहार को भी हेय नहीं कहा है। हाँ, लोकव्यवहार के नाम पर शिथिलाचार के प्रति कठोर रुख अपनाया है। आज यदि लोकव्यवहार को हेय बताकर कोई अध्यात्ममानी पण्डित शिथिल आचरण करता है, मुनिलिङ्ग धारण न कर पाने के कारण अथवा मिथ्या अभिमान से उसे निन्द्य कह रहा है तो उसे स्वयं
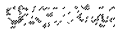
प्रतीत हो जाना चाहिये कि वह कुन्दकुन्दाचार्य के प्रति अन्याय कर रहा है तथा अपने प्रति भी उसका ईमानदारी का भाव नहीं है। यदि कुन्दकुन्द की दृष्टि में लोकव्यवहार हेय होता तो वे दर्शनपाहुड में यह हृदयग्राही मार्मिक उद्घोषणा न करते कि जो व्यक्ति सहजोत्पन्न अर्थात् दिगम्बर रूप को देखकर ईर्ष्यावश आदर नहीं करता है, वह संयमयुक्त होता हुआ भी मिथ्यात्वी है।[१] जब संयमी तक को दिगम्बर मुद्रा को प्रणाम न करने के कारण मिथ्यात्वी कहा गया है, तो हमें अपनी स्थिति निश्चित ही चिन्त्य मानना चाहिए।

कुन्दकुन्द का व्यावहारिक मनोविज्ञान

पाश्चात्य विद्वान् दर्शन के क्षेत्र में प्रायोगिक एवं सामाजिक मनोविज्ञान (Experimental & Social Psychology) तथा नैतिक एवं शुद्ध दर्शन (Ethical & Pure Philosophy) का अध्ययन करते हैं। कुन्दकुन्द के साहित्य में हमें चारों प्रकार के क्षेत्र का सन्निवेश दृष्टिगत होता है। पश्चाद्वर्तियों में खण्डनमण्डन की शैली के साथ तर्कशास्त्र (Logic) का प्रयोग देखा जाता है।[२] कुन्दकुन्दाचार्य ने जीव की त्रिविध चेतनाओं का निरूपण किया है—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। आत्मा ज्ञेय पदार्थों को जिस रूप में जानता है, उसका वह ज्ञानपरिणमन ज्ञानचेतना है। यह अभेददृष्टि है। जीव के रागद्वेष रूप विभाव के कारण संसारबन्ध कराने वाली चेतना कर्मचेतना है तथा आत्मा द्वारा अशुद्धावस्था में सुख-दुखादि रूप कर्मफल का भोग कर्मफल-चेतना है। कर्मचेतना में आत्मा का कर्तृत्व तथा कर्मफलचेतना में आत्मा का भोक्तृत्व कहा जा सकता है। ये उभयविध चेतनायें कुन्दकुन्दाचार्य को एक श्रेष्ठ व्यवहार-मनोवैज्ञानिक सिद्ध करने में समर्थ हैं। ज्ञानचेतना सारभूत होने पर भी अन्य दो चेतनाओं का विवेचन एक क्रमिक ज्ञान की स्थिति स्पष्ट करती हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ससारी मानवों के लिए व्यवहार की उपयोगिता स्वीकार करते हुए व्यवहार के बिना परमार्थ का समझना असंभव मानते हैं।[३] जो जीव अपरमभाव में स्थित हैं उन्हें व्यवहार का उपदेश श्रुतकेवली द्वारा कथित स्वीकार करके कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहार की असंदिग्ध आवश्यकता प्रतिपादित की है।[४]

ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता में लोकव्यवहार

भारतीय दर्शनों में न्याय-वैशेषिक ईश्वरज्ञान को स्वप्रकाशक तथा मीमांसा की दोनों ही परम्परायें ज्ञान को स्वप्रकाशक मानती हैं। सांख्य दार्शनिक अचेतन प्रकृतिजन्य होने से उसे परप्रकाशक मानते हैं। वेदान्ती ज्ञान को केवल स्वप्रकाशक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार जहाँ भारतीय दर्शन की अन्य धारायें ज्ञान को या तो स्वप्रकाशी अथवा केवल परप्रकाशी मानती हैं वहाँ कदाचित् सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान को स्वप्रकाशक एवं परप्रकाशक उभयविध होने की विचारणा का 'नियमसार' में सूत्रपात किया।[५] उनकी इस विवेचना में परमार्थ एवं व्यवहार

का मणिकाञ्चन मनोरम संयोग दृष्टिगोचर होता है। पूज्यपादाचार्य ने तो ज्ञान को स्वपरप्रकाशक मानने के विषय में स्पष्ट रूप से यह लिख दिया है कि यदि ज्ञान-ज्ञेय को अभेद एक ही मान लिया जायेगा तो फिर स्मृति का लोक में सर्वथा अभाव हो जाएगा तथा इस प्रकार स्मृति का अभाव हो जाने से व्यवहार का लोप हो जाएगा।[६] उनके इस कथन से स्पष्ट है कि वास्तव में तो ज्ञान स्वप्रकाशक है किन्तु लोकव्यवहार का लोप न हो जाये अत उसे परप्रकाशक भी माना गया है।

विभाव-ज्ञान हेय नहीं, मिथ्या-विभाव ही हेय है

जैन दर्शन में ज्ञान का वर्गीकरण विविध रूपों में उपलब्ध होता है। स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न स्थलों पर प्रत्यक्ष-परोक्ष, क्षायिक-क्षायोपशमिक, स्वभाव-विभाव आदि रूपों में किया है। 'नियमसार' में ज्ञान के दो भेद कहे गये हैं—स्वभावज्ञान और विभावज्ञान। जो ज्ञान इन्द्रियादि पर की सहायता के बिना होता है उसे स्वभावज्ञान कहते हैं तथा पर की सहायता वाले ज्ञान को विभावज्ञान कहते हैं। विभावज्ञान दो प्रकार का होता है—सम्यक् और मिथ्या। मनःपर्यय ज्ञान सम्यक् विभावज्ञान है और इसके हो जाने पर नियम से केवलज्ञान हो जाता है। विभावज्ञान में मति, श्रुत और अवधि सम्यक् भी होते हैं और मिथ्या भी।[७] आचार्य कुन्दकुन्द का ज्ञान का यह विभाजन नवीन तो है ही, साथ ही यह सूचना भी देता है कि विभाव होने से ही कोई हेय नहीं हो जाता है, अपितु मिथ्याविभाव ही हेय होता है। इस आधार पर विभावरूप होने से समस्त लोकव्यवहार को कुन्दकुन्द की दृष्टि से हेय नहीं कहा जा सकता है, अपितु वही लोकव्यवहार हेय है जो मिथ्या है। यही कारण है कि पश्चात्कालीन आचार्य सोमदेव ने 'नीतिवाक्यामृत' में यह स्पष्ट उद्घोषित किया है जिस कार्य से व्रत में दोष न लगता हो और सम्यक्त्व की हानि न होती हो, वे सभी लोकव्यवहार जैनों को स्वीकार्य हैं।[८]

प्रत्याख्यान में लोकव्यवहार और लोकव्यवहार में प्रत्याख्यान

समयसार में अपने अतिरिक्त सभी पदार्थों को पर मान कर त्यागने को प्रत्याख्यान कहा है तथा उसे ज्ञानस्वरूप माना है। परन्तु व्यवहार में श्रमण दिन में आहार ग्रहण करके जब अन्न, पान, खाद्य और लेह्य चतुर्विध आहार की रुचि को त्याग देता है, तब उसके त्यागभाव को प्रत्याख्यान कहा गया है।[१०] लोकव्यवहार में प्रत्याख्यान का महत्त्व सभी आचार्यों ने निर्विवाद स्वीकार किया है क्योंकि इससे मानव व्यर्थ के भोगों से बचकर आत्मचिन्तन में तत्पर होता है। प्रत्याख्यान और लोकव्यवहार परस्पर सश्लिष्ट हैं और एक के बिना दूसरे की स्थिति कथमपि संभव नहीं है।

लोकव्यवहार में शुभ और अशुभ

संसारी जीवों के कल्याण की भावना कुन्दकुन्द में कूट-कूट कर भरी थी। यदि आज के अध्यात्म के पण्डितों के समान कुन्दकुन्द भी स्वोन्मुखी प्रवृत्ति के होते तो वे संसारी जीवों को यह उपदेश क्यों देते कि संसारी प्राणियों को शान्तिपूर्ण जीवन के लिए अपने भाव सरल बनाना चाहिए। शुभ भाव प्राणियों को स्वर्गादि सुख को तथा अशुभ भाव नरकादि दुःख को देने वाला है। इसको शाश्वत सत्य कहकर कुन्दकुन्दाचार्य ने इसे मननीय एवं श्रेयस्कर माना है। अशुभ भाव तो जगत के विनाश के कारण है।[11] जबकि आज सारा विश्व विनाश के द्वार पर स्थित है। लोग निन्दारस में रतिभाव रखकर मान-बढ़ाई की वृद्धि में लगे हैं। चारों ओर हिंसा का ताण्डव है। ऐसे दुष्काल में हिंसादि अशुभ भावों तथा व्रत, दान, दया आदि शुभ भावों को समान कहने वाले लोक को कहाँ ले जाना चाहते हैं, यह भगवान आत्मा ही जानती होगी। जब उनके अनुसार तीर्थंकर की वाणी से भी किसी को लाभ नहीं होता है तो वे अपने असदुपदेशों से क्या करना चाहते हैं, यह अब समाज को भलीभाँति समझ लेना चाहिए।

शास्त्रीय गुत्थियाँ विरले लोग ही समझ पाते हैं। लोक-व्यवहार के 'किसी जीव को नहीं मारना चाहिये' आदि नियम सभी को समझ में आ जाते हैं। अत उन्हें अशुभ के समान मानकर नहीं छोड़ना चाहिये अपितु उनका पालन अवश्य ही करना चाहिए।

लोकव्यवहार की भाषा का आश्रय

कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टि अध्यात्मानुप्राणित होने पर भी लोककल्याण के भावों से प्रवण है। वे आत्मकल्याण के साथ परकल्याण भी करना चाहते हैं। इस बात की पुष्टि उनकी अध्यात्मसाधना एवं साहित्यसपर्या से स्पष्ट हो जाती है। यत वे अपनी बात को सामान्य लोगों तक पहुँचाना चाहते थे, अत उन्होंने पण्डिताई भाषा का प्रयोग न करके जनभाषा प्राकृत का प्रयोग किया। प्राकृत भाषा के प्रचलित रूपों के प्रयोग से उन्होंने भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों की शब्दावली का प्रयोग करके भाषाई विवाद को समाप्त करने का स्तुत्य प्रयास किया था। आज समाज के कुछ भाषाविज्ञ विद्वानों ने अपने मन की शुद्धि न करके उनकी भाषा को व्याकरणसम्मत रूप देने का प्रयास प्रारम्भ किया है। कहीं उनकी यह प्रवृत्ति आत्मघाती न हो जाये—इस तथ्य को दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिये।

उपमा, रूपक एवं दृष्टांतों में लोकव्यवहार के उदाहरण

उसी कवि या समाजसुधारक का समाज पर चिरस्थायी प्रभाव पड़ता है, जिसकी भाषा

में संप्रेषणीयता का गुण होता है। कुन्दकुन्द एक सशक्त मनोवेत्ता थे, अत उन्होंने अपने भावों को लोक तक संप्रेषित करने के लिए अपनी भाषा में लोकजीवन के उदाहरणों का समावेश किया है। ऐसे उदाहरणों की संख्या सैकडों में है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं। जैनधर्म की उत्तमता का प्रतिपादन करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि जैसे रत्नों में हीरा उत्तम होता है, जैसे वृक्षों में चन्दन उत्तम होता है, उसी प्रकार धर्मों में जैनधर्म उत्तम है और यह संसार के दुःखों का नाशक है।[१२]

शुद्ध आत्मा का ज्ञान आसानी से क्यों नहीं हो पाता है इसका सुन्दर लोकानुभूत विवेचन करते हुए आचार्यश्री ने कहा है कि काम, भोग और बन्ध की कथा श्रुत, परिचित और अनुभूत होने से शीघ्र समझ में आ जाती है। शुद्ध आत्मा की स्थिति ऐसी नहीं है, अत वह शीघ्र समझ में नहीं आती है।[१३] इसी प्रकार अनार्य को समझाने के लिए अनार्यभाषा का आश्रय,[१४] अर्थार्थी द्वारा राजा को जानकर श्रद्धा एव तदनुकूल आचरण[१५], परद्रव्य को जानकर उसका त्याग[१६], सेना को राजा कहना[१७], नीरक्षीर का मिश्रण[१८] मार्ग को लुटा कहना[१९], दान पूजा आदि को मोक्ष का कारण कहना[२०] तथा लोभी के दान को शव की शोभा के समान प्रतिपादित करना[२१] आदि सैकड़ों ऐसे उदाहरण हैं, जिनसे कुन्दकुन्द का लोकव्यवहार के प्रति उदार दृष्टिकोण का पता चलता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य यद्यपि अध्यात्मसाहित्य के अग्रणी प्रतिभू आचार्य हैं। उनके साहित्य का प्रधान प्रतिपाद्य अध्यात्म रहा है। उन्होंने स्वोपकार के लिए अध्यात्म का अवलम्बन लिया है तो परोपकार के लिए व्यवहार का भी। लोक-व्यवहार उनके साहित्य में सर्वत्र प्रतिबिम्बित हुआ है। इस लोकव्यवहार से जहाँ उन्हें अध्यात्म के प्रतिपादन में सौकर्य हुआ है, वहाँ उनके विभिन्न अनुभव भी प्रस्फुटित हुए हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित लोकव्यवहार में विचारों की गंभीरता, आचार्यनिष्ठ उपदेशपरकता तथा लोकनिष्ठ पथप्रदर्शकता की भावना एकत्र सन्निहित है। उनके प्रतिपादन में भोगों को त्याज्य कहा गया है। अत ज्ञानी के भोग स्वयं छूट जाते हैं यह कथन कथञ्चित् सत्य है परन्तु इससे भी अधिक सत्य यह है कि जिसने अभी तक भोगों का त्याग नहीं किया है, वह कथमपि ज्ञानी नहीं है, हाँ पण्डितमानी अवश्य है। उन्होंने कहीं शुभ अशुभ को समान मानने का भी कथञ्चित् कथन किया है किन्तु यह कथन परमभाव वालों को हेयता की दृष्टि से है, उपादेयता की दृष्टि से उनमें तारतम्य न मानना वीर-शासन का अपमान और कुन्दकुन्दाचार्य के प्रति अन्याय है। अत अपनी भूमिका के अनुकूल आचरण करना ही स्वपरकल्याणकारी हो सकता है। अनेकान्त का आश्रय लिए बिना समाज की विसंगतियों की विषधारा समाज को मृतप्राय कर देगी। अत हम कुन्दकुन्दान्वयियों को कुन्दकुन्द की भावनाओं का ध्यान रख कर एकान्त मतों का पोषण नहीं करना चाहिए।

***

६

१. 'सहजुप्पणं रूवं दट्ठुं जो मण्णए न मच्छरियो।
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ।।दर्शनपाहुड, २४.

२. See History of Indian Logic (Dr Satish Chandra Vidyabhushana), Page 188-200 for detailed study.

३. जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं दिणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ।।—समयसार, 8.

४. सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।। वही, १२

५. द्रष्टत्य, नियमसार गाथा १६१-१७१

६. सर्वार्थसिद्धि, १/१० पृ० ६९

७. द्रष्टव्य नियमसार गाथा १०-१२, ५१-५२

८. नीतिवाक्यामृत

९. सव्वे भावे जम्हा पच्चाक्खादी परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ।।—समयसार -३४.

१०. नियमसार, तात्पर्यवृत्ति -८५.

११. रयणसार, गाथा -५२-५४.

१२. जह रयणाणं पवरं जहतरुणाण गोसीरं।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भवमहणं।।—भावपाहुड -८२.

१३. सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि न सुलहो विहत्तस्स।।—समयसार ४.

१४. वही, ८.

१५. वही, १७.

१६. वही, ३५.

१७. वही, ४७.

१८. वही, ५७.

१९. वही, ५८.

२०. रयणसार, १०.

२१. वही, २६.

आचार्य कुन्दकुन्द की मुख्य गाथाएँ

❑ *मिश्रीलाल जैन, एडवोकेट, गुना*

द्विसहस्राब्दी पूर्व भारतीय दर्शन के क्षेत्र में आचार्य कुन्दकुन्द प्राकृत भाषा में निबद्ध विपुल साहित्य के माध्यम से अमर-कीर्ति आभा छोड गये। श्रमण संस्कृति के आचार्यों में उनका शीर्षस्थ स्थान है। तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर, गौतम गणधर के नाम के साथ उनका मंगल स्मरण किया जाता है।

यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य के समग्र साहित्य में से कतिपय विशिष्ठ गाथाएँ चुनकर उनका भावानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—

दंसणपाहुड़

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
दंसणमग्ग वोच्छामि जहाकमं समासेण ॥ (दंसणपाहुड गाथा १)

ऋषभ से महावीर तक
तीर्थंकरों की श्रंखला है,
संसृति को दिव्य-ध्वनि में
दे गये अनुपम कला है,
कर नमन उनके चरण में
समय कागज पर लिखा है,
महकता प्रज्ञा सुमन, उनकी
किरण पाकर जगा है।

दंसण भट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति॥ (दंसणपाहुड, गाथा ३)

भ्रष्ट दर्शन से हुए, निर्वाण
उनकी कल्पना है,
बीज के बिन वृक्ष, जननी बिना
पुत्र को किसने जना है?
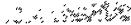
अस्खलित चारित्र, दर्शन युक्त
मुक्ति वरण की सम्भावना है,
दिव्य-ध्वनि का रहस्य मानव।
प्रथम तुझको जानना है।

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं॥ (दंसणपाहुड़, गाथा १७)

भौतिक सुख भ्रामक, नश्वर है
व्यर्थ सुखों का भ्रम उपजाते,
दिव्य-ध्वनि अमृत औषधि है
जन्म-मरण के दुख मिट जाते,
आत्ममार्ग से कर्म वर्गणा
दूर चली जाती है ऐसे,
आते देख मयूर, नाग
गतिशील भागते फिरते जैसे।

सूत्रपाहुड़

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणई सो हु सद्दिट्ठी॥ (सूत्रपाहुड़, गाथा ५)

जो सर्वज्ञ कथित है प्राणी।
कहलाती है वह जिनवाणी,
नीर क्षीर पृथक् कर लेता,
है मराल सा जैसे प्राणी,
बाह्य आत्म दो पृथक् तत्त्व हैं
निर्णय करती जिसकी दृष्टि,
श्रुत ज्ञान अनुसार मनुज
वह कहलाता है सम्यक्दृष्टि।

जो संजमेसु सहिओ आरंभ-परिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए॥ (सूत्रपाहुड़, गाथा ११)

प्राणी मात्र के लिए हृदय में

लहराता करुणा का सागर,

सर्व परिग्रह रहित जगत में
वन्दनीय है संत दिगम्बर,

मनुज संग, सुर और असुर भी
करते हैं चरणों का वन्दन,

उन चरणों की धूलि शीश पर
शोभित होती जैसे चन्दन।

पंचमहव्वय जुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य॥ (सूत्रपाहुड, गाथा २०)

पंच महाव्रत, तीन गुप्तियाँ
हे साधुओ। मुक्ति की सीढी,

आदिकाल से आरोहण
करती आई श्रमणों की पीढी,

मुक्ति मार्ग दुर्लभ, चंचल मन
क्षण में पाँव फिसल सकते हैं,

संयम सहित निर्ग्रन्थ श्रमण ही
मोक्ष-मार्ग पर चल सकते हैं।

मणवयणकायदव्वा आसत्ता जस्स इन्दिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं॥ (बोधपाहुड़ ५)

मन-वच-काय औ' पंचइन्द्रियों का
जिन्हें नहीं कोई आकर्षण,

प्रज्ञा की छैनी से तत्पर
सदा काटने भव के बंधन,

सतत साधना में जो रत हैं
श्रमण दिगम्बर स्वयं आयतन,

जिन मुद्रा की भाँति उन्हीं के
चरणों में है शत-शत वंदन

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं घियमयं चावि।
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होई रूवत्थं॥१५॥ (बोधपाहुड़ १५)

सुरभि पुष्प, नवनीत दुग्ध में
मूल्यवान होता है जैसे
सम्यक्-दर्शन-ज्ञान आत्म
मोती की दुर्लभ आभा वैसे,
द्रव्य लिंग रूपस्थ दिगम्बर
भाव लिंग की प्रतिमा गढ़ ले,
अन्तरंग लिपि सदा निरक्षर
स्वयं लिखी, प्रज्ञा से पढ़ ले।

भावपाहुड़

पीओ सि थणच्छीरं अणतजम्मंतराइं जणणीणं।
अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहियययरं॥ (भावपाहुड १८)

सागर जल से अधिक
स्तन का दूध पी-गया
कई जनम में,
बचपन, यौवन
और बुढ़ापा
पाकर गया मरण में।

तुह मरणे दुक्खेणं अणण्णाणं अणेयजणणीणं।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं॥ (भावपाहुड १९)

जन्म-जन्म की माताओं ने
इतने नीर बहाये,
यदि संचय सम्भव हो
निश्चित सागर ही बन जाये,
हर योनि में भटक चुका
पर गया न प्रभु शरण में।

तिहुयण सलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीडिएण तुमे।
ते वि ण तिण्हाछेओ जाओ चिंतिह भवमहणं॥ (भावपाहुड़ २३)

निश्चय रत्नत्रय आराधन

ही तेरा सम्बल है,
यह संसार मात्र मृग-तृष्णा
इसमें छल ही छल है,
दूर चदरिया रखदे, चाहे
उजली हो या मैली,
बोधि समाधि दुर्लभ साधु।
यही मुक्ति की शैली।

जह दीवो गब्भहरे मारुयबाहाविवज्जिओ जलइ।
तह रायाणिलरहिओ झाण पइवो वि पज्जलइ॥(भावपाहुड १२३)

प्रभंजन से रहित कक्ष में
ज्ञान दीप अपलक जलता है,
विषय वासना से अन्तस् में
केवल अंधियारा पलता है,
मन संयम से रहे अचचल
ध्यान दीप ज्योति बिखराता,
उसके उज्जलतम प्रकाश में
आत्म रत्न भी आभा पाता।

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो।
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होई फुडं॥ (भावपाहुड, १४९)

ब्रह्मा, विष्णु, बुद्ध कहो
सर्वज्ञ कहो अविनाशी,
नामों का अन्तर है,
सब हैं सिद्धालय के वासी,
जिनको कर्म कलंक न छूते
वे ही हैं शिव शंकर,
आत्म-ज्ञान की अन्तिम संज्ञा
कहलाती तीर्थंकर।

माया-वल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा।
विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाण-सत्थेहि॥ (भावपाहुड़, १५६)
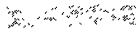
मूर्च्छा रूपी सघन वृक्ष पर
लिपटी कपट लताएँ,
विष फूलों से लदी हुई हैं
उसकी सब शाखाएँ,
ज्ञान रूप शस्त्रों से काटें
ऋषि, मुनि औ' संन्यासी
अरिहन्तों के शाश्वत पथ पर
चलने के अभ्यासी।

मोक्खपाहुड़

जं मया दिस्सदे रूवं तण ण जाणदि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णंतं तम्हा जंपेमि केण हं॥२९।।
सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं।
जो यत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं॥ (मोक्खपाहुड, २९,३०)

जो रूपस्थ, वही सब जड़ है
किससे बात करूँ, मैं बोलूँ?
मैं ज्ञायक हूँ, सदा अरूपी,
कहाँ भेद चेतन के खोलूँ?
मौन और ध्यानस्थ हुआ मैं
नये कर्म आयें, ना बाँधें,
मैं गन्तव्य मुक्ति का पाऊँ
पूर्व कर्म सारे झर जायें।

सीलपाहुड़

वीरं विसालणयणं रत्तुप्पल कोमलस्समप्पायं।
तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह॥ (सीलपाहुड़, १)

नेत्र विशाल, विस्तीर्ण दृष्टि है
रक्त कमल से युगल चरण हैं,
मन-वच-काय से करूँ वन्दना

प्राणी मात्र के लिए शरण हैं,
प्रज्ञा-दर्पण में प्रतिबिम्बित
तीन काल की सब पर्यायें,
महावीर की दिव्य ध्वनि में
मुखरित हैं जग की आशाएँ।

नियमसार

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्य जादि मरणं ऐगो सिज्झदि णरिओ।। (नियमसार, गाथा १०१)

आता जीव अकेला जग में
जाता सदा अकेला,
सांसों का पंछी उड जाता
उठ जाता है मेला,
जन्म-मृत्यु की भाँति जीव
होता है मुक्त अकेला,
दुर्लभ है, चिर वन्दनीय है
पर मुक्ति की बेला।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।। (नियमसार, गाथा १०२)

दर्शन, ज्ञान-चेतना लक्षण
सहित आत्मा अविनाशी,
पर द्रव्यों का साथ छूटे
हो सिद्धालय का वासी,
आत्म तत्त्व को छोड़ सभी
संयोगी लक्षण वाले,
जन्म-मृत्यु का चक्र चलाते
हैं ये विषधर काले।

प्रवचनसार

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो॥ (प्रवचनसार, गाथा १८)

बड़ी जटिल है, रहस्यपूर्ण है
तत्त्व ज्ञान की भाषा,

अनुभूति की शब्दों में
मिलती न कहीं परिभाषा,

पर्यायों के बिम्ब बदलते
पर ध्रुवता स्थिर है,

नश्वर के भीतर पर कैसे
बैठा अविनश्वर है।

तिमिर हराजइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति॥ (प्रवचनसार, गाथा ६७)

दृष्टि स्वयं तिमिर नाशक हो
व्यर्थ दीप को कौन जलाए?

आत्मा अक्षय कोष सुखों का
विषय, वासना कौन बुलाए?

स्व-आभा से नित्य प्रकाशित
रहती है आत्मा की ज्योती,

खोज लिया है देह सीप में
मैंने भी इक दुर्लभ मोती।

जो जाणदि अरिहंतं दव्वत्त-गुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्य लयं॥ (प्रवचनसार गाथा-८०)

द्रव्य, गुण, पर्याय से
अरिहंत को जो जानते हैं,

वही अपनी आत्मा के
मर्म को पहिचानते हैं,

मोह होता क्षीण, संयम के
नये आयाम खुलते,

मुक्ति के अन्तिम शिखर की
ओर उनके चरण बढ़ते।

जीवो ववगद मोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं॥ (प्रवचनसार, गाथा ८१)

राग होता क्षीण और
सम्यक्त्व के कीर्तिमान गढते,

निरक्षर की लिपि के
अनुभूति से अक्षर वह पढ़ते,

आत्म रूपी रत्न की आभा
कभी न क्षीण होती,

प्राप्त चिन्तामणी रत्न फिर
कौन खोजे व्यर्थ मोती।

समयसार

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं॥ (समयसार, गाथा १)

जन्म-मृत्यु परिभ्रमण से मुक्त
जो अन्तिम चरण

अन्तिम शिखर
पंचमगति को प्राप्त

जो अनुपमेय,
ऐसे केवली के ज्ञान

सिन्धु से प्राप्त
मकरन्द-अमृत छंद

स्मृति-पटल पर अकित कर
वन्दनीय श्रुत-केवली

संसृति को रहे थे जो बाँट
वही अमृत
उन्हीं के स्मृति-कलश से प्राप्त

स्वानुभव की कसौटी पर कर परीक्षित
सर्व सिद्धों को नमन कर
रहा जग को बाँट।

सुद परिचिदाणु भूदा सव्वस्स-वि काम-भोग-बंध-कहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥ (समयसार, गाथा ४)

काम भोग और राग को
वासना के हर रहस्य को
मनुज क्या
पशु तक पहिचानते,
कितनी सुगम है यह कथा
है आत्मा देहादि से चिर भिन्न
पर इस सत्य ने न मन छुआ,
न सुना, न परिचय हुआ
यह सरल सीधी बात भी
उलझी लगी है सर्वदा।

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव॥ (समयसार, गाथा ६)

जो स्वयं ही सिद्ध है उत्पत्ति में
कर्ता न कोई निमित्त
सदा से है नित्य और अनन्त
आत्मा का शुद्ध ज्ञायक भाव।
ज्ञायक भाव से जाना हुआ है
वह वही है, नहीं कोई अन्य
शेष सब पर्याय, गुण-स्थान
है व्यवहार
दित्य दृष्टि में सदा है
आत्मा का एक ज्ञायक भाव।

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स॥ (समयसार, गाथा २८८)

बंधन नहीं कटते,
श्रंखलाओं में बँधा कोई मनुज
चिर काल से
जानता हो बंधनों की आयु
और स्वभाव,
पर इस ज्ञान से
बंधन नहीं कटते।
जइ ण वि कुणइ च्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं।
कालेण दु बहुएण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं।। (समयसार, गाथा २८९)
बंधनों को काटने
पुरुषार्थ सम्यक् है जरूरी,
चरण हों गतिशील
मंज़िल से घटी है तभी दूरी
अनगिनत बीते दिवस और रैन
बिन काटे कभी
बंधन नहीं कटते।
इय कम्मबंधणाणं पएसठिइपयडिमेवमणुभागं।
जांणतो वि ण मुच्चइ, मुच्चइ सो चेव जइ सुद्दो।। (समयसार, गाथा २९०)
जानता हो कर्म-बंधन
प्रकृति और प्रदेश
स्थिति और वह अनुभाग
बंधनों से मुक्ति केवल कल्पना
छूटे न जब तक राग,
राग के काटे बिना
बंधन नहीं कटते।
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठ हिं से साहिं।। (समयसार, गाथा २४०)
राग से लिपटे हुए अन्तस् पटल पर
कर्म

अपनी तूलिका से
सुख, दुःखों की कथा लिखते
किन्तु जिनका मन
वीतरागी भाव से रहता सदा प्लावित
उस आत्मा पर
कर्म की लिपि के
नहीं अक्षर उभरते।

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तोदु विवरीदो॥ (समयसार, गाथा २५0)

मेरा जीवन पर के आश्रित
मेरी आयु कर्म की रेखा
न्यून, अधिक कर सकता कोई
ये तेरी है भ्रान्ति
टूटती किसी सांस को
कोई न सम्बल
और सभी पुरुषार्थ
व्यर्थ निष्फल हो जाते
आयु कर्म की रेखा
पड़ जाती है निर्बल।

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं॥

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुभं कहं तए जीवियं कयं तेसिं॥ (समयसार, गाथा २५१-२५२)

आयु कर्म के उदय-अस्त से
मिटता, बनता सांसों का क्रम,
जिनवर की कल्याणी वाणी
में उद्घाटित यह शाश्वत स्वर,
सांसों का संगीत झंकृत है जब तक,
तोड़ नहीं सकता कोई उसकी

लय, उसका स्वर
आयु कर्म की किन्तु टूटती
है जब रेखा
टूटी हुई वीणा की भाँति
झंकृत होता नहिं कोई स्वर।

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स।। (समयसार, गाथा २६२)

किसी जीव की हिंसा हो,
न हो
किन्तु विकारी भाव हिंसा के
उदित यदि होते अन्तर में
तो निश्चय
हिंसा करने का
बंध आत्मा को होता है।

एदेहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्य ताणि दु उवओग-गुणाधिगो जम्हा।। (समयसार, ५७ गाथा)

संयुक्त हैं जल-क्षीर दोनों
विभक्त हैं जिस भाव से,
है आत्मा चिर भिन्न वैसे
बाह्य के आकार से,
व्यवहार से संयुक्त केवल
क्षीर के संग नीर है,
भूतार्थ से दर्शन करो
निज आत्म में महावीर है।

णिच्छय णयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं।। (समयसार, गाथा ८३)

है आत्मा कर्ता और भोक्ता
बात निश्चय से सनी,
शोधती है मैल हीरे का

ज्यों हीरे के कनी।

पण्णाए घेत्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा॥ (समयसार, गाथा २९७)

मात्र दृष्टा हूँ
तटस्थ हूँ, साक्षी

सभी क्रिया-कलापों का
आत्मा का एक शाश्वत स्वर

शेष है संगीत
रागों का।

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइदूण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति॥ (समयसार, गाथा ३१७)

ज्यों भुजंग निर्विष ना होता
चाहे करे दुग्ध का पान,

त्यों अभव्य का
व्यर्थ चला जाता

आगम सिन्धु सा ज्ञान।

जो समयपाहुडमिणं पडिहूडं अत्थतच्चदो णादु।
अत्थे ठाही चेदा सो हो होही उत्तमं सोक्खं॥ (समयसार, गाथा ४१५)

समयप्राभृत समय की अनुपम निधि है
प्रत्येक आत्मा

बन सके परमात्मा
इसमें निहित ऐसी विधि है

समयप्राभृत का जो सम्यक् ज्ञान कर
अर्थ में जो ठहरेंगे

सत्य में वह भव्यजन
भव सिन्धु तैरेंगे

शाश्वत सुख में अनादि
काल ठहरेंगे।

धर्म

(परिच्छेद, ४)

धर्म स्वर्ग सोपान, धर्म
ही केवल मोक्ष प्रदाता,
दुर्लभ मंगलमयी, धर्म की
उपमा खोज न पाता।
लोक मंगल की मूर्तिमान
कर दो सारी गाथाएँ,
अन्तकरण पवित्र रखो
साकार हों सभी ऋचाएँ।
शब्द जाल, ईर्ष्या औ' लालच
जीवन में न आयें,
अप्रिय वचन क्रोध अग्नि से
किंचित् मन न जलायें।
कालजयी है मित्र, मरण
के समय काम आयेगा,
बिना प्रतीक्षा करे मित्रता
साथ-साथ जायेगा।
डोली कौन उठाता, यात्रा
कौन कर रहा देखो?
प्रश्न मत करो, धर्म मर्म
अपनी दृष्टि से देखो।

प्रेम

(कुरलकाव्य, परिच्छेद ८)

प्रेम द्वार को बंद
नहीं करती कोई दीवार,
बंद पलक पर निर्झर सी
बहती अश्रु की धार।

आत्मा देखो फिर अस्थि-
पिंजर में बंद हुआ है,
प्रीति सुरभि पाने पुष्पों में
वह मकरंद हुआ है।

मरुस्थल में प्राण हीन
वृक्षों में सुमन खिलेंगे,
प्रेम हीन व्यक्ति को उस क्षण
सुख के दिवस मिलेंगे।

स्नेहिल हो उठा, प्रेम से
हृदय का हर कहुना,
मित्र रूपी बहुमूल्य रत्न
मिल गया आज अनहोना

व्यर्थ बाह्य सौन्दर्य, प्रेम
जब आत्मा का भूषण है,
प्रेम बिना यह देह, अस्थि
मज्जा मय प्रदूषण है।

अतिथि-सत्कार

(परिच्छेद-९)

द्वार पर जब अतिथि, अमृत-
पान मत करना अकेले,
यात्री को पाथेय देता है
उसी के सुख अकेले।

द्वार से जाते अतिथियों को नमन
आने की प्रतीक्षा,
दिव्य ऐसी आत्मा की
देवता करते प्रतीक्षा।

जो अतिथि सत्कार से
वंचित रहे वह स्वयं बोले,

"व्यर्थ धन संचय, परिश्रम
भाड़ में रह गये अकेले।
सूंघने पर पुष्प पारिजात
मुरझाता है जैसे,
तोड़ने मन सुमन अतिथि
दृष्टि एक पर्याप्त वैसे।

संसार की अनित्यता

(परिच्छेद ३४)

जन्म से जो जगा,
मृत्यु से सो गया,
पंछी उडते, सूना
घोंसला हो गया।
लगता है, आत्मा का
अपना घर नहीं,
देह में आना, जाना
चलन हो गया।
कल तक एक आदमी था
अब दिखता नहीं,
विस्मित हूँ, जाने किस
भीड़ में खो गया?
जिसने तोड़ी अहम्,
स्वार्थ की श्रृंखला,
स्वर्ग में जाके वो
देवता हो गया।
ज्योतिर्मय के चरण की
शरण जो गया,
मुक्ति के मार्ग में
स्थित वो हो गया।

शिक्षा

(परिच्छेद ४०)

मनुज के दो नयन हैं, अंक, अक्षर
नयन हैं व्यर्थ उनके जो निरक्षर

ज्ञान का लक्ष्य है चारित्र धारण
अन्यथा ज्ञान जाता है अकारण

खोदो जितना, धरा देती है पानी
सीखो जितना, प्रज्ञा उतनी सयानी

देश, परदेश विज्ञ को एक जैसा
ज्ञान पाथेय है देता भरोसा

ज्ञान निर्दोष, अक्षय कोष सुख का
मृदु मकरन्द आत्मा के कमल का।

जैन शासन के प्रभावक आचार्य	डा. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर	७३७
गृद्धपिच्छाचार्य	डा नेमिचन्द	७४८
समन्तभद्र और अर्हद् भक्ति	डा. कस्तूरचन्द सुमन, महावीरजी	७५०
सस्कृत जैन स्तोत्र साहित्य के प्रथम प्रवर्तक आ. समन्तभद्र	डॉ. कुसुम जैन, नागपुर	७६०
आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद और उनका समय	रमाकान्त जैन, लखनऊ	७६९
आचार्य विद्यानन्दि· व्यक्तित्त्व और कर्तृत्त्व	आर्यिका शुभमतीजी	७७३
वादिराज एव उनकी भक्ति	आर्यिका प्रशान्तमतीजी	७८१
आ. अमृतचन्द्र की अहिसा अवधारणा	प विजयकुमार शास्त्री	७८८
आचार्य प्रभाचन्द्र	डा. सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी	७९४
आचार्य शुभचन्द्र और उनका ज्ञानार्णव	बसन्तकुमार जैन, मेरठ	७९९
आचार्य मानतुंग और उनकी भक्ति	ब्र. विद्युल्लता शाह, सोलापुर	८०३

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका भक्तिकाव्य	पं. कोमलचन्द जैन, लोहारिया	८१२
जैनाचार्यो की विभिन्न क्षेत्रीय देन	डा इन्दु बोहरा, भोपाल	८१८

❑ डॉ. जयकुमार जैन, मुज़फ्फरनगर

यह सुविदित तथ्य है कि जैन परम्परा के अनुसार ई. पू. ५२७ में चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान महावीर के निर्वाण के बाद सुखमा-दुःखमा संज्ञक चतुर्थकाल के ३ वर्ष ८माह १५दिन अवशिष्ट बचे थे। इसके बाद दुःखमा नामक यह पंचमकाल प्रारम्भ हुआ। सन्धिकाल प्रायः संघर्षों से परिपूर्ण होता है। भगवान् महावीर का काल भी इसका अपवाद नहीं है। आधिभौतिक विचारधारायें जहाँ इस पंचम काल को सुसभ्यता का चरम विकसित रूप स्वीकार करती हैं, वहाँ जैन, बौद्ध एवं वैदिक सभी आध्यात्मिक भारतीय विचारधारायें इसे मानव-मूल्यों का ह्रासकाल मानती हैं।

तीर्थङ्कर महावीर के निर्वाण के पश्चात् १६२ वर्षों तक श्रुतपरम्परा का एक व्यवस्थित क्रम चलता रहा। तिलोयपण्णत्ती के अनुसार जिस दिन भगवान महावीर का निर्वाण हुआ, उसी दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। महावीर स्वामी के निर्वाण के १२ वर्ष बाद गौतम गणधर का निर्वाण हुआ। गौतम गणधर के १२ वर्ष बाद सुधर्मा स्वामी का निर्वाण तथा उनके ३८ वर्ष बाद जम्बूस्वामी का निर्वाण हुआ। इस प्रकार वीरनिर्वाण के ६२ वर्ष तक केवलज्ञानियों का सान्निध्य बना रहा। फलत श्रुत पूर्णतया विद्यमान रहा है। सामान्यतया जीव में पंचम काल में निर्वाण-प्राप्ति की सामर्थ्य नहीं मानी गयी है। अत उक्त तीनों केवलियों के पश्चात् किसी का निर्वाण नहीं हुआ। ये तीनों तो चतुर्थकाल के उत्पन्न जीव थे, अतः पंचमकाल आ जाने पर भी उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ था।

उक्त तीनों अनुबद्ध केवलियों के बाद विष्णुनन्दी,नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु नामक पाँच श्रुतकेवली हुए। इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में इनका काल क्रमशः १४ वर्ष, १६ वर्ष, २२ वर्ष, १९ वर्ष और २९ वर्ष कुल १०० वर्ष माना है। इस प्रकार ६२+१००=१६२वर्षों तक अनुबद्ध केवलियों और श्रुतकेवलियों के रहने से श्रुतपरम्परा अविच्छिन्न एवं व्यवस्थित बनी रही। दिगम्बर आम्नाय के अनुसार इसके बाद श्रुतकेवलियों का लोप माना गया है। अन्तिम श्रुतकेवली का समय ई. पू. ३६५ है। श्रुतकेवलियों के बाद श्रुत का ह्रासकाल आया।

तदनन्तर ११ दशपूर्वधर आचार्य हुए, जिनका समय १८४ वर्ष है—
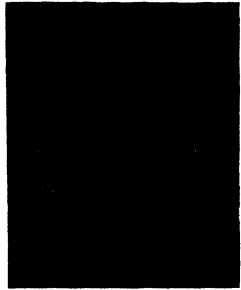
॥वात्सल्यरत्नाकर॥

आचार्य श्री १०८ शुभचन्द्राचार्य

आचार्य श्री १०८ वादिराज स्वामी

आचार्य श्री १०८ समन्तभद्र स्वामी

आचार्य श्री १०८ पूज्यपाद स्वामी

१. विशाखाचार्य	१० वर्ष	७. धृतिषेण	१८ वर्ष
२. प्रोष्ठिल	१९ वर्ष	८. विजय	१३ वर्ष
३. क्षत्रिय	१७ वर्ष	९. बुद्धिल	२० वर्ष
४. जयसेन	२२ वर्ष	१०. गंगदेव	१४ वर्ष
५. नागसेन	१८ वर्ष	११. धर्मसेन	१६ वर्ष
६. सिद्धार्थ	१७ वर्ष		

दशपूर्वधरों में सर्वप्रथम विशाखाचार्य नाम से प्रसिद्ध प्रथम चन्द्रगुप्त मुनि हैं। यही बाद में सर्वसंघ के अधिपति बने।[१] इन दस पूर्वधारी आचार्यों के अनन्तर नक्षत्र, जसपाल (जयपाल), पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस नामक पाँच आचार्यों का निर्देश मिलता है। इनका काल २२० वर्ष माना गया है।[२] ये पाँचों आचार्य दसपूर्वों के धारक तो नहीं थे किन्तु एकादश अंगों के ज्ञाता थे। बारहवें अंग का ज्ञान इनके समय त्रुटित हो चुका था। अत श्रुत की एकदेश सुरक्षा में इनका अप्रतिम योगदान रहा है। इन पाँच एकादशाङ्गधारी आचार्यों के बाद सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य नामक चार आचाराङ्गधारी आचार्य हुए। इनका काल ११८ वर्ष अङ्गीकृत किया गया है। इस प्रकार (३ अनुबद्धकेवली) ६२ वर्ष + (५ श्रुतकेवली) १०० वर्ष + (१२दशश्रुतपूर्वधारी आचार्य) १८४ वर्ष + ५ एकादशाङ्गधारी आचार्य) २२० वर्ष + (४ आचारांगधारी आचार्य) ११८ वर्ष — कुल ६८४ वर्षों तक श्रुत की एकदेश हानि हो जाने पर भी अधिकांश श्रुत सुरक्षित बना रहा।

आगे चलकर श्रुतपरम्परा का ह्रास होता गया। तब धर्म की प्रभावना के लिए सर्वतोमुखी गतिविधियाँ की जाने लगीं। दान, तपस्या, जिनपूजा, विद्यातिशय, राजसम्मान, शास्त्रार्थविजय एवं ऋद्धि-सिद्धि का धर्मप्रभावना में अप्रतिम महत्त्व बन गया।[३] यद्यपि ऋद्धि-सिद्धि राजसम्मान आदि वीतरागभाव की साधना करने वाली जैनपरम्परा का लक्ष्य नहीं रहा है किन्तु जैनाचार्यों की परस्परोपग्रही प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर राजाओं ने जैनाचार्यों को बहुशः सम्मानित किया और इससे जिनशासन की महा प्रभावना हुई है। श्रेणिक, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, सम्प्रति एवं सातवाहन आदि राजाओं के कथानक जैनाचार्यों के सम्मान द्वारा जिनशासन की प्रभावना से भरे पड़े हैं। इसी प्रकार जब जैनेतर सम्प्रदाय संस्कृत को आधार बनाकर अपने लाभ के लिए शास्त्रार्थ ललकारने लगे तब जैनाचार्यों ने भी समाज में अपने अस्तित्व एवं धर्मसुरक्षा के निमित्त वादविवाद एवं शास्त्रार्थों में भाग लिया। समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, वादिराज आदि आचार्यों की घटनाएँ इन तथ्यों को उजागर करती हैं। जैनधर्म में ऋद्धि-सिद्धियों की अभीष्टता स्वीकार्य न होने पर भी जैनाचार्यों ने जैनसंघ एवं धर्म की प्रभावना के लिए उनका उपयोग किया है।

भले ही सिद्धान्त की दृष्टि से यह समीचीन न माना जाये परन्तु ऋद्धि-सिद्धि की घटनाओं का उल्लेख बहुत अर्वाचीन नहीं है। ऐसे आचार्यों में वज्र, पादलिप्त सदृश अनालोचित आचार्यों तथा कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, मानतुंग एवं वादिराज सदृश बहुविख्यात आचार्यों की गणना है। सम्यग्दर्शन के प्रभावना अंग के उदाहरण में समन्तभद्राचार्य ने वज्रकुमार का नामोल्लेख किया है।[४] कल्पसूत्र, हेमचन्द्राचार्यकृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, प्रभावकचरित तथा प्रभाचन्द्रकृत कथाकोष एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार की टीका में इनका विस्तार से वर्णन आया है। जैनधर्म के प्रभावक के रूप में इनकी महती प्रसिद्धि रही है। लुप्त आचारांग का अन्वेषण करते समय इन्हें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध होने का उल्लेख मिलता है।[५] इनके बाद एक रक्षित नामक आचार्य हुए। ये दशपुर (वर्तमान मन्दसौर, म. प्र.) के राजपुरोहित पुत्र थे। पिता को मुनिचर्या में स्थिर कराने के लिए उन्होंने अनेक उपाय किये थे।

इसके बाद धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि नामक आचार्य आते हैं। धरसेन आचार्य ने पुष्पदन्त और भूतबलि की बुद्धिमत्ता की परीक्षा करके उन्हें महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का ज्ञान कराया था।गुरु से प्राप्त ज्ञान को पुष्पदन्त और भूतबलि ने लिपिबद्ध किया। यहीं से आगमलेखन का क्रमबद्ध इतिहास प्रारम्भ होता है। आ. पुष्पदन्त ने सत्प्ररूपणा नामक प्रकरण की रचना की तथा भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की। षट्खण्डागम में छ· खण्डों में क्रमश जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध इन छ· विषयों का विवेचन किया गया है। बाद में चलकर षट्खण्डागम पर अनेक टीकायें-व्याख्यायें लिखी जाने के उल्लेख उपलब्ध होते हैं, किन्तु इनमें से वीरसेनाचार्यकृत धवला टीका को छोड़कर अन्य सभी टीकायें कालकवलित हो गई हैं। वे, आज हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं हैं। धरसेन, पुष्पदन्त एवं भूतबलि ये तीनों जिनशासन की प्रभावना के भूमिका रूप हैं।

जिनशासन के प्रभावक आचार्यों की ई. पू. प्रथम शताब्दी से लेकर ई. की बीसवीं शताब्दी तक एक सुदीर्घ परम्परा है। साहित्य के माध्यम से भी जैनाचार्यों ने जैनधर्म की पर्याप्त सेवा की है। इस विषय में सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् डॉ. एम. विन्टरनित्ज का कथन दृष्टव्य है—

"It was not able to do justice to the literary achievements of the Jainas But I hope to have shown that the Jainas have contributed their full share to the religious, ethical and scientific literature of ancient India "

विद्वान् समालोचक की इस उक्ति से स्पष्ट है कि जैनों ने साहित्य के माध्यम से भारत की अपूर्व सेवा की है। एक लघुनिबन्ध में सभी जैनाचार्यों का उल्लेख किया जाना सर्वथा असंभव है. अत क्षेत्र की सीमा बनाकर हम केवल विशिष्ट प्रभावक (१) आचार्य गुणधर, (२) आचार्य कुन्दकुन्द, (३) आ. उमास्वाति, (४) आ. समन्तभद्र, (५) आ. पूज्यपाद, (६)आ. अकलंक, (७)आचार्य जिनसेन, (८) आचार्य विद्यानन्द और (९) वादिराजसूरि दसवीं शती तक के इन नौ आचार्यों का ही यहाँ संक्षिप्त विवेचन कर रहे हैं।

(१) आचार्य गुणधर

षट्खण्डागम दि. जैन वाड्मय की नींव के समान है। उसी के समान महत्त्वपूर्ण एक अन्य ग्रन्थ कसायपाहुड है। कसायपाहुड के रचयिता आचार्य गुणधर हैं। इस ग्रन्थ में बन्ध, संक्रमण, उदय और उदीरणा के भी पृथक् अधिकार दिये गये हैं। यह १५ अधिकारों में विभक्त है। अन्तिम चारित्रमोहक्षपणाधिकार बहुत विस्तृत है। इसमें चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय का विस्तृत विवेचन हुआ है। आचार्य गुणधर का समय वि. सं. १६ (ई.पू. ४१ वर्ष) मान्य है।[७]

(२) आचार्य कुन्दकुन्द

मंगलं भगवदो वीरो मंगलं गोदमो गणी।
मंगलं कोण्डकुन्दाइ जेण्ह धम्मोत्थु मगलं॥

मंगलाचरण के रूप में दि. जैन आम्नाय में पठनीय इस गाथा से स्पष्ट है कि द्वादशाङ्ग आगम के धारक गौतम गणधर के बाद कुन्दकुन्द को प्रधानता दी गई है। कुन्दकुन्दाचार्य श्रमणसंस्कृति के उन्नायक प्राकृतसाहित्य के अग्रणी प्रतिभू, तर्कप्रधान आध्यात्मिक शैली के युगप्रधान आचार्य हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने 'बारस अणुवेक्खा' में अपने नाम कुन्दकुन्द के उल्लेख के अतिरिक्त अन्य किञ्चित् भी परिचय नही दिया है।[८] बोधपाहुड में उन्होंने अपने लिए भद्रबाहु का गमक शिष्य कहकर उनकी जयकार की है।[९] आचार्य कुन्दकुन्द के टीकाकार जयसेनाचार्य एवं अमृतचन्द्राचार्य ने भी उनका लेशमात्र भी परिचय नहीं दिया है। हाँ, जयसेनाचार्य ने टीका के अन्त्य पद्य में समयसारकार का पद्मनन्दि नाम से उल्लेख किया है। इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार में लिखा है कि पद्मनन्दि मुनि ने कुन्दकुन्दपुर में बारह हजार श्लोकप्रमाण षट्खण्डागम टीका लिखी थी।[१०] ऐसा लगता है कि उनका मूलनाम पद्मनन्दि था। किन्तु ग्राम के नाम के कारण उनका कुन्दकुन्द नाम से प्रसिद्धि हो गई। डा हार्नले ने उनके पाँच नामों में पद्मनन्दि भी एक नाम माना है।[१] विभिन्न प्रमाणों के आधार पर कुन्दकुन्द का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी माना जा सकता है।[१२]

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थ इस प्रकार हैं— पयवणसार, समयसार, पंचत्थिकाय, बारस अणुवेक्खा, दंसणपाहुड, चरित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, लिङ्गपाहुड, सिद्धभत्ति, सुदभत्ति, चारित्तभत्ति, जोइभत्ति, आयरियभत्ति, णिव्वाणभत्ति, पंचगुरुभत्ति और तित्थयरभत्ति।

कुन्दकुन्द के विषय में विदेहगमन और गिरनारविवाद की घटनाओं का उल्लेख मिलता है। विदेहगमन का देवसेन (९-१०वीं शताब्दी) ने तथा गिरनार-विवाद का शुभचन्द्र (१५१६ - १५५६ ई.) ने सर्वप्रथम उल्लेख किया है। परन्तु दोनों की ही विश्वसनीयता संदिग्ध है।

(३) आचार्य उमास्वाति

तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति अथवा उमास्वामी नाम से प्रसिद्ध हैं। श्वेताम्बर परम्परा में उनका उल्लेख उमास्वाति नाम से हुआ है। पं. फूलचन्द्र शास्त्री तत्त्वार्थसूत्रकार का नाम गृद्धपिच्छ[१३], श्री जुगलकिशोर मुख्तार उमास्वाति और गृद्धपिच्छ दोनों[१४] मानते हैं। १२वीं शताब्दी के पश्चाद्वर्ती अनेक शिलालेखों में उनका उल्लेख उमास्वाति अपरनाम गृद्धपिच्छ कहा गया है तथा उन्हें बलाकपिच्छ नामक आचार्य का गुरु कहा गया है।[१५] वादिराजसूरि ने इनका उल्लेख गृद्धपिच्छ नाम से ही किया है।[१६] एक अन्य शिलालेख में उमास्वाति के शिष्य बलाकपिच्छ का अपर नाम गृद्धपिच्छ कहा गया है।[१७] अन्यत्र वहीं गृच्द्धपिच्छ नामकरण का कारण बताते हुए कहा गया है कि प्राणि की रक्षा के लिए जब इन्होंने गृद्ध के पिच्छ को धारण कर लिया तबसे इनका नाम गृद्धपिच्छाचार्य प्रसिद्ध हुआ।[१८]

आचार्य उमास्वाति कुन्दकुन्द की परम्परा के थे। तत्त्वार्थसूत्र पर पंचत्थिकाय का प्रभाव देखा जा सकता है। अधिकांश प्राच्य-पाश्चात्य विद्वान् इनका समय ई. की द्वितीय शताब्दी मानते हैं।[१९] उमास्वाति की एकमात्र कृति तत्त्वार्थसूत्र उपलब्ध है। सूत्रशैली में लिखा गया विविध विषयों का विवेचन करने वाला यह प्रथम ग्रन्थ है। दिगम्बर परम्परा एवं श्वेताम्बर परम्परा दोनों में ही यह समान रूप से आदृत है। किन्तु सूत्रसंख्या एवं सूत्ररचना के विषय में यत्किञ्चित् मतवैभिन्य दृष्टिगोचर होता है। दिगम्बर आम्नाय में इसके पाठ का एक उपवास के बराबर फल वर्णित किया गया है—

> दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
> फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवे.॥

(४) आचार्य समन्तभद्र

समन्तभद्र श्रेष्ठ कवि और दर्शनशास्त्र के विलक्षण प्रतिभासम्पन्न आचार्य हैं। जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण में[२०], अजितसेन ने अलंकार-चिन्तामणि[२१] में, वादीभसिह सूरि ने गद्यचिन्तामणि[२२] में, वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथचरित[२३] में इनका पुण्यस्मरण किया है।

खेद है कि समन्तभद्राचार्य का विस्तृत परिचय उपलब्ध नहीं होता है। हस्तिमल्ल ने अपने नाटक विक्रान्तकौरव की प्रशस्ति में इनका संक्षिप्त परिचय निर्दिष्ट किया है। उसके आधार पर ज्ञात होता है कि ये मूलसंघ के आचार्य थे। हस्तिमल्ल ने तो उन्हें आगामी तीर्थंकर के रूप में उल्लिखित किया है। इस उल्लेख के अनुसार समन्तभद्र को विक्रिया ऋद्धि प्राप्त थी। शिवकोटि और शिवायन नामक उनके दो शास्त्रज्ञ शिष्य थे।

श्री जुगलकिशोर मुख्तार एवं डा. नेमिचन्द्र शास्त्री ने समन्तभद्र का समय ई. की द्वितीय शताब्दी माना है।[२४] पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य इनका समय ई. की द्वितीय-तृतीय शताब्दी स्वीकार करते हैं।[२५] डा. के. बी. पाठक ने इनका समय ई. की आठवीं शताब्दी स्वीकार किया है, जो सर्वथा अप्रामाणिक है। श्री मुख्तारजी ने इसका संयुक्तिक खण्डन किया है। पूज्यपाद (५वीं शताब्दी) कृत जैनेन्द्रव्याकरण में समन्तभद्र का उल्लेख ही डा. पाठक के मत का निरसन करने के लिए पर्याप्त है।

समन्तभद्र द्वारा रचित स्वयंभूस्तोत्र, जिनशतक, देवागम, युक्त्यनुशासन एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका एवं गन्धहस्तिमहाभाष्य का उल्लेख मिलता है।

(५) आचार्य पूज्यपाद

श्रवणवेलगोला के एक शिलालेख में देवनन्दि के जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपाद ये दो नाम और बतलाये गये हैं। कहा गया है कि उनका पहला नाम देवनन्दि था। बुद्धि की महत्ता के कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और उनके चरणों की पूजा देवों ने की, अतएव वे पूज्यपाद नाम से प्रसिद्ध हुए।[२६] पूज्यपाद और देवनन्दि ये दो नाम तो सर्वत्र मिलते हैं, किन्तु जिनेन्द्रबुद्धि भी इनका नाम रहा है — यह इस शिलालेख से जाना जाता है। जिनेन्द्रबुद्धि नामक एक प्रसिद्ध बौद्ध वैयाकरण भी हो चुके हैं, किन्तु वे इनसे सर्वथा भिन्न हैं। उन्होंने काशिका पर न्यास की रचना की थी।[२७]

पूज्यपाद ने ई. की दूसरी-तीसरी शताब्दी में विद्यमान आचार्य समन्तभद्र का उल्लेख किया है।[२८] दर्शनसार में कहा गया है कि आचार्य पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने ५२६ वि सं. (४६९ ई.) में द्राविडसंघ की स्थापना की।[२९] इन आधारों पर इनका काल पाँचवीं शताब्दी के पूर्व तो है ही।

पूज्यपाद द्वारा विरचित अद्यावधि पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं —

१. जैनेन्द्रव्याकरण (सर्वप्रथम जैनव्याकरण)
२. सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र पर प्रथम दिगम्बर टीका)
३. समाधितन्त्र (अध्यात्म का शतश्लोकात्मक गंभीर एवं तान्त्रिक ग्रन्थ)
४. इष्टोपदेश (५१ श्लोक, उपदेशात्मक ग्रन्थ)
५. दशभक्ति (गंभीर शैली में सिद्ध आदि की भक्ति)

उनके अन्य अनेक ग्रन्थों की सूचना मात्र मिलती है।

(६) भट्ट अकलंक

अकलंक का भट्ट अकलंक के नाम से जैन-न्याय के व्यवस्थापक के रूप में उल्लेख किया जाता है। भट्ट इनकी उपाधि थी और ये लघुहव्व नामक राजा के पुत्र थे। एक उल्लेखानुसार अकलंक का वि. सं. ७०० (ई. सन् ६४३) में बौद्धों के साथ वाद-विवाद हुआ था।[30] वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित के उल्लेख से भी इस घटना का समर्थन होता है।[31] इस आधार पर इनका समय सातवीं शताब्दी का प्रारंभ माना जा सकता है। पं. कैलाशचंद्र शास्त्री[32] एवं पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य[33] भी उनका यही समय मानते हैं। अकलंकदेव बडे ही प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। उत्तरकालीन समस्त जैन नैयायिकों ने इन्हीं का अनुसरण किया है। इनकी भाषा अर्थबहुल एवं सूत्रात्मक और शैली गूढ़ एवं संक्षिप्त है।

हुम्मच के शक सं. ११७८ (१२५६ई.) के एक शिलालेख[34] में अकलंक के संन्यासपूर्वक शरीरत्याग करने का उल्लेख पाया जाता है।

अकलंकदेव के निम्नांकित ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

१.तत्त्वार्थवार्तिक न्यायवार्तिक की तरह तत्त्वार्थसूत्र पर वार्तिक एवं व्याख्या।

२.अष्टशती देवागम (आप्तमीमांसा) की संक्षिप्त वृत्ति।

३.लघीयस्त्रय प्रमाणप्रवेश, न्यायप्रवेश एवं प्रवचनप्रवेश इन तीन प्रकरणों पर कारिका एवं स्वोपज्ञ वृत्ति।

४.न्यायविनिश्चय प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम प्रमाणों पर प्रामाणिक विवेचन।

(७) आचार्य जिनसेन

आदिपुराणकार जिनसेन आर्यनन्दि के प्रशिष्य और वीरसेनाचार्य के शिष्य थे। दशरथ गुरु इनके सधर्मा थे। आचार्य गुणभद्र ने दशरथगुरु और जिनसेन को सूर्य एवं चन्द्र की तरह सधर्मा बताया है।[35] वादिराजसूरि ने इनका शलाकापुरुषवर्णक के रूप में उल्लेख किया है।[36] राष्ट्रकूटनरेश अमोघवर्ष इनका भक्त था। अन्त में अमोघवर्ष ने संभवत जैनदीक्षा भी धारण की थी। विभिन्न शिलालेखों में जिनसेन की कीर्ति का विवेचन हुआ है।[37] जिनसेन पंचस्तूपान्वय के आचार्य थे, किन्तु गुणभद्र ने अपने को सेनान्वयी लिखा है।[38] संभवतः पंचस्तूपान्वय ही आगे चलकर सेनान्वय कहा जाने लगा था। हरिवंशपुराण के रचयिता जिनसेन (७८३ ई.) ने इनका उल्लेख किया है।[39] अत ये उनके पूर्वकालीन या समकालीन तो हैं ही। फलत इनका समय ८वीं शती ई. मानना समीचीन प्रतीत होता है।

आचार्य जिनसेन के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

१. पार्श्वाभ्युदय कालिदासकृत मेघदूत की समस्यापूर्ति।

२. जयधवला — कषायप्राभृत की वीरसेन की टीका के आगे चालीस हजार श्लोकप्रमाण टीका।

३. आदिपुराण — ४२ पर्वों तक आदिनाथ भगवान और भरत चक्रवर्ती तक का वर्णन। आगे के अवशिष्ट शलाकापुरुषों का वर्णन उनके शिष्य गुणभद्र ने पूर्ण किया है।

(८) आचार्य विद्यानन्द

विद्यानन्द का उल्लेख वादिराज ने अलंकार (तत्त्वार्थवार्तिकालंकार) के रचयिता के रूप में किया है।[४०] विद्यानन्द ने कहीं भी आत्मपरिचय नहीं दिया है। इनकी सिद्धिविनिश्चय टीका से ज्ञात होता है कि ये बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर आदि से सुपरिचित थे। डॉ. दरबारीलाल कोठिया इसी आधार पर इनका समय ७७५-८४० ई. निर्धारित करते हैं।[४१] डा. नेमिचन्द्र शास्त्री भी इनका समय ई. की ९वीं शताब्दी मानते हैं।[४२] वादिराजसूरि से पूर्व किसी ने विद्यानन्द का स्मरण नहीं किया है तथा वादिराज ने भी इनका स्मरण अकलंक के सिद्धिविनिश्चय पर लिखी गई टीका के रचयिता अनन्तवीर्य के बाद उल्लेख किया है। अतः इनका समय वादिराज (१०२५ ई.) से पूर्व तथा अनन्तवीर्य (१०वीं शताब्दी का प्रथम चरण)[४३] के बाद दसवीं शताब्दी मानना ही उचित होगा।

विद्यानन्द द्वारा प्रणीत उपलब्ध ग्रन्थ आठ हैं—

१. आप्तपरीक्षा — स्वोपज्ञवृत्तिसहित
२. प्रमाणपरीक्षा
३. पत्रपरीक्षा
४. सत्यशासनपरीक्षा
५. श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र
६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र की पद्यात्मक टीका)
७. अष्टसहस्री
८. युक्त्यनुशासन

स्याद्वादरत्नाकर में देवसूरि ने इनके ग्रन्थ 'विद्यानन्दमहोदय' की एक पंक्ति उद्धृत की है। परन्तु यह ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नही है।

(९) वादिराजसूरि

जैनधर्म के विशिष्ट प्रभावक आचार्यों में वादिराजसूरि का नाम अन्यतम है। उनके सरस एकीभावस्तोत्र से धार्मिक समाज, न्यायविनिश्चय-विवरण एवं प्रमाणनिर्णय से तार्किक समाज तथा पार्श्वनाथचरित एवं यशोधरचरित से साहित्यसमाज सर्वथा सुपरिचित है। वे द्राविडसंघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ के अरुंगल नामक अन्वय के आचार्य थे।[४५] एक नन्दिसंघ यापनीय सम्प्रदाय में भी था, परन्तु उससे इनका सम्बन्ध नही था।[४६] वादिराज सूरि ने पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित और न्यायविनिश्चयविवरण में प्रशस्ति दी है जिससे ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में की है। उनके गुरु का नाम मतिसागर था। एक शिलालेख के उल्लेखानुसार वादिराज शाकटायनव्याकरण पर रूपसिद्धि के प्रणेता दयापालमुनि के सतीर्थ थे।[४७]

अनेक शिलालेखों में वादिराज की अतीव प्रशंसा की गई है। ११२८ ई. में लिखित मल्लिषेणप्रशस्ति में तो यहाँ तक कहा गया है कि वे जिनेन्द्र भगवान के समान हैं—

त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोदगादिह।
जिनराजत एकस्मादेकस्माद् वादिराजत ॥[४८]

सदसि यदकलंक कीर्तने धर्मकीर्ति वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपाद ।
इति समयगुरूणामेकत संगतानां प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराज ॥[४९]

वादिराज के विषय में कुष्ठरोगाक्रान्त होने एवं एकीभावस्तोत्र के प्रणयन से दूर हो जाने की किंवदन्ती प्रचलित है। इस किंवदन्ती का सर्वप्रथम उल्लेख चन्द्रकीर्ति भट्टारक (१६२४ ई.) ने एकीभावस्तोत्र के चतुर्थ पद्य "तत् किं चित्रं जिनवपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि" की टीका करते हुए किया है। अन्यत्र मल्लिषेण-प्रशस्ति आदि में कहीं भी इसका उल्लेख नही हैं।

१. चन्द्रगुप्तमुनि शीघ्रं प्रथमो दशपूर्विणाम्।
सर्वसंघाधिपति जातो विशाखाचार्य-संज्ञक ॥—हरिषेणाचार्यकृत कथाकोष,३९

२. द्रष्टव्य 'तिलोयपण्णत्ती'। नन्दिपट्टावली के अनुसार इनका समय २१७ वर्ष बताया गया है।

३ आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्म ॥ — पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३०

४. 'तावदञ्जनचौरोऽङ्गे .. .. ।

विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गता ॥' रत्नकरण्डश्रावकाचार,१९-२०

५. द्रष्टव्य— वीरशासन के प्रभावक आचार्य, पृ. १९-२०

६. The Jainas in the History of Indian literature, page 5.

७. द्रष्टव्य— तीर्थंकर वर्द्धमान (विद्यानन्द मुनि), पृ ७८

८. बारस अणुवेक्खा, गाथा ९१।

९. बोधपाहुड , गाथा ६०-६१।

१० श्रुतावतार १६०-१६१।

११. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य लेखक द्वारा सम्पादित समयसार जीवाजीवाधिकार की भूमिका, पृ. ४-५

१२. द्रष्टव्य- वही।

१३. तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना पृ, १३।

१४ जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ १०२

१५. अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छ । जै शि. सं. भाग १

१६. पार्श्वनाथचरित १/१६।

१७ जैन शिलालेखसंग्रह भाग १, लेखांक १०५

१८ वही, लेखांक १०८।

१९. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग२, पृ. १५३

२० आदिपुराण , १/४३—४४।

२१ अलंकारचिन्तामणि, परि. १ श्लोक ३

२२ गद्यचिन्तामणि, लंभ १, श्लोक ४

२३. पार्श्वनाथचरित, १/१७

२४. अनेकान्त, वर्ष १४, किरण १, पृ. ८, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २

२५. जैनदर्शन, पृ. १६

२६. 'यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।

श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥ जैन शिलालेखसंग्रह भाग १, लेखांक ४०

'एवं प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दि बुद्ध्या पुनर्विपुलतया स जिनेन्द्रबुद्धिः।

श्री पूज्यपाद इति चैष बुधैः प्रचख्ये यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभि ॥ वही, लेखांक १०५

२७. जैन साहित्य और इतिहास, पृ.९७।

२८. 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' ,जैनेन्द्रव्याकरण ५/४/१६८

२९. दर्शनसार, गाथा २८।

३०. विक्रमार्कशकाब्दीय शतसप्तप्रभाजुषि।
कालेऽकलंकयतिनो बौद्धै सह वादोऽभूत्।। —आदिपुराण, प्रस्तावना से उद्धृत।

३१. तर्कभूवल्लभो देव स जयत्यकलंकधी।

३२. द्र जैनन्याय

३३. जैनदर्शन, पृ. ४३६

३४. जैन शिलालेखसंग्रह भाग, ३, लेखांक ५०३

३५. उत्तरपुराण, प्रशस्तिपद्य ११-१३

३६. पार्श्वनाथचरित १/२३

३७. जीयात् जगत्यां जिनसेनसूरिर्यस्योपदेशज्ज्वलदर्पणेन।
व्यक्तीकृतं सर्वमिदं विनेया पुण्यं पुराणं पुरुषा वदन्ति।। जैन शिलालेखसंग्रह भाग १, लेखांक १०५।

३८. उत्तरपुराण, प्रशस्तिपद्य २

३९. हरिवंशपुराण, १/४०

४०. ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मय। श्रण्वतामप्यलङ्कारं दीप्तिरङ्गेषु रङ्गति।। पा.च, १/२८

४१. आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना पृ. ५३

४२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ ३५२

४३. पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन (लेखक का शोधप्रबन्ध)

४४ स्याद्वाद रत्नाकर, भाग १, पृ ३४९

४५. जैनशिलालेखसंग्रह भाग २, लेखांक २८८

४६. पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन, अध्याय २

४७. जैन शिलालेखसंग्रह भाग १, लेखांक २१३-२१६

४८. वही, मल्लिषेण प्रशस्तिपद्य ४०-४३

४९. वही, भाग २, लेखांक २१५

गृद्धपिच्छाचार्यः (उमास्वामि)

❑ डॉ. नेमिचन्द्र जैनः

तीर्थंकरमहावीरस्य— निर्वाणप्राप्त्यन्तरं आचार्य कुन्दकुन्दपरम्पराया द्वादशांगवाण्याःविस्तारक तत्त्वार्थसूत्रस्यकर्ता गृद्धपिच्छाचार्योऽभवत्। तत्त्वार्थसूत्रस्य टीकाकार अलिखत्—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तार गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।

वन्देह्यगणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम्॥

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककार आचार्य-विद्यानन्द अपि अलिखत्—"एतेन्गृद्धपिच्छाचार्य पर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता"[१]

श्रवणवेलगोलस्य पाषाणोत्कीर्णेषु अभिलेखेषु अपि गृद्धपिच्छाचार्यस्य सार्थकतां प्रदर्श्य उमास्वातीति नामोऽपि उल्लिखितोऽस्ति।

अभूदुमास्वातिमुनि पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थ जातं मुनिपुङ्गवेन।[२]

श्रवणवेलगोलस्याभिलेखेषु क्रमांक ४०, ४२, ४३, ४७, ५० संख्यकेषु अभिलेखेष्वपि तत्त्वार्थसूत्रस्य कर्ता उमास्वातिरुत्कीर्णोऽस्ति। दिगम्बर-जैन-साहित्यस्य उत्कीर्णाभिलेखानां च अध्ययनेन ज्ञायते यत् तत्त्वार्थसूत्रस्य रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य अपरनाम उमास्वाति वा आसीत्। केचित् विद्वान्स तत्त्वार्थसूत्रस्य रचनाया श्रेय कुन्दकुन्दाचार्य प्रदत्तवन्त, तेषां समीक्षा श्री पं० जुगलकिशोरमुख्तारेण कृता।[३] श्वेताम्बर-परम्पराया विद्वत्सु पण्डित-सुखलाल तत्त्वार्थसूत्रस्य कर्ता उमास्वामिनं न मन्यते। तत्त्वार्थसूत्रस्य रचनायां उमास्वामि आचार्य कुन्दकुन्दस्य ग्रन्थानां उपयोगः कृत यथा—पञ्चास्तिकाये द्रव्यलक्षणम्—

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णति सव्वण्हू॥पंचा.गा. १०

तत्त्वार्थसूत्रस्य पञ्चमे अध्याये निम्नलिखितसूत्राः दृष्टव्या—

१. सद्द्रव्य लक्षणम् (2) उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत् (3) गुण पर्ययवद् द्रव्यम्।

अत स्पष्ट रूपेण ज्ञायते यत् गृद्धपिच्छाचार्येण कुन्दकुन्दस्य शाब्दिकं वस्तुगतं वा अनुसरणं कृतम् अत गृद्धपिच्छाचार्यस्य गुरु कुन्दकुन्दो भवेत्।
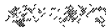
नन्दिसंघ, पट्टावल्यानुसारेण-गृद्धपिच्छस्य समय वीरनिर्वाण संवत् ५७१, तदनुसारेण विक्रमसंवत् १०१ निश्चितं भवितुमर्हति। विद्वज्जन बोधके समागतः श्लोकः उपरिलिखित समयस्य पुष्टिः करोति-

वर्षसप्तशते चैव सप्तस्या च विस्मृतौ।
उमास्वामिमुनिर्जातः कुंदकुंदस्तथैव च॥

प्रो. हार्नले, डॉ. विटर्सन, डॉ. सतीशचन्द्रेण वा पट्टावल्यानुसारेण उमास्वामिसमय ख्रीष्टाब्दस्य प्रथमशताब्दी एव मता।

डॉ. ए. एन. उपाध्यायमहोदयेन ख्रीष्टाब्दस्य द्वितीयशताब्दीमता। पट्टावलीनाम्, प्रशस्तिनां, अभिलेखानां च अध्ययेन गृद्धपिच्छाचार्यस्य समय ख्रीष्टाब्दस्य द्वितीयशताब्दी एव ज्ञायते।

गृद्धपिच्छाचार्यस्य तत्त्वार्थसूत्रमेव एक कृतिरस्ति। तत्त्वार्थसूत्रस्य अध्ययनेन ज्ञायते यत् आचार्य उमास्वामि षट् खण्डागमं, कषायपाहुडं, कुंदकुंद साहित्यं, भगवती आराधनां, मूलाचारं वा सम्यग् अधीत्य एव रचितवान्, द्रव्यानुयोगं करणानुयोगं चरणानुयोगं इति अनुयोग-त्रयाणां वर्णनं तत्त्वार्थसूत्रे अस्ति। भूगोल, खगोल-आचारा अध्यात्म, द्रव्य गुण-पर्याय, पदार्थ-सृष्टिविद्या कर्मविज्ञानादीनामपि तत्त्वार्थ सूत्रे वर्णनमस्ति। अत एतत् सिद्धं यत् गृद्धपिच्छाचार्य श्रुतधरपरम्परायाः बहुज्ञः आचार्य आसीत्। तत्त्वार्थसूत्रग्रन्थः सुसम्बद्ध प्रामाणिकश्च ग्रन्थरस्ति यत् महावीरस्य द्वादशाङ्ग वाणीइव महत्त्वं प्राप्यते। आचार्य गृद्धपिच्छ स्वसमयस्य पर समयस्य च निष्णातोमुनिः आसीत्। सूत्ररूपेण तत्त्वार्थसूत्रस्य रचनां कृत्वा स जैन परम्परायां नूतनं युगं प्रारम्भवान्।

१. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकम्, पृष्ठ ६

२. जैन शिलालेखसंग्रहस्य प्रथमोपभाग, अभिलेख क्रमेंक १०८, पृष्ठ २१०-२११

३. जैन साहित्य इतिहास विशद प्रकाश पृष्ठ १०२-१०५

◇◇◇

समन्तभद्र और अर्हद्‌भक्ति

❑ डॉ. कस्तूरचन्द्र 'सुमन', श्रीमहावीरजी

अर्हद्-भक्ति परम्परा में आचार्य समन्तभद्र का नाम जैन साहित्य में उल्लेखनीय है। समन्तभद्र के समय में अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम और जैमिनी जैसे धुरन्धर दार्शनिकों का अभूतपूर्व प्रभाव था। सभी अपनी अपनी परम्परा के मण्डन और इतर मतों के खण्डन में जुटे हुए थे।[१]

समन्तभद्र इनसे प्रभावित नहीं हुए। उन्होंने सभी को सुना और समझा। वे तार्किक एवं परीक्षा-प्रधानी विद्वान् थे। उन्होंने भक्ति के लिए रूढिवादियों के समान जिस किसी देव को अपना आराध्य नहीं बनाया। वे यथार्थता के खोजी थे। उन्होंने हर मत को खण्डन-मण्डन की दृष्टि से नहीं अपितु उसमें निहित यथार्थ को जानने के लिए निकटता से देखा था। उन्हें न निज मत से राग था न पर मत से द्वेष। न्याय और अन्याय को वे युक्तियों से समझ लेते थे।[२] उन्होंने जब तक कसौटी पर नहीं कस लिया किसी भी देव को अपना आराध्य नहीं बनाया।

समन्तभद्र का आराध्य-देव

समन्तभद्र ने भक्ति के लिए ऐसे देव का चयन किया था जिसमें वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता ये तीन गुण थे। आचार्य ने ऐसे देव को आप्त कहा है।[३]

आचार्य ने परीक्षण करके कहा था कि जिन देवताओं में भूख, प्यास, बुढापा, रोग, जन्म, मरण, भय, विस्मय, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, आरति, स्वेद, खेद, निद्रा, आश्चर्य और शोक ये अठारह दोष होते हैं वे आप्त नहीं हैं क्योंकि आप्त दोषरहित होता है।[४]

एक भी दोष शेष रह जाने से न वीतरागता प्रकट हो पाती है, न सर्वज्ञता और न हितोपदेशकता। जो देव निर्दोष हैं उनमें वीतरागता और सर्वज्ञता प्रकट होते ही हितोपदेशकता भी प्रकट हो जाती है। तीनों में अन्योन्याभाव सम्बन्ध है। इन तीनों गुणों के होने पर देव बिना किसी राग और प्रयोजन के निर्पेक्षित भाव से वैसे ही उपदेश देते हैं जैसे शिल्पी के कर-स्पर्श से, बिना किसी अपेक्षा के मृदंग ध्वनि करता है।[५]

समन्तभद्र को ये तीनों गुण वर्द्धमान आदि सभी अर्हन्तों में दिखाई दिये। वे यह युक्तियों से भली प्रकार समझ सके थे कि राग-द्वेष आदि दोषों और ज्ञानावरण आदि घाति कर्म-पाश-बन्धन से मुक्त अर्हन्त वीतराग हैं। अनन्तज्ञान होने से उनमें सर्वज्ञता है। वे जीव आदि प्रयोजनभूत

तत्त्वों का निरूपण करने से हितोपदेशी भी हैं।[६]

उन्होंने परीक्षा के उपरान्त पाया था कि अर्हन्त वाणी में जो कहा गया है वह युक्ति और शास्त्रों से अविरोधी है। वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित नहीं होता।[७]

अर्हन्तों को अपना आराध्यदेव समन्तभद्र ने इसलिए नहीं माना था कि वे महान् हैं, अथवा आकाश में गमन करते हैं, देवगण उनके दर्शनार्थ आते हैं और उनके चमर-छत्र आदि विभूतियाँ होती हैं, क्योंकि वे जानते थे कि ये सभी तो मायावियों में भी देखे जाते हैं; अर्हन्तों को अपना आराध्यदेव उन्होंने इसलिए भी नहीं माना था कि वे दिव्य और सत्य अन्तर्बाह्य महान् उदय से युक्त होते हैं क्योंकि ऐसा महान् उदय तो रागी द्वेषी देवों में भी देखा गया।[८] केवल वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता से ही आचार्य प्रभावित हुए थे। इन्हीं कारणों से अर्हन्तों की भक्ति उन्हें इष्ट प्रतीत हुई।

आचार्य की मान्यता थी कि लोक में, स्वहेतु-अग्निताप आदि से अन्तर्बाह्य मलिनता को जलाकर जैसे स्वर्ण को शुद्ध कर लिया जाता है ऐसे ही मोह, राग-द्वेष आदि दोष और ज्ञानावरण आदि को शुद्धोपयोग रूप ध्यानाग्नि के ताप से जला कर वीतरागता और सर्वज्ञता को प्रकट किया जा सकता है।[१०] सर्वज्ञ और उसकी सर्वज्ञता में उन्हें कोई सन्देह नहीं था। उन्होंने तर्क से जाना था कि अग्नि और पदार्थ जो अनुमान या प्रमाण के विषय हैं वे जैसे किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं ऐसे ही सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ अनुमेय होने से किसी न किसी के प्रत्यक्ष जरूर हैं। जिसके प्रत्यक्ष हैं वह सर्वज्ञ है।[११]

समन्तभद्र की दृष्टि में युक्त्यनुशासन

समन्तभद्र ने प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध अर्थ की प्ररूपणा को युक्त्यनुशासन कहा था।[१२] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप आगम में प्रतिपादित सत् का स्वरूप[१३] प्रत्यक्ष में भी उन्हें सत्य अनुभव में आया।

उन्हें स्वर्णघट से मुकुट के सृजन में मुकुट का उत्पादन, स्वर्णघट का व्यय और स्वर्ण की उभयत्र स्थिति से ध्रुवता का स्वरूप प्रत्यक्ष और आगम की दृष्टि से अविरुद्ध प्रतीत हुआ।

इसी प्रकार तत्त्वों की यथार्थता का बोध करने कराने के लिए अर्हन्तों का स्याद्वाद उन्हें तर्कसंगत लगा। उन्होंने इससे समझा था कि वस्तुतत्त्व कथंचित् सत्, कथंचित् असत् और कथंचित् उभयरूप तथा कथंचित् अवक्तव्य रूप, कथंचित् सत् और अवक्तव्यरूप, कथंचित् असत् और अवक्तव्यरूप, कथंचित् सदसत् और अवक्तव्य रूप है। वस्तुतत्त्व की यह स्थिति नयों के योग से बनती है, वह सर्वथा एक रूप नहीं है।[१५]

अपने समय के सभी मतों की समीक्षा करने पर उन्हें अर्हन्त-शासन में दया (अहिंसा), दम

(इन्द्रिय और मनोनिग्रह रूप संयम), त्याग (अपरिग्रह) और समाधि (ध्यान) का जैसा उत्कृष्ट रूप दिखाई दिया वह उन्हें अन्यत्र नहीं मिला। नयों और प्रमाण द्वारा वस्तुतत्त्व को आप्त-वाणी में जैसा स्पष्ट किया गया है, वैसा सम्यक् रूप उन्हें अन्य मतों में दिखाई नहीं दिया। यही कारण है कि उन्होंने अर्हन्त-शासन को प्रवादियों से अबाधित और अद्वितीय माना।[१६]

नित्यैकान्तवादियों का अभिप्राय भी उन्हें सदोष दिखाई दिया। उन्होंने चिन्तन से पाया था कि यदि पदार्थ नित्य हैं तो उनमें विकार का अभाव रहेगा। विकार का अभाव रहने से कर्त्ता आदि कारकों का अभाव होगा और इस अभाव से कार्य का भी अभाव हो जावेगा। कार्य के अभाव से युक्ति घटित नहीं होगी, न बन्ध होगा न भोग और न मोक्ष। इस प्रकार युक्ति पूर्वक विचार करने से अर्हन्त-शासन के अतिरिक्त अन्य मत उन्हें सब प्रकार से सदोष दिखाई दिये।[१७]

दैव और पुरुषार्थ में अन्य मतों के समान उन्हें कोई एक इष्ट नहीं था। उन्होंने दोनों की आवश्यकता मानी थी। उन्होंने न दैव को ही अर्थ-सिद्धि का कारण माना था न पुरुषार्थ को। दैव की प्रधानता से उन्हें मोक्ष का अभाव ही नहीं पुरुषार्थ की निष्फलता भी प्रतीत हुई। इसी प्रकार पौरुष मात्र को कार्य की सिद्धि का कारण मानने पर पौरुष अमोघ होता दिखा जबकि वह ऐसा नहीं है, क्योंकि इष्टानिष्ट कार्य बिना बुद्धि व्यापार के (पौरुष की अपेक्षा बिना) भी घटित होते देखे जाते हैं। उन्होंने अबुद्धिपूर्वक इष्ट या अनिष्ट कार्यों के होने को दैव और बुद्धि-व्यापार की अपेक्षा पूर्वक होने को पुरुषार्थ संज्ञा दी थी।[१८]।

अज्ञान से बन्ध और अल्पज्ञान से मोक्ष होने की एकान्तवादी मान्यता का भी आचार्य ने अध्ययन किया और पाया था कि ज्ञेय अनन्त होने से किसी न किसी ज्ञेय का अज्ञान बना ही रहेगा। फल यह होगा कि कोई भी केवली न हो सकेगा। इसी प्रकार अज्ञान की बहुलता के कारण बन्ध का अन्त नहीं होगा और बन्ध का सद्भाव रहने से मोक्ष नहीं हो सकेगा।[१९]

आचार्य ने इस तथ्य को भली प्रकार समझा था। उनकी मान्यता थी की अज्ञान से बन्ध होता है पर उनके ही होता है जो मोही होते हैं, वीतमोहियों के नहीं होता। इसी प्रकार आचार्य ने मोहरहित अल्पज्ञान को मोक्ष का साधक और मोहसहित अल्पज्ञान को मोक्ष का बाधक माना था।[२०]

"हिंसा अभ्युदय के हेतु की आधारभूत है। इससे आत्म-शान्ति मिलती है।" अपने समय की ऐसी मान्यताओं को देखकर और उनके परिणाम ज्ञातकर आचार्य को अर्हन्त-शासन सुप्रभात रूप प्रतीत हुआ था।[२१] उन्होंने सर्व दुखों का अन्त करनेवाला और प्राणियों के अभ्युदय तथा आत्मा के पूर्ण अभ्युदय का कारण होने से अर्हन्त-शासन को 'सर्वोदय तीर्थ' कहा था।[२१]

इस प्रकार अर्हन्त-शासन का भली प्रकार परीक्षण करने के पश्चात् आचार्य ने यह विश्वासपूर्वक उद्घोषणा की थी कि "द्वेषी मनुष्य भी यदि समदृष्टिपूर्वक अर्हन्त-शासन का उपपत्ति-चक्षु से

अवलोकन और परीक्षण करेगा वह अभद्र होकर भी सब ओर से भद्र हो जावेगा। उसका मान शेष नहीं रह सकेगा।[२२] सारांश यह है कि 'जिन' का शासन सर्व कल्याणकारी प्रतीत हुआ, जिन की वाणी में कोई विरोध परिलक्षित नहीं हुआ जो निर्दोष हैं, वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं ऐसे अर्हन्त की समन्तभद्र ने भक्ति की और उन्हें अपना आराध्य माना।

भक्ति-फल

समन्तभद्र ने अर्हद्‌भक्ति को उभय लोकों की वैभव-प्राप्ति का कारण माना है। उन्होंने लिखा है कि अर्हद्‌भक्ति में रत जीव अपरिमित देवेन्द्र-समूह की महिमा को, पृथिवी-पतियों द्वारा प्रणम्य चक्रवर्तियों के चक्ररत्न को, और सम्पूर्ण लोक को अपना उपासक बनाने वाले धर्मेन्द्रचक्र-तीर्थंकर पद को प्राप्त कर अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है।[२३] क्षणभर के लिए भी की गयी अर्हद्‌भक्ति भक्त को पवित्र कर देती है।[२४] जैसे पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा स्वर्णरूप होकर तेज धारण करने से अत्यन्त श्रेष्ठ हो जाता है ऐसे ही अर्हद्‌भक्ति से भव्य पुरुष केवलज्ञान सहित होता हुआ विशुद्ध, सुस्थिर आत्मीय तेज को धारण कर लेता है।[२५]

भक्ति-भेद

अर्हद्‌भक्ति के विविध रूपों में समन्तभद्र ने भक्ति के चार रूप बताये हैं—दर्शन, नमन, स्तुति और पूजन। इनमें अर्हन्त-दर्शन से समन्तभद्र ने आरोग्यता और निर्भयता प्राप्त की थी।[२६]

अर्हन्तों की दूसरी भक्ति के संबंध में आचार्य के विचार हैं कि संसार में जन्म-मरण के दुःख वही उठाता है जो अर्हन्तों को नमन नहीं करता।[२७] जो नमस्कार करते हैं वे अत्यन्त हीन होने पर भी अतिगुरु, श्रेष्ठ हो जाते हैं।[२८] उन्हें सब प्राणियों का स्वामित्व भी प्राप्त हो जाता है।[२९]

समन्तभद्र ने जिस किसी देव को न स्वयं नमस्कार किया है और न दूसरों को प्रेरणा दी है। उन्होंने उन्हें नमस्कार किया है जो सबके प्रधान और प्रियबन्धु हैं। अत्यन्त कल्याणरूप और शुद्ध हैं। समवसरण-लक्ष्मी और निःश्रेयस् के दाता हैं। जो गणधरादि से पूजित हैं, दोषों से रहित हैं, इन्द्रों द्वारा मेरु पर्वत पर जिनकी पूजा की गयी है; जो जन्म और मरण से रहित हैं तथा जिन्होंने कर्मों का नाश कर लिया है। ऐसे देव को नमस्कार करने के लिए समन्तभद्र ने सभी को प्रेरित किया है।[३०]

अर्हन्त-स्तुति, समन्तभद्र की दृष्टि में, संसार-दुःखोन्मूलक और मोक्षप्रदायिनी है।[३१] उन्होंने अर्हन्तों की स्तुति अर्हद्‌भक्ति से प्रेरित होकर की।[३२] इसमें स्तोता की योग्यता या अयोग्यता की प्रधानता न होकर भक्ति की प्रधानता होती है। समन्तभद्र की दृष्टि में अर्हन्त केवली ही

स्तुत्य हैं।[३३]

भक्ति का चौथा अंग है अर्हद्-पूजा। अर्हन्तों का पूजा-वन्दना से कोई प्रयोजन नहीं होता फिर भी वे पूजे जाते हैं। उनकी पूजा में जो सावद्यलेश होता है वह, समन्तभद्र के अनुसार, पुण्यराशि में दोष का कारण नहीं बनता।[३४]

अर्हन्तपूजा का बड़ा महत्त्व है। इससे उत्तम भोगोपभोग-सामग्री प्राप्त होती है,[३५] स्वर्ग का वैभव प्राप्त होने में भी देर नहीं लगती। राजगृही के हर्षोन्मत्त एक मेंढक ने एक फूल की पंखुड़ी में अर्हन्त के चरणों की पूजा के माहात्म्य को सत्पुरुषों के समक्ष प्रकट किया था। समन्तभद्र ने दुखों को हरनेवाली अर्हन्तपूजा भक्ति के साथ नित्य करने योग्य कही है।[३६]

भक्ति के इन चार अंगों के अतिरिक्त स्वामित्व-स्वीकृति और गुणस्मरण भी भक्ति के अंग बताये गये हैं। अर्हन्त को ही अपना स्वामी मानना स्वामी-भक्ति है। समन्तभद्र की विचारधारा है कि जो भव्य अर्हन्त को स्वामी मानकर उन्हें अपने हृदय में धारण करता है, वह पुण्यवान् होता है। समन्तभद्र के लिए, अर्हन्त को छोड़कर ऐसा कोई देव नहीं जो उनका स्वामी हो सके—यह भावना अर्हन्त के समक्ष स्वयं समन्तभद्र ने प्रकट की है।[३७]

अर्हन्तों के गुणों का स्मरण करना भी अर्हन्तभक्ति है। इससे भक्तों का चित्त पवित्र हो जाता है, मलिनता नहीं रह पाती। पाप नष्ट हो जाते हैं।[३८]

भक्ति का स्वरूप

भक्ति के दो स्वरूप हैं—सराग भक्ति और वीतराग भक्ति। इनमें राग-द्वेष आदि दोषों से मलिन देवों की सांसारिक भोगोपभोगों की आशाओं से भक्ति करना सरागभक्ति और वीतराग देव की बिना किसी विषयाशा के भक्ति करना वीतराग-भक्ति है। समन्तभद्र की भक्ति वीतराग-भक्ति थी। उन्होंने भक्ति करते हुए र्हन्त से सांसारिक सुखों की अभिलाषा नहीं की। उन्होंने अर्हन्तों से तो यही चाहा कि वे उनका चित्त पवित्र करें।[३९] मति का उत्कर्ष हो।[४०] पापों और पाप-परणति का विनाश हो।[४१] अज्ञानान्धकार दूर करें।[४२] बन्धनों से मुक्त करें।[४३] संसार का अन्त करें।[४४] अपने समान करें।[४५] आत्मविकास करते हुए आत्मीय सुख दें।[४६] जिन-लक्ष्मी,[४७] शिव[४८], श्रेयस्,[४९] और मोक्ष दें।[५०]

समन्तभद्र की इन अभिलाषाओं से यही अर्थ निष्पन्न होता है कि वे संसार से छूटना चाहते थे और छूटने के लिए ही उन्होंने अर्हन्त की भक्ति की थी। अर्हद्भक्ति से उन्होंने लौकिक कामनाएँ नहीं कीं। न धन चाहा न पुत्र। न मकान चाहा न दुकान। वे यह भी जानते थे कि वीतरागी देव किसी को न देता है और न लेता है, परन्तु जो सुख उन्हें प्राप्त है वह उनकी शरण में जाकर भक्ति करने से अवश्य प्राप्त होता है।

ध्यान रहे कि भक्ति में शक्ति का प्रदर्शन नहीं होता। भक्ति तो शक्तिहीन भी अपनी योग्यता के अनुसार कर सकता है और शक्तिवान् भी।[५१]

भक्ति-विधि

भक्ति में किसी तरह का प्रदर्शन नहीं होता। जहाँ प्रदर्शन होता है वहाँ भक्ति साकार नहीं होती। समन्तभद्र के अनुसार अर्हद्भक्ति के लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं—सम्यक् शुद्ध भाव और तल्लीनता।[५२] व्यवहार में देखा भी जाता है। भक्त अपने आराध्य का बहुत उपदेश सुनता है। आराध्य की पूजा करता है और दर्शन भी करता है फिर भी उसके दुःख दूर नहीं होते। इससे सिद्ध है कि भक्ति के साकार होने में भक्त के भाव प्रधान कारण होते हैं क्रियाएँ नहीं।[५३] सम्मेदशिखर की वन्दना के सम्बन्ध में कहा जाता है कि— 'एक बार बन्दे जो कोई ताहि नरक पशुगति नहिं होई।' इस उक्ति को यदि ठीक माना जावेगा तो परिग्रही और छली व्यक्ति एक बार वन्दना कर नरक और पशुगति से मुक्त हो जावेंगे जबकि आगम के अनुसार उनका उन गतियों में जाना सुनिश्चित है। अतः उक्त उक्ति में 'भाव सहित बन्दे जो कोई ताहि नरक पशुगति नहिं होई' ऐसा परिवर्तन युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

तल्लीनता सम्यक् शुद्धभावों से ही आती है। जब भक्त भक्ति में खो जाता है, भूल जाता है अपनी समस्त विकृतियों को, तब उसमें उतरती है तल्लीनता। ऐसे ही तल्लीनतामय शुद्ध भावों से की गयी भक्ति भक्त को पूज्य के समान बना देती है।

सम्यक् शुद्धभाव और तल्लीनता इन दोनों का सद्भाव तभी होता है जब भक्त में निज शरीर से स्नेह नहीं रहता।[५४] इससे शारीरिक बाधाएँ आने पर भी भावों में मलिनता और तल्लीनता में अन्तर नहीं आता।

समन्तभद्र की मान्यता थी कि अहंकारी अनेक सहकारी कारण पाकर भी सुखोत्पादक कार्य नहीं कर पाता।[५५] अतः इस प्रसंग में भी अहंकार का अभाव अपेक्षित है।

मूढ़ प्राणी भय और कामनाओं के वशीभूत रहते हैं।[५६] ऐसे प्राणी भी भक्ति नहीं कर सकते। यदि भक्तिरत होंगे तो शुद्धभाव और तल्लीनता के अभाव में उनकी भक्ति वृथा होगी।

जीवन की तृष्णा[५७] भक्ति में बाधक होती है। इससे श्रमार्त होकर जीव भक्ति से दूर भागता है। उसके भावों में शुद्धता नहीं रह पाती।

इस प्रकार समन्तभद्र की अर्हद्भक्ति से यही अर्थ निष्पन्न होता है कि मुमुक्षु को शुद्धभाव और तल्लीनतापूर्वक वीतराग देव की ही भक्ति करनी चाहिए। संसारी जन का ऐसी भक्ति से ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

◆◆◆

१. डॉ दरवारी लाल कोठिया, प्रस्तावना युक्त्यनुशासन, भाग २, श्री दि. जैन पुस्तकालय सांगानेर (जयपुर) प्रकाशन।

२. न रागान्न. स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ, न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता।
किमु न्यायान्यप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां, हितान्वेषोपायस्तवगुणकथासङ्गदिता॥ युक्त्यनुशासन, कारिका ६३।

३. आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ५।

४ क्षुत्पिपासाजरातङ्क-जन्मान्तक-भयस्मया।
न रागद्वेष-मोहाश्च यस्याप्त स प्रकीर्त्यते॥ — वही, श्लोक ६।

५. अनात्मार्थं बिना रागै शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरज किमपेक्षते॥ —वही, श्लोक ८

६. कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुति-गोचरत्वम्।
निनीषव स्मो वयमद्य वीर विशीर्णदोषाशयपाशबन्धम्॥—युक्त्यनुशासन, प्रथम कारिका।

७ स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥ — आप्तमीमांसा, कारिका ६।

८. देवागमनभोयान-चामरादि-विभूतय।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्॥ — वही, कारिका प्रथम।

९. अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदय।
दिव्य सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु स॥ — वही, कारिका दूसरी।

१० वही, कारिका चौथी।

११. सूक्ष्मान्तरितदूरार्था प्रत्यक्षा कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थिति॥ — आप्तमीमांसा, कारिका ५।

१२. द्रष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते। — युक्त्यनुशासनम्, कारिका ४८।

१३. उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ३०।

१४. घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकाम्॥—आप्तमीमासा, कारिका ५९।

१५. कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।

तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा॥ — आप्तमीमांसा, कारिका १४।

१६. दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं नयप्रमाण-प्रकृताञ्जसार्थम्।

अधृष्यमन्यैरखिलै· प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम्॥ — युक्त्यनुशासन, कारिका ६।

१७. भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न-कारकव्यापृतकार्ययुक्ति ।

न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्ष समन्तदोषं मतमन्यदीयम्॥ — वही, कारिका ८।

१८. दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद् दैवं पौरुषत· कथम्।

पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम्॥

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवत ।

बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्॥— आप्तमीमांसा, कारिका ८८, ९१।

१९ आज्ञानच्चेद्ध्रुवो बन्धो ज्ञेयानन्त्यान्न केवली।

ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद् बहुतोन्यथा॥ — वही, कारिका ९६।

२०. आज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाज्ञानाद्वीतमोहत ।

ज्ञानस्तोकाच्च मोक्ष स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा॥ — वही, कारिका ९८।

२०. प्रवृत्तिरक्तै शमतुष्टिरिक्तैरुपेत्य हिंसाभ्युदयाङ्गनिष्ठा।

प्रवृत्तित शान्तिरपि प्ररूढं तम परेषां तव सुप्रभातम्॥ — युक्त्यनुशासन, कारिका ३८।

२१. सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव। —वही, कारिका ६१।

२२ कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षु समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम्।

त्वयिध्रुवं खण्डितमानशृंगो भवत्यभद्रोपि समन्तभद्र·॥ — वही, कारिका ६२।

२३. देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम् राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम्।

धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम् लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तरुपैति भव्य॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ४१। जिनस्तव, श्लोक १०, २२, ७०।

२४. न तथापि क्षणाद्भक्त्या तवात्मानं तु पावयेत्। — जिनशतक, श्लोक ४९।

२५ रुचं बिभर्ति ना धीरं नाथातिस्पष्टवेदन।

वचस्ते भजनात्सारं यथाय· स्पर्शवेदिन॥ — वही, श्लोक ६०।

२६. अपराग स मा श्रेयन्ननामयमितोभियम्।

विदार्यसहितावार्य्य समुत्सन्नजवाजित॥ — वही, श्लोक ४७।

२७. नन्दनं त्वाप्यनष्टो न नष्टोऽनत्वामिनन्दन। — वही, श्लोक २४।

२८. यो लोके त्वा नतः सोतिहीनोप्यतिगुरुर्यत। — वही, श्लोक ८२।

२९. वही, श्लोक ५२।

३०. जिनशतकम, श्लोक ३५-३६, ५५, ७५-७७, ९०।

३१. कोविदो भवतो पीड्य सुरानतनुतान्तरम्।
शंसते साध्वसंसारं स्वमुद्यच्छन्नपीडितम्।। —वही, श्लोक १०७।

३२. युक्त्यनुशासनम्, कारिका ३, स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक ३०।

३३. एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिर्न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य।
असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ।। —स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक ५५।

३४. न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे...पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ। वही, श्लोक ५७-५८।

३५. ये सद्भोगकदायतीव यजते ते मे जिनाः सुश्रिये। —जिनशतकम्, श्लोक ११६।

३६ देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्।।
अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकप्रमोदभत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे।। — रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ११९-१२०।

३७ जिनशतक, श्लोक ४८, ६६।

३८. न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ।। —स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक ५७ और १०५।

३९. पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे। स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक ५, ४०।

४०. इति प्रणीतिः समुतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोस्तुऽनाथ। —वही, श्लोक २५।

४१. स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक १०५, जिनशतकम् श्लोक २७, ९१-९२।

४२. जिनशतकम्, श्लोक १००।

४३. वही, १०९।

४४. स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक ११५।

४५. जिनशतकम्, श्लोक ७९।

४६. वही, ४, ७६। ४७ स्वयम्भूस्तोत्रम्, श्लोक १०।

४८. वही, श्लोक १५। ८९. वही, श्लोक ७५।

५०. जिनशतक, श्लोक २५, ३७, ३८, ५७, ९८, ११६।

५१. स्तोतास्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्य । स्तुत शक्त्यः श्रेय पदमधिगतस्त्वं जिन मया। — युक्त्यनुशासनम्, कारिका ३, ६४।

५२. जिनशतकम्, श्लोक ११-१२।

५३. आकर्णितोपि महितोपि निरीक्षितोपि नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोस्मि तेन जनबान्धवदुःखपात्रम् यस्मात्क्रियाप्रतिफलन्ति न भावशून्य॥ — कल्याणमन्दिरस्तोत्र, श्लोक ३८।

५४. स्वयम्भूस्तोत्र, श्लोक ३२।

५५. अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त संहत्य कार्येष्वति साध्ववादी। — वही, श्लोक ३३।

५६. तथापि बालो भयकामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादी — वही श्लोक ३४।

५७. वही, श्लोक ४८।

✧✧✧
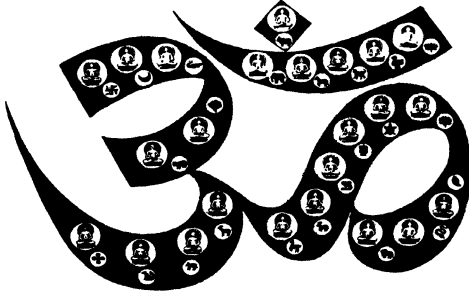
संस्कृत जैन स्तोत्र-साहित्य के प्रथम प्रवर्तक : आचार्य समन्तभद्र

❑ डॉ. कुसुम जैन, नागपुर

श्रीमत्समन्तभद्रादि-कवि-कुञ्जर-सञ्चयम्।
मुनिवन्द्यं जनानन्दं नमामि वचनश्रियै॥[1]

जैनधर्म वस्तुत: शाश्वत सत्य है। यह कोई सम्प्रदाय नहीं; यह तो आत्मा द्वारा प्राप्त किया जाता है, आत्मा में प्रतिष्ठित होता है। इसकी स्थापना किसी व्यक्ति-विशेष ने नहीं की इसलिए इसका प्रारंभ किसी काल-विशेष में नहीं हुआ। यह तो आत्मविजय की चिरन्तन राह है। आत्मा के सच्चिदानन्द की प्राप्ति की सार्वदेशिक और सार्वकालिक जीवनपद्धति है। यह तो एक ऐसा जीवन-दर्शन है जिस पर चलकर 'जिनवरों' ने आत्म-विजय प्राप्त की है। जो आत्मविजय प्राप्त कर लेते हैं उनके अन्तर के विषय-कषाय निर्मूल हो जाते हैं और तब आत्मा का शुद्ध सच्चिदानन्दरूप प्रकट हो जाता है। वे ही महाभाग 'जिन' कहलाते हैं। उन वीतराग 'जिन' ने आत्म-विजय का जो उपदेश दिया, जो राह बतलाई वही लौकिक व्यवहार में जैनधर्म कहलाने लगा। (वास्तव में जिनदेव द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही जैनधर्म है) संसार के परिवर्तन के साथ इसमें भी परिवर्तन आया क्योंकि जब विश्व का कोई धर्म, सम्प्रदाय, मत या पन्थ भेद से अछूता नहीं रहा तब जैन धर्म ही कैसे अछूता रहता? अत: धीरे-धीरे इसने भी एक सम्प्रदाय का रूप ले लिया तथा यह जैन 'सम्प्रदाय' के नाम से व्यवहृत हुआ। यही नहीं, जैनसम्प्रदाय में भी शाखाएँ फूटीं और यह कई शाखाओं में विभाजित हो गया। परन्तु मुख्य रूप से इसमें दो ही सम्प्रदाय दृष्टिगोचर होते हैं। एक है दिगम्बर सम्प्रदाय और दूसरा श्वेताम्बर सम्प्रदाय। दोनों में गुरुओं के वस्त्र-परिधान को लेकर मतभेद है और इसी मतभेद ने सम्प्रदाय-भेद को जन्म दिया।[2] दोनों धर्मों का मूलभेद—केवली भुक्ति और बेटी मुक्ति को लेकर है। दिगम्बर संप्रदाय अर्हंत केवली को कवलाहार नहीं मानता तथा स्त्री को मुक्ति नहीं मानता। दिगम्बरों की साधना, चर्या अति कठिन व प्रशंसनीय है।

आचार्य समन्तभद्र का समय

आचार्य समन्तभद्र एक ऐसे युग एवं जैनजगत की विमल विभूति थे जिन्होंने अपने समय के जनजीवन को नया विचार, नई वाणी, और नया कर्म दिया, जनता को भोगमार्ग से हटाकर अध्यात्म-मार्ग की ओर लगाया, जिसने नवजीवन के अज्ञान को हटाकर ज्ञान का विमल प्रकाशपुञ्ज
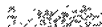
दिया। वे अध्यात्म साधना-गगन के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र थे। अपने तप-त्याग की दिव्यप्रभा लेकर जैनजगत में अवतीर्ण हुए और अपने ज्ञान-प्रकाश से जैनसमाज को प्रकाशित और चमत्कृत करते रहें। एक नवचेतना, स्वस्फूर्ति एवं नवप्रेरणा का पाञ्चजन्य जनहृदयों में फूँकते रहे। उनके तप और त्याग की सुगन्धि से, कई शताब्दियों के बीत जाने पर भी, जैन-समाज उसी प्रकार सुवासित है। उनके सद्गुणों की चमत्कृति से आज भी जैनसमाज चमत्कृत है और युग-युग तक रहेगा।

आचार्य समन्तभद्र का समय विक्रंम की दूसरी-तीसरी शताब्दी माना जाता है।[३] उस समय अनेक क्रान्तिकारी दार्शनिक विद्वान् हुए हैं। श्रामण्य और वैदिक दोनों परम्पराओं में अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, गौतम, जैमिनी आदि विद्वानों का आविर्भाव हुआ और ये सभी अपने मण्डन और दूसरे के खण्डन में लग गए। शास्त्रार्थों की मानों बाढ़ आ गई। असद्वाद, शाश्वतवाद, उच्छेदवाद, अद्वैतवाद—द्वैतवाद, अवक्तव्यवाद और वक्तव्यवाद इन परस्पर विरोधी वादों को लेकर तत्त्व की मुख्यतया चर्चा होती थी और उनका विभिन्न कोटियों से[४] विचार किया जाता था।

वंश एवं जीवनपरिचय

स्वामी जी का जीवन और गुरु आदि से सम्बन्धित परिचय स्वयं उनके ग्रन्थ, शिलालेख तथा अन्य लेखकों की कृतियों में प्राप्त होता है। इनका जन्म दक्षिण भारत के कांजीवरम् के आस-पास "फणिमण्डल" देश के 'उरगपुर (उरेपुर) ग्राम में विक्रम संवत् १२५ माना जाता है। ये एक क्षत्रिय-वंशोद्भव राजपुत्र थे। इनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत 'उरगपुर' के राजा थे।[५] वे जहाँ क्षत्रियोचित तेज से प्रदीप्त थे वहाँ आत्महितसाधना और लोकहित की भावना से भी ओतप्रोत थे और इसलिए घरगृहस्थी में अधिक समय तक अटके नहीं रहे थे। इनके बचपन का नाम 'शान्तिवर्मा'[६] था। इन्होंने कहाँ और किससे शिक्षा प्राप्त की इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इनकी कृतियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी जैनधर्म में अत्यन्त श्रद्धा थी और इनका उसके प्रति भारी अनुराग था। आचार्य समन्तभद्र ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था या नहीं इस बात को जानने का प्राय कोई साधन नहीं है परन्तु जब इनका नाम शान्तिवर्मा सिद्ध हो जाता है और उस आधार पर 'शान्तिवर्मा और समन्तभद्र दोनों एक ही नाम के व्यक्ति थे' ऐसा ज्ञात हो जाने पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि इन्होंने गृहस्थाश्रम को धारण किया था और विवाह भी किया था। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि आपके पिता का नाम काकुत्स्थवर्मा, पुत्र का नाम मृगेशवर्मा और प्रपौत्र का नाम हरिवर्मा था।

मुनि-दीक्षा एवं गुरुवंश

आचार्य समन्तभद्र ने सांसारिक वैभव को निस्सार समझकर छोड दिया था। एक ओर देश

की परिस्थिति ऐसी थी कि लोग एकान्तवाद में फँसे अपने मिथ्यामत को ही पुष्ट करने में लगे थे। समन्तभद्र ने इनको खुली आँखों से देखा और अन्धकार से उन्हें निकालने के लिए इन्होंने मुनिदीक्षा धारण कर[७] दिगम्बर वेष धारण किया। आचार्य समन्तभद्र के दीक्षागुरु कौन थे— यह तथा इनके गुरुवंश का भी परिचय इनकी कृतियों से नहीं होता है। हाँ, अनेक शिलालेखों के माध्यम से विद्वानों ने अवश्य ही प्रकाश डाला है और इनको आचार्य कुन्दकुन्द की वंशावली से सम्बन्धित बताया है तथा यह भी निष्कर्ष निकाला है कि ये उनके प्रधानशिष्यों में से एक थे।[८] इसके अतिरिक्त कुछ शिलालेखों से भी यह ज्ञात होता है कि आप भद्रबाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चन्द्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्तमुनि के वंशज पद्मनन्दि अपरनाम श्री कोंडकुन्द मुनिराज, उनके वंशज उमास्वामि अपरनाम गृद्धपिच्छाचार्य और उनके शिष्य बलाकपिच्छ इन आचार्यों की वंशपरम्परा में हुए हैं।[९] बलाकपिच्छ को उमास्वामि का शिष्य बताया गया है। इस प्रकार बलाकपिच्छ और कोई नहीं स्वयं समन्तभद्र ही थे, ऐसा शिलालेखों से ज्ञात हो चुका है।[१०]

भस्मक व्याधि और उसका उपशमन

आचार्य समन्तभद्र के बारे में यह प्रसिद्धि है कि मुनि-दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जब ये मणुवकहल्ली स्थान में विचरण कर रहे थे कि उन्हें भस्मक व्याधि नामक भयानक रोग हो गया, जिससे दिगम्बर मुनिपद का निर्वाह उन्हें अशक्य प्रतीत हुआ। अतएव उन्होंने गुरु से समाधिमरण धारण करने की अनुमति माँगी। गुरु ने शिष्य को आदेश देते हुए कहा—"आपसे धर्म और साहित्य को बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं, अत· आप दीक्षा छोड़कर रोगशमन का उपाय करें। रोग दूर होने पर पुन· दीक्षा ग्रहण कर लें।" गुरु के इस आदेशानुसार समन्तभद्र रोगोपचार के हेतू नाग्न्यपद को छोड़कर सन्यासी बन गये और इधर-उधर विचरण करने लगे। पश्चात् वाराणसी![११] में शिव-कोटि राजा के भीमलिंग नामक शिवालय में जाकर राजा को आशीर्वाद दिया और शिवजी को अर्पण किये जाने वाले नैवेद्य को ही खिला देने की घोषणा की। राजा इससे प्रसन्न हुआ और उन्हें शिवजी को नैवेद्य भक्षण कराने की अनुमति दे दी। समन्तभद्र अनुमति प्राप्त कर शिवालय के किवाड़ बन्द कर उस नैवेद्य को स्वयं भक्षण कर रोग को शान्त करने लगे। शनै: शनै: उनकी व्याधि का उपशमन होने लगा और भोग की सामग्री बचने लगी। राजा को इस पर संदेह हुआ। अत गुप्त रूप से उसने शिवालय के भीतर कुछ व्यक्तियों को छिपा दिया। समन्तभद्र को नैवेद्य भक्षण करते हुए कुछ व्यक्तियों ने देख लिया, समन्तभद्र ने इसे उपसर्ग समझकर चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति आरम्भ की। राजा शिवकोटि के डराने पर भी समन्तभद्र एकाग्रचित्त से स्तवन करते रहे, जब ये चन्द्रप्रभ स्वामी की स्तुति कर रहे थे कि भीमलिंग शिव की पिण्डी विदीर्ण हो गयी और मध्य से चन्द्रप्रभ स्वामी का मनोज्ञ स्वर्णबिम्ब प्रकट हो गया। समन्तभद्र के इस माहात्म्य को देखकर शिवकोटि राजा अपने भाई शिवायन

सहित आश्चर्यचकित हुआ। समन्तभद्र ने वर्द्धमान पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकर की स्तुति पूर्ण हो जाने पर राजा को आशीर्वाद दिया।

भस्मक रोग से सम्बन्धित इस घटना की चर्चा जैन शिलालेख-संग्रह, भाग १ (अभिलेख संख्या ५४ पृ0 १०२) में मुद्रित एक पद्य द्वारा भी पुष्ट होती है। पद्य इस प्रकार है—

वन्द्यो भस्मक-भस्मसात्कृतिपटु पद्मावतीदेवता-
दत्तोदात्त-पदस्व-मन्त्रवचन-व्यवहूत-चन्द्रप्रभ ।
आचार्यस्य समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ,
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद् भद्रं समन्तान् मुहु ॥

मुनिचर्या एवं सिद्धान्त-प्रचार

आचार्य ने दीक्षा धारण की और जिस कार्य को वे करना चाहते थे वह आरम्भ किया। वे अपनी मुनिचर्या के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक पाँचों महाव्रतों का यथेष्ट पालन करते थे। ईर्या, भाषा, एषणादि पंचसमितियों के परिपालन द्वारा उन्हें निरन्तर पुष्ट बनाते थे। भगवान महावीर की अहिंसा ही उनका आधार था, उसी पूर्ण अहिंसा और परब्रह्म की सिद्धि के लिए उन्होंने अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार के परिग्रहों का परित्याग किया था। उनका जीवन अत्यन्त संयमी था। उन्होंने मुनिजीवन के सिद्धान्तों और नियमों का किस प्रकार पालन किया यह उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है। स्वयम्भूस्तोत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचारादि ग्रन्थों में उनकी मुनिजीवन सम्बन्धी विचारधारा का प्रतिपादन मिलता है। वे अपने शरीर से खूब काम लेते थे। घण्टों कायोत्सर्ग में खड़े हो जाते थे, आतापनादि योग धारण करते थे और नित्य ही अपना बहुत सा समय सामायिक, स्तुतिपाठ, प्रतिक्रमण, समाधि, भावना, धर्मोपदेश, ग्रन्थ-रचना और परहित प्रतिपादनादि कितने ही धर्मकर्मों में लगाते थे। वे वस्तुत जैनधर्म-मुनिधर्म की कठोर-साधना को कर रहे थे जिसमें मन, वाणी और काया के सभी दोषों का दमन किया जाता है।

समाजोद्धारक आचार्य

समन्तभद्र केवल अपना उद्धार ही नहीं करना चाहते थे वरन् उन्होंने समाज के उद्धार का भी संकल्प ले रखा था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर भ्रमण किया और लोगों के अज्ञानभाव को दूर करके उन्हें सन्मार्ग की ओर लगाने की शुभभावना की। जैनसिद्धान्तों के महत्त्व को विद्वानों के हृदय-पटल पर अंकित कर देने की सुरुचि उनकी इतनी अधिक थी कि उन्होंने सारे देश में भ्रमण किया और भारतवर्ष को अपने वाद का विषय बनाया।

उनको यह सहन नहीं हो रहा था कि जो अज्ञान-भाव से मिथ्यात्वरूपी गर्तों में गिरकर आत्मपतन कर रहे हैं उन्हें वैसा करने दिया जाये। उन्हें जहाँ कहीं किसी महावादी अथवा किसी वादशाला का पता चलता था, वे वहीं पहुँच जाते थे और बड़ी ही खूबी के साथ विवेचन करते थे तथा उनके स्याद्वाद-न्याय की तुला में तुले हुए तत्त्वपूर्ण भाषण को सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे और वे उनका कुछ भी विरोध नहीं कर सकते थे। यदि कोई भी मनुष्य अहंकार के वश होकर अथवा नासमझी के कारण कुछ विरोध उपस्थित करता था तो उसे शीघ्र ही निरुत्तर हो जाना पड़ता था। इस तरह समन्तभद्र भारत के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर प्रायः सभी देशों में एक अप्रतिद्वंदी सिंह के समान क्रीड़ा करते हुए करहाटक पहुँचे। करहाटक पहुँचने से पहले समन्तभद्र ने पाटलिपुत्र, मालवा, सिन्धु, ठक्क, कांचीपुर और वैदिश में प्रधान रूप से विचरण कर 'वाद' की भेरी बजाई थी और किसी ने भी इनका विरोध नहीं किया था।[१२] समन्तभद्र की इस सफलता का एक समुच्चयोल्लेख श्रवणबेल्गोल के शिलालेख से जाना जाता है। यही नहीं, अकलंकदेव जैसे महान् प्रभावक आचार्य ने अपनी 'अष्टशती' में 'तीर्थप्रभावी काले कलौ' कहा है।

महान् साहित्यसर्जक

आचार्य समन्तभद्र ने जहाँ एक ओर अज्ञानी जनता को मार्ग बताया वहीं दूसरी ओर उनका साहित्य आज भी समाज को प्रकाशपुञ्ज बनकर प्रकाशित कर रहा है।

आचार्य बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। एक ओर वे 'आद्यस्तुतिकार' थे तो दूसरी ओर महान् 'दार्शनिक'। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में विविधता का समावेश हुआ है। इन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों, दर्शनों, धर्मों अथवा मतों का सन्तुलनपूर्वक परीक्षण कर यथार्थ वस्तुस्थितिरूप सत्य को व्यक्त करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

मानव-जीवन की प्रोज्ज्वल कल्पना को अपनी रचनाओं में मूर्ति-मत्ता देते हुए आचार्यश्री ने निम्नलिखित रचनाओं की सृष्टि की है—

१—वृहत् स्वयम्भूस्तोत्र

२—स्तुतिविद्या-जिनशतक

३—देवागम-स्तोत्र-आप्तमीमांसा

४—युक्त्यनुशासन

५—रत्नकरण्डश्रावकाचार

६—जीवसिद्धि

७—तत्त्वानुशासन

८—प्राकृत व्याकरण

९—प्रमाण-पदार्थ

१0—कर्मप्राभृत टीका

११—गन्धहस्ति महाभाष्य

१—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र

इस स्तोत्र को 'समन्तभद्र स्तोत्र' भी कहते हैं। इसके २४ स्तवनों में भिन्न-भिन्न छन्दों के द्वारा २४ तीर्थङ्करों की स्तुति की गई है और ये सभी नाम अन्वर्थ संज्ञक हैं। यह ग्रन्थ भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग की त्रिवेणी है। अन्य ग्रन्थों में भी इस ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। ९वीं शताब्दी के आचार्य जिनसेन ने अपने हरिवंशपुराण में समन्तभद्र के वचनों को श्रीवीरभगवान के वचन के समान प्रकाशमान एवं प्रभावादिक से युक्त बताया है।इस स्तोत्रग्रन्थ का एक-एक पद बीजरूप जैसा सूत्रवाक्य है इसलिए इसको जैनमार्ग का प्रदीप ही नहीं वरन् जैनागम कहना चाहिए।

२—स्तुतिविद्या

यह भी स्तोत्रपरक रचना है। यह भक्तिपरक रचना है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य प्रथम पद्य से ही सूचित हो जाता है।[१३] यह एक ऐसी रचना है जिससे हृदय में शान्तरस की मधुरधारा बहने लगती है साथ ही इसमें आत्मा निमग्न होकर हृदय की कालिमा, अपवित्रता, अरोचकता, अपमान, कुध्यान और अज्ञान पलायमान हो जाते हैं और अनन्तर दर्पण की तरह जाज्वल्यमान ज्ञानभानु प्रकाशित हो जाता है। पश्चात् अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, दर्शनादि गुण प्रकट हो जाते हैं। आत्मा में आत्मशुद्धि, नियम, जप, तप एवं परीषह सहन की शक्ति उत्पन्न हो जाती है और मनुष्य की विचारधारा में परिवर्तन आ जाता है। स्तुतिविद्या आदि से अन्त तक चित्रमय कविता है। इसके पद्य "अलंकारचिन्तामणि" के चित्रालंकार प्रकरण में उद्धृत हैं। इन पद्यों में स्तोत्रप्रणाली से तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिन से कठिन तात्त्विक विवेचनों को योग्य स्थान दिया गया है। यह प्रणाली उनसे पहले के ग्रन्थों में नहीं पाई जाती है। कविता करना इनका कार्य नहीं था। इनके ग्रन्थ जहाँ एक ओर स्तुतिपरक हैं वहीं वे दर्शन का प्रतिपादन करने में पूर्णरूप से समर्थ हैं। जैन संस्कृत न्याय-विषयक 'आप्तमीमांसा' और 'युक्त्यनुशासन' ये दोनों रचनाएँ प्राप्त होती हैं। ये दोनों कृतियाँ स्तुति के रूप में लिखी हैं। इनमें खण्डन-मण्डन तथा अनेकान्तवाद की पुष्टि की गई है।

३—देवागमस्तोत्र-आप्तमीमांसा

प्रस्तुत स्तोत्र में तर्क और आगमपरम्परा की कसौटी पर आप्त सर्वज्ञ देव की मीमांसा की गई है। इस मीमांसा में सर्वज्ञाभाववादी मीमांसक, भावैकवादी सांख्य, एकान्तपर्यायवादी बौद्ध एवं सर्वथा उभयवादी वैशेषिक का तर्कपूर्वक विवेचन करते हुए निराकरण किया गया है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव का सप्तभंगी न्याय द्वारा समर्थन कर वीरशासन की महत्ता प्रतिपादित की गई है और अद्वैतवाद, द्वैतवाद, कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत आदि का निरसन कर अनेकान्तात्मकता सिद्ध की गई है।

४—युक्त्यनुशासन

वीर के सर्वोदय-तीर्थ का महत्त्व प्रतिपादन करने की दृष्टि से इस स्तोत्र की रचना की गई है। विरुद्ध मतों का खण्डन एवं महावीर के शासन का मण्डन इसमें ६४ पद्यों द्वारा हुआ है। महावीर के तीर्थ को सर्वोदय-तीर्थ कहते हुए कवि ने कहा है—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६२॥

अर्थगौरव की दृष्टि से यह एक उत्तम काव्य है तथा भाव की दृष्टि से गागर में सागर की कल्पना को साकार करता है।

५—रत्नकरण्डश्रावकाचार

यह श्रावक-जीवन के आचार-विचार का प्रतिपादन करने वाला श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें गूढ दर्शन, ज्ञान और चारित्र का निरूपण किया गया है। चारित्र में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रतों का विस्तार से विवेचन है। तत्पश्चात् सल्लेखना का निरूपण किया गया है। इस सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का इनके उत्तरवर्ती ग्रन्थ यशस्तिलकचम्पू, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, चारित्रसार, उपासकाध्ययन, उपासकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत और लाटिसंहिता आदि पर पूर्ण प्रभाव है। और इस प्रकार यदि उपलब्ध इस साहित्य को प्रथम 'श्रावकाचार' नाम दिया जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका तथा गन्धहस्ति-महाभाष्य ये (६ से ११ तक) कृतियाँ कालकवलित हो गई हैं अतः इनके बारे में कुछ लिख पाना सम्भव नहीं है। किन्तु जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि "समन्तभद्र के वचनों की प्रमुख विशेषता यह थी कि वे स्याद्वाद-न्याय की तुला में तुले हुए वचनों का प्रयोग करते थे और इसीलिए उन पर पक्षपात का भूत कभी सवार नहीं होता था। वे स्वयं

परीक्षा-प्रधानी थे वे कदाग्रह को बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे, उन्होंने स्वयं वीतराग भगवान महावीर तक की परीक्षा की है और तभी उन्हें आप्त के रूप में स्वीकार किया है। वे दूसरे को परीक्षाप्रधानी होने का उपदेश देते थे उनकी सदैव यही शिक्षा रहती थी कि—किसी भी तत्त्व अथवा सिद्धान्त की बिना परीक्षा किए उसे स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए अपितु समर्थ-युक्तियों के द्वारा अच्छी प्रकार से जाँच करनी चाहिए और गुणदोषों का पता लगाना चाहिए।"

उनकी सदैव यह घोषणा रहती थी कि—

किसी भी वस्तु को एक ही पहलू से एक ही ओर से मत देखो, उसे सब ओर से सब पहलुओं से देखना चाहिए तभी उसका यथार्थज्ञान होगा। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म अथवा अङ्ग होते हैं इसी से वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसके किसी एक धर्म या अङ्ग को लेकर सर्वथा उसी रूप से वस्तु का प्रतिपादन करना एकान्त है और यह एकान्तवाद मिथ्या है, कदाग्रह है, तत्त्वज्ञान का विरोधी है, अधर्म है और अन्याय है।[४]

ऐसे अत्यन्त प्रतिभाशाली, स्वसमय और परसमय के ज्ञाता होने के कारण ही सभी उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने आचार्य समन्तभद्र के प्रति अपनी अपार श्रद्धा व्यक्त की है और विनय वाक्य पुष्प अर्पित किये हैं। गद्यचिन्तामणिकार ने ठीक ही कहा है—

> सरस्वतीस्वैरविहारभूमय समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वरा।
> जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटय॥

१. अलङ्कारचिन्तामणि का आरम्भभाग।

२. वस्त्र के अतिरिक्त आगमों की संख्या एवं कतिपय अन्य आचार-व्यवस्था सम्बन्धी मान्यताएँ भी इसमें हेतुभूत मानी गई हैं।

३. दृष्टव्य—रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ की भूमिका तथा 'इंस्क्रिप्शन्स एट श्रवणबेलगोला' नामक पुस्तक की प्रस्तावना में मि. लेविस राइस का अनुमान। 'कर्नाटककविचरित्र' नामक कन्नड़ ग्रन्थ के रचयिता आर. नरसिंहाचार्य ने इनका समय शक संवत् ६० (ई. सन् १३८) के लगभग माना है।

४. स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक १०१.

५. "इति फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनो श्रीस्वामिसमन्तभद्रमुने कृतौ आप्तमीमांसायाम्।

६. जिनस्तुतिशतक का अन्तिम पद्य "शान्तिवर्मकृतं जिनस्तुतिशतम्।"
तथा वंशीधर-रचित अष्टसहस्री की प्रस्तावना।

७. भयात् संसारभीते। तन्वा शरीरेण आयातं आगतं (आप्तमीमांसा १९)

८. श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं. ४० शक संवत् १०८५,

९. विन्ध्यगिरि पर्वत के शिलालेख १०८, (२५८) शक संवत् १३५५।

१०. विन्ध्यगिरि पर्वत के शिलालेख १०५ (२५४), प्रभाचन्द्रकृत 'आराधना-कथाकोश' और देवचन्द्रकृत 'राजावलीकथे' में शिवकोटि को समन्तभद्र का शिष्य कहा है। तथा 'विक्रान्तकौरव' के कर्त्ता आचार्य हस्तिमल्ल ने भी (जो विक्रम की १४ वीं शताब्दी में हुए हैं) समन्तभद्र के दो शिष्यों का उल्लेख किया है जिनमें एक थे शिवकोटि और दूसरे थे शिवायन।

११. यह प्रसंग 'राजाबलिकथे' में वर्णित है किन्तु यह स्थान काशी न रह कर काञ्ची ही रहा होगा क्योंकि कांची को दक्षिणकाशी कहा जाता था।

१२. श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं ५४ में

"पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते। शार्दूलविक्रीडितम्॥

१३ द्रष्टव्य—"आगसां जये" इत्यादि "स्तुतिविद्या पद्य" १

१४. सर्वथा सदसदेकानेक-नित्यानित्यादि-सकलैकान्तप्रत्यनीकानेकान्ततत्त्व-विषय· स्याद्वाद·।—देवागमवृत्ति।

आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद और उनका समय

❑ रमाकान्त जैन, लखनऊ

जैन परम्परा में पूज्यपाद नामधारी अनेक आचार्य हुए हैं, किन्तु उनमें सर्वप्रथम और सर्वप्रतिष्ठित नाम है आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद का, जो 'पूज्यपाद' नाम से सर्वाधिक विख्यात हैं। जैन साहित्य के आदि प्रस्तोताओं में आचार्य समन्तभद्र के उपरान्त देवनन्दि पूज्यपाद की सर्वमहान् आचार्य के रूप में गणना है। गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से उच्चस्तरीय संस्कृत भाषा में अपने ग्रन्थों का प्रणयन करने वाले देवनन्दि पूज्यपाद और अपने समय में कुन्दकुन्दान्वय के मूलसंघ की नन्दि अपरनाम देशीयगण शाखा के प्रधान आचार्य थे। उक्त संघ के पट्टावलियों के अनुसार, वह दसवें गुरु थे, उनके पूर्वाचार्य का नाम यशोनन्दि था और उनके उत्तराधिकारी जयनन्दि हुए। पद्मराज और चण्डय्य के कन्नड 'पूज्यपाद-चरिते' (लगभग १८०० ई०) तथा देवचन्द्र की 'राजावलि कथे' (१८३४ ई०) के अनुसार देवनन्दि का जन्म कर्णाटक में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था और उनके पिता का नाम माधवभट्ट तथा माता का नाम श्रीदेवी था।

धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त लौकिक विषयों पर बहुमूल्य ग्रन्थों की रचना करने वाले कदाचित् सर्वप्रथम जैनगुरु देवनन्दि पूज्यपाद थे। वोपदेव ने अपने धातुपाठ में संस्कृत भाषा के जिन आठ श्रेष्ठ शाब्दिकों (व्याकरणाचार्यों, शब्दकोशकारों और व्याकरण-ग्रन्थों) का उल्लेख किया है उनमें देवनन्दि पूज्यपाद का 'जैनेन्द्र व्याकरण' भी है। अन्य सात नाम हैं—इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्सन, पिशली, शाकटायन, पाणिनि और अमर। कहा जाता है कि देवनन्दि ने पाणिनि सूत्रों पर 'शब्दावतार न्यास' की रचना भी की थी तथा एक 'छन्द शास्त्र' भी रचा था, किन्तु वे दोनों रचनाएँ सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। शालाक्य-तन्त्र अर्थात् सर्जरी का विवेचन करने वाला कदाचित् 'कल्याणकारक' नाम से एक वैद्यक शास्त्र भी इनकी कृति मानी जाती है और 'जैनाभिषेक' के भी ये रचयिता माने जाते हैं। इन दोनों रचनाओं की भी खोज होना अभी शेष है।

'जैनेन्द्र व्याकरण' के अतिरिक्त आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद की अन्य ज्ञात एवं उपलब्ध कृतियाँ हैं: आचार्य उमास्वामी के 'तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र' पर सबसे पहली उपलब्ध, प्रामाणिक एवं विद्वत्तापूर्ण टीका 'सर्वार्थसिद्धि', बहुमूल्य अनुश्रुतियों विशेषकर भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित अनुश्रुतियों को संरक्षित करने वाली 'दस भक्त्यादि संग्रह', 'समाधितंत्र', 'इष्टोपदेश' और 'शान्त्यष्टक'। इन कृतियों से विदित होता है कि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर अधिकार रखने वाले धर्माचार्य देवनन्दि न केवल एक उद्भट विद्वान् और सिद्धहस्त लेखक थे अपितु एक महान् योगी, रहस्यवादी और प्रतिभावान् कवि भी थे।

अपनी इस विद्वत्ता, ज्ञान और प्रतिभा के कारण आचार्य देवनन्दि न केवल अपने शिष्यों और अपनी आम्नाय के श्रावकों के, अपितु जनसाधारण और अपने समकालीन अनेक शासकों और सामन्तों के श्रद्धास्पद भी बने। दक्षिण कर्णाटक में तलकाड में पश्चिमी गंगवंशीय सम्राट् अविनीत कोंगिणी ने इन आचार्य देवनन्दि को अपने पुत्र एवं युवराज दुर्विनीत की शिक्षा का भार सौंपा था। अपने पिता के उपरान्त सम्राट् बन जाने पर भी दुर्विनीत का आचार्य देवनन्दि से शिष्य-गुरु सम्बन्ध बना रहा। कहा जाता है कि पश्चिमी गंगवंशीय सम्राटों की राजधानी तलकाड के निकट इन आचार्य ने, कदाचित् अपने किस्म का पहला, एक बड़ा विद्याकेन्द्र स्थापित किया था जिसके वह प्रधान थे। इन सन्त विद्वान् देवनन्दि को अनेक चमत्कारी शक्तियों का धारक भी बताया जाता है और यह आज भी अपनी कृतियों के कारण बड़े सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं।

इन आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद और इनके राजवंशीय शिष्य गंगसम्राट् दुर्विनीत के समय के सम्बन्ध में विद्वानों, इतिहासकारों में मतभेद रहा है। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने इस विषय में विभिन्न मतों और साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों का विवेचन अपने ग्रन्थ 'दि जैना सोर्सेज ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ एन्शियेन्ट इण्डिया' के परिच्छेद आठ में पृष्ठ १५५-१६१ पर किया है।

पट्टावलियों में देवनन्दि पूज्यपाद का समय विक्रम संवत् २५८-३०८ (अर्थात् ईस्वी सन् २०१-२५१) दिया गया है। जैन परम्परा साहित्यिक और अभिलेखीय दोनों ही, देवनन्दि पूज्यपाद को निर्विवाद रूप से आचार्य समन्तभद्र (लगभग ईस्वी सन् १२०-१८५) तथा आचार्य अकलंक (लगभग ईस्वी सन् ६२०-६७५) के मध्य रहा मानती है। पूज्यपाद ने अपनी 'जैनेन्द्र' कृति में समन्तभद्र का उल्लेख किया है। उनके 'सर्वार्थसिद्धि' जैसे ग्रन्थों में समन्तभद्र का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है। दूसरी ओर, अकलंक ने पूज्यपाद का ससम्मान उल्लेख किया है और अपने ग्रन्थों में उनके 'जैनेन्द्र व्याकरण' से उद्धरण दिये हैं। अपने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में उन्होंने 'सर्वार्थसिद्धि' का पूर्ण उपयोग किया है।

समन्तभद्र और पूज्यपाद के मध्य तथा पूज्यपाद और अकलंक के मध्य काफी समय का अन्तराल रहा है, क्योंकि अनेकों जैन गुरु और विद्वानों का उन अन्तरालों में होना पाया जाता है।

'जैनेन्द्र' में पूज्यपाद ने अनेक पूर्ववर्ती जैन गुरूओं यथा भूतबलि, यशोधर, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन, श्रीदत्त और समन्तभद्र का उल्लेख किया है। ये सभी ऐतिहासिक व्यक्ति थे और इनमें से कोई भी ४५० ईस्वी सन् के उपरान्त नहीं रहा। जैनेतर विद्वानों में, उन्होंने बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग (ईस्वी सन् ३४५-४२५) के कतिपय पदों तथा 'सांख्यकारिका' के कर्ता ईश्वरकृष्ण वार्षगण्य (विक्रम संवत् ५०७ अर्थात् ईस्वी सन् ४५०) का उल्लेख किया है। इस प्रकार देवनन्दि पूज्यपाद के समय की ऊपरी सीमा ४५० ईस्वी सन् के पूर्व नहीं ले जायी जा सकती।

वृहस्पति संवत्सर, जिसमें गुप्तों और कदम्बों के शक संवत् ३७९ से ४५० (ईस्वी सन् ४५७-५२८) के दानपात्र मिलते हैं, का सर्वप्रथम उल्लेख 'जैनेन्द्र' में हुआ है।

वामन और जयादित्य (मृत्यु ६६० ईस्वी) ने अपनी 'काशिकावृत्ति' में 'जैनेन्द्र व्याकरण' का उल्लेख किया है। सिद्धसेन दिवाकर, जो अकलंक (लगभग ६२५-६७५ ई.) से पहले हुए हैं, ने अपने 'सन्मति सूत्र' में पूज्यपाद का परोक्ष उल्लेख किया है। भद्रबाहु निर्युक्तिकार (लगभग ५५० ई.) उनके उपरान्त जीवित रहे प्रतीत होते हैं। गुरुनन्दि, जो पूज्यपाद के प्रशिष्य थे और कदाचित् मूल 'जैनेन्द्र-प्रक्रिया' के लेखक थे, अकलंक के पूर्व हुए थे। देवसेन के 'दर्शनसार' (९३३ ई.) के अनुसार पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने विक्रम संवत् ५२६ (अर्थात् ४६९ ई.) में दक्षिण में मदुरा में द्रविड़ संघ की स्थापना की थी। किन्तु पट्टावलियों में पूज्यपाद और वज्रनन्दि के मध्य ५८ वर्ष का अन्तराल दिखाया गया है और इन दोनों के बीच में दो और गुरु हुए बताये गये हैं। उनमें पूज्यपाद का आचार्य काल ५० वर्ष और वज्रनन्दि का आचार्यकाल २२ वर्ष बताया गया है। इस हिसाब से पूज्यपाद का समय चौथी शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध में बैठता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि देवसेन से कुछ भूल हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि द्रविड संघ का संगठन और उसकी स्थापना पाण्ड्य देश में मदुरा में व्रज्रनन्दि और उनके सहयोगियों द्वारा की गई। तिथि के अंक अर्थात् ५२६ भी लगभग सही हैं, किन्तु देवसेन द्वारा यहाँ विक्रम संवत् का प्रयोग होता है जिसके अनुसार द्रविड संघ स्थापना की तिथि शक ५२६ (अर्थात् ६०४ ई.) बैठती है। यह ध्यातव्य है कि उस काल में दक्षिण भारत में शक संवत् का और उत्तर भारत में विक्रम संवत् का प्रचलन था। देवसेन स्वयं उत्तर भारतीय थे। अत: स्वभावत: उन्होंने जो तिथियाँ दीं वे सब विक्रम संवत् में उल्लिखित कीं किन्तु ऐसा करते समय लगता है कि वह शक संवत् की तिथियों को विक्रम संवत् में परिवर्तित करना भूल गये जिसकी पुष्टि उनके द्वारा दी गई कुछ अन्य तिथियों के परीक्षण से भी हुई। इस प्रकार आचार्य वज्रनन्दि द्वारा द्रविड संघ की स्थापना की तिथि ६०४ ईस्वी मानते हुए और यह मानकर कि वज्रनन्दि नन्दिसंघ के आचार्यपट्ट पर २२ वर्ष रहे थे और यह कि आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद तथा आचार्य वज्रनन्दि के आचार्यत्व काल के मध्य ५८ वर्ष का अन्तराल रहा था, आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद के समय निचली सीमा ६०४-२२=५८२-५८=५२४ ईस्वी बैठती है।

पट्टावलियों में देवनन्दि पूज्यपाद का आचार्यत्व काल ५० वर्ष का बताया गया है। डॉ० ज्योति प्रसाद जैन ने यह मानते हुए कि आचार्य पद ग्रहण करने के पूर्व देवनन्दि कदाचित् लगभग १० वर्ष मुनि रहे होंगे उनका समय लगभग ४६४-५२४ ईस्वी निर्धारित किया है।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद तलकाड (दक्षिणी कर्णाटक) के गंग वंशीय सम्राट् दुर्विनीत के गुरु रहे थे। डॉक्टर साहब ने उक्त गंग सम्राट् के समय के साथ आचार्य देवनन्दि से समय का समीकरण किया है। उक्त सम्राट् के समय के सम्बन्ध में विभिन्न इतिहासकारों के मतों और तत्कालीन अन्य विभिन्न राजवंशों के सम्बन्ध में उपलब्ध

साक्ष्यों का परीक्षण करने पर वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि गंग सम्राट् दुर्विनीत ४८२-५२२ ईस्वी में रहे होंगे। गंग सम्राट् दुर्विनीत 'किरातार्जुनीयम्' के रचयिता महाकवि भारवि (४६५-५५५ ई.) के मित्र रहे बताये जाते हैं और कहा जाता है कि सम्राट् ने उक्त काव्य के किसी अंश पर टीका भी रची थी।

आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद का समय-निर्धारण अनेक जैन और जैनेतर विद्वानों के समय-निर्धारण तथा गंगों, चालुक्यों, कदम्बों, पल्लवों, पुन्नाटों आदि तत्कालीन दक्षिण भारतीय राजवंशों की वंशावलियों के कालक्रम की सही संरचना की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

टिप्पणी— आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद के विषय में विशद जानकारी हेतु इतिहास मनीषी विद्यावारिधि स्व. डॉ. ज्योति प्रसाद जैन की 'जैना सोर्सेज ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ ऐन्शियेन्ट इण्डिया' का परिच्छेद आठ तथा डाक्टर साहब के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित तत्सम्बन्धी शोधपूर्ण लेख दृष्टव्य हैं।

आचार्य विद्यानन्द : व्यक्तित्व और कर्तृत्व

❑ *आर्यिका शुभमतीजी*

भगवान् महावीर के पश्चात् आचार्य उमास्वामी ने सर्वप्रथम "प्रमाणनयैरधिगमः" इस सूत्र द्वारा जैन न्याय की प्रतिष्ठा की, आचार्य भट्ट अकलंकदेव ने उसे सुव्यवस्थित रूप दिया और तार्किकशिरोमणि आचार्य विद्यानन्द ने जैन न्याय रूप इस वृक्ष को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया है। भारतीय दर्शनशास्त्रकारों में आ. विद्यानंद का स्थान प्रथम पंक्ति में आता है। गूढ़ से गूढ़ अर्थ को उद्‌घाटित करने में इनकी प्रतिभा का चमत्कार अपूर्व है। आ. विद्यानंद भी अकलंकदेव की तरह षड्दर्शनों के पंडित थे।

अनेक अनेक श्रेष्ठ आचार्यों की प्रसवभूमि स्वरूप दक्षिण देश ही इन आचार्य विद्यानंदकी जन्मभूमि थी। इनका समय अनेक युक्तियों के आधार पर विद्वद्वर्ग ने ई. सन् ७७५ के लगभग निर्धारित किया है।

व्यक्तित्व

आचार्य विद्यानन्द के ब्राह्मणोचित प्रखर पाण्डित्य और महती विद्वत्ता से प्रतीत होता है कि वे ब्राह्मण और जैन विद्वानों की प्रसवभूमि दक्षिण के किसी प्रदेश (मैसूर अथवा उसके आसपास) स्थित ब्राह्मणकुल में पैदा हुए होंगे और इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि वे बाल्यकाल में प्रतिभाशाली होनहार विद्यार्थी थे। उनके साहित्य से ज्ञात होता है कि उनकी वाणी में माधुर्य और ओज का मिश्रण था, व्यक्तित्व में निर्भयता तथा तेज का समावेश था, दृष्टि में नम्रता और आकर्षण था। धार्मिक जनसेवा और विनय उनके सहचर थे। ज्ञानपिपासा और जिज्ञासा तो उन्हें सतत् बनी रहती थी। जो भी विशिष्ट विद्वान्, चाहे वह बौद्ध हो, चाहे जैन अथवा ब्राह्मण, उनसे मिलता उसी से कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करने की उनकी अभिलाषा रहती थी। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण वैशिषिक, न्याय, मीमांसा, वेदांत आदि वैदिक दर्शनों का कुमार अवस्था में ही उन्होंने अभ्यास कर लिया था। इसके अलावा, वे बौद्धदर्शन के मन्तव्यों से विशेषतया दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर आदि बौद्ध विद्वानों के ग्रंथों से भी परिचित हो चुके थे। इसी बीच में समय-समय पर होने वाले ब्राह्मण, बौद्ध और जैन विद्वानों के शास्त्रार्थों को देखने और उनमें भाग लेने से उन्हें यह भी लगा कि जैन विद्वानों की अनेकान्त और स्याद्वाद सम्बन्धी युक्तियाँ एवं तर्क अत्यन्त सबल और अकाट्य हैं और इसीलिए स्याद्वाद दर्शन ही वस्तु-दर्शन

है। फिर क्या था, उन्हें जैन-दर्शन को विधिवत् जानने की तीव्र आकांक्षा हुई। समंतभद्र का देवागम, अकलंकदेव की अष्टशती, आचार्य उमास्वामी का तत्त्वार्थसूत्र और कुमारनंदि का वादन्याय आदि जैनदार्शनिक ग्रन्थ उनके हाथ लग गये । परिणाम स्वरूप विद्यानन्द ने जैनदर्शन अंगीकार कर लिया और नन्दिसंघ के किसी अज्ञात नाम जैनमुनि द्वारा, जैनधर्म तथा जैनसाधु की दीक्षा ग्रहण कर ली। प्रतीत होता है कि विद्यानन्द अब तक गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट नहीं हुए थे और ब्रह्मचर्यपूर्वक रह रहे थे, क्योंकि प्रथम तो वे अभी तक लगभग अठारह-बीस वर्ष के ही हो पाये थे और विद्याध्ययन में ही लगे हुए थे। दूसरे, जिन्होंने जिन नौ महान् दार्शनिक ग्रंथों की रचना की है उनको देखकर, कोई भी विद्यारसिक यह अनुमान कर सकता है कि वे अखण्ड ब्रह्मचारी थे, क्योंकि अखण्ड ब्रह्म तेज के बिना इतने विशाल और सूक्ष्म पाण्डित्यपूर्ण एवं प्रखर विद्वत्ता से भरपूर ग्रंथों का प्रणयन सम्भव नहीं है । स्वामी वीरसेन और जिनसेन अखण्ड ब्रह्मचारी रहकर ही धवला, जयधवला जैसे विशाल और महान् ग्रंथ बना सके हैं । दक्षिणी ब्राह्मणों में अब भी यह प्रथा मौजूद है कि बच्चे के उपनयन और विद्याभ्यास संस्कार के बाद जब तक उसका विद्याभ्यास पूरा नहीं हो जाता तब तक वे उसका पाणिग्रहण—विवाह नहीं करते। इस तथ्य को, सम्प्रदाय-विशेष के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो यह मालूम होता है कि कुमार विद्यानंद का भी उस समय, जब वे लगभग बीस वर्ष के थे, विद्याभ्यास चल रहा था, विवाह नहीं हुआ था और जब वे जैनधर्म में दीक्षित हो गये तथा जैनसाधु बन गये तब उनके विवाह होने का प्रसंग ही नहीं आता। अत. विद्यानन्द ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं किया और वे जीवनपर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचारी रहे।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि विद्यानन्द ने जिस तीक्ष्णता से वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनों का निरसन किया है और जैनदर्शन का बारीकी तथा मर्मज्ञता से समर्थन किया है उससे यह जान पड़ता है कि यदि नागार्जुन, असङ्ग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध विद्वान् वैदिक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर कट्टरता और तीक्ष्णता से वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनों के मन्तव्यों का खण्डन और बौद्धदर्शन का अत्यंत सूक्ष्मता से समर्थन कर सकते हैं, तथा इसी तरह यदि सिद्धसेन दिवाकर प्रभृति विद्वान् ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर तीक्ष्णता से ब्राह्मण-दर्शनों की मान्यताओं की आलोचना और जैन दर्शन का सूक्ष्मता से प्रतिपादन कर सकते हैं तो विद्यानन्द के ब्राह्मणकुलोत्पन्न होकर ब्राह्मणदर्शनों का निरसन करने और जैनदर्शन का सूक्ष्म विवेचन एवं समर्थन करने में कोई आश्चर्य नहीं है । यह तो श्रद्धा परिवर्तन की चीज है, जो प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति को सम्प्राप्त है। दूसरे, 'विद्यानंद' नाम से ही ज्ञात होता है कि उन्हें ब्राह्मण होना चाहिए, क्योंकि ऐसा नामकरण प्रायः ब्राह्मणों, विशेषतया वेदान्तियों में होता है। आजकल भी प्रायः उन्हीं में विवेकानन्द, विद्यानन्द जैसे नाम पाये जाते हैं जब कि जैनों में उनका अभाव सा है। विद्यानन्द के मुनिजीवन पर भी एक दृष्टि डाल लेना अनुपयुक्त न होगा। ऐसा जान पड़ता है, सूक्ष्मविवेकी विद्यानन्द जैन-मुनि हो जाने के बाद लगातार कई वर्षों (कम से कम चार-पाँच

वर्ष) तक जैन-मुनिचर्या और जैनतत्त्वज्ञान के आकण्ठपान में लगे रहे और यह ठीक भी है, क्योंकि पहले के संस्कारों को एकदम परिवर्तित करना और जैनसाधु की कठिनतम चर्या को निर्दोष शास्त्रविहित पालन करना नवदीक्षित के लिए पहले पहले कुछ कठिन प्रतीत होता है। अतएव यदि वे अपने दार्शनिक ग्रन्थों के रचनारम्भ के पूर्व कुछ वर्षों तक मुनिचर्या और विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन आदि में रत रहे हों तो कोई असम्भव नहीं है। यद्यपि उन्होंने दार्शनिक ग्रन्थों के सिवाय चारित्र सम्बन्धी कोई स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं रचा, जिस पर से उनके साधु-जीवन के बारे में कुछ विशेष जाना जाता, फिर भी उनके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री में प्रदर्शित व्याख्यानों पर से उनके दो विचारों पर दृष्टिपात करने से उनकी चर्या का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृष्ठ ४५२) में तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय के ग्यारहवें सूत्र का व्याख्यान करते हुए जब उन्होंने दु:ख, शोक आदि असातावेदनीय रूप पापास्रव के कारणों का समर्थन किया, तब उनसे कहा गया कि जैन मुनि कायक्लेशादि दुष्कर तपों को तपते हैं और उस हालत में उन्हें उनसे दु:खादि होना अवश्यंभावी है। ऐसी दशा में उनके भी पापास्रव होगा अतः काय क्लेशादि तपों का उपदेश युक्ति युक्त नहीं है। और यदि युक्ति युक्त है तो दु:खादि को पापास्रव का कारण बतलाना असंगत है ? इसका विद्यानंद अपने पूर्वज पूज्यपाद, अकलंकदेव आदि की तरह ही आर्षसम्मत उत्तर देते हैं कि जैन मुनियों को कायक्लेशादि तपश्चरण में द्वेषादि कषायरूप परिणाम उत्पन्न नहीं होते, बल्कि उसमें उन्हें प्रसन्नता ही होती है। जो उसे भार और आपद मानते हैं उन्हीं के वे दु:खादिक पापास्रव के कारण हैं। यदि ऐसा न हो तो स्वर्ग और मोक्ष के जितने भी साधन हैं वे सब ही दु:खरूप हैं और इसलिए सभी के उनसे पापास्रव का प्रसंग आयेगा । तात्पर्य यह कि सभी दर्शनकारों ने यम, नियमादि विभिन्न साधनों को स्वर्ग मोक्ष का कारण बतलाया है और वे यम, नियमादि दु:खरूप ही हैं तब जैनेतर साधुओं के भी उनके आचरण से पापबंध प्रशक्त होगा। अत: केवल दु:खादि पापास्रव के कारण नहीं हैं अपितु संक्लेश परिणामयुक्त दु:खादिक ही पापास्रव के कारण हैं। दूसरे, तपश्चरण करने में जैनमुनि के मनोरति—आनंदात्मक परम समता रहती है, बिना उस मनोरति के वे तप नहीं करते और मनोरति सुख है। अत: जैनमुनि के लिए कायक्लेशादिक तपश्चरण का उपदेश अयुक्त नहीं है।

विद्यानंद के इस सुदृढ़ और शास्त्रानुसारी विवेचन से प्रकट हैं कि वे जैनमुनियों के लिए उपदिष्ट अनशनादि व कायक्लेशादि बाह्य तपों को कितना महत्त्व देते थे और उनके परिपालन में कितने सावधान और विवेकयुक्त तथा जागृत रहते थे ।

२. विद्यानन्द का दूसरा विचार यह है कि जैन साधु वस्त्रादि ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह निर्ग्रन्थ और मूर्च्छारहित होता है । यद्यपि यह विचार सैद्धान्तिक शास्त्रों में प्राचीनतम काल से निबद्ध है, पर तर्क और दर्शन के ग्रन्थों में वह अधिक स्पष्टता के साथ ही शुरू हुआ जान पड़ता है । उनका कहना है कि जैन सिद्धान्त में जैन मुनि उसी को कहा गया है जो

अप्रमत्त और मूर्च्छा रहित है । अत यदि जैनमुनि वस्त्रादि को ग्रहण करता है तो वह अप्रमत्त और मूर्च्छा रहित नहीं हो सकता; क्योंकि मूर्च्छा के बिना वस्त्रादि का ग्रहण किसी के सम्भव नहीं है। इस सम्बंध में जो उन्होंने महत्त्वपूर्ण चर्चा प्रस्तुत की है उसे हम पाठकों के ज्ञानार्थ 'शंका-समाधान' के रूप में यहाँ देते हैं –

शंकाः– लज्जा-निवारण के लिए मात्र खण्ड-वस्त्र आदि का ग्रहण तो मूर्च्छा के बिना भी सम्भव है?

समाधानः– नहीं; क्योंकि काम की पीड़ा को दूर करने के लिए केवल स्त्री का ग्रहण करने पर भी मूर्च्छा के अभाव का प्रसंग आयेगा और यह प्रकट है कि स्त्रीग्रहण में मूर्च्छा है।

शंकाः– स्त्री-ग्रहण में जो स्त्री के साथ आलिङ्गन है वही मूर्च्छा है?

समाधान– तो खण्डवस्त्रादि के ग्रहण में जो वस्त्राभिलाषा है, वह वहाँ मूर्च्छा है। केवल काम की पीड़ा तो स्त्रीग्रहण में स्त्री की अभिलाषा का कारण हो और वस्त्रादिग्रहण में लज्जा कपड़े की अभिलाषा कारण न हो, इसमें नियामक कारण नहीं है। अन्तरङ्ग नियामक कारण तो मोहोदयरूप ही है जो वस्त्रग्रहण और स्त्रीग्रहण दोनों में समान है। अतः यदि स्त्रीग्रहण में मूर्च्छा मानी जाती है तो वस्त्रग्रहण में भी मूर्च्छा अनिवार्य है, क्योंकि बिना मूर्च्छा के वस्त्रग्रहण हो ही नहीं सकता।

शंका :– यदि मुनि खण्डवस्त्रादि ग्रहण न करें–वे नग्न रहें तो उनके लिङ्ग को देखने से कामिनियों के हृदय में विकारभाव पैदा होगा अत उस विकारभाव को दूर करने के लिए खण्डवस्त्र का ग्रहण उचित है।

समाधान – यह कथन भी उपर्युक्त विवेचन से खण्डित हो जाता है, क्योंकि विकारभाव को दूर करनारूप चेष्टा ही वस्त्राभिलाषा का कारण है। तात्पर्य यह कि यदि विकारभाव को दूर करने के लिए वस्त्रग्रहण होता है तो वस्त्राभिलाषा का होना अनिवार्य है। दूसरे, नेत्रादि सुन्दर अङ्गों के देखने में भी कामिनियों को विकारभाव उत्पन्न होना सम्भव है, अत उनको ढकने के लिए भी कपड़े का ग्रहण का प्रसङ्ग आवेगा, जैसे लिङ्ग को ढकने के लिए कपड़े का ग्रहण किया जाता है। आश्चर्य है कि मुनि अपने हाथ से बुद्धिपूर्वक खण्डवस्त्रादि को धारण करता हुआ भी वस्त्रखण्डादि की मूर्च्छा रहित बना रहता है? और जब यह प्रत्येय एवं सम्भव माना जाता है तो स्त्री का आलिंगन करता हुआ भी वह मूर्च्छा रहित बना रहे, यह भी प्रत्येय और सम्भव मानना चाहिए। यदि इसे प्रत्येय और सम्भव नहीं माना जाता तो उसे (वस्त्र ग्रहण करने पर भी मूर्च्छा नहीं होती, इस बात को) भी प्रत्येय एवं सम्भव नहीं माना जा सकता; क्योंकि वस्त्रादिग्रहण मूर्च्छाजन्य है–वस्त्रादि का ग्रहण कार्य है और मूर्च्छा उसका कारण है और कार्य कारण के बिना नहीं होता। पर, कारण कार्य के अभाव में रह सकता है और इसलिये मूर्च्छा तो वस्त्रादिग्रहण के अभाव में भी संभव है, जैसे भस्माच्छन्न अग्नि धूम के अभाव में।

शंका:— यदि ऐसा है तो पिच्छी आदि के ग्रहण में भी मूर्च्छा होना चाहिए?

समाधान:— इसीलिए परमनिर्ग्रन्थता हो जाने पर, परिहारविशुद्धिसंयम वालों के उसका (पिच्छी आदि का) त्याग हो जाता है, जैसे—सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातसंयम वाले मुनियों के हो जाता है। किन्तु सामायिक और छेदोपस्थापनासंयम वाले मुनियों के संयम का उपकरण होने से प्रतिलेखन (पिच्छी आदि का) ग्रहण सूक्ष्म मूर्च्छा के सद्भाव में भी युक्त ही है। दूसरी बात यह है कि मुनि के लिए पिच्छी आदि का ग्रहण जैनमार्ग के अविरुद्ध है, अत उसके ग्रहण में कोई दोष नहीं है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि मुनि वस्त्र आदि भी ग्रहण करने लगें; क्योंकि वस्त्र आदि नाग्न्य और संयम के उपकरण नहीं हैं । दूसरे, वे जैनमार्ग के विरोधी हैं। तीसरे वे सभी के उपभोग के साधन हैं । इसके अलावा, केवल पिच्छी व केवल कमण्डलु (तूमरी) प्राय. मूल्य में नहीं मिलते, जिससे उन्हें भी उपभोग का साधन कहा जाय। निसन्देह मूल्य देकर यदि पिच्छिकादि को ग्रहण किया जाय तो वह न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि उसमें सिद्धांत-विरोध है। मतलब यह कि पिच्छी आदि न तो मूल्यवान वस्तुएँ हैं और न दूसरों के उपयोग की चीजें हैं, अत. मुनि के लिए उनके ग्रहण में मूर्च्छा नहीं है। लेकिन वस्त्रादि तो मूल्यवाली चीजें हैं और दूसरे के उपभोग में भी वे आती हैं, अत उनके ग्रहण में ममत्वरूप मूर्च्छा होती है।

शंका·— क्षीणमोही बारहवें आदि तीन गुणस्थान वालों के शरीर का ग्रहण सिद्धान्त में स्वीकृत है, अत. समस्त परिग्रह मोह-मूर्च्छाजन्य नहीं है।

समाधान.— नहीं; क्योंकि उनके पूर्वभव संबधी मोहोदय से प्राप्त आयु आदि कर्मबन्ध के निमित्त से शरीर का ग्रहण है—उन्होंने उस समय उसे बुद्धिपूर्वक ग्रहण नहीं किया है और यही कारण है कि मोहनीयकर्म के नाश हो जाने के बाद उसको छोडने के लिए परमचारित्र का विधान है। अन्यथा उसका आत्यन्तिक त्याग सम्भव नहीं है। मतलब यह कि बारहवें आदि गुणस्थानवाले मुनियों के शरीर का ग्रहण आयु आदि कर्मबन्ध के निमित्त से है—इच्छापूर्वक नहीं है।

शरीर की स्थिति के लिए आहार-ग्रहण रत्नत्रय की आराधना का कारण स्वीकार किया गया है । यदि उससे रत्नत्रय की विराधना होती है तो वह भी मुनि के लिए अनिष्ट है । स्पष्ट है कि भिक्षाशुद्धि के अनुसार नवकोटि विशुद्ध आहार को ग्रहण करनेवाला मुनि कभी भी रत्नत्रय की विराधना नहीं करता अत किसी पदार्थ का ग्रहण मूर्च्छा के अभाव में किसी के सम्भव नहीं है और इसलिए तमाम परिग्रह प्रमत्त के ही होता है, जैसे अब्रह्म।

विद्यानंद इसी ग्रन्थ में एक दूसरी जगह और भी लिखते हैं कि 'जो वस्त्रादि ग्रन्थ रहित हैं वे निर्ग्रन्थ हैं और जो वस्त्रादि ग्रंथ से सम्पन्न हैं वे निर्ग्रन्थ नहीं हैं सग्रन्थ हैं, क्योंकि प्रकट है कि बाह्यग्रन्थ के सद्भाव में अन्तर्ग्रन्थ नाश नहीं होता। जो वस्त्रादि के ग्रहण में भी निर्ग्रन्थता

बतलाते हैं उनके स्त्री आदि के ग्रहण में मूर्च्छा के अभाव का प्रसङ्ग आवेगा। विषय-ग्रहण कार्य है और मूर्च्छा उसका कारण है और इसलिए मूर्च्छा रूप कारण के नाश हो जाने पर विषय-ग्रहण रूप कार्य कदापि सम्भव नहीं है। जो कहते हैं कि विषय ग्रहण कारण है और मूर्च्छा उसका कार्य है' तो उनके विषय के अभाव में मूर्च्छा की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होगी। पर ऐसा नहीं है, विषयों से दूर वन में रहने वाले के भी मूर्च्छा देखी जाती है, अतः मोहोदय से अपने अभीष्ट अर्थ में मूर्च्छा होती है और मूर्च्छा से अभीष्ट अर्थ का ग्रहण होता है। अतएव वह जिसके है उसके निर्ग्रन्थता कभी नहीं बन सकती। अतः जैनमुनि वस्त्रादि ग्रन्थ रहित ही होते हैं।

सूक्ष्मप्रज्ञ विद्यानन्द के इन युक्तिपूर्ण सुविशद विचारों से प्रकट है कि उनकी चर्या कितनी विवेकपूर्ण और जैनमार्गाविरुद्ध रहती होगी और वे नाग्न्य को कितना अधिक महत्त्व प्रदान करते थे तथा मुनिमात्र के लिए उसका युक्ति और शास्त्र से निष्पक्ष समर्थन करते थे। वे यह सदैव अनुभव करते थे कि यदि साधु लज्जा अथवा अन्य किसी कारण से नाग्न्य परीषह को नहीं जीत सकते हैं और इसलिए वस्त्रादि ग्रहण करते हैं तो वे कदापि निर्ग्रन्थ और अप्रमत्त नहीं हो सकते, क्योंकि वस्त्रादिग्रहण तभी होता है जब मूर्च्छा होती है। मूर्च्छा के अभाव में वस्त्रग्रहण हो ही नहीं सकता। अत जैनमार्ग तो पूर्ण नग्नता के आचरण और धारण करने में है । जब वे आहार के लिए जाते थे तो वे उसे रत्नत्रय की आराधना के लिए ही ग्रहण करते थे और इस बात का ध्यान रखते थे कि भिक्षा शुद्धिपूर्वक नवकोटि विशुद्ध हो और इस तरह वे रत्नत्रय की विराधना से बचे रहते थे। कदाचित् रत्नत्रय की विराधना हो जाती तो उसका वे शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त भी ले लेते थे। इस तरह मुनि विद्यानन्द रत्नत्रयरूपी भूरि भूषणों से सतत आभूषित रहते थे और अपनी चर्या को बडी ही निर्दोष तथा उच्चरूप से पालते थे। ईसा की ११वीं शताब्दी के विद्वान् आ. वादिराज ने भी इन्हें न्यायविनिश्चयविवरण में एक जगह 'अनवद्यचरण' विशेषण के साथ समुल्लेखित किया है। यही कारण है कि मुनि-सघ में उन्हें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था और आचार्य जैसे महान् उच्च पद पर भी वे प्रतिष्ठित थे।

यहाँ विद्यानन्द के कतिपय गुणों का भी कुछ परिचय दिया जाता है। सबसे पहले उनके दर्शनान्तरीय अभ्यास को लेते हैं। आ. विद्यानन्द केवल उच्च चारित्र आराधक तपस्वी आचार्य ही नहीं थे, बल्कि वे समग्र दर्शनों के विशिष्ट अभ्यासी भी थे। वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, चार्वाक, सांख्य और बौद्धदर्शनों के मन्तव्यों को जब वे अपने ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में जिस विद्वत्ता और प्रामाणिकता से रखते हैं तब उससे लगने लगता है कि अमुक दर्शनकार ही अपना पक्ष उपस्थित कर रहा है। वे उसकी ओर से ऐसी व्यवस्थित कोटि-उपकोटियां रखते हैं कि पढनेवाला भी उकताता नहीं है और वह अपने आप आगे खिंचता हुआ चला जाता है तथा फल जानने के लिए उत्सुक रहता है।

कृतित्व

आचार्य विद्यानंद के ग्रन्थ दो प्रकार के हैं — टीकात्मक और स्वतन्त्र। टीकात्मक ग्रन्थ— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री और युक्त्यनुशासनालंकार हैं। स्वतन्त्रग्रन्थ—विद्यानन्दमहोदय, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, और श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र। इस प्रकार ये नौ रचनायें प्रसिद्ध हैं।

(१) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—यह उमास्वामी आचार्य प्रणीत महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र की टीका स्वरूप है। इसमें श्लोक और गद्यवार्तिक दोनों होने से उभयनाम श्लोकवार्तिक हुआ है। जैन दर्शन के प्राणभूत ग्रन्थों में यह प्रथम कोटि का ग्रन्थरत्न है। विद्यानन्द ने इसकी रचना करके जैनेतर तार्किकों के जैनदर्शन पर किये गये आक्षेपों का सबल जबाब ही नहीं दिया किन्तु जैनदर्शन का मस्तक भी उन्नत किया है। भारतीय दर्शन साहित्य में ऐसा ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता जो श्लोकवार्तिक की समता कर सके। इसमें कितनी ही चर्चायें अपूर्व हैं।

(२) अष्टसहस्री—आचार्य अकलंकदेव के अष्टशतीग्रन्थ का हार्द खोलने वाला यह अपूर्व ग्रन्थराज है। इसके परिचय के लिए यह कारिका ही पर्याप्त है—श्रोतव्याऽष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः। विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमय-सद्भाव।।"

अर्थात्—अन्य हजारों शास्त्र सुनने से क्या, अकेली इस अष्टसहस्री को सुन लीजिये, उसी से ही समस्त सिद्धांतों का ज्ञान हो जायगा।

(३) युक्त्यनुशासनालंकार—स्वामी समंतभद्र का युक्त्यनुशासन एक बेजोड़ गंभीर स्तोत्र ग्रन्थ है। उसकी टीका स्वरूप यह युक्त्यनुशासनालंकार हैं।

(४) विद्यानन्दमहोदय—यह आचार्य विद्यानन्द की सर्व प्रथम रचना होगी ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने अपने टीका ग्रन्थ श्लोकवार्तिक तथा अष्टसहस्री में "परीक्षितं विद्यानंदमहोदये", "विद्यानंदमहोदये च प्रपंचत प्ररूपितम्" इत्यादि वाक्यों द्वारा इसका उल्लेख किया है। दुर्भाग्य कि यह ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है।

(५) आप्तपरीक्षा—भगवान सर्वज्ञ, आप्त कौन हो सकते हैं इस विषय का इसमें विवेचन है। ईश्वर, कपिल, सुगत और परमपुरुष (ब्रह्मा) इन चारों की परीक्षा करके यह बताया है कि ये सब सर्वज्ञ वीतराग नहीं है। अन्त में अर्हन्त ही वास्तविक आप्त हैं क्योंकि उन्होंने विकार अज्ञान आदि के कारण जो कर्म हैं उसका नाश किया है, इत्यादि सिद्ध किया है।

(६) प्रमाणपरीक्षा—सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, अन्य कारक साकल्य, सन्निकर्ष आदि प्रमाण नहीं है इत्यादि रूप प्रमाण का लक्षण करके उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन करनेवाला यह ग्रन्थ है।

(७) पत्रपरीक्षा प्राचीन समय में मौखिक प्रत्यक्ष वाद-विवाद के समान लिखित पत्र द्वारा भी वाद हुआ करता था। वाद विषयक पत्र में किस प्रकार गूढ़ वाक्य रचना होनी चाहिए इस बात का प्रतिपादक यह छोटा-सा ग्रन्थ है।

(८) सत्यशासनपरीक्षा—नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य आदि के शासनों की परीक्षा करके अन्त में जैनशासन ही सत्यशासन है क्योंकि इसकी आधार-शिला सर्वज्ञ है एवं इसमें अनेकान्त की प्राणप्रतिष्ठा है।

(९) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—इसका विषय श्रीपुर में स्थित श्री देवाधिदेव पार्श्वनाथ के मनोहर प्रतिबिम्ब की स्तुति है।

इस प्रकार आ. विद्यानन्द प्रणीत ग्रन्थों का यह संक्षिप्त परिचय है। भव्य जीवों को इन ग्रन्थों का स्वाध्याय कर तत्वज्ञान करना चाहिए।
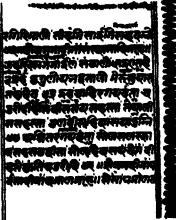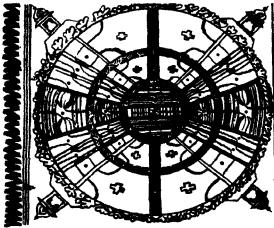
वादिराज एवं उनकी भक्ति

❑ *आर्यिका प्रशान्तमतीजी*
संघस्था आ. विशुद्धमतीजी

जिने भक्ति-र्जिने भक्ति-र्जिने भक्ति-र्दिने दिने।
सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु भवे भवे।

—हे भगवान्! मेरी भक्ति प्रतिदिन श्री जिनेन्द्र देव में ही रहे, श्री जिनेन्द्रदेव में ही रहे, श्री जिनेन्द्रदेव में रहे तथा जिनेन्द्र के चरणकमलों की भक्ति भव-भव में मुझे सदा प्राप्त हो, सदा प्राप्त हो, सदा प्राप्त हो।

जैसे घर में नेता का चित्र देखकर नेता बनने की, कवि का चित्र देखकर कवि बनने की इच्छा होती है। क्षत्रिय-वीर का चित्र देखते ही क्षत्रियत्व जाग उठता है और सिनेमा, टेलीवीजन आदि में तरह तरह के राग-रञ्जित चित्रों को देखकर जीवन इन्द्रियसुखों के लिए छटपटा जाता है; ठीक इसी प्रकार वीतराग प्रभु के दर्शन से, उनकी छबी देखने से, निर्ग्रन्थ वीतरागी सन्तों के दर्शन करने से वीतराग भाव प्रगट होते हैं, शांति मिलती है। वीतराग भगवान् की निर्विकार शांत मुद्रा निर्मल दर्पण के समान है। जैसे दर्पण में अपना मुख देखने से मुख की स्वच्छता और मलिनता एक साथ सामने आ जाती है उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक भगवान् के गुणगान करने से तथा तन्मय होकर भक्ति-उपासना और दर्शन करने से अपने शुद्ध स्वरूप का और अपनी मलिन दशा का बोध सहज ही हो जाता है। अत: अध्यात्मवादी जैन दर्शन में भगवान् की भक्ति-उपासना करने का समुचित एवं सयुक्तिक विवेचन दर्शाया गया है। प्रवचनसार में भगवत्कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं—

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

जो व्यक्ति अरहंत भगवान को गुण पर्याय सहित भली-भाँति जान लेता है, उसे अपने आत्मस्वरूप की पहचान हो जाती है, क्योंकि अपने स्वरूप और शुद्ध दशा के ज्ञान से उसका आत्म-विषयक मोह निश्चय ही नष्ट हो जाता है।

जैसे किसी व्यक्ति को हीरा, पन्ना, मोती आदि जवाहरात खरीदना है तो उसे सर्वप्रथम जौहरी के यहाँ जाना पड़ेगा। यदि वह कपड़े के व्यापारी के पास जाता है तो वह रत्नों को प्राप्त नहीं कर सकता है। दूसरे, किसी को कपड़ा खरीदना है तो उस व्यक्ति को कपड़े के

व्यापारी के यहाँ जाना पड़ेगा। इसी प्रकार जिसको जिस चीज की आवश्यकता है, वह वस्तु जिसके पास है उसके पास उसे जाना पड़ेगा। वैसे ही हमें वीतरागभाव की आवश्यकता है तो हमें वीतरागी के पास जाना पड़ेगा, वीतरागी देव एवं गुरुओं की शरण लेनी पड़ेगी। वीतराग प्रभु के बताये हुए मार्ग पर स्वयं चलनेवाले एवं वीतराग धर्म का उपदेश देनेवाले निर्ग्रन्थ गुरुओं की शरण लेनी पड़ेगी। जो वीतराग प्रभु के बताये हुए मार्ग पर चलने एवं वीतराग धर्म का उपदेश देने से रहित हैं, वह अपनी शरण में आनेवाले को राग रहित कैसे बना सकते हैं? कदापि नहीं। जैसे कोई विद्यार्थी डॉक्टरी पास करके आया है, उसे प्रेक्टिस करनी है, यदि वह बड़े से बड़े वकील के पास जायेगा तो वह डॉक्टरी के अनुभव प्राप्त नहीं कर सकता है, उसे तो किसी पुराने-अनुभवी डॉक्टर के पास ही काम करना पडेगा। वैसे ही जो स्वयं दुःखी है, स्वयं भयभीत है, स्वयं राग-रञ्जित है, स्वयं परिग्रही है वह दूसरों को सुखी, निर्भय, वीतरागी, अपरिग्रही कैसे बना सकता है? अत सिद्ध है कि वीतरागी की शरण से ही वीतरागता की प्राप्ति होगी।

कोई रोगी व्यक्ति बीमारी से मुक्त होने के लिए अच्छे चिकित्सक के पास जाता है। वहाँ जाकर वह चिकित्सक से कहता है कि, आप मुझे कोई ऐसी औषधि दीजिए कि मेरा रोग शीघ्र शांत हो जाय। वहाँ जाकर वह रोगी और कोई पूँछताछ नहीं करता है कि आपका नाम क्या है? आप कौन सी युनिवर्सिटी में और कहाँ तक पढे हो। वह तो मात्र एक ही बात कहता है कि आप मुझे शीघ्र औषधि देकर रोगमुक्त कीजिए, किन्तु वह रोग से मुक्त तभी हो सकता है जब कि उसको चिकित्सक के गुणों के प्रति दृढ विश्वास हो। उसी प्रकार वीतरागी देव एवं गुरु रूपी वैद्य के प्रति होनेवाली अटल श्रद्धा ही हमारे रागद्वेष रूपी रोग को दूर करने में समर्थ है।

अब प्रश्न होता है कि 'भक्ति' क्या है? 'भक्ति' का क्या अर्थ है? आचार्य भगवन्तों ने इसका समाधान देते हुए कहा कि "गुणेष्वनुराग भक्ति" अर्थात् अपने आराध्य के गुणों में अनुराग होना भक्ति है। 'भक्ति' का अर्थ 'गुणों में तन्मयता' भी है। अथवा सिद्धि को प्राप्त हुए शुद्धात्माओं की भक्ति द्वारा आत्मोत्कर्ष का नाम ही 'भक्ति योग' अथवा 'भक्ति मार्ग' है और उनके गुणों में अनुराग को, तदनुकूल वर्तन को अथवा उनके प्रति गुणानुरागपूर्वक आदर-सत्कार रूप प्रवृत्ति को भक्ति कहते हैं जो कि शुद्धात्मवृत्ति की उत्पत्ति एवं रक्षा का साधन है। अपने उपास्य के स्वरूप में एकाकार होना भक्ति की साधना है। जबतक अपने स्वभाव को अपने आराध्य के साथ तन्मय नहीं बनायेंगे तब तक हम वास्तविक भक्तिरस के मूल को नहीं पा सकते हैं। उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण में कहा है, "वन्दे तद्गुणलब्धये" अर्थात् मैं आपके जैसे गुणों की प्राप्ति के लिए वन्दना,नमस्कार, भक्ति करता हूँ। यदि वर्षों पूजा प्रक्षाल कर,घण्टानाद कर,दीप जलाकर जयजयकार करने के उपरान्त भी तद्गुणलब्धि नहीं हुई तो समझो कि 'भक्ति' का शाब्दिक अर्थ भी पल्ले नहीं पडा, उसके भावात्मक अधिग्रहण का तो प्रश्न ही

ो ह्यनुरागो भक्तिः"। अर्थात् भावों की विशुद्धि के साथ अनुराग रखना भक्ति ५।२४)

"अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः"। अर्हदादि गुणों में प्रेम करना भक्ति है (भ. आ.।वि. ।४७।१५९।२०)

स्तुति, प्रार्थना,वंदना,उपासना, पूजा, श्रद्धा, सेवा और आराधना ये सब भक्ति के ही नामान्तर है। जिनागम में स्तुति, पूजा, वंदना, उपासना आदि के रूप में इस भक्तिक्रिया को सम्यक्त्व-वर्द्धनी क्रिया बतलाया है।

सद्भक्ति के अहंकार के त्यागपूर्वक गुणानुराग बढ़ने में प्रशस्त अध्यवसाय की उपलब्धि होती है और उन प्रशस्त परिणामों की विशुद्धि से अनादिकाल से संचित कर्म एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं। जयधवला टीका में जिनभक्ति अथवा जिनदेव को किये गये नमस्कार को कर्मक्षय का हेतू कहा है — "अरहंत णमोक्कारो संपहि बंधादो असंखेज्जागुण कम्मक्खय करयओत्ति तत्थवि मुणीर्ण पूवुत्तिप्पसंगादो" (ज. ध. पु.।पृ.९)। अर्थात् अरहंत भगवान को किया गया नमस्कार तत्काल बंध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा का कारण है।

जैसे काष्ठ के एक सिरे में अग्नि लगने से धीरे धीरे सारा काष्ठ भस्म हो जाता है वैसे जिनभक्ति से पूर्व संचित कर्मों का नाश होता है। जिनभक्ति से आत्मीय गुणों के अवरोधक कर्मों का अनुभागखंडन, स्थिति-खंडन और बन्धोपशमन हो जाता है, जिससे आत्मीक गुणों का विकास होता है, इसलिए जिनभक्ति आत्मगुणों के विकास में कारण है —

स्तुति पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्य-प्रसन्नधी।
निष्ठितार्थो भवांस्तुत्य फलं नैश्रेयस सुखम्॥

इस प्रकार जिनसेनाचार्य ने स्तुति का फल मोक्ष-सुख कहा है। इसलिए भक्ति मोक्ष का कारण है। जैसे बाँस के आश्रय से नट ऊँचा चढ़ने में सफल हो जाता है उसी प्रकार भक्ति रूपी सोपान के द्वारा यह आत्मा उन्नत अवस्था को प्राप्त हो जाता है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो वीतरागता के प्रति उत्पन्न हुई श्रद्धा-भक्ति एवं गुणानुराग ही आगे चलकर भक्त के गुणों का विकास करता है और उसका पुरुषार्थ उसे भगवान बना देता है। सौधर्म इन्द्र भगवान के पंच-कल्याणकों के अवसर पर गुणानुरागपूर्वक विभोर होकर की गई भक्ति के प्रसाद से ही अपने पूर्व भवांतरों में बद्ध कर्म-बधंनों को शिथिल व जीर्ण-शीर्ण करता है तथा इस भक्ति की प्रक्रिया से ही वह एक-भवावतारी बन जाता है।

आचार्यप्रवर वादीभसिंह सूरि ने अपने 'क्षत्रचूडामणि" ग्रंथ में भक्ति का माहात्म्य प्रकट करते हुए भक्ति को मुक्ति का साधन निरूपित किया है। "जिनभक्तिः सती मुक्त्यै क्षुद्रं किं वा न साधयेत्।" अर्थात् सही रूप में की गई जिन-भक्ति जब कि मुक्ति-प्राप्ति का कारण

हुआ करती है तब वह अन्य छोटे कार्यों को क्या सिद्ध न करेगी? अर्थात् अवश्य करेगी। स्वामी मानतुङ्गाचार्य के अनुसार—

त्वत्संस्तवेन भव संतति सन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रांतलोकमलिनीलमशेषमाशु
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमंधकारम्॥

अर्थात् हे भगवन्! आपके गुणों का संस्तवन करने से प्राणियों के भव-भवान्तरों में संचित पाप क्षणभर में उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे रात्रि में भौंरों के समान काला लोकव्यापी अंधकार प्रातःकाल सूर्य की किरणों से तुरन्त ही विलय को प्राप्त हो जाता है। आगे चलकर वे कहते हैं—

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्त-दोषं।
त्वत्संकथापि जगतां दुरितान्नि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरण कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि॥

अर्थात् हे भगवन्! आपका निर्दोष स्तवन करना तो दूर, आपका नामस्मरण या कथा करने मात्र से ही जगत्-जनों के पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे सूर्य के दूर रहने पर भी उसकी प्रभा मात्र से ही सरोवरों में कमल खिल जाते हैं।

इसलिए कहा है कि भक्ति और मुक्ति के लिए जिन— चरणारविन्द का मधुप होना अनिवार्य है क्योंकि जिनेन्द्र-चरण कमलों का भ्रमर जन्म, जरा और मरण की बाधा से मुक्त हो जाता है।

जैन साहित्य में भक्तिरस की अविरल धारा प्रवाहित करने वाली अनेक पुनीत एवं आत्मकल्याणकारी रचनाएँ हैं जिनके शब्द शब्द से भक्तिरस की कल-कल-निनादकारिणी शत-शत धारायें प्रवाहित होती हैं। समन्त भद्रस्वामी, मानतुङ्गाचार्य, कुमुदचन्द्रचार्य, वादिराज आदि महर्षियों ने सकंट के समय भक्तिरस से भरे हुए अनेक स्तोत्र रचे हैं तथा उनके बल पर धर्म की महती प्रभावना की है।

आचार्य वादिराज का समय प्राय विक्रम की ११वीं शताब्दी माना है। श्रवणबेलगोल के 'मल्लिषेणप्रशस्ति' शिलालेख में (जो शक. सं. १०५० में उत्कीर्ण हुआ है) लिखे हुए प्रशंसात्मक पद्यों से स्पष्ट ज्ञान होता है कि वादिराज अपने समय के एक प्रसिद्ध तार्किक और वाद-विजेता विद्वान थे। उनके सामने प्रवादियों का गर्व चूर हो जाता था। राजा जयसिंह की राजधानी सिंहपुर में उनका विशेष प्रभाव एवं महत्त्व विद्यमान था। वे उस समय के प्रायः सभी विद्वानों

में शिरोमणि गिने जाते थे। 'मल्लिषेणप्रशस्ति' के प्रशंसात्मक पद्यों में से एक पद्य दृष्टव्य है—

आरुह्यामबरमिन्दुबिम्ब-रचितौ सुक्यं सदा यद्यश-
श्छत्रं वाक्चमरीजराजि-रुचयोऽभ्यर्णं च यत्कर्णयोः।
सेव्यः सिंहसमर्च्य-पीठ-विभवः सर्व-प्रवादि-प्रजा-
दत्तोच्चैर्जयकार-सार-महिमा श्रीवादिराजो विदाम्॥

अर्थात्—जिनका यशरूपी छत्र आकाश में व्याप्त था और जिसने चन्द्रमा को उत्सुकता उत्पन्न कर दी थी— अर्थात् उनका यश चन्द्रमा से भी अधिक समुज्ज्वल था, स्तुतिवाक्यरूपी चँमर-समूह की किरणें जिनके कानों के समीप पड़ती थीं, तथा जयसिंह नरेश से जिनका सिंहासन पूजित था और सर्वप्रवादि प्रजा उच्च स्वर से जिनका जयजयकार गाया करती थी ऐसे आचार्य वादिराज विद्वानों के द्वारा सेवनीय हैं। सिद्धान्तशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् होते हुए भी आचार्य वादिराज की व्याकरण, काव्य, कोश और अलंकारादि विषयों में अच्छी गति थी। आप एक साहित्यिक कवि और प्रतिभासंपन्न व्यक्ति थे। आपकी षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वादविद्यापति, जगदेकमल्लवादि आदि अनेक उपाधियाँ थीं जैसा कि निम्न शिलावाक्य से प्रकट है—

"षट्तर्कषण्मुखरुं स्याद्वादविद्यापतिगलुं जगदेकमल्ल वादिगलुं एनिसिद श्री वादिराजदेवरुम्।"

वादिराज सूरि की प्रशंसा में अन्यत्र लिखा है— वादिराजसूरि सभा में बोलने के लिए अकलंकदेव के समान हैं और कीर्ति में न्यायबिन्दु आदि प्रसिद्ध ग्रंथों के कर्त्ता बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति के समान हैं। वचनों में बृहस्पति के समान हैं और न्यायवाद में अक्षपाद के समान हैं। इस तरह से वादिराज इन भिन्न भिन्न धर्म-गुरुओं के एकीभूत प्रतिनिधित्व के समान शोभित होते हैं।

आचार्य वादिराज की इस समय तक छह कृतियों का पता चलता है। एकीभावस्तोत्र, पार्श्वनाथचरित, काकुत्स्थचरित, यशोधरचरित, न्यायनिविश्चियविवरण और प्रमाणनिर्णय। एकीभावस्तोत्र सरस और भक्तिरसरूप-माधुर्य से ओत-प्रोत है। इसकी श्लोक-संख्या २५ है, छन्द मन्दाक्रान्ता है। स्तोत्र की रचना संस्कृत भाषा में मृदु, सरस और पद-लालित्य को लिये हुए हैं। जैनधर्म की मान्यता के अनुसार इस स्तोत्र में सच्चे देव के स्वरूप का अच्छी तरह से प्रतिपादन किया है। इस स्तोत्र की विशेषता यह है कि 'भक्तामर', 'कल्याणमन्दिर' आदि अन्य स्तवनों की तरह इसमें किसी एक तीर्थंकर विशेष की स्तुति नहीं की गई है।

एकीभाव स्तोत्र के सबसे प्रथम श्लोक में भक्ति का माहात्म्य प्रकट करते हुए वादिराज मुनिराज कहते हैं—

एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्मबन्धो
घोरं दुःखं भवभवगतो दुर्निवारः करोति।
तस्याप्यस्य त्वयि जिनरवे भक्तिरुन्मुक्तये चे-

ज्जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽवरस्तापहेतुः।

अर्थात् हे जिनेन्द्र। जब कि आपकी समीचीन भक्ति द्वारा चिरपरिचित और अत्यंत दुःखदायी एवं आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह मिले हुए कर्मबन्धन भी दूर किये जाते हैं, तब दूसरा ऐसा कौनसा सन्ताप का कारण है जो कि इस भक्ति के द्वारा दूर नहीं किया जा सकता अर्थात् दुःख के सभी कारण नष्ट किये जा सकते हैं। जिनेन्द्र भगवान रूपी सूर्य जन्म-जन्मान्तर के पापरूपी अन्धकार का नाश करनेवाला है। भक्तिपूर्वक किये हुए भगवान के स्तवन मात्र से पुरातन विषम रोग दूर होकर शरीर निरोग बन जाता है। भगवान के गर्भ में आने के पहले ही जब पृथ्वी सुवर्णमयी बन गई तो अन्तःकरण रूप मंदिर में आपको विराजमान करने से कुष्ट जैसे भयंकर रोग भी नष्ट हो जाएँ इसमें कौन सी बडी बात है?

भक्ति-विभोर वादिराज मुनिराज कहते हैं कि अरिहंत भगवान जब केवली अवस्था में विहार करते हैं तब देवगण उनके पवित्र चरणों के नीचे कमलों की रचना करते हैं। चरणकमल से बिना स्पर्शित कमल भी सुवर्ण-सी कान्तिवाले सुगन्धित एवं लक्ष्मी के निवास बन जाते हैं फिर तो मेरे मन-मंदिर में जिनप्रतिमा का सर्वांग रूप से स्पर्श हो रहा है जिससे मुझे सर्व सुख की प्राप्ति हो जायगी। भक्तिरूपी पात्र से आपके अमृतरूपी वचनों को पीनेवाले भव्य पुरुषों को रोगमयी कांटे कभी पीडा नहीं दे सकते। आपके शरीर के पास से बहनेवाली वायु भी लोगों के तरह-तरह के रोग दूर कर देती है।

जिनके हृदय में भक्ति के झरने झर रहे हैं ऐसे वादिराज मुनिराज बता रहे हैं कि बिना भक्ति के, शुद्ध ज्ञान-चारित्र के रहते हुए भी, मोक्ष के कपाट नहीं खोले जा सकते।

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखावंचिका कुंचिकेयम्।
शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो,
मुक्तिद्वारं परिदृढ-महामोह-मुद्रा-कपाटम्॥

अर्थात् हे नाथ! शुद्ध ज्ञान और चरित्र के रहते हुए भी यदि आपके विषय में होनेवाली उत्कृष्ट भक्ति-रूपी कुंजी नहीं हो, तो अत्यन्त मजबूत महामोहरूपी ताले से युक्त मोक्ष का कपाट किस तरह खोला जा सकता है? अर्थात् नहीं खोला जा सकता है।

वादिराज मुनिराज के जीवन से संबंधित एक किंवदन्ती है। एक समय आचार्य वादिराज को कुष्ट रोग हो गया। राजा जयसिंह के दरबार में चर्चा चली कि "दिगम्बर साधु कोढ़ी होते हैं"। तब गुरुभक्त श्रावक ने कहा कि हमारे गुरु कोढ़ी नहीं होते हैं। चर्चा के अंत में निर्णय हुआ कि महाराज स्वयं चलकर देखेंगे। गुरुभक्त श्रावक चिंतित होता हुआ आचार्यश्री के पास गया और कहने लगा कि अब जिनशासन की — जिनधर्म की लाज रखना आपके हाथ में है। आचार्यश्री ने कहा — चिन्ता की कोई बात नहीं है, धर्म के प्रसाद से सब ठीक होगा। आचार्यश्री

को स्वयं शरीर के प्रति राग नहीं था। अर्थात् अपना शरीर स्वर्णमयी बनाने की कोई अभिलाषा नहीं थी पर सारे दिगम्बर साधुओं के ऊपर जो लाछंन आ रहा था उन गुरुओं की रक्षा के लिए ही आचार्यश्री ने जिनेन्द्र भगवान के गुणों में एकाग्रचित्त होकर एकीभाव स्तोत्र की रचना की। स्तवन के माहात्म्य से कुष्ट रोग दूर होकर शरीर सुवर्ण जैसी कान्तिवाला हो गया। दूसरे दिन राजा ने स्वयं वादिराज मुनिराज के सुवर्ण समान कान्तिमय शरीर को देखा और दरबार में जिसने निंदा की थी उसकी तरफ रोषभरी दृष्टि से देखा। मुनिराज ने कहा— राजन्, गुस्सा न कीजिए, उसने जरा भी असत्य नहीं कहा है, उस समय मैं सचमुच कोढ़ी था। धर्म के प्रभाव से आज ही मेरा कुष्ट रोग दूर हुआ है। रोग का कुछ अंश अब भी इस कनिष्ठा अंगुली में मौजूद है। यह जिनेन्द्र भक्ति का ही प्रभाव है।

इस कथानक से, मनुष्यों को जैनधर्म की 'भक्ति से शक्ति' का परिज्ञान कर, निरन्तर जिनेन्द्र-भक्ति में तत्पर रहते हुए, अपने कर्म-बंधनों को शिथिल करना चाहिए।

भक्ति से शक्ति, शक्ति से युक्ति और युक्ति से मुक्ति मिलती है। अत प्रत्येक भव्यात्मा को भक्ति के माध्यम से शाश्वत सुख की प्राप्ति का समीचीन पुरुषार्थ करना चाहिए।
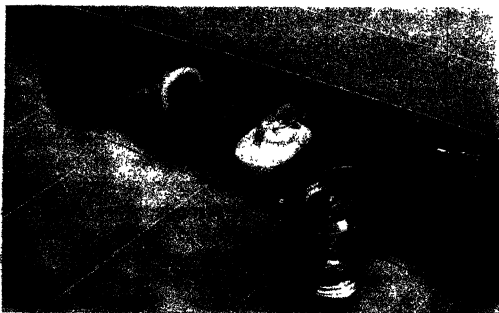
आचार्य अमृतचन्द्र की अहिंसा अवधारणा

❑ *पं. विजयकुमार शास्त्री श्रीमहावीरजी*

अहिंसा जैन संस्कृति के मौलिक तत्वों से अन्यतम है। आचरण में अहिंसा व्यवहार में अपरिग्रह और विचारों में अनेकान्त जैन धर्म का उद्घोष है। अहिंसा अपरिग्रह और अनेकान्त तीनों परस्पर सापेक्ष्य हैं, एक दूसरे के पूरक हैं या तीनों एक ही हैं, अहिंसा ही हैं। आचार्य समन्तभद्र ने अहिंसा को ब्रह्म कहा है। वस्तुत अहिंसा की पूर्णता में ही ब्रह्मत्व प्रकट होता है। लोकालोक दर्शी ज्ञान प्रकट होता है।

यों तो प्राय सभी धर्मों में अहिंसा को माना गया है। 'अहिंसा परमोधर्म' कहा गया है। पर जहाँ अहिंसा उत्कृष्ट धर्म कहा गया है वही जैन धर्म में अहिंसा को परम धर्म कहा गया है—अर्थात् धर्म को अहिंसा प्रधान कहा गया है। अर्थात् जिसका बीज अहिंसा है वही धर्म है ऐसा माना गया है। जैन धर्म की मान्यता है कि दूसरे धर्म स्थावर जीवों को पीड़ा पहुँचाना या उनका घात करना तो हिंसा है ही इस हिंसा का मूल आत्मा का जो रागद्वेष रूप विकारी भाव है वही मूलत हिंसा है। अमृतचन्द्राचार्य अपने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में लिखते हैं—कषाय रूप परिणत मन-वचन कार्य के योगों से द्रव्यभाव रूप प्राणों का घात करना ही हिंसा है। तत्वार्थ सूत्र के कर्ता श्री उमास्वामी ने भी यही कहा है कि 'प्रमत्त योगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा'— प्रमाद-कषाय आदि के योग से प्राणों का-स्व एवं परके प्राणों का व्यपरोपण-पीड़न या घात करना हिंसा है।

अहिंसा हिंसा को विवेचन में आगे अमृतचन्द्राचार्य की व्यवस्था बड़ी मार्मिक है—परिणामों में राग आदिक-कर्म निमित्तक राग द्वेष मोह काम क्रोध मान माया लोभ हास्य शोक, जुगुप्सा, प्रमाद आदि भावों—जोकि आत्मा में विकार उत्पन्न करने वाले हैं—का उत्पन्न नहीं होना ही अहिंसा है तथा इन विकारीभावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है। क्योंकि इन विकारी भावों के उत्पन्न होने से आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणामों का घात होता है तथा इन्हीं विकारी परिणामों के निमित्त से पर जीवों की हिंसा में प्रवृत्ति होती है। वस्तुत जहाँ मुक्ताचरण—प्रमाद रहित सावधानी पूर्वक आचरण होता है वहाँ रागद्वेष-मोह के अभाव में प्राणघात हो जाने मात्र से हिंसा नहीं होती है। जैसे एक मछुआरे के मछली मारने के परिणाम हैं और वह दिन भर मछली मारने के प्रयत्न में रत रहता है पर एक भी मछली उसके जाल में या वश में नहीं फँसी, जीव की हिंसा तो नहीं हुई पर परिणाम हिंसा के होने से उसे पाप बन्ध तो होगा ही। हिंसादि रूप अशुभ परिणाम ही तो बन्ध के कारण है। इसी प्रकार जैसे कोई चिकित्सक

किसी के प्राणों की रक्षा हेतु शल्य चिकित्सा करना है, पर वह रोगी अपने आयु कर्म के क्षीण हो जाने से मृत्यु को प्राप्त होता है जबकि चिकित्सक तो अपने शुभभावों से पुण्य का ही बन्ध करेगा। प्रमाद (कषाय) न होने के कारण वह हिंसा का भागी नहीं होगा। यह बात बिल्कुल सत्य है कि परिणामों की संक्लेशता से ही कर्म बन्ध होता है। कषाय मुक्त परिणाम ही कर्मबन्ध के कारण हैं। परिणामों का संक्लेशमय (कषाययुक्त) होना ही हिंसा है।

अमृतचन्द्र स्वामी इसी बात को समझाते हुए कहते हैं—

रागादिभावों के वशीभूत होकर अयत्नाचार रूप प्रमाद (सकषाय) रूप अवस्था में जीव मरे या न मरे हिंसा तो आगे आगे दौड़ती है।

भले ही जीव का ध्यान न हो पर कषाय युक्त भाव होने के कारण अपने शुद्ध ज्ञान दर्शन रूप मात्र प्राणों का घात तो होगा ही अन्य जीव की हिंसा हो या न हो।

हिंसा से विरक्त न होने से हिंसारूप परिणामों से हिंसा होती ही है, कषाय के योग में तो प्राणघात का सद्भाव है ही, हिंसा केवल शारीरिक क्रिया से ही नहीं होती मन व वचन से भी होती है।

यदि परिणामों से ही हिंसा होती है तो बाह्य वस्तुओं—परिग्रह आदि का त्याग व्यर्थ है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य देते हैं कि यद्यपि परवस्तु के कारण आत्मा में रंचमात्र भी हिंसा नहीं होती तो भी परिणामों की निर्मलता बनी रहे इसलिए पर वस्तु (परिग्रह-धन धान्यादिक, वस्त्रादिक का त्याग कराया जाता है। क्योंकि परिग्रह आदि परिणामों की अशुद्धता के कारण हैं। एकान्त पक्षका अवलम्बन भी हिंसा के अर्न्तगत है। अतएव न तो निश्चयाभासी बनना चाहिए न व्यवहारभासी परस्पर सापेक्षनयों का अवलंबन करने वाला ही अहिंसा की साधना कर पाता है। अतएव अहिंसा के आराधक को अनेकान्त तत्त्व को समझना चाहिए। परिणाम (भाव) ही हिंसा अहिंसा के विधायक होते हैं—कभी कोई प्राणघात रूप हिंसा न करके हिंसा रूप परिणामों से हिंसक होता है तथा कोई हिंसा (पर प्राणघात) करने पर भी हिंसा फल का भोक्ता नहीं होता। बाह्य में प्राणघात की दृष्टि में समान हिंसा करने पर भी भावहिंसा रूप परिणामों के अन्तर से एक को न्यून हिंसा का फल लगता है जबकि दूसरे को अधिक हिंसा फल मिलता है। बल्कि कोई अल्प हिंसा करके भी महान हिंसा फल भोगता है और कोई महाहिंसा करके भी अल्प फल का भोक्ता होता है क्योंकि बन्ध व फल तो कषाय की तीव्रता या मन्दता से होगा। जैसे किसी ने तीव्र कषाय वश किसी को यातना या प्राण घात करना चाहा पर कारणवश वह ऐसा न कर सका तो तीव्रबन्ध के अनुसार उसे वैसा ही तीव्र उदय भोगना पड़ेगा तथा दूसरे ने मन्दकषाय पूर्वक (कृषिरक्षार्थ) किसी पक्षी को भगाने के लिये कंकड़ मारा और संयोग से वह पक्षी मर गया तो उस मारने वाले को बन्ध मन्द ही होगा और उसका मन्द ही उदय होगा।

कोई हिंसा पहले ही फल देती है, कोई करने पर फल देती है, कोई कर लेने के बाद फल देती है इस प्रकार हिंसा हिंसक रूप परिणामों (कषाय) से ही फल देती है। किसी जीव ने हिंसा करने का विचार किया किसी कारण वश वह जीवघात रूप हिंसा उस समय नहीं कर सकता है पर कषायरूप परिणामों से कर्मबन्ध हुआ और उसके उदय से उसे फल भी भुगतना पड़ता है पीछे उसने कालान्तर में उस जीव को मार डाला इस प्रकार द्रव्य हिंसा से पहले ही उसने फल भोग लिया।

कोई जीव हिंसा के भाव रखकर कारणवश जीवघात नहीं करता पर हिंसा रूप परिणामों से जो बन्ध हुआ उसके उदय समय में ही उसे उस जीवाघात का अवसर मिलता है इस प्रकार वह एक ही साथ हिंसा का फल भी भोगता है और हिंसा भी करता है। हिंसारूप परिणामों से द्रव्य हिंसा (जीवघात) किया उसका बन्ध किया उदयकाल में परिणाम बाद में भोगता है। कभी हिंसा रूप परिणामों से बन्ध किया पर संयोग से जीवघात रूप द्रव्य हिंसा बिल्कुल नहीं कर सका तो भी उसे अपने सकषाय परिणामों का फल तो भोगना ही पड़ता है।

कभी हिंसा तो एक व्यक्ति ही करता है पर भोगने वाले बहुत से होते हैं जैसे कोई हिंसा (जीवघात) कर रहा है और अन्यों ने उसके उस कार्य की अनुमोदना की तो फल तो सबको भोगना पडेगा। हो सकता है जीवघात करने वाले के कषाय रूप परिणाम मन्द हों और अनुमोदना करने वालों के तीव्र तो उन्हें परिणामों के अनुसार तीव्र फल भोगना पड़ेगा। कारण बन्ध तो भावों के अनुसार ही मन्द या तीव्र होता है।

किसी को तो हिंसा उदयकाल में एक ही हिंसा का फल देती है और दूसरे को वही हिंसा बहुत हिंसा का फल देती है। जैसे किसी हत्यारे ने जीवको मारने के अभिप्राय से पेट में छुरा भोंक दिया—वह हिसा फल भोगी ही होगा। पर किसी चिकित्सक ने किसी के पेट में पड़ी गांठ को निकालने के लिए शल्यचिकित्सा की और वह मर भी गया तो वह अहिंसा के (दयारूप) परिणामों का ही फल भोगेगा।

कभी-कभी जीव हिंसा करते समय अहिंसा का फल भोगता है तथा कभी-कभी अहिंसा रूप रहते हुए हिंसा का फल भोगता है। जैसे किसी जीव के परिणामों में कपट भाव है वह मन से तो कुत्सित कषाय रूप हिंसा भाव ही रखता है पर वह बाहर से उसकी रक्षा का ढोंग रचता है और वह जीव अपने पुण्योदय से बच जाता है तो बाह्य में दया की परन्तु बन्ध तो अंतरंग परिणामों का ही मिलेगा। तथा माता, पिता, गुरुजन आदि अंतरंग में हितबुद्धि रखकर बाह्य में ताड़ना भी देते हैं। सब परिणामों की विशेषता है।

इस प्रकार नय के विविध-भागों की मुख्यता से बहुत ही स्पष्ट और सुबोध रूप से हिंसा तथा अहिंसा का वर्णन आचार्यश्री ने किया है। वस्तुत जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ नय बड़ी तीखी धार वाला है। जो अहंकार आदि के वशीभूत होकर उसे समझने का प्रयास नहीं करते

या उलटा समझते हैं उनके अहंकार का मस्तक तुरन्त कट जाता है। अतएव हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाफल के तत्व का सम्यक् समझकर हिंसा का त्याग करना चाहिए।

आगे अहिंसक रहने की विधि का वर्णन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्राचार्य अहिंसा की आराधना में सर्वप्रथम अष्ट मूलगुणों के पालन की प्रेरणा करते हैं—

अष्टमूल गुण हैं—1. मद्य त्याग (नशीले पदार्थों के सेवन का त्याग) 2. मांस त्याग 3. मधु त्याग तथा पांच उदुम्बर फलों—बड़, पीपल, पाकर, अंजीर, एवं गूलर इनके फलों का त्याग। क्योंकि इन आठ पदार्थों का त्याग किये बिना अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। अहिंसक के लिए इन वस्तुओं का विधि पूर्वक त्याग आवश्यक है। क्योंकि ऐसे फलों के भक्षण से द्रव्य हिंसा एवं भावहिंसा भी होती है।

मदिरा मन को मोहित करती है जिससे धर्म का विसरण होता है। धर्म को भूला हुआ निडर होकर हिंसा के आचरण करता है। यह वस्तुत अनेक जीवों के वध से ही बनती है और उसमें नये नये जीव उत्पन्न होते रहते हैं। मदिरा पीने से अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य अरति, शोक, काम, क्रोधादि, उत्पन्न होते हैं यही सब भाव हिंसा है। इसीप्रकार—

मांसाहार प्रत्यक्ष हिंसा का कारण है ही क्योंकि मांस प्राणिघात से ही उत्पन्न होता है। स्वयं मारे हुए प्राणियों का भी अहिंसक मांस नहीं खाता कारण मांस में जो प्रतिक्षण सूक्ष्म स्थूल त्रस जीव तथा निगोदिया जीव उत्पन्न होते रहते हैं उनका घात कैसे रूक सकता है। यहाँ तक कि पके हुए मांस में भी प्रतिक्षण जीवराशि उत्पन्न होती रहती है। अतएव पका हुआ मृत जीवका मांस भी हिंसा का कारण है। इतना ही नहीं मांस का छूना और देखना भी भाव हिंसा का कारण होता है।

मधु (शहद) में मधुमक्खियों का कलेवर निहित होता है इसमें उनका मल ही है उसके सेवन में महान् हिंसा होती है। यही नहीं स्वयं पके हुए मधु का सेवन करने से उसके आश्रय भूत जीवों का घात अनिवार्य है। तथा उदम्बर फल (उमर, कठूमर, पाकर, बड़, पीपल) साक्षात् त्रस जीवों के पिण्ड हैं इनके खाने से द्रव्य व भावहिंसा होती ही है।

जो जीव इस मद्य मांस मधु तथा उदुम्बर फलों के त्याग रूप अष्टमूल गुणों का पालन नहीं करता है उपदेश का पात्र नहीं है। बिना अष्टमूल गुण धारण किये धर्म श्रवण की पात्रता भी नहीं आती है।

अतएव हिंसादि पाँच पापों का त्याग मन, वचन, काय कृत, कारित अनुमोदना से होना चाहिए। अर्थात् न तो मन से हिंसा के कार्यो की सोचे न वचन से पर पीड़क वचन कहे न शरीर से हिंसादि रूप क्रिया करें। न स्वयं करे न दूसरों से करावे न स्वयं करते हुओं की प्रशंसा करें।

इस संसार में दो तरह के जीव देखे जाते हैं। स्थावर (स्थिति शील एकेन्द्रिय) तथा त्रस (डरकर भागने वाले दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा मनरहित या मन सहित पञ्चेन्द्रिय) दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग करना ही अहिंसा है। यद्यपि एक देश हिंसा का त्यागी गृहस्थ श्रावक हिंसा से ही बच पाता है। आरम्भी होने के कारण स्थावर (एकेन्द्रियों) की हिंसा से नहीं बच पाता तो भी वह इन्द्रिय विषयों को न्याय पूर्वक सेवन करता हुआ स्थावर जीवों की हिंसा से बचने का भाव रखता है एवं यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ यथा संभव त्रस हिंसा से भी बचने का प्रयत्न करता है।

सच्चा अहिंसक हिंसक के वैभव को देखकर उनके ऐहिक सुखों से अपने को आकुल व्याकुल नहीं करता तथा अहिंसक जीवन में पूर्व कर्मोदय से दरिद्रता आदि के दुःखों को भी उठाता है तो भी असन्तुष्ट नहीं होता।

धर्म के लिये तो (यज्ञादि देवताओं की बलि हेतू तो हिंसा करनें में दोष नहीं। जो पुरुष सोचते हैं वह कथमपि युक्तिसंगत नहीं है तथा धर्म के स्वरूप को ही नहीं जानते—अहिंसक धर्मात्माओं को ऐसे अज्ञानियों की बातों में नहीं आना चाहिए।

हाँ, फिर भी मन्दिर निर्माण पूजा प्रतिष्ठा मुनिदान हेतू आधार बनाना द्रव्य पूजन आदि में आरम्भ जनित जो हिंसा स्वाभाविक है, श्रावक धर्मात्मा वहां पूर्ण यत्नाचार रखता है।

धर्म देवताओं से उत्पन्न होता है इसलिये उन्हें सब कुछ देना चाहिए—इस प्रकार के अविवेक से अंधे होकर किसी जीव की हिसा नहीं करनी चाहिए। देवगण तो अमृत-भोगी होते हैं मांस भोगी नहीं जो देवों को देने के नाम पर निरपराध और अबोध प्राणियों की हिंसा करते हैं वे इन्द्रियों के लम्पटी होकर ही ऐसी कुयुक्तियां घडते हैं। प्राणिघात में कभी धर्म नहीं होता।

कृषि में बहुत जीवों की हिसा होती है। शाक-सब्जी फलादिक उत्पन्न करने और उनसे क्षुधा निवृत्ति करने में बहुत प्राणियों की हिंसा होती है जबकि मांसाहार एक प्राणी की हिंसा से ही सम्भव है तो बहुतों की हिंसा की अपेक्षा एक प्राणी की हिसा ठीक है ऐसा सोचना भी कुतर्क है। पहली बात तो यह हे कि अन्नादिक के सब्जियों के फलों के उत्पन्न करनें में हिंसा रूप परिणाम होते ही नहीं है फिर जिसकी जितनी अधिक इन्द्रियाँ होती है उसका बोध क्रूर परिणामों से ही होता है उसमें अधिक हिंसा होती है। फल एव शाकाहार की अपेक्षा कई गुनी मांसाहार में अधिक हिंसा होती है।

अनेक दुःखों से पीडित जीव थोड़े समय में दुःखों से छूट जायेंगे। इस विचार से भी दुःखी जीवों को नहीं मारना चाहिये, कारण दुःखी को भी अपना दुःखी जीवन प्यारा होता है। तथा वह जो पूर्व कृत पाप के फल स्वरूप दुःख भोग रहा है। जब तक उस उदय का भोग पूरा नहीं कर लेता अगले जन्म में भी उस दुःख से नहीं बच सकता।

सुख की प्राप्ति कठिन है इसलिए मारे हुए सुखी जीव परलोक में सुख पायेंगे ऐसा कुतर्क

कर सुखी जीव को भी नहीं मारना चाहिए। जीवन सबको प्रिय होता है प्राण वियोग के समय उसके परिणाम अत्यन्त दुःख और सन्ताप रूप होंगे और उससे नये आसाता कर्म के बन्ध से उसका दुःख अगले जीवन में और बढ़ जायेगा। और उसे मारनेवाला अपने क्रूर हिंसा रूप परिणामों और पर वधरूप कायिक क्रिया से व्यर्थ ही महापाप का बन्ध करेगा।

अभी गुरू समाधिस्थ हैं। ऐसे में इनका वध करने से इन्हें सुगति का लाभ होगा—इस अज्ञानमय विचार से अपने गुरुका वध भी नहीं करना चाहिए, गुरु तो समाधि का फल आगे पायेंगे ही। दूसरे के सहयोग की उन्हें आवश्यकता नहीं। हमें अपने परिणाम व्यर्थ में क्रूर नहीं बनाना चाहिये इससे स्वयं दुर्गति का बन्ध होगा। वध करते समय गुरु की समाधि नष्ट हो गई तो वे भी दुर्गति के पात्र होंगे।

इसप्रकार अमृतचन्द्र स्वामी ने धर्म के लिए अज्ञानता पूर्वक की जानेवाली हिंसाओं का विवेचन करते हुए अहिंसा का विवेक पूर्वक पालन करने की शिक्षा दी है। सच्चा अहिंसक मूढ़ताओं में नहीं पड़ता। वह तो विविध नय विलासित जैन प्रवचन का मर्म समझकर झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, आदि अन्य पापों को हिंसा का कारण मान छोड़ने का प्रयत्न करता है।

यही नहीं, उनका कहना है कि श्रावक के बारह व्रत आदि अहिंसा के ही रक्षक हैं। सच्चे अहिंसक की प्रवृत्ति किसी भी पाप कार्य में नहीं होती। वह अभक्ष्य भक्षण नहीं करता, अगालित जल सेवन नहीं करता तथा रात्रि भोजन का त्यागी होता है। उसका सविवेक आहार विहार होता है।

सच्चा अहिंसक जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित अनेकान्त तत्व का आश्रय लेकर वैचारिक हिंसा से सर्वथा दूर होता है। वह स्याद्‌वाद मयी वाणी ही बोलता है।

वस्तुतः वीतराग भगवान द्वारा प्रतिपादित गार्हस्थिक (श्रावक) नियमों का—(बारह व्रतों का) पालन करता हुआ सच्चा नागरिक बनने का उपक्रम करता है।

आचार्यश्री अमृतचन्द्र जी ने इस प्रकार से अपने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में अनेकानेक युक्तियों से हिंसा अहिंसा तथा तज्जन्य परिणामों पर प्रकाश डाला है। जो भव्यजीवों के लिए कल्याणकारी है।

आचार्य प्रभाचन्द्र

❑ *डॉ. सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी*

प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि प्रसिद्ध जैन न्याय-ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य प्रभाचन्द्र बहुत बड़े दार्शनिक और तार्किक थे। इनमें वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनों का प्रगाढ़ पाण्डित्य था। ये अद्‌भुत प्रतिभा के धनी थे। ये जिस विषय का भी खण्डन या समर्थन करते हैं प्रबल युक्तियों से करते हैं। अत: श्रवणबेलगोला के शिलालेख (संख्या ४०) में इन्हें प्रथित 'तर्कग्रन्थकार' और 'शब्दाम्भोरुह- भास्कर' विशेषण से सम्मानित किया है। इससे इनके प्रखर पाण्डित्य की ख्याति का ज्ञान होता है। इनका समय ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। इनके गुरु थे पद्मनन्दि सैद्धान्तिक।[२] पद्मनन्दि से शिक्षा-दीक्षा लेकर ये उत्तरभारत में धारा नगरी आ गए। यहाँ आद्य जैन न्यायसूत्र 'परीक्षामुख के रचयिता आचार्य माणिक्यनन्दि का शिष्यत्व स्वीकार कर उनके परीक्षामुख ग्रन्थ पर प्रमेयकमलमार्तण्ड टीका लिखी।[३] दक्षिण में इनके सधर्मा कुलभूषण मुनि थे जिनकी शिष्य परम्परा का उल्लेख श्रवणबेलगोला के शिलालेख (संख्या ५५) में मूल संघ के देशीयगण के देवेन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य चतुर्मुख देव और उनके शिष्य गोपनन्दि का उल्लेख है। वहीं गोपनन्दि के सधर्मा तथा धारानरेश भोज द्वारा पूजित प्रभाचन्द्र का भी उल्लेख है। संभवत: ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्डकार ही थे क्योंकि आदिपुराणकार ने लिखा है — 'प्रभाचन्द्र धाराधिप भोज के द्वारा पूजित थे। न्यायरूपी कमलसमूह (प्रमेयकमल) के दिनमणि (मार्तण्ड-सूर्य) थे। शब्दरूपी अब्ज (शब्दाम्भोज) के विकास करने को रोदोमणि (भास्कर) के तुल्य थे। पण्डितरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने वाले सूर्य थे। रुद्रवादि हाथियों को वश में करने के लिए अंकुश के समान थे तथा चतुर्मुखदेव के शिष्य थे।[४]

यहाँ प्रभाचन्द्र का चतुर्मुखदेव का शिष्य होना विचारणीय है। संभव है, धारानगरी में आने के बाद ये प्रभाचन्द्र के द्वितीय गुरु हों। इनके लिए प्रयुक्त पण्डित विशेषण से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में ये गृहस्थ थे परन्तु बाद में मुनि बने थे क्योंकि इनके लिए भट्टारक शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[५] धारानगरी इनकी कर्मस्थली थी और यहीं इन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड लिखा।[६]

समय-विचार

इनके समय के सम्बन्ध में विद्वानों के निम्न विचार हैं —

(१) ई. सन् ८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं ९वीं का पूर्वार्द्ध — इस मत के मानने वाले

हैं डॉ. पाठक, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार आदि। इनके द्वारा इस मत को स्वीकार करने का आधार है जिनसेनकृत आदिपुराण (रचना-काल ई. सन् ८४० के आसपास) का निम्न पद्य –

चन्द्रांशु शुभ्र यशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥[७]

यहाँ चन्द्रोदय का अर्थ न्यायकुमुदचन्द्र किया गया है। इसका खण्डन पं. कैलाशचन्द्र जी ने किया है। हरिवंशपुराण में उल्लिखित प्रभाचन्द्र भी इनसे भिन्न हैं क्योंकि वे कुमारसेन के शिष्य थे और ये पद्मनन्दि के शिष्य।

(२) ई. सन् ८५० से १०२० ई. – इस मत के पोषक हैं पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री। पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य इनका समय ई. सन् ९८० से १०६५ मानते हैं। इन दोनों विद्वानों ने अपने-अपने पक्ष की पुष्टि में कई प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र की प्रशस्तियों में क्रमशः 'श्रीभोजदेवराज्ये' तथा ''श्रीजयसिंहदेवराज्ये' लिखा है। पं. महेन्द्रकुमारजी इनका कर्ता प्रभाचन्द्र को मानते हैं परन्तु पं. कैलाशचन्द्र और मुख्तार जी ऐसा नहीं मानते।

(३) ई. सन् ११वीं शताब्दी – डॉ. दरबारीलाल कोठिया इस मत के पोषक हैं। इन्होंने माणिक्यनन्दि में गुरुशिष्यत्व के साथ समसामयिकत्व को भी सिद्ध किया है। डॉ. हीरालाल जैन तथा डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री भी इसी मत के पोषक हैं।[८]

सुदंसणचरिउ (समाप्ति वि सं. ११००) की प्रशस्ति में नयनन्दि ने माणिक्यनन्दि का उल्लेख किया है। अतः इनका समय ११वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए। वादिभदेवसूरि (ई. सन् १११८ के आसपास) ने अपने स्याद्वादरत्नाकर में प्रभाचन्द्र और उनके प्रमेयकमलमार्तण्ड का उल्लेख किया है। प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र में आचार्य देवसेन के भावसंग्रह (ई. ९४० के आसपास) की ''नो कम्मकम्महारो' गाथा उद्धृत है। अतः इनका समय ई. ९४० के बाद और ई. १११८ के पूर्व होना चाहिए।

रचनायें

डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री ने आचार्य प्रभाचन्द्र की निम्न रचनायें सप्रमाण निर्णीत की हैं।[९]

(१) प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुख-व्याख्या)[१०]

(२) न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय-व्याख्या)[११]

(३) तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण (सर्वार्थसिद्धि-व्याख्या)

(४) शाकटायनन्यास (शाकटायनव्याकरण-व्याख्या)

(५) शब्दाम्भोजभास्कर (जैनेन्द्रव्याकरण-व्याख्या)

(६) प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसार-व्याख्या)

(७) गद्यकथाकोश (स्वतन्त्र रचना)

(८) रत्नकरण्डश्रावकाचार टीका

(९) समाधितन्त्र टीका

(१०) क्रियाकलाप टीका

(११) आत्मानुशासन टीका

(१२) महापुराण टिप्पण

जुगलकिशोर मुख्तार ने रत्नकरण्डश्रावकाचार टीका और समाधितन्त्रटीका को अन्य प्रभाचन्द्रकृत माना है।[१२] प्रभाचन्द्र की रचनायें यद्यपि व्याख्यात्मक हैं परन्तु वे व्याख्या में इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप ले लिया है। वस्तुतः वे अद्‌भुत व्याख्याकार हैं। प्रथम दो रचनायें जैन न्याय की प्रौढ़ रचनायें हैं। इन टीका-ग्रन्थों में प्रभाचन्द्र ने विविध विकल्पजालों का प्रयोग करके परपक्ष का खण्डन किया है। जिन परपक्षों का खण्डन किया गया है उनमें कुछ इस प्रकार हैं –

(१) चार्वाक – भूतचैतन्यवाद, प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद।

(२) बौद्ध – निर्विकल्पप्रत्यक्षवाद, चित्राद्वैतवाद, साकारज्ञानवाद, शून्यवाद, क्षणभंगवाद, अपोहवाद, त्रैरूप्यहेतुवाद।

(३) वैयाकरण – स्फोटवाद, शब्दाद्वैतवाद।

(४) न्याय – वैशेषिककारकसाकल्यवाद, सन्निकर्षवाद, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद, पाञ्चरूप्यहेतुवाद, षट्‌पदार्थवाद, ईश्वरवाद।

(५) सांख्य-योग-इन्द्रियवृत्तिवाद, प्रकृतिकर्तृत्ववाद, अचेतनज्ञानवाद।

(६) मीमांसक – शब्दनित्यवाद, वेद अपौरुषेयवाद, परोक्षज्ञानवाद, अभावप्रमाणवाद।

(७) वेदान्त – ब्रह्मवाद।

(८) श्वेताम्बर – स्त्रीमुक्तिवाद, केवलिकवलाहारवाद।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने इन परपक्षों के प्रस्तुतीकरण में जिन ग्रन्थों का उपयोग किया है, वे हैं – प्रशस्तपा भाष्य (कणादसूत्र पर प्रशस्तपाद का भाष्य), व्योमवती (व्योमशिव की भाष्य टीका), न्यायभाष्य (न्यायसूत्र पर वात्स्यायन का भाष्य), न्यायवार्तिक (उद्योतकरकृत), न्यायमञ्जरी (जयन्तकृत), शावरभाष्य, श्लोकवार्तिक (कुमारिलभट्टकृत), बृहती (प्रभाकर), प्रमाणवार्तिकालङ्कार (प्रज्ञाकरगुप्त), तत्त्वसंग्रह (शान्तरक्षित) आदि।[१२] प्रभाचन्द्र ने इन ग्रन्थों का गहन अध्ययन करके उनकी ही शैली में प्रबल युक्तियों द्वारा उनका खण्डन किया है। इस तरह जैन न्याय में नवीन

शैली को जन्म दिया तथा दर्शनान्तरों में उपलब्ध व्योमवती, न्यायमंजरी जैसे प्रौढ़ व्याख्याग्रन्थों की कमी को पूरा किया। जैन-न्याय के विकास में इनका यह योगदान सदैव याद किया जायेगा। जैन-न्याय के अतिरिक्त जैन-व्याकरण आदि के क्षेत्र में किया गया योगदान भी चिरस्मरणीय रहेगा।

१. प्रभाचन्द्र नाम के अन्य कई आचार्यों का उल्लेख मिलता है। जैसे –

(क) श्रवणबेलगोला के प्रथम शिलालेख में जिन प्रभाचन्द्र का उल्लेख है वह संभवत: भद्रबाहु श्रुतकेवली के शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त हैं। इनका समय वि.स. ३00 से भी पूर्व है।

(ख) आ. देवनन्दि ने जैनेन्द्रव्याकरण में 'रात्रे: कृति प्रभाचन्द्रस्य' द्वारा जिन प्रभाचन्द्र का उल्लेख किया है वे संभवत: वि. की छठी शताब्दी के पूर्व के हैं।

(ग) चालुक्यनरेश कीर्तिवर्मा प्रथम (शक सं. ४८९) ने जिन प्रभाचन्द्र को दान दिया था वे विनयनन्दि आचार्य के शिष्य तथा परलुरु के निवासी थे। इनका समय छठी-सातवीं शताब्दी माना जाता है।

(घ) तत्त्वार्थसूत्रकार बृहत्प्रभाचन्द्र के समय आदि के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इन्होंने गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र का संक्षेपीकरण और सरलीकरण किया है। कहीं-कहीं परिवर्द्धन और परिवर्तन भी है। इनके तत्त्वार्थसूत्र पर अकलंक और पूज्यपाद का प्रभाव परिलक्षित होता है। अत: इनका समय अकलंक के बाद होना चाहिए। इनके नाम के साथ बृहद् विशेषण तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में मिलता है – "इति बृहत्प्रभाचन्द्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे"।

(ङ) अर्हत्प्रवचनसूत्रव्याख्याकार प्रभाचन्द्र बृहत्प्रभाचन्द्र के परवर्ती हैं क्योंकि इन्होंने बृहत्प्रभाचन्द्र के तत्त्वार्थसूत्र का अवलोकन किया है। ऐसा इन दोनों ग्रन्थों की तुलना से ज्ञात है। आचार्य अकलंक देव ने तत्त्वार्थवार्तिक (५.३८) में 'उक्तं च अर्हत्प्रवचनेन लिखकर अर्हत्प्रवचन का उल्लेख किया है परन्तु अर्हत्प्रवचन के साथ जिन प्रभाचन्द्र का नाम है उन्होंने वस्तुत: प्राचीन अर्हत्प्रवचन का व्याख्यान किया है। अत: लिखा है – अथाऽतोऽर्हत्प्रवचनं सूत्रं व्याख्यास्याम।"

(च) चन्द्रोदय के लेखक कवि प्रभाचन्द्र का उल्लेख आदिपुराण में है। देखें पृष्ठ २, टी.७

२. गुरु: श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जन:।
नन्दताद्दुरितैकान्तरजाजैनमतार्णव:॥

श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालय.।

प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयाद्रत्ननन्दिपदे रतः॥ — प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रशस्तिपद्य ३,४ तथा देखें प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र-प्रशस्ति।

३. वही तथा मंगलाचरण १, २

४. श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरश्मिच्छटा-

च्छायाकुङ्कुमपङ्कलिप्तचरणाम्भोजात लक्ष्मीधव ।

न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्ज-रोदोमणि-

स्थेयात्पण्डित-पुण्डरीकतरणिश्रीमत्प्रभाचन्द्रमा ॥

श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्योऽधृष्य प्रवादिभि ।

पण्डितश्रीप्रभाचन्द्रो रुद्रवादिगजाङ्कुश ॥— आदिपुराण १.४७

५. आराधना गद्यकोश कथा ८९ तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र प्रशस्तियाँ।

६. श्रीभोजदेवराज्ये . श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्द्योत-परीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।— प्रमेय., अंतिम प्रशस्ति।

७. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री) भाग ३, पृ. ४८

८. वही तथा भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. ८९, ९१

९. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ. ५०-५१

१०. प्रमेयकमलमार्तण्ड — प्रमेयकमलों को उद्घाटित करने में यह ग्रन्थ सूर्य (मार्तण्ड) के समान है। अत इसका नाम प्रमेयकमलमार्तण्ड रखा गया है। इसमें प्रमाण प्रमाणाभास आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। माणिक्यनंदि के परीक्षामुख में ६ समुद्देश हैं जिनमें २०८ सूत्र हैं। उनकी व्याख्यारूप यह ग्रन्थ १२०० श्लोक प्रमाण बतलाया गया है।

११. न्यायकुमुदचन्द्र — न्यायरूपी कुमुदों को विकसित करने में चन्द्रमा के समान है। इसमें अकलंकदेव के लघीयस्त्रय की व्याख्या करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड की तरह प्रमाण, प्रमाणाभास और प्रमेयों का विशेष विचार किया गया है।

१२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रस्तावना (जुगलकिशोर मुख्तार कृत)

१३. जैनन्याय (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री), पृ ४०

आचार्य शुभचन्द्र और उनका ज्ञानार्णव

❑ *बसन्तकुमार जैन, मेरठ*

दिगम्बर मुनि-जगत में वैसे तो कई शुभचन्द्र हुए हैं, किन्तु हम यहाँ जिन शुभचन्द्र का कथन कर रहे हैं—वे एक महान् दिगम्बराचार्य हुए हैं। उन्होंने अपने त्याग और तप से संसार की असारता को बहुत पीछे धकेल कर आत्मतत्त्व को प्राप्त कर महा- निर्वाण प्राप्त किया है।

आचार्य विश्वभूषण कृत भक्तामर की भूमिका में उक्त आचार्य शुभचन्द्र की एक कथा मिलती है। तदनुसार, ग्यारहवीं शताब्दि के आचार्य शुभचन्द्र का जन्म उज्जैन के राजा सिंहल की रानी मृगावती के उदर से हुआ। कहते हैं कि ये युगलिया भाई थे—दूसरे भाई का नाम था भर्तृहरि। इन्हें वैराग्य कैसे हुआ—इसके बारे में जब हम आगे बढ़ते हैं तो संसार की असारता और राज्यलिप्सा का एक नंगा नाच हमें दृष्टिगत होता है । कथानक इस प्रकार है :

राजा 'सिंह' उस वक्त उज्जैन के शासक थे। इनके कोई सन्तान नहीं थी। निःसन्तान होने का इन्हें बहुत दुख था। एक दिन वनक्रीडा को ये जंगल में गए थे तो लौटते समय इन्हें एक मुंज (एक प्रकार की घास जिसकी प्रायः रस्सी, बाण, आदि बनाये जाते हैं) के झुण्ड में एक बालक अंगूठा चूसते हुए दिखा। तत्काल उसे उठाया और महल में आकर रानी की गोद में रख दिया। गूढ-गर्भ की घोषणा एवं पुत्र-जन्म की चर्चा सब जगह फैल गई। पुत्र-जन्मोत्सव मनाया गया। इसका नाम रखा गया 'मुंज'।

कुछ समयोपरान्त रानी ने गर्भधारण किया और समय आने पर एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम रखा गया—सिंहल। युवावस्था में सिहल का विवाह मृगावती नाम की राजकुमारी से हुआ। इस मृगावती रानी ने समय पाकर युगल-पुत्रों को जन्म दिया—जिनमें ज्येष्ठ—शुभचन्द्र तथा छोटे भर्तृहरि हुए।

राजा मुंज एक दिन वनक्रीड़ा को अपने सामन्तों के साथ गए हुए थे । वहाँ उन्होंने एक तेली को अपने कन्धे पर हल लिये खडे देखा । उससे पूछा — "क्यों भाई, हल लिये यहाँ क्यों खड़े हो?" उत्तर में तेली ने कहा — "महाराज, मैं आपके नगर का तेली हूँ । हल मेरे बलवान होने का चिन्ह है। अगर मैं इसे जमीन में गाड़ दूँ तो कोई भी इसे उखाड़ नहीं सकता।" राजा ने इशारा किया । तेली ने पूरे जोर से हल जमीन में गाड़ दिया । राजा के सामन्तों ने बहुत जोर लगाया किन्तु हल नहीं उखाड़ा जा सका । तब राजा ने स्वयं अपने हाथ से उसे उखाड़ कर एक तरफ डाल दिया।

तेली देखता ही रह गया । राजा ने उसी हल को अपने पूरे जोर से फिर जमीन में गाड़ दिया और आदेश दिया कि अब है कोई इसे उखाड़ने वाला ? सभी ने जोर लगाया किन्तु हल नहीं उखाड़ा जा सका । तब राजकुमार–शुभचन्द्र और भर्तृहरि ने निवेदन किया कि हम इसे उखाड़ना चाहते हैं । तो राजा मुंज को हँसी आ गई इनके बालकत्व पर, किन्तु उपहासपूर्वक उन्हें अनुमति दे दी । शुभचन्द्र ने अपने बायें हाथ से ही इसे उखाड़ फैंका। भर्तृहरि ने कहा – "पूज्यवर, एक बार इसे फिर गाडिये अब की बारी मेरी है।"

राजा मुंज ने प्रकट में तो इनकी सराहना की, किन्तु अन्दर ही अन्दर घबरा गया । वह सोचने लगा कहीं दोनों राजकुमार मेरे राज्य को ही उखाडकर न फेंक दें?

राजमहल में आकर राजा ने तुरन्त मन्त्री को बुलवाया और आदेश दिया कि जैसे भी हो, दोनों राजकुमारों को जंगल में मरवा दिया जाये । मेरे आदेश का पालन शीघ्र हो। मन्त्री ने इस अन्याय को न करने के लिए राजा से बार बार निवेदन किया लेकिन राजा ने न सुनी।

मन्त्री दोनों राजकुमारों को जंगल में ले गया और उनसे सारी बात कह दी। यह भी कहा कि अगर आप चाहें तो ऐसे अन्यायी राजा को पराजित कर राज्य प्राप्त कर सकते हैं ।

शुभचन्द्र ने कहा– "मन्त्रीजी, नहीं ऐसा नहीं। हम पापपुञ्ज अपने सिर नहीं लेना चाहते। हमने संसार की असारता और राज्यलिप्सा का तांडवनृत्य देख लिया है।" --- और दोनों ही उदास हो, वन की ओर चल दिए।

शुभचन्द्र ने तो दैगम्बरी दीक्षा धारण की और भर्तृहरि ने तन्त्र-मन्त्रवादी से दीक्षा ले ली। शुभचन्द्र वैराग्य की ओर अग्रसर हो गए और भर्तृहरि रागमय तप की ओर। कुतप की, तन्त्र-मन्त्रवादिता की साधना से भर्तृहरि ने रससिद्धि प्राप्त कर ली और उस रस को धातु पर छिड़कने से सोना बनाया जाने लगा। यह सिद्धि पाकर भर्तृहरि बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपने भाई की तलाश की। उसे मालूम हुआ कि शुभचन्द्र तो नग्न दिगम्बर साधु हैं। वह बहुत कृशकाय हो गये हैं। तुरन्त उनके पास उस पर्वत पर गया जहाँ आचार्य शुभचन्द्र अडिग तपःसाधना कर रहे थे।

भाई की दीनहीन अकिंचन दशा देख कर वह दुखी हुआ और बोला – "देखो, मैंने तप कर के इतनी बड़ी सिद्धि प्राप्त कर ली है और तुमने यह नंगी दीक्षा लेकर क्या किया? छोड़ो इस दीक्षा को और चलो मेरे साथ।"

आचार्य शुभचन्द्र अपने रागी भाई की ओर देख कर कहने लगे – "अरे भर्तृहरि, अगर सोना से इतना ही मोह, राग था तो राजमहल ही क्यों छोड़ा? तुझे सोना चाहिए ना–ले, कितना सोना चाहता है–" और इतना कह कर अपने ललाट पर चमकती कुछ पसीना की बूँदों को पर्वत पर छिड़क दिया तो सारा ही पर्वत स्वर्ण-मय हो गया। कंकर कंकर सोना सोना हो गया–तब ही से इस पर्वत का नाम स्वर्णगिरि या सोनगिर पड़ गया। भर्तृहरि की आँखें

फटी की फटी रह गईं। वह चरणों में गिर गया। और इस महान् तप की प्रशंसा करने लगा। अपने भाई को राग से विरागता की ओर झुकते देख कर आचार्य शुभचन्द्र ने उसे सम्बोधनार्थ 'ज्ञानार्णव' की रचना की। इसे योगार्णव भी कहते हैं। कहा जाता है कि इसे सुनकर भर्तृहरि ने जिनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली और महान् तप किया।

राजा भोज, कालिदास, मानतुंगाचार्य आदि सब एक समयवर्ती हैं। आचार्य शुभचन्द्र का उल्लेख कालिदास ने भी किया है।

अब हम उस महान् ग्रन्थ को लेते हैं जिसके पढ़ने से वैराग्य जागृत होता है, मुनीश्वरों का तप, ध्यान और योग-साधना में बल मिलता है। यह ज्ञानार्णव विशेषतया मुनीश्वरों को अपने नियमों के प्रति दृढ़ बनाये रखने में विशेष उपयोगी है।

यह तो सत्य ही है कि आचार्य शुभचन्द्र के समय में अविद्या का घोर प्रचार-प्रसार था। जटाजूटधारी साधु भोले-भाले लोगों को बहका कर साधु बनाने में लगे हुए थे। कुधर्म का प्रचार था और जैन धर्म पालने वाले को उस समय बाह्य धर्मावलम्बी कहा जाता था।

ऐसे समय में अपने अडिग तप त्याग से महामुनीश्वर मानतुंगाचार्य ने और आचार्य शुभचन्द्र ने अनेक तपोऋद्धियाँ प्राप्त करके जैनत्व की रक्षा की थी । उन्होंने अपने विशिष्ट वैराग्य से कर्मों की कड़ियाँ काट कर अमरत्व प्राप्त किया था । ऐसे समय में ज्ञानार्णव ग्रन्थ ने रामबाण औषधि का काम किया था और आज भी कर रहा है । उस समय की अविद्या के निवारण के लिए ही अपने प्राथमिक सूत्र में आचार्य ने कहा है–

> अविद्या प्रसरोद्भूताग्रहनिग्रहकोविदम् ।
> ज्ञानार्णवमिमं वक्ष्ये सतामानन्दमन्दिरम् ।।

अर्थात् – अविद्या के प्रसार से उत्पन्न आग्रह रूप पिशाच के निग्रह करने में सिद्धहस्त तथा सत्पुरुषों के लिए आनन्द का मन्दिर रूप ज्ञानार्णव कह रहा हूँ।

आत्मा की शुद्धि की ओर लक्ष्य करके आचार्यश्री ने ज्ञानार्णव में कहा है – यह आत्मा महामोह से कलंकित और मलिन हो रही है। अतः जिससे इसे शुद्धता मिले वही अपना हित है, वही अपना घर है और वही परमज्योति है। यथा–

> अयमात्मा महामोहकलंकी येन शुद्धयति ।
> तदेव स्वहितं धाम तच्च ज्योतिः परं मतम् ।।

आचार्यवर ने ज्ञानार्णव में संसार के मोह-मायाजाल, परिवार और परिजन में फँसे मानव-आत्मा को संबोधित करते हुए कहा है

> पातयन्ति भवावर्ते ये त्वां ते नैव बान्धवः ।
> बन्धुतां ते करिष्यन्ति हितमुद्दिश्य योगिनः ।।

अर्थात्—हे आत्मन्, जो तुझे संसारचक्र में डालते हैं वे तेरे बान्धव नहीं हैं। किन्तु जो मुनिगण तेरे हित की वांछा करके स्नेह करते हैं, हित का उपदेश देते हैं, मोक्ष का मार्ग बताते हैं—वे ही तेरे वास्तव में सच्चे परम मित्र हैं।

भव-भ्रमणनिर्विण्णा भावशुद्धिं समाश्रिता ।
संति केचिच्च भूपृष्ठे योगिनः पुण्यचेष्टिता ।।

ज्ञानार्णव में महामुनीश्वर आचार्य शुभचन्द्रजी ने द्वादशभावना, ध्यान की उपयोगिता, महाव्रतों का परिपालन, रत्नत्रय की प्राप्ति, विभावभावों से निर्वृत्ति आदि का विस्तार से वर्णन किया है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात आचार्यश्री ने कही है कि मन की एकाग्रता, मन की शुध्दि का रखना मुनिगण के लिए उतना ही आवश्यक है जितना मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्मों का निवारण। जिस साधु का मन ठिकाने नहीं है उसे लताड़ देते हुए उन्होंने कहा है :

प्रयासैः फल्गुभिर्मूढ किमात्मा दण्ड्यतेऽधिकम् ।
शक्यते न हि चेच्चेत कर्तुं रागादिवर्जितम् ।।

अर्थात्—हे मूढ प्राणी, जो अपने चित्त को रागादि से रहित करने को समर्थ नहीं है तो व्यर्थ ही अन्य क्लेशों से आत्मा को दण्ड क्यों दे रहा है? क्योंकि रागादिक के मिटे बिना अन्य प्रयास करना निष्फल है।

काम-लिप्सा के रोगी को तो इन्होंने आडे हाथों लिया है । विकार-भावों में लिप्त मनुष्य का स्त्री-संसर्ग छूटना असम्भव है। और स्त्री-संसर्ग महान् दुखों की जड़ है। ना-मालूम आचार्यश्री ने स्त्री के संसर्ग को क्यों विशेष हानिकारक कहा है—शायद इसी लिए कि वह कामुक या स्वार्थपरायणी स्त्री अपने रूप, कटाक्ष, और मीठी वाणी में उलझा कर मनुष्य को तप-त्याग और शील से डिगाने में शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर लेती है । किन्तु जो व्यक्ति दृढ़ है वह इस संसर्ग से दूर ही रहता है । आचार्य श्रीने बहुत लम्बे कथन में स्त्री-संसर्ग की बुराई और स्त्री-कामुकता को नरक की निशानी कहा है। इस विकारदशा से छुटकारा पाने के लिए स्त्री के तन को महान विष का घट कहा है। उसके एक एक स्थान को विनाशकारी चक्रव्यूह कहा है। अगर कोई मुनि अपने तप और त्याग से डिगता है तो उसका कारण उसके दुर्बल मन की चाल तो है ही किन्तु स्त्री-संसर्ग भी एक महाविष है। अन्त में पंच-परमेष्ठी का स्मरण करते हुए आचार्यश्री ने ज्ञानार्णव (ग्रन्थ) को समाप्त किया।

आचार्य मानतुंग और उनकी भक्ति

❑ ब्र. विद्युल्लता शाह, सोलापुर

नेत्रदीपक मणियों की माला का तेज किसी के कहने से नहीं समझा जाता, आँखें अपने आप वह तेज जान लेती हैं। पुष्पों का परिमल बहस-चर्चा का विषय नहीं हो सकता, वायु-लहर क्षणार्थ में खुशबू का अनुभव करा देता है। पूर्णिमा की चाँदनी का सौंदर्य सिर्फ काव्य पढ़कर आनन्दित नहीं करता किन्तु चाँदनी रात में नहाने से मानव आनंदविभोर हो उठता है। उसी तरह भक्तामर-काव्य के बारे में इंद्रियों द्वारा, शब्दों के माध्यम से कुछ भी कहना बेकार होगा। यह श्रीमद् मानतुंगाचार्य की एकमेव कालजयी, अद्‌भुत रचना है। भक्तामर का आस्वाद स्वसंवेदनगम्य ही है। इस अतिपरिचित/चर्चित स्तोत्र के अलावा 'भयहर णमिऊण स्तोत्र' प्राकृत भाषा में आचार्य मानतुंग का (२४ पद्यों का) 'तीर्थंकर भक्तामर' विशेषांक में प्रो. विद्याधर जोहरापुरकर के नाम से देखने में आया है। लेकिन दिगंबर समाज को वह अज्ञात है।

'एकश्चन्द्रः तमो हन्ति, न च तारागणैरपि।' स्तोत्र-साहित्य के नभोमंडल में यही एक स्तोत्ररूपी चन्द्रमा कालजयी होकर जगमगा रहा है।

भक्तामर की महिमा अपार है

शब्दशिल्पी मानतुंग आचार्य ने अपने मनोमंडल में समवसरण की अनुपम रचना साकार की है। निज कारण परमात्मा, जो अनादि अनंत, स्वयंसिद्ध, स्वयंभू भगवान् आदिनाथ का प्रतीक है, उसी की सस्थापना मनोमंदिर में की है। अत भक्तामर की महिमा यूँ कही जाय तो अतिशयोक्ति बिल्कुल नहीं होगी—

"अन्धाः पश्यन्ति रूपाणि शृण्वन्ति बधिराः श्रुतिम्।
मूकाः स्पष्टं विभाष्यन्ते, चक्रम्यन्ते च पंगव.॥

जहाँ अंतश्चक्षु खुल जाते हैं, वहाँ अनादि मोहमहातमोराशि भाग जाती है। अंतरंग अनंतचतुष्टयों की विभूतियाँ झलकती हैं, अंतर्निनाद, आत्मा की पुकार सहज सुनने में आती है। काव्य-प्रतिभा मुखरित, स्पंदित होती है। आलंबन सहज छूटकर स्वावलम्बन की झलक पर सारा कुबेर का कोष मानो न्योछावर हो जाता है। मानतुंग भक्त को अमर करने का 'भक्तामर' नाम सार्थ है। जैन समाज के घर-घर में इस स्तोत्र को हर एक ने गले का हार बनाया है। अनपढ़ भी और साक्षर विद्वान् भी इस भक्तिकाव्य की सुरक्षित माला पहनकर कृतार्थ होते हैं।

भक्ति और प्रभाव

भज् धातु से भक्ति शब्द बना है। भजनं भक्ति। भज्यते अनया इति भक्तिः। भजन्ति अनया इति भक्ति.। कई रूपों में व्युत्पत्ति इस शब्द की हो सकती है। प्रार्थना, स्तुति, स्तवन, श्रद्धा, विनय, वन्दना, आदर, नमस्कार, आराधना, प्रणाम, दर्शन, पूजन, मंगलाचरण आदि द्वारा भक्ति प्रदर्शित होती है। इसमें इष्ट, प्राप्य साध्य के प्रति तीव्र गुणानुराग होता है। इनके प्रति मन, वचन, काय से जो भी क्रियाएँ की जाती हैं, सारी भक्ति में गर्भित हैं।

अनाकुल, निरामय, शाश्वत आनंद की प्राप्ति के लिए भक्ति की जाती है। सर्वोत्कृष्ट भक्ति पंचपरमेष्ठी स्वरूप वीतरागी आत्माओं की है, जिससे परमानंद की उपलब्धि नियम से होगी। साधन की उत्कृष्टता से साध्य की उत्कृष्टता प्रमाणित होती है। विशुद्ध, निरपेक्ष भावों द्वारा की गई वीतरागी आत्मा की भक्ति से भक्त व भगवान के बीच का अंतर समाप्त हो जाता है।ऐसी भक्ति प्राणी को जन्म-जरा-मृत्यु की भँवरों से निकालकर भवसागर से पार कराने में समर्थ होकर मुक्ति मार्गपर दीपस्तम्भवत् होती है। भ. आदिनाथ प्रथम तीर्थंकर की भक्ति श्रीमत् मानतुंगाचार्य ने 'भक्तामर स्तोत्र' के ४८ पुण्यश्लोकों द्वारा की है। वह वाणी इतनी अमृतस्रावी है कि आज तक कई भक्त उस स्तोत्ररूपी अमृतकलश को लेकर अमर हो गए, होते हैं और भविष्य में यावत् चंद्र-दिवाकर अमृतत्व को पाएँगे।

मानतुंगाचार्य का काल

ऐसे कालजयी स्तोत्रकार के कालनिर्णय की बात इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है। लेकिन जिस परिस्थिति में स्तोत्र की रचना हुई उसे जानने से हमारी भाव-विशुद्धि में अधिक उजलापन आता है।

ईसा की प्रथम शताब्दी से लगभग १० मानतुंग के नाम मिलते हैं। इतिहासज्ञों के मत से राजा हर्षवर्धन के समकालीन भक्तामर के कर्ता मानतुंगाचार्य थे। अतः पं. रतनचंदजी कटारिया ने ईसा की ७वीं शताब्दी काल स्वीकृत किया है। भक्तामर स्तोत्र के संस्कृत टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य की टीका से पता लगता है कि वे भोज राजा के समकालीन हुए हैं। इसकी पुष्टि कई विद्वानों ने की है। भोज राजा का समय १०१८ से १०६० तक माना गया है। श्री विश्वभूषण आचार्य की संस्कृत भक्तामर कथा के प्रारंभ में शुभचन्द्र-भर्तृहरि की कथा है। इससे मानतुंग शुभचन्द्र, भर्तृहरि, और राजा मुञ्ज के समकालीन थे और उत्तराधिकारी राजा भोज ही थे।

निर्णय यह होगा कि भक्तामर स्तोत्र की रचना ई.स. ११वीं शताब्दी की है। लगभग एक हजार वर्षों से सहस्रदलकमलिनी की भाँति यह स्तोत्र भक्तों के हृदयकमल को उल्लसित व पुलकित कर रहा है।

जाति तथा कुल

मूलतः ब्राह्मण जाति में जन्म लेकर श्वेतांबर साधुभेष उन्होंने धारण किया था। साधु-अवस्था में दुस्तर व्याधि के वे शिकार बने, तब किसी दिगंबर करुणानिधान साधु का निमित्त पाकर वे व्याधिमुक्त हुए। तब दैगंबरी महादीक्षा धारण की। "परमात्मनो गुणगण-स्तोत्रं विधीयताम्" यह गुरु का आदेश शिरोधार्य मानकर मानतुंग ने इसी भक्तामर या आदिनाथ-स्तोत्र की रचना की।

स्तवन की सातिशयता

"मुक्तिप्रदेण स्तोत्रेण दुर्लभः किं तुषोत्करः?" मुक्ति की क्षमता जिस स्तवन में है— उससे भूसे की राशि दुर्लभ कैसे होगी?

निश्रेयस् अर्थात् मोक्षसुख, शाश्वत, निराकुल आनंद-प्राप्ति का स्तोत्र जिनेन्द्रदेव की भक्ति से प्रवाहित होता है। तब सांसारिक क्षुद्र बातों की क्या कथा? भक्त सभी सांसारिक शुभाशुभ विकल्पों से मुक्त होकर, परमात्मा का आलंबन लेकर, निरालंबनस्वरूपी आत्मा का ध्यान करता है तब स्वयं उपास्य-उपासक भाव अभिन्न हो जाता है। कहा है—

> यः परात्मा स एवाहं योऽहं परमस्तथा।
> अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥

बीजस्वरूप निजकारण परमात्मा की भक्ति ही निज परमात्मा की अभिव्यक्ति है। ऐसी भक्ति में सारे राग, द्वेष, मोह तम की राशियाँ सहज ही पिघल जाती हैं और साथ ही सारा पथ आलोकित हो उठता है।

भक्ति-माहात्म्य

> एकापि समर्थेयं जिनभक्तिः दुर्गतिं निवारयितुम्।
> पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥

अर्थात् अकेली जिनेन्द्रभक्ति दुःखद गति अवस्था का निवारण करने में समर्थ है। पुण्यसंचय और मुक्ति संपदा को वही देती है। पं. आशाधरजी कहते हैं—शुभभावमग्नता से बलशाली अंतराय कर्म की शक्ति ढीली होती है। गुणानुरागवश की गई अर्हतादि की भक्ति से इष्ट-प्राप्ति नियम से होगी।

प्रतिदिन हम दर्शनपाठ में कहते हैं—

> विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति, शाकिनी-भूतपन्नगाः।

विषं निर्विषतां याति, स्तूयमाने जिनेश्वरे॥

इस स्तोत्र-रचना से जुड़ी हुई किंवदन्ती की ओर ध्यान जाता है तब ज्ञात होता है कि मानतुंगाचार्य को उनके विद्वेषियों के कहने से राजा ने कारागार में ४८ तालों के भीतर बन्द कर दिया था। आचार्यश्री ने समताभाव का आलंबन लेकर उस समय स्तवनद्वारा भ. आदिनाथ की आराधना की जिससे प्रत्येक श्लोक के साथ एक एक ताला अपने आप खुलता गया। अन्त में वे कारागृह से मुक्त हो गये। राजा तथा सारी प्रजा उनकी अनुयायी बन गयी। इस चमत्कार का आधार भक्तामर स्तोत्र का ४६वाँ श्लोक कहते हैं– "आपाद-कंठमुरु-शृंखल-वेष्टितांगाः" इससे बेड़ियों से जकड़े मनुष्य के बंधन मुक्त होने की घटना सूचित होती है। इस कथा में सत्य और तथ्य का अंश चाहे कितना भी हो, पर एक बात ध्रुव सत्य है कि ज्ञानी इसके द्वारा ज्ञानसाधना करता है, अल्पज्ञानी स्तवन समझकर भक्ति से पाठ सुनता है। कर्मशील व्यक्ति कर्तव्यभाव को अपनाता है, प्रेरणा लेता है। किसी धर्म, जाति, पंथ, मत आदि के कोठों में इस स्तोत्र की महिमा बन्द नहीं की जा सकेगी।

भक्ति की निर्मलता उसमें सातिशयता लाती है। सती चंदना की हथकड़ियाँ भ. महावीर के प्रति अटूट निष्ठा से टूट गई थीं, वहाँ साक्षात् तीर्थंकर महावीर सामने खड़े थे। किंतु आचार्य समंतभद्र कहते हैं– स्तुति करते समय स्तुत्य वस्तु साक्षात् हो या न हो, फलप्राप्ति नियम से होगी। शुभपरिणामों का कारण स्तोता की स्तुति है। इस प्रकार स्वाधीन कल्याणमार्ग सुलभ होने पर कौन समझदार व्यक्ति जिनेन्द्र की स्तुति नहीं करेगा?

- स्वयंभूस्तोत्र में नमिजिन की स्तुति करते हुए कहा गया है–

स्तुति स्तोतु साधो कुशलपरिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्य फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीनाज्जगति सुलभे श्रेयसपथे॥
स्तुयान्न त्वां विद्वान्सततमपि पूज्यं नमिजिनम्॥११६॥

ऐसे परीक्षा-प्रधानी आराधक थे मानतुंग।

सभी स्तोत्रों में आराध्य २४ तीर्थंकर वीतरागी भगवान हैं। वैसे कहने में भ. आदिनाथ की स्तुति भक्तामर काव्य द्वारा कही जायेगी। किन्तु यह स्तवन सभी तीर्थंकर एवं अर्हत् भगवान आत्मा से संबद्ध है। क्योंकि सभी परमात्माओं के अनंत गुणों का समानता से मूल्यांकन किया जाता है।

परीक्षा-प्रधानी आराधक में श्रद्धा के साथ गुणज्ञता आवश्यक है। आज्ञा-प्रधानी होते हुए भी परीक्षा-प्रधानी रहना आचार्यश्री की विशेषता है।

भक्तामर के पहले दो श्लोकों में मानतुंग भाव प्रगट करते हैं– "हे भगवन्! मैं तो जगत्

की किसी वस्तु-प्राप्ति के लिए आपकी भक्ति नहीं करूँगा। किन्तु विविध ऋद्धि-संपन्न सुरेन्द्र हो या वैभवशाली नरेन्द्र हो सभी को सच्चे सुख-प्राप्ति के लिए आपके ही चरणों का आश्रय लेना पड़ता है। हे प्रभो! आप तो निरीह हैं, चाहे पुण्योदय से प्राप्त सारा वैभव समर्पित किया जाय या पापोदय में दीन दुःखी जनद्वारा चरणों का आश्रय लिया जाय—दोनों के लिए आप ही तरणतारण शरण हैं। इसीलिए मैं तो न पाप के डर से भक्ति कर रहा हूँ और न पुण्य के लोभ से विवश होकर। पुण्य-पाप से पार लगने के लिये सम्यक् रूपसे भक्ति करूँगा।" भक्ति का आधार सम्यक् रत्नत्रय साधना की भावना है। इसमें मन-वचन-काय की सरलता एवं निर्मलता है।

मणिमुक्ता चाहूँ नहीं, नहीं राज-सम्मान।
इक मैं चाहूँ चरितयुत जीवन शुद्ध महान्॥

भक्त को कोई भी चाह-दाह नहीं है, अतः निर्व्याज-निरपेक्ष सहज भक्ति का आलंबन लिया गया है।

भक्त की संभ्रमावस्था

भक्त कहता है—हे भगवन्! मैं आपके गुणों की सही-सही स्तुति नहीं कर सकता क्योंकि थोड़े गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर कहना 'स्तुति' कही जाती है। आपके गुण तो अनंत हैं अतः कैसे स्तवन करें? आगे मानतुंग स्वयं कहते हैं—

द्वादशांगवाणीधारक इन्द्र भी आपकी स्तुति नहीं कर सकता। फिर अल्पज्ञ मेरी क्या शक्ति होगी?

आचार्यदेव श्री मानतुंग के विनय एवं वात्सल्य गुणों का प्रतिबिंब श्लोक ६ तक झलकता है। स्वयं प्रज्ञावान होकर भी अपनी तुलना द्वादशांगपाठी इन्द्र से की है। गणधरों से तुलना नहीं की, क्योंकि वे निर्ग्रन्थ परमश्रेष्ठ विभूति हैं लेकिन चतुर्थ गुणस्थान का इन्द्र भी आचार्यश्री के वात्सल्य एवं साधर्म्य की भावना का दिग्दर्शन करता है। सम्यक्दृष्टि के अष्टांगों में आचार्यदेव की भक्ति बलशाली सागर के समान 'गरिमामयी' ज्ञात होती है। निःशंक होकर, दुर्बल शरीर की परवाह न रखते हुए हिरणी जैसे वनराज सिंहपर झपटती है, वैसे ही भक्तिवश गुणानुराग की उत्कटता से भगवान का स्तवन करते हैं। उनकी भक्ति का प्रयोजन भय, आशा, लोभ, स्नेह आदि नहीं है। विरागी बालक जैसी भक्ति सहज मुखरित हो रही है। बसंत ऋतु में आम्रमञ्जरी आने पर कोयल जैसी कुञ्जन करती है वैसे गुणानुरागी आचार्यश्री अर्हद्भगवान आदिनाथ का स्तवन-विनय करते हैं।

बहिरंग-अंतरंग भक्ति का लाभ

भक्ति से भव-भव के बंधन टूटकर अपूर्व पुण्य होता ही है। अंतरंग से भक्ति करने का तो फल साक्षात् मुक्तिलक्ष्मी का लाभ है लेकिन अगर कोई अनजान में पाठ-पठन, शब्दोच्चार भी करता रहे तो उसे भी अलभ्य लाभ प्राप्त होगा। आचार्य दृष्टांत द्वारा समर्थन करते हैं। कमलपत्र पर ठहरा जलबिंदु भी मोती की शोभा को प्राप्त होता है। भक्ति के लिए गहराई से पांडित्य-दर्शन की जरूरत नहीं। भावविभोर होकर लिया हुआ भगवान का नामोच्चारण भी कार्यकारी है, जैसे सहस्रकिरणपुंज सूर्य जमीन की कमलिनी को दूर से विकसित कर देता है। यह निमित्त-नैमित्तिक कार्य भक्ति का रहस्य ही है।

निष्ठा से दृढ़ता

अपने इष्ट की महिमा ज्ञात होने पर सबसे अधिक तीव्र अनुराग वृद्धिंगत होता है। और पूरे विश्वास के साथ आचार्यश्री स्वय साक्षी दे रहे हैं—

पीत्वा पय शशिकरद्युति-दुग्धसिन्धो ।
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत्।

दृढ़ निश्चय के साथ बोल उठते हैं, शब्दों में अंकित हो जाता है — हे भगवन्, आपकी भक्ति से मैं च्युत होकर इधर-उधर भटकता रहूँ यह त्रिकाल में भी संभव नहीं। आपका कांतिमान् शरीर जिन परमाणुओं से बना है, वे शांत परमाणु इस जगत में उतने ही थे। अतः आप जैसी शांतिमूर्ति अन्यत्र असंभव है। अत मेरे उपास्य अन्य नहीं हो सकते। इस तरह भगवान की व्यवहारनयाश्रित स्तुति भी आलंबन स्वरूप है। अत आचार्य कहते हैं—

अन्य देवी-देवताओंके पास आप जैसा बाह्य वैभव भी नहीं है फिर आन्तरिक वैभव तो कहाँ से होगा? सूरज का तेज जैसा रत्न पर स्फुरित होता है वैसा काँच के टुकड़े पर नहीं।

अपने जीवन की पूर्व-घटना के प्रति संकेत करके मानो आचार्य स्वयं कहते हैं—अच्छा हुआ मैंने सरागी अन्य देवी-देवताओं को पहले देखा और बाद में वीतरागी प्रभु के दर्शन का अवसर पाया। अब भवभवांतर में भी मेरा मन भटक नहीं सकेगा; इसीलिए हे भगवन्, आप ही शंकर, ब्रह्मा, महेश, विष्णु, बुद्ध, अव्यय आदि सब कुछ हैं। इतनी भगवत् महिमा जानकर मानतुंग की कविकल्पना विलास करती है— सारे सद्‌गुणों ने भगवान को व्याप्त किया फिर दुनिया में दोषों के लिए स्थान कहीं न कहीं मिलना चाहिए अत अन्यत्र बेचारे दोषों ने स्थान पाया होगा। स्वप्न में भी दोषों को आपका दर्शन नहीं हुआ होगा।

'भक्तामर स्तोत्र' में अष्टप्रातिहार्यों का वर्णन भी अनूठे ढंग से किया है (२८ से ३६)। यहाँ बहिरंग विभूतियों की महिमा आती ही है। उपसर्ग और परीषहों में रत्नत्रय संपन्न भक्ति

की परीक्षा होती है। चाहे कितनी भी घनघोर संकटों की भीड़ हो, उपसर्गों के कष्टों ने घेर लिया हो तो भी मानतुंग जैसे आचार्य की भक्ति मेरुतुल्य अडिग, अचल रही। इसकी झलक भी (४७ वें काव्य के द्वारा जो संकटशृंखला, मदोन्मत्त हाथी, आक्रामक सिंह, धधकती दावाग्नि, काले नाग, भीषण संग्राम, क्षुब्ध वारिधि, असाध्य जलोदर, तथा कठोर कारावास भयनाशों का विश्वास दिलाकर आश्वसित किया है) इसमें स्पष्ट प्रतिबिंबित हो रही है।

मानो उनकी भक्ति ने अंतराय कर्म चूस लिया है। सभी विघ्न-बाधाओं ने सहज ही पलायन किया है।

अंतिम पद्य द्वारा आचार्यश्री स्वयं सभी पाठकों को विश्वास के साथ कह रहे हैं—

स्तोत्रस्रजं तव जिनेंद्र! गुणैर्निबद्धां
भक्त्या मया विविधवर्ण-विचित्र-पुष्पाम्।
धत्ते जनो इह कण्ठगतामजस्रं
तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मी ॥

हे जिनेंद्र! यह स्तवनरूपी गुणों की माला विविध वर्ण, शब्दों द्वारा गुंफित की गई है। इसे भक्ति से जो कोई अपने कंठ में हमेशा धारण करेगा उसे उत्तुंगलक्ष्मी अनायास प्राप्त होगी।

इस प्रकार मानतुंगाचार्य का यह स्तोत्र प्रत्येक भक्तों के लिए एक अनुपम देन एवं शाश्वत धरोहर है।

भक्तामर रत्नाकर है

भक्तामर का प्रत्येक शब्द रत्नों से भी ज्यादा मूल्यवान् है। प्रत्येक श्लोक की भाव-गरिमा हमें भावविभोर कर देती है। परम शांत प्रसन्नता का आस्वादरूप स्तोत्र-पठन कर लेनेपर इंद्रियों के सारे रस फीके पड़ जाते हैं। भगवान की स्तुति रूप गागर में, अनंत गुणों का सागर समाकर यह अमृत-घट हमें आचार्यश्री मानतुंग ने आकंठ प्राशन करने के लिए दिया है, जिसकी एक बूँद भी प्राशन करने पर हमारी सारी चाहरूपी तृष्णा मिट सकती है और हम अमरत्व की ओर बढ़ सकते हैं।

इस स्तोत्र की रचना चाहे बन्धन-अवस्था में हुई हो या चाहे इसके पूर्व, लेकिन सारे विकल्पों को शांत करने का अद्‌भुत सामर्थ्य इसमें भरा है। किसी भी हालत में, यह स्तोत्र रामबाण औषधि का काम करता है।

आचार्यश्री के भक्ति के चमत्कारी पहलू ये हैं—

(१) 'सम्यक् प्रणम्म' सम्यक् अव्यय — साध्य तथा साधन दोनों के लिए संकेत करता है। साध्य — वीतरागी प्रभु आदिनाथ कार्य परमात्मा के आदर्श में निज कारण परमात्मा का स्वरूप

निहारना है। सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मार्ग को अपनाना है।

(२) अपनी लघुता मंजूर पहले करो। बड़प्पन की उम्मीद रखो। भक्त नहीं भगवान बनेंगे — इस प्रकार की गर्वोक्ति छद्मस्थ को शोभा नहीं देती। इसके अतिरिक्त, हम भक्त ही रह कर मौजमें रहेंगे तो भी काम नहीं बनेगा। साधन से साध्य की प्राप्ति नहीं तो वह भी व्यर्थ रहेगा। सच्ची भक्ति भक्त को भगवान बनाये बिना नहीं रहेगी।

(३) आराध्य सर्वोत्तम, निर्दोष, सर्वगुण-संपन्न, सर्वज्ञ, हितोपदेशी हो तो हमारी भक्ति का प्रवाह अवरुद्ध नहीं हो सकता, इसलिये भक्ति में जब सफलता नहीं दिखती तब आराध्य संबंधी या आराधना में ही भूल समझना चाहिए।

भक्तामर-स्तोत्र और मंत्रशक्ति

भक्तामर स्तोत्र की सातिशयता भक्त के निर्मल हृदय से अनुस्यूत वाक्-स्तोत्र में ठसाठस भरी है। उन मंत्राक्षारों के बीज खोजकर कई साधकों ने ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त की है।

प्रत्येक श्लोक यंत्रमय बनाया है। मंत्रव्याकरण तथा व्युत्पत्ति शास्त्रानुसार मंत्रों की निर्मिति की गई है। शायद स्वयं मानतुंगाचार्यजी ने भी इस तरह इसे आपत्ति में प्रयोग किया होगा। केवल भट्टारक महोदय के माथे मंत्रतंत्र के दुष्परिणाम या अंधश्रद्धा के दोष मढ़ना युक्त नहीं। यदि मानतुंगाचार्य को निस्सीम भक्त के साथ मंत्रविद् कहें तो उनकी गरिमा बढ़ जाती है। धर्म-प्रभावना, विघ्न-व्याधि-निवारण भावना से जनमानस मंदिर में आदर-निष्ठा का सिंहासन सहज ही पाते हैं। अवैध-मार्ग से जारण-मारण-वशीकरण आदि तथा आजीविकादि मार्ग में मंत्रतंत्र का आलंबन महाव्रती मुनि के लिए तो सर्वथा निषेध है ही, श्रावक के लिए भी वह अकार्य है। स्वपर वात्सल्य भावना से इस स्तोत्र की रचना हुई है। भक्त के ऊपर अतिदुष्कर बाधाएँ मँडराने पर भी वह अडिग रहे ऐसी व्यवस्था स्तोत्र में सूरीश्वरजीने स्वयं की है।

संस्कृत भाषा में वसंततिलका वृत्त में सुगम भाषा में सुगेय बनाकर भक्तामर स्तवन प्रत्येक व्यक्ति को कंठहार के समान अलंकृत करता है।

भक्तामर स्तोत्र का भक्त जितना परिमंथन करता रहेगा उतना मर्म-रहस्य बोध खुलकर लाभ ही लाभ प्राप्त होगा। इस मृत्युंजयी, कालजयी स्तोत्र की महिमा अपार है। स्तोत्र की आशिका भक्त को बतलाती है—

"भक्तामर की आशिका, लीजे शीश चढ़ाय।
भव-भव के पातक कटें, दुःख दूर हो जाय॥"

वसंततिलका मधुर वृत्त में जब हम भक्तामर स्तोत्र का स्वयं पाठ करते हैं या सुनाया जाता है, तब कर्णमधुर ध्वनि से सारा वातावरण प्रफुल्लित हो उठता है, हमारे मानसोद्यान में ऋतुराज

बसन्तोत्सव का शुभागमन हो जाता है। भावभक्ति की कोयल कुंजन कर रही होती है, आत्मगुणों की आम्रकलिका फूलकर महक से मुग्ध कर देती है। हम सहज ही भगवान को हृदय सिंहासन पर विराजमान करते हैं, मनमयूर आत्मोत्थान देखकर आनंद से नाचने लगता है-ऐसी भावभीनी महिमा की गरिमा प्रतिदिन नियम से भक्तामर का पाठ सुनने सुनाने के लिए विवश करती हो तो आश्चर्य क्या।

इस स्तोत्र द्वारा पूज्य श्री मानतुंगाचार्य के प्रगतिशील, अनुभूतिशील जीवन का लिपिबद्ध आविष्कार-साक्षात्कार हुआ है। काव्य ही नहीं, बल्कि यह जीवन का महाकाव्य है जिसमें उनकी भूतकाल की वास्तविकता, वर्तमान की गतिशीलता एवं भविष्य के लिये आदर्शोन्मुखी वृत्तियाँ झलकती हैं।
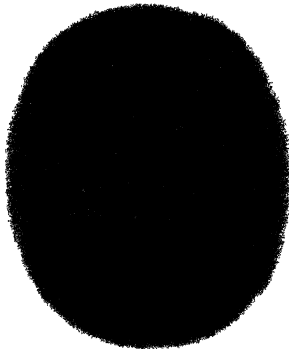
आचार्य कुमुदचन्द्र और उनका भक्तिकाव्य

❑ पं .कोमलचन्द्र जैन, लोहारिया

आदिकाल से मानव किसी न किसी दृश्य व अदृश्य शक्ति का उपासक रहा है, कारण वह स्वसुख (आत्मसुख) ही नहीं, पारिवारिक लौकिक शान्ति भी चाहता है। पर यहाँ प्रश्न है कि शक्ति-उपासना वा भक्ति क्यों की जाती है तथा उसका स्वरूप क्या रहा है। इन प्रश्नों को, विशेषत. जैन-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में, समझने का प्रयास करेंगे।

भक्ति के स्रोत व महिमा को समझने से पूर्व भक्ति शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थग्रहण कर लेना भी अपेक्षणीय है। संस्कृत व्याकरण में भक्ति शब्द भज् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है जिसका मूलत· अर्थ है सेवा करना। किन्तु शनै शनै· यह शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

अर्थात् 'पूजादिष्वनुराग भक्तिः' पूजादि में अनुराग होना भक्ति है। भक्ति का स्वरूप, उसकी महिमा का जैन संस्कृति के अतिरिक्त इतर संस्कृति (वैदिकादि) में भी बहुमात्रा में उल्लेख है। भक्ति के विपुल भण्डारों के आधार पर पृथक् पृथक् लेख लिखे जा सकते हैं। जैन दर्शन में वीतराग देव की भक्ति की प्रधानता है। इतर संस्कृति में सरागदेवों की भक्ति की मान्यता है। जैन संस्कृति में सराग-भक्ति और वीतराग-भक्ति ये दोनों रूप पाये जाते हैं।

सम्यग्दर्शन के परिणामस्वरूप देव, शास्त्र, गुरु के प्रति जो शुभ राग रूप भक्ति है वह सराग-भक्ति है। सम्यग्दर्शन के परिणाम-स्वरूप जो वीतराग स्वरूप तल्लीनता है वह वीतराग-भक्ति है। वैदिक संस्कृति में निर्गुण भक्ति उपासक, सगुण भक्ति उपासक संत हुए हैं। सूरदास की कृष्णभक्ति, सौख्यभक्ति है। तुलसीदास की रामभक्ति दास्यभक्ति है। ये सगुण भक्ति उपासक थे। कबीरदास जी निर्गुण भक्ति के उपासक हुए हैं।

जैन संस्कृति में, भक्ति की प्राचीनता अनादि से है। श्री आदिनाथ भगवान् के समय में तीन वर्ण थे। चतुर्थ वर्ण (ब्राह्मण वर्ण) की उत्पत्ति भरत चक्रवर्ती के समय में हुई अतः जैन संस्कृति में भक्ति की प्राचीनता सिद्ध होती है। विभिन्न जैनाचार्यों ने भक्ति की महिमा व स्वरूप को निम्न प्रकार दर्शाया है—

जैन धर्म-दर्शन में भक्ति की बड़ी प्राचीन परम्परा रही है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'सीलपाहुड' में शुभ भक्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है—

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं।

सीलविसय विरागो णाणं पुण केरिसं भणियं॥

अर्थात् अरहंत में शुभ भक्ति सम्यग्दर्शन है। इस भक्ति का कारण जो है वही शील है। वह शील ही ज्ञान है और इससे भिन्न ज्ञान क्या हो सकता है?

(१) जिनेभक्तिर्जिने भक्ति र्जिने भक्ति सदास्तु मे।
सम्यक्त्वमेव संसार-वारणं मोक्षकारणम्॥

(२) श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः सदास्तु मे।
सज्ज्ञानमेव संसारवारणं मोक्षकारणम्॥

(३) गुरोर्भक्ति गुरोर्भक्ति गुरोर्भक्ति सदास्तु मे।
चारित्रमेव संसार-वारणं मोक्ष-कारणम्॥

अर्थात् मेरी जिनेन्द्र, शास्त्र और गुरु में भक्ति हो, भक्ति हो, भक्ति हो सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र ही संसार-निवारण करने वाले हैं, मोक्ष के कारण हैं। अत अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंचपरमेष्ठी के गुणों के प्रति पूजन, स्तुति, स्तोत्र, आरती, भजन-गुणानुवाद आदि करना भक्ति, पूजा या उपासना है। उपर्युक्त आराध्य पंचपरमेष्ठी भगवान की उपासना या भक्ति जब यह उपासक लोकेषणा, वित्तैषणा पुत्रैषणा आदि की प्राप्ति हेतू करता है वह सकाम भक्ति है। जब भक्ति करने वाला किसी भी प्रकार की चाह नहीं रखता, वीतराग भाव से भक्ति करता है, तब वह निष्काम भक्ति कहलाती है। यही कारण है कि मानव भक्ति के माध्यम से, अपने मनोरथों की सिद्धि प्राप्त करता है। जिनेन्द्र में भक्ति रखने वाला मनुष्य (सम्यग्दृष्टि) अपरिमित देवेन्द्र समूह की महिमा को तथा राजाओं के मस्तकों से वन्दनीय चक्रवर्ती पद, यहाँ तक कि तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है। इस अपार संसार से पार होने के लिए अत्यन्त मजबूत परम श्रेष्ठ, पवित्र, यथार्थ भक्ति रूपी नाव ही है।

यह भव समुद्र अपार तारण के निमित्त सुविधि ठही।
अति दृढ़ परम पावन जथारथ भक्ति वर नौका सही॥

जैन परम्परा में स्तोत्र एवं भक्तिपरक, स्तुत्यात्मक ग्रन्थों के रचयिता अनेक आचार्य हो गए हैं, हो रहे हैं। बहुविख्यात स्तोत्रकर्ता आचार्य समन्तभद्र, मानतुङ्ग, वादिराज, कवि धनंजय आदि ने स्तोत्रों की रचना, भक्ति विभोर होकर की है। ऐसे ही आचार्यों की श्रंखला में श्री कुमुदचन्द्राचार्य हुए हैं जिन्होंने 'कल्याणमन्दिर' स्तोत्र की रचना की है। कल्याणमन्दिर, स्तोत्र मंत्रपूत कृति है। इसमें भगवान पार्श्वनाथ का गुणानुवाद है अत इसे 'पार्श्वनाथ स्तोत्र' भी कहते हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इस स्तोत्र का कर्ता सिद्धसेन दिवाकर को बतलाया गया है और उनका अपर नाम कुमुदचन्द्र माना है। दोनों सम्प्रदाय (दिगम्बर-श्वेताम्बर) कल्याण मन्दिर स्तोत्र के कर्ता कुमुदचन्दाचार्य को स्वीकार करती है, लेकिन दिवाकर सिद्धसेन का अपर नाम कुमुदचन्द्र

किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता।

प्रस्तुत स्तोत्र के अध्ययन से दिगम्बर सम्प्रदाय के पक्ष में यह कृति सिद्ध होती है। दिगम्बर सम्प्रदाय में तीर्थंकरों के आठ प्रातिहार्य माने गए हैं, जिनका वर्णन श्लोक नं. उन्नीस से छब्बीस तक प्राप्त है, जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चार प्रातिहार्य माने गए हैं। दुन्दुभिबाजे, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और दिव्यध्वनि ये चार प्रातिहार्य नहीं माने हैं। अतः यह दिगम्बर आचार्य की कृति सिद्ध होती है। द्वितीय तथ्य यह है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में सातवें, तेईसवें, चौबीसवें (सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर) इन तीन तीर्थंकरों को सोपसर्गी माना है।

जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मात्र अन्तिम तीर्थंकर (महावीर) को सोपसर्गी और शेष तेईस तीर्थंकरों को निरुपसर्गी माना है। प्रस्तुत स्तोत्र में तीर्थंकर पार्श्वनाथ (तेईसवें) को बैरी कमठ के शम्बर यक्षेन्द्र द्वारा किये गये उपसर्गों का वर्णन श्लोक क्र. इकतीस से तैंतीस तक किया गया है। इससे स्पष्ट है कि 'कल्याण मन्दिर स्तोत्र' के कर्ता कुमुदचन्द्राचार्य दिगम्बर आचार्य थे।

कुमुदचन्द्राचार्य के जीवनवृत्त व समय-निर्धारण के सम्बन्ध में विभिन्न लेख प्राप्त होते हैं।

गुजरात के जयसिंह सिद्धराज की सभा में वि. सं. ११८१ में श्वेताम्बरीय विद्वान् वादिसूरि देव के साथ वाद हुआ था। संभवत इस स्तोत्र की रचना १२ वीं शताब्दी में हुई हो। इतिहास वेत्ता (स्व.) डॉ. ज्योतिप्रसाद लखनऊ ने प्रस्तुत आचार्य का समय ११२५ ईस्वी सन् निश्चित किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में सन्मतिसूत्र और कल्याण-मन्दिर स्तोत्र के रचयिता सिद्धसेन को बताया है। इनके नाम के साथ दिवाकर शब्द नहीं हैं। पं. जुगलकिशोर मुख्तार सा. ने पूज्यपाद के समकलीन सिद्धसेन का समय ६२५ वि. सं. के आसपास होना बताया है।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र

कल्याणमन्दिर स्तोत्र के ४४ वें श्लोक में कुमुदचन्द्र नाम आया है, जो सिद्धसेन का दीक्षा नाम है।

संसारी प्राणी लोकेषणाओं, राग-द्वेष, अहकार, अज्ञान आदि स्वदोषों से निरन्तर भटक रहा है। आकुलित होता हुआ, दुखों से छूटने के लिए उपाय सोचता है। ऐसी स्वसुख-शान्ति की अभिलाषा से साधक की अन्वेषणात्मक दृष्टि वीतराग मुद्रा पर स्थिर हो जाती है और उनकी भक्ति करने लगता है। वह चाहता है कि मैं भी अनन्त दुखों से छूट कर आपके समान वीतराग मुद्रा को प्राप्त हो जाऊँ। आचार्य ने भक्ति को प्रकट करते हुए कहा है कि—

त्वं नाथ दुःखिजन-वत्सल। हे शरण्य,
कारुण्यपुण्यवसते वशिनां वरेण्य।

भक्त्या नते मयि महेश दयां विधाय,
दु:खाऽङ्कुरोद्दलन-तत्परतां विधेहि॥३९॥

अर्थात् – हे नाथ। आप दुखी जनों के वत्सल हैं, शरणागतों को शरण देने वाले हैं, परमकारुणिक हैं और इन्द्रिय विजेताओं में श्रेष्ठ हैं। मुझ भक्त पर दया कर आप दु:खाङ्कुरों को नष्ट करने में तत्परता कीजिये।

यहां कोई यह प्रश्न करता है कि वीतराग देव की भक्ति करने से दु:खों का अभाव सम्भव हैं क्या? क्योंकि वे वीतरागी हैं, तो फिर दूसरों के दु:खादि को दूर करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं? इसी का समाधान आचार्य इस प्रकार करते हैं –

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो। शिथिली भवन्ति,
जन्तो: क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धा।

सद्यो भुजङ्गममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य॥८॥

अर्थात् – हे विभो। जिस प्रकार चन्दन के वन में मयूर के पहुँचते ही वृक्षों से लिपटे सर्प तत्काल उनसे अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार भक्त के हृदय में आपके विराजमान होने (स्मरणादि किये जाने) पर अत्यन्त गाढ अष्ट कर्मों के बन्धन भी क्षणभर में ही ढीले पड़ जाते हैं।

अभिप्राय यह है कि वीतराग देव पवित्र आत्मा हैं, इनके स्मरणादि से आत्मा में शुभ परिणाम होते हैं, और उन शुभ परिणामों से पुण्य-प्रकृतियों का उपार्जन तथा पाप-प्राकृतियों का ह्रास होता है, और उस हालात में वे दु:ख के कारणों के अभाव में बाधक नहीं हो पातीं। उसे उसके अभीष्ट फल की प्राप्ति अवश्य हो जाती है। भक्ति में वह शक्ति है कि मानव अपने सांसारिक सुखों को भोगकर, परम्परया मोक्षसुख को प्राप्त भी होता है। मुक्ति रूपी भवन में पहुँचने के लिए भक्तिरूपी सीढी का आश्रय उसे लेना पडता है।

"अयं हि स्थूल-लक्ष्यतया केवलं भक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति, उपरितनभूमिकायां लब्धास्पदस्यां अस्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वर- विनोदार्थं क्वचिद् ज्ञानिनोऽपि भवति।"

अर्थात् यह भक्ति स्थूल लक्ष्य होने से केवल भक्तिप्रधान अज्ञानी जीवों के होती है। उपरित भूमिका में जहाँ भक्ति की प्रधानता नहीं है वहाँ कदाचित् तीव्ररागादि की निर्वृत्ति ज्ञानी के भी होती है। भक्ति का उद्देश्य रागद्वेष की निवृत्ति है, संसार सुखों की प्राप्ति नहीं।

'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' पूर्णत भक्तिरस से युक्त है। आचार्य कुमुदचन्द्र की भक्ति की झलक एक किंवदन्ती से मिलती है। एक समय कुमुदचन्द्राचार्य गृहस्थावस्था में राजकीय कार्य से चितौड़ जा रहे थे। मार्ग में, श्रीपाश्र्वनाथ जी का मंदिर देख कर प्रवेश किया, तभी उनकी दृष्टि एक

स्तम्भ पर पड़ी। उस स्तम्भ पर अंकित कपाट खोलने की विधि को अपनाकर, स्तम्भ-कपाट खोल लिया और उसमें चमत्कारी शास्त्रों का दर्शन किया। शास्त्रों का अवलोकन करने लगे, एक पृष्ठ के अवलोकन के बाद, कुछ पुण्य का योग कम होने से, स्तम्भ कपाट पूर्ववत् बन्द हो गया, आगे लाभ नहीं मिला। एक पृष्ठ का ज्ञान कम नहीं था, उसका ज्ञान चमत्कारी था।

एक बार महाकालेश्वर के मैदान में विभिन्न सम्प्रदायी शैव आदि का जनसमुदाय उपस्थित था। तभी उज्जयिनी नगरी के नरेश ने आचार्य कुमुदचन्द्र की परीक्षा लेनी चाही — देखें क्षपणक की भक्ति को। उज्जयिनी नरेश ने क्षपणक (कुमुदचन्द्राचार्य)से कहा— "शिवमूर्ति को नमस्कार कीजिए।" यह आदेश सुनकर आचार्य ध्यानमुद्रा में बैठ गये। भक्ति की तल्लीनता में वही पूर्व गृहस्थावस्था में देखा गया चितौड़ का भव्य श्री पार्श्वनाथ मंदिर, स्तम्भकपाट व शास्त्र प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे। भक्ति के अनुराग में आलोड़ित उसकी शक्ति की तन्मयता के आवेश में सहसा निम्न श्लोक का उच्चारण हो गया—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षतोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव।दुःख पात्रं,
यस्मात्क्रिया प्रतिफलन्ति न भाव शून्या ॥३८॥

अर्थात् — हे जनबान्धव। पहिले जन्मों में मैंने आपका नाम भी सुना हो, पूजा भी की हो, दर्शन भी किया हो तो यह निश्चय है कि— मैंने भक्तिभाव से आपको स्वहृदय में धारण नहीं किया, तत्कारणात् इस ससार में मैं दुःखों का पात्र बना रहा, क्योंकि भाव-रहित क्रियायें फलदायक नहीं होती हैं।

भक्ति के चमत्कार से शिवमूर्ति वीतराग मुद्रा में परिणत हो गई। कुमुदचन्द्राचार्य के भक्ति-विभोर होने का प्रभाव देखकर जनसमूह आश्चर्यचकित रह गया। सभी का ध्यान आचार्य श्री की ओर आकर्षित हो गया। सभी ने गल्तियों की निन्दा की, क्षमायाचना की, और सभी जैन धर्म के अनुयायी बन गये। भक्ति की महिमा अद्‌भुत है। अनेक स्तोत्र भक्ति की महिमा से परिपूर्ण है परन्तु खेद हैं कि आज हम उनको विधिवत् समझने का प्रयास नहीं कर रहे हैं। यही कारण है कि यथोचित प्रतिफल नहीं मिल रहा। फिर भी जितने अंश में हमारी विधिवत् भक्ति है उतना परिणाम आज भी मिल रहा है। भक्ति की चमत्कारिक घटनायें आचार्य समन्तभद्र, मानतुङ्गाचार्य, कवि धनंजय आदि आचार्यों के साथ घटित हुई हैं। एतद् कारणात् उक्त घटना आचार्य कुमुदचन्द्र की भक्ति प्रेरक होने से उल्लेखित की गयी है। ओंकारेश्वर का विशाल महाकालेश्वर का मन्दिर इसका ज्वलन्त प्रतीक है। समयानुसार, राजा की प्रेरणा पाकर ऋद्धियंत्र सहित, भक्तिरसपूर्ण मंत्रपूत 'कल्याणमंदिरस्तोत्र' की रचना की।

'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' का नामकरण यथा नाम तथा गुणा की उक्ति को चरितार्थ करता है।

यह स्तोत्र यथार्थतः कल्याण का ही मन्दिर है। सांसारिक ऐषणाओं की पूर्ति तो होती ही है तथा क्रमशः मोक्ष-सुख की प्राप्ति भी होती है। इस मंत्रपूत स्तोत्र में ४४ श्लोक हैं। प्रथम श्लोक से ४३वें श्लोक तक वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग किया गया है। अंतिम श्लोक आर्याछन्द में लिखा गया है। जिसमें आचार्य ने अपने नाम का उल्लेख किया है। स्तुत्यात्मक स्तोत्रों में यह स्तोत्र चमत्कारयुक्त यंत्र, ऋद्धि, मंत्र, साधना विधिगर्भित है। भक्तामर स्तोत्र की भांति इस स्तोत्र का प्रारंभ आदि श्लोक की प्रथम पंक्ति में आदिम अक्षर 'कल्याणमंदिर' शब्द से शुभारंभ होने से इसका नाम कल्याणमंदिर स्तोत्र पड़ा, वैसे भी तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति होने से 'पार्श्वनाथ स्तोत्र' भी कहा जाता है। उत्तम काव्य के प्रायः सभी गुणों—विशेषताओं, कलापक्ष-भावपक्ष का ध्यान कल्याणमंदिरस्तोत्र की रचना में रखा है। पाठकों को स्तोत्र के पठन-श्रवण करने से आचार्य की भक्ति एवं कृति की विशेषताओं का ज्ञान हो सकेगा। आचार्य ने पार्श्वनाथ की भक्ति में अपने आपको खोकर लोकोत्तर कल्पनाओं द्वारा मानव-कल्याण की साधना के लिए एक ऐसी सीढ़ी तैयार कर दी है, कि साधकों को चाहिए कि वे भक्तिरस पान कर अभीप्सित फलों को प्राप्त करें तथा कल्याण-मन्दिर में पहुँचकर आत्मसुख का लाभ लें।
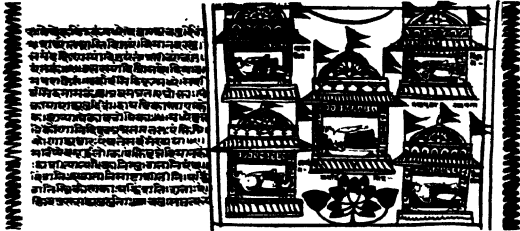
जैनाचार्यों की विभिन्न क्षेत्रीय देन

❑ डॉ. इन्दु बोहरा, भोपाल

मानव पराम्परा के बन्धन में आदिकाल से बँधा हुआ है। समाजशास्त्रियों के अध्ययन से स्पष्ट है कि बर्बर जाति से लेकर आज तक की सामाजिक परम्पराओं में केवल परिवर्तन हुए हैं, उन्हें मिटाया नहीं जा सका। जब धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जानने योग्य मानव हुआ तब अनेकानेक संस्थाओं ने जन्म लिया। समस्त भूमण्डल पर वे संस्थाएँ फलने-फूलने लगीं।

कालचक्र अपनी गति से चलता है, उसमें कहीं स्थिरता नहीं होती। ऋतु आती है, जाती है; जो कल है वो आज नहीं, परिवर्तित होने के लिए तैयार है। अनेकानेक धर्मों का उद्गम-स्थल यह भारत है जहां विश्व की सबसे अनोखी आश्चर्यजनक धार्मिक घटनाएँ घटित हुई हैं। ये घटनाएँ कितने अन्तराल तक मानस-पटल पर अंकित रहीं, इसका इतिहास साक्षी है। इन्हीं धार्मिक घटनाओं में जैन धर्मोदय भी एक हैं। ऋषभदेव से इसका प्रारंभ माना जाता है। ऋषभदेव युगीन परम्परा आचार्यों, मुनियों के माध्यम से महावीर युग तक परिमार्जित होती आई। इन परम्पराओं को स्थायित्व देने वाले अनेकानेक परवर्ती जैनाचार्य हुए, जिनका विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

आचार्य-पराम्परा मूलत दो भागों में विभक्त की जा सकती है। प्रथम, ऋषभदेव से महावीर तक, और द्वितीय, महावीर से आज तक। जैनाचार्य-परम्परा प्रारम्भ होने से पूर्व आचार्य के स्वरूप को जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य की परिभाषा और उसके स्वरूप के संबन्ध में आर्ष ग्रन्थों में जो सामग्री उपलब्ध है उससे स्पष्ट होता है कि "चौदह पूर्वों का ज्ञाता, प्रवचनकर्त्ता एवं दीक्षित शिष्यों के निमित्त सूत्रार्थ को विशद करने ग्रन्थों का ज्ञाता आचार्य होता है।" मूलाराधना में आचार्य के स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार किया है-"जो पाँच प्रकार के आचार का अतिचार रहित पालन करता है और शिष्यों को आचारांग का उपदेश देता है वह आचार्य कहा जाता है"। स्व. डॉ.नेमीचन्द्र शास्त्री ने आचार्य के स्वरूप को निम्नांकित बिन्दुओं में प्रस्तुत किया है—

१. निर्विकल्पस्वरूपाचरण का आराधक

२. चतुर्दश-विद्याओं में प्रवीण

३. आचारांग का ज्ञाता

४. एकादश अंगों का पाठी

५. स्वसमय — स्वसिद्धान्त-वेत्ता

६. परसमय – विभिन्न दर्शन, सिद्धान्त और परम्पराओं का ज्ञाता

७. तत्त्वोपदेशक

८. शास्त्रप्रणेता – करुणाबुद्धि से प्राणियों के हितार्थ तीर्थंकर वाणी को लिपिबद्ध कर विभिन्न विषयक ग्रन्थों का कर्त्ता

९. देश, कुल और जाति से शुद्ध।

१०. सौम्यमूर्ति

११. विविध दिशाओं से प्राप्त अनुभूतियों को मूर्त रुप दे बौद्धिक और भावात्मक विचाराधाराओं का व्यख्याता।

१२. समयानुसार उत्पन्न समस्याओं का परम्परा के आलोक में साधक, बाधक और प्रतिक्रियात्मक रूप से समाधान प्रस्तुतकर्त्ता।

इस प्रकार आचार्य प्राचीन परम्पराओं का अध्ययन कर स्वयं की अनुभूति करते हुए शिष्यों को उच्चादर्श से विभूषित कराता है। जैनाचार्यों की यह देन विस्तृत क्षेत्र को धारण करने वाली है। इस परम्परा का कार्य श्रुतज्ञान संरक्षण है। कारण बीज में स्वयं अंकुरण शक्ति नहीं होती, किन्तु जब उसे जल, पृथ्वी(मिट्टी), वायु एवं प्रकाश का सान्निध्य प्राप्त होता है तब उसकी छुपी हुई अंकुरण शक्ति एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर सकती है। यह आचार्य वाङ्मय संकलन (जैन साहित्य) से सहज रूप से स्पष्ट हो सकता है। तीर्थंकरों के मुख से मुखरित वाणी को जन-जन तक पहुँचाने का कार्य आचार्य परम्परा से ही सिद्ध हुआ है। संपूर्ण वाङ्मय के सृजन का दायित्व आचार्य परम्परा के द्वारा पूर्ण हुआ है। वाणी से ही आचार, विचार, भावनाओं, मनोवृत्तियों एवं उसके समस्त क्रियाकलापों का बोध हो सकता है। यही नहीं, दर्शन, मनोविज्ञान, सिद्धान्त(लौकिक एवं आध्यात्मिक) धारणाओं को वाणी में यथेष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। परम्पराओं से मौखिक रूप में प्राप्त ज्ञान को लिपिबद्ध रूप देना आचार्य परम्परा का विशिष्ट कार्य है। जैनाचार्यों की विभिन्न क्षेत्रीय देन का वर्गीकरण इस प्रकार से संभव है – १. धार्मिक और २.सामाजिक।

धार्मिक क्षेत्र के अन्तर्गत आचार्यों की देन के दो स्वरूप होते हैं। प्रथम, आर्ष नियम सिद्धान्तों को आत्मसात् कर अनुभूति को दृढ़ करना। द्वितीय, इन अनुभूतियों को विश्वकल्याणकारी बनाने हतु जनमानस में सुसंस्कारों का निर्माण हो, ऐसी वाणी को मुखरित करना, साथ ही लोक-कल्याणकारी वाणी को साहित्य में नियोजित करना।

सामजिक क्षेत्र में धार्मिक नियमों को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करते हुए अध्यात्म के शुद्ध स्वरुप को स्थापित करना जिससे समाज एवं समाज में रहने वाले लोग अपनी यर्थाथता के औचित्य को जानकर जीवन सफल कर सकें।

इस प्रकार जैनाचार्यों के मुख्य रूप से दो ही क्षेत्र हैं, 'धर्म का विस्तार' एवं 'समाज का संगठन।' ये दोनों क्षेत्र अनेकानेक शाखाओं, प्रशाखाओं में विभक्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, समाज को ही ले — समाज सगठन का ही एक स्वरूप है किन्तु विश्व में शुद्ध संगठित समाज के दर्शन असंभव हैं। क्योंकि समाज के ठेकेदार अपनी स्वार्थपूर्ति हेतू कभी भी समाज के सदस्यों को समानाधिकार प्राप्त नहीं होने देते। जात-पात के भेदभाव को तूल देते रहते हैं। इस विषमता को जैनाचार्य परम्परा ने सदैव दूर करने का प्रयास किया है। जैनाचार्यों ने एक जाति 'मानव' और उसके लिए एक मानव-धर्म अहिंसा का नाद किया। अपनी वाणी से उन्होंने कुण्ठित समाज के सदस्यों को आत्मतोष का ज्ञान कराया। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारतीय जनमानस में स्थापित ईश्वरीय अन्धविश्वास, बहुईश्वरवाद को दूर करने का भगीरथ प्रयत्न जैनाचार्य परम्परा की देन का ज्वलन्त उदाहरण है। अपने सिद्धान्तों, नियमों, तीर्थंकरों की वाणी का सृजन कर साहित्य एवं धर्म के माध्यम से धर्म का औचित्य तथा उसके प्रति जनमानस में निष्ठा स्थापित की। इन कार्यों को मुख्य रूप से जैन साहित्य में सहज देखा जा सकता है। कहा भी गया है — 'साहित्य समाज का दर्पण है'। इस आधार पर जैनाचार्य की विभिन्न देनों का अवलोकन जैन साहित्य के आधार पर निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा किया जा सकता है —

१. चारित्रिक

२ उपदेशात्मक

३. साहित्यिक

४ उपासनात्मक

उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर 'जैनाचार्यों की देन' का विवेचन निश्चित ही एक स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध की क्षमता रखता है। अत यहाँ महत्त्वपूर्ण आचार्यों एवं उनकी विभिन्न क्षेत्रीय देनों का वर्णन करना उचित होगा।

जैन धर्म में रत्नत्रय विश्व में बहुचर्चित है, जिसमें 'सम्यक्चारित्र' नामक रत्न विशिष्ट स्थान को प्राप्त है। सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत सम्यक् दर्शन एव सम्यग्ज्ञान दोनों का ही समावेश होता है। या यों कहें कि सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान से ही सम्यक्चारित्र का निर्माण होता है। जिसने चारित्र-रत्न को धारण कर लिया उसने सम्पूर्ण रत्नत्रय को धारण कर लिया।

ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त तीर्थंकरों, आचार्यों, साधुओं, श्रावक-श्राविकाओं में इस रत्न का प्रभाव ही जैन शब्द को सार्थक बनाता है। चारित्रिक रत्न की पूर्ण निर्बाध अलौकिक क्रान्ति के दर्शन वहाँ होते हैं जहाँ इन्द्रियों की परवशता से मुक्त होकर वीतरागत्व से तारतम्य जोड़ लिया हो। अधिक नहीं कहना हो तो इतने में ही इस क्षेत्र की वास्तविकता जैन शब्द के अर्थ से स्पष्ट हो जाती है। जैन शब्द 'जिन' शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है इन्द्रियों को जीत लिया है जिसने। हमारे प्रतिनिधि तीर्थंकर एवं आचार्य रहे हैं। आचार्य-परम्परा तीर्थंकरों

के उज्ज्वल चरित्र को धारण कर समाज में वाणी एवं साहित्य-सृजन के माध्यम से इनके चरित्रों को प्रकाशित करती रही है। वर्तमान आचार्य पूर्वाचार्यों के इस कार्य को गति प्रदान कर रहे हैं। जैन मुनि एक स्थान पर नहीं ठहरते यह लोकविदित ही है। तीर्थंकरों की लोक-कल्याणकारी वाणी के माध्यम से ये समाज को चेतना प्रदान करते रहते हैं साथ ही, उन वाणियों को आत्मसात् भी करते रहते हैं।

प्रारम्भिक काल में साधनों के अभाव में आचार्य-परम्परा का यह कार्य कंठस्थीकरण से चला। सुनकर कंठस्थ कर लेने की परम्परा तीर्थंकर महावीर के निर्वाण-लाभ के पश्चात् कई शताब्दी तक चलती रही। तत्पश्चात् लिपिबद्ध ग्रंथों का प्रणयन प्रारंभ हुआ। डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री के मतानुसार "संस्कृत के जैन कवियों ने ईस्वी सन् की द्वितीय, तृतीय शताब्दी से ही संस्कृत काव्य-परम्परा का सूत्रपात किया। इस दृष्टि से सर्वप्रथम जैन कवि समन्तभद्र हैं। इसके उपरान्त अनेकानेक ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में अनूठा योगदान किया, जिसमें चारित्रिक क्षेत्र के अन्तर्गत आज भी इस परम्परा का यथेष्ठ निर्वाह हो रहा है।"

जैनाचार्यों ने चारित्र के क्षेत्र में विशिष्टता उत्पन्न करने हेतु तीर्थंकरों एवं अपने युग के उन लोकनायकों के चरित्रों का आचरण के साथ-साथ प्रचार भी किया जिनसे आज भी भारत में चारित्र की उज्ज्वलता मुखरित होती है। यहाँ चारित्रिक क्षेत्र को सुदृढ बनाने वाले महापुरुष एवं उन महापुरुषों के चरित्र को हम तक पहुँचाने वाले कुछ एक प्रमुख आचार्यों का संक्षिप्त परिचय देना वांछनीय प्रतीत होता है।

सर्वप्रथम, जैन धर्म के वर्तमान तीर्थंकर ऋषभदेव के चरित्र से अपनी बात प्रारंभ करते हैं। प्राय जैनाचार्यों ने इनके चरित्र को लेकर समाज एवं धर्म को बहुत कुछ प्रदान किया है। तथापि जिनसेन द्वितीय (स्थिति काल दशमशती) का नाम अग्रणी है। आपने तीर्थंकर ऋषभदेव के चरित्र को लेकर 'आदिपुराण' नामक ग्रन्थ की रचना की। एक नाम और जैन साहित्याकाश में ध्रुव स्थान को प्राप्त है, वह हैं गुणभद्राचार्य (स्थितिकाल-दशम शती का अन्तिम चरण)। आपकी दो प्रमुख चरित्रप्रधान रचनाएँ हैं 'उत्तरपुराण' एवं 'जिनचरित्र'। 'उत्तरपुराण' में शेष तेईस तीर्थंकरों, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र आदि अन्य शलाकापुरुषों और जीवन्धर स्वामी आदि कुछ विशिष्ट पुरुषों के चरित्रों का उद्घाटन किया है। द्वितीय ग्रन्थ 'जिनदत्त चरित्र' प्रबन्ध-काव्य है। इसमें तत्कालीन युगपुरुष जिनदत्त के चरित्र का वर्णन किया गया है, जिसमें ऐश्वर्य से जिनदत्त की परिपूर्ण विरक्ति, मुनि-दीक्षा आदि का वर्णन सुन्दर ढंग से किया है। इसी श्रृंखला में एक कडी और बैठती है और वे हैं जटासिंह नन्दी जिन्हें जटाचार्य के नाम से भी जाना है। (स्थिति-काल-छठी से आठवीं शती के मध्य)। आपके द्वारा 'वरांगचरित' एक पौराणिक महाकाव्य की रचना हुई। इस ग्रन्थ में बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ प्रमुख नायक हैं। आपकी धर्मनिष्ठा, सदाचार, कर्त्तव्य-परायणता आदि चारित्रिक विशेषताएं संसार के सभी वर्गों का मार्ग प्रदर्शन करती हैं।

वादीभसिंह (दशम शताब्दी पूर्व) — इस क्षेत्र में आपकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। प्रथम 'क्षत्रचूड़ामणि' जिसमें जीवन्धर स्वामी के चरित्र का वर्णन किया गया है। द्वितीय है 'गद्यचिन्तामणि'। इस ग्रन्थ में भी जीवन्धर स्वामी के चरित्र को प्रकाशित किया गया है।

आचार्यश्री वीरनन्दी (स्थितिकाल ९५०-९९९ लगभग) अपनी एकमात्र रचना "चन्द्रप्रभचरित्र' से जैन चारित्रिक ग्रन्थकारों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। चन्द्रप्रभ आठवें तीर्थंकर कहे गये हैं।इनके चरित्र को प्रकाशित कर उन्होंने जैनाचार्य परम्परा को अमरत्व प्रदान किया।

इस क्षेत्र में अन्य अनेक जैनाचार्यों की कृतियों की सूची विषय विस्तार में सहायक न बने, इस हेतू संक्षिप्त में —

१. महासेनाचार्य (९९४ ई.) ग्रन्थ प्रद्युम्नचरित्र।
२. आचार्य सोमदेव (दसम शती) यशस्तिलक चम्पू।
३. आचार्य वादिराज (१०१८-१०३२ लगभग) १ यशोधरचरित और २. पार्श्वनाथचरित।
४. आचार्य मल्लिषेण (११वीं शती) १. नागकुमार काव्य, २. महापुराण।
५ महाकवि धनंजय (११वीं शती के लगभग) १ द्विसधान-महाकाव्य (राम एवं कृष्ण चरित्र)।
६. महाकवि असग (१0वीं शती) १ वर्द्धमान-चरित, २. शान्तिनाथचरित।
७ वाग्भट प्रथम (१०७५ से ११२५ लगभग) नेमि निर्वाण-काव्य।
८. धर्मधर (१५वीं) १. श्रीपालचरित और २. नागकुमारचरित।
९. रामचन्द्र मुमुक्षु (१३वीं शती) पुण्यास्रव कथाकोष।
१०. दोड्डय्य (१६वीं शती) भुजबलिचरित।
११. पं. जिनदास—होलि-रेणुकाचरित।
१२. धवल कवि (११वीं शती) हरिवंशपुराण।
१३. अमरकीर्ति (११वीं शती) १. नेमिनाथचरित, २. महावीरचरित, ३. यशोधरचरित।
१४. यशकीर्ति (११वीं शती) चन्द्रप्रभचरित।
१५. दामोदर प्रथम (१३वीं शती) नेमिनाथचरित।
१६. दामोदर द्वितीय (१३वीं शती) श्रीपालचरित।

द्वितीय क्षेत्र 'उपदेशात्मक' माना है। इस क्षेत्र में आचार्यों ने आगम के वचनों को लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण हेतू आचरण कर जनमानस को प्रदान किया। कहा भी गया है- "न च हितोपदेशादपर पारमार्थिक परार्थ" अर्थात् हितकारी उपदेश से बढकर संसार में कोई उपदेश

नहीं है। संसार में मानव-संस्कारों के इतिहास का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि संस्कारों के क्रमिक विकास में उपदेशों का अत्यन्त महत्त्व है। यह सर्वविदित ही है कि सर्वप्रथम समवसरण में दिव्य ध्वनि का प्रसारण हुआ। यह उपदेश का ही एक रूप है। उपदेश अर्थात् सामान्य दिशा से श्रेष्ठ दिशा। जैनाचार्य ने जीवों को अलौकिक दिशा के दर्शन कराये हैं। कर्म-सिद्धान्त उपदेशमूलक ही है। "मनुष्य जैसे कर्म करता है वैसे फल पाता है"। इसी से कई लोग जैन धर्म को उपदेशमूलक धर्म भी कहते हैं। जैनाचार्य नगर-नगर में भ्रमण करते हुए सुधर्मोपदेश प्रदान करते हैं। इन आर्ष उपदेशों को साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने अनेकानेक उपदेशमूलक ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें से कई के प्रक्षिप्त अंश प्राप्त होते हैं तथा कई ग्रंथ केवल सूचीबद्ध ही हैं। इसी से इनका कोई निश्चित क्रम प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। अध्ययनकाल में जो जानकारियां प्राप्त हुई हैं उनके अनुसार कुछ प्रमुख उपदेश क्षेत्र को अनुपम स्वरूप प्रदान करने वाले आचार्यों एवं उनकी कृतियों पर एक दृष्टि डालना उचित होगा। इस श्रेणी में कुन्दकुन्दाचार्य अग्रणी हैं (स्थिति काल-प्रथम शताब्दी के लगभग)। आपने विभिन्न विषयों पर ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से नियमसार, द्वादशानुप्रेक्षा, दंसणपाहुड, चारित्रपाहुड, मोक्ख पाहुड, लिंग पाहुड, शील पाहुड, रयणसार, आदि ग्रंथ प्रमुख हैं। सभी ग्रन्थों में मुनि एव श्रावक वर्ग को आचार एवं सुविचारों के अमूल्य उपदेश प्रदान किये हैं। इसी कोटि में 'आचार्य वट्टकेर' का नाम भी बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। आपकी एकमात्र रचना 'मूलाचार' यतिधर्म हेतू विख्यात है।

'तत्त्वार्थसूत्र' के रचियता आचार्य गृद्धपिच्छाचार्य (द्वितीय शताब्दी) का नाम उपदेश ग्रन्थश्रृखला में कुन्दकुन्दाचार्य के बाद सर्वप्रथम आता है। आपकी उक्त एकमात्र रचना है जो गीता, कुरान, बाइबल के समान ही जैन-धर्म में पूजनीय है।

देवनन्दि पूज्यपाद (छठी शताब्दी) ने लगभग सात ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें से 'समाधितन्त्र' तथा 'इष्टोपदेश' ग्रन्थ उपदेशग्रन्थों की श्रृखला की कडी में जुडते हैं।

अमितगति द्वितीय (११वीं शती) साहित्य के विभिन्न विषयों पर समान अधिकार रखते हैं। इनके 'सुभाषितरत्न-सन्दोह' तथा 'भावना द्वात्रिंशतिका' उपदेशग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।

आचार्य गुणभद्र (८२० से ८९८) का 'आत्मानुशासन' नामक ग्रन्थ उपदेश ग्रन्थों में गणनीय है।

हरिषेण (८९८ ई.) — जैनाख्यानों की विकास परम्परा को अवगत कराने वाले आचार्य हरिषेण द्वारा पद्यबद्ध में 'कथाकोष' उपदेश के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखता हैं। विभिन्न दृष्टान्त-कथाओं आदि के माध्यम से इसमें समाज एवं धर्म को नई दिशा प्रदान की गई है।

सोमदेव सूरि (९५९ ई.) की तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं — नीतिवाक्यामृत, यशस्तिलकचम्पू तथा अध्यात्मतरंगिणी। इनमें से प्रथम ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत' उपदेश-ग्रन्थों की कोटि में सर्वोपरि

है। इसकी तुलना कौटिल्य के अर्थशास्त्र से की जाती है।

इस प्रकार उपदेश के क्षेत्र में जैनाचार्य परम्परा के योगदान का विवेचन असीमित है। कारण यह कि आदिकाल से वर्तमान युग तक यह परम्परा उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती रही है। अत. यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण न होगा कि जितना उपदेश के क्षेत्र में जैनाचार्यों ने विशिष्ट योगदान प्रदान किया, अपेक्षाकृत अन्य क्षेत्रों में कम है। कुछ आचार्य और भी हैं जिनका नामोल्लख आवश्यक है। यथा — आचार्य शुभचन्द्र (११वीं शती), वसुनन्दि प्रथम (११ वीं शताब्दी), वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती (१२वीं शती) आदि नाम वर्तमान जैनाचार्य परम्परा में प्रेरणास्रोत हैं।

साहित्य के क्षेत्र में श्री जैनाचार्य परम्परा का कम योगदान नहीं रहा। वैसे भी कहा है कि किसी भी राष्ट्र की संस्कृति एवं समाज का इतिहास कहीं देखना है तो उस राष्ट्र के साहित्य का परिदर्शन करें। भारतीय साहित्य परम्परा का प्रारंभ पाच हजार वर्ष पूर्व हो चुका था। संसार में साहित्य के क्षेत्र में भारत सर्वोच्च स्थान पर स्थित है। साहित्य परम्परा का प्रारंभ वेदों से माना गया है। तथापि आदि-कवि के रूप में वाल्मीकि एवं आदिकाव्य के रूप में देववाणी संस्कृत भाषा में ग्रथित रामायण प्रसिद्ध ही है। विभिन्न सम्प्रदायों का संगम स्थल है भारत। देववाणी भाषा संस्कृत काल एवं परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न धाराओं में प्रवाहित हो उठी और विभिन्न सम्प्रदायों ने भी उन धाराओं को अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए चुन लिया। यथा बौद्धधर्म पाली भाषा को ही अपनी आदिभाषा मानता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाली भाषा का उद्गम संस्कृत से ही हुआ है। इसी प्रकार प्राकृत एव अपभ्रंश भाषा में असंख्य साहित्य-ग्रन्थ लिखे गये, तथापि सस्कृत भाषा का प्रयोग भी कम नहीं हुआ। एक बात और बता देना उचित समझते हैं कि जैनाचार्य परम्परा आदिनाथ ऋषभदेव से आरंभ हुई, उस काल में व्यवहार में संस्कृत भाषा का ही प्राधान्य था।

इस प्राचीन परम्परा का भी निर्वाह जैनाचार्यों ने किया। प्राकृत-अपभ्रंश के साथ-साथ संस्कृत भाषा में भी समान रूप से साहित्य रचना हुई। उपदेशों के माध्यम से समाज में चरित्र का निर्माण करना आचार्यों का एक आवश्यक कर्म भले ही रहा हो किन्तु समाज में एक वर्ग और है जिसे मौखिक चारित्रिक उपदेश सुलभता से प्राप्त नहीं होते, उनके लिए जैनाचार्यों ने साहित्य सृजन किया, जिनके अन्तर्गत ऐसे विषयों को चुना जो समाज को नई दिशा प्रदान करते हैं।उन विषयों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है प्रथम, काव्यांग अर्थात् रस, छन्द,अलंकार, शक्ति, रीति आदि का निरूपण। द्वितीय, जैन धर्म का प्रमुख आधार और जैन दर्शन सम्मत विचार।इस प्रकार जैन संस्कृत साहित्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए विश्वविख्यात है। साहित्य के क्षेत्र में जैनाचार्यों की प्रमुख देन अकथनीय है। दर्शन एवं व्याकरण जैसे शुष्क विषय जैनाचार्यों द्वारा रससिक्त बना दिये गये हैं। ज्योतिष, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र आदि में भी उनका हस्तक्षेप रहा है। यहाँ प्रमुख जैनाचार्यों की चुनी हुई साहित्यिक कृतियों के माध्यम से उनकी अनुपम, अद्वितीय देन को प्रकाशित करने की कोशिश करेंगे।

इस क्षेत्र में सर्वप्रथम आचार्य गुणधर (वि. पू. प्रथम शताब्दी) का स्थान सुरक्षित है। उन्होंने सर्वप्रथम सूत्र प्रणाली का प्रणयन किया।आपके द्वारा रचित 'कसाय पाहुड़' जैन प्राकृत साहित्य में अविस्मरणीय है। उन्हीं के समकक्ष आचार्य शिवार्य का 'भगवती आराधना' ग्रन्थ ईक्षणीय है। काव्यात्मकता कूट-कूट कर भरी हुई है। आचार्य समन्तभद्र (२री शती) आद्य आचार्य माने जाते हैं। आप ही वे आचार्य हैं जिन्होंने सर्वप्रथम दर्शन, सिद्धान्त एवं न्याय संबंधी मान्यताओं को स्तुति काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया। आपकी ग्यारह रचनाएँ बतलाई जाती हैं। वृहद्स्वयंभूस्तोत्र, स्तुतिविद्या (जिनशतक), देवागमस्तोत्र, (आप्तमीमांसा), जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृत व्याकरण, युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका एवं गद्यहस्ति महाभाष्य आदि।उक्त रचनाओं में से कुछ उपासना-ग्रन्थ के अन्तर्गत भी आती हैं। प्राकृत व्याकरण, रत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रमाण पदार्थ, कर्मप्राभृत टीका एवं गद्यहस्ति महाभाष्य साहित्य के क्षेत्र में आपको अद्भुत सफलता प्रदान करते हैं। काव्यकुशलता की दृष्टि से विषयों का प्रतिपादन सुन्दर बन पड़ा है। आपकी रचनाओं के आधार पर आपको साहित्यकार की उपाधि के साथ-साथ दर्शनशास्त्री भी कहा है।

जैन दर्शनशास्त्रियों की श्रृंखला में एक नाम आता है और आचार्य सिद्धसेन (वि. सं. ६२५) कां। आपकी रचनाएँ 'सन्मति सूत्र' तथा 'कल्याणमदिर' हैं। सन्मतिसूत्र प्राकृत भाषा में न्याय और दर्शन का अनूठा शास्त्र है।

देवनन्दि पूज्यपाद (ई. सन् छठी शताब्दी) कवि, वैयाकरण तथा दार्शनिक तीनों रूपों में प्रसिद्ध हैं। आपके द्वारा सात रचनाओं का प्रतिपादन हुआ। दशभक्ति, जन्माभिषेक, तत्त्वार्थवृत्ति, समाधि तन्त्र, इष्टोपदेश, जैनेन्द्र व्याकरण तथा सिद्धिप्रिय। इनमें से जन्माभिषेक, तत्त्वार्थवृत्ति तथा जैनेन्द्र व्याकरण साहित्य के क्षेत्र में अद्वितीय माने जाते हैं। जैनेन्द्र व्याकरण को पातंजलि एवं पाणिनी के समकक्ष स्थान प्राप्त है। अन्य रचनाएं काव्यांगों से परिष्कृत हैं।न्याय ग्रन्थों की कोटि में 'न्यायविनिश्चय' ग्रन्थ का स्थान सर्वोपरि है। आचार्य अकलंक देव (छठी शताब्दी) न्याय के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट स्थान रखते हैं। आपके द्वारा मौलिक ग्रन्थों की रचना के साथ-साथ टीका शास्त्रों का नियमन भी हुआ। लघीस्त्रय, न्यायविनिश्चय संवृत्ति, सिद्धि-विनिश्चय संवृत्ति एव प्रमाणसंग्रह आपकी मौलिक एवं साहित्यिक रचनाओं में उत्कृष्ट हैं।

वीरसेनाचार्य (८१६ ई.) सिद्धान्त के पारगत गणित, न्याय, ज्योतिष, व्याकरण आदि विषयों के मर्मज्ञ थे। आपके द्वारा रचित दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनमें से एक अपूर्ण है। प्रथम रचना मणिप्रवाल, न्याय धवल टीका है जो कि ८२००० श्लोकप्रमाण प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में उपलब्ध है। पूर्वाचार्यों की मान्यताओं का आपके ग्रन्थों में पूर्णत निर्वाह किया गया है।

जिनसेन द्वितीय साहित्य के क्षेत्र में भी अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। आपका स्थान 'कालिदास' के समकक्ष बैठता है। आपकी रचना 'पार्श्वाभ्युदय' कालिदास के मेघदूत काव्य का

समस्यापूर्ति ग्रन्थ है। आपकी काव्यकला इतनी अद्‌भुत है कि रसराज श्रृंगार से सिक्त मेघदूत शान्तरस में परिवर्तित हो गया है। काव्य की दृष्टि से धवला टीका भी कम नहीं।

आचार्य विद्यानन्द (९ वीं शताब्दी) प्रमाण एवं दर्शन संबंधी ग्रन्थों की रचना के लिए प्रसिद्ध हैं। आपके द्वारा रचित रचनाओं में सात मौलिक तथा तीन टीका-ग्रन्थ हैं। साहित्य की दृष्टि से प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा प्रसिद्ध हैं। अन्य श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र, विद्यानन्द-महोदय (अनुपलब्ध) तथा टीका-ग्रन्थों में अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, युक्त्यनुशासनालंकार हैं। ये रचनाएं भी साहित्य के क्षेत्र में सर्वोपरि हैं। कारण इनमें पूर्वाचार्यों की परम्परा के साथ-साथ नवीन चिन्तन के भी दर्शन होते हैं।

इस प्रकार जैन साहित्य परम्परा में जैनाचार्यों का योगदान अनुपम है, अद्वितीय है एवं वर्णनातीत है। जैन सम्प्रदाय के इतिहास पर आद्योपान्त दृष्टि डाली जाय तो एक बात सिद्ध होती है, वह यह है कि प्रत्येक तीर्थंकर एवं सुदीर्घ आचार्य परम्परा सुसंस्कृत, श्रेष्ठाचार एवं सुविचारों से परिष्कृत रही है। इसका एकमात्र कारण है साहित्य सृजन, जिससे पूर्वाचार्यों पर एवं परवर्ती आचार्यों का वर्तमान आचार्यों पर प्रेरणात्मक प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। साहित्य के अन्तर्गत सिद्धान्त, व्याकरण, काव्यांग निरूपण, दर्शन, ज्योतिष, न्याय, आदि वे धरोहर हैं, जिनका सृजन समय-समय पर प्राचीन काल से ही होता रहा है और यह परम्परा किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए अत्यावश्यक मानी गई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जैनाचार्य परम्परा की देन असीमित, विस्तृत एवं वर्णनीय है। क्या आकाश को मुट्ठी में बन्द किया जा सकता है? समुद्र के जल को किसी छोटे से पात्र में रखा जा सकता है? पुष्प सौरभ के प्रस्फुटन पर प्रतिबन्ध लगाया सकता है? पर्वत के घनत्व से भी असीमित घनत्व वाले भाग के पीछे क्या है देखा जा सकता है? स्वर्ण में गन्ध का आभास किया जा सकता है? उत्तर निषेध रूप में ही प्राप्त होगा। किन्तु यह उत्तर भी त्रुटिपूर्ण है, उक्त असभव कर्म संभव कर्म हो सकते हैं और यह संभव होता है साहित्यकार से। शब्दरूपी आकाश सदैव उसकी मुट्ठी में होता है, उसकी काव्य की विरही नायिका सदैव अपने नयनों में विशाल सागर का सम्पूर्ण जल समाहित किये रहती है, पुष्पसौरभ वर्णन के परिसर में बँधकर रह जाते हैं जिसका आनन्द घ्राण-ज्ञाता पाठक सदैव लेते रहते हैं। स्वर्ण में गन्ध का आभास करा देना उसके बायें हाथ का खेल है। एक पर्वत घनत्वाकार वस्तु क्या वह तो ब्रह्माण्ड से परे भी देख लेता है। कहा भी गया है "जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि"। तात्पर्य यह है कि साहित्य क्षेत्र सम्पूर्ण विश्व एवं ब्रह्माण्ड को समेटे हुए है और जैन साहित्य इस क्षेत्र में कल्याण की वर्षा करने में तत्पर है। इसी से इस क्षेत्र के अन्तर्गत वर्णित आचार्यों के कृतित्व एवं व्यक्तित्व का और वर्णन करना पिष्टपेषण ही होगा।

जैनाचार्यों की विभिन्न क्षेत्रीय देन का एक क्षेत्र 'उपासना' भी है। उपासना के क्षेत्र में जैनाचार्यों के योगदान के अवलोकन से पूर्व उपासना के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है।

उपासना शब्द की व्युत्पत्ति उप+आस्+ल्युट-युच् से हुई जिसका साधारण अर्थ आराधना, पूजा, अर्चना, सेवा तथा भक्ति से लिया जाता है। शब्द व्युत्पत्ति एवं साधारण अर्थ के संसर्ग में लोक-परिचित इस भाषा का निर्माण सहज हो उठता है। अपने आराध्य के समीप अपने आपको और समीप करने का उपक्रम उपासना कहलाता है। प्रबोधसार के मतानुसार' शुद्ध भावना की सहकारी कारण रूप से की गई सेवा को उपासना कहते हैं। हमारे यहाँ विभिन्न धर्मावलम्बी विभिन्न आराध्यों की आराधना में लीन हैं। आराध्यों एवं आराधकों की दो कोटि हैं। एक निर्गुण, एक सगुण। हमारा विवेच्य विषय सगुण आराधना में गुणीभूत होकर परमात्मतत्त्व प्राप्त करने में सक्षम जैन धर्म है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की भिन्न-भिन्न उपासना एक ही उद्देश्य को समेटे हैं। सभी परमात्म तत्त्व को प्राप्त करना चाहते हैं। तथापि जैनोपासना सभी उपासनाओं में विशिष्ट स्थान रखती है। मिथ्यात्व को दूर कर वीतरागत्व को ग्रहण करना, गुणीभूत आराध्य (तीर्थंकरों) के विशिष्ट गुणों को धारण करना अर्थात् अपने आराध्य के तुल्य बना लेना इसकी विशेषता है। अन्य उपासनाओं में आराधक एवं आराध्य के बीच कुछ सीमा निश्चत होती है। यह दूरी जैनोपासना में नहीं। यहाँ तो कर्म ही सब कुछ हैं, तीर्थंकरों के उपदेश से कर्मों का नाश करो और इस साधारण आत्मा को श्रेष्ठ आत्मा में परिवर्तित कर लो। न कोई वर्ण भेद, न ही जात-पांत, गरीब-अमीर आदि की विषमता। 'जिओ और जीने दो' सिद्धान्त अहिंसा मूलमन्त्र तथा अनेकता में एकता आदि गुणों से परिपूर्ण जैनोपासना अपने आपमें उपासना के सच्चे अर्थ को स्पष्ट करती है। आदिकाल से जैनाचार्यों ने जिस उपासना का प्रतिपादन किया वह बाह्याडम्बरों, लोकोपवाद से मुक्त है। केवल नामस्मरण नहीं अपितु उस वीतराग भगवान के गुणों को भी धारण करना अनिवार्य है। भक्तामरस्तोत्र के सप्तम श्लोक में आता है— हे भगवन्, आपके स्तवन से प्राणियों के भव-भवान्तरों से संचित पाप क्षण भर में इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे रात्रि में भौरों के समान काला लोकव्यापी अन्धकार प्रातकाल सूर्य की प्रकट किरणों से तुरन्त ही विलय को प्राप्त हो जाता है। यहाँ इस उदाहरण को प्रस्तुत करने से हमारा तात्पर्य यह है कि जब गुणों के स्तवन से ही इतना पुण्य लाभ है तो इन गुणों के धारण करने से प्राप्त लाभ अचिन्तनीय है।

सम्प्रति, इस क्षेत्र में अद्वितीय योग प्रदान करने वाले आचार्यों के विषय में विचार करें। आद्योपान्त इस परम्परा में उपासना क्षेत्र में ही अत्यधिक योगदान दिखाई देता है, यह कहें तो अतिशयोक्ति न होगी कि पूर्व विवेचित बिन्दु चारित्रिक, उपदेशात्मक, साहित्यिक सभी क्षेत्र उपासना में समाहित हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जैन धर्म का प्रमुख उद्देश्य है विश्वकल्याण। इसी से यह परम्परा ऋषभदेव से महावीर पर्यन्त आज तक उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रही है। सर्वप्रथम जैन संस्कृत काव्य का प्रणयन स्तोत्र-ग्रन्थों में ही हुआ, यह सर्वमान्य है।

सम्प्रति जैनाचार्य-परम्परा को सतत गति प्रदान करने वाले आचार्यों का अध्ययन प्रस्तुत है।

इस श्रेणी में आचार्य समन्तभद्र का नाम सर्वोपरि है। पूर्व में लिखा जा चुका है कि आप जैन संस्कृत काव्य के प्रणेता व स्तुतिकार हैं। आपके द्वारा ग्यारह रचनाओं का प्रणयन हुआ, इनमें से दो रचनाएं क्रमश- 'वृहत् स्वयंभू स्तोत्र' एवं 'स्तुति विद्या' उपासना के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट हैं।

मानतुंगाचार्य (छठी शती) भक्तिपूर्ण काव्य के स्रष्टा कहे जाते हैं। इनका प्रसिद्ध स्तोत्र 'भक्तामर' दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में समादृत है। जैन भक्तिधारा के इस ग्रन्थ ने भक्तों के हृदय-सागर को परिपूरित किया।

आचार्य श्री वादिराज (१०१८ से १०३२) का 'एकीभाव स्तोत्र' भी उतना ही प्रसिद्ध है जितने की अन्य भक्ति काव्य-ग्रन्थ। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह अबोध भक्त को आत्मबोध कराने वाले सत्गुरु का कार्य करता है।

भक्तामर-स्तोत्र के बाद 'पार्श्वनाथ स्तोत्र' की गणना उपासना-ग्रन्थों में की जाती है। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव (१२वीं शती) की भक्तिमंजूषा अज्ञानी जनों को ज्ञानरत्न से विभूषित कराने में सक्षम है। आचार्य मल्लिषेण (११वीं शताब्दी) का योगदान अन्य क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र में भी उत्कृष्ट बन पडा है। 'सरस्वती मन्त्र कल्प' एक अद्वितीय उपासना-ग्रन्थ है। भक्ति और ज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। ज्ञान से ही भक्ति चरमोत्कर्ष पर पहुँचती है और भक्त अपने उद्देश्य (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। और यह ज्ञान सरस्वती की कृपा से ही होता है। ऐसी ज्ञानदात्री सरस्वती का वर्णन कर आचार्यश्री ने जैनधर्म की सार्थकता सिद्ध कर दी है।

आचार्य सिद्धसेन (कल्याणमन्दिरस्तोत्र), पद्मनन्दि द्वितीय (पंचविंशतिका संग्रह), आचार्य विद्यानन्द (श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र), आचार्य धनजय (विपापहार स्तोत्र, ऋषभदेव स्तुति), आचार्य मेरुविजय (चतुर्विंशति-जिनानन्द-स्तवन) आदि उपासना क्षेत्र में अद्वितीय स्थान को प्राप्त हैं। इनमें से आचार्य मेरुविजय द्वारा रचित 'चतुर्विंशति जिनानन्द-स्तवन' आज भी जिनालयों में दैनिक अर्चनपूजन में लाभ पहुँचा रहा है।

जिस प्रकार सौरभ अनुभव की वस्तु है, वर्णन की नहीं, इसी प्रकार जैनाचार्य परम्परा की विभिन्न क्षेत्रीय देन वर्णनातीत न होकर अनुभावात्मक, प्रेरणात्मक एवं जीवन को चरितार्थ करने में अपनी भूमिका रखती है।

।। जिनेन्द्र प्रार्थना ।।

❑ *मुनि श्री १०८ तरुणसागरजी महाराज*

जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र बोलिए।
जय जिनेन्द्र की ध्वनि से अपना मौन खोलिए॥

सुर असुर जिनेन्द्र की महिमा को नही गा सके।
और गौतम स्वामी न महिमा का पार पा सके॥
जय जिनेन्द्र बोलकर जिनेन्द्र शक्ति तौलिए।
जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र बोलिए॥

जय जिनेन्द्र ही हमारा एकमात्र मत्र हो।
जय जिनेन्द्र बोलने को हर मनुज स्वतत्र हो॥
जय जिनेन्द्र बोल-बोल खुद जिनेन्द्र होलिए।
जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र बोलिए॥

पाप छोड, धर्म जोड ये जिनेन्द्र देशना।
अष्ट कर्म को मरोड, ये जिनेन्द्र देशना॥
जाग! जाग!! जाग!! चेतन बहुकाल सो लिए।
जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र बोलिए॥

हे! जिनेन्द्र ज्ञान दो, मोक्ष का वरदान दो।
कर रहे है प्रार्थना, हम प्रार्थना पर ध्यान दो॥
जय जिनेन्द्र बोलकर, हृदय के द्वार खोलिए।
जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र, जय जिनेन्द्र बोलिए॥